

ॐ

श्रीमद् योगीन्दुदेव विरचित

परमात्मप्रकाश

योगसावर

Paramātmaprakaśa & Yogasāra



श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास

श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला



श्रीमद्-योगीन्दुदेव-विरचितः
परमात्मप्रकाशः
(परमण्वप्यासु)

श्री ब्रह्मदेवस्य संस्कृतवृत्तिः स्व० पं० दौलतरामस्य हिन्दीभाषाटीका
चेति टीकाद्वयोपेतः

चूलिकायां संस्कृतच्छायासमलंकृतः पं० जगदीशचन्द्रस्य हिन्दी-अनुवादसमेतः

योगसारः

‘कोल्हापुर’ ‘राजाराम कॉलेज’ महाविद्यालयात्
निवृत्त-अर्धभागधोभाषाध्यापकेन
मैसूर-विद्यालये जैनशास्त्र-प्राकृतभाषाध्यापकेन च
उपाध्यायोपाह्व-नेमिनाथतनय-आदिनाथेन
परमात्मप्रकाशस्याध्यात्मवादः, अपभ्रंशभाषा ग्रन्थकर्तुः समयश्चेत्यादिविविध-
विषयविमर्शकारिण्या प्रस्तावनया पाठान्तरादिभिश्चालंकृतः संशोधितश्च ।

प्रकाशक

श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास

श्री वीर निर्वाण संवत्
२५२६

षष्ठ संस्करण
प्रति : ३०००

श्री विक्रम संवत्
२०५६

प्रकाशक :—

मनुभाई भ. मोदी, अध्यक्ष
श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल,
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम,
स्टेशन अगास; वाया आणंद,
पोस्ट बोरिया-३८८१३० (गुजरात)

[प्रथमावृत्ति-वीर नि० सं० २४४२; वि० सं० १९७२]

[नई आवृत्ति, प्रथम संस्करण, सन् १९३७]

[नई आवृत्ति, द्वितीय संस्करण, सन् १९६०]

[नई आवृत्ति, तृतीय संस्करण, सन् १९७३]

[नई आवृत्ति, चतुर्थ संस्करण, सन् १९७८]

[नई आवृत्ति, पंचम संस्करण, सन् १९८८]

[नई आवृत्ति, षष्ठ संस्करण, सन् २०००]

प्रति : ३०००

लागत मूल्य रु. ६१/-

विक्री मूल्य रु. ४०/-

मूल मुद्रक :

(संस्कृत विभाग)

वसंत प्रिंटींग प्रेस, अहमदाबाद

(अंग्रेजी विभाग)

राजीव प्रिंटेर्स, वल्लभविद्यानगर

ऑफसेट मुद्रण :

इंडिया बाईडिंग हाउस,

मानसरोवर पार्क, शाहदरा,

दिल्ली-११००३२

प्राप्ति स्थान

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम,
स्टेशन अगास; वाया आणंद,
पोस्ट बोरिया-३८८१३०
(गुजरात)

श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल,
हाथी बिल्डींग, 'ए' ब्लॉक,
दूसरी मंजिल, रूम नं० १८,
भांगवाडी, ४४८, कालबादेवी रोड,
बंबई-४००००२

Śrīmad Rājachandra Jaina Śāstramālā

ŚRĪ YŌGĪNDUDĒVA'S
PARAMĀTMAPRAKĀŚA
(Paramappapayāsu)

An Apabhraṃśa Work on Jain Mysticism

The Apabhraṃśa Text edited with Brahmadēva's Sanskrit Commentary and
Daulatarāma's Hindi Translation, with a Critical Introduction,
Various Readings etc., etc.,
And Also

YŌGASĀRA

Critically edited with the Sanskrit Chāyā and with the Hindi Translation of
Pandit Dr. Jagadishchandra Shastri, M.A., Ph.D.

BY

A.N.UPADHYE, M.A., D. Litt.

Retd. Professor of Ardhamāgadhi, Rajaram College, Kolhapur,
Professor of Jainology and Prākṛits
University of Mysore, Mysore

PUBLISHED BY

Parama-Śruta-Prabhāvaka Mandala
Shrīmad Rājachandra Ashrama
AGAS
2000

Cost Price Rs. 61/-

Sale Price Rs. 40/-

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणेषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

— अमितगतिः

Lord, may my Ātman ever entertain friendship towards [all] the living beings, rejoicing at [the sight of] the virtuous, highest compassion for the suffering souls and an attitude of detachment towards the ill-behaved."

- AMITAGATI

प्रस्तावना

(प्रथम आवृत्ति)



आज मैं मोक्षके इच्छुक पाठकोंके सम्मुख इस यथार्थ गुणवाले परमात्मप्रकाश ग्रंथको दो टीकाओं-सहित उपस्थित करता हूँ। यह ग्रंथ साक्षात् मोक्षमार्गका प्रतिपादक है। जिस तरह श्रीकुंदकुंदाचार्यकी प्रसिद्ध नाटकत्रयी है उसी तरह यह भी अध्यात्मविषयकी परम सीमा है क्योंकि ग्रंथकर्ताने स्वयं इस ग्रंथके पढ़नेका फल लिखा है कि इसके हमेशा अभ्यास करनेवालोंको मोह कर्म दूर होकर केवलज्ञानपूर्वक मोक्ष अवश्य ही होसकता है परंतु इस ग्रंथके पात्र बनकर अभ्यास करना चाहिये अन्यथा बगलाभक्तिसे इच्छित फल नहीं मिल सकता। इसका आनंद वे ही भव्यजीव जान सकेंगे जो इसका शुद्ध मनसे स्वाध्याय और इसके अनुसार आचरण करेंगे। वचनसे इसकी प्रशंसा नहीं होसकती। कविवर बनारसी-दासजीने भी अपने नाटकसमयसारमें कहा है कि 'हे जीव यदि तू असली आत्मीकसुखका स्वाद चखने चाहता है तो जैसे विषयभोगादिमें हमेशा चित्त लगाता है वैसे आत्माके स्वरूपके विचारमें लह महीना कमसे कम अभ्यास करके देख ले तो तुझे स्वयं उस परमानंदके रसका अनुभव होजाइगा' इत्यादि। इसलिये इसका पठन मनन करनेसे इसका आनंद व फल उनको अवश्य मिल सकेगा।

इस आत्माकी अनंत शक्ति है यह बात आजकलके बिजली आदि अचेतन पदार्थोंको देखनेवाले व्यवहारी जीवोंको झूठी मालूम पड़ती होगी परंतु जिसका "आत्मा अनंत शक्तिवाला है" ऐसा वचन है उसीने यह भी कह दिया है "जगज्जेतं जयेत् स्मरं, अर्थात् जगतको जीतनेवाले कामदेवको जिसने जीतलिया है" इस वचनकी तरफ किसीकी भी दृष्टि नहीं पड़ती। अतएव ब्रह्मचर्यपालनेवाला ही इसका पात्र हो सकता है।

इस ग्रंथके मूलकर्ता श्री योगीन्द्रदेव हैं। उन्होंने अपने 'प्रभाकरभट्ट'के प्रश्न करनेपर जगतके सब भव्यजीवोंके कल्याण होनेका विचार रख कर उत्तररूप उपदेश प्राकृतभाषामें तीनसौ पैंतालीस दोहा छंदोंमें दिया है। ये आचार्य इनकी कृति देखनेसे तो बहुत प्राचीन मालूम होते हैं परंतु इनका जन्मसंवत् तथा जन्मभूमि हमें निश्चित नहीं हुई है। इन प्राकृतदोहा सूत्रोंपर श्री ब्रह्मदेवजीने संस्कृतटीका रची।

ब्रह्मदेवके समयनिर्णयके लिये बृहद्ब्यसंग्रहमें सुद्रित हो चुका है कि विक्रमकी १६ वीं शताब्दिके मध्यमें किसीसमय श्री ब्रह्मदेवजीने अपने अवतारसे भारतवर्षको पवित्र किया था। विशेष बृहद्ब्यसंग्रहमेंसे देखलेना।

इस संस्कृत टीकाके अनुसार ही पंडित दौलतरामजीने ब्रजभाषा बनाई। यद्यपि उक्त पंडितजीकृत भाषा प्राचीनपद्धतिसे बहुत ठीक है परंतु आजकलके नवीन प्रचलित हिंदीभाषाके संस्कारकमहाशयोंकी दृष्टिमें वह भाषा सर्वदेशीय नहीं समझी जाती है। इस कारण मैंने पंडित दौलतरामजीकृत भाषानुवादके

अनुसार ही नवीन सरल हिंदीभाषामें अविकल अनुवाद किया है। इतना फेरफार अवश्य हुआ है कि उस भाषाको अन्वय तथा भावार्थरूपमें बांट दिया है। अन्य कुछभी न्यूनाधिकता नहीं की है। कहीं लेखकोंकी भूलसे कुछ छूटगया है उसको भी मैंने संस्कृतटीकाके अनुसार संभाल दिया है।

इस ग्रंथका जो उद्धार स्वर्गीय तत्त्वज्ञानी श्रीमान् रायचंद्रजी द्वारा स्थापित श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडलकी तरफसे हुआ है इसलिये उक्त मंडलके उत्साही प्रबंधकर्ताओंको कोटिशः धन्यवाद देता हूं कि जिन्होंने अत्यंत उत्साहित होकर ग्रंथ प्रकाशित कराके भव्य जीवोंकी महान् उपकार पहुंचाया है। और श्रीजीसे प्रार्थना करता हूं कि वीतरागप्रणीत उच्च श्रेणीके तत्त्वज्ञानका इच्छित प्रसार करनेमें उक्तमंडल कृतकार्य होवे।

द्वितीय धन्यवाद श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीको दिया जाता है कि जिन्होंने इस ग्रंथकी संस्कृतटीकाकी प्राचीन प्रति लाकर प्रकाशित करनेकी अत्यंत प्रेरणा की। उन्हींके उत्साह दिलानेसे यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ है।

अब मेरी अंतमें यह प्रार्थना है कि जो प्रमादवश दृष्टिदोषसे तथा बुद्धिकी न्यूनतासे कहीं अशुद्धियाँ रह गई हों तो पाठकगण मेरे ऊपर क्षमा करके शुद्ध करते हुए पढ़ें क्योंकि इस आध्यात्मिक ग्रंथमें अशुद्धियोंका रहजाना संभव है। इस तरह धन्यवादपूर्वक प्रार्थना करता हुआ इस प्रस्तावनाको समाप्त करता हूं। अलं विज्ञेयु।

खत्तरगली हौदाबादी

पो० गिरगांव-बंबई

बैशाख वदि ३ वी० सं० २४४२

जैनसमाजका सेवक

मनोहरलाल

पादम (मैनपुरी) निवासी।



प्रकाशकका निवेदन

(नई आवृत्ति)

श्रीवीरनिर्वाण संवत् २४४२, वि० सं० १९७२, में 'परमात्मप्रकाश' प्रकाशित हुआ था, जिसका सम्पादन संशोधन स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीने किया था। २१ वर्षके बाद इस ग्रन्थका द्वितीय शुद्ध संस्करण प्रकाशित हो रहा है। अबकी बार इसमें योगीन्दुदेवका योगसार मूलपाठ, संस्कृतछाया, पाठान्तर और हिन्दीटीका सहित लगा दिया है। इस संस्करणमें कई विशेषतायें हैं, जो पाठकोंको पढ़नेसे ज्ञात होंगी। अबकी बारका संस्करण पहलेसे डबोढ़ा बड़ा भी है।

'परमात्मप्रकाश' उपलब्ध अपभ्रंश-भाषा-साहित्यका सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका सम्पादन और संशोधन भाषा-साहित्यके नामी और परिश्रमी विद्वान् प्रो० ए० एन० उपाध्यायने किया है। दो वर्ष पूर्व आपके द्वारा 'प्रवचनसार' सम्पादित होकर इसी शास्त्रमाला द्वारा प्रकाशित हो चुका है। जिसकी प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानोंने मुक्तकंठसे प्रशंसा की है। इस ग्रन्थके अन्तमें जो सम्मतियाँ दी गई हैं, उन्हें पढ़कर उपाध्यायजीके परिश्रमका अनुमान लगाया जा सकता है। यह आपका दूसरा प्रयत्न है। एक जो ग्रन्थकी उत्तमता और फिर उपाध्यायजीका सम्पादन इन दोनों बातोंने मिलकर 'सोनेमें सुगंध' की कहावत चरितार्थ की है।

'प्रवचनसार' की आलोचना करते समय कई विद्वानोंने इस तरफ हमारा ध्यान खींचा कि अंग्रेजी प्रस्तावनाका हिन्दी अनुवाद भी रहे, इसलिये इसमें अंग्रेजी प्रस्तावनाका हिन्दी-सार भी लगा दिया है, जिसे स्थाद्वादमहाविद्यालय काशीके अध्यापक पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने बड़े परिश्रमसे लिखा है, जिसके लिये हम उनके अत्यन्त अनुगृहीत हैं।

इस ग्रन्थको शुद्ध और प्रामाणिक बनानेमें हमें अनेक विद्वानोंसे अनेक प्रकारका सहयोग मिला है, जिनके लिये उपाध्यायजीने अपनी प्रस्तावनामें धन्यवाद दिया है। पर मुनि पुण्यत्रिजयजी महाराजसे हमारा पूर्व परिचय न होनेपर भी अत्यन्त प्रेमपूर्वक इस कार्यमें जो सहयोग दिया है, उसके लिये हम नहीं जानते कि किन शब्दोंमें मुनिराजका धन्यवाद करें।

जिस महापुरुषकी स्मृतिमें यह शास्त्रमाला निकल रही है, उनके ग्रंथों, लेखों, पत्रों आदिका संग्रह मूल गुजरातीसे हिन्दीमें अनुवादित होकर श्रीमद्राजचन्द्र के नामसे शास्त्रमालाद्वारा शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है, जो लगभग १००० पृष्ठोंका महान् ग्रंथ होगा और जिसका मूल्य लागतमात्र रखा जायगा। यह ग्रन्थ हर दृष्टिसे अत्यन्त महत्वपूर्ण है और हम आशा करते हैं कि शास्त्रमालाके प्रेमी उसे अवश्य अपनायेंगे।

भविष्यमें शास्त्रमालामें, स्वामी समन्तभद्र, महामति सिद्धसेनदिवाकर, भट्टाकलंकदेव, श्रीहरिभद्रसूरि, श्रीहेमचन्द्राचार्य आदि महान् आचार्योंके ग्रंथ सुसम्पादित होकर मूल शुद्धपाठ, संस्कृतटीका और प्रामाणिक हिन्दीटीका सहित निकलेंगे। २-३ ग्रंथ तैयार भी कराये जा रहे हैं, आगामी साल प्रकट होंगे।

पाठकोंसे निवेदन है कि शास्त्रमालाके ग्रंथ खरीदकर और प्रचारकर हमारी सहायता करें, जिससे हम उपयोगी ग्रन्थ जल्दी जल्दी प्रकट करनेमें समर्थ होंगे।

बम्बई—रक्षाबंधन सं. १९९३

निवेदक—मणिलाल जौहरी

Preface

(New Edition)



Paramāitma-prakāśa is a work of manifold interests : to a student of human culture it is a record of some of the spontaneous expressions of a mystic mind in its attempt to realize the highest reality on the religious plane ; to a linguist it is the earliest work, so far known, in the Apabhramśa language the study of which is indispensable in tracing the evolution of New Indo-Aryan Languages ; to a student of comparative religion it sets forth an attempt, without polemics and too many technical details, to harmonise the various shades of some of the dogmatic opinions into the service of spiritual realization ; to a mystic it is a mine of buoyant expressions, full of vigour and insight, that would inspire one for self-realization ; to a student of Indian religious thought this work clearly brings out how mysticism has a legitimate place in a religiously polytheistic and metaphysically pluralistic system like Jainism ; and to a pious devotee, especially of Jaina faith, it is a sacred work whose injunctions are to be studied, reflected on and put into practice.

A critical study of some of these aspects was an urgent need for a judicious evaluation of this work. My Introduction is only a modest attempt in this direction. A historical discussion about Jōindu's date and his predecessors, a list of variant readings etc., or a searching grammatical analysis of various forms is a sheer sacrilege or a wanton vivisection of the mystic harmony and spiritualistic symphony of Jōindu's utterances which must be studied as a whole : thus a mystic might complain. But he should remember that a linguist, a literary student, or a historian of literature has as much claim on this work as a mystic or a pious devotee. So no apology is needed for a critical study of this work. The editor, however, does not want to conceal that the spiritual solace gained by him is equal, if not superior, to the critical results arrived at in this Introduction.

The Introduction is divided into Five Sections. The First is devoted to the study of the various aspects of *P.-prakāśa*. After a preliminary survey of earlier studies about Yōgindu and his works, the textual problem of *P.-prakāśa* is studied in the light of fresh facts gathered from ten Mss. Then follows a detailed summary of the contents which is only a modest substitute for an English rendering of the text. Further, critical remarks are added on the literary, metrical and stylistic aspects and the eclectic character of this work. Jōindu's indebtedness to earlier authors and his influence on the later ones are discussed ; and his spirit is modestly compared with that of other mystics like Kāpha and Saraha. Then an analytical survey of the philosophy and mysticism of this work is taken under convenient topics. Statements of Jōindu are constructively presented, and they are followed by critical and comparative remarks. It is perhaps for the first time that an attempt is made here to draw the attention of Orientalists to the elements of mysticism in Jainism. A cautious statement of WILLIAM JAMES that the 'mystical states of mind

in every degree are shown by history, usually though not always, to make for the monistic view' is proved by the fact that Jainism possesses from the very beginning elements of mysticism inseparably connected with its dogmatic apparatus, though as a system it is far off from monism. This part is concluded with a detailed comparison of the dialect of this work with the Apabhramśa described in the Prākṛit Grammar of Hēmacandra. This line of study has a historical significance, because Hēmacandra quotes some verses from this work in illustrating his rules of Apabhramśa grammar. This comparison leads to the conclusion that Hēmacandra might have used another tract of Apabhramśa literature which slightly differed from the Apabhramśa of *P.-prakāśa* and which preserved unassimilated *r* in a conjunct group etc. Retention of unassimilated *r* was only a regional-and-dialectal difference and not a chronological stage in the growth of Apabhramśa as supposed by some scholars. The Second Section is devoted to the study of various works of Jōindu. This subject was discussed by me some six years back; so naturally here was an occasion for me to modify some of my earlier statements in the light of new facts and to discuss the views expressed by some of my colleagues working in the field of Apabhramśa literature. The second part of this section is devoted to the discussion of Jōindu's date. The Third Section is wholly devoted to the Commentaries on *P.-prakāśa*: three in Kannaḍa, one in Sanskrit and one in Hindi; in most cases some light has been thrown on the form and the age etc. of these commentaries. The Fourth Section is occupied by a critical description and a discussion of the mutual relation of the ten Mss. of *P.-prakāśa*. The Fifth Section contains a critical account of the Mss. of *Yōgasāra*. At the close comes the Index to Introduction.

The Apabhramśa text presented here is to a great extent the text of Brahmadēva who is the earliest known Sanskrit commentator on these dōhās; the critical student, however, is supplied with various readings collated from six Mss. The dialectal discussion in the Introduction is based on the study of these variants. Every care is taken for a correct presentation of this useful commentary of Brahmadēva. At the end I have appended a table of various readings, an alphabetical list of dōhās from *P.-prakāśa*, a list of quotations from the Sanskrit commentary with their sources wherever possible.

It was at the eleventh hour that the Publishers decided to include *Yōgasāra* of Jōindu in this volume. What I could not do in the case of *P.-prakāśa*, it consoles me, I have tried to do with respect to the text of *Yōgasāra*. The text is critically presented with readings from four Mss. which are described in the Fifth Section of the Introduction. The Hindi rendering of it I owe to my friend Pt. JAGADISHCHANDRAJI.

Now I come to the pleasant part of the Preface. I offer my thanks to the late lamented Pt. MANOHARLAL, the first editor of the Sanskrit commentary. I am much indebted to the authorities of Rāyachandra Jaina Śāstramālā especially to

Sheth MANILAL REVASHANKAR JHAVERI and to Mr. KUNDANLAL JAIN; without the munificent encouragement of the former and the willing cooperation of the latter I do not think I would have been able to publish my studies in *P.-prakāśa* in the present form. I am very much obliged to Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah (Bihar) and to Pt. LOKANATHA SHASTRI, Vīravāpīvilāsa Jaina Siddhānta Bhavana, Moodbidri (South Kanara), who kindly lent me some valuable Mss. which enabled me to make the textual study sufficiently exhaustive. I am very thankful to Mr. N. R. ACHARYA, Bombay, who helped me by checking the press-corrections from my proofs; and often his suggestions were very useful to me. Thanks are also due to Mr. P. K. GODE, Poona; Prof. HIRALAL, Amraoti; Pt. JUGALKISHORE, Sarsawa; Pt. JAGADISHCHANDRAJI, Bombay; Pt. KAILASCHANDRAJI, Benares; Prof. M. V. PATWARDHAN, Sangli; Pt. NATHURAM PREMI, Bombay; and Pt. PANNALAL SONI, Jhalara Patan, who have been of use to me in various connections.

I am much obliged to Śraddhēya Muni Śrī PUNYAVIJAYAJI, Pattan, who suggested, with the help of a local Ms., many important corrections in the proofs of the Sanskrit commentary, and who readily sent a Ms. of *Yōgasāra* from the famous Bhaṇḍāra of Patan. I record my obligations to Dr. P. L. VAIDYA, Poona, by whose kind suggestions the shape of the present Introduction is much benefited.

I record my sense of gratitude to Dr. BALKRISHN, Principal, Rajaram College, Kolhapur, whose almost personal interest in my studies has uniformly encouraged me in my work.

I am placing this work of mine in the hands of serious students of Indian literature, I might be allowed to add, with sufficient consciousness of its limitations which are but natural, since much of the field covered is still untrodden. If it is human to err, it is much more human to see one's errors corrected in time. So here I record my thanks to all my readers in anticipation of their encouraging criticism and kind suggestions.

karmanyēvādhikāras tē:

Kolhapur :
June, 1937.

A. N. UPADHYE.



इस युगके महान तत्त्ववेत्ता श्रीमद् राजचन्द्र

जिस महापुरुषकी विश्वविहारी प्रज्ञा थी, अनेक जन्मोंमें आराधित जिसका योग था अर्थात् जन्मसे ही योगेश्वर जैसी जिसकी निरपराध वैराग्यमय दशा थी तथा सर्व जीवोंके प्रति जिसका विश्वव्यापी प्रेम था, ऐसे आश्चर्यमूर्ति महात्मा श्रीमद् राजचन्द्रका जन्म महान तत्त्वज्ञानियोंकी परम्परारूप इस भारतभूमिके गुजरात प्रदेशान्तर्गत सौराष्ट्रके ववाणिया बंदर नामक एक शान्त रमणीय गाँवके वणिक् कुटुम्बमें विक्रम संवत् १९२४ (ईस्वी सन् १८६७) की कार्तिकी पूर्णिमा रविवारको रात्रिके दो बजे हुआ था। इनके पिताका नाम श्री रवजीभाई पंचाणभाई मेहता और माताका नाम श्री देवबाई था। इनके एक छोटा भाई और चार बहनें थीं। श्रीमद्जीका प्रेम-नाम 'लक्ष्मीनन्दन' था। बादमें यह नाम बदलकर 'रायचन्द्र' रखा गया और भविष्यमें आप 'श्रीमद् राजचन्द्र'के नामसे प्रसिद्ध हुए।

बाल्यावस्था, समुच्चय वयचर्या

श्रीमद्जीके पितामह श्रीकृष्णके भक्त थे और उनकी माताजी देवबाई जैनसंस्कार लाई थी। उन सभी संस्कारोंका मिश्रण किसी अद्भुत ढंगसे गंगा-यमुनाके संगमकी भाँति हमारे बाल-महात्माके हृदयमें प्रवाहित हो रहा था। अपनी प्रौढ़ वाणीमें बाईस वर्षकी उम्रमें इस बाल्यावस्थाका वर्णन 'समुच्चयवयचर्या' नामके लेखमें उन्होंने स्वयं किया है—

“सात वर्ष तक बालवयकी खेलकूदका अत्यंत सेवन किया था। खेलकूदमें भी विजय पानेकी और राजेश्वर जैसी उच्च पदवी प्राप्त करनेकी परम अभिलाषा थी। वस्त्र पहननेकी, स्वच्छ रखनेकी, खाने-पीनेकी, सोने-बैठनेकी, सारी विदेही दशा थी; फिर भी अन्तःकरण कोमल था। वह दशा आज भी बहुत याद आती है। आजका विवेकी ज्ञान उस वयमें होता तो मुझे मोक्षके लिये विशेष अभिलाषा न रहती।

सात वर्षसे ग्यारह वर्ष तकका समय शिक्षा लेनेमें बीता। उस समय निरपराध स्मृति होनेसे एक ही बार पाठका अवलोकन करना पड़ता था। स्मृति ऐसी बलवत्तर थी कि वैसी स्मृति बहुत ही थोड़े मनुष्योंमें इस कालमें, इस क्षेत्रमें होगी। पढ़नेके प्रमादी बहुत था। बातोंमें कुशल, खेलकूदमें रुचिवान और आनन्दी था। जिस समय शिक्षक पाठ पढ़ाता, मात्र उसी समय पढ़कर उसका भावार्थ कह देता। उस समय मुझमें प्रीति—सरल वात्सल्यता—बहुत थी। सबसे ऐक्य चाहता; सबमें भ्रातृभाव हो तभी सुख, इसका मुझे स्वाभाविक ज्ञान था। उस समय कल्पित बातें करनेकी मुझे बहुत आदत थी। आठवें वर्षमें मैंने कविता की थी; जो बादमें जाँचने पर समाप्त थी।

अभ्यास इतनी त्वरासे कर सका था कि जिस व्यक्तिने मुझे प्रथम पुस्तकका बोध देना आरम्भ किया था उसीको गुजराती शिक्षण भली-भाँति प्राप्त कर उसी पुस्तकका पुनः मैंने बोध किया था।

मेरे पितामह कृष्णकी भक्ति करते थे। उनसे उस वयमें कृष्णकीर्तनके पद मैंने सुने थे तथा भिन्न भिन्न अवतारोंके संबंधमें चमत्कार सुने थे, जिससे मुझे भक्तिके साथ साथ उन अवतारोंमें प्रीति हो गई थी, और रामदासजी नामके साधुके पास मैंने बाललीलामें कंठी बंधवाई थी।.....उनके सम्प्रदायके महन्त होवें, जगह जगह पर चमत्कारसे हरिकथा करते होवें और त्यागी होवें तो कितना आनन्द आये? यही कल्पना हुआ करती; तथा कोई वैभवी भूमिका देखता कि समर्थ वैभवशाली होनेकी इच्छा होती।... गुजराती भाषाकी वाचनमालामें जगतकर्ता सम्बन्धी कितने ही स्थलोंमें उपदेश किया है वह मुझे दृढ़ हो गया था, जिससे जैन लोगोंके प्रति मुझे बहुत जुगुप्सा आती थी.....तथा उस समय प्रतिमाके अश्रद्धालु

लोगोंकी क्रियाएँ मेरे देखनेमें आई थीं, जिससे वे क्रियाएँ मलिन लगनेसे मैं उनसे डरता था अर्थात् वे मुझे प्रिय न थीं ।

लोग मुझे पहलेसेही समर्थ शक्तिशाली और गाँवका नामांकित विद्यार्थी मानते थे, इसलिए मैं अपनी प्रशंसाके कारण जानबूझकर वैसे मंडलमें बैठकर अपनी चपल शक्ति दर्शानेका प्रयत्न करता । कंठीके लिए बार-बार वे मेरी हास्यपूर्वक टीका करते; फिर भी मैं उनसे वाद करता और उन्हें समझानेका प्रयत्न करता । परन्तु धीरे-धीरे मुझे उनके (जैनके) प्रतिक्रमणसूत्र इत्यादि पुस्तकें पढ़नेके लिए मिलीं; उनमें बहुत विनयपूर्वक जगतके सब जीवोंसे मित्रता चाही है । अतः मेरी प्रीति इसमें भी हुई और उसमें भी रही । धीरे-धीरे यह प्रसंग बढ़ा । फिर भी स्वच्छ रहनेके तथा दूसरे आचार-विचार मुझे वैष्णवोंके प्रिय थे और जगतकर्ताकी श्रद्धा थी । उस अरसेमें कंठी टूट गई; इसलिए उसे फिरसे मैंने नहीं बाँधा । उस समय बाँधने न बाँधनेका कोई कारण मैंने ढूँढ न था । यह मेरी तेरह वर्षकी वयचर्या है । फिर मैं अपने पिताकी दूकान पर बैठता और अपने अक्षरोंकी छटाके कारण कच्छ दरबारके उतारे पर मुझे लिखनेके लिये बुलाते तब मैं वहाँ जाता । दूकान पर मैंने नाना प्रकारकी लीला-लहर की है, अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं, राम इत्यादिके चरित्रों पर कविताएँ रची है; सांसारिक तृष्णाएँ की हैं, फिर भी मैंने किसीको न्यून-अधिक दाम नहीं कहा या किसीको न्यून-अधिक तौल कर नहीं दिया, यह मुझे निश्चित याद है ।” (पत्रांक ८९)

जातिस्मरणज्ञान और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति

श्रीमद्जी जिस समय सात वर्षके थे उस समय एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग उनके जीवनमें बना । उन दिनों ववाणियामें अमीचन्द नामके एक गृहस्थ रहते थे जिनका श्रीमद्जीके प्रति बहुत प्रेम था । एक दिन साँपके काट खानेसे उनकी तत्काल मृत्यु हो गई । यह बात सुनकर श्रीमद्जी पितामहके पास आये और पूछा—‘अमीचन्द गुजर गये क्या ?’ पितामहने सोचा कि मरणकी बात सुननेसे बालक डर जायेगा, अतः उन्होंने, ब्यालू कर ले, ऐसा कहकर वह बात टालनेका प्रयत्न किया । मगर श्रीमद्जी बार-बार वही सवाल करते रहे । आखिर पितामहने कहा—‘हाँ, यह बात सच्ची है ।’ श्रीमद्जीने पूछा—‘गुजर जानेका अर्थ क्या ?’ पितामहने कहा—‘उसमेंसे जीव निकल गया, और अब वह चल फिर या बोल नहीं सकेगा; इसलिए उसे तालाबके पासके स्मशानमें जला देंगे ।’ श्रीमद्जी थोड़ी देर घरमें इधर-उधर घूमकर छिपे-छिपे तालाब पर गये और तटवर्ती दो शाखावाले बबूल पर चढ़ कर देखा तो सचमुच चिता जल रही थी । कितने ही मनुष्य आसपास बैठे हुए थे । यह देखकर उन्हें विचार आया कि ऐसे मनुष्यको जला देना यह कितनी क्रूरता ! ऐसा क्यों हुआ ? इत्यादि विचार करते हुए परदा हट गया; और उन्हें पूर्वभवोंकी स्मृति हो आई । फिर जब उन्होंने जूनागढका गढ देखा तब उस (जातिस्मरणज्ञान) में वृद्धि हुई ।

इस पूर्वस्मृतिरूप ज्ञानने उनके जीवनमें प्रेरणाका अपूर्व नवीन अध्याय जोड़ा । इसीके प्रतापसे उन्हें छोटी उम्रसे वैराग्य और विवेककी प्राप्ति द्वारा तत्त्वबोध हुआ । पूर्वभवके ज्ञानसे आत्माकी श्रद्धा निश्चल हो गई । संवत् १९४९, कार्तिक वद १२ के एक पत्रमें लिखते हैं—“पुनर्जन्म है— जरूर है । इसके लिए ‘मैं’ अनुभवसे हाँ कहनेमें अचल हूँ । यह वाक्य पूर्वभवके किसी योगका स्मरण होते समय सिद्ध हुआ लिखा है । जिसने पुनर्जन्मादि भाव किये हैं, उस पदार्थको किसी प्रकारसे जानकर यह वाक्य लिखा गया है ।” (पत्रांक ४२४)

एक अन्य पत्रमें लिखते हैं—“कितने ही निर्णयोंसे मैं यह मानता हूँ कि इस कालमें भी कोई-कोई महात्मा गतभवको जातिस्मरणज्ञानसे जान सकते हैं; यह जानना कल्पित नहीं किन्तु सम्यक् (यथार्थ) होता है ! उत्कृष्ट संवेग, ज्ञानयोग और सत्संगसे भी यह ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् पूर्वभव प्रत्यक्ष अनुभवमें आ जाता है । जब तक पूर्वभव अनुभवगम्य न हो तब तक आत्मा भविष्यकालके लिए सशक्त धर्मप्रयत्न किया करता है; और ऐसा सशक्त प्रयत्न योग्य सिद्धि नहीं देता ।” (पत्रांक ६४)

अवधान प्रयोग, स्पर्शनशक्ति

वि० सं० १९४० से श्रीमद्जी अवधान प्रयोग करने लगे थे। धीरे धीरे वे शतावधान^x तक पहुँच गये थे। जामनगरमें बारह और सोलह अवधान करने पर उन्हें 'हिन्दका हीरा' ऐसा उपनाम मिला था। वि० सं० १९४३ में १९ वर्षकी उम्रमें उन्होंने बम्बईकी एक सार्वजनिक सभामें डॉ० पिटर्सनकी अध्यक्षतामें शतावधानका प्रयोग दिखाकर बड़े-बड़े लोगोंको आश्चर्यमें डाल दिया था। उस समय उपस्थित जनताने उन्हें 'सुवर्णचन्द्रक' प्रदान किया था और 'साक्षात् सरस्वती' की उपाधिसे सम्मानित किया था।

श्रीमद्जीकी स्पर्शनशक्ति भी अत्यन्त विलक्षण थी। उपरोक्त सभामें उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकारके बारह ग्रन्थ दिये गये और उनके नाम भी उन्हें पढ़ कर सुना दिये गये। बादमें उनकी आँखोंपर पट्टी बाँध कर जो-जो ग्रन्थ उनके हाथ पर रखे गये उन सब ग्रन्थोंके नाम हाथोंसे टटोलकर उन्होंने बता दिये।

श्रीमद्जीकी इस अद्भुत शक्तिसे प्रभावित होकर तत्कालीन बम्बई हाईकोर्टके मुख्य न्यायाधीश सर चार्ल्स सारजन्टने उन्हें यूरोपमें जाकर वहाँ अपनी शक्तियाँ प्रदर्शित करनेका अनुरोध किया, परन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्हें कीर्तिकी इच्छा न थी, बल्कि ऐसी प्रवृत्ति आत्मोन्नतिमें बाधक और सन्मार्गरोधक प्रतीत होनेसे प्रायः बीस वर्षकी उम्रके बाद उन्होंने अवधान-प्रयोग नहीं किये।

महात्मा गांधीने कहा था

महात्मा गांधीजी श्रीमद्जीको धर्मके सम्बन्धमें अपना मार्गदर्शक मानते थे। वे लिखते हैं-

“मुझ पर तीन पुरुषोंने गहरा प्रभाव डाला है- टाल्सटॉय, रस्किन और रायचन्दभाई। टाल्सटॉयने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्रव्यवहारसे, रस्किनने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टु दि लास्ट' से-जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है, और रायचन्दभाईने अपने गाढ़ परिचयसे। जब मुझे हिन्दुधर्ममें शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करनेमें मदद करनेवाले रायचन्दभाई थे।

जो वैराग्य (अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?) इस काव्यकी कडियोंमें झलक रहा है वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ़ परिचयमें प्रतिक्षण उनमें देखा है। उनके लेखोंमें एक असाधारणता यह है कि उन्होंने जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। दूसरे पर प्रभाव डालनेके लिये एक पंक्ति भी लिखी हो ऐसा मैंने नहीं देखा।

खाते, बैठते, सोते, प्रत्येक क्रिया करते उनमें वैराग्य तो होता ही। किसी समय इस जगतके किसी भी वैभवमें उन्हें मोह हुआ हो ऐसा मैंने नहीं देखा।

व्यवहारकुशलता और धर्मपरायणताका जितना उत्तम मेल मैंने कविमें देखा उतना किसी अन्यमें नहीं देखा।”

‘श्रीमद् राजचन्द्र जयन्ती’ के प्रसंग पर ईस्वी सन् १९२१ में गांधीजी कहते हैं- “बहुत बार कह और लिख गया हूँ कि मैंने बहुतोंके जीवनमेंसे बहुत कुछ लिया है। परन्तु सबसे अधिक किसीके जीवनमेंसे मैंने ग्रहण किया हो तो वह कवि (श्रीमद्जी) के जीवनमेंसे है। दयाधर्म भी मैंने उनके जीवनमेंसे सीखा है। खून करनेवालेसे भी प्रेम करना यह दयाधर्म मुझे कविने सिखाया है।”

x शतावधान अर्थात् सौ कामोंको एक साथ करना। जैसे शतरंज खेलते जाना, मालाके मनके गिनते जाना, जोड़ बाकी गुणाकार एवं भागाकार मनमें गिनते जाना, आठ नई समस्याओंकी पूर्ति करना, सोलह निर्दिष्ट नये विषयोंपर निर्दिष्ट छन्दमें कविता करते जाना, सोलह भाषाओंके अनुक्रमविहीन चार सौ शब्द कर्ताकर्मसहित पुनः अनुक्रमबद्ध कह सुनाना, कतिपय अलंकारोंका विचार, दो कोठोंमें लिखे हुए उल्टेसीधे अक्षरोंसे कविता करते जाना इत्यादि। एक जगह ऊँचे आसनपर बैठकर इन सब कामोंमें मन और दृष्टिको प्रेरित करना, लिखना नहीं या दुबारा पूछना नहीं और सभी स्मरणमें रख कर इन सौ कामोंको पूर्ण करना। श्रीमद्जी लिखते हैं-“अवधान आत्मशक्तिका कार्य है यह मुझे स्वानुभवसे प्रतीत हुआ है।” (पत्रांक १८)

गृहस्थाश्रम

वि० सं० १९४४ माघ सुदी १२ को २० वर्षकी आयुमें श्रीमद्जीका शुभ विवाह जौहरी रेवाशंकर जगजीवनदास मेहताके बड़े भाई पोपटलालकी महाभाग्यशाली पुत्री झबकबाईके साथ हुआ था। इसमें दूसरोंकी 'इच्छा' और 'अत्यन्त आग्रह' ही कारणरूप प्रतीत होते हैं। विवाहके एकाध वर्ष बाद लिखे हुए एक लेखमें श्रीमद्जी लिखते हैं- "स्त्रीके संबंधमें किसी भी प्रकारसे रागद्वेष रखनेकी मेरी अंशमात्र इच्छा नहीं है। परन्तु पूर्वोपार्जनसे इच्छाके प्रवर्तनमें अटका हूँ।" (पत्रांक ७८)

सं० १९४६ के पत्रमें लिखते हैं- "तत्त्वज्ञानकी गुप्त गुफाका दर्शन करनेपर गृहाश्रमसे विरक्त होना अधिकतर सूझता है।" (पत्रांक ११३)

श्रीमद्जी गृहवासमें रहते हुए भी अत्यन्त उदासीन थे। उनकी मान्यता थी- "कुटुंबरूपी काजलकी कोठडीमें निवास करनेसे संसार बढता है। उसका कितना भी सुधार करो, तो भी एकान्तवाससे जितना संसारका क्षय हो सकता है उसका शतांश भी उस काजलकी कोठडीमें रहनेसे नहीं हो सकता, क्योंकि वह कषायका निमित्त है और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है।" (पत्रांक १०३) फिर भी इस प्रतिकूलतामें वे अपने परिणामोंकी पूरी सम्भाल रखकर चले।

सफल एवं ग्रामाणिक व्यापारी

श्रीमद्जी २१ वर्षकी उम्रमें व्यापारार्थ ववाणियासे बंबई आये और सेठ रेवाशंकर जगजीवनदासकी दुकानमें भागीदार रहकर जवाहिरातका व्यापार करने लगे। व्यापार करते हुए भी उनका लक्ष्य आत्माकी ओर अधिक था। व्यापारसे अवकाश मिलते ही श्रीमद्जी कोई अपूर्व आत्मविचारणामें लीन हो जाते थे। ज्ञानयोग और कर्मयोगका इनमें यथार्थ समन्वय देखा जाता था। श्रीमद्जीके भागीदार श्री माणिकलाल घेलाभाईने अपने एक वक्तव्यमें कहा था- "व्यापारमें अनेक प्रकारकी कठिनाइयाँ आती थीं, उनके सामने श्रीमद्जी एक अडोल पर्वतके समान टिके रहते थे। मैंने उन्हें जड़ वस्तुओंकी चिंतासे चिंतातुर नहीं देखा। वे हमेशा शान्त और गम्भीर रहते थे।"

जवाहिरातके साथ मोतीका व्यापार भी श्रीमद्जीने शुरू किया था और उसमें वे सभी व्यापारियोंमें अधिक विश्वासपात्र माने जाते थे। उस समय एक अरब अपने भाईके साथ मोतीकी आढतका धन्धा करता था। छोटे भाईके मनमें आया कि आज मैं भी बड़े भाईकी तरह बड़ा व्यापार करूँ। दलालने उसकी श्रीमद्जीसे भेंट करा दी। उन्होंने कस कर माल खरीदा। पैसे लेकर अरब घर पहुँचा तो उसके बड़े भाईने पत्र दिखाकर कहा कि वह माल अमुक किंमतके बिना नहीं बेचनेकी शर्त की है और तूने यह क्या किया? यह सुनकर वह घबराया और श्रीमद्जीके पास जाकर गिड़गिड़ाने लगा कि मैं ऐसी आफतमें आ पड़ा हूँ।

श्रीमद्जीने तुरन्त माल वापस कर दिया और पैसे गिन लिये। मानो कोई सौदा किया ही न था ऐसा समझकर होनेवाले बहुत नफेको जाने दिया। वह अरब श्रीमद्जीको खुदाके समान मानने लगा।

इसी प्रकारका एक दूसरा प्रसंग उनके करुणामय और निःस्पृही जीवनका ज्वलंत उदाहरण है। एक बार एक व्यापारीके साथ श्रीमद्जीने हीरोंका सौदा किया कि अमुक समयमें निश्चित किये हुए भावसे वह व्यापारी श्रीमद्जीको अमुक हीरे दे। उस विषयका दस्तावेज भी हो गया। परन्तु हुआ ऐसा कि मुद्दतके समय भाव बहुत बढ गये। श्रीमद्जी खुद उस व्यापारीके यहाँ जा पहुँचे और उसे चिन्तामग्न देखकर वह दस्तावेज फाड़ डाला और बोले- "भाई, इस चिट्ठी (दस्तावेज) के कारण तुम्हारे हाथ-पाँव बँधे हुए थे। बाजार भाव बढ जानेसे तुमसे मेरे साठ-सत्तर हजार रुपये लेने निकलते हैं, परन्तु मैं तुम्हारी स्थिति समझ सकता हूँ। इतने अधिक रुपये मैं तुमसे ले लूँ तो तुम्हारी क्या दशा हो? परन्तु राजचन्द्र दूध पी सकता है, खून नहीं।" वह व्यापारी कृतज्ञभावसे श्रीमद्जीकी ओर स्तब्ध होकर देखता ही रह गया।

भविष्यवक्ता, निमित्तज्ञानी

श्रीमद्जीका ज्योतिष-संबंधी ज्ञान भी प्रखर था। वे जन्मकुंडली, वर्षफल एवं अन्य चिह्न देख कर भविष्यकी सूचना कर देते थे। श्री जूठाभाई (एक मुमुक्षु) के मरणके बारेमें उन्होंने सवा दो मास पूर्व स्पष्ट बता दिया था। एक बार सं० १९५५ की चैत वदी ८ को मोरबीमें दोपहरके ४ बजे पूर्व दिशाके आकाशमें काले बादल देखे और उन्हें दुष्काल पड़नेका निमित्त जानकर उन्होंने कहा- “ऋतुको सन्निपात हुआ है।” तदनुसार सं० १९५५ का चौमासा कोरा रहा और सं० १९५६ में भयंकर दुष्काल पड़ा। श्रीमद्जी दूसरेके मनकी बातको भी सरलतासे जान लेते थे। यह सब उनकी निर्मल आत्मशक्तिका प्रभाव था।

कवि-लेखक

श्रीमद्जीमें, अपने विचारोंकी अभिव्यक्ति पद्यरूपमें करनेकी सहज क्षमता थी। उन्होंने ‘स्त्रीनीति-बोधक’, ‘सद्बोधशतक’, ‘आर्यप्रजानी पडती’, ‘हुन्नरकला वधारवा विषे’ आदि अनेक कविताएँ केवल आठ वर्षकी वयमें लिखी थीं। नौ वर्षकी आयुमें उन्होंने रामायण और महाभारतकी भी पद्यरचना की थी जो प्राप्त न हो सकी। इसके अतिरिक्त जो उनका मूल विषय आत्मज्ञान था उसमें उनकी अनेक रचनाएँ हैं। प्रमुखरूपसे ‘आत्मसिद्धि’, ‘अमूल्य तत्त्वविचार’, ‘भक्तिना वीस दोहरा’, ‘परमपदप्राप्तिनी भावना (अपूर्व अवसर)’, ‘मूलमार्ग रहस्य’, ‘तृष्णानी विचित्रता’ है।

‘आत्मसिद्धि-शास्त्र’के १४२ दोहोंकी रचना तो श्रीमद्जीने मात्र डेढ़ घंटेमें नडियादमें आश्विन वदी १ (गुजराती) सं० १९५२ को २९ वर्षकी उम्रमें की थी। इसमें सम्यग्दर्शनके कारणभूत छः पदोंका बहुत ही सुन्दर पक्षपातरहित वर्णन किया है। यह कृति नित्य स्वाध्यायकी वस्तु है। इसके अंग्रेजीमें भी गद्य पद्यात्मक अनुवाद प्रगट हो चुके हैं।

गद्य-लेखनमें श्रीमद्जीने ‘पुष्पमाला’, ‘भावनाबोध’ और ‘मोक्षमाला’की रचना की। इसमें ‘मोक्षमाला’ तो उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है जिसे उन्होंने १६ वर्ष ५ मासकी आयुमें मात्र तीन दिनमें लिखी थी। इसमें १०८ शिक्षापाठ हैं। आज तो इतनी आयुमें शुद्ध लिखना भी नहीं आता जब कि श्रीमद्जीने एक अपूर्व पुस्तक लिख डाली। पूर्वभवका अभ्यास ही इसमें कारण था। ‘मोक्षमाला’के संबंधमें श्रीमद्जी लिखते हैं- “जैनधर्मको यथार्थ समझानेका उसमें प्रयास किया है। जिनोक्त मार्गसे कुछ भी नयूनाधिक उसमें नहीं कहा है। वीतराग मार्गमें आबालवृद्धकी रुचि हो, उसके स्वरूपको समझे तथा उसके बीजका हृदयमें रोपण हो, इस हेतुसे इसकी बालावबोधरूप योजना की है।”

श्री कुन्दकुन्दाचार्यके ‘पंचास्तिकाय’ ग्रन्थकी मूल गाथाओंका श्रीमद्जीने अविकल (अक्षरशः) गुजराती अनुवाद भी किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने श्री आनन्दधनजीकृत चौबीसीका अर्थ लिखना भी प्रारम्भ किया था, और उसमें प्रथम दो स्तवनोंका अर्थ भी किया था; पर वह अपूर्ण रह गया है। फिर भी इतने से, श्रीमद्जीकी विवेचन शैली कितनी मनोहर और तलस्पर्शी है उसका ख्याल आ जाता है। सूत्रोंका यथार्थ अर्थ समझने-समझानेमें श्रीमद्जीकी निपुणता अजोड थी।

मतमतान्तरके आग्रहसे दूर

श्रीमद्जीकी दृष्टि बड़ी विशाल थी। वे रूढ़ि या अन्धश्रद्धाके कट्टर विरोधी थे। वे मतमतान्तर और कदाग्रहदिसे दूर रहते थे, वीतरागताकी ओर ही उनका लक्ष्य था। उन्होंने आत्मधर्मका ही उपदेश दिया। इसी कारण आज भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवाले उनके वचनोंका रुचिपूर्वक अभ्यास करते हुए देखे जाते हैं।

श्रीमद्जी लिखते हैं-

“मूलतत्त्वमें कहीं भी भेद नहीं है, मात्र दृष्टिका भेद है ऐसा मानकर आशय समझकर पवित्र धर्ममें प्रवृत्ति करना।” (पुष्पमाला -१४)

“तू चाहे जिस धर्मको मानता हो इसका मुझे पक्षपात नहीं, मात्र कहनेका तात्पर्य यही कि जिस मार्गसे संसारमलका नाश हो उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारका तू सेवन कर ।” (पुष्पमाला-१५)

“दुनिया मतभेदके बन्धनसे तत्त्व नहीं पा सकी ।” (पत्रांक २७)

“जहाँ तहाँसे रागद्वेषरहित होना ही मेरा धर्म है । मैं किसी गच्छमें नहीं हूँ, परन्तु आत्मामें हूँ यह मत भूलियेगा ।” (पत्रांक ३७)

श्रीमद्जीने प्रीतम, अखा, छोटम, कबीर, सुन्दरदास, सहजानन्द, मुक्तानन्द, नरसिंह मेहता आदि सन्तोंकी वाणीको जहाँतहाँ आदर दिया है और उन्हें मार्गानुसारी जीव (तत्त्वप्राप्तिके योग्य आत्मा) कहा है । फिर भी अनुभवपूर्वक उन्होंने जैनशासनकी उत्कृष्टताको स्वीकार किया है—

“श्रीमत् वीतराग भगवन्तोंका निश्चितार्थ किया हुआ ऐसा अचिन्त्य चिन्तामणिस्वरूप, परमहितकारी, परम अद्भुत, सर्व दुःखका निःसंशय आत्यन्तिक क्षय करनेवाला, परम अमृतस्वरूप ऐसा सर्वोत्कृष्ट शाश्वत धर्म जयवन्त वर्तो, त्रिकाल जयवन्त वर्तो । उस श्रीमत् अनन्तचतुष्टयस्थित भगवानका और उस जयवन्त धर्मका आश्रय सदैव कर्तव्य है ।” (पत्रांक ८४३)

परम वीतरागदशा

श्रीमद्जीकी परम विदेही दशा थी । वे लिखते हैं—

“एक पुराणपुरुष और पुराणपुरुषकी प्रेमसम्पत्ति सिवाय हमें कुछ रुचिकर नहीं लगता, हमें किसी पदार्थमें रुचिमात्र रही नहीं है; हम देहधारी हैं या नहीं—यह याद करते हैं तब मुश्किलीसे जान पाते हैं ।” (पत्रांक २५५)

“देह होते हुए भी मनुष्य पूर्ण वीतराग हो सकता है ऐसा हमारा निश्चल अनुभव है । क्योंकि हम भी अवश्य उसी स्थितिको पानेवाले हैं, ऐसा हमारा आत्मा अखण्डतासे कहता है और ऐसा ही है, जरूर ऐसा ही है ।” (पत्रांक ३३४)

“मान लें कि चरमशरीरीपन इस कालमें नहीं है, तथापि अशरीरी भावसे आत्मस्थिति है तो वह भावनयसे चरमशरीरीपन नहीं, अपितु सिद्धत्व है; और यह अशरीरीभाव इस कालमें नहीं है ऐसा यहाँ कहें तो इस कालमें हम खुद नहीं हैं, ऐसा कहने तुल्य है ।” (पत्रांक ४९९)

अहमदाबादमें आगखानके बँगलेपर श्रीमद्जीने श्री लल्लुजी तथा श्री देवकरणजी मुनिको बुलाकर अन्तिम सूचना देते हुए कहा था— “हमारेमें और वीतरागमें भेद न मानियेगा ।”

एकान्तचर्या, परमनिवृत्तिरूप कामना

मोहमयी (बम्बई) नगरीमें व्यापारिक काम करते हुए भी श्रीमद्जी ज्ञानाराधना तो करते ही रहते थे और पत्रों द्वारा मुमुक्षुओंकी शंकाओंका समाधान करते रहते थे; फिर भी बीचबीचमें पेढीसे विशेष अवकाश लेकर वे एकान्त स्थान, जंगल या पर्वतोंमें पहुँच जाते थे । मुख्यरूपसे वे खंभात, वडवा, काविठा, उत्तरसंडा, नडियाद, वसो, रालज और ईडरमें रहे थे । वे किसी भी स्थान पर बहुत गुप्तरूपसे जाते थे, फिर भी उनकी सुगन्धी छिप नहीं पाती थी । अनेक जिज्ञासु-भ्रमर उनके सत्समागमका लाभ पानेके लिए पीछे-पीछे कहीं भी पहुँच ही जाते थे । ऐसे प्रसंगों पर हुए बोधका यत्किंचित् संग्रह ‘श्रीमद् राजचन्द्र’ ग्रन्थमें ‘उपदेशाख्या’, ‘उपदेशनोंध’ और ‘व्याख्यानसार’ के नामसे प्रकाशित हुआ है ।

यद्यपि श्रीमद्जी गृहवास-व्यापारादिमें रहते हुए भी विदेहीवत् थे, फिर भी उनका अन्तरङ्ग सर्वसंगपरित्याग कर निर्ग्रन्थदशाके लिए छटपटा रहा था । एक पत्रमें वे लिखते हैं— “भरतजीको हिरनके

संगसे जन्मकी वृद्धि हुई थी और इस कारणसे जडभरतके भवमें असंग रहे थे । ऐसे कारणोंसे मुझे भी असंगता बहुत ही याद आती है; और कितनी ही बार तो ऐसा हो जाता है कि उस असंगताके बिना परम दुःख होता है । यम अन्तकालमें प्राणीको दुःखदायक नहीं लगता होगा, परन्तु हमें संग दुःखदायक लगता है ।” (पत्रांक २१७)

फिर हाथनोंधमें वे लिखते हैं—“सर्वसंग महास्रवरूप श्री तीर्थकरने कहा है सो सत्य है । ऐसी मिश्रगुणस्थानक जैसी स्थिति कहाँ तक रखनी ? जो बात चित्तमें नहीं सो करनी; और जो चित्तमें हैं उसमें उदास रहना ऐसा व्यवहार किस प्रकारसे हो सकता है ? वैश्यवेषमें और निर्ग्रन्थभावसे रहते हुए कोटिकोटि विचार हुआ करते हैं ।” (हाथनोंध १-३८) “आकिंचन्यतासे विचरते हुए एकान्त मौनसे जिनसदृश ध्यानसे तन्मयात्मस्वरूप ऐसा कब होऊँगा ?” (हाथनोंध १-८७)

संवत् १९५६ में अहमदाबादमें श्रीमदजीने श्री देवकरणजी मुनिसे कहा था- “हमने सभामें स्त्री और लक्ष्मी दोनोंका त्याग किया है, और सर्वसंगपरित्यागकी आज्ञा माताजी देंगी ऐसा लगता है ।” और तदनुसार उन्होंने सर्वसंगपरित्यागरूप दीक्षा धारण करनेकी अपनी माताजीसे अनुज्ञा भी ले ली थी । परन्तु उनका शारीरिक स्वास्थ्य दिन पर दिन बिगड़ता गया । ऐसे ही अवसर पर किसीने उनसे पूछा- “आपका शरीर कृश क्यों होता जाता है ?” श्रीमदजीने उत्तर दिया- “हमारे दो बगीचे हैं, शरीर और आत्मा । हमारा पानी आत्मारूपी बगीचेमें जाता है, इससे शरीररूपी बगीचा सूख रहा है ।” अनेक उपचार करने पर भी स्वास्थ्य ठीक नहीं हुआ । अन्तिम दिनोंमें एक पत्रमें लिखते हैं- “अत्यन्त त्वरासे प्रवास पूरा करना था, वहाँ बीचमें सहराका मरुस्थल आ गया । सिर पर बहुत बोझ था उसे आत्मवीर्यसे जिस प्रकार अल्पकालमें सहन कर लिया जाय उस प्रकार प्रयत्न करते हुए, पैरोंने निकाचित उदयरूप थकान ग्रहण की । जो स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता यही अद्भुत आश्चर्य है । अव्याबाध स्थिरता है ।” (पत्रांक ९५१)

अन्त समय

स्थिति और भी गिरती गई । शरीरका वजन १३२ पौंडसे घटकर मात्र ४३ पौंड रह गया । शायद उनका अधिक जीवन कालको पसन्द नहीं था । देहत्यागके पहले दिन शामको अपने छोटे भाई मनसुखलाल आदिसे कहा- “तुम निश्चिन्त रहना । यह आत्मा शाश्वत है । अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होनेवाला है । तुम शान्ति और समाधिपूर्वक रहना । जो रत्नमय ज्ञानवाणी इस देहके द्वारा कही जा सकनेवाली थी उसे कहनेका समय नहीं है । तुम पुरुषार्थ करना ।” रात्रिको ढाई बजे वे फिर बोले-“निश्चित रहना, भाईका समाधिमरण है ।” अवसानके दिन प्रातः पौने नौ बजे कहा-“मनसुख, दुःखी न होना । मैं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता है ।” फिर वे नहीं बोले । इस प्रकार पाँच घंटे तक समाधिमें रहकर संवत् १९५७ की चैत्र वदी ५ (गुजराती) मंगलवारको दोपहरके दो बजे राजकोटमें इस नश्वर शरीरका त्याग करके उत्तम गतिको प्राप्त हुए । भारतभूमि एक अनुपम तत्त्वज्ञानी सन्तको खो बैठी । उनके देहावसानके समाचारसे मुमुक्षुओंमें अत्यन्त शोकके बादल छा गये । जिन जिन पुरुषोंको जितने प्रमाणमें उन महात्माकी पहचान हुई थी उतने प्रमाणमें उनका वियोग उन्हें अनुभूत हुआ था ।

उनकी स्मृतिमें शास्त्रमालाकी स्थापना

वि० सं० १९५६ के भादों मासमें परम सत्श्रुतके प्रचार हेतु बम्बईमें श्रीमदजीने परमश्रुतप्रभावक-मण्डलकी स्थापना की थी । श्रीमदजीके देहोत्सर्गके बाद उनकी स्मृतिस्वरूप ‘श्री रायचन्द्रजैनग्रन्थमाला’ की स्थापना की गई जिसके अन्तर्गत दोनों सम्प्रदायोंके अनेक सद्ग्रन्थोंका प्रकाशन हुआ है जो तत्त्वविचारकोंके लिए इस दुष्कालको बितानेमें परम उपयोगी और अनन्य आधाररूप है । महात्मा गाँधीजी इस संस्थाके ट्रस्टी और श्री रेवाशंकर जगजीवनदास मुख्य कार्यकर्ता थे । श्री रेवाशंकरके देहोत्सर्ग बाद संस्थामें कुछ

शिथिलता आ गई परन्तु अब उस संस्थाका काम श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगासके ट्रस्टियोंने सम्भाल लिया है और सुचारुरूपसे पूर्वानुसार सभी कार्य चल रहा है ।

श्रीमद्जीके स्मारक

श्रीमद्जीके अनन्य भक्त आत्मनिष्ठ श्री लघुराजस्वामी (श्री लल्लुजी मुनि) की प्रेरणासे श्रीमद्जीके स्मारकके रूपमें और भक्तिधामके रूपमें वि० सं० १९७६ की कार्तिकी पूर्णिमाको अगास स्टेशनके पास 'श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम' की स्थापना हुई थी । श्री लघुराज स्वामीके चौदह चातुर्मासीसे पावन हुआ यह आश्रम आज बढ़ते बढ़ते गोकुल सा गाँव बन गया है । श्री स्वामीजी द्वारा योजित सत्संगभक्तिका क्रम आज भी यहाँ पर उनकी आज्ञानुसार चल रहा है । धार्मिक जीवनका परिचय करानेवाला यह उत्तम तीर्थ बन गया है । संक्षेपमें यह तपोवनका नमूना है । श्रीमद्जीके तत्त्वज्ञानपूर्ण साहित्यका भी मुख्यतः यहींसे प्रकाशन होता है । इस प्रकार यह श्रीमद्जीका मुख्य जीवित स्मारक है ।

इसके अतिरिक्त वर्तमानमें निम्नलिखित स्थानोंपर श्रीमद् राजचन्द्र मंदिर आदि संस्थाएँ स्थापित हैं जहाँ पर मुमुक्षु-बन्धु मिलकर आत्मकल्याणार्थ वीतराग-तत्त्वज्ञानका लाभ उठाते हैं—ववाणिया, राजकोट, मोरबी, सायला, वडवा, खंभात, काविठा, सीमरडा, वडाली, भादरण, नार, सुणाव, नरोडा, सडोदरा, धामण, अहमदाबाद, ईडर, सुरेन्द्रनगर, वसो, वटामण, उत्तरसंडा, बोरसद, बम्बई (घाटकोपर एवं चौपाटी), देवलाली, बैंगलोर, मैसूर, हुबली, मद्रास, यवतमाल, इन्दोर, आहोर, गढ सिवाणा, मोम्बासा (आफ्रिका) इत्यादि ।

अन्तिम प्रशस्ति

आज उनका पार्थिव देह हमारे बीच नहीं है मगर उनका अक्षरदेह तो सदाके लिये अमर है । उनके मूल पत्रों तथा लेखोंका संग्रह गुर्जरभाषामें 'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रन्थमें प्रकाशित हो चुका है (जिसका हिन्दी अनुवाद भी प्रगट हो चुका है) । वही मुमुक्षुओंके लिए मार्गदर्शक और अवलम्बनरूप है । एक एक पत्रमें कोई अपूर्व रहस्य भरा हुआ है । उसका मर्म समझनेके लिये संतसमागमकी विशेष आवश्यकता है । इन पत्रोंमें श्रीमद्जीका पारमार्थिक जीवन जहाँ तहाँ दृष्टिगोचर होता है । इसके अलावा उनके जीवनके अनेक प्रेरक प्रसंग जानने योग्य है, जिसका विशद वर्णन श्रीमद् राजचंद्र आश्रम प्रकाशित 'श्रीमद् राजचंद्र जीवनकला' में किया हुआ है (जिसका हिंदी अनुवाद भी प्रकट हो चुका है) । यहाँ पर तो स्थानाभावसे उस महान् विभूतिके जीवनका विहंगावलोकनमात्र किया गया है ।

श्रीमद् लघुराजस्वामी (श्री प्रभुश्रीजी) 'श्री सद्गुरुप्रसाद' ग्रन्थकी प्रस्तावनामें श्रीमद्जीके प्रति अपना हृदयोद्गार इन शब्दोंमें प्रकट करते हैं—“अपरमार्थमें परमार्थके दृढ आग्रहरूप अनेक सूक्ष्म भूलभूलैयाँके प्रसंग दिखाकर, इस दासके दोष दूर करनेमें इन आप्त पुरुषका परम सत्संग और उत्तम बोध प्रबल उपकारक बने हैं, संजीवनी औषध समान मृतको जीवित करें, ऐसे उनके प्रबल पुरुषार्थ जागृत करनेवाले वचनोंका माहात्म्य विशेष विशेष भास्यमान होनेके साथ ठेठ मोक्षमें ले जाय ऐसी सम्यक् समझ (दर्शन) उस पुरुष और उसके बोधकी प्रतीतिसे प्राप्त होती है; वे इस दुष्म कलिकालमें आश्चर्यकारी अवलम्बन हैं । परम माहात्म्यवंत सद्गुरु श्रीमद् राजचंद्रदेवके वचनोंमें तल्लीनता, श्रद्धा जिसे प्राप्त हुई है या होगी उसका महद् भाग्य है । वह भव्य जीव अल्पकालमें मोक्ष पाने योग्य है।”

ऐसे महात्माको हमारे अगणित वन्दन हों !



Contents



प्रस्तावना (प्रथम आवृत्ति)	[५]
प्रकाशकका निवेदन (नई आवृत्ति)	[७]
Preface (New Edition)	[८]
श्रीमद् राजचन्द्र	[११]
Contents	[१९]
Abbreviations, etc.	[२३]
Introduction	1-104
I. Paramātma-Prakāśa	1-66
a) Earlier Studies and the present Edition	1-2
Popularity of Paramātma-prakāśa.—My Study of Yōgīndu's Works.—Value of P.-prakāśa in Oriental Studies.—Published Editions, etc. of P.-prakāśa.—Nature of this Edition.—The Text and the Linguistic Deductions.	
b) On the Text of P.-prakāśa	3-9
Brahmadēva's Text.—B, C and S Based on Brahmadēva's Text.—Bālacandra's Text.—Shorter Recension.—Some Genuineness of TKM-group.—An Objective Scrutiny of the so-called Interpolatory Verses.—General Nature of the Verses Left by TKM-group and the Net Effect.—Another Tempting Theory.—Any Light Thrown by Q and R.—Our Position with regard to Jōīndu's Text.	
c) Detailed Summary of the Contents of P.-prakāśa	10-26
Nature of the Summary.—	
Book I.—	
Book II —	
d) Critical Estimation of P.-prakāśa	26-34
Occasion of Composition and References to some Historical persons.—The Aim of Writing this work and how far Fulfilled.—Method and Manner of Subject-treatment, etc.—Similes and their Use.—Style of P.-prakāśa.—Metres in P.-prakāśa.—Eclectic Character of P.-prakāśa.—Yōgīndu's Place in Jaina Literature : Influence of Earlier Works, etc. on him.—Yōgīndu, Kānha and Saraha.	

e) Philosophy and Mysticism of P.-prakāśa 34-52

1. The Two Points of View : Vyavahāra and Nīścaya, or Practical and Realistic.—Necessity of Such Points of View.—Similarities Elsewhere.—Their Relative Values.—2. Three Aspects or Kinds of Ātman.—The Threefold Individuality.—Earlier Authors on this Division.—Counterparts Elsewhere.—3. Spiritual Knowledge.—Nature of Ātman or Spirit.—Nature of Paramātman or Super-spirit.—Nature of Karman.—The Spirit and Super-spirit.—Ātman and Brahman in Upaniṣads.—Yōgīndu's Super-spirit Compared with Upaniṣadic Brahman.—How Yōgīndu Proposes Unity.—Yōgīndu's Ātman compared with that in Upaniṣads.—The Two Distinct Tendencies.—4. Paramātman or the Super-spirit as the Divinity.—The Conception of Divinity Explained.—5. The World and Liberation, or Saṃsāra and Mōkṣa.—Explanatory Remarks.—6. The means of Attaining Mōkṣa.—Explanatory Remarks.—7. The Great Meditation.—Mystic Visions.—Explanatory Remarks on the Great-meditation.—8. Some Aspects of Mysticism.—Mysticism in Jainism.—Various Elements of Mysticism in Jainism.—9. Dogmatical and Philosophical Accessories of Author's Discussion.—10. Evaluation of Puṇya and Pāpa, or Merit and Demerit.—Explanatory Remarks.—11. Importance of Knowledge.—Attitude towards the Fruit of Karman.—12. Mental and Moral Qualifications of an Aspirant.

f) Apabhraṃśa of P.-prakāśa and Hēma.'s Grammar .. 52-66

- Apabhraṃśa and its General Characteristics.—Attraction of Apabhraṃśa speech.—Hēmacandra Indebted to P.-prakāśa.—Comparison of Hēma.'s Apabh. with that of P.-prakāśa.—On the Homogeneity of Hēma.'s Apabh.—Hēmacandra's Apabh. Compared and Contrasted with that of P.-prakāśa.—Morphology or Declension.—Verbal Forms.—Indeclinables, etc.—Important Words, etc.—Important Roots, etc.—Peculiarities of Kannaḍa Mss.—Value of their Tradition.—Results of the above Comparison and Contrast.—Additional Tract of Literature Used for his Grammar.—Apabhraṃśa with Unassimilated *r*.—This Difference not exactly Chronological but Regional-and-Dialectal.

II. Jōīndu : The Author of P.-prakāśa 66-78

a) Yōgīndu and not Yōgīndra 66-67

Jōīndu and his Sanskrit Name.

b) Works of Jōindu 67-74

- 1) *Paramātma-prakāśa* : Authorship, etc. —2) *Yōgasāra* : Contents, Authorship, etc. —3) *Naukāra-Śrāvākācāra* or *Sāvayadhamma-dōhā* : Contents, etc.—Its Authorship.—Jōindu's Claims.—Dēvasēna's Claims.—Lakṣmicandra's Claims. —7) *Dōhāpāhuḍa* : Name, Contents, etc.—Jōindu's Authorship.—Rāmasimha as the Author. —8-9) *Amṛtāśīli* and *Nijātmāṣṭaka* : Amṛtāśīti.—Nijātmāṣṭaka.—Conclusion.

c) On the Date of Jōindu 74-78

Nature of the Evidence and the Later Limit.—Earlier Limit.—Conclusion.

III. Commentaries on P.-prakāśa 78-90

1. A Kannaḍa Gloss (K-Gloss) on P.-prakāśa 78-81

Bālacandra's Commentary and the Kannaḍa Gloss in Ms. K.—Nature of this Kannaḍa Gloss.—This Gloss independent of Brahmadēva's Commentary.—On the Age of K.—Gloss.

2. Brahmadēva and his Vṛtti 81-84

Brahmadēva and his Works.—His Commentary on P.-prakāśa.—Jayasēna and Brahmadēva.—Brahmadēva's Date.

3. Maladhāre Bālacandra and his Kannaḍa Commentary .. 84-87

Extracts from the Commentary and its authorship.—Comparison with Brahmadēva's commentary.—Maladhāre Bālacandra to be distinguished from other Bālacandras.—Date of Maladhāre Bālacandra.—Adhyātmi Bālacandra's Commentary.

4. Another Kannaḍa Gloss (Q-Gloss) on P.-prakāśa 87-88

The Kannaḍa Gloss in the Ms.Q.—Nature of the Gloss and the Need of such Glosses.—Comparison of Q-Gloss with other Commentaries.—On the Date of Q-Gloss.

5. Daulatarāma and his Hindi Bhāṣā-Ṭīkā 88-90

The Commentary and its original Dialect.—Nature of Daulatarāma's Commentary.—Daulatarāma and his Date.—His works and their Importance.

IV. Description of the Mss. Studied and their mutual Relation ... 90-99

A. Described.—B. Described.—C. Described.—P. Described.—Q. Described.—R. Described.—S. Described.—T. Described.—K. Described.—M. Described.—Additional Information about T, K and M.—Common Characteristics of TKM.—Relation between T, K and M.—Relation between the Mss. Described above.—Genealogy of the Mss.

V. Critical Account of the Mss. of Yōgasāra. ... 100-104
 Description of the Mss.—Comparative Remarks.—Present
 Text and Readings.—Sanskrit Shade.

Post Script: ... 102

Additions: ... 102

अंग्रेजी प्रस्तावनाका हिन्दी सार १०५-१३४

परमात्मप्रकाशकी विषयानुक्रमणिका १३५-१३६

परमात्मप्रकाश :

मूल अपभ्रंश गाथाएँ तथा ब्रह्मदेवकृत संस्कृतटीका

तथा दौलतरामजीकृत हिन्दीटीका सहित

१-३१८

परमात्मप्रकाश—मूल अपभ्रंश गाथाएँ तथा विविध पाठभेद

३१९-३५०

परमात्मप्रकाशदोहादीनां वर्णानुक्रमसूची

३५१-३५५

संस्कृतटीकायामुक्तानां पद्यादीनां वर्णानुक्रमसूची

३५६-३५८

योगसार :

मूल अपभ्रंश गाथाएँ, संस्कृत छाया, विविध पाठभेद

तथा हिन्दी भाषानुवाद सहित

३५९-३८४

योगसारदोहादीनां वर्णानुक्रमसूची

३८५-३८६



Introduction

**An essay on Kundakunda, his Date,
his Paramātmaprakāśa
and other works**



Important Abbreviations and Diacritical Points



- Apabh. : Apabhramśa.
- B. O. R. I. : Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.
- E. C. : Epigraphia Carnatica.
- E. R. E. : Encyclopedia of Religion and Ethics.
- G. O. S. : Gaekwad's Oriental Series, Baroda.
- Hēma. : Hēmacandra.
- JBBRAS. : Journal of the Bombay Branch Royal Asiatic Society.
- K.-Gloss : The Kannaḍa gloss on P.-prakāśa found in Ms. K.
- KJS : Karanja Jaina Series, Karanja.
- MDJG : Māṇikachandra Digambara Jaina Granthmālā, Bombay.
- P.-prakāśa : Paramātmā-prakāśa.
- Q-Gloss : The Kannaḍa gloss on P.-prakāśa found in Ms. Q.
- RJS : Rāyachandra Jaina Śāstramālā, Bombay.
- SBJ : Sacred Books of the Jainas, Arrah-Lucknow.
- SJG : Sanātana Jaina Granthamālā, Bombay-Calcutta.
-
- ē, ō : Long vowels as in Sanskrit.
- ě, ǒ : Short vowels as in Kannaḍa.
- e, o : Natural representation in the extracts from Old-Kannaḍa Mss. where no distinction of short and long is shown.
- ~
The preceding vowel is to be nasalised.



Introduction

I. Paramātmā-Prakāśa

a) Earlier studies and the present edition

Popularity of Paramātmā-prakāśa—*Paramappapayāsu*, or as it is usually known by the Sk. form of its name, *Paramātmā-prakāśa*, is a very popular work with religious-minded Jainas, both monks and laymen. It is mainly addressed to the monks, and it is no wonder that it is read and re-read by them. The discussions are not at all sectarian; so it is studied by all the Jaina monks, though it is more popular with those of the Digambara section. Various reasons have contributed to the popularity of this work. There is an attraction about its name itself; the subject-matter is not made heavy with technicalities; major portions of it are composed in a simple style; and it is written in a popular dialect like Apabhramśa, the predecessor of Old Hindi, Old-Gujarati, etc. It is addressed to console and enlighten the suffering soul of Bhaṭṭa Prabhākara. The problem of the misery of life, which was before Bhaṭṭa Prabhākara, faces many aspiring souls; and as such *P.—Prakāśa* is sure to be a favourite book with believers. Old commentaries in Kannaḍa and Sanskrit also point out to its popularity.

My Study of Yogendu's Works—After discovering a new Apabh. work, viz., *Dohāpāhuḍa* attributed by the Ms. to Yogendra, I wrote a short article in *Anekānta*, Vol. I, 1930. In an editorial note on this article the learned editor Pt. Jugalkishore announced the discovery of another work of this author and further indicated that Rāmasimha was the author of *Dhāpāhuḍa* according to a Delhi Ms.¹ Later, I contributed a paper, 'Joṇdu and his Apabhramśa works,' to the *Annals* in which I took a review of the works of Joṇdu or Yogṇdu and collected some evidence on his date². The publication of this paper was sufficiently fruitful. Two works, viz., *Dōhāpāhuḍa* and *Sāvayadhamma-dōha* from which lengthy extracts were given in my paper, are edited now with the help of additional material and translated into Hindi by Professor Hiralal who is doing so much for the publication of Apabh. literature. A few verses from my paper have been translated into Marāṭhi as well.³

1 *Anekānta*, Vol. I, pp. 544-8 and p. 672.

2 *Annals* of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. XII, ii, pp. 132-63.

3 P. D. Kanitkar : *Mahārāṣṭra-Sāhitya-patrikā*.

Value of P.-prakāśa in Oriental Studies—The study of Apabh. dialect sheds abundant light on the history and growth of North-Indian languages including Marāṭhī. *P.-prakāśa* is the earliest complete Apabh. work so far known and the first to have been published, though earlier editions did not reach the hands of orientalists. So far as I know, **P. D. Gune** was the first to list it as an Apabh. work in his Introduction to *Bhavisaya-itakaha*. Hemacandra, whose grammar treats Apabh. exhaustively, quotes from *P.-prakāśa*; thus this work preserves to us specimens of pre-Hemacandra Apabh. literature actually used by him. Besides this linguistic aspect there is another point of interest in this work. Due to imperfect acquaintance with Jaina literature Jainism is criticised by some scholars as a mere bundle of rules of ascetic discipline or a system metaphysically barren. *P.-Prakāśa* clearly shows what part mysticism plays in Jainism and how it is worked out in the back-ground of Jaina metaphysics. The Jaina mysticism is sure to be all the more interesting, if we remember the facts that Jainism is polytheistic and denies the creative function of God. These aspects are discussed in details in this Introduction.

Published Editions, etc., of P.-prakāśa—In 1909 **Babu Suryabhānu Vakil**, Devabanda, published *P.-Prakāśa* with Hindī translation. The title of the book is : *Śrī Paramātma-prakāśa Prakṛta Grantha Hindībhāṣā arthasahita*. The text is inaccurately printed. The editor says in his Prastāvanā that the Mss. of this work found in Jaina temples are very inaccurate, and it is difficult to restore the correct text by consulting even a score of Mss. An English translation of this work by **R. D. Jain** is published from Arrah, 1915; but this translation is far from being faithful and critical. Then *P.-prakāśa* with **Brahmadeva's** Sk. commentary and **Daulatarāma's** Bhāṣā-tīkā (rewritten into modern Hindī by **Manoharlal**) was published by the **Rayachandra Jaina Śāstramālā**, Bombay, 1916. It was a good edition for all practical purposes, though the Apabh. text needed improvements in many ways.

Nature of this Edition—Though officially this is the second edition in the **Rayachandra. J. Śāstramālā**, it will be seen that it is thoroughly revised and enlarged. This Introduction is an additional speciality of this edition. As desired by the publishers the Apabh. text is given as preserved in the Commentary of **Brahmadeva** with which it is accompanied. The text and the Sk. commentary are carefully checked with the help of Ms. A; and it will be easily seen that many improvements are made in the text to facilitate an easy understanding. Besides the correction of many slips in the text, hyphens are added in compound words and distinction is made between *anunāsika* and *anusvāra*. The Sk. shade in this edition is at times independent of **Brahmadeva**. Orthographical uniformity, etc., have been

introduced in the commentary. The Hindi portion of the first edition has been retouched here and there.

The Text and the Linguistic Deductions—The present edition claims to give the text of Brahmadeva, but it should not be ignored that even the Mss. of the text of Brahmadeva show minor differences. With a view to study the text-tradition of *P.-prakāṣa* I have studied some ten Mss. hailing from different parts of India, six of which are collated and their variants are given at the end. Though I have followed the text of Brahmadeva in discussing the philosophy, mysticism, etc., of this work, the linguistic deductions set forth in the Introduction are based more on a close study of the various Mss. and their readings than on the text printed here.

b) On the text of *P.-prakāṣa*

Brahmadeva's Text—Brahmadeva divides *P.-prakāṣa* into two Adhikāras. In this edition the verses in each Adhikāra are separately numbered, though Mss. have continuous numbering. Apparently Brahmadeva's text contains 126 verses in the first and 219 in the second book including the interpolatory verses¹ of which he has two classes; one he class *prakṣepaka*² (included in his numbering) and the other *sthala-samkhyā-bāhya-prakṣepaka*³ (i.e., out of place and not included in his numbering). The text shaped by Brahmadeva has remained intact, as it is borne out by his remarks on the text-analysis and the actual number in Ms. A, etc. His text can be shown thus in a tabular form :

Book I	Details.	Total
Text Regular :	I. 1-27, 33-123	118
Prakṣepaka :	I. 28-32	5
		123
Sthala-samkhyā-bāhya-prakṣepaka :	I. 65*1, 123*2 & 123*3	3
		126
Book II		
Text Regular :	II. 1-214	214
Sthala-samkhyā-bāhya-prakṣepaka :	II. 46*1, 111*2, 111*3, 111*4 & 137*5	5
		219

All this means that the text of *P.-prakāṣa*, which reached Brahmadeva's hands, was much inflated. Five verses (I. 28-32) which he found to be of doubtful authenticity he accepted by calling them Prakṣepaka. But eight other

1 See his remarks at the close of the two Adhikāras.

2 See his introductory remarks on I. 28.

3 See his introductory remarks on I. 65*1, etc., and II. 46*1, etc.

verses (I. 65*1, 123*2-3, II. 46*1, 111*2-4 and 137*5) he comments on possibly considering them to be useful to the readers; but he does not include them in his text, because they are not numbered with other dohās. We do not know the exact extent of the inflated text that was before Brahmadeva; but it is imaginable that it contained many more verses which Brahmadeva could not include in his either interpolatory group.

B, C and S Based on Brahmadeva's Text—Mss. B, C and S (see section IV below) do not represent any independent text-tradition at all; they are various attempts to copy out only dohās of *P.-prakāśa* from Mss. containing the text and Brahmadeva's commentary. When one is copying out only the verses from a crowded Ms. with text and commentary closely written, various errors are likely to be committed; first, due to want of sufficient attentiveness and consequently due to the difficulty of spotting out the text from the body of commentary (for instance II. 104, 167 in B); secondly, due to haplographical deception, i.e., when two verses begin with similar words either one is missed (for instance II. 16 in B and II. 15 in C), or they interchange their places (for instance II. 64 & 65 and 79 & 80 in C); and so on. Then there will arise some cases of conscious omission: If a verse is in a different dialect (for instance II. 60 B, S and C, II. 111*2-3 in B & C), or if it is called Prakṣepaka, etc., by the commentator (for instance I. 65*1 in B, C & S, II. 137*5 in B, II. 111*2-4 in S). These are not in any way hard and fast rules, but they merely indicate how verses are likely to be dropped by copyists. Then the apparent additions in these Mss. (*akkharaḍa*, etc., after II. 84 in B, C & S *visayahā karaṇi*, etc., after II. 134 in B & C, and *jivā jñāvara*, etc., after II. 197 in C alone) are all found to be quotations in Brahmadeva's commentary in those places; it means that the copyist mistook these quotations, especially the first two being in Apabh., for the text of *P.-prakāśa*. The manner in which our Mss. are written is mainly responsible for such errors. Of these three, S is much carelessly copied, and hence so many verses are omitted but added in the margin possibly by the same copyist at the time of revision.

Bālacandra's Text—Maladhāre Bālacandra has written a Kannaḍa commentary on *P.-prakāśa* which is represented by Ms. P described below. At the outset he plainly tells us that he has consulted the Sk. Vṛtti of Brahmadeva. Bālacandra's text has six additional verses not found in Brahmadeva's text. As Bālacandra admits his indebtedness to Brahmadeva and still shows these additional verses there are two alternatives: either Brahmadeva's text along with the commentary is pruned further after Bālacandra, or Bālacandra had before him a longer text and quite consciously he retained some more verses¹, though his Kannaḍa commentary was based on Brahmadeva's Sk

1 Generally Bālacandra follows the analysis of Brahmadeva. In the second Adhikāra,

one. The first alternative cannot be accepted for the following reasons: first, the text of Brahmadeva's *Vṛtti* contains many analytical remarks scattered all over¹ and these remarks confirm that the text is not at all mutilated later; secondly, mere verses can be dropped or missed, but it is least probable that verses with the commentary can be dropped; and lastly, Brahmadeva, scrutinizing as he is, must have left some verses which he thought spurious but which Bālacandra with more eclectic zeal included in his *Kannāḍa Vṛtti*. Though Bālacandra included six verses more, it should not be supposed that Bālacandra's is the longest recension of *P.-prakāśa*, and that he did not exclude any verses as spurious. I am inclined to believe that the text of *P.-prakāśa* which was before Bālacandra was longer than the one he accepted, and possibly he too excluded some verses and shaped his text. It will be seen from the genealogy of Mss. given below, that I have postulated a Ms. P', which was the source of Brahmadeva and Bālacandra; and each pruned it in his own way. The following are the additional verses of Bālacandra's recension; they are given here with minor corrections :

- 1-2. Two verses after II. 36. introduced with the words, *prakṣāpakadva-yamam pāḍaparu* :

कायकिलेसे² पर तणु क्षिज्जइ
विणु उवसमेण कसाउ ण क्षिज्जइ ।
ण करहिं इदिय मणह् णिवारणु
उग्गतवो वि ण मोक्खह् कारणु ॥
अप्पसहावे जासु रइ णिच्चुव्वासउ तासु ।
बाहिरदग्गे जासु रइ भुक्खुमारि तासु ॥

P-II. 36*1.

P-II. 36*2.

3. After II. 134, introduced with the words, *uktam ca* :

अरे जिउ सौक्खे मग्गसि धम्मे अलसिय ।
पक्खे³ विणु केव उड्डुण मग्गसि मैडय दंडसिय (?)³ ॥

P-II, 134*1,

4. After II. 140 :

पण्ण ण मारिय सोयरा पुणु छट्टउ चंडालु ।
माण ण मारिय अप्पणउ⁴ केव क्षिज्जइ संसार ॥

P-II. 140*1.

however, Bālacandra explicitly admits 224 (225 ?) verses; he is aware of the additional verses not included by Brahmadēva; and here his analysis is differently worded see p. 204 of Ms. P

- 1 Some of the important analytical remarks are found in his commentary on the following *dohās* : I. 1 25-6, I. 123*3, II. 1, 66, 214, etc. There are some two slips in his analysis : on p. 2 he notes a group of six verses '*aṭṭha jīvasya*, etc. , *appā jōiya iyyādi sūtraṣaṭṭkam*'; but in fact the group begins with *ki vi bhaṇamati* (I. 50) on p. 49. Then on p. 81 he notes a group '*jīvu micchatte iyyādi sūtraṣaṭṭkena*'. but that group begins with *pajjayarattāu* (I. 77) as noted by himself on p. 2. These slips do not affect the total in any way.
- 2 P reads *kilēsam*.
- 3 Bālacandra interprets the last two words thus : *dhūrtane sāsasiye*.
- 4 P reads *appaṇu*.

5. After II. 156, introduced with the phrase, *prakṣepakam* :

अप्पह परह परंपरह परमप्पउह समाणु ।

परु करि परु करि परु जि करि जइ¹ इच्छइ णिम्वाणु ॥

P-II. 156*1.

6. After II. 203; perhaps through oversight it is not numbered but duly commented on :

अंतु वि गंतुवि² तिहुवणहं सासयसोक्ख सहाउ ।

तेत्थु जि सयलु वि कालु जिय णिवसइ लद्धसहाउ ॥

P-II. 203*1.

Shorter Recension :- It will be seen from the genealogical table of Mss. that T, K and M form a group having their source in a postulate K', which we have called Shorter Recension.³ So far as the number of verses is concerned they have no disagreement among themselves; but as compared with Brahmadeva's text, TKM-group has not got the following verses :

Book I. 2-11, 16, 20, 22, 28-32, 38, 41, 43-44, 47, 65, 65*1, 66, 73, 80-81, 91-92, 99-100, 104, 106, 108, 110, 118-19, 121, 123*2-3.
=42

Book II. 1, 5-6, 14-16, 44, 46*1, 49-52, 70, 74, 76, 84, 86-87, 99, 102, 111*2-4, 114-16, 128-29, 134-37, 137*5, 138, 140, 142, 144-47, 152-55, 157-165, 168, 178-81, 185, 107, 200, 205-12. =70

Besides the omission of the above verses TKM-group transfers five verses (namely, II. 148, 149, 150, 151 & 182) of the second Adhikāra to the first after I. 71, : and some verses interchange their positions (II. 20 & 21, II 77 & 78, II. 79 & 80, II. 141 comes after II. 143). A more significant and important feature of TKM-group is that it contains two verses which are not found either in Brahmadeva's or Bālacandra's recension. I give them here with some minor corrections :

1. After I. 46 :

जो जाणइ सो जाणि जिय जो पेक्कइ⁴ सो पेक्खु ।

अंतुबहुंतु वि जंपु चइ⁵ होउण तुहुं णिरवेक्खु ॥

TKM-I. 46*1.

2 After II. 74 :

भम्वाभम्बह जो चरणु सरिखु ण तेण हि मोक्खु ।

लद्धि ज⁶ भम्बह रयणत्तय होइ अभिण्णे मोक्खु ॥

TKM-II. 76*1

Some Genuineness of TKM-group.—The immediate question that confronts us is about the genuineness of this group which is wanting in 112 verses as compared with Brahmadeva's text (including the *prakṣepakas*) and 118 as compared with that of Bālacandra. It is not an easy job to explain

1 P reads *jā*, but Comm. *jai*.

2 P reads *gamtu ji*.

3 For the description of these Mss. see below the section IV of this Intro.

4 K reads *pecchāi*.

5 R reads *jiya*.

6 R reads *atthi laddhi ja*.

this difference in a satisfactory manner; but we can try to gauge the amount of genuineness behind this group. It appears to me that there is some genuine tradition behind TKM-group for the following reasons : first, the Kannada K-gloss which accompanies this Shorter Recension is independent of Brahmadeva and perhaps earlier than his Commentary; secondly, not even by mistake a single verse called interpolatory by Brahmadeva is accepted by this group; thirdly, this Shorter Recension contains two more verses not recorded by Brahmadeva and not even by Bālacandra; and lastly, an alternative reading noted by Brahmadeva is practically identical with the reading preserved in TKM-group; in II. 143 Brahmadeva accepts the reading *Jiṇu sāmīṭu sammattu* and records a variant *śivasamgamu sammattu*, the reading in TKM-group being *siṭu-samgaṭu sammattu*. This means that there is an amount of texttradition behind this group, though this should not be taken to mean in any way the justification of the absence of so many verses in TKM-group.

An Objective Scrutiny of the so-called Interpolatory Verses—In a work like *P.-prakāśa* which is full of repetitions, and which is explicitly meant to be so by the author himself (II. 241), it is very difficult to detect an interpolatory verse on such criteria that it does not suit the context, etc. *P.-prakāśa* is written in Apabh. dialect, but it contains seven verses which are not in Apabh., namely, I. 65*1, II. 60,¹ 111*3, 117, 213, 214. We can understand the change of dialect in II. 213-14, which are concluding verses written in high-flowing Vṛttas.² Of the remaining five Brahmadeva considers three to be interpolatory : I. 65*1 is a slight improvement on *Bhāvapāhuḍa* 47 from which source it must have been taken here. II. 60 and 117 are not called interpolatory by Brahmadeva, and especially because TKM-group preserves them it is possible that they were included in *P.-prakāśa* from a pretty long time, and perhaps by the author himself. Beyond this dialectal approach, there is no other objective standard that can be applied to this text with the material that is available to us.

General Nature of the Verses Left by TKM-Group and the Net Effect :—The contents of verses absent in TKM-group deserve careful scrutiny, and I shall make a modest attempt to detect certain underlying tendencies. We may not take into account those verses which are called interpolatory by Brahmadeva and are not found in TKM as well. More than once Brahmadeva mentions the name of Bhaṭṭa Prabhākara to whom, as the text itself admits (II. 211), *P.-prakāśa* was addressed; but by the absence of

1 With II. 60 compare *Tiloyapaṇṇatti* (Sholapur 1951) IX. 52. I feel like presuming that Joindu is indebted to Yati Vṛṣabha; and to suit the tone of his work, he has put the last expression in the first person.

2 II. 213 is Sragdharā and II. 214 Mālinī; II. 174 is called Catuṣpādikā by Brahmadeva.

I. 8, 11, 104, II. 1, 211 in TKM we lose all direct and indirect references to Bhaṭṭa Prabhākara. Then some of the verses so absent mention non-Jaina deities like Śiva, Hari, Hara, Brahman, see for instance : I. 16, 108, 110, 118-119, 121, II. 99, 142, 145-6 & 200. I should not, however, ignore the fact that there are a few verses which have names of non-Jaina deities as above and are still retained by TKM-group, see for instance : I. 109, II. 141. Some of the verses so left have a strong smell of non-Jaina doctrines, see for instance : I. 22 (Tāntricism), I. 41 (Vedānta), I. 65-66 (Sāṃkhya) II. 99 (Vedānta) etc., though the application of various Nayas, i.e., the points of view, can explain them in accordance with Jain tenets. Then some of the absent verses are extremely spiritual (I. 80-1, an attack on caste-exclusion; II. 84, futility of scriptures) and philosophical (I. 99-100) some-times to the extent of ignoring practical effects. Some of them are deeply mystical (II. 76, 157-65) and some highly cryptic (I. 43, 47, II. 44). Then some apparent repetitions and mechanical compositions that could be left without much loss of contents are also absent, for instance : I. 2-11, II. 49-52, II. 205-12. Some verses might have slipped through haplographical error, for instance, I. 20. In spite of all these explanations there remain still many verses (I. 38, 44, 73, 91-2, 106, II. 5-6, 14-16, 70, 74, 86-7, 102, 114-16, 128-29, 134, 135-37, 138-40, 144, 147, 152-55, 168,¹ 178-81, 185 & 197) for the absence of which no apparent reason could be given. Some of these verses (I. 33, II. 5-6, 114-16, 136, 139-40, 137, etc.) would bring credit to any spiritualistic poet. From all this survey I am inclined to believe that TKM-recension is a mutilated version, though the presence of some two additional verses shows some genuineness behind it. Perhaps a scrupulous commentator, possibly the author of our postulate K', rather of strong Jain inclinations and poor mystic equipments prepared a personal digest of *P.-prakāśa* now represented by TKM-group, by avoiding repetitions that were meant for Bhaṭṭa Prabhākara, by excluding verses containing references to non-Jaina deities and by ignoring extremely spiritualistic, mystical and cryptic verses. No doubt, Yogindu's Text has suffered inflation like anything; but it is impossible to believe that TKM-text is the same as that of Joṇḍu, because TKM-group shows the absence of some nice verses and some highly mystical and above-sectarian utterances worthy of Joṇḍu. That they are worthy of Joṇḍu is quite clear from his another work, viz., *Yogasāra* where he uses the names of non-Jaina deities for his Paramātman², and many of the ideas dropped by TKM-recension are expressed by Joṇḍu³ in that work⁴.

1 II. 138 and 168 do not suit the spiritualistic atmosphere of *P.-prakāśa*.

2 See *Yogasāra* 9, 104

3 I have used both the forms of his name Joṇḍu and Yogindu.

4 Compare for instance, *P.-prakāśa* II. 84 with *Yogasāra* 52 etc.

Another Tempting Theory—Against the above view that the TKM-recension is only a mutilated version of Joṇḍu's text, more inflated than original, another theory might be put forth like this : Joṇḍu's original text is represented by TKM-group of Mss.; and the text accepted by Brahmadeva and others is only a redaction of it by some pupil of Joṇḍu, possibly by Bhaṭṭa Prabhākara himself, who shaped it to show that it was addressed to him by his Guru. This redaction, it might be further argued, is made probable by the facts that Joṇḍu calls himself as Jina (I. 8) and the work is too much glorified in the concluding verses (II. 205-12); and these things cannot be expected from a modest author like Joṇḍu. This is a very fascinating theory, but it is not in any way supported by facts. T, K. & M are traced back to one source, possibly a South-Karnāṭaka Ms. with a Kannaḍa gloss, our postulate K'; therefore differences especially of omission, can be better explained on the ground of mutilation than of genuine tradition. All this takes for granted, or at least implies, that Joṇḍu was a southerner and the text went on getting inflated in the North as seen from B. C. etc.; but there is no evidence at all to say that he belonged to the South. Then we have seen above that certain tendencies are working under this Shorter Recension shaped possibly by a Kannaḍa commentator; and these tendencies are not without significance in South India where Jainas had to put a stiff fight against Vedāntic schools and Śaivites at the time of Śaṅkarācārya, Rāmānuja, Basava etc., and where the Jaina community is more for caste-exclusion than in the North. If Joṇḍu as a spiritual mystic above sectarianism could use the names of other deities for his Paramātmā in his *Yogasāra*, he must have used the same more freely in *P. prakāśa* which is a bigger work than *Yogasāra*. This shows that there is no justification at all for TKM-recension to leave these verses, etc. The name *Śrī Yōgīndu-jinaḥ* indicates no vanity to necessitate the hypothesis that it might have been used by some pupil, when we remember that we have many names like Akalanka-deva ending with -deva; and further Brahmadeva qualifies him as Bhagavān. *Srī-Jōṇḍu-ji ṇāu* can be interpreted in another way also. *Śrī-Yōg-īnduḥ eva nāma*, i.e., Śrī-Yogīndu by name; and this way of interpretation is hinted by Brahmadeva as well (*Śrī-Yōgīndra-deva-nāma bhagavān*¹). Then as to the glorification of this work in the concluding verses, I think that this work deserves more praise than that; and moreover the word *paramappa-payāsu* is used with a double meaning, as it is suggested more than once by Brahmadeva.² So however tempting this theory might be, it is not at all backed by any cogent evidences.

1 See I. 8; further this text gives the form *ṇāu=nāma* (I. 19. II. 206).

2 See his remarks on 205-7 etc.

Any Light Thrown by Q and R—Q and R stand midway between the two extremes showing influence from both the sides. Q, for instance, shows two extra-additional verses (*jā jāṇāi* etc. and *bhāvabhāvava* etc.) which are found only in TKM-group; and further it shows acquaintance with Brahmadeva's commentary as it carefully leaves all the verses called prakṣepaka by Brahmadeva and as it includes a verse (*jīva jīvavara* etc.) which is a quotation in the Sk. commentary. R occupies a very queer position; it includes two extra-additional verses (*jā jāṇāi* etc. and *bhāvabhāvava* etc.) special to TKM-group, also two verses from Balacandra's recension (*kayakīṭṣa* etc. and *appasarāvā* etc.) and a quotation (*pāvṇa naraya* etc.) from Brahmadeva's commentary. Though by themselves Q and R do not shed much light on the problem, they indicate by their compromising position the existence of other types of Mss. showing different text-traditions.

Our Position with regard to Joṇdu's Text—It is well nigh impossible, with the material that we have before us, to restore the original text of Joṇdu. Joṇdu's popularity has led to the multiplication of Mss. and to the inclusion of corresponding verses in *P.-prakāśa*. Balacandra shows one extremity and TKM-group the other. Much more light can be shed on this Text-problem by collating many more Mss. and by the discovery of some pre-Yogṇdu Apabh. works of similar contents. Brahmadeva appears to have had sufficient justification to call some verses prakṣepaka. Joṇdu's text (so far as the number of verses is concerned) appears to have been nearer the Text (minus prakṣepaka verses) of Brahmadeva than that preserved by TKM-group.

c) Detailed Summary of the Contents of *P.-prakāśa*

Nature of this Summary—This detailed summary of the contents of *P.-prakāśa*, given in the following paragraphs, is expected to be a modest substitute for an English rendering of the Text. In a work like this, repetitions have their significance; and to get an idea of the working of author's mind it is necessary that his various statements should be closely followed. If sometimes I am found to be vague, the reason is that still there are many ideas and expressions which I have not clearly grasped. In such cases I have given a literal translation, so that I might not misrepresent the author. I have confined myself mainly to the text; and it is only in a few places that I have adopted some suggestions of Brahmadeva. In the arrangement of paragraphs I am chiefly guided by the analysis of Brahmadeva, though I have made many changes here and there. This free exposition of the contents, I hope, would be of some use when a critical translation of the Text is attempted.

Book I

Salutations to Souls Supreme (Paramāṭman) that have become etern—

ally stainless and constituted of knowledge after burning the spots of Karman with the fire of meditation.

Then salutations are offered to hosts of Siddhas (i.e., the liberated souls) who are the embodiments of bliss and unparalleled knowledge, who have consumed the fuel of Karmas with the fire of great meditation, who dwell in Nirvāna never falling back into the ocean of transmigration though supremely weighty with Knowledge, and who being self-established clearly visualize everything here both the physical and superphysical existence. The devotional obeisance to great Jinas who are the embodiments of omniscience, omnivision and omnibliss and by whom all the objects of knowledge are enlightened. Lastly salutations to three classes of Saints, viz., Preceptors (Ācārya), Teachers (Upādhyāya) and Monks (Sādhu), who, being absorbed in great meditation, realize the vision of Paramātman. (1-7)

After saluting the five divinities Bhaṭṭa Prabhākara, with a pure mind, addresses Yogīndu : "Sir, since infinite time we are in this Samsāra, i.e., the round-of-rebirths; not a bit of happiness is attained, but a lot of misery has fallen to our lot. We are tortured by the miseries of the four grades of existence, viz., divine, human, sub-human and hellish states of existence; so you instruct us about Paramātman, i.e., the Soul Supreme or Paramapada, i.e., the lofty status of liberation that would put an end to our miseries." (8-10)

Then Yogīndu asks Bhaṭṭa Prabhākara to attend closely to his discourse that follows : The Ātman, i.e., the soul, the principle of life is of three kinds, viz., external soul, internal soul and the supreme soul. One should give up attachment for the external and then by knowing oneself realize the soul supreme which is an embodiment of knowledge. He is an Ignoramus who takes the body for the soul. But he is a wise man who considers himself as an embodiment of knowledge distinct from the body and being engrossed in great meditation realizes the Paramātman. Realization of the self as an embodiment of knowledge and as free from Karman after quitting everything external : that is Paramātman. Thus it is the Internal by leaving everything External that becomes the Supreme. (11-15)

One should concentrate one's mind on the Soul Supreme that is respected in all the three worlds, that has reached the abode of liberation, and on which meditate Hari and Hara. Paramātman is eternal, untainted by passions and consequent Karman. He is peace, happiness and absolute bliss. He does not leave his nature and get changed into something else. He is Nirāñjana, i.e., untainted, having no colour, no smell, no taste, no sound, no touch, no birth and no death. He is not subjected to anger, delusion, deceit and pride; nor is there anything like a specific place and object of meditation for him who is all by himself. He is not amenable to merit and demerit, nor to joy

and grief. He has not a single taint or flaw, so he is Nirañjana. He is an eternal divinity in whose case there is no devotional control of breath (*dharanā*), no object of meditation, no mystical diagram, no miraculous spell and no charmed circle. That eternal Paramātman, who is the subject of pure meditation or contemplation, is beyond the comprehension of Vedas, Śāstras and senses. His is the highest state, dwelling as he is at the summit of three worlds, representing unique or absolute vision, knowledge, happiness and power. (16-25)

The divinity that dwells in liberation, being free from Karman and constituted of knowledge, is essentially the same as the spirit or the soul in the body; really speaking there is no difference between the two. It must be known that Paramātman is already there in oneself; and by realizing this the Karmas accumulated since long time are shattered away. The self should be realized as immune from pleasures and pains of senses and mental activities; and everything else must be avoided. Though the soul dwells in the body the former should not be identified with the latter, because their characteristics are essentially different. The soul is mere sentiency, non-corporal and an embodiment of knowledge; it has no senses, no mind, nor is it within sense-perception. The lengthy creeper of the round-of-rebirths is crippled by him who meditates on his self with his mind indifferent to worldly pleasures. One that dwells in the temple of body is doubtlessly the same as Paramātman, the eternal and infinite divinity with his constitution brilliant with omniscience. Though he dwells in the body, there is no mutual identity nor connection between himself and the body. It is Paramātman that is revealed, giving supreme bliss, to saints who are established in equanimity (*sama-bhāva*). (26-33)

It is the ignorant that understand Paramātman as a composite body (*sakala*), but indeed he is one whole, separate from the Karmas, though he is bound by them and though he resides in the body. Like a star in the infinite sky the whole universe is reflected in the omniscience of Paramātman on whom, as an object of meditation, the saints always concentrate their attention in order to obtain liberation. It is this very Paramātman, when he is in the grips of various Karmas, that assumes various forms of existence and comes to be endowed with three sexes. The universe is there in the Paramātman reflected in his omniscience; and he is in the universe, but he is not (convertible into the form of) the universe. The Paramātman dwells in the body, but even to this day he is not realized by Hari and Hara, because they are devoid of the highest meditation and austerities. (36-42)

So far as modifications are considered Paramātman is said to be coupled with origination and destruction; but in fact from the realistic point of view

he is above them. With his presence the sense-organs function, otherwise the body becomes desolate. Through the sense-organs he knows the objects of sense, but he is not known by them. Really speaking there is no bondage nor transmigration for Paramātmā; so the ordinary view-point (*vyavahāra*) should be given up. The supreme characteristic of Paramātmā is that his knowledge, like a creeper, stretches as far as the objects of knowledge are there. With reference to him the Karmas fulfil their own functions, but the Paramātmā neither loses nor gains anything. Though bound by Karmas, he is never transformed into Karmas. (43-49)

Some say that the soul is omnipresent; some hold it to be devoid of knowledge; some say that it has bodily size; and some others say that it is void (*śūnya*). The Ātman is all-pervading in the sense that, when free from Karmas, he comprehends by his omniscience physical and superphysical worlds. Sensitive knowledge no more functions in the case of souls who have realized spiritual light; and in this sense the soul is devoid of knowledge. The pure soul, there being no cause, neither expands nor contracts, but it is of the same size as that of the final body; and in this sense the soul is of the bodily size. He is void in the sense that, in his pure condition, he is not amenable to any of the eight Karmas and eighteen faults. (50-56)

The Ātman is not created by anybody, nor is anybody created by the Ātman. As a substance the soul is eternal, but only its modifications appear and disappear. Substance is that which is endowed with quality and modification (*guṇa* and *pariṇāma*). Qualities are co-born (*sahabhūva*) with the substance, while modifications present themselves in succession on the substance. The Ātman or soul is a substance; insight and knowledge (*darśana* and *jñāna*) are the qualities; the appearances in the four grades of existence are the modifications caused by Karman. (57-58)

The association between Jīva and Karman has no beginning in time, and further one is not created by the other; so both of them have no beginning in time. The embodied soul, because of its previous Karman, develops various conditions, and thus becomes virtuous or otherwise. The soul, thus obscured by eight Karmas, will not realize its own nature. Karman represents (subtle) atoms (of matter) that stick into the space-points (*pradāsa*) of souls that are infatuated and tinted with sense-pleasures and passions. Really speaking the five sense-organs, the mind, the tortures in the four grades of existence and all other conditions (*rāgadi-vibhāva-pariṇāmāḥ*) are, in fact, separate from (the nature of) the soul: they are fashioned by Karman for the soul. Various kinds of pleasures and pains and all the conditions such as bondage and liberation are brought about by Karman; the soul does

nothing beyond mere seeing and knowing : that is the realistic view. There is not a single region, in the eighty-four lakhs of births, which has not been visited by the soul wandering without obtaining the instructions of Jina. (65* 1) The Ātman can be compared to a lame person; by himself he neither comes nor goes; it is the force of Karman (*vidhi*) that drags about the soul in the three worlds. (59-66)

The Ātman is himself, and he can never be anything else; that is a rule. So far as his real nature is concerned, he is not born he does not die; nor does he bring about anything like bondage or liberation. Various terms like birth, old age, death, disease, gender and colour do not, in fact, refer to the soul but only to the body. (67-70)

Ātman is Brahman without old age and death which refer only to the body; so one should not be afraid of them. To reach the other end of Samsāra one should meditate on the pure spirit without minding whether the body is cut, pierced or destroyed. The soul is essentially different from attachment etc. which are occasioned by Karmas and from other insentient substances. The soul is an embodiment of knowledge, and everything else is foreign. The soul must be meditated on as independent of eight Karmas, as free from all the faults and as an embodiment of Darśana, Jñāna and Cāritra. (71-75)

When the Ātman realizes himself by himself, he becomes Samyagdrsti, i.e., possessed of Right Faith or spiritualistic attitude, and gets rid of Karmas; but if he pursues the modifications his view is perverted, and he incurs the bondage of many Karmas and wanders long in Samsāra. Sticky and hard Karmas lead the soul astray in spite of the acquisition of knowledge. When the Ātman develops perverted attitude, he grasps the reality in a perverted manner; and the conditions created by Karman he begins to identify with himself. Then he begins to say : "I am fair, I am black, I am of some other colour; I am slender, I am fat; I am a Brahmana, a Vaiśya, a Kṣatriya or the rest; I am a man, a neuter, a woman; I am a Digambara, a Buddhist or a Śvetāmbara : it is an ignorant fellow that speaks thus. Mother, father, wife, home, sons, friends and wealth : this is all a magical network of unreality, and a fool claims all this as his. A being of perverted attitudes does nothing else than enjoying the objects of pleasure which are the causes of misery" (76-84)

Samyagdarśana or Right Faith or insight is attained by the Ātman, when, finding an opportune time, delusion is destroyed; thus necessarily the Ātman is realized. The wise man should realize that Ātman is neither fair, nor red, nor black; he is neither subtle nor gross; he is neither a Brahmana, a Vaiśya, a Kṣatriya nor the rest; he is neither, a man, a neuter,

nor a woman; he is neither a Buddhist, a Digambara nor a Svetāmbara; and the soul possesses none of the ascetic characteristics. The soul is neither a teacher nor a pupil; neither a master nor a servant; neither a hero nor a coward; neither high nor low; neither a man, a god, a sub-human being nor a denizen of hell; neither learned nor foolish; neither rich nor poor; neither a youth, an old man nor a child (85-91).

Ātman, besides his essential nature of sentiency or consciousness, is not to be identified with merit, demerit, time, space, principle of motion and principle of rest. Ātman is control (*saṁyama*), chastity and austerity; Ātman is faith and knowledge; and Ātman is the seat of eternal liberation, when he is realized. Different from Ātman, there is nothing as faith, knowledge and conduct. Ignoring the pure self one should not search after some holy place, serve some other teacher, and think of some other divinity. Ātman represents absolute Darśana, and all other descriptions are formal, being true from the ordinary point of view only; when the pure Ātman is realized, the highest state of liberation is reached within a moment. Religious treatises, sacred works and austerities do not bring liberation for him whose mind is not occupied with (the reflections on) the pure self. When the self is known, the whole world is known; because it becomes reflected in the knowledge of the self. That both physical and super-physical worlds are seen (reflected) in their Ātman is a privilege of those who are merged in self-realization. Undoubtedly it is a natural phenomenon that the Ātman enlightens himself and others like the light of the Sun in the sky. The vision of the world reflected in the self is like that of stars reflected in clear water. The saint by the strength of his knowledge should realize his self whereby he knows himself and others. (92-102)

When Prabhākara requests that he should be instructed in the great knowledge, he is thus addressed. Ātman is knowledge, and he who knows his Ātman pervades the whole space with his knowledge, even though ordinarily he is limited to the body. Whatever is different from the self is not knowledge; so leaving aside everything one should realize the self which is a fit subject for knowledge. As long as a Jñānin does not know the self, which represents knowledge by means of knowledge, he will not, being an Ajñānin, realize the highest Brahman who is an embodiment of knowledge. By knowing one's self Para-Brahman is visualized and realized whereby the highest realm of liberation is reached (103-108).

When Brahman is seen and realized, the world other than Saṁsāra (*paraloka*) is reached. The lofty divinity, the embodiment of knowledge, residing therein is meditated on by saints, Hari and Hara. One reaches that condition on which one's mind is set; one should not, therefore, direct

one's attention towards other foreign stuff than the status of Para-Brahman. That which is non-sentient and separate from the self is the foreign stuff consisting of matter, the principle of motion, the principle of rest, space and time. One who is devoted towards Paramātman, even for half a moment, burns the whole lot of sin, as a spark of fire reduces a heap of logs to ashes. Setting aside all thoughts, one should peacefully concentrate on the highest status of liberation and thus realize the divinity. The highest bliss, which is attained by visualizing Paramātman (Śiva) in course of meditation is nowhere attained in the world of Samsāra. Even Indra, who sports in the company of crores of nymphs, does not get that happiness which the saints attain when meditating on their self. The soul which is free from attachment, when realizing the self termed as Śiva and Śanta, attains that infinite happiness realized by great Jinas by visualizing the self. Paramātman is visualized in the pure mind like the brilliant Sun in the cloudless sky. As no figure is reflected in a mirror with soiled surface, so indeed the God, the Paramātman, is never visualized in the mind (*hṛdaya*) unclean with attitudes of attachment etc. There can be no place for Brahman, when the mind is occupied by a fawn-eyed one : how can two swords occupy the same scabbard? It appears to me that the eternal divinity dwells in the clear mind of a Jānīn like a swan on the surface of lake. God is not there in the temple, in the statue, in the plaster nor in the painting; but he dwells in the equanimous mind as an eternal and stainless embodiment of knowledge. When the mind and Paramēśvara have become identical, nay one, where is the question of any worship? To concentrate the mind that is running towards pleasures and passions on the Paramātman free from the stains of Karman; that is the means of liberation, but not any mystic syllable nor mystic practice. (109-123*3)

Book II

Then Prabhākara asks what is Mokṣa, what are the means and what is the fruit of attaining Mokṣa. Joṇdu then expounds only the views of Jina. Mokṣa or Liberation is superior to Dharma, Artha and Kāma which do not give absolute happiness. That the Jinas attain Mokṣa alone by avoiding the remaining three shows that Mokṣa is the best of the four. The world or Samsāra means bondage. Even beasts in bondage want to get release or Mokṣa, then why not others? That the realm of liberation is at the top of the world is a sign of its superiority. Mokṣa represents the best happiness, that is why Siddhas stay in liberation all the time. Hari, Hara, Brahman and Jinavara and great saints; all these meditate on Mokṣa concentrating their minds on the pure Paramātman. It must be realized that in the three worlds there is nothing else than Mokṣa which brings happiness to souls. The wise sages have said that Mokṣa consists in the realization of Paramātman by being free from all the Karman. (1-10)

The highest and eternal fruit of Mokṣa is that there is infinite Darśana (faith or vision), knowledge, happiness (and strength) without being lost even for a moment. (11)

The souls attain liberation through Right Faith (or vision), Knowledge and Conduct which really speaking consist respectively in seeing, knowing and conducting oneself by oneself. From the ordinary point of view Right Faith, Knowledge and Conduct constitute the means of Mokṣa, but really speaking the soul itself is all the three. The Ātman sees, knows and realizes himself by himself; therefore the Ātman himself is the cause of Mokṣa. Proper knowledge of the soul constituted of Right Faith, Knowledge and Conduct leads to spiritual purity. (12-14)

Samyagdarśana or Right Faith consists in the steady belief in the true nature of Ātman resulting from the knowledge of various substances exactly as they are in the universe. Those are the six substances which fill these three worlds and which have no beginning and end. Of these six, Jiva or soul is a sentient substance; and the remaining five, namely, Pudgala or matter, Dharma or the principle of motion, Adharma or the principle of rest, Ākāśa or space and Kāla or time are insentient and separate from the soul. Really speaking (so far as its essential nature is concerned) the soul is non-corporal, an embodiment of knowledge, characterised by supreme bliss and (one that can achieve) an eternal condition of purity. Matter, in its six types, is corporal or concrete (*mūrta*, i. e., having sense-qualities and thus amenable to sense-perception); while others, along with Dharma and Adharma or the principles of rest and motion, are non-corporal. That is known as Ākāśa or sky in which all the remaining substances exist, i.e., which gives room to all the remaining substances. Kāla or time is a substance characterised by *varṇana*, i.e., continuity, being an accessory cause of change when things themselves are undergoing a change; the moments of time are individually separate like jewels in a heap of jewels. Excepting Jiva (soul), Pudgala (matter) and Kāla (time), the remaining substances, namely, Dharma (the principle of motion), Adharma (the principle of rest) and Ākāśa (space) are indivisible and homogeneous wholes. Besides Jiva (soul) and Pudgala (matter), the remaining four substances, namely, Dharma, Adharma, Ākāśa and Kāla have no movement. Dharma, Adharma and a soul occupy innumerable space-points, Ākāśa occupies infinite space-points, and Pudgala or matter has manifold space-point. Though the six substances exist together in the physical space, they exist in fact in their own gunas or qualities or attributes. These various substances fulfil their own functions for the embodied beings which wander in Samsāra suffering the miseries of four grades of existence. The very nature of these substances has been the cause of misery; so one should follow

the path of liberation that he might reach that realm other than this Samsāra. (15-28)

The condition or state of the self which understands the substances exactly as they are is known as knowledge. (29)

Cultivation of that genuine and pure state of the self after fully realizing and discriminating the self and the other (than the self) and after giving up (attachment for) the other, is known as Right conduct. (30)

The devotee of the three jewels will not meditate on any other thing than the self which is an abode of great merits. To identify the three jewels with the self is to meditate on oneself with the condition of liberation in view; and gradually meditating on the self day to day they attain liberation. (31-33)

Jivas have first Darśana which consists in the general comprehension of all the things devoid of particular details. Thus clearly Darśana comes first, and then, in the case of Jivas, authentic knowledge follows when the particulars or particular details are known. The Jiva without any attachment, putting up with pleasures and pains and sunk in the austerity of meditations, becomes the instrument of the shedding of the stock of Karmas. Treating merit and demerit alike (from the point of view of liberation) when the soul is equanimous the fresh influx of Karman is stopped. As long as the saint, with no distractions, remains submerged in meditation on the nature of the self, the fresh Karmas are stopped and the stock is being exhausted. The old Karmas he destroys, and the fresh ones he does not admit: giving up all attachment he cultivates peace. And Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct belong to him who has equanimous peace and to none else; so the great Jina has said. Self-control is possible, where there is peace of mind; self-control is lost when the Jivas become the victims of passions. Infatuation, which gives rise to passions, must be given up. Knowledge devoid of attachment and aversion is possible, when one is free from delusion and passions. Those, who understand what is real and what is otherwise, and who are equanimous taking pleasure in their spiritual nature, are happy in this world. An equanimous person has two faults; he destroys his *bāndhu* (meaning brother, also bondage), and makes the world *gahilu* (meaning foolish, also possessed). He has a third fault as well; he leaves his enemy (*sattu*) and becomes engrossed in *para* (enemy, also Paramātman). There is another fault; being *vikala* (without stains, also without body) he rises up to the top of the earth. And the last fault is that when all the beings are asleep at night, he is awake; and when the world is awake, he sleeps. (46*1) He neither speaks nor opens a discussion; he neither praises nor blames anybody; but he realizes equanimous attitude which leads one to liberation. The saint, realized as he has that paraphernalia, pleasures, body, etc., are

foreign to his self, has neither attachment nor aversion for (internal and external) paraphernalia, pleasures and body, etc. The great saint feels no attachment and aversion for *vyṭti* and *nivṛtti*, because he knows them to be the cause of bondage. (34-52)

Not knowing the causes of bondage and liberation and not realizing Ātman as Right Faith, Knowledge and Conduct, one incurs through delusion both merit and demerit as though they lead one to liberation. The soul that does not treat merit and demerit alike suffers misery all along and wanders in the round-of-rebirths being deluded. The wise say that even demerits or sins (*pāpa*) are beneficial, when they immediately give pain and leave the soul free to attain liberation; and even the Punyas are not beneficial when they bestow kingdoms and consequently bring lots of misery. Better court death that leads to self-realization than merits that lead astray. Those that march towards self-realization attain infinite happiness, but others that have missed the same suffer infinite miseries in spite of meritorious deeds. Merits lead to prosperity, prosperity to vanity, and vanity to intellectual perversity which further leads to sin; therefore merits are not desirable. (60) Devotion to Gods, scriptures and saints leads one to merit, but never to the destruction of Karman: so says venerable Śānti. Contempt of the same however necessarily leads to sin whereby one wanders in Samsāra. Pāpa leads the soul to hell and sub-human world, Punya to heaven, and the admixture of both to the human world; but when both are destroyed, there results Nirvāṇa or liberation. Worship, self-reprobaton and repentance with correction: all these bring merit or Punya; so a man of knowledge will not devote himself to these by leaving meditation on the pure and holy Ātman, the embodiment of knowledge. (53-65)

A man of Impure manifestation of consciousness has no self-control, and his mind is not pure. Pure manifestation of consciousness is the best, because it is attended by self-control, character, righteousness, Faith, Knowledge and the destruction of Karman. Pure manifestation of consciousness is the Dharma which supports the beings falling in the miseries of four grades of existence. Pure manifestation of consciousness is the unique path leading to liberation: one that goes astray can never be liberated. One may go anywhere and do whatever he likes; but liberation can never be attained unless the mind is pure. Auspicious manifestation of consciousness leads to piety, the inauspicious one to implety, and the pure one, which is free from both, is immune from Karman. (66-71)

Dāna (i.e., donation, or giving gifts to proper persons, etc.) brings pleasures, austerities bring the status of Indra, but knowledge brings that state of existence which is free from birth and death. To know one's self is to get released, otherwise without this knowledge one has to wander in

Samsāra. Without this knowledge nobody has attained liberation: by churning water the hands would not be greasy. That knowledge, which is not self-knowledge, is of no avail; and even austerities, which are not conducive to self-knowledge, are simply painful. In the presence of self-knowledge there is no scope for attachment (*rāga*): darkness cannot spread before the rays of sun. For men of knowledge, there is no other object of attachment than the self; so when they realize this reality, their mind finds no pleasure in objects of senses. Their mind cannot be concentrated on any other object than the self: he who knows emerald (*marakata*) attaches no value to a piece of glass. (72-78)

When experiencing the fruits of his Karmas, he who entertains, through infatuation (or delusion), auspicious or inauspicious attitude, incurs Karmas again; and if he has no attachment or infatuation the fresh Karman is not incurred and the old stock is exhausted. Though the highest reality is being studied, even a particle of attachment proves a hindrance. If the self is not realized, study of scriptures and the practice of penances will not rescue anyone. A man studying the scriptures may still remain dull, if his doubts are not cleared, as long as he has not realized pure Paramātman residing in the body. Scriptures are studied for self-enlightenment; and if one has not attained that highest knowledge thereby, is he not a fool? A tour to holy places will not rescue anyone from Samsāra, if he is devoid of Ātma-jñāna. (79-85)

There is a vast difference between foolish and wise saints: the wise forsake the body realizing the soul to be independent thereof, while the foolish wish to possess the whole world with the pretext of practising various virtues. The foolish take pleasure in their pupils—male and female—and in books; but the wise are ashamed of these knowing them to be the cause of bondage. Mat, board (or garment), bowl and male and female disciples attract a monk and carry him astray. It is a self-deception, if a saint wearing the emblem of great Jinas pulls out his hair with ashes but does not give up attachment for paraphernalia. To receive desired paraphernalia even after being a monk (with Jina-linga) is to swallow back the vomit. Those monks, who give up the pursuit of liberation for the sake of worldly profit and fame, are burning a temple in fact for a nail. The monk who considers himself great because of his possessions never realizes the reality. To those who have realized reality no one is great or small: all souls are the great Brahman. The devotee of three jewels makes no distinction between souls and souls, whatever bodies they might be occupying. The souls in the three worlds are mutually distinguished by the ignorant, but in omniscience they are of one type. All the souls have knowledge as their essence; they are free from birth and death; they are alike with regard to

their spatial extent; and they are similar with regard to their characteristics. Darśana and Jñāna are their essential attributes: if the mind is enlightened, no distinction should be made between various souls. Those that make no distinction between the (potential) Brahmins in this world realize the pure light of Paramātmā. By leaving attachment and aversion and (consequently) being established in equanimity (*sama-bhāva*) those that treat all souls alike easily attain liberation. The distinction between various bodies should not be attributed to the souls which are essentially characterised by Darśana, Jñāna and Cāritra. Bodies, small or big, are fashioned by Vidhi, i.e., Karman, but the souls are all alike everywhere and always. He who considers friends, foes, himself, others and the rest all alike knows himself. He who does not realize the one nature of all the souls cannot develop the attitude of equality which is like a boat in the transmigratory ocean. The distinction between souls and souls is occasioned by Karman which is not to be identified with the soul and which will be separated from the soul when there is an opportunity. All the souls should be treated alike without dividing and without distinguishing them according to Varnas; as is the God Paramātmā, so are these three worlds. (86-107)

The great saints know what is other than the self and give up their association therewith, because that association distracts their concentration of Paramātmā. Association with a person who is not equanimous should be avoided, because that makes him anxious and uneasy. Even the good lose their virtues in the company of the wicked: fire, for instance, is hammered because of its company with iron. Infatuation does no good, and uniformly it brings misery; so one should get rid of it. (108-111)

It is a matter of disgrace that a nude monk with hideous physical appearance should desire for sweet dishes. The monk, if he wishes for abundant fruits of his twelve-fold penance, should give up greed for food in thoughts, words and acts. To love savoury food and to detest the tasteless one is gluttony that comes in the way of realizing the reality. (111 *2-4)

Moths, deer, elephants, bees and fish are ruined respectively by light, sound, touch, scent and taste: so one should not be attached to these. (112)

Greed and attachment bring no good, but uniformly they bring misery: so one should get rid of them. Fire in the company of Loha (greed, and also iron) is picked up by a pair of tongs, placed on the anvil and struck by a hammer. Sesame seeds, because of Sneha (oil, and also attachment) are sprinkled with water, pressed under feet and crushed repeatedly. Successful and virtuous are those persons who easily swim across, when they have fallen in the pond of youth. The great Jinas abdicated their thrones and reached liberation, then how is it that persons who are maintaining them—

selves by begging should not achieve their spiritual good? The souls wandering in Samsāra have suffered great miseries, and hence by destroying eight Karmas they should achieve liberation. The beings cannot put up with a bit of misery: then how is it that they can afford to incur Karmas which bring manifold miseries in the four grades of existence? The whole world being entangled in the turmoil foolishly incurs Karman, and not a moment is devoted to the rescue of the self. Till the great knowledge, viz. omniscience is attained, the soul, suffering misery and infatuated with sons and wives, wanders in millions of births. The souls should never claim ownership over the house, relations and body: they are the creations of Karman as understood from the scriptures by the saints. Thoughts about residence and relations bring no release: the mind should be applied to austerities (which bring about the destruction of Karmas) that Mokṣa might be reached. (113-124)

One has to suffer for the sins that one has incurred by killing manifold beings for the benefit of his sons and wives. One has to suffer infinitely more pain than that one has inflicted on the beings by crushing and killing them. Harm unto living being leads one to hell and the shelter unto them to heaven; these are the two paths all that are available: one should select whichever one likes. (125-127)

Everything here is ephemeral: it is of no use to pound the husk, even the body does not accompany the soul; the mind, therefore, should be directed to the pure path of liberation without any attachment for relatives and residence. Temples, (images of) gods, scriptures, Teachers, holy places, Vedas (religious texts) and poems and the tree that has put forth flowers: all this shall be the fuel (in the fire of time). Excepting one Brahman, (i.e., Paramātmā) the whole world is earthly and ephemeral, and this should specially be remembered. Those whom one meets in the morning are no more in the evening; so Dharma should be practised without any greed for youth and wealth. No religious merits are amassed and no austerities practised by this tree covered with skin (i.e., the embodied being); hell then is the destiny after being eaten by the ants of old age. The soul should be devoted to the feet of Jina; and the relations, even the father, must be abandoned, because they simply drag the soul into Samsāra. It is a Self-deception if austerities are not practised with a pure mind in spite of one's having obtained human birth. The camels in the form of five senses should not be let loose; after grazing the whole pasture of pleasures they will again hunt the soul into the round-of-rebirths. Unsafe is the course of meditation; the mind cannot be settled at rest as it repeatedly reverts back to the pleasures of senses. The Yogin cultivates (Right) faith, knowledge and conduct, and being exempt from the influence of five senses meditates

on the highest reality. The pleasures of senses last for a couple of days only, and then again follows the stream of misery; one should not be deluded, and one should not flourish the axe on one's neck. That man commands respect who gives up pleasures though they are at his disposal; the bald-headed fellow has his head shaved by destiny (for which he deserves no credit). By capturing the leader, viz., the mind, all others, (i.e., the senses) are captured; the roots being pulled out the leaves necessarily wither. A lot of time is spent in enjoying the pleasures of senses; therefore steady concentration on Śiva, (i.e., Paramātmān) is necessary whereby liberation is reached. Those who are engrossed in the concentration on Paramātmān are never seen to suffer miseries. Time has no beginning, the soul is eternal, and the round of rebirths has no end; the soul has not secured two: the teacher, Jina and the religious virtue, Right faith. (128-143)

Family-life is full of sin; it is indeed a steady net decorated with death. When the body does not belong to oneself, there is no propriety in claiming other things by neglecting the concentration on Paramātmān (called Śiva). Concentration on anything other than Śiva will not lead one to the bliss of liberation. Apparently the body looks nice; but (as to its real nature) it gets rotten when buried, and it is reduced to ashes when burnt. Anointing, decorating and sumptuously feeding the body serve no purpose like obligations bestowed on the wicked. This body is like a delapidated Naraka-grha (filth-house) full of filth, and as such it deserves no attachment. As if with vengeance the fate has fashioned this body out of all that is miserable, sinful and filthy. It is shameful to enjoy the loathsome body; the wise should take delight in Dharma purifying their selves. The saints should not be attached to this body which brings no good to them; they should realise Ātman which is an embodiment of knowledge separate from the body. Attachment can never bring eternal happiness. (144-153)

One should be satisfied with that happiness which entirely depends on one's self; pleasures from external accessories will never remove (further) desires. Ātman should be realized as essentially constituted of knowledge, and there should be no attachment for anything else. If the mental waters are not disturbed by pleasures and passions, the Ātman immediately becomes pure. Of no avail is that Yoga which does not separate the self from others after suppressing or curbing the mind at once. Omniscience cannot be attained by meditating on anything other than the self, the embodiment of knowledge. The saints who meditate on Śūnya-pada (a point of meditation devoid of disturbances), who do not identify themselves with anything foreign, who have neither Punya nor Papa and who populate the (so far) deserted (attitude) and desert the (so far) inhabited (attitude), deserve all respect. (154-160)

In response to Prabhākara's question, the author says:— There, in that meditation, delusion is smashed to pieces and the mind sets into steadiness, when the breath issuing from the nostrils melts back into Ambara. When one dwells in the Ambara delusion melts, mental activities are no more, inhalation and exhalation are stopped and even omniscience develops. He who concentrates his mind, which is as extensive as the physical and super-physical space, on the Ākāśa, has his delusion destroyed; and he is an authority to others. (161–164)

[Then possibly the pupil speaks in a mood of repentance.] The self, the infinite divinity, which is in the body, has not been realized; and it has all been waste to have held the mind in the equanimous Ambara. All the attachments are not given up; the attitude of detachment has not been cultivated; the path of liberation liked by saints has not been understood; severe austerities, which are the essence of self-realization, are not practised; both merit and sin are not consumed; then how can the round-of-rebirths be terminated?

Gifts have not been given to saints, the great Jina is not worshipped and the five great teachers are not saluted: then how can the liberation be attained (*tivalābha*)? (168)

Successful meditation does not consist so much in closing the eyes, half or complete, as in remaining steady, with the mind undisturbed whereby alone liberation, the best state of existence, is attained. If undisturbed concentration is attained, the round-of-rebirths comes to an end; even the great Jina will not achieve Hamsācāra, if he is liable to disturbances and anxieties. It is indeed foolish to run after the world and its activities. Brahman who is above all this should be realized, and the mind must be set at rest. The mind must be curbed from all the attachments, six tastes and five colours, and then be concentrated on Ātman, the infinite Divinity (165–172)

This infinite Ātman assumes that form in which he is meditated upon like the crystal or Mantra. This Ātman himself is Paramātman; but he remains as Ātman because of special Karmas; as soon as the Ātman is realized by himself, then he is Paramātman, the divinity. One should meditate thus: I am the same as Paramātman, the embodiment of knowledge and the infinite divinity, and the Paramātman is myself. Like the colours reflected in a transparent crystal all the Karmic associations are different from the nature of Ātman. By nature, like crystal Ātman is pure; the dirty appearance of the body is mistaken for that of the soul. The body should not be considered as red, old and worn out, when the clothes are red, old and worn out. Similarly red colour, old age and destruction of the body have nothing to do with the soul. As

clothes are separate from the body so body is separate from the soul. Body is the enemy of the soul, because it produces miseries; then he is a friend who destroys this body. It is indeed a great gain if the Karmas, which are to be made ripe for operation and to give fruit, become automatically ripe and exhausted. If the mind cannot bear harsh words, meditate on the Para-Brahman whereby the mind might be set at rest. Beings that are averse to their spiritual welfare wander in the round-of-rebirths pursued by Karmas; what wonder then, if they escape from Samsāra when they establish themselves in themselves. If others take pleasure in finding faults with you, then consider yourself as an object of pleasure for others, and give up anger. The monks, if they are afraid of misery, should not entertain any anxiety, for even a bit of it, like a subtle nail, necessarily causes pain. There should be no anxiety even for Mokṣa, for anxiety will not bring Mokṣa: that which has bound the soul will rescue it. Those that sink in the great lake of meditation have their souls rendered pure, and the dirt of round-of-rebirth is washed off. Elimination of all the mental distractions is called the great meditation (Parama-samādhi); the saints, therefore, give up all the auspicious and inauspicious attitudes. Though severe penances are practised and though all the scriptures are understood, the 'Śāntam Śivam' is not realized, if the great meditation is not practised. Realization of Paramātman cannot be accomplished, if meditation is not practised after destroying pleasures and passions. If the Parabrahman is not realized through great meditation, one has to wander infinitely suffering the miseries of Samsāra. The omniscient have said that the great meditation is not achieved unless all the auspicious and inauspicious attitudes are annihilated. The Ātman becomes Arahanta when all the mental distractions are stopped, and when, being on the path of liberation, the four (Ghātiya) Karmas are destroyed. Ātman becomes Arahanta, necessarily full of supreme bliss, who continuously knows the physical and super-physical worlds through omniscience. That Jina who is omniscient and whose nature is supreme bliss is the Paramātman, the very nature of Ātman. The Jina who is separate from all the Karmas and blemishes should be understood as the very light of Paramātman. The great saint, Jina, who possesses infinite revelation, knowledge, bliss and strength is the great light. It is the great and pure Jina, the Paramātman, that is variously designated as Parama-pada, Hari, Hara, Brahman, Buddha and the great Light. The Jina, when he is absolutely free from Karmas through meditation, is called the great Siddha. (173-201)

Siddha represents self-realization: he is the brother of three worlds; and his nature is eternal happiness. He is not accessible to births and deaths; he is free from the miseries of the four grades of existence; and

he is free and blissful being an embodiment of absolute revelation and knowledge. (202-3)

The saints that sincerely study Paramātma-prakāśa overcome all delusion and realize the highest reality. The devotees of this Paramātma-prakāśa attain that spiritual light which enlightens the physical and super-physical worlds. Those that daily meditate on Paramātma-prakāśa have their delusion immediately smashed, and they become the lords of three worlds. The competent students of Paramātma-prakāśa are those who are afraid of the miseries of Saṁsāra, who abstain from the pleasures of senses, whose mind is pure, who are devoted to Paramātmān, who are intelligent in self-realization and who wish to obtain liberation (204-9).

This text of *Paramātma-prakāśa*, which is composed not (much) minding the rules of grammar and metrics, if sincerely studied, destroys the misery of the four grades of existence. The learned should not mind here the merit or otherwise of repetition; ideas are repeated for the sake of Bhaṭṭa Prabhākara. The learned, who have realized the highest reality, should forgive the author for whatever is said here, reasonable or otherwise. (210-12)

He attains liberation when flashes forth in his mind that Highest Principle, which, as an embodiment of knowledge, is meditated upon by great saints, which having no body dwells in the bodies of embodied beings, which is an embodiment of celestial knowledge, which deserves worship in three worlds, and which represents liberation.

Glory to that blissful omniscience which is a celestial embodiment of effulgence to those that have attained the highest status, which is a celestial and liberating light in the minds of great saints, and which cannot be obtained here by people who are given to pleasures of senses. (213-14)

d) Critical Estimation of P.-prakāśa

Occasion of Composition and Reference to some Historical Persons- Basing our conclusions on Brahmadeva's recension of the text, we find it definitely stated that P.-*prakāśa* was composed by Yogīndu in response to some questions of Bhaṭṭa Prabhākara (I. 8; II. 211). Once Bhaṭṭa Prabhākara is addressed by name (II, 11) and often as *vaḍha* (= *vatsa* according to Brahmadeva) and *Jāīya* (*yōgin*); and there are some indirect references to him as well which are made clear by Brahmadeva (I. 104, II. 1). Beyond that he was a pupil of Yogīndu, we know nothing about Bhaṭṭa Prabhākara. Bhaṭṭa and Prabhākara are not two different names of two separate individuals as Pt. Premī passingly implied;¹ but it is one name as Bhaṭṭa-Prabhākara, Bhaṭṭa being possibly a title. To quote a parallel case, Akalanka, the author

1 MDJG., vol. XXI, p. 17 of the Introduction.

of *Śabdānuśāsana*, (1604 A. D.) a Kannaḍa grammar, is uniformly known as Bhaṭṭakalanka. Bhaṭṭa Prabhākara's questions and Yogīndu's address to him indicate that he was a Jaina pupil, necessarily a monk, of Yogīndu; and his name has nothing to do with Prabhākara Bhaṭṭa (c. 600 A.D.), the famous Purva-Mīmāṃsā philosopher. Besides the names of Yogīndu and Prabhākara, the text quotes the opinion of one Ārya Śānti that devotion to gods, scriptures and saints leads to merit but does not destroy Karmas (II. 61) Q-gloss modifies that name as Śāntanandācārya, while K-gloss¹ takes it as Śāntinātham. No doubt, Śānti is the name of some early author, but in the absence of any more information he cannot be identified with known authors whose names begin with Śānti.

The Aim of Writing this Work and how far Fulfilled—As the text stands, Bhaṭṭa Prabhākara complains that he has suffered a lot in Samsāra, and he wants that light which would rescue him therefrom. Yogīndu first analyses the subjective personality, indicates the need of realizing Paramātman, and gives some symbolical descriptions of mystic-religious experience. Then he explains to him the meaning of liberation, its fruit and its means. Discussing the means he gives many moral and disciplinary lessons with illustrations. What was the need of Bhaṭṭa Prabhākara is the need of many aspiring souls; and as the title indicates and as the contents show, this work really sheds light on the problem of Paramātman in a popular manner.

Method and Manner of Subject-treatment, etc—As Brahmadeva's text shows, the work is definitely divided into two parts by the author himself in response to two questions of Prabhākara: first, about Ātman and Paramātman (I 8-10); the second, about Liberation and its means (II.2). The first section is built more compactly than the second, of which only portions here and there are compact (for instance II. 11-30), but the major portion of it is loosely built with repetitions and side-topics. At times the author himself raises certain questions and answers them by the application of various view-points (see for instance I. 50-54). In some places he shows the tendency of mechanically building the verses with a few words changed. (see for instance I. 19-22, I 80-81 and 87-91, II. 113 and 115, 178-9) *P.-prakāśa* is full of verbal repetitions of which Yogīndu is quite aware; and he explains his position that he had to say things repeatedly for the sake of Bhaṭṭa Prabhākara (II. 211). Repetitions have a decided value in works of meditational character. There is no question of one argument leading to the other and thus arriving at a conclusion as in logical works. But here the author has at his disposal a capital of ideas, moral and spiritual; and his one aim is to create taste for these ideas in his readers. So he goes

1 For remarks on these Glosses see below the section on the Commentaries on *P.-prakāśa*.

on repeating them in different contexts, at times with different similes, to make his appeal effective. Brahmadeva also defends this repetition by saying, 'atra bhāvanāgranthē Samādhisatakavarī¹ punaruktadūṣaṇam nāsti', etc., and further welcomes it as beneficial (see his remarks on. II. 211).

Similes and their Use—A moralist always uses similes, metaphors and illustrations in his discourses to make his lessons very effective: and if these are drawn from every-day life the readers and hearers feel all the more convinced. That is why Drṣṭānta plays an important part in the syllogism of Indian logic. A mystic, by the very nature of his subject, has to use all these more necessarily than a theologian, a moralist or a logician. A mystic attempts to convey to his hearers and readers the glimpses of the incommunicable realization which he himself has experienced. If mystics differ in their modes of expression and methods of exposition, it does not invalidate their experience, but it only proves that this transcendental experience cannot be rightly, and oftentimes adequately, expressed in words. The mystic visions are always symbolically put. This explains very well why works on mysticism are full of parables, similes, metaphors and illustrations. Yogīndu cannot be an exception to this, as he combines in himself a moralist and a mystic. The Great meditation, for instance, Yogīndu compares with a lake (II, 189), and the vision of Paramātman is like that of a swan on the lake-surface (I, 122). Once the mystic vision is likened to the light of sun in a cloudless sky (I. 119). Ātman is said to imitate a lame man and it is Vidhī or Karman that leads him everywhere (I. 66). Body is compared once with a temple; once it is called a tree covered with skin: and once it is likened to filth-house (I. 33, II, 133, 149). Family life is called a trap decorated by Death (II. 144). Twice he treats creeper as an object of comparison: when he compares it with Samsāra (I. 32) its extensive growth is the common property, and when he compares it with knowledge (I. 47) the common property is that both of them need some support: knowledge being a transitive process needs an object of knowledge. A passionate heart is compared with a mirror of soiled surface (I. 120). Sometimes he develops a Drṣṭānta taking advantage of a word with double meaning (*lāha*-greed and iron; *snāha* - attachment and oil); so a greedy man and a man of attachment suffer like iron on the anvil and like sesame seeds in the mortar (II. 112-14). Senses are likened to camels (II. 136); and the author notes the cases of moth, deer, elephant, bees and fish that suffer because of their excessive attachment for respective senses (II. 112). Some of his Drṣṭāntas are very vivid and appealing. In I. 121 he says that Brahman and woman cannot occupy the same heart, for two swords are never accommodated in one and the same scabbard; in II. 74 he puts

1 It is a Sanskrit work of Pūjyapada; its influence on P.-prakāśa is discussed below.

that without real knowledge liberation cannot be attained, for the hand does not become oily, i.e., besmeared with butter, by churning water. The last simile is used by Basavanna¹ also in a similar context.

Style of P.-prakāśa—Barring the repetitions due to which this work, as an academic treatise, gives tiresome reading, it is composed uniformly in an easy and vivid style. In spite of the Jaina technicalities used here and there (especially II. 12-16, etc.) there is a popular flavour about all his discussions. What strikes one is his earnest and spiritualistic enthusiasm and his sincere desire to help Bhatta Prabhākara, and consequently the readers of P.-prakāśa in general, to get out of this Samsāra. Most of his utterances are of an objective nature, and as in the Vacanas of Basavanna² and others we do not find here personal complaints and contemporary social and religious touches. At times but rarely Yogīndu is obscure, and his statements require some additional words for a correct interpretation (I. 43, II 162, etc). Not very successfully he uses some words with double meaning to convey significant sense out of apparent contradiction (II. 44-46). Indeed P.-prakāśa gives a refreshing reading for a believer; and that is why it has a strong hold on the minds of Jaina monks. Nowhere the author tries to parade his learning; and throughout the work he takes the reader into his confidence and sincerely preaches in a homely manner without much arguing. The writer, with a characteristic modesty, requests the reader not to mind his metrical and grammatical slips (II. 210-12).

Metres in P.-prakāśa—A metrical analysis of 345 verses in Brahmadeva's recension shows that five are gāthās (I. 65*1, II. 60, 111*2, 111*3 and 117), one is a Sragdharā (II. 213), one is Mālīnī (II. 214) and their dialect is not Apabh; one is a Catuspādikā (II. 174); and the remaining 337 verses are dohās. This name does not occur in P.-prakāśa; but in Yūgasāra, the other work of Joīndu, the word dohā is used twice (Nos. 3 & 107). Yūgasāra contains 104 dohās; two Sorathas (Nos. 38 & 44) and one Caupai (No. 39). Both the lines of a dohā are of uniform constitution; each line is divided into two parts with a definite metrical pause interven-

1. Many of his Vacanas, generally addressed to his personal deity Kudala Saṅgama-deva, are included in *Vacanaśāstrasāra*, vol. I, edited by F. G. Halakatti, Belgaum 1923. Recently a small book, *Sayings of Basavanna*, is published from Gadag; it contains the Kannada text of some selected sayings with an English rendering by M. V. Iyengar. The Vacana referred to above runs thus: "Chew the bamboo leaf; all you get is the chewing itself and no juice. Churn water, all you get is the churning and no butter. Spin sand, all you have is to spin merely; you get no rope. Bend to gods other than God Kudala Saṅgama; you have merely hurt your hand by pounding much bran". The simile of pounding bran is found also in P.-prakāśa, II. 128
2. See *Vacanaśāstrasāra* mentioned in the above note.

ing; and an objective scanning of a line shows almost uniformly that the first part contains 13 mātrās and the second 11. But when we read the dohā, or try to sing it, it appears that we need 14 mātrās, the last mātrā of a part being necessarily lengthened. So it would be more accurate to state that each line of a dohā contains 14 and 12 mātrās with a definite pause after the 14th mātrā. *P.-prakāśa*, however, shows 31 cases¹ in all where the first part of the line has 13 mātrās even when the last syllable is long. In the light of Virahāṅka's definition, noted below, one will have to accept that some syllable is to be lengthened in these lines. That the dohā line really contains 14 and 12 mātrās is clear from the following definition given by Virahāṅka.²

तिणिण तुरंगा णेरओ³ वि-प्पाइक्का कण्णु ।

दुवहम-पच्छदे वि तह वद लक्खणउ ण अण्णु ॥ IV. 27 ॥

Remembering the technical terms of Virahāṅka that *turaṅga*=4 mātrās, *ṇāra*=one guru, *pañjka*=4 mātrās and *kaṇṇu*=two gurus, the definition prescribes 14 and 12 mātrās for a dohā-line. Both the lines have the same structure, and often *e* and *o* are short in Apabh.; thus an objective scanning of even this illustrated dohā shows 13 and 11 mātrās. So Virahāṅka means that a dohā line has really 14 and 12 though in writing it might show 13 and 11 mātrās. There are other later metrical works like *Kavidarpaṇa* (II. 15), *Prākṛta Paṅgala* (I. 66 etc.), *Chandaḥkṛtā* (21) etc., which plainly state that a dohā-line contains 13 and 11 mātrās. Hemacandra, however, takes 14 and 12 mātrās. This means that Virahāṅka and Hemacandra take into account the acoustic effect of the flow of a dohā-line, while others adopt the objective scanning. That dohā is pre-eminently an Apabh. metre is attested by the facts that Virahāṅka composes his illustration in Apabh. and that Rudraṭa composes his illustrations of śleṣa of Sanskrit and Apabh. in dohā metre. The two lines of dohā exhibit rhyme at their close even in Sanskrit as seen from Rudraṭa's verses⁴. The etymology of the word dohā needs some reflection. Joṇdu, we have seen, calls it dohā, but Virahāṅka writes its name Duvahaa. If dohā (in Hindi, Rājasthānī, Dūhā) has a Sanskrit origin, it might be derived from the word *avidhā* indicating thereby i) that a line of dohā is definitely divided into two parts, or ii) that in dohā metre the same line occurs twice. Virahāṅka appears to favour the second

1 See I. 27c, 32c, 36a, 53c, 61a, 68c, 73a, 77c, 79c, 85a, and 115a, II. 59a, 69a, 73c, 100c, 103c, 125a, 126a, 127c, 136a, 137c, 138a, 147a, 162a, 166a, 187c, 188a, 190c, 192a, 194a and 207a.

2 H. D. Velankar : *Vṛttajātisamuccaya* of Virahāṅka JBBRAS 1929 and 1932; *Chandaḥkṛtā* in the appendix to his paper 'Apabhraṃśa Metres' in the *Journal of the University of Bombay*, Nov. 1933; *Kavidarpaṇa* in the *Annals of the B. O. R. I.* 1935

3 In view of the Nom. Sg. termination in Apabhraṃśa, we expect the reading *nāurāi*.

4 *Kavyalāṅkāra* IV. 15 and 21.

when he says : *dā pād bhāṇṇāi dūvahaū* (II. 4). So far as we know, Virahāṅka, whom Prof. H. D. Velankar puts earlier than 9th century A.D., is the earliest metrician to define *dohā*. Later metricians have given some varieties of *dohā* as well.

Eclectic Character of P.-prakāśa—Unless there is temperamental handicap, the spiritualistic mystics, as a class, have a very tolerant outlook; and 'it is thus', as Prof. Rānade puts it 'that the mystics of all ages and countries form an eternal Divine Society'.¹ They may weave out their mysticism with the threads of any metaphysical structure; but they always try to go behind the words and realize an unity of significance. Yogīndu is a Jaina mystic as it is clear from the opening *Mangala* and other references; and from the technical details adopted by him it is seen that he bodily accepts Jaina metaphysics, especially the Jaina concepts of *Ātman*, *Karman*, their relation in the light of other substances, *Paramātmān*, etc. But his catholicity of outlook has given an eclectic touch to his work and almost a non-sectarian colour to most of his utterances. Intellectual tolerance is seen at its best in Yogīndu. Vedāntins claim that the *Ātman* is all-pervading (*sarvagata*); Mīmāṃsakas say that the soul in liberation exists without cognition; the Jainas take the soul to be of bodily size; and Buddhists say that it is *śūnya* (I. 50 etc.). Yogīndu never feels offended by this variety of conflicting views. In the light of Jaina metaphysics and with the help of *Nayas* he goes behind the words and notes their significance. The interpretations offered by him may not be accepted by those respective schools; but this way of approach brings before us the personality of Yogīndu as a patient mystic with a tolerant outlook. Yogīndu would only smile at polemic logicians like Dharmakīrti, Akalanka, Saṅkara, etc., and pity them that they have in vain wasted their words and energies by raging a warfare of mutual criticism for centuries together. As contrasted with this attitude, Saraha, a Buddhist mystic, who has many ideas common with Yogīndu, severely attacks the practices of nude Jaina monks.² Yogīndu holds a definite conception of *Paramātmān*, but never does he insist on a particular name thereof. Thus with a non-sectarian spirit he designates his *Paramātmān* as *Jinadeva*, *Brahman*, *Para-Brahman*, *Sānta*, *Śiva*, *Buddha*, etc., (I. 17, 26, 71, 109, 116, 119, II. 131, 142, 200 etc.) Then very often he has harnessed non-Jaina terminology to serve his purpose; and here we find the echoes of many patent concepts of other systems of Indian philosophy. I shall note here only a few glaring cases. In I. 22 he uses many Tāntric

1 Belvalkar & Rānade : History of Indian Phil., vol. VII. *Mysticism in Maharashtra*, Preface, p. 2.

2 M. Shahidulla : *Les chants mystiques de Kaṇha et de Saraha, Dōhākōśa* of Saraha verses 6-9.

terms like Dhāraṇā, Yantra, Mantra, Maṇḍala, Mudrā and says that the Paramātmā is beyond the predication of these. His way of expression in I. 41 and II. 107 approaches very near that of Vedānta; and II. 46* 1. which is considered as interpolatory by Brahmadeva and other Mss., reminds us of a similar verse in *Gīta* (2. 69). Jainism and Sāṃkhya have many points of similarity,¹ and our author with the help of Nīścaya-naya compares Ātman with a lame man and delegates all activity to Karman which is called Vidhi here (II. 65-66).² In II. 170 the word Hamsācāra is used, and Brahmadeva takes Hamsa to mean Paramātmā; this reminds us of some Upaniṣadic passages where Hamsa is used in the sense of Ātman and Paramātmā.³ It may be noted here passingly that one of the mystic vision of Paramātmā according to Yogīndu is that of a swan on the surface of lake. This work, leaving aside a few groups of verses that give technical details of Jaina metaphysics, can be read with devotion by all students of mysticism who want to raise their individuality to a higher plane of divinity.

Yogīndu's Place in Jaina Literature: Influence of Earlier Works, etc., on him—A mystic is not necessarily a man of learning, and further he is not a professional writer trained for that purpose with years' grounding in grammar, logic, etc. The experience of self-realization forces speech out of him at the sight of suffering humanity; and he goes on expressing himself not minding the rules of grammar, etc. So it is not without significance that Yogīndu selects Apabhraṃśa language, the popular speech of his day, ignoring Sanskrit and other Prakṛits⁴ which were used in learned works; and this is exactly what is done by some of the later mystics of Mahārāṣṭra and Karnaṭaka Jñānadeva, Nāmadeva, Ekaṇātha,⁵ Tukārāma and Rāmadāsa proudly expressed their experiences in Marāṭhī and Basavanna and scores of Virāṭaiva Vacanakāras in Kannaḍa,⁶ so that they might be understood by a larger number of people. What earlier authors expressed in Prakṛit and Sanskrit Yogīndu puts in a popular manner in a popular dialect of his time. It is to Kundakunda and Pūjyapāda, so far as I have been able to study earlier Jaina works, that Yogīndu is greatly indebted. A few agreements might be noted here. Yogīndu's discussion of three

1 A. N. Upadhye : *Pravacanasāra* (RJS), Intro. p. 63 etc.

2 This is the famous Sāṃkhya analogy, see *Sāṃkhyakārikā* 21 & 62.

3 See for instance *Śvētāśvatarōpaniṣad* I. 6. iii. 18, vi. 15.

4 The two concluding verses are not in Apabh., but I think they are composed by Yogīndu himself.

5 How proudly and confidently Ekaṇātha says :

mājhī Marāṭhī bhāṣā cōkhaḍī {

Para-Brahmī ~ phalaṭī gāḍhī ||

6 These Vacanas are beautiful specimens of Kannaḍa prose. They are simple and homely as distinguished from the classical prose passages in earlier Campū works.

Ātmans (l. 121-4) closely agrees with that in *Mōkṣhapāhuda*¹ 4-8. The definitions of Samyagdr̥ṣṭi and Mithyā-dr̥ṣṭi (l. 76-77) almost agree with those given by Kundakunda in *Mōkṣhapāhuda* 14-5; and rightly indeed Brahmadeva quotes those gāthās in explaining these dohās. Besides, the following parallels also deserve notice : *Mōkṣha-pāhuda* 24 & *P.-prakāśa* I. 86; *Mp.* 37 & *Pp.* II. (partly); *Mp.* 51 & *Pp.* II. 176-77; *Mp.* 66-69 & *Pp.* II. 81; etc. It is not without significance that Śrutasāgara in his Sanskrit commentary on *Mōkṣhapāhuda*, etc. quotes many dohās from *P.-prakāśa* though this may not have historical justification. A closer comparison would reveal that Yogīndu has inherited many ideas from Kundakunda of venerable name. Turning to *Samādhiṣataka*² of Pūjyapāda, *P.-Prakāśa* agrees with it very closely; and I feel no doubt that Yogīndu has almost verbally followed that model. For want of space I could not quote the parallel verses here, but I give only references from both the works that have close agreement. *Samādhiṣataka* 4-5 & *P.-prakāśa* I. 11-14; *Ss.* 31 & *Pp.* II. 175, I. 123*2; *Ss.* 64-66 & *Pp.* II. 178-80 (very close agreement); *Ss.* 70 & *Pp.* I. 80; *Ss.* 78 & *Pp.* II. 46*1. *Ss.* 87-88 & *Pp.* I. 82 (amplified); etc. There are many common ideas besides these close agreements. But there is a vast difference between the styles of Pūjyapāda and Yogīndu. Pūjyapāda is a grammarian; and we know, as the popular saying goes, that a grammarian is as much happy on the economy of words as on the birth of a son. Pūjyapāda is concise in his expressions, chaste in his language and precise in his thoughts; but Yogīndu's style, as seen above, is full of repetitions and general statements. The very virtues of Pūjyapāda have made his work very stiff, and it can be now studied only by men of learning. Perhaps Yogīndu thought of propounding in a popular language and manner the important ideas of *Samādhiṣataka* which, being written in Sanskrit often in sūtra-style, could not be understood by all. Yogīndu's work appears to have attained sufficient popularity, and commentators like Jayasena, Śrutasāgara and Ratnakīrti quote from his works.³ Passingly I might note here that there are some close similarities between *P.-Prakāśa* and *Tattva-sāra*⁴ of Devasena: *Pp.* II. 38 & *Ts.* 55; *Pp.* II. 79-81 & *Ts.* 51-53; *Pp.* II. 97-8 & *Ts.* 37-8; *Pp.* II. 156 & *Ts.* 40; *Pp.* II. 183 & *Ts.* 50. Here and there Devasena shows Apabhramśa influence in his works; he has put some Apabhramśa verses in his *Bhāvasaṅgraha*,⁵ and he uses words like *bahirappā* (*Ts.* 40) in spite of the fact that he opens

1 Ed. *Ṣaṭ-Prabhīrti-saṅgraha* MDJG., vol. XVII. pp. 304-379. This ed. is accompanied by Śrutasāgara's Sk. commentary on six Pāhudas.

2 Ed. SJG., vol. I. Bombay 1905. pp. 281-296.

3 Jayasēna in his commentaries on *Pañcāstikāya* and *Samayasāra*, Śrutasāgara on Six-pāhudas and Ratnakīrti on *Āradhanāsāra* of Devasēna (MDJG., vol. VI).

4 Ed. MDJG., vol. XIII. pp. 145-51.

5 Ed. MDJG., vol. XX.

Tattvasāra with a slightly different division. For these reasons and in the light of the context, I think, it is Devasena that follows Yogīndu and not otherwise.

Yogīndu, Kāṇha and Saraha—Kāṇha and Saraha are Buddhistic mystico-moralists. Their works belong to the later phase of Mahāyāna Buddhism, especially Tāntricism; and they have some common traditions with Śālvite Yogins.¹ Dr. M. Shahidulla puts Kāṇha about 700 A.D., while Dr. S. K. Chatterji puts him at the end of the 12th century. Saraha lived about 1000 A.D.² *Dohakośas* of these two authors breathe the same spirit as that of *P.-Prakāśa*. Unlike *P.-Prakāśa* they are not uniformly composed in *dohās*; but they have a variety of metres, though they are called *Dohakośa*. Excepting a few peculiarities, which might be due to local influences, their Apabhraṃśa is similar to that of Yogīndu though forms here and there show some advancement towards simplification. Mystico-moralists have often inherited a common stock of ideas and terminology which appear and re-appear in the mystical works of different religions. The terms of address Vadhā, Puttā, etc., are found in these texts as well. Kāṇha and Saraha very often mention their names in their verses, thus stamping them with their individualities. This is conspicuously absent in the verses of Yogīndu. Marāṭhā saints like Tukārāma have mentioned their names like this, and the Śālvite Vacana-kāras of Karnāṭaka have mentioned their *mudrikās*: for instance, the *mudrika* of Basavanna is Kuḍala-saṅgama-deva, that of Gaṅgama is Gaṅgeśvara-līṅga and so forth. Especially the *Dohakośa* of Saraha has many ideas, phrases and modes of expression common with *P.-prakāśa*. I note here a few parallels selected at random: *P.-prakāśa*. I. 22 & *Dohakośa* of Saraha 25; *Pp.* II. 107 & *Dk.* 28; *Pp.* II. 112 & *Dk.* 73; *Pp.* II 161-62 & *Dk.* 48, *Pp.* II. 163 & *Dk.* 32; *Pp.* II. 174 & *Dk.* 107. Also compare *Pp.* & *Dk.* of Kāṇha 10; *Pp.* I. 22 & *Dk.* 28.

e) Philosophy and Mysticism of P.-prakāśa

1. The Two Points of View: Vyavahāra and Nīścaya, or Practical and Realistic—The Ātman is really Paramātmā (I. 46). It is true from the ordinary or practical point of view that the Ātman, because of Karmic association, undergoes various conditions (I. 60); but from the real point of view, upheld by the great Jinās, the Ātman simply sees and knows: Ātman does not bring about bondage and liberation which are caused by Karman for him. (I. 64, 65, 68). Ātman is omniscience; and every other predication about him is true from the practical point of view (I. 96). Really speaking

1 S. K. Chatterji *The Origin and the Development of the Bengali Language*, Intro. pp. 110-23.

2 M. Shahidulla : *Les chants mystiques de Kāṇha et de Saraha*, Paris 1928. pp. 28, 31 etc.

Ātman himself constitutes Right Faith, Knowledge and Conduct which are ordinarily stated as the means of liberation (II. 12-14, 28, etc).

Author's use of these Points of View—It is a patent fact from the history of Indian literature that very often the commentator is a better authority to enlighten us on the contents of a text, howsoever misleading and fantastic his etymological explanations might be. What is true in the case of Sāyana on *ṛgveda* is much more true in the case of Brahmadeva on *P.-prakāśa*. In explaining the text Brahmadeva has repeatedly taken resort to Nīścaya and Vyavahāra points of view. It is just possible that he might have exaggerated some other subtle differences; but that such a distinction is accepted by Joindu himself is clear from the above paragraph. So we cannot ignore these two points of view in studying *P.-prakāśa*.

Necessity of such Points of View—Taking a synthetic view Dharma or Religion in India embraces in its connotation on the one hand spiritual and transcendental experience of a mystic of rigorous discipline and on the other a set of practical rules to guide a society of people pursuing the same spiritual ideal.¹ It is this aspect of the situation that necessitates such points of view; and in Jainism, whose approach to reality is mainly analytical, they occupy a consistent position. Vyavahāra view-point refers to the loquacious level of rationalism, while Nīścaya refers to intuitional experiences arising out of the deeper level of the self. According to Jainism a householder and a recluse have their spheres dependent on each other and supplementing each other's needs with the ultimate spiritual realization in view; so are Vyavahāra and Nīścaya points of view. Just as every householder submits himself to Sannyāsa or renunciation and realizes his spiritual aim, so ultimately Vyavahāra is discarded in favour of Nīścaya.²

Similarities Elsewhere—*Muṇḍakōpaniṣad* (I. 4-5) says that there are two kinds of knowledge: Aparā vidyā and Parā vidyā; the former consists in the knowledge of Vedas and the latter in the apprehension of Imperishable Brahman. This distinction amounts to the difference between intellectual and intuitional apprehension of reality, and can be favourably compared with

1 Amṛtacandra, in his Commentary on *Samayasāra* 12, quotes a beautiful verse from an unknown source which indicates the relative importance of these view-points:

jai Jīṇamayam pavajjaha tā mā vavahāra-nicchayaṃ muyaṃ |
ekkeṇa viṇā chijjai tittam annēṇa uṇa taccam ||

This very verse is quoted by Jayasena with some dialectal difference on *Samayasāra* 235 (RJS. Ed. p. 328).

2 In early Jaina literature, both canonical and pro-canonical, this distinction is already accepted (see my Intro. to *Pravacanasāra* p. 86 and foot-notes). Sometimes Yogīndu uses the word Paramārtha for Nīścaya which word is already used by Kundakunda in his *Samayasāra* 8.

the above points of view. Buddhism accepts the distinction of partial truth (*samvṛti-satya* or *vyavahāra-satya*) and absolute truth (*paramārtha-satya*).¹ Śāṅkarācārya too often appeals to Vyavahāra and Paramārtha points of view. Echoes of such a distinction are seen in some modern definitions of religion which William James recognizes two aspects, viz, Institutional and Personal.²

Their Relative Values—Vyavahāra view-point is useful and essential so far as it leads to the realistic view-point. Vyavahāra by itself is insufficient and can never be sufficient. The simile of a cat can serve our purpose as long as we have not seen the lion. As to their relative value Amṛtacandra nicely puts it thus ; Alas, the Vyavahāra point of view may be perchance a support of the hand for those who are crawling on the primary stages of spiritual life, but it is absolutely of no use to those that are inwardly realizing the object, the embodiment of sentience, independent of anything else.³

2. Three Aspects or Kinds of Ātman—Ātman is of three kinds : External (*bahirātman*), Internal (*antarātman*) and Supreme (*paramātman*). It is ignorance to take the body for the soul. So a wise man should consider himself as an embodiment of knowledge distinct from the body, and thus being engrossed in great meditation should realize Paramātman. It is the Internal by leaving everything External that becomes Supreme (I. 11-15).

The Threefold Individuality—The subjective personality demands as much patient study from a mystic as the objective existence from a scientist. A mystic projects his process of analysis inwards, and therein he realizes the reality of his self by eschewing everything else that has a mere appearance of it. Taking the individual for analysis what is more patent or what strikes an observer is his physical existence, his body; but the real individual is not this body. Body is merely a concrete figuration temporarily acquired by the soul or spirit; it is merely the external of the individuality. To realize the individuality one has to go inwards and try by the process of meditation to apprehend the sentient personality, which is the internal individuality. There is a huge multitude of internal spirits, the destiny of each determined by the Karman which is crippling its abilities. When all the Karmas are completely destroyed by penances, the Ātman, the internal individual, reaches the plane of supreme individual, eternal and characterised by infinite knowledge and bliss. Supreme individuality is a type, a level of spiritual freedom. The various Ātmans retain their individualities even when they reach this level : there is no question of the loss of individuality any time. The body is not Ātman; and every Ātman when absolutely free from Karman, becomes a Paramātman which condition is the culmination of

1 ERE. IX, p. 849, X. p. 592; Dāsgupta : *A History of Indian Phil.*, vol II p. 3 etc.

2 *The Varieties of Religious Experience*. p. 28.

3 *Samayasāra-kalāḥa* on *Samayasāra*, 12.

spiritual evolution never to revert. This three-fold division is based on the idea that spirit and matter are two independent categories though associated with each other since eternity.

Earlier Authors on this Division—Yogīndu is not the first to give this division. In many of his passages Kundakunda (c. beginning of the Christian era) has this division in view which is discussed by him in his *Mokkhaṇḍa*¹ Then Puṇyapāda (c. last quarter of the 5th century A.D.) discusses this very subject in his *Samādhisataka* in a very lucid manner.² Then many of the later authors like Amṛtacandra, Guṇabhadra, Amitagatī etc., have always this division in view in their discussions about Ātmajñāna.

Counterparts Elsewhere—The doctrine of Ātman plays an important part in Upaniṣads, though it is conspicuously absent in earlier stages of Vedic literature. Outside the circle of the priests, who devoted all their energies to sacrificial ritual, there was a class of hermits and ascetics who devoted much of their time to this Ātmavidyā for which great zeal is shown in Upaniṣads and later literature. An earnest search after Ātman was instituted, and we find various attempts to analyse the individuality. It is in the Upaniṣadic texts of Group Three that a serious pursuit of Ātmavidyā, i.e., the introspective knowledge of Ātman, is seen.³ *Taittirīyopaniṣad* speaks of five sheaths, each called an Ātman one within the other: Annarasamaya, constituted of food-essence; Prāṇamaya, constituted of vital breath; Manomaya, constituted of thought; Vijñānamaya, constituted of consciousness; and Ānandamaya, constituted of bliss. Then *Kaṭhōpaniṣad* (I. III, 13) enumerates three kinds of Ātman; Jānātman, Mahadātman and Śāntātman possibly with Sāṃkhya terminology in view. Deussen, with *Chāndōgya* 8. 7-12 in view, deduces three positions of the Ātman: the corporal self, the individual soul and the supreme soul. More than once Upaniṣadic passages distinguish the body from the soul. The distinction of Jīvātman and Paramātman in Nyāya Vaiśeṣika is quite famous. Coming to later period, Rāmadāsa speaks of four kinds of Ātman: Jīvātman, one limited to the body; Sivātman, one that fills the universe; Paramātman, one that fills the space beyond universe; and Nirmalātman, one who is pure intelligence without spatial connotation and without taint of action; but all these, according to Rāmadāsa, are ultimately one.⁴

3. Spiritual Knowledge—Knowledge of Ātman, when achieved, puts an end to the round-of-rebirths (I. 10, 32). Everything that is foreign must be given up, and Ātman must be known by Ātman whereby Karman is destroyed (I. 74, 76). By meditating on the pure Ātman liberation is immediately

1 Ed. MDJG., vol. XVII, pp. 304-79, gāthās 5-8 etc.

2 Ed. SJG., vol. I, pp. 281-96.

3 Belvalkar & Ranade : *History of Indian Phil.*, vol. II, p. 370, also p. 135.

4 Ibidem, vol. VII, *Mysticism in Maharashtra*, p. 386.

attained. Without self-realization, study of scriptures and practice of penances are of no avail. When the self is known, the whole world is known reflected in the self (I. 98, etc.). This knowledge of the self, as an embodiment of knowledge, destroys Karman and leads to infinite happiness (II. 76, 158, etc.)

Nature of Ātman or Spirit—Ātman, though dwelling in the body, is absolutely different from the body: clothes are not the body, so body cannot be the spirit (I. 14, 33, II. 178. etc.). Ātman is nothing but sentience (I. 92). Of the six substances Jīva or soul is the only sentient entity: it is non-concrete (*amūrta*), an embodiment of knowledge and of the nature of great bliss (II. 17-8, I. 73). Ātman is eternal and uncreated though undergoing different modifications (I. 56). Ātman is a substance; Darśana and Jñāna are his qualities; and the conditions in the four grades of existence are his modifications occasioned by Karman (I. 58). Ātman is like a lame man. It is Vidhi or Karman that sets him in motion. (I. 66). It is the presence of the soul in the body that is the spring of activity of senses (I. 44). Birth, death, disease, sex, caste, colour, etc., belong to the body and not to the soul which is really ageless and deathless (I. 70, etc.). Ātman is omnipresent in the sense that his omniscience functions everywhere; he is *jaḍa* (i.e., without any functions) in the sense that his senses do not function after self-realization; he is of the same size as that of the body, because finally he is of the same shape as his last body; and he is *tūnya* in the sense that he is void of all the Karmas and other faults (I. 50-6). Ātman in view of the space-points is co-extensive with the body, but by his knowledge he pervades the whole space (I. 105). Ātman should be meditated upon as being outside eight Karmas, as free from all the faults and as an embodiment of Darśana, Jñāna and Cāritra (I. 75). Souls should not be differentiated from each other; all of them are embodiments of knowledge, all of them really free from birth and death, all of them equal so far as their spatial extension is concerned, and all of them are characterised by Darśana and Jñāna (II. 96-8).

Nature of Paramatman or Super-spirit—Paramātman dwells in Liberation at the top of three worlds, and Hari and Hara meditate on him. he is eternal, stainless and an embodiment of knowledge and bliss. He is above sense-perception and free from merit and demerit or Punya and Pāpa (I. 16, 25 etc.). Pure meditation alone can realize him. The meditating saints when they are established in equanimity, have this Paramātman revealed to them giving great bliss (I. 35). Paramātman cannot be visualized in a heart or mind tainted with attachment like an image in a mirror with soiled surface (I. 120). He represents infinite vision, knowledge, bliss and power (I. 24). Paramātman is in the world (at the top of it); and the world is there (reflected) in him (i.e., in his omniscience) and thus he visualizes both physical and super-physical worlds. (I. 41, 5). There is no difference bet-

ween Brahman (Brahman=Paramātmān) that form one class or type having the same characteristics such as absolute Darśana and Jñāna (II. 99, 203). Paramātmān is neither perceived by senses nor understood by the study of scriptures (Veda and Śāstra); but he is the subject of pure meditation (I.23). This Paramātmān is also called Brahman, Para-Brahman; Śiva, Śānta, etc. (I. 26, 71, 109, 116, 119, II. 131, 142. etc.).

Nature of Karman—Karman represents (subtle) atoms (of matter) that stick into the space-points of souls that are infatuated with and tainted by sense-pleasures and passions (I. 62). Ātman and Karman have not created each other, but they are there already united from beginningless time (I 59.) It is this Karman that brings about the various conditions like bondage, etc., for the soul; and it is Karman that fashions body and other accessories of the spirit (I. 60, 63, etc.). There are eight kinds of Karmas that obscure the nature of and mislead the spirit (I. 61, 78) The stains of Karman are burnt by the fire of meditation (I. 1, 3).

The Spirit and Super-spirit—The Ātman himself is Paramātmān, but he remains as Ātman because of special Karmas; as soon as Ātman is realized by himself, he is Paramātmān, the divinity (II. 174). In view of their essential nature the ego and the Paramātmān are the same (I. 26, II. 175, etc.). Though Paramātmān lives in body, he will never be one with the body (I. 36). When Ātman becomes free from Karman, which is of eight kinds, he develops infinite happiness which is not obtained by Indra even in the company of crores of nymphs (I. 61, 118).

Ātman and Brahman in Upaniṣads—Ātman, which indicated breath in early Vedic literature, implies in the Upaniṣads a Universal soul of which the individual soul is merely a miniature. Then follows the conception of unitary Ātman which is the source of everything else.¹ Ātman is as much a cosmic principle as the Brahman both of which are used as synonyms in many passages. Ātman is conceived as the Reality, everything besides being an illusion only. At times the actual agency etc. are attributed to Bhūtātmān who under the influence of Prakṛti becomes manifold. As a lump of iron, when buried in the bosom of earth, is reduced to earth, so the Individual Ātman is merged into Brahman. It is through delusion that the human self, the self within us, considers itself as an individual; but in fact it is identical with Brahman, the impersonal absolute. There is neither the duality nor the plurality of the self, but every personal self and impersonal Brahman are one and the same. Brahman is a magnanimous and all-pervading presence which permeates the self as well as non-self. Brahman is the only All-personality; he represents an universal, abstract and impersonal presence. This Brahman originally meant a Vedic hymn, the powerful

1 *Chāndōgya*, VII. 26.

prayer; so Brahman later on came to represent a mighty power that creates, pervades and upholds the whole range of universe. Though repeatedly attributes are denied of him, no doubt Brahman is conceived as a pure Being absolute, infinite, immutable and eternal from whom everything else derives its reality. Thus Brahman in turn is Ātman, infinite, ageless and eternal.¹

Yogindu's Super-spirit Compared with Upaniṣadic Brahman—Joṇḍu's reflections on Ātman and Paramātmā which have been constructively summarised above, deserve to be compared with Upaniṣadic utterances whose spirit is sufficiently imbued by our author, even though his details are set in the metaphysical frame-work of a heterodox system like Jainism. The word Brahman has a consistent history in Vedic literature; and in the Upaniṣads Brahman is conceived as the Absolute, one without a second. Joṇḍu freely borrows that word and repeatedly uses it in this work. Even Samantabhadra, a staunch propagandist of Jainism, uses the word Brahman in its generalised sense, viz., the highest principle, when he says: *ahimsā bhūtānāṃ jagatī viditāṃ brahma paramam*.² In the Upaniṣads the word Paramātmā is not of so much frequent occurrence as the word Brahman, though both are taken as synonyms in texts like *Nṛsiṃhottaratantra*.³ In Indian philosophical texts identity of words may not necessarily imply the identity of their sense-content. Brahman and Paramātmā are used as synonyms, because they represent the concept of an ultimate reality. According to Jainism, Paramātmā is a super-spirit representing the ultimate point of spiritual evolution of Ātman by gradual destruction of Karman through penances, etc. Each Ātman becomes a Paramātmā and retains his individuality. The Upaniṣadic Brahman is a cosmic principle, which idea is not associated with the Jaina conception of Paramātmā. Brahman is one and one only according to Upaniṣads. Joṇḍu, however, speaks of many Brahmanas, i.e., Paramātmās, which represent a type and therefore should not be distinguished from each other (II. 99). According to Jainism Paramātmā has nothing to do with the world beyond that he knows and sees it, because it is his nature to see and to know; while Brahman according to the Upaniṣads is the very source and support of everything else. Though many attributes are common between Upaniṣadic Brahman and Jaina Paramātmā their implications often differ. The word Svayambhū, for instance, means self-created and self-existent in the case of Brahman, but in the case of Paramātmā it means self-become, i.e., the Ātman has become Paramātmā.⁴

1 ERE, various articles on Ātman Brahman, etc. Paul Deussen: *The Philosophy of the Upaniṣads*; Hume: *The Thirteen Principal Upaniṣads*, Intro.: R. D. Ranade; *A Constructive Survey of Upa. Phil.*; etc. etc.

2 *Bṛhat-Svayambhū-stōtra* 119

3 G. A. Jacob: *Upaniṣad-vākyakōṣa* under Paramātmā.

4 See my Intro. to *Pravacanasāra* p. 92, foot-note 2

How Yogindu Proposes Unity—In spite of the above difference Joṇdu speaks just almost in the Upaniṣadic tone, of the identity between Paramātman by appealing to aspirants not to distinguish one Paramātman from the other, because they form a type. Upaniṣadic identity is of an uncom promising type, but Joṇdu's identity is only in name. But when Joṇdu speaks of the identity between Ātman and Paramātman he is fully justified, because according to Jainism Ātman is Paramātman. Paramātman was called Ātman only because of Karmic limitations. It is by realizing this essential likeness of all the Ātmans that Jainism has faithfully stood as a champion of Ahimsā, Harmlessness, universal compassion in thought, word and deed. In this context the Jainas like the Sāṃkhyas are Satkāryavādinś accepting that the effect is potentially present in the material cause. Upaniṣadic Brahman has a monistic and pantheistic grandeur which we miss in the Jaina conception of Paramātman. Jainism looks at the world analytically, and Ātman, moving along with the path of penance and meditation, evolves into Paramātman, where the race of the round-of-rebirths comes to a full stop; while Upaniṣads look at the world as a fundamental unity one with Brahman who is all-in-all.

Yogindu's Ātman compared with that in Upaniṣads—Joṇdu's conception of Ātman which is the same as that of Kundakunda and other Jaina authors, is like this : Ātman is a migrating entity of sentient stuff associated with Karmic energy since eternity. The world contains infinite Ātmans, the transmigratory destiny of each being determined by its Karmas. Ātman is immaterial as distinguished from Karman which is a form of matter. Though the soul assumes different bodies and acquires other physical accessories, it is essentially eternal and immortal. Its transmigratory journey comes to a stop, when Karmic matter is severed from it through penances, etc., and the Ātman is realized and becomes Paramātman. Even in liberation the soul, with all its potential traits fully developed on account of the absence of Karmic limitations, retains its individuality. So there will be infinite liberated souls. The very idea of the infinity of souls allows no question to be raised that the world might one day be empty when all the souls have attained liberation. All such souls, as dogma would require, which have become light by the destruction of Karmic weight, shoot forth to the top of the universe and stop there permanently in eternal bliss with no possibility of further upward motion as there is no medium of motion in the super-physical space. Though these details touch here and there the Upaniṣadic concepts of Ātman especially in the Group Three, there are fundamental differences. In Jainism both spirit and matter are equally real; the number of souls is infinite; and each soul retains its individuality even in Immortality. In the Upaniṣads there is nothing real

besides Ātman which is conceived as an impersonal pervasion identical with Brahman, the cosmic substratum. The Ātman in Jainism is not a miniature of any universal soul as in Upaniṣads, but it carries with it the seeds of Paramātman which status it will attain when freed from Karma-matter. In the Upaniṣads and *Bhagavadgīta* Karma stands for good or bad act, while in Jainism it is a subtle type of matter which inflows into the soul and determines its career in the round-of-rebirths. In terms of modern philosophy the soul and God according to Jainism are identical in the sense that they are two stages of the same entity, and thus each and every soul is God; while the world, which is eternal without being created by anybody, is a scene of many souls working out their spiritual destinies. But in Vedānta the soul, the world and the God are all in one, the Brahman.

The Two Distinct Tendencies—Upaniṣads represent synthetically an ‘absolute pantheism’ by merging together the Ātman theory and Brahman theory. Really these are two independent tendencies, one pluralistic and the other monistic; and one can hardly develop out of the other. The former accepts an infinite number of souls wandering in Samsāra due to certain limitations, but when these limitations are removed and their real nature realized, there is rescue, there is liberation, there is individualistic immortality; every Ātman becomes a Super Ātman. Super-Ātmans are infinite, but they represent an uniform type possessing the same characteristics like infinite vision, infinite knowledge, infinite bliss and infinite power. This Super-Ātman enjoys ideal isolation, and he has nothing to do with creation, protection and the destruction of the world. On the other hand Brahman-theory starts with Brahman as a great presence out of which everything comes and into which everything is drawn back like threads in the spider’s constitution. The individual souls are merely finite chips of the infinite block of the great Brahman. Sāṃkhya and Jainism pre-eminently stand for Ātman-theory, while the Vedic religion stands for Brahman-theory: Upaniṣads bring these two together and achieve the unity of Ātman and Brahman, a triumph of monism in the history of Indian religious thought.

4. Paramātman or the Super-spirit as the Divinity—Paramātman is the eternal Deva, divinity, that dwells in liberation at the top of three worlds never to come back in Samsāra (I. 4, 25, 33, etc.). There are infinite Siddhas, i.e., the liberated souls, who have attained self-realization and are to be meditated upon with a steady mind (I. 2, 16, 39); there are then Arahantas, the same as Tirthaṅkaras, who are on the point of attaining liberation with their four Karmas destroyed, whose words are to be accepted as authoritative, and who are to be worshipped (I- 62, II. 20, 168, 195-96. etc.); and lastly there are three classes of monks (*muni*) who practise great meditation and realize Paramātman in order to achieve the great bliss

(I. 7). It is these five Paramagurus, i.e., the great spiritual preceptors, that are to be saluted, and to whom the prayers are to be offered (I. 11, II. 168).

The Conception of Divinity Explained—Ātman to Paramātmān is a course of spiritual evolution; and it is the duty of every aspiring soul to see that it reaches the stage of Paramātmān. There are various stages on the path worked out according to the destruction or partial destruction of different Karmas. Paramātmān is the God not as a creative agency, but merely as an ideal to all the aspirants. Paramātmān is latent in the Ātman, therefore the Ātman must always meditate on the nature of Paramātmān that the potent powers thereof might be fully manifested. Paramātmāns form a class, all equal, with no classes among themselves. But a devotee, when he is studying this course of evolution, defies first a monk, or monks as a class, who has given up the world and its ties and who has completely absorbed himself in the study of and meditation on Ātman; secondly, the teacher who gives the aspirant lesson in the realization of Paramātmān; thirdly, the president of an ascetic community; fourthly, an Arhat, a Tīrthānkara, who has destroyed the four Ghāti-Karmas, who is an omniscient teacher and who attains liberation and becomes a Siddha at the end of the present life; and lastly the Siddha, the perfect soul, that has reached the spiritual goal¹. It is to these five collectively or to Arhat, or to Siddha, that the Jainas offer reverence. According to Jain dogma the number of Arhats in each cycle of time is limited, i.e., twenty-four. A soul can attain Siddha-hood without being an Arhat. Every Arhat becomes a Siddha, but not that every Siddha was an Arhat. Arhat or Tīrthānkara in his life, just preceding liberation where he becomes a Siddha, devotes some of his time to teach the path of liberation to the aspiring souls. That is why the world of aspirants feels more devotion to Arhats. Neither Arhat nor Siddha has on him the responsibility of creating, supporting and destroying the world. The aspirants receive no boons; no favours and no cures from him by way of gifts from the divinity. The aspiring souls pray to him, worship him and meditate on him as an example, as a model, as an ideal that they too might reach the same condition.

5. The World and Liberation or Saṃsāra and Mokṣa—Since infinite time the soul is dwelling in Saṃsāra experiencing great misery in the four grades of existence (I. 9-10). The association of Karmas has no beginning, and all the while heavy Karmas are leading the soul astray (I. 59, 78). Developing false attitudes the soul incurs Karmic bondage and wanders in Saṃsāra always feeding itself on false notions of reality (I. 77, etc.). It is the Karman that creates various limitations for the soul and brings about

¹ See *Davvasaṅgaha* 50-54, also commentary thereon by S. C. Ghoshal, SBJ, vol. I, pp. 112 etc.

pleasures and pain (I. 63, etc.). Mokṣa, Nirvāṇa or liberation consists in getting released from the Karmas, both meritorious and demeritorious (II. 63). The souls that have attained liberation dwell in the abode of Siddhas at the top of the world (II. 6, 46, etc.). Mokṣa is the seat of happiness wherein the liberated soul possesses all-vision, all-knowledge, etc.; and it is the best object of pursuit (II. 3, 9-11, etc.). Samsāra is destroyed by the vision of Paramātman and Nirvāṇa attained; so the mind should always be set on Ātman who is potentially (*śaktirūpāṇa*) Paramātman (II. 33, I. 32, I. 26, see also I. 123*3). One must rise above attachment and aversion and be engrossed in one's self to stop the influx of Karmas (II. 38, 100, 141, etc.). Penance is quite necessary to destroy the Karmas (II. 36).

Explanatory Remarks—Samsāra and Mokṣa are the two conditions of the Ātman, and they are opposed to each other in character : Samsāra represents unending births and deaths, while Mokṣa is the negation of the same. In the former state the soul being already in the clutches of Karman is amenable to passional and other disturbances; and there is constant influx and bondage of Karman which makes the soul wander in different grades of existence, namely, hellish sub-human, human and heavenly. As opposed to this there is Mokṣa, sometimes called the fifth state of existence, which is reached by the soul, passing through the fourteen stages of Guṇasthānas, when all the Karmas are destroyed. In Samsāra the various Karmas were obscuring the different potent powers of the self; these powers are manifested in liberation where the Ātman, now called Paramātman, dwells all by himself endowed with infinite vision, knowledge, bliss and power.

6. The Means of Attaining Mokṣa—Right faith, Right knowledge and Right conduct really speaking consist respectively in seeing, knowing and pursuing oneself by oneself. Ordinarily these might be taken as the cause of Mokṣa, but in fact Ātman himself is all the three (II. 12-4). From the practical point of view Right faith consists in steady belief in the true nature of Ātman resulting from the knowledge of various substances exactly as they are in the universe (II. 15); that condition or state of the self which understands the substances exactly as they are is known as knowledge (II. 29); and lastly the cultivation of that genuine and pure state of the self after fully realizing and discriminating the self and the other (than the self) and after giving up (attachment for) the other is known as Right conduct (II. 30). Ultimately these three jewels are to be identified with one's self, and one should meditate on one's self by oneself which results in self-realization amounting to the attainment of liberation (II. 31).

Explanatory Remarks—Here Joṇḍu mentions the so-called three jewels of Jainism which from the Vyavahāra point of view constitute the path of liberation. These three are to be developed in the Ātman himself and not

outside; therefore that condition itself from the Nīścaya point of view is the cause of Mokṣa.¹ This condition is a spiritual attitude which tolerates no more any contact with Karmic matter, and thus the Ātman is Paramātmā without being anything else.

7. The Great Meditation—The great Meditation (Parama-samādhi) is defined as the elimination of all the mental distractions; and therein the aspirant is above auspicious and inauspicious attitudes (II. 190). In the absence of this great meditation severe practices of penances and the study of scriptures will not lead one to self-realization (I. 14, 42, II. 191). By submerging oneself in the pond of great meditation, the Ātman becomes pure, and the dirt of round-of-rebirths, (i.e., Karman) is washed off (II. 189). As long as one is plunged in this meditation there is the stoppage of the influx and the destruction of the stock of Karmas (II. 38). Successful meditation does not so much consist in closing the eyes, half or complete, as in remaining steady without being prone to disturbances (II. 169-170); and it should be distinguished from mere utterance of Mantras, etc., (I. 22). The great meditation, which belongs to great saints, is like a huge fire in which are consumed the faggots of Karman (I. 3, 7); therein all the anxieties are set at rest and the pure (*nirāñjana*) divinity is realized (I. 115). There are two stages of this great meditation: the first that of Arahantas, wherein the four Ghāti Karmas are destroyed and where the soul possesses omniscience and all-bliss, etc.; and then the second, that of Siddhas, where all the Karmas are destroyed at a stretch, where infinite Darśana, Jñāna, Sukha and Virya are developed, and where one deserves such designations as Hari, Hara, Brahman, Buddha, etc., (II. 195-201, etc.).

Mystic Visions—Undoubtedly the constitution of Paramātmā shines with the light of omniscience like the light of the sun enlightening itself and other objects; and the saints who are established in equanimity experience great bliss for which there is no parallel elsewhere (I. 33-35, 101, 116). Within a moment after self-realization there flashes forth a great light (I. 104). The speciality of self-realization is that the whole world is seen in the Ātman (I. 100). The great divinity is seen to dwell, like a swan on the surface of lake in the pure mind of the Jñānin (I. 122). The Paramātmā shines forth like the sun in a cloudless sky (I. 119).

Explanatory Remarks on the Great-Meditation—Here we get an enthusiastic description of Mahāsamādhi without the technical details which we find in works like *Jñānārṇava*, *Yogośāstra*, *Tattvānuśāsana*, etc. To achieve such a meditation in which Ātman is realized as Paramātmā the steadiness of mind is absolutely necessary: there should be no delusion, no attachment for

1 Also compare *Davvasaṅgaha* 37 and Ghoshal's commentary thereon.

pleasant feelings and no aversion from unpleasant ones. The mind, speech and body should cease to function, and the Ātman should be concentrated on himself¹. In this course two stages are noted : Siddhahood and Arhatship. A soul may reach the condition of a Siddha by destroying all the Karmas at once, and majority of souls are destined for this. The Tīrthankara devotes some of his time for preaching the religious doctrines, while Siddha has minded his own business of spiritual realization; the former thus is of greater benefit to the society. The difference between these two types of self-realized souls somewhat corresponds to that between activist and quiescent tendencies of mystics.

8. Some Aspects of Mysticism—It is not easy to define mysticism exactly in plain terms. First to a great extent, it 'denotes an attitude of mind which involves a direct, immediate, first-hand, intuitive apprehension of God.'² It is the direct experience of the mutual response between the human and the divine indicating the identity of the human souls and the ultimate reality. Therein the individual experiences a type of consciousness of perfect personality. In the mystical experience the individual is 'liberated and exalted with a sense of having found what it has always sought and flooded with joy.' Secondly, mysticism, if it is to be appreciated as a consistent whole, needs for its background a metaphysical structure containing a spirit capable of enjoying itself as intelligence and bliss and identifying itself with or evolving into some higher personality, whether a personal or an impersonal Absolute. Thirdly, if mysticism forms a part of a metaphysico-religious system, then the religious system must chalk out a mystic course of attaining identity between the aspirer and the aspired. Fourthly, the mystic shows often a temperamental sickness about the world in general and its temptations in particular. Fifthly, mysticism takes for granted an epistemological apparatus which can immediately and directly apprehend the reality without the help of mind and senses which are the means of temporal knowledge. Sixthly, religious mysticism always prescribes a set of rules, a canon of morality, a code of virtues which an aspirant must practise. And lastly mysticism involves an amount of regard to the immediate teacher who alone can initiate the pupil in the mystical mysteries which cannot be grasped merely through indirect sources like scriptures, etc.³

Mysticism in Jainism—An academic question whether mysticism is

1 Compare *Davvasaṃgaha* 48 and 56.

2 R. D. Rānade : *Mysticism in Maharashtra*, Preface.

3 William James : *The Varieties of Religious Experience*, especially the chapter on Mysticism; ERE, the article on Mysticism etc, Belvalkar and Rānade : *History of Indian Phil.* vol. VII, *Mysticism in Maharashtra*; Rudolf Otto : *Mysticism, East and West*; etc etc.

possible or not in a heterodox system like Jainism is out of court for the simple reason that some of the earliest author-saints like Kundakunda and Pujyapāda have described transcendental experiences and mystical visions.¹ It would be more reasonable to collect data from earlier Jaina works and see what elements of Jainism have contributed to mysticism, and in what way it is akin to or differs from such a patent mysticism as that of monistic Vedānta. To take a practical view the Jaina Tīrthāṅkaras like Ṛṣabhadeva, Neminātha, Pārśvanātha, Mahāvīra, etc., have been some of the greatest mystics of the world; and rightly indeed Professor Ranade designates Ṛṣabhadeva, the first Tīrthāṅkara of the Jainas, as 'yet a mystic of different kind, whose utter carelessness of his body is the supreme mark of his God-realization'² and gives details of his mystical life. It would be interesting to note that the details about Ṛṣabhadeva given in *Bhāgavata* practically and fundamentally agree with those recorded by Jaina tradition.

Various Elements of Mysticism in Jainism—Monism and theism, rather than theistic monism, have been detected as the fundamental pillars of mysticism. In the transcendental experience the spirit realizes its unity or identity with something essentially divine. 'Mystical states of mind in every degree,' William James says, 'are shown by history usually though not always, to make for the monistic view.' Thus mysticism has a great fancy for monistic temperament; and in Vedānta it is seen at its best in the conception of All-in-all Brahman, who represents an immanent divinity. Spiritual mysticism of Jānādeva, however, reconciles both monism and pluralism by preserving 'both the oneness and manyness of experience.'³ The Jaina mysticism turns round two concepts : Ātman and Paramātman, which we have studied above. It is seen that Paramātman stands for God, though never a creator, etc. The creative aspect of the divinity, I think, is not the sine qua non of mysticism. Ātman and Paramātman are essentially the same, but in Saṁsāra the Ātman is under Karmic limitations, and therefore he is not as yet evolved into Paramātman. It is for the mystic to realize this identity or unity by destroying the karmic encrustation of the spirit. In Jainism the conception of Paramātman is somewhat nearer that of a personal absolute. The Ātman himself becomes Paramātman, and not that he is submerged in the Universal as in Vedānta. In Jainism spiritual experience does not stand for a divided self achieving an absolute unification, but the bound individual expresses and exhibits his potential divinity. Early texts like *Kammappayodī*, *Kasāya-* and *Kamma-pāhuḍa*, *Gōmmaṭasāra*, etc., (with their commentaries) give elaborate tables with minute details how the soul, follo-

1 Especially in his *Samaya-sāra*; see my remarks on it. *Pravacanasāra* Intro. p. 47 etc.

2 R. D. Ranade : *Mysticism in Maharashtra* p. 9.

3 *Mysticism in Maharashtra* p. 197

wing the religious path, goes higher and higher on the rungs of the spiritual ladder called Guṇasthānas, and how from stage to stage the various Karmas are being destroyed. The space does not permit me to give the details here, but I might only note here that the whole course is minutely studied and recorded with marvellous calculations that often baffle our understanding.¹ Some of the Guṇasthānas are merely meditational stages, and the subject of meditation too is described in details. The aspirant is warned not to be misled by certain Siddhis, i.e., miraculous attainments, but go on pursuing the ideal till Ātman is realized. The pessimistic outlook of life, downright denunciation of the body and its pleasure and hollowness of all the possessions which are very common in Jainism indicate the aspirant's sick-minded temperament which is said to anticipate mystical healthy-mindedness. In the Jaina theory of knowledge, three kinds of knowledge are recognised where the soul apprehends reality all by itself and without the aid of senses : first, Avadhijñāna is a sort of direct knowledge without spatial limitation, and it is a knowledge of the clairvoyant type; secondly, Manahparyāya-Jñāna is telepathic knowledge where the soul directly apprehends the thoughts of others; and lastly, Kevala-jñāna is omniscience by the attainment of which the soul knows and sees everything without the limitation of time and space. The last one belongs only to the liberated souls or to the souls who are just on the point of attaining liberation with their Jñānavarāṇīya-Karman destroyed, and thus it is developed when Ātman is realized. Jainism is pre-eminently an ascetic system. Though the stage of laity is recognised, everyone is expected to enter the order of monks as a necessary step towards liberation. Elaborate rules of conduct are noted and penancial courses prescribed for a monk;² and it is these that contribute to the purity of spirit. A Jaina monk is asked not to wander alone lest he might be led astray by various temptations. A monk devotes major portion of his time to study and meditation; and day to day he approaches his teacher, confesses his errors and receives lessons in Ātmavidyā or Ātma-Jñāna directly from his teacher. The magnanimous saint, the Jaina Tīrthāṅkara, who is at the pinnacle of the highest spiritual experience, is the greatest and ideal teacher; and his words are of the highest authority. Thus it is clear that Jainism contains all the essentials of mysticism. To evaluate mystical visions rationally is not to value them at all. These visions carry a guarantee of truth undoubtedly with him who has experienced them, and their universality proves that they are facts of experience. The glimpses of the vision, as recorded by Yogīndu, are of the nature of light or of white brilliance. Elsewhere too

1 We can have some idea about these details from Glasenappa's *Die Lehre vom Karman in der Philosophie der Jainas nach den Karmagranthas dargestellt*, Leipzig 1915.

2 In works like *Ācārāṅga*, *Mūlācāra*, *Bhagavatī Ārādhanā*, etc.

we find similar experiences. It may be noted in conclusion that the excessive rigidity of the code of morality prescribed for a Jain saint gives no scope for Jain mysticism to stoop to low levels of degraded Tāntricism.¹ It is for this very reason that we do not find the sexual imagery, so patent in Western mysticism, emphasized in Jainism, though similes like *muktikānta* are used by authors like Padmaprabha. Sex-impulse is considered by Jain moralists as the most dangerous impediment on the path of spiritual realization, so sensual consciousness has no place whatsoever in Jain mysticism.² The routine of life prescribed for a Jain monk does not allow him to profess and practise miracles and magical feats for the benefit of householders with whom he is asked to keep very little company,

9. Dogmatical and Philosophical Accessories of Author's Discussion

—Jīva and Ajīva are essentially different from each other, and one should not be identified with the other (I. 30). The pure Jīva has no mind and no senses; it is mere sentiency and an embodiment of knowledge; it is non-concrete and above sense-perception; and different from this is the non-sentient class of substances, namely, matter, Dharma, Adharma, time and space (I. 31, II. 18, I. 113). From eternity the soul in Samsāra is in union with Karman (of eight kinds) which represents subtle matter of the non-sentient class (I. 55, 59, 61, 62, 75, 113). There are two kinds of worldly Jīvas : Samyag-dṛṣṭi; and Mit-hyā-dṛṣṭi; the former, the faithful one, realizes himself by himself and thus becomes free from Karmas; while the latter, an Ugly soul, is attached to Paryāyas (i.e., modes or appearances of things) and thereby wanders in Samsāra incurring the bondage of various Karmas (I. 77, 78). The three worlds stand compact with six substances, namely Jīva, Pudgala, Dharma, Adharma, Kāla and Ākāśa, which have neither beginning nor end. Of these Jīva alone is sentient and the rest are non-sentient. Pudgala or matter is concrete and of six kinds, while the remaining are non-concrete. Dharma and Adharma are the neutral causes of conditions of motion and rest of the moving bodies. Nabhas or space accommodates all the substances. Kāla or time is a substance characterised by continuity or being; it is an accessory cause of change when things themselves are undergoing a change; and it is of atomic constitution with separate units. Dharma, Adharma and Ākāśa are indivisible and homogeneous wholes. Jīva and Pudgala alone have movement and the rest are static. Ātman, Dharma and Adharma occupy innumerable space-points; Ākāśa, which gives accommodation to all the substances, has infinite space-points; while Pudgala or matter has manifold space-points. Though they

1 R. D. Rānade : *Mysticism in Maharashtra* p. 7.

2 Prof Rānade remarks 'Spirituality is gained not by making common cause with sexuality, but rising superior to it' (Ibid. p. 10)

exist together in the physical space (*lakakata*), they really exist in and through their attributes and modes. These various substances fulfil their own functions for the embodied souls that are wandering in Samsāra (II. 16-26).¹

10. Evaluation of Puṇya and Pāpa, or Merit and Demerit—Paramātman is above Puṇya and Pāpa (I. 21). Puṇya results from devotion to deities, scriptures and saints, while Pāpa results from hatred towards the same (II. 61-62). By treating both alike one can stop the influx of Karman; it is infatuation that makes one pursue one or the other (II. 37, 53). Puṇya ultimately results into Pāpa, so one should not be after it (I. 60). Pāpa leads to hell and sub-human births; Puṇya leads to heaven; and the admixture of both leads to human birth. When both Puṇya and Pāpa are destroyed there is Nirvāṇa (II. 63). To choose between the two, Pāpa is preferable, because tortures in hell, etc., might induce one towards liberation; the pleasures given by Puṇya ultimately terminate in misery (II. 56-7, etc.). Repentance, confession, etc., bring only merit (II. 64). Puṇya and Pāpa have their antecedents in the auspicious and inauspicious manifestations of consciousness; but a Jñānin, a man of knowledge, rises above these two and cultivates pure manifestation of consciousness which incurs no Karmic bondage at all (II. 64, 71 etc.).

Explanatory Remarks—Activities of mind, speech and body set in a sort of vibration in the very constitution of the self (*ātma-pradēśa-parispandah*) whereby the Karmic matter inflows into the soul. This influx, if it is Śubha or auspicious, brings Puṇya, meritorious Karman;² if Aśubha or inauspicious, it brings Pāpa, demeritorious Karman. Whether there is Puṇya or Pāpa, it means that the presence of Karman is there. So the aspirant, who aims at liberation from Karmas by realizing himself, cannot afford to be attached even to Puṇya which leads the soul to heavens that are a part of Samsāra. Puṇya is compared with golden fetters and Pāpa with iron ones: it is a very significant comparison. One who hankers after freedom makes no distinction between golden and iron fetters: he must cut both in order to be free. In that temperament which leads to liberation 'the very concert of virtues,' in the words of Plotinus, is over-passed'.

11. Importance of Knowledge—Ātman is an embodiment of knowledge which flashes forth in full effulgence in the state of Paramātman (I. 15. 33). Knowledge is the differentia of the Ātman (I. 58). When Ātman is known, everything else is known: so Ātman should be realized by the strength of knowledge (I. 103). Ajñāna can never know Paramātman, the embodiment of knowledge (I. 109). Like stars reflected in clear water the

1 For a comparative study of these details with those in other systems of Indian philosophy, see my Intro. to *Pravacanasāra* pp 62 ff.

2 *Tattvārthasūtra*, VI. 1-4.

whole universe is reflected in the knowledge of Paramātmān (I. 102). No doubt, liberation is attained by knowledge; souls devoid of knowledge wander long in Samsāra. The seat of liberation is not accessible without knowledge; the hand can never be greasy by churning water (II. 73-4). Attachment, etc., melt away by the knowledge of self like darkness by sun-rise (II. 76). Ātman, the embodiment of knowledge is the highest object for concentration; he who knows emerald will never pay attention to a piece of glass (II. 78).

Attitude Towards the fruit of Karman—The various Karmas, when they are ripe, give their fruits. When the fruits are being experienced, he who develops auspicious and inauspicious attitudes incurs the bondage of fresh Karmas. But that equanimous saint, who does not develop any attachment when experiencing the fruits of Karmas, incurs no bondage and his stock of Karman melts away (II. 79-80).

12. Mental and Moral Qualifications of an Aspirant—This body, which is absolutely different in nature from the soul, deserves nothing but, criticism (I. 13, etc., 71-2). It is all impure and easily perishable; it gets rotten when buried and is reduced to ashes when burnt; so nourishment and toilet are a mere waste (II. 147-48, etc). It brings no happiness, but only misery, so an aspirant must be completely indifferent towards this body which is an enemy of the self (II. 151-53, 182, etc.). Attachment for everything external must be given up, and one must be completely engrossed in the nature of Ātman (I. 15, 18). Vanity of physical and communal or social specialities has sway over only a foolish person (I. 80-3). All paraphernalia (*parigraha*), external and internal, like mother, house, pupil, etc., and like infatuation, etc., is a deceptive net-work that entraps and leads the Ātman astray (I. 83, II. 87, etc.). To accept any paraphernalia after once it is given up is like eating the vomit (II. 91). Pursuing the paraphernalia with infatuation, the Ātman revolves in Samsāra (II. 122, etc). When the body does not belong to oneself, what to say of other things; family is a net-work neatly decorated by Death (II. 144-45). Everything else such as body, temple, idol, scripture, youth, house, attendants, etc., besides the Ātman is transitory; and as such one should not be attached to things other than the self (II. 129-32). Non-attachment is the highest virtue for a spiritual aspirant; so the mind must be curbed back from attachment, tastes and sights, etc., and concentrated on Paramātmān (I. 32, II. 172). The aspirant, the great monk, should be free from attachment and aversion; even a particle of attachment hinders self-realization; the attitude of equanimity (*samabhava*), which easily leads one to liberation, consists in eschewing these two (II. 52, 80-81, 100, etc.). It is merely a self-deception to pull out hair with ashes, if attachment is not given up (II. 90). Attitude of equanimity is a source of spiritual bliss, and it arises out of right comprehen-

sion of reality (II. 43, etc.). One who is endowed with this attitude treats all beings alike (II. 105). Even the company of a person who is not equanimous is harmful (II. 109). Addiction to the pleasures of senses involves Karmic bondage (I. 62). There can be no place for Brahman when the mind is occupied by a fawn-eyed one; two swords cannot occupy the same scabbard (I. 121). Moths, deer, elephants, bees and fish are ruined respectively by light, sound, touch, scent and taste; so one should not be attached to these (II. 112). The camels of five senses knock the soul down into Samsāra after grazing the pasture of pleasures (II. 136). A great monk is absolutely indifferent to sense-pleasures for which he has neither attachment nor aversion (II. 50). These pleasures last for a couple of days only, so their leader, namely, the mind should be brought under control whereby they are all captured (II. 138, 140, etc.). Pleasures of senses and passions ruffle the mind, and then the pure Ātman cannot be realized (II. 156). The soul under the sway of passions loses all self-control and renders harm unto living beings which leads the soul to hell (II. 125-127). Infatuation and consequent passions must be given up (II. 41-42). Infatuation and greed are the fertile sources of misery (II, III-13, etc.) Mere outward practices such as reading scriptures, the practice of austerities and visiting holy places by ignoring self-control, are of no avail (I. 95 II. 82-3, etc.). Dangerous are the activities of mind, speech and body: the mind should be brought under self-control and Bhāvasuddhi, i.e., the purity of mind, must be cultivated (II. 137). It is by cultivating pure manifestation of consciousness that the soul develops various virtues and ultimately destroys Karman (II. 67). This body is useless if Dharma in its practical and realistic aspects is not practised (II. 133-34).

f) Apabhramśa of P.-Prakāśa and Hema's Grammar

Apabhramśa and its General Characteristics—By the term Apabhramśa we mean a typical stage of Indo-Āryan speech, as described by Hemacandra in his Prākṛit grammar, which takes Prākṛit for its basis, which is older than Indo-Āryan modern languages, and which possesses many traits that have been inherited by Indo-Āryan speeches of the present-day, though there are no sufficient evidences to suppose that every where it was a necessary step towards the formation of modern languages and that there were as many Apabhramśas as there are languages at present. From the available specimens of Apabhramśa literature it appears that Apabhramśa was accepted as a language fit for popular poetry, and as such it appears to have had local variations besides some common characteristics. Hemacandra optionally accepts many Prākṛit features in his Apabhramśa. Some of his illustrative quotations in Apabhramśa are really in Prākṛit excepting for a

word or a form¹ However, there are clear indications that attempts are made in Apabhramśa to simplify Prakrit in various ways which would be partly clear by noting the special features of Apabhramśa. i) In Apabh. vowels are interchanged and an amount of liberty is taken with regard to the quantity of vowels: this explains the termination like *ha* ~ or *hu* ~ and *he* or *hu* for one and the same case and the shortening of Nom.sg. *ṛ* of the standard Prakrit into *u* which comes to be added to many words in Apabh. as seen from words like *puṇu*, *viṇu*, *sahu*, etc. ii) There is a less masculine pronunciation of *m* which often becomes nasalised *v*. iii) There is a tendency to change *s* into *h* in the Declensional terminations. This explains some of the queer forms: Nom. pl. form *dāvahā* noted by Mārkaṇḍeya and others is either to be traced back to Vedic *dāvasaḥ* or it is a generalisation from forms like *candramasaḥ*; *dāvahā* from Pk. *dāvassa*; *tāhā* from *tassa* simplified as *tasa* whose counterpart *tāsu* also is used in Apabh.; *tahī* from *taṁsi*; and *zhu* from *ṣa*. Sanskrit *s* is seen as *h* in Avesta and in Iranian dialects. This change is noted by Hemacandra in a few Prakrit words, and it is in Māgadhī alone that it is seen in Gen. terminations.² Even at present a Gujarātī dialect uniformly reduces *s* to *h*. It is possible that this change is a racial characteristic that came to be generalised later on. iv) Prakrit conjuncts are often smoothened to simplify pronunciation. v) Case terminations are dropped in Nom. Acc. and Gen.; here is a tendency to become non-inflexional. vi) The phonetic changes influence the conjugational forms which are being simplified and reduced in number. vii) Indeclinables and particles have changed their forms often beyond recognition, and in some cases they cannot be traced back to Sanskrit through Prakrits possibly being drawn from vernaculars or Deśabhāṣās. viii) Svārthe or pleonastic affixes like *ka*, *ḍa*, *la*, etc., are seen in many words. ix) And lastly there is an abundance of Deśi words and Dhātvaḍeśas.

Attraction of Apabh. Speech—On the whole there is a liquidity and smoothness about the flow of Apabh. verses which show many new metres based not on the number of syllables but on the quantity of mātrās, which can be better sung; and which are characterised by plenty of rhyme.³ It is no wonder, therefore, that Apabh. was a favourite medium of popular poetry as early as 6th century A.D. if not even earlier. Guhasena of Valabhī, whose epigraphic records range from 559 to 569 A.D., is said to have composed poems in Sanskrit, Prakrit and Apabh. Uddyotanasūri (778 A.D.)

1 See, for instance, *sōsāu ma*, etc. on iv. 365; *kheddayam*, etc., on iv. 442; Ludwig Alsdorf: Bemerkungen zu Pischel's 'Materialien', etc., in *Festschrift M. Winternitz*, pp. 29-36.

2 See i. 262-3, iv. 229-300; Pischel's: *Grammatik der Prakrit-sprachen* §264.

3 The Sanskrit style of poets like Jayadēva betrays Apabhramśa influence.

holds Apabh. in great estimation, and his remarks on these languages are worth noting. In his opinion, Sanskrit with its long compounds, indeclinables, prepositions, cases and genders is dangerous for survey like the heart of a villain. The association with Prākṛit, like that with the words of good people, is a happy one: It is an ocean of worldly information crowded with the waves of discussion about various arts: It is full of nectar-drops that are oozing out on account of its being churned by great persons: and it is composed with nice arrangements of words. Apabhraṁśa is a balanced and pleasing admixture of the waves of pure and impure Sanskrit and Prākṛit words; it is even (or smooth) as well as uneven (or unsmooth); it flows like a mountain river flooded by fresh rains; and it captures the mind like the words of a beloved when she is coquettishly angry.¹ These remarks of Uddyotana, himself a classical author having high admiration for earlier Sanskrit writers like Jaṭila and Raviṣeṇa,² clearly show how Apabh. was already considered as an attractive medium of composition as early as 8th century A.D.

Hemacandra Indebted to P.-prakāśa—Of all the available Prākṛit grammars Hema.'s grammar deals exhaustively with Apabh. and the speciality of his discussion lies in the fact that he quotes verses after verses to illustrate his rules. For a long time no sources of any of these verses were traced. **Pischel** said, 'One gets the impression that they are taken from an anthology of the kind of Sattasaī.'³ From the inherent dialectal divergences and the variety of religious terms including the names of deities, etc., exhibited by these quotations, it is certain that they are not drawn from a single source but from a wide tract of literature with works belonging to different geographical regions and different religions. It was shown by me that Hema. is indebted to P.-prakāśa for a few quotations,⁴ and Prof. **Hiralal** has pointed out that some versess are taken from *Dāhāpāhuda*.⁵ One thing is now clear that these verses are not composed by Hema. himself, and a study of Apabh. works and a survey of Old-Rājastāni and Old-Gujarāṭi songs might reveal the sources of other quotations as well. Hema. draws the following quotations from P.-prakāśa:

i) On sūtra iv. 389 Hema. quotes :

संता भोग जु परिहरइ तसु कंतहो बलि कीसु ।
तसु दइवेण वि मुंडियउं कसु खलिहडउं सीसु ॥

1 This is a free rendering of the extracts quoted by L. B. Gandhi in his Intro. to *Apabhraṁśakāvyaṭrayī*, pp. 97-8 (G. O. S. Vol. 37); see also *Apabhraṁśa-pāṭhāvalī* by M. C. Modi, p. 86 of the Notes.

2 See my paper on Varāṅgacarita in the *Annals of the B. O. R. I.*, Vol. XIV, I-II, pp. 61, etc.

3 **Pischel** : *Grammatik*, etc. §29.

4 *Annals of the B. O. R. I.*, Vol. XII, ii, p. 159, etc.

5 See his Intro. of *Pāhudaḍhā*, pp. 22-3 (KJS. III).

This is an intelligent improvement on *P.-prakāṣa* II. 139 which runs thus :

संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउँ हउँ तासु ।
सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु ॥

The change of *kijjaū* to *kīsu* is quite intelligible, if we look at the *sūtra* and its commentary : *kriyāḥ kīsu | kriyā ity ātasya kriyāpadasya apabhraṃśa kīsu ity adīṣṭa va bhavati | kijjaū* is admitted as an optional form, and we get the illustration : *bali kijjaū sūaṇassu |*

ii) On iv. 427 Hema. quotes :

जिबिदिउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नई अन्नई ।
मूलि विणट्टइ तुबिणिहे अबसे सुक्कहि पण्णई ॥

In spite of some differences there is no doubt that it is based and improved on *P.-prakāṣa* II. 140 which runs thus :

पंचहँ नायकु वसि करहु जेण होति वसि अण्ण ।
मूल विणट्टइ तरुवरहँ अबसई सुक्कहि पण्ण ॥

Some of the differences are caused by the purpose for which it is quoted, and *Pischel* notes a *v, l. mūla* which is the reading of *P.-prakāṣa*. The consecutive numbering of these two *dohās* in *P.-prakāṣa* is not without some significance; and if any inference is possible therefrom, it indicates that Hemacandra has quoted these verses directly from *P.-prakāṣa*.

iii) On *sūtra* iv. 365 Hema quotes :

आयहो दइ-कलेवरहो जं बाहिउ तं सार ।
जइ उट्ठम्मइ तो कुहइ अह डज्जइ तो छार ॥

The *dohā* from *P.-prakāṣa* II. 147 runs thus :

बलि किउ माणुस-जम्मडा देवखंतहँ पर सार ।
जइ उट्ठम्मइ तो कुहइ अह डज्जइ तो छार ॥

The second line is exactly the same; and the first line is changed because the *sūtra* '*idama ayaḥ*' is to be illustrated.

iv) Then on ii. 80 Hema. quotes a short sentence '*vaḍraha-drahaṃmi paḍiā*' which forms a part of *P.-prakāṣa* II. 117 that runs thus :

ते चिय घण्णा ते चिय सत्पुरिसा ते जियंतु जियलोए ।
बोद्धहहम्मि पडिया तरंति जे चेव लीलाए ॥

It is an important difference that Hema. retains *r* in the conjunct group which is not shown by any of our Mss. This verse is not in Apabh., and moreover it is introduced with the words *uktam ca* : so its genuineness in our text can be suspected. I think, it might have been included in the text by Jōindu himself, because even the shortest recension of *P.-prakāṣa* contains this verse.

Comparison of Hema.'s Apabh., with that of *P.-prakāṣa*—It is clear from the above paragraph that Hema. has used *P.-prakāṣa*, and forms, etc. from it must have been useful to him in composing his Apabhraṃśa rules.

So it will be necessary and interesting to compare and contrast Hema.'s Apabh. with that of *P.-prakāśa* and see first, what features of the dialect of *P.-prakāśa* are recorded by Hema.; secondly, what features of it are not represented in Hema.'s grammar; and lastly, what points noted by Hema. have not got their counterparts in *P.-prakāśa*.

On the Homogeneity of Hema.'s Apabh.—Hemacandra does not explicitly mention the dialects of Apabh. as it is done by Mārkaṇḍeya and other later authors. It has been already detected,¹ and a careful study of his remarks and rules would show that his Apabh. is not a homogeneous one and that he has mixed together different dialects. By his remark "*prāyōgrahaṇād yasyāpabhramṣē viṣṭeṣṭe vakṣyate tasyāpi kvacit prakṛtavarī śaurasēnīvac ca kāryam bhavati*" (iv. 329) understood in the light of iv. 396 and 446 as distinguished from other features noted throughout. It is clear that he accepts two bases for his Apabh., namely, Prākṛit and Śauraseni² whose characteristics he has discussed in his previous sections. The illustrations on and the sūtras iv. 341, 360, 372, 391, 393, 394, 398 (especially its alternative concession), 399, 414, 438, etc., show elements of an Apabhramṣa which is not in tune with the dialect described by him in other sūtras. Some of these characteristics, when studied in the light of Prākṛit dialects discussed by Hema., are mutually so conflicted that they are not possible in a homogeneous dialect.

Hemacandra's Apabh. Compared and Contrasted with that of *P.-prakāśa*—Hemacandra's sūtra '*svaṛāṇām svaṛāḥ prāyo pabhramṣē*' should not be understood as a licence for violent vowel changes; but it only means that in the Apabh. literature analysed by Hema. much liberty was taken in vowel-changes which could not be canonised in short, and hence this rule. In *P.-prakāśa* we do not find such vowel-changes as would obscure the sense. A bit of liberty is taken in some forms : *parim* (V. 1. *pari*) = *param* (I. 28), *vatthu* as the Loc. or Inst. sg. form (II. 180); at times the case termination *u* appears even where it is not needed as in *viṇu* (II. 59), *sahu* (II. 109); and very often the quantity of vowels, short or long, is ignored as in *jīu=jīvaḥ* (I. 40), *ṇiccu=ṇicaḥ* (I. 89), *vivariū=vipartitam* (I. 79). At times a compensatory long vowel is obtained by simplifying the duplicate remnant of a conjunct group : *tsaru*, *ṇtsu* (I. 91), *būdhau* (I. 91), *phāsat* v. 1. *pāsat* (II. 112); against this tendency we have *kacca=kāca* (II. 78), also note *ṇibhamtu* (II. 88). Hema. has noted (iv. 410) that often *e* and *o* are to be pronounced short. In our text they are necessarily short before a conjunct with the effect that North-Indian Mss.

1 Pischel : *Grammatik*, etc. §28.

2 Mr. Manomohan Ghosh of the University of Calcutta in his interesting paper 'Mahārāṣṭrī a later form of Śauraseni' (*Journal of the Department of Letters* Vol. XXIII. 1933, Calcutta University) shows that Prākṛta means pre-eminently Śauraseni, the language of the Indian Midland, of which Mahārāṣṭrī is only a later phase.

show great variations often changing them to *i* and *u*. The Kannaḍa Mss. are uniform in showing *ē* and *ō*: and that appears to be an earlier feature. It is this tendency that gives rise to forms like *pōḡgalu*.

Turning to consonants, Hāma. states (iv. 396) that intervocalic *k*, *kh*, *t*, *th*, *p* and *ph* are generally changed to *g*, *gh*, *d*, *dh*, *b* and *bh* in Apabh.; but this rule is violated by many forms in his illustrations. *P.-prakāṣa* does not follow this rule, but the consonantal changes agree with Hāmacandra's rule for Prakṛit (i. 177) that intervocalic *k*, *g*, *c*, *j*, *t*, *d*, *p*, *y*, and *v* are generally dropped. *P.-prakāṣa* introduces *ya* *ṛuti*¹ if the *udvṛtta* vowel is *a* or *ā*. Some typical illustrations might be noted here. Changes of *k*: *Paha* (*bha*)*yara* (I. 11, II. 211), *lōyālōya* (I. 52, II. 205), *viṇāsayaru* (I. 10), *sayalu* (I. 36); in only one word *k* is retained, viz. *ṇāyaku* (II. 140), but it is softened to *g* when Hāmacandra quotes this verse in his Grammar; once *k* is changed to *g*: *maragaū* (II. 78). Once Brahmadēva reads *agāsu* (II. 25), but all other Mss read *ayāsu*. Changes of *g*: *aṇurāū* (II. 112, 149), *gayāṇa* (I. 39), *jōi* (I. 35, II. 171), *jōē*² (II. 157), *bhāya* (I. 32), *virāū* (I. 118), *sāyara* (II. 105). It is only in two cases, namely, *jagu* (I. 40-1, II. 6, 44) and *savvagu* (I. 52) that *g* is retained; by this retention the author wants perhaps to avoid confusion with other Sk. words like *jaya* and *sarvataḥ*. Changes of *c*: it is always dropped as in *muya* for *muc* (I. 95, 112 etc.), *viyakḥkaṇu* (I. 13, 78); it is only in two words that *c* is seen to be retained: *avīcalu* (II. 15, 35, 144) and *asuciyaṭ*³ (II. 150) possibly to avoid confusion with the equivalents of Sk. words like *vikala* *ṛuti*, etc. Changes of *j*: It is generally dropped as in *ṇiya* (I. 98), *pariyāṇa* (I. 57); only once it is retained *bhajaṃta* (I. 2). Changes of *t*: it is usually dropped as in *kāyara* (I. 89), *kiyāi*⁴ (I. 27), *gaṭ* (I. 111), *cēyaṇu* (I. 73, II. 17), etc.; but in *patana*, as in Prakṛits, it becomes *ḍ*-*vaḍaṇa* (II. 114). Changes of *d*: it is generally dropped as in *kayā* (I. 36), *jaṭ* (II. 5), *paḍsa* (I. 105), *ḍi* (II. 16). There are some cases of *d* retained: in *padēsa*, v. 1. *paḍsa* (II. 24) possibly to rhyme with the line-ending *puggaladēsa*, in *padāṇa* (II. 127) perhaps to avoid confusion with *prayāṇa*, and in *saṃjadu* and *asaṃjadu* (II. 41). Changes of *p*: it is usually changed to *v* as in *ghaṇavaḍaṇa* (II. 114), *vi* from *api* (II. 96). Initial *yi* is changed to *j*: *jēṇa*, *jāma*, etc. Changes of *v*: it is at times retained and at times dropped as in *kāyala* (II. 96), *jīya* (I. 23, etc.), *tihuyāṇa* (I. 16, II. 16). Generally intervocalic *kh*, *gh*, *th*, *dh*, *ph* and *bh* are changed to *h*: *suhu* (II. 199); *lahu* (II. 100); *uppahi* (I. 78); *ahammu* (I. 60), *saṃāhi* (I. 14); *ṇahu* (II. 20), *sahāū* (II. 197). It is only in a few cases that *bh* is retained: *abhaya* (II. 127). Thus we see that there is a general tendency to drop the intervocalic consonants rather than to soften them; and their retention in a few cases is meant perhaps to avoid confusion with similar words. Coming to the treatment of nasals, Hāmacandra's Grammar, according to the editions of Pischel,² Pandit-and-Vaidya,³ retains initial *ṇ*; Pischel, however uniformly adopts *ṇ*, both initial and medial. in his revised edition of Apabh. verses.⁴ Our text uses *ṇ* alone everywhere. It is only Ms. B that retained *n* at times. Kannaḍa Mss. are almost uniform in having *ṇ*. Hāma. has generalised the change of *m* into nasalised *v* (iv. 397), for which there is phonetic justification. *P.-prakāṣa* has some cases where *m* is shown as *v*; it should not be ignored that the various readings waver between *m* and *v*: *athavaṇa* (II. 132), *ṇava* (I. 1), *ṇāū* (I. 19, II. 206).

1 There is a case of the development of *v* possibly due to the preceding *u*, *vari-uvari-udarē* (II. 20).

2 Hāmacandra's *Grammatik der Prakṛit-Sprachen*, Halle 1877.

3 *Kumārāpālacarita Appendix*. Bombay Sk. and Pk. series LX, Poona 1936.

4 *Materialien zur Kenntnis des Apabhraṃsa*, Berlin 1902.

As to the conjuncts, there is a tendency, already seen even in Prakrits (Hema, i. 43) to smoothen the double remnant by lengthening the preceding vowel; *tsaru* (I. 91.) *kārima* (II. 123), *būḍhaū* (I. 91); at times conjuncts are smoothened without any compensation: *akhaū* (I. 123), *niḥhamtu* (I. 120, II. 88). By some of his rules (iv. 398, etc.) Hema. allows the retention of *r* and that of *r* as a second member in a conjunct group, but in *P.-prakāśa* *r* is necessarily assimilated. To show that *r* is retained at times in Prakrit Hema. quotes a line 'vodraha-drahammi paḍiyā' (II. 80) possibly from out text, but all our Mss. uniformly show assimilation. I might note here a few cases of typical conjuncts: *acchī - akṣī* (I. 121), *appā-ātman* (I. 51, etc.), *kārima-kṣṛima* (II. 123), *chāra-kṣāra* (II. 90), *jhū - dhyeya* (I. 25), *tiṭṭha - tṭṣṇā* (II. 132), *desu - dveṣa* (II. 49), *Bambhu*, Kannada Mss. uniformly have *Bamhu* for *Brahman* (I. 13, etc.) *rukḥa* and *vaccha-vṛkṣa* (II. 130, 133).

Morphology or Declension—As noted by Hema. (iv. 445), there is much confusion of genders of words; and the predominant tendency is to reduce all words to the *a*-ending type by adding pleonastic *ka*, etc., for instance, *silae* loc. sg. from *jīla* (I. 123), *nāniyaha* - *jñāninām* (I. 122), *dehiyaha* (II. 26), etc. According to Hema. the terminations of Nom., Acc. and Gen., both sg. and pl., are often dropped (iv. 344-45). Our text shows some forms of Nom. and Acc. without terminations: Nom. sg. *vihi* (I. 66); pl. *pasuya* (II. 5), *muni* (II. 33), *rāya* (I. 69), *līṅga* (I. 69). Acc. sg. *appā* (I. 58), *tanu* (I. 58), *veyana* (II. 187), *sayala* (I. 115); pl. *jinavara* (I. 6), *rāya* (I. 70). I have not been able to detect any instances where Gen. terminations are dropped. The termination + *u* appears in Nom & Acc. sg., and once only in Nom. pl. *Hari-Hara-Bamhu* (II. 8) which is peculiar to our text. Neuter Nom. pl. termination is -*i* as in *davvat* (II. 15), *punnai* (II. 57). In the Inst. sg. *a*-ending nouns show three, if not five, types of terminations: i) + *ena* or + *ina* as in *tavena*, v. 1., *tavenu* (I. 42), *vavahārena* (II. 28), *kūranina* (I. 7); ii) + *e* or + *im* (āṁ?) as in *appe* (I. 99), *niyame* (II. 62), *parināme* (II. 71), *appim* (I. 76, note the variants), *nānim* (II. 73) *niyamim* (I. 69, 106, etc.) *dānim* (II. 72); and iii) what I might call + *aī*¹ as in *kammāt* (I. 63, 76), *māhai* (II. 79), *samsagga* (II. 108, note the v. 1.). Nouns ending in *i* show -*ē* or *ē* with or without *svārthe ka*. in the Inst. sg.: *aggiyae* (I. 1), *bhattiē* (II. 61), *bhatti-yāē* (I. 6). Hema. notes the terminations + *e* and + *ena* (iv. 333 & 342), but some of his illustrations show + *ina* and + *im* (iv. 357, 366). Inst pl. termination is -*hi* as in *dōhi* (II. 71), *paesahi* (II. 22), *vittinivittihi* (II. 52). According to Hemacandra Abl. terminations are: sg. -*he* also -*hu* and pl. -*hu* (iv. 336, 341, 350); but our text has only *ha* both for singular and plural: *gamthaha* (II. 49), *jvaha* (II. 86); *sayalaha* *skammaha* *dōsaha* (II. 198). Hema. gives Gen. terminations thus: sg. -*su*, -*ho*, -*ssu* and pl. *ha* for *a*-ending nouns; but our text uses only *ha* both for sg. and pl.²: sg. *cittaha* (II. 70), *dehaha* (I. 71), *rayanattayaha* (II. 95); pl. *nāniyaha* (I. 122), *jvaha* (II. 106), *mukkaha* (I. 47). For pure *i*-stems the Gen. termination is -*hi* in *P.-prakāśa* which according to Hema is -*he* in sg. and -*hu* in pl.: sg. *siddhihi* (II. 48, 69); pl. *jōhihi* (II. 166), *nānihi* (II. 30); also note in this context the forms *jōiyahi* (II. 160), *paṃguhu* (I. 66) For Loc. sg. and pl. Hema has -*e* and -*hi* respectively for *a*-stems, and -*hi* and -*hu* respectively for *i*-stems and *u*-stems. *P prakāśa* shows + *i*, or + *e*,³ or even what might be called + *ai* in sg. and *hi* in pl.: *tihuyāni* (I. 4), *samsāri* (I. 9); *appaē* (I. 102), *silae* (I. 123); pl. *kaṣṭiyahi* (I. 123*3), *puhavihi* (II. 131). *Jōiya* for *yōgin* and *jīya* for *jīva* are the Voc. sg. forms.

1 It might be taken as *i* with *svārthe ka*.

2 Once Brahmadeva wants -*ho* for Gen. sg. (II. 12); and Ms. B reads -*ho* in some places (II. 161-62).

3 Kannada Mss. show *e* uniformly.

We do not get many forms of personal Pronouns in *P.-prakāśa* *hau* and *tuhu* are quite usual; and we get *mahu* (Gen. sg.) and *mahu tanai-madiyena* (ll. 186). Some important forms of the demonstrative pronouns are noted below for example :

Nom.

sg. *ihu* or *ēhu*, *ehau*; *ku* or *kō*; *ju* or *jo*; *so*.

pl. *e* or *ei*; *je*; *te*; *ki* or *kō*

Acc.

sg. *kō*; *jō*; *sō*.

Ins.

sg. *jim*, *jē*, *jena*; *tim*, *te* *tena*.

Gen.

sg. *jasu*, *jāsu*; *tasu*, *tāsu*, *tahu* (ll. 78)

pl. *jāha*, *jāha*; *taha*, *tāha*.

P.-prakāśa uses *kavṇa* or *kavaṇu* (ll.171), *kai* (l. 27) and *ki* (l. 98) for Interrogative *kim*; and *anyat* is changed to *aṇṇu* (ll. 45) and *aṇu* (ll. 44).

Verbal Forms—Some typical verbal forms may be noted here to get an idea of the forms used in *P.-prakāśa*. **Present** : 1st p. sg. *vaṇḍau* (l. 4), *kaḥvi* (-mi ? l. 11), *bhaṇami* (l. 30); 2nd p. sg. *mēllahi* (l. 12), *hāhi* (ll. 14); 3rd p. sg. *vīlat* (ll. 80), *vāi* (ll. 82), *havēi* (l. 13), pl. *acchahi* (l. 5), *vaccahi* (ll. 4), *li* (l. 91), *hūmti* or *hōmti* (ll. 103). Some **Imperative** forms that are available : 2nd p. sg. *jōni* (l. 107, ll. 38), *jōi* (ll. 34), *sēvi* (l. 95), *jāṇu* (l. 94, etc.) *laggu* (ll. 127). Typical **Future** forms that are available : 2nd p. sg. *karīsī* (ll. 125), *gamīsī* (ll. 141), *lahīsī* (ll. 141), *saḥsi* (ll. 125); 3rd p. sg. *karīsai* (ll. 188), *lohīsai* (ll. 47), *hāsai* (ll. 130, 168). Hēmacandra has noted all the available Present and Imperative forms of this text (iv. 382-3, 385, 387). The so-called 2nd p. sg. forms of the Future noted above are at times treated as those of Present and at times of Future by Brahmadeva. Their nature is much uncertain. If they belong to Present, they are to be deduced from the forms like *karīsī* in Prākṛit; if to Future, they are contractions from forms like *kariḥsi* of the Prākṛit. Though not generalised by him, forms like *karīsu*, *pāvīsu* are met with in Hēma's illustrations (iv. 396); and the Sk. shade takes them as Future 1st p. sg. forms. The **Absolutive** terminations in this text are -*vi*, + *ivi*, + *ēvi*, + *avi*, and + *ēviṇu* as in *dēvi* (ll. 57), *mēllīvi* (l. 92), *dharēvi* (ll. 25), *pariharavi* (ll. 4), *muēviṇu* and *lahēviṇu* (ll. 9, l. 85); and there is only one form showing the termination + *ēppiṇu*, *muēppiṇu* (ll. 47). Besides the above ones, Hēma gives + *i*, + *iū*, + *ēppi*, as the Absolutive terminations, but they are not found in this text. The typical forms of the **Infinitive** of purpose are : *sahaṇa* or *sahaṇu* (ll. 120), *samḥavaṇa* (ll. 137), *lēṇaha* (ll. 87), *muṇahu* (l. 23). Excepting *muṇahu* which occurs only once in our text, all others are generalised by Hēma. (iv. 441) with whom some Gerund terminations also are used for Infinitive.

Indeclinables, etc.—In this paragraph all the Indeclinables, etc. are noted with their Sk. counterparts alphabetically arranged. *atra* = *itthu* or *ēitthu* (l. 101, ll. 211); *idṛṣṭi* = *ēḥi* (ll. 157); *eva* = *ji* (l. 96, etc.); *ēvam* = *ēmu* (l. 65) or *eu* or *iu* (ll. 73); *katham* = *kēma* or *keva* (l. 121); *kiyat* = *kāttiū* or *kittiū* (ll. 141); *kutra* = *kāttu* or *kitthu* (ll. 47), also *kahi* (l. 90); *jhaṭṭi* = *jhatti* (ll. 184); *naiva* = *ṇavi* (l. 31, etc.); *tatra* = *tāttu* or *tiṭthu* (l. 111, ll. 137), also *tahi* (ll. 162); *taḥā* = *tēma* or *tīma*, *tēmu* or *tīmu*, or even nasalised *v* for *m* (l. 102, 85, etc.); *tadā* (?) = *tāmai* or *tāva* (ll. 41, 174); *tadṛṣa* = *tāhau* (ll. 149); *tāvat* = *tā*, *tāma*, also *tāva* or *tāmu* (l. 108, ll. 81); *tāvanmātra* = *tāttadaū* or *tittidaū* (ll. 105); *punar* = *puṇu* (ll. 211); *mā* = *mā*, *maṃ*, *maṇa* (l. 101, ll. 107, 109); *yatra* and *yatha* correspond

to *tatra* and *tathā*; *yadā* (?) - *jamaṭ*, *jaṭvat* (II. 41, 174); *yādṛṣa* - *jāhaū* (I. 26); *yavat*=*jama*, *jamu*, *jaṭva* (II. 81, 194); *yavanmātra* - *jittiu* (II. 38); *vinā* = *viṇu* (I. 42). All these indeclinables, etc. ignoring slight phonetic variations, are found in Hema's illustrations; and for some of them he has special rules. Forms corresponding to Hema's *jittula* and *tittula* (iv. 435) are not found here. As to the use of *apl*, or text once uses *kiṃpi vi* (I. 65); perhaps it is a mistake for *kiṃci vi* which suits the context better. *P.-prakāśa* repeatedly uses *svārthā ka* and *ḍa*, but their combinations (iv. 430) are not met with here; at times *ka* appears doubled as in '*gurukkī vṛllāḍī*' (I. 32). Of the *tādarthya nipātas* (Hema. iv. 425) only *taṇa* is used here, and the rest are not found in this text. The forms *kāraū*, etc., used by Hema. in his illustrations on iv. 359 (see also Hema. ii. 147) are used in this text: *kāra* (I. 73, II. 69), *kārai* (I. 99) *kāraū* (II. 29). Though *ji*, etc., are repeatedly used, the occurrence of *ca* is a rarity in these *dōḥas*.

Important Words, etc.—*P.-prakāśa* uses many words which might be called *Deśi* due either to their non-Sanskritic etymology or non-Sanskritic significance. But most of them are already recorded in *Pāṇasadda-mahāṇṇavāḍi*; so I shall note only a few of them which are not recorded there or which require some explanation.

avakkhaḍi (I. 115)—Brahmadeva explains thus '*dṛṣṭa-bhaṣaya cintā*'.

khaḍillaū (II. 139)—Brahmadeva equates it with *khalivāṭam*. Hema. quotes this verse but his reading is *khallihāḍū*. Our form is a case of metathesis from the Prākṛit form *khallīḍa* noted by Hema. (I. 74).

khavaṇu or *khavanaū* (I. 82, 88)—Brahmadeva equates it with *kṣapaṇakakṣ*, a Digambara. I think, this Sk. rendering has no etymological justification though it occurs in *Pañcatantra*, etc.; the word should be traced back to *samaṇa*, Sk. *śramana*.

gurau (I. 88)—Brahmadeva remarks '*gurava-sabḍa-vācyāḥ Śvētāmbaraḥ*'.

caṭṭa (II. 89)—Brahmadeva does not explain it, but I think it means in that context 'a mat'; cf. *caṭaṭ*.

javalā (II. 127)—Brahmadeva equates it with Sk. *saṃpā*, and the word is current in Marāṭhi in this sense. I think, it should be traced back to Sk. *yamala*, Pk. *jamala*, a pair; and therefore those that are near each other. This sense is more suitable in that context.

dhaṃdha (II. 121)—Brahmadeva gives a Sk. word *dhaṃdha* which is not known to classical Sanskrit. The Kannaḍa gloss reads *daṃde*, and takes *daṃda* = Sk. *dvandva*. There is a Prākṛit word *dhaṃdha* = shame.

paḍichāṃda (II. 129)—It has the sense of similarity, and it is used here for *dṛṣṭānta*.

paḍiyāra (I. 121)—A scabbard. Brahmadeva is uncertain about its Sk. equivalent; so he suggests once *pratikāra* and a second time *pratihāra*. Hemacandra, in his *Abhidhāna-cintāmaṇi*, gives *pratyakāra-khaḍgapidhā-rakam* which appears to be the correct equivalent of *paḍiyāra*. He

gives another word *parivāra* (Martya-kāṇḍa 447).¹

vaḍha (II. 19, 154, etc.)—This word is repeatedly used in this text, and Brahmadeva explains it usually as *vaṭsa*, but once as *bata* (I. 121). Hemacandra (iv. 420) equates it with *māḍha* (I think, in the sense of *māhita*, deluded, misled). It may be noted that *māḍha* is also used once in our text (II. 128). It is recorded in *Pāṭisadda-mahannavā* as a Deśi word meaning dumb, one incapable of speech. *vaḍha* or *baḍha* is used as a term of address by Saraha as well; he uses *putta* also (38, 53) as a term of address.

vali vali (II. 137)—Brahmadeva takes it as '*punaḥ punaḥ*': compare *vāram vāram*.

vōddaha (II. 117)—Hema. quotes this phrase but reads *vōdraha* meaning *taruna-puruṣa* (II. 80)² Brahmadeva interprets as *yauvanam*; the Kannada K-gloss takes it as *stri-saritra*; but Q-gloss reads *cōddaha* (perhaps orthographical confusion between *c* and *v* in medieval Devanāgarī) and gives the same meaning as that given by Brahmadeva.

vaṇḍaṣ (I. 82, 88)—Brahmadeva comments, *vandakaḥ* = *Bauddhaḥ*. The etymology of the word is obscure. Some Kannada Mss. read *Budd(h)ai*.

Important Roots, etc.—Many dhātuvādesīas are used in this text; but I note only those which are not directly traced in the list given by Hemacandra; *Uvvalaud vart* (II. 148), cf. Hema. *uvvīlla* = *ud vṛjt*. *Guruva* (II. 145) *muh*, *Cāra* (II. 126) to powder from *cūrna*. *Chañḍa* (I. 74; *Chaḍḍa* according to Hema). to abandon. *jāa* (I. 109, II. 34) to see; it is used in Hema's illustrations (iv. 422). *Jhampa* (I. 61) to cover. *ḍahula-kṣubh* (II. 156; cf. Marāṭhī *dhavaḷane*). *Pēkkha* or *Pikkha* (I. 71, II. 114) to see. *Vāha* (II. 142) to see; it may be derived thus *Pāsa* > *pāha* > *vāha*.

Peculiarities of Kannada Mss—The Kannada Mss., which are described in section IV below, have certain peculiarities some of which such as *d* for *dh*, absence of any discrimination between short and long vowels arise out of the nature of Kannada script. There are others which are uniformly shown by Kannada Mss. (excepting S which is a mechanical copy of Brahmadeva's text, but that also is subjected to some marginal corrections); and they shed some light on the phonology of Apabhraṃśa. The Devanāgarī recension, represented by Brahmadeva's text and by the Mss. A, B and C,

1 For this reference I am thankful to Mr N. R. Acharya, Shastri department, Nirnayasagar Press, Bombay.

2 To judge from *Pāṭisadda-mahannavā*, the word is not extensively used in literature. The earliest occurrence, therefore, is in *Pāṭiyalacchī-nāma-māla* (Ed. by G. Buhler, Gottingen 1879), the Prākṛit Lexicon of Dhanapāla (972-3 A.D.); and in giving the meaning of this word Hēmacandra has in view Dhanapāla's definition '*bōdrahō tarunō*' (verse 62).

shows a good deal of vacillation between *i* and *e* in the Inst. sg. forms such as *deve* or *deviṃ* and *kāraṇeṇa* or *kāraṇina*; in the Loc. sg. forms such as *deve* or *devi*; and in forms like *ke vi* or *ki vi*, *jēva* or *jima*, *tēva* or *tima*, etc. But the Kannaḍa Mss. uniformly accept *e* which may be short or long as required in the context. Even Hemacandra's Grammar shows this vacillation in forms like *hatthiṃ*. Secondly, Devanāgarī Mss. vacillate between *i* and *e* before the conjuncts as in *mukkha* or *mökkha*, *ikka* or *ikka*, *bōlla* or *bulla*, etc.¹ The Kannaḍa Mss. uniformly show *e* and *o* and not *i* and *u*. I think, this vacillation is due to the fact that Sanskrit *e*, *o* are always long; to show them short, as we want short *e* and *o* in Apabh. (Hema. iv, 410), they were reduced to *i* and *u*. In Kannaḍa *e* is both short and long, so the Kannaḍa Mss. felt no need of changing it to *i*. If we look to the corresponding counterparts in Sanskrit and Prākṛit, we find that *e* is preferred. So *e* appears to be really the earlier stage, and being short in pronunciation it came to be changed to *i*. The same is the case with *o*. Then these Kannaḍa Mss. uniformly read *sā ji* and *iā ji* as *sōjji* and *jōjji*; *Bambhu* is always shown as *Bamhu* which might be allowed by Hema. (iv 412); but *sōjji* and *jōjji* cannot be adequately explained.

Value of their Tradition—There is another explanation also for this vacillation. Apabhraṃśa was once a popular speech allied to Old-Rājasthānī, Old-Hindī, Old-Gujarātī, etc., which are the earlier stages of the present-day Hindī, etc. So copyists and reciters did make vowel changes, etc., in the light of contemporary pronunciation as it is clear from the manner in which works like *Rāmāyaṇa* of Tulasīdāsa have undergone dialectal changes. What the copyists and even reciters minded were the contents and not the dialectal features. Even the Hindī commentary, printed in this edition, though attributed to Daulatārāma, does not represent the very language of Daulatārāma, as I have shown below. The Kannaḍa Mss. therefore, are likely to be of use for the following reasons: some of the Mss. are sufficiently old and are copied from pretty older Mss.; and as they were preserved in a country where the spoken languages were completely different from Apabh., there was no scope for such changes as it happened in the North. So a critical edition of *P.-prakāśa* should prefer *e* and *o*, short or long as needed by the context, in the above cases, because such readings are supplied by Kannaḍa Mss. some of which preserve text-tradition even earlier than Brahmadeva.

Results of the above Comparison and Contrast—The Apabhraṃśa dialect of *P.-prakāśa* is a homogeneous one. The forms that we have taken for comparison, excepting the Inf. of purpose form *muṇahu* and the Gerund in *ḥppīṇu* which occur only once, are repeatedly met with in our text. Hemaca-

1 In Devanāgarī Mss. *o* is often represented by *u* with a vertical stroke on its head, and the copyists at times took it for *u* only.

ndra has taken quotations from *P.-prakāṣa* with certain improvements; and that he might have analysed our text and incorporated sufficient material from this work is borne out by many common points noted in the above paragraphs. Even after ignoring minor variations of vowels and individual forms not recorded by Hema., there remains a substantial residue of fundamental differences between the Apabhramśa of *P.-prakāṣa* and that of Hema.'s grammar despite the majority of common points noted above. The Śauraseni basis of Hemacandra's Apabh. explicitly stated and further confirmed by the softening of consonants in his illustration is almost completely unknown to our text. Then the retention of *r* and of unassimilated *r*, which is required by some of the rules of Hema. and which is illustrated by some of his quotations, is unknown to our text. There are some other aspects of Hema.'s Apabh. not found in this text: dropping of the Gen. termination and the Gen. termination *-ha*; most of the Abl. terminations noted by Hema; absolute forms, *in + i*, *+ iu + appi*; majority of the *tadārthya-nipātas*; the form *sahu* for *sarva*; many of the equivalents of *iva*; etc.

Additional Tract of Literature Used for his Grammar—The above points clearly indicate that Hema. drew his material from many other works whose Apabhramśa differed in certain respects from that of *P.-prakāṣa*. There is no evidence to say that the conjuncts with *r*, preservation of *r*, Śauraseni basis and other dialectal features of *P.-prakāṣa* have been modified. The Mss. studied do not warrant any conclusion or conjecture like this. From the comparatively small number of Hema.'s quotations which have Śauraseni characteristics and which retain *r*, as against the features of this text, it appears that many of the works used by Hema. represented the Apabh. similar to that of *P.-prakāṣa*; and a few works he might have used which retained conjuncts with *r*. Words like *dhālā*, some common verses,¹ the retention of *r* in a conjunct group in early Rājasthānī poems might indicate that Hema. has drawn some of his illustrations from what might be called Rājasthānī Apabhramśa, the predecessor of Old Rājasthānī.

Apabhramśa with Unassimilated r—Undoubtedly there was a type of Apabhramśa which allowed unassimilated *r*. The number of words retaining

1 On iv 352 Hema. gives a quotation which runs thus:

बायसु उड्ढावतियए पिउ डिट्टउ सहस ति ।

अडा बलय महिहि गय अड कुट्ट तड ति ॥

This quotation of Hema. has not only the common idea but also some common words with the following verse in present-day Rājasthānī;

काग उडावणघण सडी आया पीव भडक्क ।

आधी बूडी काग—गळ आधी गई तडक्क ॥

Either these two verses indicate a common source, or the old Apabh. verse gradually drifted to his form passing through dialectal changes (see *Dhālā Mārūra Dāha* p 476)

unassimilated *r* is negligibly small in Prakrit.¹ Some twenty illustrative stanzas of Hema. preserve *r* or *r* in conjuncts. Turning to other grammarians,² Kramadīvara takes preservation of *r*, when it is the first member of the conjunct group, as the feature of Vṛāṇa Apabh. Mārkaṇḍeya prescribes the retention of *r* optionally for Nāgara and generally, with some exceptions, for Vṛāṇa Apabh. All this means that the grammarians are aware of an Apabh. dialect which retained *r* and conjuncts with *r*. Further Dr. Jacobi has pointed out that two *bhāṣa-sleṣa* stanzas from Rudraṭa's *Kāvya-lankāra* show that the Apabh. illustrated by Rudraṭa contained unassimilated *r* as a second member of the conjunct.³

This Difference not exactly Chronological but Regional-and-Dialectal—On the basis of the quotations from Rudraṭa and Ānandavardhana Dr. Jacobi concludes that the Apabh. stanzas containing *r* and unassimilated *r* belong to the older stage of Apabh.; and his main argument appears to be that these are the earliest datable relics of Apabh. literature. There is no doubt that Apabh. mainly draws on the Prakrit vocabulary, and the negligibly small number of words with unassimilated *r* in Prakrit militates against taking it as a chronological criterion. Secondly, from the Aśoka Rock edicts found in seven places it is clear that Prakrit had dialectal differences in different parts of India. Kalsi, Dhauli and Jaugada edicts assimilate or lose *r* in the conjunct group, while those at Mansehra and Shahbazgarhi retain *r* as the second member of the group, the *r* as the first member often changing its place with the preceding vowel. It may be noted that Girnar edict too at times retains *r* either as the first or the second member of the conjunct group. All these edicts are incised at the same time and possibly drafted from the court-language. These differences cannot be taken as chronological but they are regional-and-dialectal. Thirdly, a glance at the works belonging to the earlier stages of present-day spoken languages like the Rāsas in Gujarātī, Mahānubhāva works in Marāṭhī, texts like *Dhāla-Mārura dāha* in Rājasthānī,⁴ *Kirtilata* and *Padāvali*⁵ of Vidyāpati in Maithilī, etc., which belong to different parts of India, show that even Apabhramśa might have had slight differences in different regions. Fourthly, Rudraṭa is perhaps a Kashmirian; so a quotation of his, that too meant to illustrate *bhāṣa-sleṣa*, should not be taken as a representative of Apabhramśa current in different parts of India. Lastly, a good deal of Prakrit literature has come to light, and there is no appreciable tract of Prakrit literature in

1 Hema. ii. 80; Pischel : *Grammatik* § 268.

2 See also *Prākṛta Lakṣaṇa* of Candā III. 37.

3 H. Jacobi : *Saṅgikumāracaritam* Intro. München 1921.

4 Published by Nāgarī Prachāriniṁ Sabhā, Benares, Sāmvat 1991.

5 Ed. by Kumar G. Sinha, Patna, Sāmvat 1988.

which conjuncts with *r* are current External influences may be accepted, but Prakṛitic basis of Apabhraṃśa is a fact. Rudraṭa belonged to the 9th century A. D., and we know earlier Apabh. passages in which *r* is assimilated. Apabh. verses from Kālidāsa's *Vikramōrvaśīyam*¹ assimilate *r* even in

- 1 By questioning the genuineness of Apabhraṃśa verses in *Vikramōrvaśīyam* the earlier scholars meant that they could not be attributed to Kālidāsa. The following are the arguments adduced by Pandit and others. The commentator Kāṭayavāma knows nothing of these verses; the South-Indian Mss. do not include them; the king being an Uttamapātra cannot utter verses in Prakṛit; most of the verses are tautological repeating the substance of Sanskrit verses in that context; there is a vagueness of allusions and references in these verses; several of them interrupt the sentiment expressed by Sk. verses; and lastly Apabhraṃśa passages are not found like this in other dramas of Kālidāsa. All these arguments have for their background a hesitation to take back Apabh. verses to such an early age, especially because a scanty amount of Apabh. literature was known to scholars at the beginning of this century. This hesitation must be given up now for the following reasons: Apabhraṃśa forms are traced in *Paumacariya* of Vimala (not later than 3rd century A. D.), we have an epigraphic record that Guhasāna of Valabhi (559-69 A. D.) composed poems in Apabh.; and lastly by the last quarter of the 8th century (see above Uddyotana's remarks on p. 53) Apabhraṃśa is already recognised as a popular and forceful medium of poetry. In the light of these facts it is not in any way improbable that Kālidāsa (c. 400 A.D.), whose *Mahārāṣṭri* songs are some of the best specimens, might have composed some Apabh. verses to be sung by the mad king. That Kāṭayavāma and Southern Mss. do not include these verses is not a conclusive argument. It may be noted that Northern Mss. have got these verses and Raṅganātha does comment on them. The South, it must be remembered is well-known for its stage-adaptations of Sk. dramas. In the South Apabhraṃśa had no connection, as in the North, with the contemporary popular speech, so naturally these verses must have failed to impress the Dravidian audience: this also might explain the exclusion of these verses. No doubt, the king is an Uttamapātra and he speaks in Sanskrit in all other acts. But in the fourth act the king is gone mad, and *Nāṭyaśāstra* allows *bhāṣā-vyatikrama* for Uttamapātras on certain occasions. It is also suggested by Pandit himself that these verses were perhaps to be chanted by some one behind the curtain, when the king is moving hither and thither searching for his wife; and there is some justification for these songs that they make the whole 'scene romantic and solemn' and that, as Prof. R. D. Karmarkar remarks in the Intro. to his edition, they give 'to the actor, representing the king, occasional rest'. As to the arguments of tautology, vagueness and inconsistency, they are subjective considerations; and they can be explained, if we remember that these songs are the out-bursts of a mad monarch. Even in the present-day dramas meaningless songs are introduced; they do not advance the plot in any way but they are songs merely to amuse the audience. Any one acquainted with the phonology of Apabh. will readily accept that it is perhaps the best medium for songs. The last one is a negative argument and thus it proves nothing. The mad king, with whom the Apabh. songs are associated, does not figure in other dramas of Kālidāsa. Students of Kālidāsa's works will agree that the imagery projected by these verses is worthy of the genius of Kālidāsa. All this means that there is a strong case for the genuineness of these verses, and the question requires to be taken up once more for discussion.

typical words like *priya*, etc., illustrated by Hema. Prof. Hiralal puts Svayambhū, the author of *Paūmacariū* and *Harivaṃsu* between 700-783 A.D., and so far as I have seen the passages *r* is assimilated. Later Apabhraṃśa works that are recently brought to light assimilate *r*.¹ And we would be only cutting the ground under our feet, if we suppose that all the Mss. are per force subjected to this assimilation at a later stage. So in the light of the above considerations the presence of assimilated or unassimilated *r* is not at all a chronological criterion, but it is only a regional difference which is quite possible in a continent like India. This further shows that Hema. has based his grammar on works in at least two different dialects possibly from two different regions.

II. Joindu: The Author of P.-prakāśa²

a) Yogindu and not Yogindra

Joindu and his Sanskrit Name—It is to be highly regretted that such a great mystic as Joindu has left no details about his personal life. Śrutasaṅgāra calls him a Bhaṭṭāraka which should be taken only as an honorific term. There is not the slightest indication in his works about his age and place. His works reveal him as a mighty spirit resting on a higher latitude of the spiritual realm. He stands for no vanity of learning and no parade of scholarship: he is an embodiment of spiritual earnestness. *P.-prakāśa* mentions his name as Joindu. Jayasena quotes a verse from *P.-prakāśa* with the introductory phrase: '*īdha Yōgindra-dēvair apyuktam*'³. Brahmadeva more than once mentions the author's name as Yogindra. Śrutasaṅgāra quotes a verse with the phrase: '*Yōgindradāva-nāmnā Bhaṭṭārakēna*'.⁴ Some of the Mss hesitate between Yogindra and Yogendra. Thus Yogindra as the Sk. form of his name has been pretty popular. As proved by identical spirit, similar ideas and common phrases *Yogasāra* is another work of Joindu. In the concluding verse the name of the author is mentioned as Jogicanda which cannot be equated with Yogindra. Therefore I have suggested that the form Joindu stands for Yogindu which is identical with Yogicandra; and we have instances where *indu* and *candra* are interchanged in personal names as in

1 Dr. P. L. Valdyā, whose critical edition of Puṣpadanta's *Mahāpurāṇa* is in the Press, kindly informs me that a family of Mss. retains *r* in some words. When this work is out, it will be a publication of monumental magnitude and importance in Apabhraṃśa literature.

2 This section, with additions here and there, is mainly based on my paper 'Jōindu and his Apabhraṃśa Works' in the *Annals* of the B. O. R. I. XII, ii. pp. 132-63. The detailed contents of the works and some references that are omitted here will be found in that paper.

3 *Samayasāra* (RJS.) p. 424.

4 *Ṣaṭprabhīṭī-ti-saṅgraha* (MDJG., Vol. XVII), p. 39.

Bhāgendu and Bhāgacandra, Śubhendu and Śubhacandra. Through mistake it was Sanskritised as Yogīndra which has been current now. There are many Prakṛit words which have been wrongly, and oftentimes differently, Sanskritised by different authors. The editor of *Yogasāra* had detected this discrepancy but funnily he writes a combined name '*Yogīndra-candrācārya - kṛtāḥ Yogasārah.*' If we take his name as Yogīndu, everything will be consistently explained.

b) Works of Yogīndu

Various Works Traditionally Attributed—The following works are traditionally attributed to Yogīndu (usually mentioned as Yogīndra): 1) *P.-prakāśa* (Apabh.); 2) *Yogasāra* (Apabh.), 3) *Naukāra-śrāvakācāra* (Apabh.); 4) *Adhyātmasaṁdōha* (Sk.); 5) *Subhāṣita-tantra* (Sk.); and 6) *Tattvarthāṣṭika* (Sk.). Besides, three more works attributed to Yogīndra have come to light: 7) *Dhāpahuḍa* (Apabh.); 8) *Amytāṣṭi* (Sk.); and 9) *Nijātmāṣṭaka* (Pk.). Of these we do not know anything about Nos. 4 and 5; as to No. 6, the name Yogīndradeva is in all probability confused with that of Yogadeva who has written a Sk. commentary on *Tattvarthasūtra*.¹

1) *Paramātma-prakāśa* :

Authorship, etc—In the preceding section the various aspects of *P.-prakāśa* have been studied in details. Undoubtedly it is the work of Joīndu, and the proposal that it might have been compiled by a pupil of his is already rejected above.² Joīndu plainly mentions his name and says that the work was composed for Bhaṭṭa Prabhākara. Then Śrutasāgara, Bālacandra, Brahmadeva and Jayasena have explicitly attributed the authorship of this work to Joīndu.³ In fact, this is the biggest known work of Joīndu, and on this rests his fame as a spiritualist.

2) *Yogasāra* :

Contents, Authorship, etc—The subject-matter of *Yogasāra*⁴ is the

1. There is a Ms. (Dated Śaṁvat 1863) of this work in the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona. In the opening remarks Yogadeva mentions the names of Pādapūjya and Vidyānanda. In the concluding Prajastī he calls himself a Mahābhāṣāraka. He was a pupil of Paṇḍita Bandhudeva, a contemporary of king Bhīma and a resident of Kumbhanagara. The name of his commentary is *Sukhābādha Tattvarthavṛtti*. Mādhava (c. 1350) refers to Yogadeva and his Vṛtti in his *Sarvadarśana-saṅgraha*, Chap. 3.
2. See p. 9 above.
3. For references see my paper in the *Annals*; see also the discussion of the date below.
4. MDJG, Vol. XXI, pp. 55-74. The contents are analysed in my paper in the *Annals*. At Karaṇja there is a Sk. commentary on this work by Indranandī, the pupil of Amerakīrti (*Catalogue of Sk. and Pk. Mss. in C. P. and Berar*, p.685); and there is a Hindi metrical rendering of it published under the name, *Svānubhava-darpaṇa* by Munshi Nathuram, in 1899 A.D.; and on this Hindi rendering there is an exhaustive Gujarātī commentary by Lalan, Bombay 1905.

same as that of *P.-prakāśa*. The self is to be realized as completely isolated from everything else. These *dohās*, says the author, are composed by the monk Jogicanda to awaken the self of those that are afraid of Samsāra and are yearning for liberation (Nos. 3 & 107). The author says that he composed it in *dohās*, but in the present text we have one *Caupāi* (No. 39) and two *Sorathās* (Nos. 38 & 46): this perhaps indicates that the text is not well preserved. The mention of Jogicanda (=Joṇḍu=Yogṇḍu) in the last verse, similar opening Mangalas, identical subject-matter and the spirit of discussion, and common phrases and lines indicate that one and the same Joṇḍu is the author of these two works. The text, as it is printed, is not critical; and there are apparent errors. Making concession to these, even the dialectal form is practically the same. The only points of difference that strike one are: Gen. sg. with *-hu* (and also *-ha*) which is *-hā* in *P.-prakāśa*; Present 2nd p. sg. with *-hu* (and also *-hi*, but which is *-hi* alone in *P.-prakāśa*); and the Absolutive with *-viṇa* which is *-viṇu* in *P.-prakāśa*. All these are slight vowel changes on which no conclusions can be based. Jayasena quotes a *dohā* from this work in his commentary on *Pañcāstikāya*.¹

3) *Naukāra-Śrāvakācāra* or *Sāvayadhamma-dohā*.²

Contents, etc.—It is seen from the analysis³ that this work deals mainly with the duties of a house-holder in a popular and attractive style. The exhortations are spiced with nice similes, and as compared with other manuals of this class the treatment is less technical. From the contents and metre it gets the name *Śrāvakācāra dohaka*; it is also known as *Nava (Nau) kāra-Śrāvakācāra* from its opening words; and Prof. Hiralal calls it *Sāvayadhamma-dohā* after much consideration.

Its Authorship—In my paper on Joṇḍu I had pointed out how there are three claimants, namely Jogendra, Devasena and Lakṣmīcandra, or Lakṣmīdhara, for the authorship of this work. Since then some nine Mss. of this work have come to light, and the problem of its authorship has been discussed in details by Prof. Hiralal in his Introduction. Even as the facts stand Prof. Hiralal's view cannot be accepted; so it is necessary to state the position and see what should be the probable conclusion.

Joṇḍu's Claims—His claims rest on these grounds: i) Traditional lists attribute a *Navakāra-Śrāvakācāra* to him; ii) the concluding colophon of Ms. A calls it Jogendra-kṛta; and a supplementary verse found at the close of Ms. Bha (after the concluding colophon) attributes the text to Yogīndradeva.

1 RJS. ed., p. 61.

2 Critically edited with Intro. and Hindi translation by Hiralal Jain (KJS. Vol. II), Karanja 1932; the Mss. and the views of Prof. Hiralal referred to below are from this Intro.

3 Vide my article in the *Annals* XII. ii.

The forms Jogendra and Yogindra, it appears, are meant to imply the author of *P.-Prakāśa*; and it must be seen how far these claims are justified. As in *P.-Prakāśa* and *Yōgasāra* Joṇdu does not mention his name in the body of the text. Secondly, the high flights of spiritualistic fervour of Joṇdu are conspicuously absent here; and the subject-matter of *Śrāvakācāra* is not quite in tune with the mystic temperament of Joṇdu. Thirdly, Prof. Hiralal finds this work more profound as a piece of poetry than other works of Joṇdu and brushes aside the possibility that Joṇdu might have composed it in his younger days. Fourthly, as I have already noted, despite some common ideas there are no striking phraseological similarities between this work and *P.-prakāśa*. Lastly, I might point out that *Sāvayadhamma-dōhā* shows the termination *-hu* in Abl. and Gen. Sg.; but we have seen that *P.-prakāśa* uniformly shows *-ha* both in the sg. and pl. So there is no strong evidence to attribute this work to Joṇdu. Perhaps it is the common Apabh. dialect and a few similar ideas that might have led some one to put the name of Yogindra in the colophon.

Devasena's Claims—Prof. Hiralal upholds the claim of Devasena on the following grounds: i) Ms. *Ka* mentions '*Devasenai uvadiṭṭha*' in the last verse. ii) *Sāvayadhamma-dōhā* has many striking similarities with *Bhāvasaṃgraha* of Devasena. iii) Devasena had a liking for composing dohās, and it was perhaps a new form of metre in his days. Thus he attributes this work to Devasena, the author of *Darśanasāra*. His arguments are not quite sound. i) Ms. *Ka* does not deserve so much reliance: of the nine Mss. it is the longest so far as the number of verses is considered and the latest so far as its age is considered. The text itself (No. 222) says that there should be 220 or 222 verses: the earliest known Ms. contains 224, while Ms. *Ka* contains 235 if not 236 verses. This plainly means that it is as inflated recension. Now the dohā which mentions the name of Devasena is not only corrupt but contains plain errors: the form *Devasenai* is very queer, and a similar form is not traced in the whole of the text; the phrase *akkharamattā*, etc., is meaningless as it stands; as I understand dohā, both the lines of this verse are metrically irregular; the concluding rhyme of the two lines, which is a regular feature of dohā and which is seen throughout this text, is conspicuously absent in this verse; and lastly Prof. Hiralal himself does not include this verse in his settled text. Such a concluding verse, therefore, cannot be attributed to the author of *Sāvayadhamma-dōhā*; and we cannot believe that Devasena, the author of *Darśanasāra*, might have composed it. Turning to the four Prākṛit works of Devasena, in *Bhāvasaṃgraha*¹ he mentions his name as Devasena, the pupil of preceptor Vimalasena; in *Āradhanasāra*²

1 Ed. MDJG, Vol. XX, Bombay Saṃvat 1978.

2 Ed. MDJG, Vol. VI, Bombay Saṃvat 1973.

simply as Devasena; in *Darśanasāra*¹ as Devasena-gaṇin, residing in Dhārā, and in *Tattivasāra*² as Muninātha Devasena. In the first three works the name Devasena is implied by the word Surasena in the opening Maṅgala. None of these indications is found in *Savayadhamma-dōhā*. Thus the first argument loses its force and the other two can be easily explained. ii) It is a fact that there are some common topics between *Bhāvasaṅgraha* and this work, but of the 18 parallel passages enumerated by Prof. Hiralal hardly more than three passages are really parallels. Unless there is a significant phraseological similarity common words and ideas prove nothing in a literature of traditional nature. That one verse is common is important. Some Apabh. verses are found in *Bhāvasaṅgraha*; Ms. *kha* stamps that verse as *uktam ca*; and the editor has shown how Mss. of *Bhāvasaṅgraha* have included verses from works even later than Devasena.³ It is not at all improbable, therefore, that some copyist might have taken this verse from *Savayadhamma dōhā*. iii) The third argument proves nothing. The beginning of the use of *dohā* is not fully studied as yet. I may, however, point out that Apabh. portions of *Vikramōrvaśīyam* have one *dohā*,⁴ and that Rudraṭa, when illustrating the *śloka* of Sk. and Apabh. composes two *dohās* (IV. 15 & 21) in his *Kāvya-lankāra*. Rudraṭa flourished before 900 A.D. or more probably in the earlier part of the 9th century. Ānandavardhana (c. 850) also quotes an Apabh. *dohā* in his *Dhvanyaloka*.⁵ Even if it is accepted that Devasena had a liking for *dohā*, that he is the author of *Savayadhamma-dōhā* cannot be proved. Thus the claim that Devasena is the author has to be given up now.

Lakṣmīcandra's Claims—The colophons of Mss. *Pa*, *Bha* and *Bha3* attribute this work to Lakṣmīcandra. Śrutasāgara quotes nine verses from this work: one is attributed to Lakṣmīcandra and another to Lakṣmīdhara.⁶ Thus Lakṣmīcandra alias Lakṣmīdhara is the author of *Savayadhamma-dōhā* according to Śrutasāgara's information. His use of the words Guru and Bhagavāna with the name of Lakṣmīcandra, as I now realize,⁷ should not be taken with any special significance, because Śrutasāgara mentions Samanta-

- 1 Critically edited by me in the *Annals* of the B. O. R. I. XV. III-IV. Five Mss. read *surasāṇa*, while only one reads *surasāṇi*; though the latter suits the meaning better, the former should be accepted with the majority of Mss.
- 2 Ed. MDJG, Vol. XIII, Bombay Saṃvat 1975.
- 3 See the editor's foot-note on p. 111 (verse No. 516); see also the Intro. p. 2.
- 4 S. P. Pandit: *Vikramōrvaśīyam*, 3rd Ed., Appendix I, p. 113A a.
- 5 Pischel: *Materialien zur Kenntnis des Apabhraṃśa*, p. 45.
- 6 *Ṣaṭprabhīṭī-saṅgraha*, pp. 144, 203 283, 284, 297, 349, 350; the numbers of the verses quoted from this work are : 7, 105, 109, 110, 111, 112, 139, 148, 156. No. 139 on p. 203 is attributed to Lakṣmīcandra and No. 148 on p. 144 to Lakṣmīdhara.
- 7 In my paper in the *Annals* I had said '...he uses quite familiar terms like Guru, Bhagavāna, as though Lakṣmīdhara is his immediate preceptor'.

bhadra as Guru and Gautama and Puṇyapāda as Bhagavāna.¹ Prof. Hiralal sets aside the claims of Lakṣmīcandra, whom he takes to be the same Lakṣmīcandra, a contemporary of Śrutasāgara, on the following grounds :

- i) The last verse of Ms. *Bha* attributes the text of Yogīndra, Pañjikā, to Lakṣmīcandra and Vṛtti to Prabhācandra. ii) Lakṣmana, the pupil of Mallibhūṣana, mentioned in the concluding remarks of Ms. *Pa*, is identical with Lakṣmīdhara, Lakṣmana being his name before entering the order of monks. iii) The phrase '*Lakṣmīcandra-viracitā*' in Ms. *Pa* is a scribal error; and it should have been either '*Śrī-Lakṣmīcandra-likhitā*' or '*Śrī-Lakṣmīcandrārtha-likhitā*'. iv) Lastly no other works of Lakṣmīcandra are known to us. It is true that Śrutasāgara attributes this work to Lakṣmīcandra (or -dhara), but there is no evidence at all to identify this name with that of a contemporary of his. Jaina hierarchy contains identical names of teachers who lived at different times. i) The verse in Ms. *Bha* is a later addition for the following reasons: it comes after the concluding colophon '*iti Śrāvakācāra-dhakaṁ Lakṣmīcandra-kṛtaṁ samāptam*' | *srp*; the contents of the verse are inconsistent with this colophon; a part of the verse claiming Yogīndra as the author is not at all proved; and, as Prof. Hiralal himself has said, nothing is definite about the Pañjikā attributed to Lakṣmīcandra. ii) I have already stated above that there is no evidence to take Lakṣmīcandra to be the same as the contemporary of Śrutasāgara. Even accepting, for the sake of argument, that Lakṣmīcandra (the contemporary of Śrutasāgara) was known as Pt. Lakṣmana in his householder's life, Lakṣmana and Lakṣmīcandra, mentioned at the close of Ms. *Pa*, are not identical. First we get '*iti Upasakācāra ācārya Śrī Lakṣmīcandraviracitā dhaka-sūtrāṇi samāptāni*' : then follows that this *Dhaka-śrāvakācāra* was written for Pt. Lakṣmana, the pupil of Mallibhūṣana, in Samvat 1555. Pt. Lakṣmana, therefore, was a householder in Samvat 1555; then how can he mention beforehand his forthcoming ascetic title, Lakṣmīcandra, when he still calls himself Lakṣmana? The name, Lakṣmīcandra, is mentioned first; and then comes the copyist's mention of Pt. Lakṣmana. By comparing Mss. *Pa* and *Bha* it will be clear that the colophon quoted above belongs to the author himself; and the following lines in *Pa* are to be attributed to the copyist. iii) When the proposed identity of Lakṣmana and Lakṣmīcandra is not proved, and in fact disproved, there is no point in suggesting a correction in the actual reading. iv) The last argument does not stand by itself, and needs no independent criticism. Prof. Hiralal's arguments against Lakṣmīcandra's authorship are not conclusive, and his claim that Devasena is the author is already disproved. So, in conclusion, I have to say that the author of this Śrāvakācāra, in the light of the available material and on the authority of Śrutasāgara's statement, is Ācārya Lakṣmīcandra. There is no evidence to

1 *Śaṭprabhīṭīdi-saṅgraha*, pp. 65, 77 and 93.

Identify him with another Lakṣmīcandra who was a contemporary of Śrutasāgara. All that we know about the age of this Lakṣmīcandra is that he was earlier than Śrutasāgara and Brahma-Nemidatta (A.D. 1528).

7) *Dohāpāhuḍa*:¹

Name, Contents, etc.—Of the two Mss. of this work that have come to light one mentions the name as *Dohāpāhuḍa* and the other *Pāhuḍadohā*. Prof. Hiralal has explained the meaning of the title; and even according to his explanation the title should have been *Dohāpāhuḍa*. Despite his correct interpretation,² I fail to understand, why he gave currency to the name *Pāhuḍadohā*. Like *P.-prakāśa* this is a mystical work in which the author broods on the reality of Ātman. Undoubtedly the text, as it stands, is an inflated one; and that explains the presence of Sk. verses at the close and two gāthās in Mahārāṣṭri after dohā No. 211, which mentions the name of Rāmasimha who according to the colophon of one Ms. is the author.

Joindu's Authorship—The concluding colophon of Ms. *Ka* attributes this to Yogendra, and this work has many common verses with *P.-prakāśa* and *Yogasāra*. But Yogindu's authorship is not well founded for the following reasons: i) As in *P.-prakāśa* and *Yogasāra* he does not mention his name in the body of the text; and moreover verse No. 211 mentions the name of Rāmasimha. ii) In many places, even in common verses (Nos. 34, 35, 46, 49, 80, etc.), *Dohāpāhuḍa* shows terminations *-ho* and *-hu* in the Gen. sg. of *a*-ending nouns, but *P.-prakāśa* has uniformly *-hā*; the forms like *tuhāraū*, *tuhārī*, *dōhīm mi*, *dēhaham mi*, *kahim mi*, (Nos. 56, 182, 55, 72, 132 and 197) are not found in *P.-prakāśa*. iii) The Ms. *Da* has a colophon attributing this work to Rāmasimha, whose name occurs in dohā No. 211. In the beginning, with the Ms. *Ka* alone before me, I suspected whether the name of Rāmasimha, which does not occur in the last verse, might be that of a traditional author like Śānti incidentally mentioned in *P.-prakāśa* (II. 61). But now after a closer study of *Dohāpāhuḍa* I find that the evidences to prove Joindu's authorship are insufficient. So many common verses and the Apabh. dialect have perhaps led some scribe to put Yogendra's name in the colophon, though Rāmasimha's name is mentioned by the text itself.

Rāmasimha as the Author—Rāmasimha's claim is based on two facts that according to both the Mss his name is found in one of the verses of the text and one Ms. mentions his name in the colophon. The only apparent objection against his authorship is that his name is not mentioned in the last verse. But I have remarked above that the present text is an inflated one, and many of the verses after 211 appear to have been added later on. Thus in

1 Critically edited with Intro. Hindī translation, etc., by Hiralal Jain (KJL. Vol. III). Karanja 1933; see also *Anākānta* Vol. I and *Annals* of the B.O. R. I. XII, ii., pp. 151, etc.

2 Intro. to his Ed. p. 13.

the light of the present material Rāmasiṃha should be accepted as the author. He is much indebted to Joṇḍu, and one fifth of his work, as Prof. Hiralal says, is drawn from *P. prakāśa*. Rāmasiṃha is plainly a lover of mystic brooding, that might explain his use of verses from earlier authors. As to his age we can say only this much that he flourished between Joṇḍu and Hemacandra. Verses from *Dohāpāhuḍa* are quoted by Śrutasāgara, Brahmadeva, Jayasena and Hemacandra. That there are two common verses between *Dohāpāhuḍa* and *Sāvayadhamma-dōha* is an important fact.¹ But Devasena's authorship of *Sāvayadhamma-dōha* is disproved; and the compilatory character and the inflated nature of the text of *Dohāpāhuḍa* do not admit at present any objective criteria of textual criticism. Additional light can be thrown on this problem when more Mss. are available.

8-9) *Amṛtāṣīti* and *Nijātmāṣṭaka*:²

Amṛtāṣīti—It is a didactic work containing 82 verses in different metres, groups of verses being devoted to different topics of Jainism. We do not know whether the colophon is added by the Editor or it was there in the Ms. The word Yogīndra occurring in the last verse can be taken as an adjective of Candraprabha. There is no evidence at all to attribute this work to the author of *P.-prakāśa*. This work includes some verses ascribed to Vidyānandi, Jaṭāsiṃhanandi and Akalankadeva. Some verses are common with the *Śatakas* of Bhartṛhari. Three verses (Nos. 57, 58 and 59) from this *Amṛtāṣīti* are quoted by Padmaprabha Maladhārīdeva in his Commentary on *Niyamasāra*.³ The same Vṛtti quotes one more verse thus :

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः । तथाहि⁴

मुक्त्यंगनालिमपुनर्भवसौख्यमूलं दुर्भावितातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम् ।

संभावयामि समतामहमुच्चकैस्तां या संगता भवति संयमितामजलम् ॥

But this verse is not found in the present text of *Amṛtāṣīti*, and Pt. Premi conjectures that it might perhaps belong to *Adhyātma-saṃdōha*, another work traditionally attributed to Yogīndra

Nijātmāṣṭaka—This contains eight Prakṛit verses in Sragdharā metre glorifying the nature of Siddha in a dignified manner. The text does not mention the name of any author, but it is the concluding colophon in Sanskrit that mentions Yogīndra's name. This is no sufficient evidence to attribute its authorship to the author of *P.-prakāśa*.

Conclusion—After this long discussion we find that the traditional

1 Ibidem, p. 21.

2 MDJG. Vol. XXI, pp. 85-101 and 168-9.

3 *Niyamasāra* (Bombay 1916), pp. 38, 107 and 154.

4 Ibid. p. 86; Br. Shitalaprasadaji, however, quotes in his Hindi translation *muktvāla-satva* etc., (*Amṛtāṣīti* 21) Instead of this verse,

list of works attributed to Joṇḍu is not quite authentic; and at present *P.-prakāśa* and *Yogasāra* are the only two works of Joṇḍu.

c) On the Date of Joṇḍu

Nature of the Evidences and the Later Limit—From the two works of Joṇḍu we get no clue that might shed some light on his age. So the only alternative left before us is to take a survey of the references to and quotations, etc., from the works of Joṇḍu as found in other works. The text of *P.-prakāśa* is swollen from time to time; the editions of the works, in which quotations, etc., are found, are not critical, and even if critical editions are available there is still scope for differences of opinion; and lastly, the periods assigned to these works and authors are often subject to modifications, because the studies in this branch of Indian literature are not much advanced. Thus the very nature of the material puts certain limitations to our conclusions. This attitude of scepticism, though critically justified, should not forbid us from collecting the various pieces of evidence that might be of use, in the long run, to settle the age of Joṇḍu more definitely. Let us try to ascertain the later limit for the period of Joṇḍu in the light of the following evidences :

i) Śrutasāgara, who flourished about the beginning of the 16th century A.D., quotes six verses from *P.-prakāśa* (I. 78, 117, 121, II. 46*1, 61 and 117) two of which are explicitly attributed to Yogṇḍra.¹

ii) We have the Kannaḍa commentary of Maladhāre Bālacandra and the Sanskrit commentary of Brahmadeva on *P.-prakāśa*, and we have assigned them to c. 14th and 13th century A.D. respectively.²

iii) Jayasena who has written Sk. commentaries on *Pañcāstikāya*, *Pravacanāsāra* and *Samayasāra* of Kundakunda is sufficiently acquainted with Joṇḍu and his two works. In his commentary on *Samayasāra* he mentions *P.-prakāśa* by name and quotes a verse (I. 68) explicitly attributing it to Yogṇḍra. In his commentary on *Pañcāstikāya* he quotes a verse which is the same as No. 56 of *Yogasāra*. Jayasena belonged c. to the second half of the 12th century A.D.

iv) It is seen above that Hemacandra is acquainted with *P.-prakāśa*; he has drawn some material from it; and in fact he quotes a few verses from this work with some changes here and there to illustrate his rules of Apabhramśa grammar.³ Hemacandra was born in A.D. 1089 and died in 1173 A.D. "It is not an unusual phenomenon in the history of any language that extensive grammars come to be composed only after a particular

1 *Śaṭprabhṛtādi-saṅgraha*, pp. 39, 297, 234, 315, 325, 332.

2 See section III below.

3 See p. 46 above.

language is fossilised in literary form either in traditional memory or in books. So there is no sufficient justification for the assumption that the Apabhramśa treated by Hemacandra is the same as the current language of his times. It is more reasonable to say that the Apabhramśa stage represented by his grammar was altogether fossilised in literary form, and it must have been at least the next previous, or even earlier, stage of the language current in his times. Grammars cannot be based on merely spoken languages: at the most we can appeal to this or that usage in the current language with such phrases as *lokā*'. This means that Joṇḍu can be put earlier than Hemacandra at least by a couple of centuries.

v) Hemacandra, it has been shown by Prof. Hiralal¹ quotes some verses from *Dohāpāhuḍa* of Rāmasimha who in turn has enriched his work by drawing bodily many dohās from *P.-prakāśa* and *Yogasāra* of Joṇḍu. So Joṇḍu is not merely earlier than Hemacandra, but the periods of these two are intervened by that of Rāmasimha.

vi) I have shown above how some verses of *Tattvasāra* have close similarities with the dohās of *P.-prakāśa*. It is not improbable that both might have drawn from some common source. But as the verses stand, in view of the reasons stated by me above² I think, it is Devasena that follows Yogṇḍu. Devasena has often utilised material from earlier works in his compositions. We know Devasena's date definitely. He finished his *Darśanasāra* in Samvat 990, i.e., A.D. 933.

vii) The following two verses deserve comparison:—

1. *Yogasāra*, 65:

विरला जाणहिं तत्तु बुहु विरला णिसुणहिं तत्तु ।
विरला भावहिं तत्तु जिय विरला धारहिं तत्तु ॥

2. *Kattigāyāṇuppekka*, 279

विरला णिसुणहिं तच्च विरला जाणति तच्चदो तच्च ।
विरला भावहिं तच्च विरला धारणा होदि ॥

*Kattigāyāṇuppekka*³ of Kumāra is not written in the Apabh. dialect; so the Present tense 3rd p. pl. forms, *ṇisunahi* and *bhāvahi* (preferably *-hi*) are intruders there, but the same are justified in *Yogasāra*. The contents of both the verses are identical. The fact that the dohā is converted into a gāthā does not admit the possibility that some later copyist might have taken it over from *Yogasāra*. In all probability it is Kumāra that is following the above verse of Joṇḍu consciously or unconsciously. The personality of Kumāra is much obscured by certain mythical associations, and his age is

1 Intro. to. *Dohāpāhuḍa* p. 22.

2 On p. 28

3 Published with Jayacandra's Hindi Commentary, Bombay 1904.

not settled as yet. Oral tradition recorded by Pannalal says that Kumāra flourished some two or three centuries before the Vikrama era¹, and the views of even some modern scholars appear to be influenced by this tradition.² The only available Sk. commentary on this work is that of Śubhacandra who composed it in A. D. 1556;³ as yet no references to Kumāra in earlier commentaries are brought to light; the order of enumeration of 12 Anuprekṣās followed by Kumāra is that of *Tattvārthasūtra* which is slightly different from that adopted by Vaṭṭakera, Śivārya and Kundakunda. These points militate against the high antiquity claimed for Kumāra by tradition. There is no critical edition of *Kattigāyaṇuppekṣhā*, but as the text stands the dialectal appearance is not so old as that of *Pravacanasāra*. The reference to Kṣetrapāla in verse No. 25 shows that Kumāra belonged perhaps to the South where the worship of Kṣetrapāla has been more popular. In the South some monks bearing the name Kumārasena have flourished. In the Mulagund temple inscription (earlier than 903 A. D.) one Kumārasenā is mentioned;⁴ then one Kumārasvāmī is mentioned in an inscription at Bogadi of 1145 A. D.⁵; but mere similarity of name is not enough for identification. With these facts in view I do not want to assign Kumāra to any definite period, but what I want to point out is that the high antiquity traditionally claimed for Kumāra is not proved as yet; and there are sufficiently weighty reasons to doubt it. As to the relative periods of Joṇḍu and Kumāra, the former in all probability is earlier than the latter.

viii) Caṇḍa quotes the following dohā in his *Prakṣa-lakṣaṇam*⁶ to illustrate his sūtra : 'yathā tathā anayāḥ sthānē jima-timau :

कालु लहेविणु जोइया जिम जिम मोहु गलेइ ।

तिम तिम दंसणु लहइ जो णियमैं अप्पु मुणेइ ॥

This dohā is the same as l. 85 of *P.-Prakāśa* with the difference that our text reads *jimu* and *timu* for *jima* and *tima*, and *jiu* for *jā* in the second line. It is a sad tale that the text of Caṇḍa's grammar is not well preserved. 'The whole work has the appearance of half-arranged, miscellaneous jottings for

1 Ibidem Intro.

2 "The 'twelve Anuprekṣās' are a part of Jaina faith. Svāmī Kārtikeya seems to be the first who wrote on them. Other writers have only copied and repeated him. Even the 'Dvādaśanuprekṣhā' of Kundakundāchārya seems to have been written on its model. No wonder, if Svāmī Kārtikeya preceded Kundakundāchārya. Any way, he is an ancient writer".—*Catalogue of Sk. and Pk. Mss. in the C. P. and Berar*, p. xiv; also Winternitz : *A History of Indian Literature*, Vol. II, p. 577.

3 *Annals*, Vol. XIII, i., pp. 37, etc.

4 *Journal of the Bombay Branch R. A. S.* X, pp. 167-69, 190-93.

5 *Epigraphia Carnatica* IV, Nagamangala No. 100.

6 Ed. by A. F. Rudolf Hoernle, Part I, Calcutta 1880.

a work rather than a well arranged and finished treatise'.¹ **Hoernle** has edited this work as early as 1880, when Prakrit studies were in their infancy, and nothing in fact was known about Apabhramśa as a dialect commanding vast literature; his material was scanty; his was a difficult task to rebuild a consistent text, with Pālī language and Aśokan inscriptions in view, out of bewilderingly chaotic material. His rigorous method, about which he has sufficiently explained and against [which **Pischel** and **Gune** have rightly complained, has led him to relegate this sūtra and the quotation to the appendix indicating thereby that they belong to Revisionists. The context in the Grammar, where the present sūtra with the illustrative verse occurs in the company of ten other sūtras, all referring to Apabhramśa, is not a proper one; this we will have to accept with **Hoernle**. But this does not forbid us from accepting them as genuine in other parts of the grammar, remembering that the sūtras appear to have been disturbed in their arrangement. Caṇḍa recognises an Apabhramśa dialect in which *r* as the second member of the conjunct group is preserved. That this was a fact of an Apabhramśa dialect is seen above. It is illustrated by Rudrāṭa's *śīṣa* verse and by some illustrations of Hemacandra. We expect that Caṇḍa could not have disposed of Apabhramśa in one sūtra; by accepting the above sūtras more information is being added about Apabhramśa. It is natural that the grammarian might illustrate his sūtras with quotations from literature. It is significant that this quotation does not occur in Hemacandra's grammar: that sets aside the suggestion that the Revisionists might have added it from Hemacandra's work. With **Gune** I am inclined to accept that the presence of these sūtras, with the quotation, is quite natural in Caṇḍa's grammar.

Different views are held as to the date of Caṇḍa. **Hoernle** thinks that his reconstructed text, which mainly follows Ms. A, presents a very archaic phase of Prakrit language, and therefore Caṇḍa's work is composed probably somewhat later than the 3rd century B.C., the period of Aśokan inscriptions, and probably earlier than the beginning of the Christian era 'assuming of course that he was contemporary with that language'.² According to **Hoernle** the present sūtra and the quotation belong to the Revisionists whom he puts later than Vararuci, but how much later he does not say anything. The approximate date assigned to Vararuci is 500 A.D. According to **Gune** 'Caṇḍa lived at a time when the Apabhramśa had ceased to be a mere dialect of the Ābhiras and become a literary language, i. e., after the sixth century A.D. and not before'. Thus the revised form can be tentatively placed about 700 A.D.³ So *P.-Prakāśa* will have to be put earlier than *Prākṛta-lakṣaṇam*.

1 Dalal and Gune : *Bhavisayattakāhā* Intro., p. 62, Baroda 1923.

2 Hoernle's Intro. pp. 1. 20, etc.

3 M. Ghosh : *Journal of the Department of Letters (Calcutta University)*, Vol. XXIII, P.17

Earlier Limit—It is shown above¹ how Jōindu inherits much from *Mōkḥapahūḍa* of Kundakunda and how he closely follows *Samādhi-śataka* of Pūjyapāda. *P.-prakāśa*, in fact, is a popular elaboration of some of the fundamental ideas of *Samādhi-śataka*. Kundakunda belonged c. to the beginning of the Christian era, and Pūjyapāda lived a bit earlier than the last quarter of the 5th century A.D.

Conclusion—In the light of the above discussion I tentatively put *P.-prakāśa* between *Samādhi-śataka* and *Prākṛta Lakṣaṇa*;² and in all probability Jōindu flourished in the 6th century A.D.

III. Commentaries on P.-prakāśa

1. A Kannada Gloss (k-gloss) on P.-prakāśa

Bālacandra's Commentary and the Kannada Gloss in Ms. K.—It is reported³ that (Adhyātmi) Bālacandra (c. beginning of the 13th century A.D.), who has written Kannada commentaries on the three works of Kundakunda,⁴ has commented in Kannada on *P.-prakāśa* as well. The Ms. K, described below, contains a Kannada commentary on *P.-prakāśa*; but one is not in a position to say whether it is the same as that of Bālacandra, because the Ms. K supplies no information and Mm. R. Narasimhacharya has not given any extracts with which the commentary in K could have been compared.

Nature of this Kannada Gloss—The Kannada gloss in Ms. K (to be called K-gloss hereafter) is a very modest attempt to explain in Kannada the dohās of *P.-prakāśa*. Throughout the commentary, so far as I have read it here and there, no Sanskrit equivalents of Apabh. forms are given; but the author takes the Apabh. forms one after the other as Kannada syntax would need, and gives their meaning in Kannada. Some of the interpretations show the linguistic insight of the commentator who is very well grounded in the technicalities of Jaina philosophy. I have come across certain words

1 See pp. 32-3 above.

2 Mr. M. C. Modi, in his notes (pp. 76-9) on selections from *P.-prakāśa* in *Apabhraṁśa Pāṭhavalī* (Ahmedabad 1935) refers to my paper on Jōindu in the *Annals* and remarks that Jōindu can be placed before Hāmacandra but it is not correct to put him earlier than 10th or 11th century of Vikrama era. The way of putting his conclusions reminds me of a statement of Max Muller, 'Chronology is not a matter of taste that can be settled by mere impressions'. An argument based on a word or so is not conclusive. Taking into consideration the nature of Apabh. phonology *aṇṇu* and *aṇu* can never be chronological stages. About *javalā*, the meaning *samīpē* though given by Brahmadēva, does not suit the context as I have shown above. It is to be derived from Sk. *yamala*, pair; and the word *jamala* occurs even in the *Ardha-māgadhī* Canon. The weakening of *m* into *v* is quite usual in Apabh. The *Mardphī* meaning is a secondary one.

3 R. Narasimhacharya : *Karnāṭaka Kavicharite*, Vol. I, Revised Ed., p. 253.

4 A. N. Upadhye : *Pravacanasāra* (RJS) Intro. pp. 104-8.

whose plain and etymological meaning is missed by the commentator. His comments are lucid and simple, and he is very much faithful to the plain meaning of the dohās. There are no additional philosophical discussions, nor are there any quotations as in the Sk. commentary of Brahmadeva. To give some idea as to what this gloss is like and to facilitate its comparison with other glosses. I give here two dohās with their comments.¹

P.-prakāśa I. 1 :

je jāya jhāṇaggiye kamma-kaṣaṇka ḍahevi |
ṇicca nīraṁjaṇa ṇāṇamaya te paramappa ṇavevi | |

jhāṇaggiye | nījātma-d[h]yānamemba kicciniṁdam | kamma-kaṣaṇka | jānāvar-
aṇādi-karmmagaleṁba puligaleṁ | ḍahevi | suttu | ṇicca | nītyarum | nīraṁjaṇa |
nīraṁjaṇarum | ṇāṇamaya | kevalajānādi-svarūparum | jāya | ādaru | je | ārkkelam-
baru | te | aṁtappa | paramappa | paramātmame | ṇavevi | poḍavaḍuvem | |
Ibidem I. 82 (No. 60 in TKM.):

taruṇā budd[h]jā rāvaḍā sūra pāṁḍiū dibbu |
khamaṇā² budd[h]jā sevāḍā mūḍhā māṇṇaṭ sabbu | |

taruṇā | taruṇane | budhāḥ³ | vṛdd[h]jane | rāvaḍā | celuvane | sūra
sūrane | dibbu | atīṣayamappa | pāṁḍiyā⁴ | pāṁḍitane | khamaṇā | samaṇane |
budd[h]jā | baudd[h]jane | sevāḍā | sevakane | sabu (sabbu ?) | idellamam | tāne-
mdu | mūḍhā | bahīrātmam | māṇṇaṭ | bagegum | |

This Gloss Independent of Brahmadeva's Commentary.—On many crucial points I have compared this K-gloss with Brahmadeva's Sk. commentary; and I accept the position that the author of this gloss is not acquainted with and has not used the Sk. commentary of Brahmadeva. If Brahmadeva's commentary was before him, we expected him to follow the longer recension adopted by Brahmadeva, to give Sk. equivalents of Apabh. forms like him, and to add supplementary discussion and quotations in his gloss as Brahmadeva has done in his commentary. To quote a parallel case, Bālacandra in his Kannaḍa commentary on *Pravacanasāra* inherits many details from the Sk. commentary of Jayasena which he is following. Then there are some significant dissimilarities between the K-gloss and Brahmadeva's commentary which confirm the same conclusion. The recension of this K-gloss is very short as compared with that of Brahmadeva; in fact

1 These extracts are faithfully reproduced here. It should be noted that no distinction is made here between *ḍ* and *ḍh* and *ḍ* and *ḍh* following the Ms. For the convenience of the reader some hyphens are put; some aspirates are added in square brackets, as the Ms. does not distinguish *d* from *dh*; and for mutual distinction Kannaḍa words are not italicised like the Apabh. ones.

2 TM read *Khavaṇā*.

3 In the text *d* is doubled, but here *dh*: that is due to the peculiarity of writing double consonants with a *nolli*.

4 Note how this form slightly differs from that in the text above.

there is a difference of 112 verses. The K-gloss has preserved many important readings and interpretations independent of Brahmadeva. In the interpretation of the very first dohā the K-gloss fundamentally differs from Brahmadeva: In the K-gloss *nicca*, *niranjana* and *nanamaya* are separate words each to be taken in the Nom. plural, while with Brahmadeva they form a compound; then Brahmadeva takes *navēvi* as a gerund form (*pranamya*) and connects this dohā with the next, while the K-gloss, which does not contain dohās 2-11, takes *navēvi* as 1st person Sg. of the Present, Sk. *namāmi*, *vi* being treated as the weak form of *mi*. In dohā I. 82 Brahmadeva has a word *vandāu* which he equates with *vandakāḥ* and translates as *Bauddhah*; but the K-gloss clearly reads *budd[h]au*, and renders as *Baudd[h]ane*. Then in the same dohā there is a very significant mistake of the K-gloss which renders *sēvaḍau* as *sēvakane*; while Brahmadeva rightly translates it as *svātapataḥ*. In dohā I. 88 *guraū*, (T and K read *guruū*, but in the commentary K has *guraū*,) is explained by Brahmadeva as *gurava-śabdavācyah śvātāmbarah* |, but the K-gloss translates it as *gauravanum*(?). This K-gloss on the first line of II. 89 runs thus: ‘*caṭṭahi | guṇḍugaḷimdamum | paṭṭahi | maṇegaḷimdamum | guṇḍiyahi | guṇḍigegaḷimdamum*’. Brahmadeva does not explain these words: perhaps they appeared to be quite easy to him being current in the contemporary languages. The Kannaḍa commentator, being of course a southerner, commits a mistake that he renders *caṭṭahi* as *guṇḍugaḷimdamum*. *Caṭṭa* means mat (cf. *caṭai*) as I understand it; the Kannaḍa commentator has perhaps confused it with a Kannaḍa word *caṭṭigē* meaning an earthen pot. In II. 117 Brahmadeva’s reading is *vōdahadahammi paḍiṭṭa* for which T. K and M read *cōddahahadakkamme paḍiṭṭa*. Brahmadeva explains it thus: *vōdaha-śabdēna yauvanam sa ēva drahō mahā-hradas tatra patitāḥ* |, while the K-gloss runs thus: ‘*coddaha | strī-śarīramemba | dahakkamme* (note *hada* is read as *daha*) | karmmada maḍuvinoḷu.’ In II. 121 *dhamdhai* (TKM read *damde* possibly for *dhamdhe*, as these Mss. have *d* often for *dh*) is explained by Brahmadeva as *dhandē mithyātva--viṣaya-kaṣāya-nimittōtpannē durdhyānārta-raudra-vyāsangē*; but the K-gloss says; *damde | parigraha-dvam-dvadoḷu*’ the use of the Sanskrit word *dvandva* shows the insight of the commentator in explaining Apabh. words independently. Instances like these, which show the independence of the K-gloss, can be easily multiplied. If the author of this K-gloss had used Brahmadeva’s commentary, he would not have maintained such differences and committed the errors some of which are noted above.

On the Age of K-gloss.—The above conclusion implies another possible deduction that this Kannaḍa gloss will have to be dated earlier than Brahmadeva. And from the following study of other commentaries it will be clear that K-gloss is perhaps the earliest known commentary on *P.-prakāśa*. Its antiquity, to a certain extent at least, is confirmed by the comparative old

age of the Ms. K and by the presence of the earlier form of *r* in the gloss more regularly than in Q-gloss.

2. Brahmadeva and His Vṛtti

Brahmadeva and his Works—Brahmadeva gives no details about his personal history in his commentaries. His colophon of *Dravyasaṃgrahaṭīkā* simply mentions his name, Brahmadeva. Javaharlal,¹ who reads his name as Brahmadevajī, suggests that Brahma is the title indicating that he was a Brahmacārin, i.e., a celibate, and that Devajī was his personal name. Though Nemidatta,² the author of *Āradhana-kathakāṣa*, Hemacandra, the author of *Śrutaskandha*³ in Prakrit etc. have used Brahma as their title, it does not seem probable that Brahma is a title in the name of Brahmadeva, because Deva is not an usual name but generally a name-ending⁴ and because there have been many Jain authors bearing the names Brahmamuni, Brahmasena, Brahmasūri etc. So Brahmadeva should be taken as a name. According to a traditional list, noted by Javaharlal, the following works are attributed to Brahmadeva : 1) *Paramāśmaprakāśa-ṭīkā*, 2) *Bṛhad-Dravyasaṃgraha-ṭīkā*, 3) *Tattva-dīpaka*, 4) *Jñānadīpaka*, 5) *Trivarnācāra-dīpaka*, 6) *Pratiṣṭhā-tilaka*, 7) *Vivāhapaṭala* and 8) *Kathakāṣa*⁵. Nothing can be said about Nos. 3, 4, & 7 unless their Mss. are available. Possibly it is due to the presence of the word Brahma in his name that (*Āradhana-*) *Kathakāṣa* of Brahma-Nemidatta⁶ and *Trivarnācāra* (-dīpaka)⁷ and *Pratiṣṭhā-tilaka* of Brahmasūri⁸ are attributed to Brahmadeva through mistake. Thus we have before us only two authentic works of Brahmadeva viz., *Paramāśma-prakāśa-vṛtti* and *Dravyasaṃgraha-vṛtti*.⁹

His Commentary on P.-prakāśa—Brahmadeva does not mention his name in the colophon of *P.-prakāśa-vṛtti*. Bālacandra attributes a Sk. commentary to Brahmadeva; secondly, Daulatārāma plainly attributes the vṛtti to Brahmadeva; and lastly, the commentary on *P.-prakāśa* has much in common with the commentary on *Dravyasaṃgraha* where he mentions his name. There

1 See his Intro. of *Bṛhad-Dravyasaṃgraha* (RJS.) pp. 10-11. Some other views of Javaharlal referred to below are from this Intro.

2 Peterson's *Reports* V, p. xl.

3 MDJG. Vol. XIII, p. 4 and pp. 152-60.

4 As in *Akalāṅkādhya*, etc.

5 According to Peterson's *Reports*, Vol. IV, p. 154, a commentary of *Pañcastikāya* is attributed to Brahmadēvajī, but I have already pointed (see my Intro. to *Pravacana-sāra*, p. 101, Foot-note 5) that it is the same commentary as the one attributed to Jayasēna. The confusion remains still unexplained.

6 Peterson's *Reports* V, p. 40.

7 *Reports* of Śrī Allaka Pannālāla Digambara Jainā Sarasvatī Bhavana, Vol. I, p. 44.

8 I learn from my friend Pt. A. Shantiraj Shastri, Āsthāna Vidvān, Mysore, that Mss. of *Pratiṣṭhā-tilaka* of Brahmasūri are available.

9 Ed. in RJS, Bombay 1919 (2nd Ed.); also in SBJ, Vol. I.

are many striking agreements such as almost identical passages, the same quotations, similar illustrations and parallel method of discussion.¹ So there is no doubt that the same Brahmadeva has commented on these two works. Brahmadeva always gives a literal explanation of the dohās sometimes without repeating the words of the text. His aim is to explain the contents, and in only one or two places he explains grammatical forms.² After the literal explanation, he gives some additional discussion rather in a heavy style; and here and there he quotes early authors. He is quite at home in the application of various Nayas or view-points; and his enthusiasm for Nīścaya Naya and naturally spiritual knowledge is very great. The commentary on *P.-prakāśa* is not heavily loaded with technical details about Jaina dogmas like that on *Dravyasaṃgraha*, whose contents were mainly responsible for this. But for this commentary of Brahmadeva, *P.-prakāśa* would not have been so popular.

Jayasena and Brahmadeva—The analysis, introductory remarks, the closing discussions and some other features of Brahmadeva's commentary remind us of Jayasena's commentaries. Brahmadeva closely follows Jayasena with whose commentaries he appears to be thoroughly conversant. Some discussions in the commentary of *P.-prakāśa* are almost the same as those in the commentary of Jayasena on *Pañcastikāya*; compare, for instance, *P.-prakāśa* on II. 21 with *Pañcastikāya* on 23ff; *Pp.* on II 33 with *P.* on 152; and *Pp.* on II. 36 with *P.* on 146.

Brahmadeva's Date—Nowhere Brahmadeva informs us the age when he composed his works. i) Daulatārāma (2nd half of the 18th century A.D.) bases his Hindī commentary on Brahmadeva's Sk. ūkā. ii) Javaharlal has noted that Śubhacandra, in his commentary on *Kattigeyānupplakkha* (A.D. 1556 borrows much from Brahmadeva's Vṛtti of *Dravyasaṃgraha*. iii) Bālacandra Maladhāre plainly refers to Brahmadeva's commentary; but the date of Bālacandra cannot be settled on independent grounds. iv) In the Jesalmere³ Bhaṇḍāra there is a paper Ms. of Brahmadeva's Vṛtti of *Dravyasaṃgraha* copied in samvat 1485, i.e., A.D. 1428, at Maṇḍāva in the reign of Rāi Śrī Cāndarāya. Thus these external evidences put a later limit to his period that he flourished earlier than 1428 A.D. We shall now see what chronological material we get from his works. i) Taking a review of the various quotations⁴

1 Compare, for instance, *Dravya-saṃgraha-vṛtti*, pp. 53-54 etc., with *P.-prakāśa* commentary on II. 21; *Ds.* p. 63 with *Pp.* on II. 23; *Ds.* p. 129 with *Pp.* on I. 9; *Ds.* pp. 213-14 with *Pp.* on I 68; *Ds.* p. 216-16 with *Pp.* on II. 99, also II. 94.

2 For instance see his commentary on II. 25.

3 *Catalogue of Mss. at Jesalmere*, (p. 49. No. 15), G.O.S. Vol. XXI, Baroda 1923.

4 There are some 92 quotations (only a few mentioning either the author or the work) of which I have been able to trace the sources of some 50. I am very thankful to my friend Pt. Jugalkishore who kindly traced for me about a dozen quotations. A list of these quotations is given in the Appendix.

in *P.-prakāṣa-ṭīkā* Brahmadeva quotes from *Ārādhanā* of Śivārya; from *Bhāva-* and *Mokkha-pāhuḍa Pañcāstikāya*, *Pravacanasāra* and *Samayasāra* of Kunda-kunda (c. beginning of the Christian era); from *Tattvārthasūtra* of Umāsvatī, from *Ratnakaraṇḍa* of Samantabhadra (c. 2nd century A.D.); from Sk. *Siddha-bhakti* and *Iṣṭapadḍā* of Pūjyapāda (c. 5th century A.D.); from *Kattigēyānuppēkkhā* of Kumāra; from *Prañnōttara-ratnamālā* of Amoghavarṣa (c. 815-877 A.D.) from *Ātmanuśāsana* of Guṇabhadra (who finished the *Mahāpurāṇa* on 23rd June 897 A.D.); possibly from *Jivakāṇḍa* of Nemicaṇḍra (10th century A.D.), and also from his *Dravyasaṃgraha*; from *Puruṣārthasiddhyupāya* of Amṛtacandra (c. close of the 10th century A.D.); from *Yogasāra* of Amitagati (c. beginning of the 10th century A.D.);¹ from *Yastilaka-Campā* of Somadeva (959 A.D.); from *Dahapāhuḍa* of Rāmasīmha (earlier than Hemacandra 1089-1173 A.D.); from *Tattvānufāsana* of Rāmsena (earlier than Āśādhara who is put in the first half of the 13th century A.D.); from *Pañcaviṃśati* of Padmanandī (earlier than Padmaprabha who flourished at the close of the 12th century A.D.).² From this analysis of quotations what we can definitely state is that Brahmadeva is later than Somadeva who flourished in the middle of the 10th century. ii) In his opening remarks of *Dravyasaṃgraha-vṛtti* Brahmadeva narrates how Nemicaṇḍra first composed a small *Dravyasaṃgraha* in 26 verses and the same was enlarged later on for Soma, a resident of Āśramapura and a royal-treasurer of Śrīpāla Maṇḍaleśvara under the great king Bhoja of Dhārā in Mālava country. As this is not proved to be a contemporary piece of evidence we may not accept as fact that Nemicaṇḍra was a contemporary of Bhoja of Dhārā and that *Dravyasaṃgraha* was first a smaller work; but one thing is evident that Brahmadeva is sufficiently later than Bhoja of Dhārā whom he calls Kali-kāla-Cakravartī. Undoubtedly he refers to Bhojadeva, the Paramāra of Mālwa, the celebrated patron of learning; the period of Bhojadeva is A.D. 1018-1060. Brahmadeva's reference to Bhoja indicates that he is sufficiently later than 11th century A.D. iii) It is shown above that Brahmadeva is much influenced by the commentaries of Jayasena, and even some passages of Jayasena are almost reproduced by

- 1 Amitagati, who completed his *Subhāṣita-ratnasamḍāha* in 994 A.D., *Dharmaparīkṣā* in 1014 A.D. and *Pañcasamgraha* in 1017 A.D., gives the names of his predecessors thus: Vīrasaṇa, Dēvasaṇa, Amitagati (I), Nāmiṣena, Mādhavasāna; and then gives his name Amitagati (II). *Śrāvaka-cāra* and *Bhagavati Ārādhanā* (in Sk. verses) are also composed by Amitagati II. But with regard to three other works, namely, *Bhāvanā-dvātrīṃśati*, *Sāmāyika-pāṭha* and *Yogasāra*, in which the names of the predecessors are not given, it is rather difficult to say whether they are to be attributed to Amitagati I or II. It appears to have been usual with Amitagati II to give the names of his predecessors in bigger works, but they are absent in *Yogasāra*. Perhaps *Yogasāra* was composed by Amitagati I who is earlier than Amitagati II by two generations. A detailed study of the style, etc., of *Yogasāra* would solve this question.
- 2 Besides these Brahmadeva mentions some other works too, *Cāritrasāra*, *Sarvārthasiddhiṭṭippanaka*, *Samādhisataka* (see II. 33, 212.)

our author. Jayasena belonged to c. second half of the 12th century A.D.¹ So Brahmadeva is later than 12th century. To conclude from these external and internal evidences, Brahmadeva is later than Somadeva (959 A.D.), king Bhoja of Dhārā (A.D. 1018-60) and Jayasena (c. 12th century). So Brahmadeva² might be tentatively put in the 13th century A.D.³

3. Maladhāre Bālacandra and his Kannada Commentary

Extract from the Commentary and its Authorship—The Ms. P, which is described below in Section IV, contains an exhaustive commentary in Kannada on the dohās of *P. prakāśa*. I give below the opening portion of the commentary with some corrections :

nirupamacaritanavyaya-narujanandyaṁtanamalanātmasukha- |

karanadvaitanaghakṣaya-karanarham nelasugēna hṛtsarasijadoḥ | |

śrī Yōgīndra-dēvar māḍida Paramātmaprakāśam śmā dāhe cchāmdada grāṁthakke śrī Brahmadēvar māḍida Saṁskṛtada vṛttiyam noḍṭyapratibuddha-bōdhanārtham Karṇāṭa-vṛttiyam pelvē, grāṁtha-kartāram grāṁthada mōdalōḷu iṣṭadēvatānamaskāramam māḍuttam śmā dāheya sūtramam peldaparu | | 'Jā jāyā jhāṇaggiyae' etc. The concluding portion runs thus: sō' hamīmdimtu jagatraya kālatrayadōḷu kāyavāṇ-mana-karaṇatraya-buddhiyīm nīcaya nayadim-della jīvamgaḷumimtu niraṁtaram bhāvanēyam māḍi paḍaūḍēmbudu śrī Yōgīndradevarabhipr-āyam | | śrī Kurkkuṭāsana⁴ Maladhāre Bālacandradēva sūtram jīyāt | | From these extracts it is clear that this Kannada commentary is mainly based on Brahmadeva's Vṛtti, that there is sufficient reason to believe that Bālacandra is its author, and that he styles himself as Kurkkuṭāsana Maladhāre perhaps to distinguish himself from earlier and contemporary Bālacandras.

Comparison with Brahmadeva's Commentary—Bālacandra plainly tells us that he composed this gloss to enlighten the unenlightened by consulting Brahmadeva's commentary. This frank admission shows that he has

1 See my Intro. to *Pravacanasāra*, pp. 101-4.

2 One Brahmadeva of Mālasaṅgha and Sūrastagaṇa is mentioned in an inscription of 1142 A.D. (*Epigraphia Carnatica* IV, Nāgamaṅgala 94). There is no sufficient evidence to identify this Brahmadeva, with our commentator. The same name is often borne by many Jaina authors and monks.

3 In his commentary on *Dravyasamgraha* 49, Brahmadeva refers to a *Pañcanamaskāra grāṁtha*, of 12 thousand ślōkas. I have not got any information about this work. Javaharlal, however, reads the name as *Pañcanamaskāra Mahātmya*; he attributes its authorship to Simhanandi, a Bhaṭṭāraka of Mālava country; and he takes this Simhanandi as the one who was a contemporary of Śrutasaṅgara c. at the close of 15th century A.D. On the basis of this line of arguments Javaharlal puts Brahmadeva at the close of the 15th century A.D. (or in his own words about the middle of the 16th century Vikram era). This date is now invalidated by the fact that the Jesalmere Ms. of *Dravyasamgraha-vṛtti* of Brahmadēva is written in 1428 A.D. Javaharlal gives no authorities for some of his facts; and I think, there must have been some confusion in handling them.

4 Ms. reads *Kurkkuṭāsana*.

mainly followed Brahmadeva. As compared with the text presented in this edition Bālacandra's text contains six verses more.¹ In matters of Apabhraṃśa dialect of the dohās there is substantial agreement excepting the differences which are common with other Mss. in Kannaḍa script. Brahmadeva's additional details and amplificatory remarks are very often suppressed. Explanation of the dohā word by word, that appears to be the main aim of Bālacandra; and it is very rarely that he gives some additional remarks following Brahmadeva. The quotations of Brahmadeva are not included, but in some places Kannaḍa verses are added.² Bālacandra at times gives text-analysis as well; some of his statements are inconsistent with his own numbering. At the close of the work he concentrates more attention on literal explanation ignoring Brahmadeva's supplementary discussions. After the verse *Paṇḍava-Rāmahi* etc., Bālacandra gives another verse:

जं अल्लीणा जीवा तरति संसारसागरमणंतं ।
तं भव्वजीवसण्णं³ णंदउ जिणसासणं सुइरं⁴ ॥

Immediately after this there is an additional Kannaḍa verse:

nirupama-nijātma-sūcaka-vara Paramātmaprakāśa-vṛttiyanīdanā- |
daradimōḍuva vodipa paramanākulakṣaysukhakkē bhājanarappar | |

Maladhāre Bālacandra to be Distinguished from other Bālacandras—

Rich contributions to Kannaḍa literature by way of commentaries and original works have been made by many authors bearing the name Bālacandra; and it is often difficult to distinguish one from the other due to the paucity of information that we get about them. Mm. R. Narasimhachārya shows four Bālacandras.⁵ In a detailed discussion about Bālacandramuni, the preceptor of Abhinava Pampa, Mr. M. Govind Pai shows some nine Bālacandras.⁶ Because of his designation 'Kukkutāsana Maladhāre', our Bālacandra will have to be distinguished from other Bālacandras who have not mentioned this whole designation. The title Maladhāre has been used by some monks to distinguish themselves from others of the same name: Śravaṇa Belgoḷa Inscriptions mention monks such as Maladhāri Malliseṇa, Maladhāri Rāmacandra, Maladhāri Hemacandra. The designation was used both by Dīgambara

1 See pp. 4-5 above.

2 For instance on p. 191 of the Ms., i.e., on II, 116. The verse runs thus :

Annēvaram jīvam sukhi-yannēvaram snēhamilla manadōḷu mattam- |
tennēvaram snēham nilkannēvaram duḥkhamēmdanadhyātmadiram | |

3 Ms. reads *sarām*.

4 This verse reminds me of *Tattvasāra* 73 which runs thus :

जं तल्लीणा जीवा तरति संसारसागरं विसमं ।
तं सव्वजीवसरणं णंदउ सगपरणं तत्तं ॥

5 *Kavacarite*, Vol. I (Revised Ed. 1924), pp. 253, 321, 390 and 397; see also Vol. III, p. 64 of the Intro and its Foot notes.

6 *Abhinava Pampa* (Dharwar 1934) pp. 12, etc.

and Śvetāmbara monks. There was also one Śvetāmbara Maladhāri Hemacandra to be distinguished from the encyclopediac author Hemacandra (A.D. 1089–1173).¹

Date of Maladhāre Bālacandra—Beyond calling himself Kukkuṭāsana Maladhāre this Bālacandra supplies no information about himself; and hence to settle his date is all the more difficult. Maladhārideva or Kukkuṭāsana Maladhārideva occurs in some inscriptions at Śravaṇa Belgol as a personal name. But there is no doubt that it is a designation with the name of our Bālacandra; perhaps it is the name of a famous preceptor used by the monks of that line. Turning to epigraphic records one Bārendu (Balendu?) Maladhārideva is mentioned in Amarapuram Pillar Inscription of Śaka 1200 (A.D. 1278) in which some pupils have given a donation to a Jaina temple.² Our Bālacandra cannot be identified with this Bārendu though in personal names *indu* and *candra* are often interchanged, because the title Kukkuṭāsana is not found there and because this date of Bārendu is rather too early for our commentator.³ About the period of our author, the earlier limit is definite that he flourished after Brahmadeva whose commentary he follows; and we have tentatively put Brahmadeva in the 13th century A.D. We will have to take into consideration the conditions of travelling etc. in the 13th century. Bālacandra belongs to Karnaṭaka, possibly he lived near about Śravaṇa Belgol. Brahmadeva in all probability belongs to the North. So we can expect naturally a difference of half a century at least between the two, so that the Sk. commentary of Brahmadeva might reach the hands of Bālacandra. Thus tentatively Bālacandra might be put in the middle of the 14th century A. D.

Adhyātmi Bālacandra's Commentary—None of these three Kannaḍa commentaries can be attributed to Adhyātmi Bālacandra (c. beginning of the 13th century) to whom a Kannaḍa commentary on *P. prakāśa* is attributed by Mm. R. Narasimhacharya. He kindly informs me that he possesses no more details than those recorded in *Kavicaritā*. It is not at all improbable that Adhyātmi Bālacandra might have written a Kannaḍa commentary like his commentaries on the Prākṛit works of Kundakunda; but one should not be dogmatic

- 1 *Epigraphia Carnatica*, Vol. II. Peterson : Reports Vol, IV, p. 140 ff, V. p. 85, etc., C.D. Dalal and L. B. Gandhi: *Catalogue of Mss.* in Jesalmere Bhandars (G. O S.) pp. 3, 8, 15, 18, 36, etc.; M. D. Desai: (*Jaina Sāhityanō Itihāsa* (in *Gujarātī*), p. 244 ff.
- 2 M. S. R. Ayyangar and B. S. Rao: *Studies in South Indian Jainism*, part II, pp. 42, 45 and 50.
- 3 A Guerinot in his *Répertoire D' Epigraphie Jaina* mentions one Bālacandra Maladhāri; but the Hire-Avall inscription (*E. Carnatica*, VIII, sorab No 117) which he refers to reads Māracandra which, I think, is perhaps a mistake for Rāmacandra. I am thankful to Pt. D. L. Narasimhachar, Mysore, who kindly pointed out this error to me.

on this point because the information supplied by *Kavīcaritā* is very meagre and because there is the possibility of Bālacandra (Maladhāre) being mistaken for Bālacandra (Adhyātmī).

4. Another Kannada Gloss (Q-Gloss) on P.-prakāśa

The Kannada Gloss in the Ms. Q—As distinguished from the Kannada gloss contained in the Ms. K, here is another gloss accompanying the text of *P.-prakāśa* in the Ms. Q which is described below. We do not get any information either about the author or the date of this gloss. There is a salutatory remark, at the close of the Ms., in which it is stated that the auspicious feet of Munibhadrāsavāmi are a shelter. This indicates that either the author of this Kannada gloss or the copyist of this Ms. or its earlier original was a pupil of one Munibhadrāsavāmi.

Nature of this Gloss and the Need of such Glosses—This Q-gloss, like the K-gloss, gives merely the Kannada paraphrase of the dohās with no additional discussions. In matters of faithfulness etc. to the original, K-gloss appears to be superior to Q-gloss. That we come across such anonymous *vyākṛtis*, as we find in Mss. like K and Q, clearly indicates how *P.-prakāśa* was very popular in the circles of devout Jain ascetics and laymen; and it is imaginable that many novices, after they understood the meaning of dohās from their teachers, had their own study-notes by way of a literal paraphrase in their mother-tongue.

Comparison of Q-gloss with other Commentaries—A detailed comparison of this gloss with K-gloss on the one hand and with the Sk. commentary of Brahmadeva and its Kannada version by Maladhāre Bālacandra on the other would settle its exact relation with others. I have carefully studied the gloss on some twenty dohās selected at random, and compared the same with K-gloss and Brahmadeva's commentary. A few typical cases I might note here. On I. 25 K-gloss and Q-gloss agree almost verbally. In I. 26 *dēvu* is rendered by K as *paramātmadēvam*, by Brahmadeva as *paramārādhyah*, and by Q as *paramārādhyānappa Siddha-paramāṣṭhi*. In I. 46 *samsāru* is translated by K as *caturgati-samsāramum*, by Brahmadeva as *dravya-kṣātra - kāla-bhava-bhāva-rūpaḥ parami-gama-prasiddhaḥ pañca-prakāraḥ samsāraḥ*, by Bālacandra as *dravyādi-paṁcavidha-samsāramum*, and by Q-gloss as *dravya-kṣātra-bhava - bhāva-rūpamappa caturgati-samsāramum*. In I. 46*1, which is not found in Brahmadeva's recension, Q-gloss slightly improves on K-gloss and changes the order of words in the explanation. As against K-gloss on I. 82 noted above, Q reads *vamdaū* and explains it as *Baudhanum*; and *sēvaḍaū* is interpreted by Q-gloss as *svētaṭaṭanumemde*. In the same dohā *taruṇaū* is translated by K as *taruṇane*, by Brahmadeva as *yauvanasthāham*, by Bālacandra as *kumārane*, and by Q as *yavvananu*. To compare with the extracts given in our study of K-gloss,

the first words of II. 89 are interpreted by Bālacandra thus : *caṭṭahi* | *guḍ-ḍaḷum* | *paṭṭahi* | *maṇecakkalādigalaṃ* | *gumḍiyahi* | *gumḍige-mumtādupakar-aṇaḷum* |, while Q-gloss runs thus : *caṭṭahi* | *guḍḍarum* | *paṭṭahi* | *maṇega-lum* | *gumḍiyahi* | *gumḍigegaḷum*.¹ The interpretations of *cōddaha dahammi* (II. 117) by Q-gloss as *yauvana-memba kāladoḷu* and of *dhamdhā* or *dhamdhē* (read by Kannaḍa Mss. as *damde*) in II. 121 as *vyāsamgadoḷu* borrow words from and therefore agree with Brahmadeva rather than with K-gloss. Thus from the longer recension adopted by Q-gloss, as against the shorter one adopted by K-gloss, and from the comparisons drawn above I come to the conclusion that the Q-gloss is very much indebted to Brahmadeva's interpretations of the text; even words are the same sometimes as contrasted with the words in K-gloss etc. As the Q-gloss gives only a literal paraphrase, we do not find Brahmadeva's discussions there. It is just possible that the author of Q-gloss might have used K-gloss as well, as seen from some close agreements between the two. I have not come across any significant error and difference that might imply the independence of Q-gloss from Brahmadeva's commentary.

On the Date of Q-gloss—From the above comparison it is clear that this Q-gloss is later than Brahmadeva, and perhaps later than even Maladhāre Bālacandra, if the author of this gloss is proved, with additional evidences, to be a pupil of Munibhadra, and if this Munibhadra is the same as the one whose death is recorded in the Udrī inscription of about 1388 A.D.² then the composition of this gloss might be roughly dated in the last quarter of the 14th century A.D. This Munibhadra appears to have had many eminent disciples whose deaths have been recorded in some inscriptions.³

5. Daulatarāma and his Hindi Bhāṣa-ṭīkā

The Commentary and its Original Dialect—Daulatarāma's Bhāṣa-ṭīkā, which is presented in this edition, is only a substantial paraphrase in modern Hindi of Daulatarāma's original. The Hindi dialect as used by Daulatarāma, and possibly as it was current in his place and at his time, has some differences with the present-day Hindi. With a practical view that it might be useful to Jaina house-holders and monks it was rewritten into modern Hindi by Manoharlāl for the first edition (by adding Sk. words etc. into brackets), and the same has been slightly revised here and there for the second edition as well. I give here an extract from Daulatarāma's original text of the Commentary on I. 5, which would give us some idea of the form of Hindi used by him:

1 To distinguish from Apabh. words the Kannaḍa words are not italicised.

2 E. C., VIII, Sorab No. 146.

3 E. C., VIII, Sorab Nos. 107, 116, 118, 119 and 153.

“बहुनि तिनि सिद्धिनिके समूहिकूं मैं बन्दू हूँ । जे सिद्धिनिके समूहि निश्चयनयकरि अपने स्वरूप विषे तिष्ठे हैं, अरि विवहारिनयकरि सर्व लोकोलोककूं निसन्देहपणै प्रतक्ष देखे हैं । परन्तु परिपदार्थनि विषै तन्मयी नाहीं, अपने स्वरूपविषै तन्मयी हैं । जो परपदार्थनि विषै तन्मयी होई तो पराए सुख दुखकरि आप सुखी दुखी होई, सो कदापि नाहीं । विवहारिनयकरि स्थूल सूक्ष्म सकलिकूं केवलज्ञानि करि प्रतक्ष निसन्देह जानै हैं । काहू पदार्थसुं रागि द्वेष नाहीं । रागिके हेतुकरि जो काहुँको जाने तो राग द्वेषमई होय, सो इह बडा दुषण है । तार्ते यही निश्चय भया जो निश्चयकरि अपने स्वरूप विषै तिष्ठे हैं, पर विषै नाहीं । अरि अपनी ज्ञायक शक्ति करि सबिकूं प्रतक्ष देखे हैं जानै हैं । जो निश्चयकरि अपने स्वरूप विषै निवास कइया सो अपना स्वरूप ही आराधिवे योग्य है यह भावार्थ है ॥५॥”

This extract is copied by me from a recent Ms. from Sholapur, and it is checked by Pt. Premi with the help of an older Ms. from Bombay. Pt. Premi kindly informs me that still older Mss. may show certain dialectal differences, because it was always usual with learned copyists to change the dialect of the text here and there to bring it nearer the then current dialect. This gives a very good lesson to students of Apabhramśa literature, and very well explains the vowel variations shown by different Mss. of an Apabh. text.

Nature of Daulatarāma's Commentary—Daulatarāma's Hindi *ṭīkā* has no claim to any originality: it is merely a Hindi translation of Brahmadeva's Sanskrit commentary. Some of the heavy technical details of Brahmadeva have been lucidly summarised in Hindi. Like Brahmadeva he gives first a literal translation, and then adds supplementary discussion in short following Brahmadeva. It cannot be ignored that it is this Hindi rendering that has given popularity to Jōindu and his *P.-prakāśa*. Thus Daulatarāma has done the same service to the study of *P.-prakāśa* as that rendered by Rajamallā and Paṇḍe Hemarāja to that of *Samayasāra* and *Pravacanasāra*.²

Daulatarāma and his Date³—Daulatarāma belonged to Khaṇḍelavāla subsect, and his gotra was Kāśalivāla. Ānandrāma was the name of his father. He was a native of Basavā but used to live in Jayapura where he appears to have been an important office-holder of the state. When we look at the nature of the works composed by Daulatarāma, it is clear that he was well-versed in Sanskrit and was an ardent lover of his mother-tongue which he enriched in his own way by some of his translations. In Samvat 1795, when he finished his *Kriyākāśa* he was the Mantri of some king Jayasuta (as Pt. Premi interprets it, 'son of Jayasimha') by name and lived at that time in Udayapura. He mentions in his *Harivaṃśa*, that the Diwāns of Jayapura are generally from the Jain community; and Diwān Ratanchanda was his

1 Very often the Sholapur Ms. has *i* for *a* correctly shown in the Bombay Ms. I have retained them as they are

2 See my Intro. to *Pravacanasāra*, p. 110, etc.

3 This biographical information is based on Pt. Premi's note on Daulatarāma, see *Jaina Hitaishī*, Vol. XIII, pp. 20-21.

contemporary. He finished *Kriyākāśa* in Samvat 1795 and his *Harivamśa* in Samvat 1829 ; so the period of his literary activities belongs to the second half of the 18th century A.D.

His works and their Importance—His *Kriyākāśa* is mentioned above. It was at the request of Rayamalla, a pious house-holder from Jayapura, that he rendered into Hindi prose *Padmapurāṇa* (Samvat 1823), *Ādipurāṇa* (Samvat 1824) and *Harivamśa* (Samvat 1829) and *Śrīpālacarita*. Then there is his Hindi commentary on *P.-prakāśa* based on Brahmadeva's Sk. commentary. Besides, he completed in Samvat 1827 the Hindi prose commentary on *Puruṣārtha-siddhyupāya* which was left incomplete by Pt. Toḍaramalla. Pt. Premi remarks that his Hindi translations of the above Purāṇas have not only preserved and propagated Jain tradition but also have been of great benefit to the Jain community.

IV. Description of Mss. Studied and their Mutual Relation

A. Described—This is a paper Ms. about 10.7 by 5 inches in size numbered as 955 of 1892-95, from the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona. It contains 124 loose folios written on both sides, each page containing 13 lines. It is written in neat Devanāgarī hand in black ink; and the marginal lines, the double strokes on both sides of the number etc. the central spot which imitates the string-hole of the palm-leaf Mss., and the two marginal spots, horizontal with the central one, on one side of the folio, possibly for putting page-numbers, are in red ink. It contains dohās as well as Brahmadeva's Sk. commentary of *Paramātma-prakāśa*. In the Sk. portion the Ms. is fairly accurate, and the Sk. commentary in the present edition is carefully checked with the help of this Ms. Somehow, possibly through oversight, the commentary on dohās II. 18-19 is lost, but the dohās are added in the margin in a different hand. There is a good deal of irregularity about the nasals in this Ms. : *anunāsika* and *anusvāra* are represented by the same sign. Sometimes there are dialectal discrepancies between the regular text and the text repeated in the commentary. After the Apabhramśa verse *Paṇḍava Rāmahi* etc., there is this closing passage reproduced as it is :

परमात्मप्रकाशग्रन्थस्य विवरणं समाप्तं ॥ ग्रंथसंख्या ४००० सहस्रचारि ॥ संवत् १६३० मार्गशीर्षे सप्तम्यां
रवौ लिखितं रावतगोरा श्री चौहाणवंशे लिखत्वा यो दादाति तस्य शुभं ॥ कल्याणमाला करोतु नित्यं ॥ पंडित श्री
धनपालेन आत्मपठनार्थं शिष्यार्थाय च शिवमस्तु श्री चतुर्विधसंघस्य ॥ ॥श्रीः॥

B. Described—It is a paper Ms. about 5.5 by 5 inches in size, belonging to the collection of Mss. of my uncle, the late lamented **Babaji Upadhye** of Sadalga, Dt. Belgaum. (See also *Anākānta* I. p. 545 and *Pāhudaśā* Intro. pp. 10-13). It is included in a *guṭikā*-Ms. of country paper stitched at the left

end. The characters are Devanāgarī with some lines in red and some in black ink in the major part of it; and some pages at the end are written in black ink alone. The appearance of the Ms. shows that it is badly handled. The first 8 leaves are lost; a dozen leaves at the end are halftorn; and the letters on many pages in the middle are rubbed away and cannot be read. As to the contents of this whole Ms.; Folios 9-10: *Bhaktāmarastōtra* of Mānatūṅga; ff. 10-13: *Laghu-svayambhū* of Devanandī; ff. 13-16: *Bhāvanā-batīṣi*, i.e., *Dvātrīṃśikā* of Amitagatī; ff. 16-18: *Balabhadrasvāmī-rāṇvī* (? in old Hindi); ff. 18-20: *Śrutabhakti*; ff. 20-35: *Tattvārthasūtra* (only sūtras, with some marginal corrections in Kannaḍa characters); ff. 35-62; enumerative lists of Mārgaṇāsthānas etc. and some notes from *Gōmmaṣāra* etc.; ff. 63-81; *Dōhāpāhuḍa* of Yōgēndra; ff. 81-111: *Paramātma-prakāṣa* (only dohās); ff. (page Nos. are rubbed away) *paḍikkammāmī* and some Bhaktis; ff. 128-135 (?): *Ārāḍhanāsāra* of Devasena (Text only); ff. 136-139: *Yōgabhakti*; ff. 139-148: *Jinasahasranāma* of Āśādhara; then *Sajjanacittavallabha* etc. This Ms. is at least 200 years old. It is fairly accurate excepting for a few scribal errors. Here and there it retains *n* for *ṇ*, but this is ignored in recording the readings. As seen above ff. 81-111 are occupied by the text of *Paramātma-prakāṣa*. The opening verse is *ciddānandaika* etc., the same as the opening *maṅgala* of Brahmadeva's commentary, in place of the first doha, and it is numbered as one. Differences in the strength of the text have been recorded along with the various readings. In the middle there has been some confusion about the numbers, though the total number of dohās is shown as 342 at the end. Especially in this portion some pages are bored by worms; many letters have lost their ink; and many pages are rubbed away and the letters cannot be made out. It closes with the phrase :

इति परमात्मप्रकाशः समाप्तः ॥ ॥ शुभमस्तु ॥

C. Described—This is a paper Ms., about 11 by 4.5 inches in size, numbered as 1446 of 1886-92 from the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona. It contains 21 loose folios written on both sides, each page containing about 9 lines. It is written in neat Devanāgarī hand. It contains only dohās; the first two pages are crowded with interlinear and marginal notes giving the Sk *chāyā* of difficult words. The Ms. is fairly accurate, but the copyist has not been able to read his *adarsa* correctly: *paru* is once represented by *pattu* and once by *yattu*; *u* and *o* are interchanged, and there is a good deal of confusion about the presence or otherwise of the sign of *anusvāra*. In some places there are discrepancies of vowels. Differences in the number of dohās are noted in the various readings. The Ms. ends thus :

इति श्रीपरमात्मप्रका[श]दोहा समाप्त ॥ ॥ शुभं भवतु ॥ संवत् १७०५ वर्ष आसाढवदि १२ बुधवासरे ॥

P. Described—This is a paper Ms., about 12.5 by 6.3 inches in size, with a label '*Paramātmaprakāśa Kārṇāṭaka śikṣasahita*', new No. 223, from Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah (Bihar). It covers loose folios Nos. 160–204, so it forms a part of some bigger bundle of Mss. Hand-made paper with water-marks is used. It is written in Kannaḍa characters on both sides of the leaf with some 18-20 lines on each page. It is a new Ms. perhaps something like 50 years old. It contains the text and the Kannaḍa commentary of (Kurkkuṭāsana Maladhāre) Bālacandradeva which is a Kannaḍa rendering of the Sk. commentary of Brahmadeva.

Compared with Brahmadeva's text presented in this edition, this Ms. contains six additional verses. Two verses (*kayakīṣeṣiṭh* etc. and *appasahave* etc.) after II. 36, one *dohā* (*are jīu sokkhe* etc.) after II. 134; one *dohā* (*paṇṇa ṇa māriya* etc.) after II. 140; one *dohā* (*appaha paraha* etc.) after II. 156; and one more (*aṃṣu vi gaṃtu vi* etc.) after II. 203. With these six additional verses we have 351 verses in all, and the last verse is serially numbered as 351. In his concluding remark Bālacandra says that there are 350 verses in all, but this is not consistent with his own numbering. One or two such inconsistencies are found in his remarks in other places also.

This Ms. reached my hands very late, so I have not recorded the various readings from it. It has many scribal errors here and there. *Dh* is correctly written in this Ms., though with other Kannaḍa Mss. It has certain common features : the presense of */*, the use of *nōlli* in the *dohās*, absence of any distinction between short and long vowels etc. Practically the text agrees with that of Brahmadeva, but throughout this Ms. there is a decided inclination towards form like *Bamhū*, *kāraṇa*, *bhāvem*, *mellavi*, *ke vi*, *jehva poggāḷu*, *ekka jojji sojji* rather than *Bambhu*, *kāraṇa*, *bhāvīm*, *millivi*, *ki vi*, *jima*, *puggaḷu*, *ikka*, *jo ji*, *so ji* etc.

This Ms. begins thus : *śrī Pārśvanāthāya namaḥ || Paramātmaprakāśa baruvada-kke nirvighnamastu | | subhamastu | | nirupaman* etc. The concluding passage runs thus, and it is reproduced without any emendations besides spacing : *imti Paramātmaprakāśa mahāśāstra gramtha samāptam bhūyāt maṃgalamahā śrī śrī śrī jalādrakṣe tailādrakṣe rakṣe śītaḷabamdhant | kaṣṭhena likhitam śāstram yatnena pratipālayet | |*

Q. Described—This is a palm-leaf Ms., about 20.2 by 2.1 inches in size with a label '*Paramātmaprakāśa vṛtti*' new Nos. 190 and 345, from the Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah (Bihar). This Ms. is not carefully preserved; it appears to have been exposed to smoke and moisture; the edges of some leaves are broken; and some leaves in the middle are mutilated. I think, it might be about 100 years old. The folios, as we have in it, are numbered 137 to 158; so it must have formed originally a part of a bundle of Mss. The first leaf is missing, so we begin from *dohā* No. 13. It is written in Kannaḍa characters

on both sides of the leaves with eleven lines on each page. It contains dohās with a Kannada *vṛtti*.

The readings from this Ms. have not been recorded. It has the usual peculiarities of Kannada Mss. (See, for instance T, K and M described below) such as the use of *d* and *p* for *dh* and *ph* etc., the presence of *l* for *l* in dohās etc. Here *vv* is used as against other Kannada Mss. which prefer *bb*. In the Kannada *vṛtti* some times old form of *r* is used. Excepting a few peculiarities like the inclination towards *e* and *o* rather than *i* and *u* and the forms such as *jojjī* and *Bamhu* for *joji* and *Bambhu* etc., this Ms., on the whole, agrees with Brahmadeva's text. However it has a few important forms, here and there, which are common with the family of Mss. like T, K and M.

As compared with the strength of Brahmadeva's text, this Ms. is wanting in the following dohās: I. 21-32, I. 65* 1, I. 123*2-3, II. 46*1, II. 111*2-4, II. 137*5, and II. 185. Then there are some additional verses: one (*jā jāṇal* etc.) after I. 46; one dohā (*bhavyābhavyaha* etc.) after II. 74; and one (*jīvā jīṇavara* etc.) after II. 197. Thus 14 verses are wanting and 3 are additional. So we expect the total number to have been 334, but the Ms. serially numbers the last verse as 333, because No. 179 is numbered twice.

The concluding passage of the Ms., without any corrections, runs thus:
*Paramātmoprekāṣavṛtti samāptaḥ || śrī vitarōgāya namaḥ || {śrī sarasvatyai namaḥ śrī
 Mūnibhadrastamigāla śrī pāda padmaṅgale śaraṇu || maṅgamahā śrī śrī śrī.*

R. Described—This is a palm-leaf Ms., about 14 by 2 inches in size, with a label '*Paramātmoprekāṣa mūla*', new No. 130, from the Jainā Siddhānta Bhavana, Arrah (Bihar). The Ms. is not very old; so far as I can judge, it does not appear to me older than 75 years. It contains only the dohās written in Kannada characters on both sides of the leaves with eight lines on each page. It contains leaves Nos. 1-16. The last page is half blank with a table of contents, written in a modern hand enumerating the names of anuprekṣās. This Ms. like other Kannada Mss. described below, has *d* for *dh*, *l* for *l*, *bb* for *vv*, and forms like *sojjī*, and very often *i* and *hi* are confounded in the dohās. In a modern hand *anvaya* numbers are put between the lines; and some corrections and additions are made here and there. In the margin some additional verses are written in modern hand, and almost all of these verses are the same as those found in Brahmadeva's commentary.

As compared with Brahmadeva's text presented in this edition, this Ms. interchanges the positions of I. 4 and I. 5, II. 20 and II. 21, II. 77 and II. 78, II. 79 and II. 80, II. 144 and II. 145-46. It does not include dohās nos. I. 28-32, I. 65*1, II. 46*1, II. 111*2-4, II. 137*5, II. 185, and II. 209. Thus it is wanting in 13 verses as compared with Brahmadeva's

text. But there are some additional verses ; one dohā (*jā jānāi sō jāni* etc.) after I. 46; two verses (*kayakiṣe* etc. and *appasarūv* etc.) after II. 36; one dohā (*bhabbābhabbaha* etc.) after II. 74; and one dohā (*pavānanaraya* etc.) is introduced with the phrase *uktam ca* after II. 127, and it is serially numbered. With the addition and subtraction of the above verses the total we get is 337 which is the last serial number according to the Ms. as well; but somehow the copyist adds a remark that the total is 340.

The various readings from this Ms. are not recorded. On the whole, I find, this Ms. agrees with Brahmadeva's text, though there are some cases where it has some common readings with TKM described below. There are some plain cases where it is corrected with the help of some Ms. belonging to the family of TKM. In matters of dialectal features *e* and *o* are more frequent than *i* and *u* in words like *ke vi*, *mellavi*, *benṇi*, *jettii*, *ketthu*, *poggatu* etc. With regard to minor vowel-changes this Ms. has many discrepancies.

It opens with '*śri paṃcagurubhyo namaḥ*', and then the first dohā follows. It is concluded with a phrase '*aṃtu mālagraṃtha 340*' at the end of the verse *paramapayagayāṇam* which is numbered as 337.

S. Described—This is a palm-leaf Ms. about 15 by 2.1 inches in size, with a label '*Yogindra gāthā*', new Nos. 163 and 1065, from the Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah (Bihar). This Ms. may be about 75 years old. It contains leaves Nos. 151 to 160; so it must have formed a part of a bigger bundle of Mss. It has only dohās written in Kannaḍa characters on both the sides of the leaves with eight to ten lines in a page. Sometimes *anvaya* numbers are put between the lines; and some Sanskrit equivalents taken from the commentary of Brahmadeva are written in the margin. Possibly the copyist himself, when he revised this Ms. with the help of another Ms. has added, in the marginal space, many dohās which he found missing in the text. In one place a Kannaḍa verse (*annevaram* etc.) is added in the margin; it is taken from the Kannaḍa commentary of Bālacandra. This Ms. is very defective in numbering; sometimes numbers are leaped over, because they are often put after three or five verses.

As in other Kannaḍa Mss. we have here *d* for *dh*, *bb* for *vv* etc. In dialectal details this Ms. very closely agrees with the text of Brahmadeva printed in this edition. As against other Kannaḍa Mss. it has forms like *jema*, *tim*, *millivi*, *jitthu* etc. Many forms which were first written as *so ji*, *vaṃdai* (in I. 82 and 88), *Bambhu*, *ihu*, *jitthu*, *tim* have been corrected as *sojji*, *buddai*, *Bamhu*, *ehu*, *jetthu*, *tem* etc. Of all the Kannaḍa Mss. examined by me this is the only Ms. that is specially particular about the nasal sign which is represented by a small circular dot placed slightly above the line immediately after the letter to be nasalised. So far as I know, it is an innovation in the Kannaḍa

script; and the copyist rightly understood the needs of Apabhraṃśa phonetics, and added this sign closely imitating the sign of *anusvara* in Devanāgarī.

I have no doubt that this Ms. is copied from a Devanāgarī Ms. containing the text and the commentary of Brahmadeva; and further possibly by the same copyist it is revised with the help of Kannaḍa Mss., some predecessor of our P. containing Maladhāri Bālacandra's commentary and some Mss. of TKM-group.

As compared with our text the following dohās are missing in this Ms.: I. 33-4, I. 65*1, I. 117, II. 20, II. 60, II. 62, II. 111*2-4, II. 178, II. 180, II. 199; but all these verses are added in the marginal space possibly by the same copyist. There is only one additional verse (*akkharaḍa* etc.) after II. 84 which is serially numbered. Then some additional verses are found in the marginal space on p. 155, two verses (*kāyakiṣaṣā** etc. and *appasahavi* etc.) possibly after II. 36; then two verses (*pavēṇa naraya* etc. and *bhabbābhabbaha* etc.) possibly after II. 62; on p. 158 two verses (*visayaha kārane* etc. and *panca ṇa* etc.) and lastly on p. 159 one dohā (*appaha paraha* etc.).

The Ms. is concluded with the words '*Yogindragāthe samāptaḥ*'

T. Described—This is a palm-leaf Ms., about 17.5 by 2 inches in size, from Śrī-Vīra-vāṇī-vilāsa-bhavana, Mūḍabidri, South Kanara. It contains 8 folios written on both sides, and on the second page of the 8th leaf Ms K, which is described below, begins. There are 9 lines on each page with about 75 to 80 letters in each line. As usual in palm-leaf Mss. we have two string-holes with unwritten space squaring them. These spaces divide the written leaf into three distinct portions. It is written in Old-Kannaḍa characters, and contains only the dohās of *Paramātma-prakāśa*. The Ms. is carefully inscribed, the letters being uniformly shaped. The edges of leaves are somewhat broken here and there, though the Ms., on the whole, is well preserved. In a few places, not more than three or four, there are blank spaces for individual letters whenever the copyist has not followed his *adaria*. The opening phrase is *Śrī Śāntināthāya namaḥ*, and then the dohās follow.

K. Described—This is a palm-leaf Ms., about 17.5 by 2 inches in size, from Śrī Vīravāṇī-vilāsa-bhavana, Mūḍabidri, South Kanara. It covers leaves 8 to 36, the first 8 leaves being occupied by Ms. T which is described above. This Ms. begins on the second page of the 8th leaf; it ends on the second page of the 36th leaf; and after that we have a few Sanskrit verses written in a different hand. In general appearance, the number of lines etc., K closely agrees with T. The edges of leaves have become smoky, and are broken here and there. From the similarity in hand-writing it is clear that T and K are written by one and the same person. It is plain from

the pagination that these two Mss. are expected to stand together. It contains dohās with Kannada explanation. It is written in Old-Kannada characters. As to orthographical peculiarities, the old *r* is used in the Kannada commentary; sometimes new *r* is written, but it is struck off and again substituted by the old form. The Ms. opens with *śrī Śāntināthāya namaḥ*, and ends thus : *Yogendra-gāthe samāpta || śrī Śāntināthāya namaḥ ||* etc. etc.

M. Described—This is a palm-leaf Ms., about 17.5 by 2 inches in size. It covers 8 leaves, Nos. 16 to 23. On the first page of leaf No. 16 a Kannada commentary on *Mokṣaprabhīta* by Bālacandra is concluded, and then the dohās of *Paramātmaprakāśa* follow with no introductory remark, not even the opening salutation. This Ms. contains merely the dohās. The hand-writing is different here from the two previous Mss. It has 9 or 10 lines on each page, with some 75 letters in each line. The second page of leaf No. 23 is almost blank with one fourth of a line. From the uncertain shape of letters it is clear that the copyist is not sufficiently trained in writing on palm-leaves. Very often modern *u* is used in these Kannada characters. The surface of pages is besmeared with black powder making the inscribed letters quite visible. The text abruptly ends without any significant indication.

Additional Information about T, K and M—It is necessary to give some more information about the Mss. T, K and M. When I visited Mūḍa-bidri, in December 1935, on my way to Mysore to attend the Eighth All-India Oriental Conference, Pt. Loknātha Shastri took me to the Śrī Viravānt-vilāsa-bhavana, which, though a new Institution, contains many valuable Mss. As I wanted some Kannada Mss. of *Paramātmaprakāśa*, he gave me a bundle of palm-leaves under wooden boards. Though the length is the same, some leaves are of different breadth. It is this bundle that contains the Mss. T, K and M described above. To indicate the heterogeneous character of this bundle, I think I should give here the names of works contained in it. Folios 1-8 dohās *P. prakāśa* (T described above); ff. 8-36; dohās of the same with Kannada explanation (K described above); ff. 1-15 (different pagination and different handwriting) : *Nāgākumāracarita* of Malliṣeṇa, and some stray Sk. verses on the remaining space of p. 15; ff. 16-7 : *Upasakasaṃskṛta* of Padmanandi; ff. 18-21 : *Nītisārasamuccaya* also called *Samayabhāṣaṇa*, of Indranandi; ff. 22-5 : a small *upasakacāra* with religious and didactic contents, the first verse of which runs thus: *śrīmaḥ Jinēndra-candrasya sāndra-vāk-candrikāśrīlaḥ, hṛṣīṣa (?) duṣṭakarmāṣṭa-gharṃz-samtāpanaśramam || durācāra-cayākrānta-duḥkh-samdāhaśāntayē, bravīm̐yōpāsakacāram cāru-mukti sukhapradam* here some pages are missing; ff. 33-36 (the hand-writing is different here) the same *Upasakacāra* again : ff. 1-2 (no pagination) *Prāśnōttara-ratnamālīkā*, of

Amoghavarsa; ff. 2-4; *Vṛataphala-varṇanam* of Prabhācandra; then there is the Ms. M. containing the dohās only of *P.-prakaśa*. Then there are stray leaves irregularly numbered and they contain portions of *Prānāttara-ratnamālīkā*, the Kannaḍa commentary on *Svarūpa-sambādhana*, some verses on *anuprākṣa*, some remarks in Kannaḍa on the *lōkasvarūpa*. Thus this bundle is made of Mss. and leaves of Mss. carelessly collected possibly by a copyist and tied between two boards. The stray leaves collected here must have rendered their remaining portions incomplete elsewhere.

This bundle has a modern label in Kannaḍa like this : No. (20) *ke basti* (in Devanāgarī) 1) *Nāgakumāra Yōgēndragāthā, mūla tathā. karṇāṭakavyākhyāna*. 2) *Prānāttarasaratnamālīkā*. 'Sanskṛta.' There is another No. 60 (in English) to the left of this label.

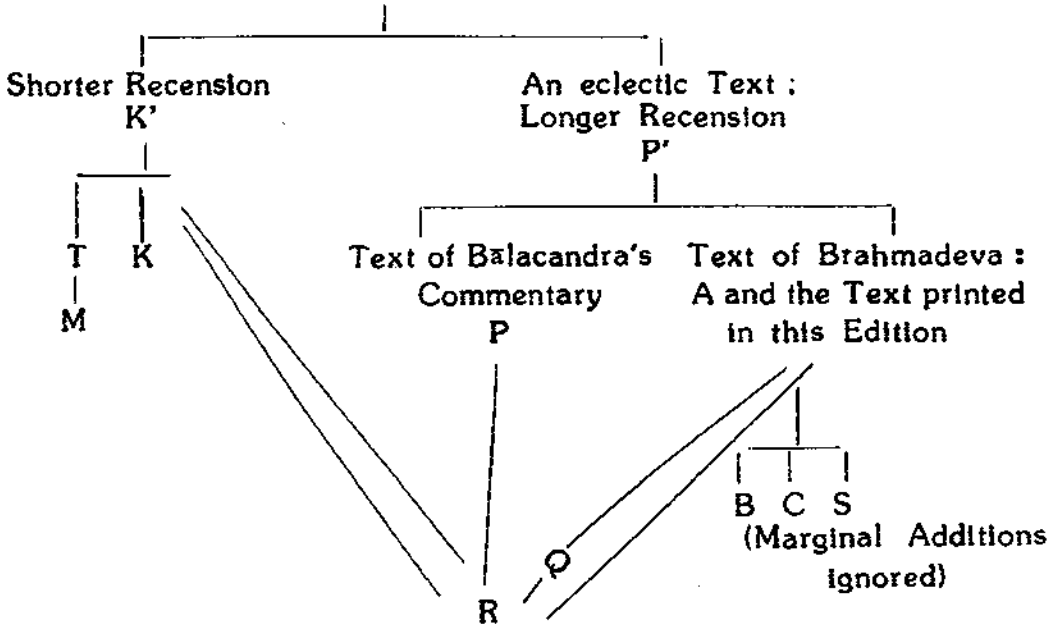
Common Characteristics of TKM—These three Mss., T, K. and M, have certain common characteristics which should not be taken as dialectal peculiarities, because they arise out of the nature of the script, viz.; Kannaḍa and its phonetic traits, in which they are all written. In these Mss. / is uniformly shown as *l*; initial / is often written wrongly as *a*; no distinction between *anunāsika* and *anusvāra* is made : the script does not possess separate signs for these two; long and short vowels are not distinguished; *d* and *dh*, *p* and *ph* etc. are not distinguished; *ḍ* and *ḍh* are sometimes distinguished; very often *i*, *u* and *e* are represented by *yi*, *yu* and *ye*; the conjuncts are shown by a *nōlli*, i.e., a fat zero preceding a consonant indicating that the following consonant is to be duplicated; in fact the conjuncts, therefore, have values like *ghgh*, *khkh*, *thth*, *dhdh* etc.; very often *v* and *vv* are shown as *b* and *bb*. In noting the variants I have ignored cases of *l*; some important anusvāras have been noted; *d* or *dh* and *p* or *ph* etc. are ignored; long and short vowels are correctly shown; and the conjuncts are written according to Hemacandra's rule VIII, ii, 90. A few cases of *bb* are noted in the beginning; *sō ji* and *jō ji* are uniformly written in these Mss. as *sōjji* and *jōjji*; so these readings are recorded in a few places in the beginning and then ignored.

Relation between T, K and M—As to the relation between these three Mss., they form one family and ultimately, behind some generations of Mss., they are copied from one and the same Ms. preferably with a Kannaḍa commentary, as it is clear from the order and number of dohās and from their agreement even in errors sometimes. After II. 8 T, K and M have a Kannaḍa phrase : *mōkṣamāṃ pēḍaparū*. This phrase has some propriety in K. as it contains a Kannaḍa commentary; but its presence in T only shows that it is also copied from an earlier Ms. having a Kannaḍa commentary. Though T and K are written by the same copyist, they do not copy each other, but possibly they follow another Ms. having the text

with commentary (corresponding to T and K), the text in the both being copied from some earlier source. The age of T and K is the same; and so far as I can judge they may be at least 200 years old. The leaves of T and K are brittle and show signs of being exposed to moisture and smoke. T is written first, and then K is written sometimes consulting the former. M is a later Ms. though apparently it looks older because of the blackish colour of its pages. M is a mechanical copy of T even inheriting the errors therein. For instance, in II. 29 T has a decorative zero after the letter *mu*, which comes at the end of a line, in the word *muṇṇijjāi*; but the copyist of M takes that decorative zero as *nōlli* and writes *muṇṇijjāi*. In II. 203 T writes *caū*, then there is space for a letter and then *i*, M writes *caūi* without blank space, while the reading of K is *caūgaī*. In II. 27 T leaves blank space for *la* in writing the word *lahum*; M does not leave that space, but *la* is added later on in the interlinear space, while K writes *lahum*. There are one or two cases where M improves on T possibly following K, but usually K is not consulted by M. The *dohās* wanting in these Mss. as compared with our text, are noted separately.

Relation between the Mss. described above—It would be a mistake to classify the above Mss. on the basis of locality, script etc., because they show cross influences in the addition and the omission of verses and in important various readings. The omission of *dohās* too cannot be a safe criterion, because when the scribes copied only the text from the body of Brahmadeva's commentary, they have committed errors in selecting the various *dohās* from a closely written Ms. of the commentary of Brahmadeva. It is always difficult to mark out the verses consecutively and to distinguish a verse of the text from a verse quoted in the commentary. In my classification I am guided by additional verses which are not found quoted in the Sk. commentary and by significant various readings which cannot be explained as due to the peculiarities of script. T, K and M form a distinct group which we might call 'Shorter Recension' for the sake of convenience. M closely follows T, and T and K appear to be copied from an earlier Ms., say a postulate K', containing the text with a Kannada gloss. Maladhāre Bālacandra plainly says that he is following the *Vṛtti* of Brahmadeva but the text that was before him contained some more verses not admitted by Brahmadeva. This leads to the postulation of a Ms. P, containing a longer (and eclectic) recension of the text, which was used by Bālacandra. A and the text printed in this edition represent a shorter form of P', as accepted by Brahmadeva, by dropping some *dohās*. B, C and S (ignoring the marginal additions in S) are various attempts to copy out the bare text alone from the commentary of Brahmadeva. Q is nearer A, but it shows some influence of TKM group. R shows the influence of A, P and TKM.

The relation between the Mss. is shown below in a genealogical form.
Joindu's Text



Various Readings on the text of the *Paramātma prakāśa* are noted along with the text printed at the end of this volume. In noting the variants apparent scribal errors are ignored. A few typical forms of nasals are noted. In the case of readings from Kannada Mss., *l* for *l*, *bb* for *vv*, *khkh* for *kkh* are practically ignored; the distinction between long and short vowels and between *d* and *dh*, which is not shown in Kannada Mss., is correctly shown here. There are two ways of preparing a Ms. : first, a scribe may directly copy from a Ms., and secondly, some one may dictate and the scribe may go on writing. In the first, there would be errors due to orthographical confusion etc. ; and in the second, due to auditory confusion etc. Some of the variants might be explained in the light of these two sources of errors. If I have given readings more than necessary, I hope, I have erred on the safer side.

The Ms. A shows some differences here and there in the Sanskrit commentary. For instance, the concluding portion of it on dohā 4 runs thus तानपि कथंभूतान् । लोकालोकप्रकाशकेवलज्ञानेन त्रिभुवनगुहकान् लोकालोकं परमात्मस्वरूपावलोकनं निश्चयेन पुद्गलादिपदार्थनिवलोकनं व्यवहारनयेन केवलज्ञानप्रकाशेन समग्रहितस्वरूपभूते निर्वाणपदे तिष्ठन्ति यतः, ततस्तन्निर्वाणमुपादेयमिति तात्पर्यार्थः ।

On dohā 5, the portion of the commentary after *ṇiyamī* runs thus : आत्मनि वसन्तोऽपि लोकालोकं समस्तमेषप्रत्यक्षीभूतं तथा षड्द्रव्यस्वरूपं विमलं निर्मलं अवलोकयन्तः निश्चयन्तः तिष्ठन्ति । इदानीं विशेषः ।

There are many verbal disagreements which do not affect the meaning. Here, in noting the readings, our attention is mainly concentrated on the Apabhramśa text.

V. Critical account of the Mss. of Yōgasāra

Description of the Mss.—The critical text of *Yōgasāra*, included in this volume, is based on the following Mss. :

A (अ): It is a paper Ms., about 14 by 8.5 inches, from Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah (Bihar), received through the kindness of Pt. K. Bhujabali Shastri. It contains 10 folios written on both sides, the first and the last sheets being blank on one side. It is a recent Devanāgarī transcript, made in Samvat 1992, from an older Ms. belonging to some Bhaṇḍāra in Delhi. It contains verses and interlinear Gujarātī translation (*Tabbā*) written in columns of short lines. There are many scribal errors here and there. Even in mistakes this Ms. agrees with P described below. Opening : ॥ ६० ॥ श्री गुरुभ्यो नमः । End : इति श्रीयोगसारग्रंथ समाप्तः ॥

P (प): This is a paper Ms., about 11 by 5 inches, from Patan Bhaṇḍāra received through the kindness of Muni Śrī Puṇyavijayaji Mahārāj. It has 22 folios written on both sides. It contains verses and interlinear Gujarātī translation written in columns of short lines. With negligible dialectal variations this translation is identical in A and P. In some places this Ms. shows initial *n* and the absence of *ya-sruṭi*. Devanāgarī *e* and *o* are written in the *paḍi-mātra* form. Separation of words in Dohās is indicated by small spots in red ink at the top of lines. On the whole this Ms. is fairly accurate and sufficiently helpful in checking the scribal errors in A. It ends thus : इति योगसार समाप्तम् ॥ The *Tabbā* or the Gujarātī translation gives the age of this Ms. : संवत् १७१२ वर्षे चैत्रशुदि १२ रवौ दिने लषीतं ॥

B (ब): This is a paper Ms., about 12 by 5.5 inches in size, received from Pt. Nathurām Premī, Bombay. It contains only Dohās written on 4 folios, and the last page is blank. It is closely written in Devanāgarī characters each page having some 15 lines. Excepting a few scribal errors and lapses the Ms. is fairly accurate. This Ms. is somewhat particular about *anusvāra*, and shows preferably *u* in the Nom Sg. while others often have *a*. In some places the order of verses differs from the rest, see for instance verses Nos. 83-84 and 90-91. A portion of No. 48 is missing, but the omitted line is written on the margin in a different hand. The folios are brittle, and the edges are broken here and there. From its appearance it is the oldest Ms. of these four. I am told that the text of *Yōgasāra* printed in Maṇikachandra D. J. Granthamālā was based on this Ms. It ends : इति योगसार समाप्ताः ॥

JH (झ): This is a paper Ms., about 11 by 5 inches in size, from Śrī Allaka Pannālāla D. J. Sarasvatī Bhavan, Jhalarapatan, received through the kindness of Pt. Pannalal Soni. It contains only Dohās written on 5 folios, the first page being blank. It is written in neat Devanāgarī hand with regular red strokes indicating the lines. This Ms. contains many scribal errors. Some of its special readings agree with the printed text noted above.

Comparative Remarks—These four Mss. show two distinct groups: B stands by itself, while A, P and Jh form a family. A and P go back to a common predecessor containing Gujarātī Tabbā. Their textual agreements are quite close and the Gujarātī translation is common to both. The dialectal form of this translation in P is older than that in A. As against B, which is the oldest of the four, Mss. A and P show the tendency of having *a* for *u* of the Nom.; they ignore *anusvara*; and *ai* is often written as *au*.

Present Text and Readings—An intelligent record of text tradition has been my aim in building the text of *Yogasāra*. In editing an Apabhramśa text, especially when there are vowel variations between different Mss., it is often difficult to distinguish genuine variants from scribal errors. In representing the vowels I have mainly followed P and B often preference being shown to the latter. Even earlier Mss. have confused *i* and *h*; so in spite of their agreement I have made some changes in the text, of course with a question mark. I have given more readings merely to shed sufficient light on the textual variations. The readings of the printed text have not been noted for the following reasons: the basic Ms. of the printed text is collated; I suspect that the printed text has not got the authenticity of an independent Ms. as the text appears to be shaped eclectically without naming the sources of the readings; and lastly its readings are practically covered by A and P.

Sanskrit Shade—On principle I am against the procedure of giving Chāyā (i.e. Sanskrit Shade) to an Apabhramśa text: first, it is a mistaken procedure which has neither linguistic nor historical justification; secondly, the Chāyā so shaped is bound to be a specimen of bad Sanskrit, as Apabhramśa has developed modes of expression and styles of syntax which are not allowed in classical Sanskrit; and lastly it has a vicious effect that many readers satisfy their thirst for contents by reading Chāyā alone. This habit of giving Chāyā to Prākṛit works has done positive harm to the study of Indian linguistics. Prākṛit studies were ignored; dramas like *Mṛcchakaṭikam* and *Śakuntalam* are looked upon as Sanskrit works even though their major portion is written in Prākṛit by the authors themselves; and lastly as a consequence the modern Indian languages are being nourished with Sanskrit words, etc. Ignoring the Prākṛits. It is not the mother but the grandmother that is supplying the milk of words to the present-day languages. However I had to give the Chāyā with due deference to the persistent insistence of the Publisher. In the Chāyā I have given Sanskrit words for those in Apabhramśa at times with alternatives in brackets. The Chāyā is not to be judged as an independent piece of Sanskrit, but it is merely the shade of the original Apabhramśa. For the convenience of readers Sandhi rules are not observed. In many places my Chāyā differs from the one given with the printed text



1) Post Script :

When this Indroduction was nearly complete in print, *Rajasthanara Dūha*, part I (Pīlāṇī-Rajasthanī Series No. 2, Delhi 1935) compiled and edited by Prof. Narottamdas Svami, M.A. reached my hands. On p. 63 I have suggested that Hemacandra appears to have drawn some of his illustrative quotations from a tract of literature written in that Apabhramśa which was a predecessor of Old-Rajasthanī; say some earlier stage of Dīngala; and in the foot-note I have quoted a verse from Rajasthanī which has close similarities with a quotation of Hemacandra. Prof. Svami has detected two more verses (*Rajasthanara Dūha*, Intro. p. 55) which I give below

i) Hemacandra's quotation on VIII, iv, 395 :

पुत्ते जाऐ कवण गुण अवगुण कवण मुएण । जा बप्पीकी भुहडी चंपिज्जइ अवरेण ॥

The present-day Rajasthanī Dohā runs thus :

बेटा जायाँ कवण गुण अवगुण कवण धि (नि ?) येण । जाँ ऊर्मा घर आपणी गंजीजँ अवरेण ॥

ii) Hemacandra's quotation on VIII, iv, 379 :

जो भग्ना पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण । अह भग्ना अम्हेहें तणा तो तेँ मारिअडेण ॥

The present-day Rajasthanī Dohā runs thus :

जइ भग्ना पारक्कडा तो सखि मुज्झ पि येण । जो भग्ना अम्हेतणा तो तिह जुज्झ पडेण ॥

To these one more parallel might be added. The second line is almost identical.

iii) Hema.'s quotation on VIII, iv., 335 :

गुणहिँ ण संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुंजति । केसरि ण लहइ बोद्धिअ वि गय लक्खेहिँ धेप्पति ॥

A Dūhā from *Khīcī Acaḷadāsari Vacanaka* (Samvat 1470) runs thus (*Rajasthanara Dūha* Intro. p. 38) :

एक्कइ वन्न वसंतडा एक्कइ अंतर काइ । सिंध कवड्डी ना लहइ गयवर लक्ख विकाइ ॥

These verses are enough to indicate that Hemacandra is indebted to the province of Rajasthan for some of his quotations. If earlier works from Rajasthan and Gujarāt, written in the older stages of Rajasthanī and Gujarātī, are brought to light in plenty, they would shed much more light on the provenance of Hemacandra's quotations.

ii) Additions :

★ ★ ★

(1) On p. 55, paragraph iv : Hemacandra has a statement like this in his *Chandonutāsanaṃ* (Bombay 1912), p. 1 : तथा—'बोद्धह्रस्मि पडिआ कुवलयखित्तद्रहि' इत्यादि । एषु अतीवप्रयत्नस्य संयोगस्य गुह्यत्वाभावे हेतुः । तीव्रप्रयत्ने तु भवत्येव गुह्यः । यथा— 'बह्विधेषु केशान्' इत्यादि ।

It may be inferred that Hemacandra has some other quotations in view than the one in the *P.-prakāśa*. That is not in any way unlikely. This quotation, as it stands, presents some difficulties. The complete line is not quoted; as it is, it does not give any satisfactory meaning; and it may be even asked whether he is quoting simply two broken phrases to show that the vowel before *dr* is not metrically long, because it is a light conjunct

as distinguished from *rh* in the following sentence. Dr H. C. Bhayani writes to me thus in his letter dated 22-7-57: "In the new portion of the text *Svayambhūcchandas* of Svayambhū that has come to light, a stanza by one Vīḍ-ḍha has been quoted to support the rule that in Pk. a conjunct with *r* as its latter member is not position-making. The stanza is the same as *Paramātma-prakāśa* 2.117 but with this important difference that as in Hemacandra the form is *vodraha-draha* (i. e., with *r* intact) as it ought to be if it is to serve as an apt illustration." The verse in question, II 117, is not in Apabhramśa; and Brahmadeva has introduced it with the phrase *uktam ca*. May be that Joindu himself has quoted it, because it is included even in the Shortest Recension.

(2) On p. 60, the word *guraū*:

Pt. Becharadasaji, Ahmedabad, writes to me thus in his letter, dated 23-11-40: "In Rajaputānā and Maravāḍa, the Śvetāmbara Yatis (with *parigraha*) are known by the names 'gurām', 'gurāmji', 'gurāmśa'. They occupy a respectable position in the society, and some of them are good physicians, some quite learned, and some of them of respectable conduct. It appears that Yogindra has this usage in view while using *guraū* for a Śvetāmbara."

(3) On p. 61, the word *vanḍaū*: The word *vandaka*, meaning a Buddha, is used by Amitagati in his *Dharmaparīkṣā*, XV 75.

(4) On p. 68, with reference to the sentence under ii), in the paragraph, Joindu's Claims, 'and a supplementary verse found at the close of Ms. *Bha* (after the concluding colophon) attributes the text to Yogindradeva'.

The verse in question runs thus:

मूलं योगीन्द्रदेवस्य लक्ष्मीचन्द्रस्य पञ्जिका । वृत्तिः प्रभाचन्द्रमुनेर्महती तत्त्वदीपिका ॥

It is quite likely, in the absence of *ca*, that *yogindra-dēvasya* is merely an adjective of Lakṣmīcandrasya, Lakṣmīcandra being the author of the *māla* or the basic text; and the exhaustive *pañjikā-vṛttiḥ*, *Tattva-dīpikā* by name, belongs to Prabhācandra-muni.

(5) On p. 70, about Lakṣmīcandra:

An Apabhramśa *Dōhānupēḥā*, in 47 verses, attributed to Kavi Lakṣmīcandra is published in the *Anēkanta*, XII, 9, pp. 302-3.

(6) My friend Dr. V. Raghavan, University of Madras, Madras, has contributed a note on the date of Joindu; and it is being reproduced here:

"On page 66 of his introduction to the *Paramātma-prakāśa* of Yogindu, edited by him as No. 10 of the Rayachandra Jaina Śāstramālā, Dr. A. N. Upadhye says about the name of the author that Joindu or Jogindu or Yogindu is the correct name of the author and that, by a mistake, the Sanskrit form Yogindra had become popular.

On pp. 74-79, *ibid*, Dr. Upadhye discusses the date of Joindu and concludes that the date falls between those of the *Samādhiśataka* and the

Prākṛta Lakṣaṇa. Since Joindu "closely follows *Samādhiśataka* of Pūjyapāda" and since "Pūjyapāda lived a bit earlier than the last quarter of the 5th cent. A.D.", the upper limit of the date of Joindu can be taken as the last quarter of 5th cent. A.D. The lower limit is furnished by Caṇḍa one of whose illustrative dohās in his *Prākṛta Lakṣaṇa* happens to be from Joindu's *Paramātma-prakāśa*. Dr. Upadhye notes some want of settlement on the question of Caṇḍa's text and date and says in conclusion that the revised form (of Caṇḍa's work) can be tentatively placed about 700 A.D.

In view of the difficulties relating to this lower limit evidence, i.e. Caṇḍa's *Prākṛta Lakṣaṇa*, I may add here a note on what I take to be a reference to Joindu by an author of known date. If we leave Caṇḍa, the next limit suggested by Dr. Upadhye is Devasena who finished his *Darśanasūtra* in A.D. 933. This evidence rests on the similarities of some verses of Devasena and Joindu. If, on the other hand, there is a definite mention of the writer, it would be a more conclusive evidence. Such a mention, I think, is available.

Udayanācārya wrote his *Lakṣaṇāvalī* in A. D. 984. In his *Ātmatattvavivēka*, Chowk. Skt. Series, 1940. p. 430, we read the following :—

“वेदविद्वेदिदर्शनान्तःपातिपुरुषप्रणीतत्वात् इति मा शङ्किष्ठाः, जिनेन्द्रजगदिन्द्रप्रणीतेष्वप्यादरात् ।”

I think the name *Jagadindu* in the above passage is a slight corruption of Joindu or Yogindu.

If this suggestion is acceptable, Udayana's date will give a definite lower limit and will clearly prove the untenability of any later dates proposed for Joindu. (See Dr. Upadhye's Foot-note on p. 78 of the Intro. on the date proposed by Mr. M. C. Modi)."

(7) Page 82, a Ms. of Brahmadeva's *Vṛtti* of *Dravyasaṃgraha* :

A still earlier Ms. dated 1416 Samvat (i.e., c. A. D. 1357, is reported in the *Rajasthānake Jaina Śāstra-bhaṇḍārakī Grantha-sūcī*, part III (Jayapur 1957), p. 180. This very Sūcī reports (p. 193) a Ms. of the *p.-prakāśa* with the *vṛtti* of Brahmadeva, dated Samvat 1489.

(8) On p. 85, the verse *jam allinā* etc.

This verse is practically identical with the *Mālacara* III. 8.

(9) Page 86, on Adhyātmi Bālacandra :

My friend Prof. D.L. Narasimhachar, Mysore, writes to me (1-8-1941) thus:

At the end of a Ms. called *Tattvaratna-pradīpikā*, a Kannada commentary on the Sūtras of Umāsvāti, written by Adhyātmi Bālacandra, the following Prākṛit stanza occurs :

सिद्धंति-अभयचंदो तस्स सिस्सो य होइ सुदमुणिणो । सव्वगुणे परिपुण्णो तस्सं सिस्सो य नागचंदो य ॥



अंग्रेजी प्रस्तावनाका हिन्दी सार^१

१ परमात्मप्रकाश

परमात्मप्रकाशकी प्रसिद्धि—परमप्यासु या परमात्मप्रकाश जैनगृहस्थों तथा मुनियोंमें बहुत प्रसिद्ध है। विशेषकर साधुओंको लक्ष्य करके इसकी रचना की गई है। विषय साम्प्रदायिक न होनेसे यद्यपि समस्त जैनसाधु इसका अध्ययन करते हैं, फिर भी दिगम्बर जैनसाधुओंमें इसकी विशेष ख्याति है। इसकी लोकप्रियताके अनेक कारण हैं। प्रथम, इसका नाम ही आकर्षक है; दूसरे, पारिभाषिक शब्दोंकी भरमार न होनेके कारण इसकी वर्णनशैली कठिन नहीं है; तीसरे, लेखनशैली सरल है, और भाषा सुगम अपभ्रंश है। संसारके कष्टोंसे दुःखी भट्ट प्रभाकरमें धार्मिकरुचि पैदा करनेके लिये इसकी रचना की गई थी। संसारके दुःखोंकी समस्या भट्ट प्रभाकरके समान सभी भव्यजीवोंके सामने रहती है, अतः परमात्मप्रकाश सभी आस्तिकोंको प्रिय है। कन्नड और संस्कृतमें इसपर अनेक प्राचीन टीकाएँ हैं, वे भी इसकी लोकप्रियता प्रदर्शित करती हैं।

मेरा योगीन्दुके साहित्यका अध्ययन—अपभ्रंश भाषाका नवीन ग्रन्थ 'दोहापाहुड' जब मुझे प्राप्त हुआ, तब मैंने उसके सम्बन्धमें^२ 'अनेकान्त' में एक लेख लिखा। उपलब्ध प्रतिमें उसके कर्ताका नाम 'योगेन्द्र' लिखा था। उसपर टिप्पणी करते हुए पं० जुगलकिशोरजीने लिखा कि दोहापाहुडकी देहलीवाली प्रतिमें उसके कर्ताका नाम रामसिंह लिखा है। इसके बाद भाण्डाकर प्राच्यविद्यामन्दिर पूनासे प्रकाशित होनेवाली^३ पत्रिकामें 'जोइन्दु और उनका अपभ्रंश साहित्य' शीर्षकसे मैंने एक लेख लिखा, उसमें मैंने जोइन्दु या योगीन्दुके साहित्यपर कुछ प्रकाश डाला था, और उनके समयके बारेमें कुछ प्रमाण भी संकलित किये थे। इस लेखके प्रकाशनसे काफी लाभ हुआ; दो ग्रन्थ—दोहापाहुड और सावयधम्मदोहा—जिनसे अपने लेखमें मैंने अनेक उद्धरण दिये थे, प्रो० हीरालालजी द्वारा हिन्दी अनुवादके साथ सम्पादित होकर प्रकाशित हो गये। तथा मेरे लेखमें उद्धृत कुछ पद्योंका^४ मराठीमें भी अनुवाद किया गया।

प्राच्य-साहित्यमें परमात्मप्रकाशका स्थान—उत्तर भारतकी भाषाओंकी, जिनमें मराठी भी सम्मिलित है, समृद्धि तथा उनके इतिहासपर अपभ्रंश भाषाका अध्ययन बहुत प्रकाश डालता है। अब तक प्रकाशमें आये हुए अपभ्रंश-साहित्यमें परमात्मप्रकाश सबसे प्राचीन है और सबसे पहले प्रकाशन भी इसीका हुआ था, किन्तु इसके प्रारम्भिक संस्करण प्राच्य विद्वानोंके हाथोंमें नहीं पहुँचे। जहाँ तक मैं जानता हूँ सबसे पहले पी० डी० गुणेने ही 'भविसयत्तकहा' की प्रस्तावनामें इसे अपभ्रंश-ग्रन्थ बतलाया था। आचार्य हेमचन्द्रने अपने प्राकृत-व्याकरणमें परमात्मप्रकाशसे अनेक उदाहरण दिये हैं, अतः इसे हम हेमचन्द्रके पहले की अपभ्रंश भाषाका नमूना कह सकते हैं। भाषाकी विशेषताके अतिरिक्त इस ग्रन्थमें एक और भी विशेषता है। जैन-साहित्यका पूरा ज्ञान न रहनेके कारण कुछ विद्वान जैनधर्मको केवल साधु-जीवनके नियमोंका शिक्षक कहते हैं; कुछ इसे मनोविज्ञानसे शून्य बतलाते हैं। किन्तु परमात्मप्रकाश स्पष्ट बतलाता है कि आध्यात्मिक गूढवादका जैनधर्ममें क्या स्थान है और यह कैसे मनोविज्ञानका आधार होता है। यदि हम यह याद रखें कि जैनधर्म अनेक देवतावादी है और ईश्वरको जगत्का कर्ता नहीं मानता, तो यह निश्चित है कि जैन गूढवाद सभीको विशेष रोचक मालूम होगा।

१. परमात्मप्रकाशकी अंग्रेजी प्रस्तावनाका यह अविकल अनुवाद नहीं है। किन्तु अंग्रेजी न जाननेवाले हिन्दी-पाठकोंके लिये उसके मुख्य मुख्य आवश्यक अंशोंका सार दे दिया गया है। दर्शन तथा भाषाविषयक मन्तव्य विशेषतः संक्षिप्त कर दिये गये हैं। विशेष जाननेके इच्छुक अंग्रेजी प्रस्तावनासे जान सकते हैं। —अनुवादकर्ता।

२. पृष्ठ ५४४-४८ और ६७२। ३. जिल्द १२, पृ० १३२-६३। ४. मराठी-साहित्य-पत्रिका पर० ९

परमात्मप्रकाशके पहले संस्करण—सन् १९०९ ई० में देवबन्दके बाबू सूरजभानुजी वकीलने हिन्दी अनुवादके साथ इस ग्रन्थको प्रकाशित किया था, और उसका नाम रक्खा था 'श्रीपरमात्मप्रकाश प्राकृत ग्रन्थ, हिन्दी-भाषा अर्थसहित'। इस संस्करणमें मूल सावधानीसे नहीं छपाया गया था। प्रस्तावनामें प्रकाशकने लिखा भी था कि जैनमन्दिरोंसे प्राप्त अनेक प्रतियोंकी सहायता लेनेपर भी उसका शुद्ध करना कठिन था। सन् १९१५ ई० में इसका बाबू ऋषभदासजी बी० ए० वकीलका अंग्रेजी अनुवाद आरासे प्रकाशित हुआ। किन्तु यह अनुवाद सन्तोषजनक न था। सन् १९१६ ई० में रायचन्दजैनशास्त्रमाला बम्बई ने ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीका और पं० मनोहरलालजीके द्वारा आधुनिक हिन्दीमें परिवर्तित पं० दौलतरामजीकी भाषाटीकाके साथ इसे प्रकाशित किया। यद्यपि इसके मूलमें भी सुधारकी आवश्यकता थी, फिर भी यह एक अच्छा संस्करण था।

वर्तमान संस्करण—यद्यपि रायचन्दजैनशास्त्रमालाके पूर्वोक्त संस्करणकी ही यह दूसरी आवृत्ति है, फिर भी यह संस्करण पहलेसे परिष्कृत और बड़ा है, और इसकी यह भूमिका तो एक नई वस्तु है। प्रकाशककी इच्छानुसार मूल, ब्रह्मदेवकी टीकावाला ही दिया गया है, किन्तु हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे मूल तथा संस्कृतटीकाका संशोधन कर लिया गया है। इसके सिवा समस्त पदोंके मध्यमें संयोजक चिह्न लगाये गये हैं, तथा अनुनासिक और अनुस्वारके अन्तरका ध्यान रक्खा गया है। संस्कृतछायामें भी कई जगह परिवर्तन किया गया है। हिन्दीटीकामें भी जहाँ तहाँ सुधार किया गया है।

मूल और भाषा सम्बन्धी निर्णय—इस संस्करणमें मूल ब्रह्मदेवका ही दिया गया है अर्थात् संस्कृतटीका बताते समय ब्रह्मदेवके सामने परमात्मप्रकाशके दोहोंकी जो रूपरेखा उपस्थित थी, या जिस रूपरेखाके आधारपर उन्होंने अपनी टीका रची थी, इस संस्करणमें भी उसीका अनुसरण किया गया है। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि ब्रह्मदेवके मूलवाली प्रतियोंमें भी पाठ-भेद पाए जाते थे। परमात्मप्रकाशके परम्परागत पाठको जाननेके लिये भारतके विभिन्न प्रान्तोंसे मँगाई गई कोई दस प्रतियोंको मैंने देखा है और उनमेंसे चुनी हुई छः प्रतिओंके पाठान्तर अन्तमें दे दिये हैं। अतः भाषासंबन्धी चर्चा अनेक हस्तलिखित प्रतियोंके पाठान्तरोंके आधारपर की गई है।

परमात्मप्रकाशका मूल

ब्रह्मदेवका मूल—ब्रह्मदेवने परमात्मप्रकाशके दो भाग किये हैं। प्रथम अधिकारमें १२६, और द्वितीयमें २१९ दोहे हैं। इनमें क्षेपक भी सम्मिलित हैं। ब्रह्मदेवने क्षेपकके भी दो भाग कर दिये हैं, एक 'प्रक्षेपक' (जो मूलमें सम्मिलित कर लिया गया है) और दूसरा 'स्थलसंख्या-बाह्य-प्रक्षेपक' (जो मूलमें सम्मिलित नहीं किया गया है) उनका मूल इस प्रकार है—

प्रथम अधिकार—	मूल दोहे	११८
	प्रक्षेपक	५
	स्थ० बा० प्र०	३
		<u>१२६</u>
द्वितीय अधिकार—	मूल दोहे	२१४
	स्थ० बा० प्र०	५
		<u>२१९</u>

इससे पता चलता है कि परमात्मप्रकाशकी जो प्रति ब्रह्मदेवको मिली थी, काफी विस्तृत थी। जिन पाँच दोहोंके (अधिकार १, २८-३२) योगीन्द्रचित्त होनेमें उन्हें सन्देह था, उनको उन्होंने अपने क्षेपक माना है। किन्तु जिन आठ दोहोंको उन्होंने मूलमें सम्मिलित नहीं किया, संभवतः पाठकोंके लिये उपयोगी जानकर ही

उन्होंने उनकी टीका की है। ब्रह्मदेवको प्राप्त प्रति कितनी बड़ी थी, यह निश्चित रीतिसे नहीं बतलाया जा सकता। किन्तु यह कल्पना करना संभव है कि उसमें और भी अधिक दोहे थे, जिन्हें ब्रह्मदेव अपने दोनों प्रकारके प्रक्षेपकोंमें न मिला सके।

बालचन्द्रका मूल—मलधारी बालचन्द्रने परमात्मप्रकाश पर कन्नडमें एक टीका लिखी है। आरम्भमें वे कहते हैं कि मैंने ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीकासे सहायता ली है। किन्तु बालचन्द्रके मूलमें ६ पद्य अधिक है। ब्रह्मदेवका अनुसरण करनेपर भी बालचन्द्रकी प्रतिमें ६ अधिक पद्य क्यों पाये जाते हैं? इस प्रश्नके दो ही समाधान हो सकते हैं—या तो बालचन्द्रके बाद ब्रह्मदेवकी प्रतिमेंसे टीकासहित कुछ पद्य कम कर दिये गये, या बालचन्द्रके सामने कोई अधिक पद्यवाली प्रति उपस्थित थी, जिससे उन्होंने अपनी कन्नडटीकामें ब्रह्मदेवकी संस्कृतवृत्तिका अनुसरण करनेपर भी कुछ अधिक पद्य सम्मिलित कर लिये। प्रथम समाधान तो स्वीकार करने योग्य नहीं मालूम होता, क्योंकि टीकासहित कुछ पद्योंका निकाल देना संभव प्रतीत नहीं होता। किन्तु दूसरा समाधान उचित जँचता है। वे ६ पद्य इस प्रकार हैं—

१-२ पहला और दूसरा अधिक पद्य अधिकार २, ३६ के बाद आते हैं :—

कायकिलेसेँ पर तणु झिझइ विणु उवसमेण कसाउ ण खिझइ ।
ण करहिँ इंदियमणह णिवारणु उग्गतवो वि ण मोक्खह कारणु ॥
अण्य-सहावे जासु रइ णिच्चुवासउ तासु । बारि दब्बे जासु रइ भुक्खुमारि तासु ॥

३—यह पद्य अधिकार २, १३४ के बाद 'उक्तं च' करके लिखा है—

अरे जिउ सोक्खे मग्गसि धम्मे अलसिय । पक्खेँ विणु केँव उड्डण मग्गेसि मेंडय दंडसिय (?)॥

४—अधिकार २, १४० के बाद यह दोहा आता है—

पण्ण ण मारिय सोयरा पुणु छट्ठउ चंडालु । माण ण मारिय अण्णउ केँ व छिझइ संसारु ॥

५—अधिकार २, १५६ के बाद यह दोहा 'प्रक्षेपकम्' करके लिखा है—

अण्ह परह परंपरह परमण्णउह समाणु । परु करि परु करि परु जि करि जइ इच्छइ णिव्वाणु ॥

६—अधिकार २, २०३ के बाद, संभवतः असावधानीके कारण इसपर नम्बर नहीं डाला गया है, किन्तु टीका की है—

अन्तु वि गंतुवि तिहुवणहँ सासयसोक्खसहाउ । तेत्थु जि सयलु वि कालु जिय णिवसइ लद्धसहाउ ॥

'त' 'क' और 'म' प्रति अन्य प्रतियोंकी अपेक्षा बहुत संक्षिप्त हैं। ब्रह्मदेवके मूलके साथ उनकी तुलना करनेपर उनमें निम्नलिखित दोहे नहीं पाये जाते—

प्रथम अधिकारमें—२-११, १६, २०, २२, २८-३२, ३८, ४१, ४३, ४४, ४७, ६५, ६५*१, ६६, ७३, ८०, ८१, ९१, ९२, ९९, १००, १०४, १०६, १०८, ११०, ११८, ११९, १२१ १२३*२-३।

द्वितीय अधिकारमें—१, ५-६, १४-१६, ४४; ४६*१, ४९-५२, ७०, ७४, ७६, ८४, ८६-८७, ९९, १०२, १११*२-४, ११४-११६, १२८-१२९, १३४-१३७, १३७*५, १३८-१४०, १४२, १४४-१४७, १५२-१५५, १५७-१६५, १६८, १७८-१८१, १८५, १९७, २००, २०५-२१२।

किन्तु इन प्रतियोंमें दो दोहे अधिक हैं, जो न तो ब्रह्मदेवकी प्रतिमें पाये जाते हैं, और न बालचन्द्रकी ही प्रतिमें। कुछ संशोधनके साथ दोनों दोहे नीचे दिये जाते हैं—

१—अधिकार १, ४६ के बाद—

जो जाणइ सो जाणि जिय जो पेक्खइ सो पेक्खु । अंतुबहुंतु वि जंपु चइ होउण तुहँ गिरवेक्खु ॥

२—अधिकार २, २१४ के बाद—

भव्वाभव्वह जो चरणु सरिसु ण ते ण हि मोक्खु । लद्धि ज भव्वह रयणत्तय होइ अभिण्णे मोक्खु ॥

‘त, क’, और ‘म’ प्रतियाँ—इन प्रतियोंमें ब्रह्मदेवके मूलसे (प्रक्षेपकसहित) ११२ और बालचन्द्रके मूलसे ११८ पद्य कम हैं। मुझे ऐसा मालूम होता है कि इन प्रतियोंके पीछे कोई मौलिक आधार अवश्य हैं, क्योंकि एक तो ‘क’ प्रतिकी कन्नडटीका ब्रह्मदेवकी टीकासे स्वतन्त्र है, और संभवतः उससे प्राचीन भी है। दूसरे, इसमें ब्रह्मदेवका एक भी क्षेपक नहीं पाया जाता। तीसरे, इसमें ब्रह्मदेव और बालचन्द्रसे दो गाथायें अधिक हैं। चौथे, ब्रह्मदेवने अधिकार २, १४३ में ‘जिणु सामिउ सम्मत्तु’ पाठ रक्खा है तथा टीकामें दूसरे पाठान्तर ‘सिवसंगमु सम्मत्तु’का उल्लेख किया है। उनका दूसरा पाठान्तर ‘सिवसंगमु सम्मत्तु’ इन प्रतिओंके ‘सिउ संगउ सम्मत्तु’ पाठसे मिलता है। किन्तु इन प्रतियोंमें अविद्यमान दोहोंका विचार करनेसे यही नतीजा निकलता है कि ये प्रतियाँ परमात्मप्रकाशका संक्षिप्त रूप हैं। यह भी कहा जा सकता है कि इन प्रतियोंका मूल ही परमात्म-प्रकाशका वास्तविक मूल है, जिसे योगीन्दुके किसी शिष्य, संभवतः स्वयं भट्ट प्रभाकरने ही यह बतानेके लिए कि गुरुने उसे यह उपदेश दिया था, वह बढा दिया है। यद्यपि यह कल्पना आकर्षक है किन्तु इसका समर्थन करनेके लिए प्रमाण नहीं है। इन प्रतियोंका आधार दक्षिण कर्नाटककी एक प्राचीन प्रति है, अतः इस कल्पनाका यह मतलब हो सकता है कि योगीन्दु दक्षिणी थे, और मूलग्रन्थ उत्तर भारतमें विस्तृत किया गया, क्योंकि ब्रह्मदेव उत्तर प्रान्तके वासी थे। किन्तु योगीन्दुको दक्षिणी सिद्ध करनेके लिए कोई भी प्रमाण नहीं है। पर इतना निश्चित है कि परमात्मप्रकाशको ‘त’ ‘क’ और ‘म’ प्रतिके रूपमें संक्षिप्त करनेके लिये कोई कारण अवश्य रहा होगा। संभवतः दक्षिण भारतमें जहाँ शंकराचार्य, रामानुज आदिके समयमें जैनोंको वेदान्त और शैवोंके विरुद्ध वाद-विवाद करना पड़ता था, किसी कन्नडटीकाकारके द्वारा यह संक्षिप्त रूप किया गया है।

जोइन्दुके मूलपर मेरा मत—उपलब्ध प्रतियोंके आधारपर यह निर्णय कर सकना असंभव है कि जोइन्दुकृत परमात्मप्रकाशका शुद्ध मूल कितना है? किन्तु दोहोंकी संख्यापर दृष्टि डालनेसे यह जान पड़ता है कि ब्रह्मदेवका मूल ही जोइन्दुके मूलके अधिक निकट है।

संक्षेपमें परमात्मप्रकाशका विषय-परिचय

सारांश—प्रारम्भके सात दोहोंमें पंचपरमेष्ठीको नमस्कार किया गया है। फिर तीन दोहोंमें ग्रन्थकी उत्थानिका है। पाँचमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माका स्वरूप बताया गया है। इसके बाद दस दोहोंमें विकलपरमात्माका स्वरूप आता है। पाँच क्षेपको सहित चौबीस दोहोंमें सकलपरमात्माका वर्णन है। ६ दोहोंमें जीवके स्वशरीर-प्रमाणकी चर्चा है। फिर द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्म, निश्चयसम्यग्दृष्टि, मिथ्यात्व आदिकी चर्चा है। दूसरे अधिकारमें, प्रारम्भके दस दोहोंमें मोक्षका स्वरूप, एकमें मोक्षका फल, उन्नीसमें निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग, तथा आठमें अभेदरत्नत्रयका वर्णन है। इसके बाद चौदहमें समभावकी, चौदहमें पुण्य पापकी समानताकी, और इकतालीस दोहोंमें शुद्धोपयोगके स्वरूपकी चर्चा है। अन्तमें परमसमाधिका कथन है।

परमात्मप्रकाशपर समालोचनात्मक विचार

रचनाकाल तथा कुछ ऐतिहासिक पुरुषोंका उल्लेख—ब्रह्मदेवके आधारपर हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि प्रभाकर भट्टके कुछ प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए योगीन्दुने परमात्मप्रकाशकी रचना की थी^१। एक^२ स्थलपर प्रभाकर भट्ट को उसके नामसे सम्बोधित किया गया है और ‘वढ’ जिसका अर्थ ब्रह्मदेव ‘वत्स’ करते हैं, तथा ‘जोइय’ (योगिन्) शब्दके द्वारा तो अनेकबार उनका उल्लेख आता है। प्रभाकर भट्ट योगीन्दुके शिष्य थे; इसके सिवा उनके सम्बन्धमें हम कुछ नहीं जानते। भट्ट और प्रभाकर ये दो पृथक् नाम नहीं हैं, किन्तु एक नाम है। संभवतः भट्ट एक उपाधि रही होगी; जैसे कि कन्नडव्याकरण ‘शब्दानुशासन’ (१६०४ ई०) के रचयिता अकलंक भट्टाकलंक कहे जाते हैं। भट्ट प्रभाकरके प्रश्न और योगीन्दुका उन्हें सम्बोधित

करना बतलाते हैं, कि वे योगीन्दुके एक शिष्य थे, और साधु थे, उनका प्रसिद्ध पूर्वमीमांसक प्रभाकर भट्ट (लगभग ६०० ई०) के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। योगीन्दु और प्रभाकरके नामके सिवा ग्रन्थमें किन्हीं आर्य शान्तिके मतका भी उल्लेख है। निःसन्देह इनसे पहले कोई शान्ति नामके ग्रन्थकार हुए होंगे, किन्तु विशेष प्रमाणोंके अभावमें हम उन ज्ञात ग्रन्थकारोंके साथ इनकी एकता नहीं ठहरा सकते, जिनके नामके प्रारम्भमें 'शान्ति' शब्द आता है।

ग्रन्थ-रचनाका उद्देश और उसमें सफलता—जैसा कि ग्रन्थमें उल्लेख है, प्रभाकर शिकायत करता है कि उसने संसारमें बहुत दुःख भोगे हैं; अतः वह उस प्रकाशकी खोजमें है, जो उसे अज्ञानान्धकारसे मुक्त कर सके। इसलिये सबसे पहले योगीन्दु आत्माका वर्णन करते हैं, आत्म-साक्षात्कारकी आवश्यकता बतलाते हैं, और कुछ गूढ़ आत्मिक अनुभवोंकी चर्चा करते हैं। इसके बाद वे मुक्तिका स्वरूप, उसका फल, और उसके उपाय समझाते हैं। मुक्तिके उपायोंका वर्णन करते हुए वे नीति और अनुशासन सम्बन्धी बहुत-सी शिक्षाएँ देते हैं। भट्ट प्रभाकरको जिस प्रकाशकी आवश्यकता थी, बहुतसी आत्माएँ उस प्रकाशकी प्राप्तिके लिये उत्सुक हैं, और जैसा कि ग्रन्थका नाम तथा विषय बतलाते हैं, सचमुच यह ग्रन्थ परमात्माकी समस्यापर बहुत सरल तरीकेसे प्रकाश डालता है।

विषय-वर्णनकी शैली—जैसा कि ब्रह्मदेवके मूलसे मालूम होता है, स्वयं ग्रन्थकारने ही प्रभाकर भट्टके दो प्रश्नोंके आधारपर ग्रन्थको दो अधिकारोंमें विभक्त किया था। दूसरे भागकी अपेक्षा पहला भाग अधिक क्रमबद्ध है। कहीं कहीं ग्रन्थकारने स्वयं प्रश्न उठाकर उनका भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे समाधान किया है। इस ग्रन्थमें शाब्दिक पुनरावृत्तिकी कमी नहीं है, किन्तु इस पुनरावृत्तिसे ग्रन्थकार अनजान न था, क्योंकि वह स्वयं कहता है कि भट्ट प्रभाकरको समझानेके लिये अनेक बातें बार-बार कही गई हैं। आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें किसी बातको बार-बार कहनेका विशेष प्रयोजन होता है, वहाँ न्यायशास्त्रके समान युक्तियोंका कोटिक्रम और उसके द्वारा सिद्धान्त-निर्णय अपेक्षित नहीं रहता। वहाँ ग्रन्थकारके पास नैतिक और आध्यात्मिक विचारोंकी पूँजी होती है, और उसके प्रति पाठकोंको रुचि उत्पन्न करना उसका मुख्य उद्देश होता है, अतः अपने कथनको प्रभावक बनानेके लिये वह एक बातको कुछ हेर-फेरके साथ दोहराता और उपमाओंसे स्पष्ट करता है। ब्रह्मदेवने भी “अत्र भावनाग्रन्थे समाधिशतकवत् पुनरुक्तदूषणं नास्ति” आदि लिखकर पुनरुक्तिका समर्थन किया है।

उपमाएँ और उनका उपयोग—अपने उपदेशको रोचक बनानेके लिये एक धर्मोपदेष्टा उपमा रूपक आदिका उपयोग करता है। यदि वे (उपमा रूपक आदि) दैनिक व्यवहारकी वस्तुओंसे लिये गये हों तो पाठकों और श्रोताओंको प्रकृत विषयके समझनेमें बहुत सुगमता रहती है। यही कारण है कि भारतीय न्यायशास्त्रमें दृष्टान्तको इतना महत्त्व दिया गया है। विषयकी गूढ़ताके कारण एक धर्मोपदेष्टा या तार्किककी अपेक्षा एक गूढ़वादीको इन सब चीजोंका उपयोग करना विशेष आवश्यक होता है। दृष्टान्त आदिकी सहायतासे वह अपने अनुभवोंको पाठकों तथा श्रोताओं तक पहुँचानेमें समर्थ होता है। गूढ़वादीकी वर्णनशैलीमें अन्य शैलियोंसे अन्तर होनेका यह अभिप्राय नहीं है कि उसके अनुभव अप्रामाणिक हैं, किन्तु इससे यही प्रमाणित होता है कि वे अनुभव शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किये जा सकते। अतः गूढ़वादके ग्रन्थ उपमा रूपक आदिसे भरे होते हैं। 'योगीन्दु' भी इसके अपवाद नहीं है, उनके परमात्मप्रकाशमें दृष्टान्तोंकी कमी नहीं है। उनमेंसे कुछ तो बड़े ही प्रभावक हैं।

परमात्मप्रकाशके छन्द—ब्रह्मदेवके मूलके अनुसार परमात्मप्रकाशमें सब ३४५ पद्य हैं, उनमें ५ गाथाएँ, एक स्रग्धरा और एक मालिनी है किन्तु इनकी भाषा अपभ्रंश नहीं है। तथा एक चतुष्पादिका और शेष ३३७

अपभ्रंश दोहे हैं। परमात्मप्रकाशमें कहीं भी 'दोहा' शब्द नहीं आया, किन्तु योगीन्दुके दूसरे ग्रन्थ योगसारमें दो बार आया है। दोहेकी दोनों पंक्तियाँ बराबर होती हैं; प्रत्येक पंक्तिमें दो चरण होते हैं। प्रथम चरणमें १३ और दूसरेमें ११ मात्राएँ होती हैं। किन्तु जब हम दोहेको पढ़ते हैं या उसे गानेकी कोशिश करते हैं, तो ऐसा मालूम होता है कि हमें १४ मात्राओंकी आवश्यकता है—प्रत्येक चरणकी अन्तिम मात्रा कुछ जोरसे बोली जाती है। अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि दोहेकी प्रत्येक पंक्तिमें चौदह और बारह मात्राएँ होती हैं किन्तु परमात्मप्रकाशके इकतीस दोहोंमें प्रत्येक पंक्तिके प्रथम चरणमें अन्तिम वर्णका गुरु उच्चारण करनेपर भी तेरह मात्राएँ ही होती हैं। दोहेकी प्रत्येक पंक्तिमें चौदह और बारह मात्राएँ होती हैं, यह बात विरहाङ्ककी निम्नलिखित परिभाषासे भी स्पष्ट है।

तिष्ठिण तुरंगा णेउरओ वि-प्पाइक्का कण्णु । दुवहअ-पच्छन्दे वि तह वद लक्खणउ ण अण्णु ॥ ४, २७ ॥

तुरंग=४ मात्राएँ, णेउर=१ गुरु, पाइक्क=४ मात्रा और कण्ण=२ गुरु, इस प्रकार एक पंक्तिमें १४ और १२ मात्राएँ होती हैं। अपभ्रंशमें 'ए' और 'ओ' प्रायः ह्रस्व भी होते हैं, अतः उक्त दोहेके अक्षरशः विभाजन करनेसे प्रकट होता है कि १३ और ११ मात्राएँ होती हैं। कविदर्पण, प्राकृतपिंगल, छन्दकोश आदि छन्दशास्त्र बतलाते हैं कि दोहेकी प्रत्येक पंक्तिमें १३ और ११ मात्राएँ होती हैं, किन्तु हेमचन्द्र १४ और १२ ही बताते हैं। सारांश यह है कि विरहाङ्क और हेमचन्द्र दोहाके श्रुतिमाधुर्यका विशेष ध्यान रखते हैं, जब कि अन्य छन्दशास्त्रज्ञ अक्षर गणनाके नियमका पालन आवश्यक समझते हैं। विरहाङ्कने दोहेका लक्षण अपभ्रंश-भाषामें रचा है, और रुद्रट कवि संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाके श्लेषोंको दोहाछन्दमें लिखते हैं, इससे प्रमाणित होता है कि दोहा अपभ्रंश भाषाका छन्द है।

यहाँ 'दोहा' शब्दकी व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें विचार करना अनुपयुक्त न होगा। जोइन्दु इसे दोहा कहते हैं किन्तु विरहाङ्क इसका नाम 'दुवहा' लिखते हैं। यदि दोहाका मूल संस्कृत है तो यह 'द्विधा' शब्दसे बना है, जो बतलाता है कि दोहाकी प्रत्येक पंक्ति दो भागोंमें बँटी होती है, या दोहाछन्दमें एक ही पंक्ति दो बार आती है। विरहाङ्कका 'दो पाआ भण्णइ दुवहउ' लिखना बतलाता है कि उसे दूसरा अर्थ अभीष्ट है। जहाँतक हम जानते हैं विरहाङ्क जिसे प्रो० एच० डी० वेलणकर ईसाकी नवमी शताब्दीसे पहलेका बतलाते हैं—दोहेकी परिभाषा करनेवालोंमें सबसे प्राचीन छन्दकार है। बादके छन्दकारोंने दोहेके भेद भी किये हैं।

आध्यात्मिक सहिष्णुता—अध्यात्मवादियोंमें एक दूसरेके प्रति काफी सहिष्णुता होती है, और इसलिये—जैसा कि प्रो० रानडेका कहना है—सब युगों और सब देशोंके अध्यात्मवादी एक अनन्त और स्वर्गीय समाजकी सृष्टि करते हैं। वे किसी भी दार्शनिक आधारपर अपने गूढ़वादका निर्माण कर सकते हैं, किन्तु शब्दोंके अन्तस्तलमें घुसकर वे सत्यकी एकताका अनुभव करते हैं। योगीन्दु एक जैन गूढ़वादी हैं, किन्तु उनकी विशालदृष्टिने उनके ग्रन्थमें एक विशालता ला दी है, और इसलिये उनके अधिकांश वर्णन साम्प्रदायिकतासे अलिप्त हैं। उनमें बौद्धिक सहनशीलता भी कम नहीं है। वेदान्तियोंका मत है कि आत्मा सर्वगत है, मीमांसकोंका कहना है कि मुक्तावस्थामें ज्ञान नहीं रहता; जैन उसे शरीरप्रमाण बतलाते हैं, और बौद्ध कहते हैं कि वह शून्यके सिवा कुछ भी नहीं। किन्तु योगीन्दु इस मतभेदसे बिल्कुल नहीं घबराते। वे जैन अध्यात्मके प्रकाशमें नयोंकी सहायतासे शाब्दिक-जालका भेदन करके सब मतोंके वास्तविक अभिप्रायको समझाते हैं। यद्यपि अन्य दर्शनकार उनकी इस व्याख्याको स्वीकार न कर सकेंगे, फिर भी यह शैली एक शान्त अध्यात्मवादीके रूपमें उन्हें हमारे सामने खड़ा कर देती है। योगीन्दु परमात्माकी एक निश्चित रूपरेखा स्वीकार करते हैं किन्तु उसे एक निश्चित नामसे पुकारनेपर जोर नहीं देते। वे अपने परमात्माको जिन, ब्रह्म,

१. एच. डी. वेलणकर—'विरहाङ्कका वृत्तजाति समुच्चय' २. वेलणकर और रानडे, भारतीयदर्शन का इतिहास जिल्द ७, महाराष्ट्रका आध्यात्मिक गूढ़वाद, भूमिका पृष्ठ २ ॥

शान्त, शिव, बुद्ध आदि संज्ञाएँ देते हैं। इसके सिवा अपना काम चलानेके लिये वे अजैन शब्दावलीका भी प्रयोग करते हैं। १ अ० २२ दो० में वे धारणा, यन्त्र, मन्त्र, मण्डल, मुद्रा आदि शब्दोंका उपयोग करते हैं और कहते हैं कि परमात्मा इन सबसे अगोचर है। अ० १, ४१ तथा अ० २, १०७ में उनकी शैली वेदान्तसे अधिकतर मिलती है। अ० २, ४६*१ जिसे ब्रह्मदेव तथा अन्य प्रतियाँ प्रक्षेपक बतलाते हैं, गीताके दूसरे अध्यायके ६९ वें श्लोकका स्मरण कराते हैं। अ० २, १७० वें दोहेमें 'हंसाचार' शब्द आता है और ब्रह्मदेव 'हंस' शब्दका अर्थ परमात्मा करते हैं। यह हमें उपनिषदोंके उन अंशोंका स्मरण कराता है, जिनमें आत्मा और परमात्माके अर्थमें हंस शब्दका प्रयोग किया है। सारांश यह है कि ग्रंथके कुछ भागको छोड़कर-जिसमें जैन अध्यात्मका पारिभाषिक वर्णन किया है-शेष भागको अध्यात्म-शास्त्रका प्रत्येक विद्यार्थी प्रेमपूर्वक पढ़ सकता है।

जैन-साहित्यमें योगीन्दुका स्थान—एक गूढवादीके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह बहुत बड़ा विद्वान हो, और न वर्षांतक व्याकरण और न्यायमें सिर खपाकर वह सुयोग्य लेखक बनेका ही प्रयत्न करता है, किन्तु मानव-समाजको दुःखी देख, आत्मसाक्षात्कारका अनुभव ही उसे उपदेश देनेके लिये प्रेरित करता है, और व्याकरण आदिके नियमोंका विशेष विचार किये बिना जनताके सामने वह अपने अनुभव रखता है। अतः उद्यकोटिकी रचनाओंमें प्रयुक्त की जानेवाली संस्कृत तथा प्राकृत भाषाको छोड़कर योगीन्दुका उस समयकी प्रचलित भाषा अपभ्रंशको अपनाना महत्त्वसे खाली नहीं है। महाराष्ट्रके ज्ञानदेव, नामदेव, ^१एकनाथ, तुकाराम और रामदासने मराठीमें और कर्नाटकके बसवन्न तथा अन्य वीरशैव ^२वचनकारोंने कन्नडमें बड़े अभिमानके साथ अपने अनुभव लिखे हैं, जिससे अधिक लोग उनके अनुभवोंसे लाभ उठा सकें। प्राचीन ग्रन्थकारोंने जो कुछ संस्कृत और प्राकृतमें लिखा था उसे ही योगीन्दुने बहुत सरल तरीकेसे अपने समयकी प्रचलित भाषामें गूँथ दिया है। प्राचीन जैन-साहित्यके अपने अध्ययनके आधारपर मेरा मत है कि योगीन्दु, कुन्दकुन्द और पूज्यपादके ऋणी हैं। योगीन्दुकृत तीन आत्माओंका वर्णन (अ० १, १२१-४) मोक्खपाहुड (४-८) से बिल्कुल मिलता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिकी परिभाषाएँ भी (अ० १, ७६-७७) साधारणतया कुन्दकुन्दके मोक्खपाहुड (१४-५) में दत्त परिभाषाओं जैसी ही हैं, और ब्रह्मदेवने इन दोनोंकी टीकामें उन गाथाओंको उद्धृत भी किया है। इसके सिवा नीचे लिखी समानता भी ध्यान देने योग्य है—मो० पा० २४ और प० प्र० अ० १, ८६; मो० पा० ३७ और प० प्र० अ० २, १३; मो० पा० ५१ और प० प्र० अ० २, १७६-७७; मो० पा० ६६-६९ और प० प्र० अ० २, ८१ आदि। मोक्खपाहुड आदिकी संस्कृतटीकामें श्रुतसागरसूरिका परमात्मप्रकाशसे दोहे उद्धृत करना भी निरर्थक नहीं हैं। इस प्रकार सूक्ष्म छानबीनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि योगीन्दुने कुन्दकुन्दसे बहुत कुछ लिया है।

पूज्यपादके समाधिशतक और परमात्मप्रकाशमें भी घनिष्ठ समानता है। मेरे विचारसे योगीन्दुने पूज्यपादका अक्षरशः अनुसरण किया है। विस्तारके डरसे यहाँ कुछ समानताओंका उल्लेखमात्र करता हूँ। स० श० ४-५ और प० प्र० १, ११-१४; स० श० ३१ और प० प्र० २, १७५, १. १२३*२, स० श० ६४-६६ और प० प्र० २, १७८-८०; स० श० ७० और प० प्र० १, ८०; स० श० ७८ और प० प्र० २, ४६*१; स० श० ८७-८८ और प० प्र० १, ८२ आदि। इन समानताओंके सिवा इन दोनोंमें विचारसाम्य भी बहुत है किन्तु दोनोंकी शैलीमें बड़ा अन्तर है। वैयाकरण होनेके कारण 'अर्द्धमात्रालाघवं पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' के अनुसार पूज्यपादके उद्गार संक्षिप्त, भाषा परिमार्जित और भाव व्यवस्थित हैं, किन्तु योगीन्दुकी कृति—जैसा कि पहले कहा जा चुका है—पुनरावृत्ति और इधर उधरकी बातोंसे भरी है। पूज्यपादकी शैलीने उनकी कृतिको गहन बना दिया था, और विद्वान लोग ही उससे लाभ उठा सकते थे, संभवतः इसीलिये योगीन्दुने

१. माझी मराठी भाषा चोखडी। परब्रह्मी फलली गाढी ॥ २. ये वचन कन्नड गद्यके सुन्दर नमूने हैं।

समाधिगतकके मन्तव्योंको प्रचलित भाषा और जनसाधारणकी शैलीमें निबद्ध किया था । योगीन्दुकी इस रचनाने काफी ख्याति प्राप्त की है, और जयसेन, श्रुतसागर और रत्नकीर्ति सरीखे टीकाकारोंने उससे पद्य उद्धृत किये थे ।

देवसेनके तत्त्वसार और परमात्मप्रकाशमें भी काफी समानता है । देवसेनके ग्रन्थोंपर अपभ्रंशका प्रभाव है; अपने भावसंग्रहमें उन्होंने कुछ अपभ्रंश पद्य भी दिये हैं, और 'बहिरम्पा' ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया है । इन कारणोंसे मेरा मत है कि देवसेनने योगीन्दुका अनुसरण किया है ।

योगीन्दु, काण्ह और सरह—काण्ह और सरह बौद्ध-गूढवादी थे । उनके ग्रन्थ उत्तरकालीन महायान सम्प्रदायसे, खासकर तंत्रवादसे सम्बन्ध रखते हैं, और शैव योगियोंके साथ उनकी कुछ परम्पराएँ मिलती-जुलती हैं । काण्हका समय डा० शाहीदुल्ला ई० ७०० के लगभग और डा० एस० के० चटर्जी ईसाकी बारहवीं शताब्दीका अन्त बतलाते हैं । सरह ई० १००० के लगभग विद्यमान थे । इन दोनों ग्रन्थकारोंके दोहाकोशोंका विषय परमात्मप्रकाशके जैसा ही है । यद्यपि उनके ग्रन्थोंका नाम 'दोहा-कोश' है, किन्तु परमात्मप्रकाशकी तरह उनमें केवल दोहा ही नहीं हैं, बल्कि अनेक छन्द हैं । प्रान्त-भेदके कारण उत्पन्न कुछ विशेषताओंको छोड़कर उनकी अपभ्रंश भी योगीन्दुके जैसी ही है । गूढवादियोंके विचार और शब्द प्रायः समान होते हैं, जो विभिन्न धर्मोंके गूढवादके ग्रन्थोंमें देखनेको मिलते हैं । काण्ह और सरहने अपने पद्योंमें प्रायः अपने नाम दिये हैं पर योगीन्दुने ऐसा नहीं किया । तुकाराम आदि महाराष्ट्रके संतोंने भी अपनी रचनाओंमें अपने नाम दिये हैं और कर्नाटकके शैव वचनकारोंने अपनी मुद्रिकाओंका उल्लेख किया है । उदाहरणके लिये 'बसवण्ण' की मुद्रिका 'कूडल-संगम-देव' है, और गङ्गम्माकी 'गङ्गेश्वरलिङ्ग' । विशेषकर सरहके दोहा-कोशके बहुतसे विचार, वाक्यांश, तथा कहनेकी शैलियाँ परमात्मप्रकाशके जैसी ही हैं ।

परमात्मप्रकाशके दार्शनिक मन्तव्य और गूढवाद

व्यवहार और निश्चय—भारतीय-साहित्यके इतिहासमें यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि ग्रन्थका शुद्ध अर्थ करनेमें प्रायः टीकाकार प्रमाण माने जाते हैं । ऋग्वेदके व्याख्याकार सायनके सम्बन्धमें जो बात सत्य है, परमात्मप्रकाशके टीकाकार ब्रह्मदेवके संबंधमें वह बात और भी अधिक सत्य है । ग्रन्थकी व्याख्या करते हुए, ब्रह्मदेवने बार बार निश्चयनय और व्यवहारनयका अवलम्बन लिया है । यह बहुत संभव है कि उन्होंने कुछ अत्युक्ति की हो, किन्तु ग्रन्थके कुछ स्थलोंसे स्पष्ट है कि ये दोनों दृष्टियाँ जोइन्दुको भी इष्ट थीं । अतः परमात्मप्रकाशका अध्ययन करते समय हम इन दोनों नयोंकी उपेक्षा नहीं कर सकते ।

इस प्रकारके नयोंकी आवश्यकता—भारतवर्षमें एक ओर धर्म शब्दका अर्थ होता है—कठोर संयमके धारी महात्माओंके आध्यात्मिक अनुभव, और दूसरी ओर उन आध्यात्मिक सिद्धान्तोंके अनुयायी समाजका पथ-प्रदर्शन करनेवाले व्यावहारिक नियम । अर्थात् धर्मके दो रूप हैं एक सैद्धान्तिक या आध्यात्मिक और दूसरा व्यावहारिक या सामाजिक । इन दो रूपोंके कारण ही इस प्रकारके नयोंकी आवश्यकता होती है; और जैनधर्ममें तो—जहाँ भेदविज्ञानके बिना सत्यकी प्राप्ति ही नहीं होती—वे अपना खास स्थान रखते हैं । व्यवहारनय वाचाल है और उसका विषय है कोरा तर्कवाद, जब कि निश्चयनय मूक है, और उसका विषय है अन्तरात्मासे स्वयं उद्भूत होनेवाले अनुभव । जैनधर्मानुसार गृहस्थधर्म और मुनिधर्म परस्परमें एक दूसरेके आश्रित हैं, और मोक्षप्राप्तिमें एक दूसरेकी सहायता करते हैं । यही दशा व्यवहार और निश्चयकी है; जैसे प्रत्येक गृहस्थ संन्यास लेता है, और अपने आत्मिक-लक्ष्यको पहचानता है, उसी तरह व्यवहारनय निश्चयकी प्राप्तिके लिये आत्मसमर्पण कर देता है ।

अन्य शास्त्रोंमें इस प्रकारकी दृष्टियाँ—मुण्डकोपनिषद् (१, ४-५) में विद्याके दो भेद किये हैं—अपरा और परा । पहलीका विषय वेदज्ञान है, और दूसरीका शाश्वत ब्रह्मज्ञान । ये भेद सत्यके तार्किक और आनुभविक

ज्ञानके जैसे ही हैं, अतः इनकी व्यवहार और निश्चयके साथ तुलना की जा सकती है। बौद्धधर्ममें भी सत्यके दो भेद किये हैं—संवृत्तिसत्य या व्यवहारसत्य और परमार्थसत्य। शङ्कराचार्य भी व्यवहार और परमार्थ दृष्टियोंको अपनाते हैं। धर्मकी कुछ आधुनिक परिभाषाओंमें भी इस प्रकारके भेदकी झलक पाई जाती है, जिनमेंसे विलियम जेम्स 'सामाजिक और व्यक्तिगत' इन दो दृष्टियोंको मानते हैं।

नयोंका सापेक्ष महत्व—व्यवहारनय तभी तक लाभदायक और आवश्यक है जब तक वह निश्चयकी ओर ले जाता है। अकेला व्यवहार अपूर्ण है, और कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता। बिल्लीकी उपमा तभी तक काम दे सकती है, जब तक हमने शेरको नहीं देखा। दोनों नयोंका सापेक्ष महत्व बतलाते हुए अमृतचन्द्र लिखते हैं—व्यवहार उन्हींके लिये उपयोगी हो सकता है जो आध्यात्मिक-जीवनकी पहली सीढ़ीपर रेंग रहे हैं। किन्तु, जो अपने लक्ष्यको जानते हैं और अपने चैतन्य-स्वरूपका अनुभवन करते हैं, उनके लिये व्यवहार बिल्कुल उपयोगी नहीं है।

आत्माके तीन भेद—आत्माके तीन भेद हैं, बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। शरीरको आत्मा समझना अज्ञानता है, अतः एक ज्ञानी मनुष्यका कर्तव्य है कि वह अपनेको शरीरसे भिन्न और ज्ञानमय जाने, और इस तरह आत्मध्यानमें लीन होकर परमात्माको पहचाने। समस्त बाहिरी वस्तुओंका त्याग करने पर अन्तरात्मा ही परमात्मा हो जाता है।

आत्माके भेद और प्राचीन ग्रन्थकार—सबसे पहले योगीन्दुने ही इन भेदोंका उल्लेख नहीं किया है। किन्तु उससे पहले कुन्दकुन्दने (ईस्वी सन् का प्रारम्भ) अपने मोक्षपाहुडमें और पूज्यपादने (ईसाकी पाँचवीं शताब्दीके अन्तिम पादके लगभग) समाधिशतकमें इनकी चर्चा की है। जोइन्दुके बाद अमृतचन्द्र, गुणभद्र, अमितगति आदि अनेक ग्रन्थकारोंने आत्माकी चर्चा करते समय इस भेदको दृष्टिमें रक्खा है।

अन्य दर्शनमें इस भेदकी प्रतिध्वनि—यद्यपि प्राथमिक वैदिक साहित्यमें आत्मवादके दर्शन नहीं होते किन्तु उपनिषदोंमें इसकी विस्तृत चर्चा पाई जाती है। उस समय यजन-याजन आदि वैदिक कृत्यमें संलग्न पुरोहितोंके सिवा साधुओंका भी एक सम्प्रदाय था, जो अपने जीवनका बहुभाग इस आत्मविद्याके चिन्तनमें ही व्यतीत करता था। उपनिषदों तथा बादके साहित्यमें इस आत्मविद्याके प्रति बड़ा अनुराग दर्शाया गया। तैत्तिरीयोपनिषद्में पाँच आवरण बतलाये हैं—अन्नरसमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। इनमेंसे प्रत्येकको आत्मा कहा है। कठोपनिषद्में आत्माके तीन भेद किये हैं—ज्ञानात्मा, महदात्मा और शान्तात्मा। छान्दोग्य ३०८, ७-१२ को दृष्टिमें रखकर ड्यूसन (Deussen) ने आत्माकी तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं—शरीरात्मा, जीवात्मा और परमात्मा। अनेक स्थलोंपर उपनिषदोंमें आत्मा और शरीरको जुदा जुदा बतलाया है। न्याय-वैशेषिकका जीवात्मा और परमात्माका भेद तो प्रसिद्ध ही है। इसके बाद, रामदास आत्माके चार भेद करते हैं—१ जीवात्मा, जो शरीरसे बद्ध है, २ शिवात्मा, जो विश्वव्यापी है, ३ परमात्मा जो विश्वके और उससे बाहर भी व्याप्त है, और ४ निर्मलात्मा, जो निष्क्रिय और ज्ञानमय है। किन्तु रामदासका कहना है कि अन्तर्तोगत्वा ये सब सर्वथा एक ही हैं।

आत्मिक-विज्ञान—आत्मज्ञानसे संसार भ्रमणका अन्त होता है। आत्मा उसी समय आत्मा कहा जाता है, जब वह कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। शुद्ध आत्माका ध्यान करनेसे मुक्ति शीघ्र मिलती है। आत्मज्ञानके बिना शास्त्रोंका अध्ययन, आचारका पालन आदि सब कृत्य-कर्म बेकार हैं।

आत्माका स्वभाव—यद्यपि आत्मा शरीरमें निवास करता है, किन्तु शरीरसे बिल्कुल जुदा है। छः द्रव्योंमें केवल यही एक चेतन द्रव्य है, शेष जड़ हैं। यह अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दका भण्डार है, अनादि-और अनन्त है; दर्शन और ज्ञान उसके मुख्य गुण हैं; शरीरप्रमाण है। मुक्तावस्थामें उसे शून्य भी कह सकते हैं,

क्योंकि उस समय वह कर्मबन्धनसे शून्य (रहित) हो जाता है। यद्यपि सब आत्माओंका अस्तित्व जुदा जुदा है, किन्तु गुणोंकी अपेक्षा उनमें कोई अन्तर नहीं है; सब आत्माएँ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यके भण्डार हैं। अशुद्ध दशामें उनके ये गुण कर्मोंसे ढँके रहते हैं।

परमात्माका स्वभाव—तीनों लोकोंके ऊपर मोक्ष-स्थानमें परमात्मा निवास करता है। वह शाश्वत ज्ञान और सुखका आगार है, पुण्य और पापसे निर्लिप्त है। केवल निर्मल ध्यानसे ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार मलिन दर्पणमें रूप दिखाई नहीं देता, उसी तरह मलिन चित्तमें परमात्माका भान नहीं होता। परमात्मा विश्वके मस्तकपर विराजमान है, और विश्व उसके ज्ञानमें, क्योंकि वह सबको जानता है। परमात्मा अनेक हैं, और उनमें कोई अन्तर नहीं है। वह न तो इन्द्रियगम्य है, और न केवल शास्त्राभ्याससे ही हम उसे जान सकते हैं; वह केवल एक निर्मल ध्यानका विषय है। ब्रह्म, परब्रह्म, शिव, शान्त आदि उसीके नामान्तर हैं।.....

कर्मोंका स्वभाव—राग, द्वेष आदि मानसिक भावोंके निमित्तसे जो परमाणु आत्मासे सम्बद्ध हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं। जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि है। कर्मोंके कारण ही आत्माकी अनेक दशाएँ होती हैं; कर्मोंके कारण ही आत्माको शरीरमें रहना पड़ता है। ये कर्म-कलङ्क ध्यानरूपी अग्निमें जलकर भस्म हो जाते हैं।

आत्मा और परमात्मा—आत्मा ही परमात्मा है, किन्तु कर्मबन्धके कारण वह परमात्मा नहीं बन सकता। ज्यों ही वह अपनेको जान लेता है, परमात्मा बन जाता है। स्वाभाविक गुणोंकी अपेक्षासे आत्मा और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है। जब आत्मा कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है, उसके आनन्दका पारावार नहीं रहता।

उपनिषदोंमें आत्मा और ब्रह्म—उपनिषदोंमें ब्रह्म एक विश्वव्यापी तत्त्व माना गया है; समस्त जीवात्माएँ उसीके अंश हैं। बहुतसे स्थलोंपर आत्मा और ब्रह्म शब्दका एक ही अर्थमें प्रयोग किया है। जैसे लोहेका एक टुकड़ा पृथ्वीके गर्भमें दब जानेके बाद पृथ्वीमें ही मिल जाता है, उसी तरह प्रत्येक जीवात्मा ब्रह्ममें समा जाता है। अविद्याके प्रभावसे प्रत्येक आत्मा अपनेको स्वतन्त्र समझता है, किन्तु वास्तवमें हम सब ब्रह्मके ही अंश हैं। प्रारम्भमें यह ब्रह्म एक शक्तिशाली ऋचाके रूपमें माना जाता था, किन्तु बादमें यह उस महान शक्तिका प्रतिनिधि बन गया, जो विश्वको उत्पन्न करती और नष्ट करती है। यद्यपि बार बार ब्रह्मको निर्गुण कहा है किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उसे एक स्वतन्त्र अनन्त और सनातन तत्त्वके रूपमें माना है, जिससे प्रत्येक वस्तु अपना अस्तित्व प्राप्त करती है। इस तरह उपनिषदोंमें ब्रह्म ही आत्मा है।

योगीन्दुके परमात्माकी उपनिषदोंके ब्रह्मसे तुलना—‘ब्रह्म’ शब्द वैदिक है, और उपनिषदोंमें ब्रह्मको एक और अद्वितीय लिखा है। जोइन्दुने इस शब्दको वैदिक साहित्यसे लिया है, और अपने ग्रन्थमें उसका बार बार प्रयोग किया है “अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्” लिखकर स्वामी समन्तभद्रने भी ‘ब्रह्म’ शब्दका व्यापक अर्थमें प्रयोग किया है। उपनिषदोंमें परमात्माकी अपेक्षा ब्रह्म शब्द अधिक आया है, यद्यपि ‘नृसिंहोत्तरतापनी’ आदि ग्रन्थोंमें दोनोंको एकार्थवाची बतलाया है। उपनिषदोंका ब्रह्म एक है, किन्तु जोइन्दु बहुतसे ब्रह्म मानते हैं। जैनधर्मके अनुसार परमात्मा कृतकृत्य हो जाता है, और उसे कुछ करना शेष नहीं रहता; वह विश्वको केवल जानता और देखता है, क्योंकि जानना और देखना उसका स्वभाव हैं। किन्तु, उपनिषदोंका ब्रह्म प्रत्येक वस्तुका उत्पादक और आश्रय है। यद्यपि उपनिषदोंके ब्रह्म और जैनोंके परमात्मामें बहुतसी समानताएँ हैं, किन्तु उनके अर्थमें भेद हैं। उदाहरणके लिये, उपनिषदोंमें ‘स्वयंभू’ शब्दका अर्थ ‘स्वयं पैदा होनेवाला’ और ‘स्वयं रहनेवाला’ है, किन्तु जैनधर्मके अनुसार ‘स्वयं परमात्मा होनेवाला’ है।

योगीन्दुकी एकता—योगीन्दुके परमात्मा और उपनिषदोंके ब्रह्ममें उपर्युक्त अन्तर होते हुए भी, योगीन्दु बिल्कुल उपनिषदोंके स्वरमें परमात्माओंके एकत्वकी चर्चा करते हैं, और परमात्मपदके अभिलाषियोंसे

निवेदन करते हैं कि वे परमात्माओंमें भेद-कल्पना न करें, क्योंकि उनके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है। परन्तु उपनिषदोंका एकत्व वास्तविक है, और जोइन्दुका केवल आपेक्षिक। किन्तु जब योगीन्दु आत्मा और परमात्माके एकत्वकी चर्चा करते हैं तो वे उसका पूर्णतया समर्थन करते हैं, क्योंकि जैनधर्मके अनुसार आत्मा परमात्मा है; कर्मबन्धके कारण उसे परमात्मा न कहकर आत्मा कहते हैं। सम्पूर्ण आत्माओंकी यह समानता जैनधर्मके प्राणीमात्रके प्रति मानसिक, वाचनिक और कायिक अहिंसावादके बिल्कुल अनुरूप है, इस प्रसंगमें सांख्योंकी तरह जैनोंको भी सत्कार्यवादी कहा जा सकता है। उपनिषदोंका ब्रह्म सर्वथा एक और अद्वैत है, किन्तु जैनोंके परमात्मामें यह बात नहीं है। जैनधर्म संसारको भेददृष्टिसे देखता है, और उसका आत्मा तप और ध्यानके मार्गपर चलकर परमात्मा बन जाता है, किन्तु उपनिषद् संसारको एक ब्रह्मके रूपमें ही देखते हैं।

उपनिषदोंके आत्मासे योगीन्दुके आत्माकी तुलना—जैनधर्ममें आत्मा और पुद्गल दोनों वास्तविक हैं, आत्माएँ अनन्त हैं और मुक्तावस्थामें भी प्रत्येक आत्माका स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है। किन्तु उपनिषदोंमें आत्माके सिवा—जो कि ब्रह्मका ही नामान्तर है, कुछ भी सत्य नहीं है। जैनधर्ममें, उपनिषदोंकी तरह आत्मा एक विश्वव्यापी तत्त्वका अंश नहीं है—किन्तु उसके अन्दर परमात्मत्वके बीज वर्तमान रहते हैं और जब वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है, तब वह परमात्मा बन जाता है। उपनिषद् तथा गीतामें बुरे और अच्छे कार्योंको कर्म कहा है, किन्तु जैनधर्ममें यह एक प्रकारका सूक्ष्म पदार्थ (matter) है, जो आत्माकी प्रत्येक मानसिक, वाचिक और कायिक-क्रियाके साथ आत्मासे सम्बद्ध हो जाता है और उसे जन्म-मरणके चक्रमें घुमाता है। जैनधर्मके अनुसार आत्मा और परमात्मा एक ही हैं, क्योंकि ये एक ही वस्तुकी दो अवस्थाएँ हैं, और इस तरह प्रत्येक आत्मा परमात्मा है। तथा संसार अनादि है, और अगणित आत्माओंकी रंगभूमि है। किन्तु वेदान्तमें आत्मा, परमात्मा और विश्व एक ब्रह्मस्वरूप ही है।

दो विभिन्न सिद्धान्त—आत्मा और ब्रह्मके सिद्धान्तको मिलाकर उपनिषद् एक स्वतन्त्र अद्वैतवादकी सृष्टि करते हैं। वास्तवमें आत्मवाद और ब्रह्मवाद ये दोनों ही स्वतंत्र सिद्धान्त हैं और एकसे दूसरेका विकास नहीं हो सकता। प्रथम सिद्धान्तके अनुसार अगणित आत्माएँ संसारमें भ्रमण कर रहे हैं; जब कोई आत्मा बन्धनसे मुक्त हो जाता है तब वह परमात्मा बन जाता है। परमात्मा भी अगणित हैं, किन्तु उनके गुणोंमें कोई अन्तर नहीं है; अतः वे एक प्रकारकी एकताका प्रतिनिधित्व करते हैं। ये परमात्मा संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयमें कोई भाग नहीं लेते। इसके विपरीत, ब्रह्मवादके अनुसार प्रत्येक वस्तु ब्रह्मसे ही उत्पन्न होती है, और उसीमें लय हो जाती है; विभिन्न आत्माएँ एक परब्रह्मके ही अंश हैं। जैन और सांख्य मुख्यतया आत्मवादके सिद्धान्तको मानते हैं, जब कि वैदिक-धर्म ब्रह्मवादको। किन्तु, उपनिषद् इन दोनों सिद्धान्तोंको मिला देते हैं, और आत्मा और ब्रह्मके ऐक्यका समर्थन करते हैं।

संसार और मोक्ष—संसार और मोक्ष आत्माकी दो अवस्थाएँ हैं, और दोनों एक दूसरेसे बिल्कुल विरुद्ध हैं। संसार जन्म और मृत्युका प्रतिनिधि है, तो मोक्ष उनका विरोधी। संसार-दशामें आत्मा कर्मोंके चंगुलमें फँसा रहता है, और नरक, पशु, मनुष्य और देव इन चारों गतियोंमें घूमता फिरता है, किन्तु मोक्ष उससे विपरीत है, उसे पञ्चमगति भी कहते हैं। जब आत्मा चौदह गुणस्थानोंमेंसे होकर समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है, तब उसे पञ्चमगतिकी प्राप्ति होती है। संसार-दशामें कर्म आत्माकी शक्तिको प्रकट नहीं होने देते। किन्तु मुक्तावस्थामें, जहाँ आत्मा परमात्मा बन जाता है, और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यका धारक होता है, वे शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं।

मोक्षप्राप्तिके उपाय—व्यवहारनयसे सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य, ये तीनों मिलकर मोक्षके मार्ग हैं, इन्हें 'रत्नत्रय' भी कहते हैं; और निश्चयनयसे रत्नत्रयात्मक आत्मा ही मोक्षका कारण है, क्योंकि ये तीनों ही आत्माके स्वाभाविक गुण हैं।

महासमाधि—इस ग्रन्थमें, पारिभाषिक शब्दोंकी भरमारके बिना महासमाधिका बड़ा ही प्रभावक वर्णन है, जो ज्ञानार्णव, योगसार, तत्त्वानुशासन आदिमें भी पाया जाता है। उस ध्यानकी प्राप्तिके लिये जिसमें आत्मा परमात्माका साक्षात्कार करता है, मनकी स्थिरता अत्यन्त आवश्यक है। उस समय न तो इष्ट वस्तुओंके प्रति मनमें राग ही होना चाहिए और न अनिष्टके प्रति द्वेष; तथा मन वचन और काय एकाग्र होने चाहिये और आत्मा आत्मामें लीन होना चाहिये। इस सिलसिलेमें दो अवस्थाएँ उल्लेखनीय हैं—एक सिद्ध और दूसरी अर्हत। समस्त कर्मोंका नाश करके प्रत्येक आत्मा सिद्धपद प्राप्त कर सकता है, किन्तु अर्हत्पद केवल तीर्थङ्कर ही प्राप्त कर सकते हैं। तीर्थङ्कर धार्मिक सिद्धान्तोंके प्रचारमें अपना कुछ समय देते हैं, किन्तु सिद्ध सदा अपनेमें ही लीन रहते हैं। अतः समाजके लिये, तीर्थङ्कर विशेष लाभदायक होते हैं।

गूढवादकी कुछ विशेषताएँ—गूढवाद या रहस्यवादकी व्याख्या कर सकना सरल नहीं है। यह मनकी उस अवस्थाको बतलाता है, जो तुरन्त निर्विकार परमात्माका साक्षात् दर्शन कराती है। यह आत्मा और परमात्माके बीचमें पारस्परिक अनुभूतिका साक्षात्कार है, जो आत्मा और अन्तिम सत्यकी एकताको बतलाता है। इसमें प्रत्येक जीव अपनी पूर्णता और स्वतन्त्रताका अनुभव करता है। दूसरे, इसका अनुभव करनेके लिए ऐसे आत्माकी आवश्यकता है, जो अपनेको ज्ञान और सुखका भण्डार समझे तथा अपनेको परमात्म पदके योग्य जाने। तीसरे, यदि गूढवाद आध्यात्मिक और धार्मिक हो तो धर्मको ध्येय और ध्यातामें एकत्व स्थापित करनेका उपाय अवश्य बताना चाहिए। चौथे, गूढवाद साधारणतया संसारके सम्बन्धमें और विशेषतया सांसारिक प्रलोभनोंके सम्बन्धमें स्वाभाविक उदासीनता दिखाता है। पाँचवें, गूढवादसे उस सामग्रीकी प्राप्ति होती है जो लौकिकज्ञानके साधन मन और इन्द्रियोंकी सहायताके बिना ही पूर्ण सत्यको जान लेती है। छठे, धार्मिक गूढवादमें कुछ नैतिक नियम रहते हैं, जो एक आस्तिकको अवश्य पालने चाहिए। सातवें, गूढवादसम्बन्धी रहस्योंका उपदेश करनेवाले गुरुओंका सम्मान करना भी एक गूढवादीका कर्तव्य है।

जैनधर्ममें गूढवाद—क्या जैनधर्म सरीखे वेदविरोधी धर्ममें गूढवादका होना संभव है? कुन्दकुन्द और पूज्यपादके ग्रन्थोंके अवलोकनसे उक्त शंका निराधार प्रमाणित होती है। यहाँ यह अधिक युक्तिसङ्गत होगा कि प्राचीन जैनग्रन्थोंसे कुछ बातें (Data) सङ्कलित की जावें, और देखा जावे कि जैनधर्मने गूढवादको कौन-सी मौलिक वस्तु प्रदान की है, और वेदान्तके गूढवादसे उसमें क्या समानता या अन्तर है? ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि जैनतीर्थङ्कर संसारके गिने चुने गूढवादियोंमेंसे हैं। जैनधर्मके प्रथम तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेवके सम्बन्धमें प्रो.^१ रानडेने ठीक ही लिखा है, कि वे एक भिन्न ही प्रकारके गूढवादी थे, उनकी अपने शरीरके प्रति अत्यन्त उदासीनता उनके आत्मसाक्षात्कारको प्रमाणित करती है। पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि भागवतमें प्राप्त ऋषभदेवका वर्णन जैन पौराणिक वर्णनोंसे बिल्कुल मिलता है।

जैनधर्ममें गूढवाद-सम्बन्धी सामग्री—ईश्वरवादियोंके अद्वैतवादसे कहीं अधिक अद्वैतवाद और ईश्वरवादको गूढवादका आधार माना जाता है। अनुभवकी श्रेष्ठ दशामें आत्मा किसी दैवी शक्तिके साथ एकताका अनुभव करता है। विलियम जेम्सका कहना है कि मनकी गूढ वृत्तियाँ प्रत्येक मात्रामें सर्वदा नहीं तो प्रायः अद्वैतवादका समर्थन करती हैं, जैसा कि इतिहाससे प्रदर्शित होता है। अतः गूढवादमें अद्वैतवादके लिए पर्याप्त स्थान है, जैसा कि ऊपर कह आये हैं। वेदान्तमें तो ब्रह्म ही सब कुछ है। किन्तु, ज्ञानदेवका आध्यात्मिक गूढवाद अद्वैत और द्वैतको मिला देता है क्योंकि उसमें एकत्व और नानात्व, दोनोंको ही स्थान दिया है। जैन गूढवाद दो तत्त्वोंपर अवलम्बित है। वे दो तत्त्व हैं—आत्मा और परमात्मा। किन्तु परमात्मासे मतलब ईश्वर है, न कि जगन्नियन्ता। जैनदृष्टिसे आत्मा और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है, केवल संसार अवस्थामें आत्मा कर्मबन्धके कारण परमात्मा नहीं हो सकता। कर्मोंका नाश करके गूढवादी इस एकता या

समानताका अनुभव करता है। जैनधर्मकी परमात्मा सम्बन्धी मान्यता आत्मकैवल्य (Personal absolute) से कुछ मिलती-जुलती है। जैनधर्ममें आत्मा परमात्मा हो जाता है, किन्तु वेदान्तियोंकी तरह ब्रह्ममें लीन नहीं होता। जैनधर्ममें आध्यात्मिक अनुभवसे मतलब एक विभक्त आत्माका एकत्वमें मिल जाना नहीं है, किन्तु उसका सीमित व्यक्तित्व उसके सम्भावित परमात्माका अनुभवन करता है। कम्मपयडि, कम्मपाहुड, कसाय-पाहुड, गोम्मटसार आदि प्राचीन जैनशास्त्रोंमें बतलाया है कि किस तरह आत्मा गुणस्थानोंपर आरोहण करता हुआ उन्नत, उन्नततर होता जाता है और किस तरह प्रत्येक गुणस्थानमें उसके कर्म नष्ट होते जाते हैं। यहाँ उन सब बातोंका वर्णन करनेके लिये स्थान नहीं है।

वास्तवमें जैनधर्म एक तपस्याप्रधान धर्म है। यद्यपि उसमें गृहस्थाश्रमका भी एक दर्जा है, किन्तु मोक्षप्राप्तिके इच्छुक प्रत्येक व्यक्तिको साधु-जीवन बिताना आवश्यक एवं अनिवार्य होता है। साधुओंके आचार विषयक नियम अति कठोर हैं; वे एकाकी विहार नहीं कर सकते, क्योंकि सांसारिक प्रलोभन सब जगह वर्तमान है। वे अपना अधिक समय स्वाध्याय और आत्मध्यानमें ही बिताते हैं; और प्रतिदिन गुरुके पादमूलमें बैठकर अपने दोषोंकी आलोचना करते हैं, और उनसे आत्म-विद्या या आत्मज्ञानका पाठ पढ़ते हैं। इन सब बातोंसे यह स्पष्ट है कि जैनधर्ममें गूढवादके सब आवश्यक अंग पाये जाते हैं।

पुण्य और पाप—मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियासे आत्माके प्रदेशोंमें हलन-चलन होता है, उससे, कर्म-परमाणु आत्माकी ओर आकर्षित होते हैं। यदि क्रिया शुभ होती है, तो पुण्यकर्मको लाती है, और यदि अशुभ हो तो पापकर्मको। किन्तु पुण्य हो या पाप, दोनोंकी उपस्थिति आत्माकी परतंत्रताका कारण हैं। केवल इतना अन्तर है, कि पुण्य-कर्म सोनेकी बेडी है और पापकर्म लोहेकी। अतः स्वतंत्रताके अभिलाषी मुमुक्षु दोनोंसे ही मुक्त होनेकी चेष्टा करते हैं।

परमात्मप्रकाशकी अपभ्रंश और आचार्य हेमचन्द्रका प्राकृत-व्याकरण

अपभ्रंश और उसकी विशेषता—अपभ्रंशका आधार प्राकृत भाषा है। यह वर्तमान प्रान्तीय भाषाओंसे अधिक प्राचीन है। उपलब्ध अपभ्रंश-साहित्यके देखनेसे मालूम होता है कि जनसाधारणमें प्रचलित कविताके लिये इस भाषाको अपनाया गया था, इसीसे इसमें प्रान्तीय परिवर्तनोंके सिवा कुछ सामान्य बातें (Common Characteristics) भी पाई जाती है। हेमचन्द्रने अपनी अपभ्रंशमें प्राकृतकी कुछ विशेषताओंको भी अपवादरूपसे सम्मिलित कर लिया है। उन्होंने उदाहरणके लिये जो अपभ्रंश-पद्य उद्धृत किये हैं, एक-आध शब्द या रूपको छोड़कर उनमेंसे कुछ पद्य बिल्कुल प्राकृतमें हैं। कुछ बातोंसे यह स्पष्ट है कि प्राकृतको सरल करनेके लिये अपभ्रंशमें अनेक उपाय किये गये हैं। उदाहरणके लिए, (१) अपभ्रंशमें स्वरविनिमय तथा उनके दीर्घ या ह्रस्व करनेकी स्वतंत्रता है, जैसे एक ही कारकमें 'हैं' या 'हुँ' और 'हे' या 'हु' प्रत्यय पाये जाते हैं; और 'ओ' प्रत्ययकी जगहमें 'उ' आता है। (२) 'म' का बहुत कम उच्चारण होता है, क्योंकि इसके स्थानमें प्रायः 'वँ' हो जाता है। (३) विभक्तिके अन्तमें 'स' के स्थानमें 'ह' हो जाता है और इससे अनेक विचित्र रूप समझमें आ जाते हैं। यथा, मार्कण्डेय तथा अन्य लेखकोंके द्वारा प्रयुक्त 'देवहो' वैदिक 'देवासः' से मिलता जुलता है। इसी तरह 'देवहँ' प्राकृतके 'देवस्स' से, 'ताहँ' 'तस्स' से, 'तहिँ' 'तंसि' से और 'एहु' 'एसो' से लिया गया है। अवेस्ता तथा ईरानी भाषाओंमें भी संस्कृत 'स' का 'ह' में परिवर्तन हो जाता है। वर्तमान गुजरातीमें भी कभी कभी 'स' का 'ह' हो जाता है। (४) उच्चारणको सरल बनानेके लिये प्राकृतकी सन्धियाँ प्रायः शिथिल कर दी गई हैं। (५) कभी कभी कर्ता, कर्म और सम्बन्ध कारकमें प्रत्यय नहीं लगाया जाता। (६) शब्दोंके रूपोंपर स्वरपरिवर्तनका प्रभाव पड़ता है। (७) अव्ययोंमें इतना अधिक परिवर्तन हो गया है कि उनका पहचानना भी कठिन है; उनमेंसे कुछ तो सम्भवतः देशी भाषाओंसे आये हैं। (८) अनेक शब्दोंमें 'क' 'ड' 'ल' आदि जोड़ दिये गये हैं। और (९) देशी शब्दों और धात्वादेशोंका भी काफी बाहुल्य है।

अपभ्रंश भाषाकी मोहकता—अपभ्रंश पद्य कोमलता और माधुर्यसे परिपूर्ण होते हैं। अपभ्रंशमें नये नये छन्दोंकी कमी नहीं है, किन्तु ये छन्द मात्राछन्द होते हैं, और सरलतासे गाये जा सकते हैं। अतः अधिक नहीं तो छठी शताब्दीमें, अपभ्रंशका जनसाधारणकी कविताका माध्यम होना कोई अचरजकी बात नहीं है। यह कहा जाता है कि बलभीके गृहसेनने, ई० ५५९ से ५६९ तकके जिनके स्मारकलेख पाये जाते हैं, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशमें पद्य-रचना की थी। उद्योतनसूरि (७७८ ई०) ने भी अपभ्रंशका बहुत कुछ गुण-गान किया है, और भाषाओंके सम्बन्धमें उनकी आलोचना एक महत्त्वकी वस्तु है। उनके विचारसे लम्बे समास, अव्यय, उपसर्ग, विभक्ति, वचन और लिङ्गकाठिन्यसे पूर्ण संस्कृतभाषा दुर्जनके हृदयकी तरह दुस्सह है, किन्तु प्राकृत, सज्जनोंके वचनकी तरह आनन्ददायक है। यह अनेक कलाओंके विवेचनरूपी तरंगोंसे पूर्ण सांसारिक अनुभवोंका समुद्र है, जो विद्वानोंसे मथन किये जानेपर टपकनेवाली अमृतकी बूंदोंसे भरा है। यह (अपभ्रंश) शुद्ध और मिश्रित संस्कृत तथा प्राकृत शब्दोंका समानुपातिक एवं आनन्ददायक सम्मिश्रण है। यह कोमल हो या कठोर, बरसाती पहाड़ी नदियोंकी तरह इसका प्रवाह बेरोक है, और प्रणय-कुपिता-नायिकाके वचनोंकी तरह यह शीघ्र ही मनुष्यके मनको वशमें कर लेती है। उद्योतनसूरि स्वयं उद्यकोटिके ग्रन्थकार थे, उन्होंने जटिलाचार्य, रविषेण आदि संस्कृतकवियोंकी बड़ी प्रशंसा की है। अपभ्रंश भाषाके प्रति उनके ये उद्गार स्पष्ट बतलाते हैं कि ईसाकी आठवीं शताब्दी तक वह पद्य-रचनाका एक आकर्षक माध्यम समझी जाती थी।

परमात्मप्रकाशके ऋणी हेमचन्द्र—उपलब्ध प्राकृत व्याकरणोंमें, हेमचन्द्रके व्याकरणमें अपभ्रंशका पूरा विवेचन मिलता है। उनके विवेचनकी विशेषता यह है कि वे अपने नियमोंके उदाहरणमें अनेक पद्य उद्धृत करते हैं। बहुत समय तक उनके द्वारा उद्धृत पद्योंके स्थलोंका पता नहीं लग सका था। डॉ० पिशलका कहना था कि सतसई जैसे किसी पद्य संग्रहसे वे उद्धृत किये गये हैं। किन्तु पद्योंकी भाषा और विचारोंमें अंतर होनेसे यह निश्चित है कि वे किसी एक ही स्थानसे नहीं लिये गये हैं। मैंने यह बतलाया था कि हेमचन्द्रने परमात्मप्रकाशसे भी कुछ पद्य लिये हैं। वे पद्य निम्न प्रकार हैं :-

१. सूत्र ४-३८९ के उदाहरणमें—

संता भोग जु परिहरइ तसु कंतहो बलि कीसु । तसु दइवेण वि मुंडियउँ जसु खल्लिहडउँ सीसु ॥

परमात्मप्रकाशमें यह पद्य (२-१३९) इस प्रकार है—

संता विसय जु परिहरइ बलि किजउँ हउँ तासु । सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु ॥

यदि सूत्र और उसकी व्याख्याको देखा जावे तो 'किजउँ' के स्थानमें 'किसु' का परिवर्तन समझमें ठीक ठीक आ जाता है। क्योंकि 'किजउँ' एक वैकल्पिक रूप है, और उसका उदाहरण दिया गया है—“बलि किजउँ सुअणस्सु ।”

२. सूत्र ४-४२७ में—

जिब्भिंदिउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइँ अन्नइँ । मूल विणट्टइ तुंबिणिहे अवसैं सुक्कहिँ पण्णइँ ॥

कुछ भेदोंके होते हुए भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह दोहा परमात्मप्रकाशके २-१४० का ही रूपान्तर है, जो इस प्रकार है—

पंचहँ णायकु वसि करहु जेण होंति वसि अण्ण । मूल विणट्टइ तरुवरहँ अवसइँ सुक्कहिँ पण्ण ॥

इस दोहेमें कुछ परिवर्तन तो सूत्रके नियमोंके उदाहरण देनेके लिये किये गये हैं। तथा परमात्मप्रकाशमें इन दोनों दोहोंकी क्रमागत संख्या भी स्थलित नहीं हैं, और यदि इससे कोई नतीजा निकालना संभव है, तो यह यह है कि हेमचन्द्रने परमात्मप्रकाशसे ही इन पद्योंको उद्धृत किया है।

३. सूत्र ४-३६५ में—

आयहो दवुकलेवरहो जं वाहिउ तं सारु । जइ उटुब्भइ तो कुहइ अह डज्जइ तो छारु ॥

परमात्मप्रकाशमें यह दोहा (२-१४७) इस प्रकार है—

बलि किउ माणुस-जम्मडा देक्खंतहँ पर सारु । जइ उदुब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥

दोनोंकी दूसरी पंक्ति बिल्कुल एक है, किन्तु सूत्रका उदाहरण देनेके लिये पहलीमें परिवर्तन किया गया है ।

४. सूत्र २-८० के उदाहरणमें, हेमचन्द्र एक छोटासा वाक्य उद्धृत करते हैं—

‘बोद्धहहम्मि पडिया’ ।

यह परमात्मप्रकाशके दोहा (२-११७) का अंश है, जो इस प्रकार है—

ते चिय धण्णा ते चिय सप्पुरिसा ते जियंतु जियलोए । बोद्धहहम्मि पडिया तरंति जे चेव लीलाए ॥

हेमचन्द्रने रकारका प्रयोग किया है, किन्तु परमात्मप्रकाशकी किसी भी प्रतिमें हेमचन्द्रका पाठ नहीं मिलता । इस पद्यकी भाषा अपभ्रंश नहीं है और यह गाथा भी ‘उक्तं च’ करके है, अतः इसके परमात्म-प्रकाशका मूल पद्य होनेमें सन्देह है । मेरा विचार है कि स्वयं जोइन्दुने ही इसे अपने ग्रन्थमें सम्मिलित किया होगा, क्योंकि परमात्मप्रकाशकी कमसे कम पद्य संख्यावाली प्रतियोंमें भी यह पद्य पाया जाता है ।

हेमचन्द्रकी अपभ्रंश—हेमचन्द्रने अपभ्रंशकी उपभाषाओंका वैसा स्पष्ट निर्देश नहीं किया, जैसा मार्कण्डेय तथा बादके ग्रन्थकारोंने किया है । उनके नियमोंका सावधानीके साथ अध्ययन करनेसे पता चलेगा कि उनकी अपभ्रंश एक ही प्रकारकी नहीं है, किन्तु कई उपभाषाओंका मिश्रण है । हेमचन्द्रके कथन “प्रायो ग्रहणाद्यस्यापभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित् प्राकृतवत् शौरसेनीवद्य कार्यं भवति ।” (४-३२९) से यह स्पष्ट है कि वे अपनी अपभ्रंशके दो आधार मानते हैं, एक प्राकृत और दूसरा शौरसेनी । चतुर्थपादके सूत्र ३४१, ३६०, ३७२, ३९१, ३९३, ३९४, ३९८, ३९९, ४१४, ४३८ आदि तथा उनके उदाहरण अपभ्रंशके जिन तत्त्वोंको बतलाते हैं, वे उसीके अन्य सूत्रोंसे मेल नहीं खाते । हेमचन्द्रकी प्राकृत भाषाओंके साथ जब हम उनकी कुछ विशेषताओंका अध्ययन करते हैं, तो वे आपसमें इतनी विरुद्ध जान पड़ती हैं कि एक भाषामें उनकी उपस्थिति संभव प्रतीत नहीं होती ।

परमात्मप्रकाशकी अपभ्रंशके साथ हेमचन्द्रकी अपभ्रंशकी तुलना—हेमचन्द्रका सूत्र “स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे” स्वर-परिवर्तनके लिये कोई आवश्यक नियामक नहीं है । किन्तु इसका केवल इतना ही अभिप्राय है कि हेमचन्द्रकी अपभ्रंशमें स्वर-परिवर्तन काफी स्वतंत्र है । परन्तु परमात्मप्रकाशमें हम इस प्रकारकी स्वतंत्रता नहीं देखते । व्यञ्जनोंके परिवर्तनके सम्बन्धमें हेमचन्द्र कहते हैं (४-३९६) कि असंयुक्त ‘क’ ‘ख’ ‘त’ ‘थ’ ‘प’ और ‘फ’ के स्थानमें क्रमशः ‘ग’ ‘घ’ ‘द’ ‘ध’ ‘ब’ और ‘भ’ होते हैं, किन्तु हेमचन्द्रके उदाहरणोंमें प्रयुक्त कुछ प्रयोग उनके इस नियमको भंग कर देते हैं । परमात्मप्रकाशमें भी इस नियमका अनुसरण नहीं किया गया है, किन्तु हेमचन्द्रने प्राकृत भाषाके लिये व्यञ्जनोंके सम्बन्धमें जो नियम निर्धारित किया है कि असंयुक्त ‘क’ ‘ग’ ‘च’ ‘ज’ ‘त’ ‘द’ ‘प’ ‘य’ और ‘व’ का प्रायः लोप होता है (१-१७७) परमात्मप्रकाश उससे सहमत है । अनुनासिक अक्षरोंके सम्बन्धमें, हेमचन्द्रके व्याकरणके अनुसार शब्दके आदिमें ‘न’ हो तो वह कायम रहता है तथापि अपभ्रंश-पद्योंके अपने नवीन संस्करणमें पिशेलने आदिम तथा मध्यम ‘न’ के स्थानमें ‘ण’ को ही रक्खा है । परमात्मप्रकाशमें भी सर्वत्र ‘ण’ ही आता है, केवल ‘ब’ प्रतिमें कहीं कहीं ‘न’ पाया जाता है । कन्नड प्रतियोंमें सर्वत्र ‘ण’ ही है । इसके सिवा भी दोनों ग्रन्थोंकी अपभ्रंशमें कई विशेषताएँ हैं, जो अंग्रेजी प्रस्तावनासे जानी जा सकती हैं ।

तुलनाका निष्कर्ष—परमात्मप्रकाशकी अपभ्रंश सर्वत्र एकसी है; जब कि हेमचन्द्रकी अपभ्रंशमें कमसे कम दो उपभाषाएँ मिश्रित हैं । कुछ हेर-फेरके साथ हेमचन्द्रने परमात्मप्रकाशसे बहुत से दोहे उद्धृत किये हैं, और अपने व्याकरणके लिये उससे काफी सामग्री भी ली है । स्वर और विभक्ति सम्बन्धी छोटे मोटे भेदोंको भुलाकर भी परमात्मप्रकाश और हेमचन्द्रके व्याकरणकी अपभ्रंशोंमें काफी मौलिक अन्तर पाया जाता है ।

हेमचन्द्रकी अपभ्रंशका आधार शौरसेनीका परमात्मप्रकाशमें पता भी नहीं मिलता । इसके सिवा हेमचन्द्रकी अपभ्रंशकी और भी बहुतसी बातें परमात्मप्रकाशमें नहीं पाई जातीं ।

२ परमात्मप्रकाशके रचयिता जोइन्दु

योगीन्द्र नहीं, योगीन्दु

जोइन्दु और उनका संस्कृत नाम—यह बड़े ही दुःखकी बात है कि जोइन्दु जैसे महान अध्यात्मवेत्ताके जीवनके सम्बन्धमें विस्तृत वर्णन नहीं मिलता । श्रुतसागर उन्हें ‘भट्टारक’ लिखते हैं, किन्तु इसे केवल एक आदरसूचक शब्द समझना चाहिये । उनके ग्रन्थोंमें भी उनके जीवन तथा स्थानके बारेमें कोई उल्लेख नहीं मिलता । उनकी रचनाएँ उन्हें आध्यात्मिक राज्यके उन्नत सिंहासनपर विराजमान एक शक्तिशाली आत्माके रूपमें चित्रित करती हैं । वे आध्यात्मिक उत्साहके केन्द्र हैं । परमात्मप्रकाशमें उनका नाम जोइन्दु आता है । जयसेन ‘तथा योगीन्द्रदेवैरप्युक्तम्’ करके परमात्मप्रकाशसे एक पद्य उद्धृत करते हैं । ब्रह्मदेवने अनेक स्थलोंपर ग्रन्थकारका नाम योगीन्द्र लिखा है । ‘योगीन्द्रदेवनाम्ना भट्टारकेण’ लिखकर श्रुतसागर एक पद्य उद्धृत करते हैं । कुछ प्रतियोंमें योगींद्र भी पाया जाता है । इस प्रकार उनके नामका संस्कृतरूप योगीन्द्र बहुत प्रचलित रहा है । शब्दों तथा भावोंकी समानता होनेसे योगसार भी जोइन्दुकी रचना मानी गयी है । इसके अंतिम पद्यमें ग्रन्थकारका नाम जोगिचन्द्र लिखा है, किन्तु यह नाम योगीन्द्रसे मेल नहीं खाता । अतः मेरी रायमें योगीन्द्रके स्थानपर योगीन्दु पाठ है, जो योगिचंद्रका समानार्थक है । ऐसे अनेक दृष्टांत हैं, जहाँ व्यक्तिगत नामोंमें इंदु और चंद्र आपसमें बदल दिये गये हैं जैसे—भार्गेदु और भागचंद्र तथा शुभेदु और शुभवंद्र । गलतीसे जोइंदुका संस्कृत रूप योगीन्द्र मान लिया गया और वह प्रचलित हो गया । ऐसे बहुतसे प्राकृत शब्द हैं जो विभिन्न लेखकोंके द्वारा गलतरूपमें तथा प्रायः विभिन्न रूपोंमें संस्कृतमें परिवर्तित किये गये हैं । योगसारके सम्पादकने इस गलतीका निर्देश किया था, किन्तु उन्होंने दोनों नामोंको मिलाकर एक तीसरे ‘योगीन्द्रचंद्र’ नामकी सृष्टि कर डाली, और इस तरह विद्वानोंकी हँसनेका अवसर दे दिया । किंतु, यदि हम उनका नाम जोइन्दु=योगीन्दु रखते हैं, तो सब बातें ठीक-ठीक घटित हो जाती हैं ।

योगीन्दुकी रचनाएँ

परम्परागत रचनाएँ—निम्नलिखित ग्रंथ परम्परासे योगीन्दुविरचित कहे जाते हैं— १ परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश), २ नौकारश्वावकाचार (अप०), ३ योगसार (अप०), ४ अध्यात्मसंदोह (सं०), ५ सुभाषिततंत्र (सं०), और ६ तत्त्वार्थटीका (सं०) । इनके सिवा योगीन्द्रके नामपर तीन और ग्रंथ भी प्रकाशमें आ चुके हैं—एक दोहापाहुड (अप०), दूसरा अमृताशीति (सं०) और तीसरा निजात्माष्टक (प्रा०) । इनमेंसे नम्बर ४ और ५ के बारेमें हम कुछ नहीं जानते और नं० ६ के बारेमें योगदेव, जिन्होंने तत्त्वार्थ-सूत्रपर संस्कृतमें टीका बनाई है, और योगीन्द्रदेव नामोंकी समानता संदेहमें डाल देती है ।

परमात्मप्रकाश

परिचय—इस भूमिकाके प्रारंभमें इसके बारेमें बहुत कुछ लिखा जा चुका है । इसके जोइंदुविरचित होनेमें कोई संदेह नहीं है । यह कथन कि उनके किसी शिष्यने इसे संगृहीत किया था, ऊपर कहा जा चुका है । इस ग्रन्थमें जोइन्दु अपना नाम देते हैं और लिखते हैं कि भट्ट प्रभाकरके लिये इस ग्रन्थकी रचना की गई है । तथा श्रुतसागर, बालचन्द्र, ब्रह्मदेव और जयसेन जोइन्दुको इस ग्रन्थका कर्ता बतलाते हैं । यथार्थमें यह ग्रन्थ जोइन्दुकी रचनाओंमें सबसे उत्कृष्ट है, और इसीके कारण अध्यात्मवेत्ता नामसे उनकी ख्याति है ।

योगसार

परिचय—योगसारका मुख्य विषय भी वही है जो परमात्मप्रकाशका है । इसमें संसारकी प्रत्येक वस्तुसे

आत्माको सर्वथा पृथक् अनुभवन करनेका उपदेश दिया गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि संसारसे भयभीत और मोक्षके लिये उत्सुक प्राणियोंके आत्माको जगानेके लिये जोगिचन्द्र साधुने इन दोहोंको रचा है। ग्रन्थकार लिखते हैं कि उन्होंने ग्रन्थको दोहोंमें रचा है, किन्तु उपलब्ध प्रतिमें एक चौपाई और दो सोरठा भी हैं, इससे अनुमान होता है कि संभवतः प्रतियाँ पूर्ण सुरक्षित नहीं रही हैं। अन्तिम पद्यमें ग्रन्थकर्ताका नाम जोगिचन्द्र (जोइन्दु=योगीन्दु) का उल्लेख, आरम्भिक मङ्गलाचरणकी सदृशता, मुख्यविषयकी एकता, वर्णनकी शैली, और वाक्य तथा पंक्तियोंकी समानता बतलाती है कि दोनों ग्रन्थ एक ही कर्ता जोइन्दुकी रचनाएँ हैं। योगसार माणिकचन्द्रजैनग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुआ है, किन्तु उसमें अनेक अशुद्धियाँ हैं। यदि उसके अशुद्ध पाठोंको दृष्टिमें न लाया जाये तो भाषाकी दृष्टिसे भी दोनों ग्रन्थोंमें समानता है। केवल कुछ अन्तर, जो पाठकके हृदयको स्पर्श करते हैं, इस प्रकार हैं—योगसारमें एक वचनमें प्रायः ‘हु’ और ‘ह’ आता है किन्तु परमात्मप्रकाशमें ‘हँ’ आता है। योगसारमें वर्तमानकालके द्वितीय पुरुषके एकवचनमें ‘हु’ और ‘हि’ पाया जाता है, किन्तु परमात्मप्रकाशमें केवल ‘हि’ आता है। पञ्चास्तिकायकी टीकामें जयसेनने योगसारसे एक पद्य भी उद्धृत किया है।

सावयधम्मदोहा

परिचय—इस ग्रन्थमें मुख्यतया श्रावकोंके आचार साधारण किन्तु आकर्षक शैलीमें बतलाये गये हैं। उपमाओंने इसके उपदेशोंको रोचक बना दिया है और इस श्रेणीके अन्य ग्रन्थोंके साथ इसकी तुलना करनेपर इसमें पारिभाषिक शब्दोंकी कमी पाई जाती है। विषय तथा दोहाछंदके आधारपर इसका नाम श्रावकाचारदोहक है। प्रारम्भके शब्दोंके आधारपर इसे नव (नौ) कार श्रावकाचार भी कहते हैं। प्रो० हीरालालजीने बहुत कुछ ऊहापोहके बाद इसका नाम सावयधम्मदोहा रक्खा है।

इसका कर्ता—जोइन्दु सम्बन्धी अपने लेखमें मैंने बतलाया था कि जोगीन्द्र, देवसेनी और लक्ष्मीचन्द्र या लक्ष्मीधरको इसका कर्ता कहा जाता है। उसके बाद इसकी लगभग नौ प्रतियाँ प्रकाशमें आई हैं। अपनी प्रस्तावनामें इसके कर्ताके सम्बन्धमें प्रो० हीरालालजीने विस्तारसे विचार किया है किन्तु उनका दृष्टिकोण किसी भी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः उसपर विचार करना आवश्यक है।

जोइन्दु—जोइन्दुको इसका कर्ता दो आधारपर माना जाता है, एक तो परम्परागत सूचियोंमें जोइन्दुको इसका कर्ता लिखा है, दूसरे ‘अ’ प्रतिके अन्तमें इसे ‘जोगीन्द्रकृत’ बतलाया है, और ‘भ’ प्रतिके एक पूरक पद्यमें योगीन्द्रदेवके साथ इसका नाता जोड़ा गया है। जोगीन्द्र और योगीन्द्रसे परमात्मप्रकाशके कर्ताका ही आशय मालूम होता है। किन्तु परमात्मप्रकाश और योगसारकी तरह इस ग्रन्थमें जोइन्दुने अपना नाम नहीं दिया; दूसरे, जोइन्दुके उन्नत आध्यात्मिक विचारोंका दिग्दर्शन भी इसमें नहीं होता, तथा श्रावकाचारके मुख्य विषयकी तान रहस्यवादी जोइन्दुके स्वरसे मेल नहीं खाती। तीसरे, प्रो० हीरालालजीके मतसे जोइन्दुकी अन्य रचनाओंकी अपेक्षा इसकी कविता अधिक गहन है तथा उनका यह भी कहना है कि यह जोइन्दुकी युवावस्थाकी रचना नहीं है। चौथे, कुछ सामान्य विचारोंके सिवा, इसमें और परमात्मप्रकाशमें कोई उल्लेखनीय शाब्दिक समानता भी नहीं है। पाँचवें, सावयधम्मदोहामें पञ्चमी और षष्ठीके एक वचनमें ‘हु’ आता है, जब कि परमात्मप्रकाशमें एकवचन और बहुवचन दोनोंमें ‘हँ’ आता है। अतः इस ग्रन्थको जोइन्दुकृत माननेमें कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं है। संभवतः इसकी भाषा तथा कुछ विचारोंकी साम्यताको देखकर किसीने जोइन्दुको इसका कर्ता लिख दिया होगा।

देवसेन—निम्नलिखित आधारोंपर प्रो० हीरालालजीका मत है कि इसके कर्ता देवसेन है।

१ ‘क’ प्रतिके अन्तिम पद्यमें ‘देवसेनै उवदिदु’ आता है।

२ देवसेनके भावसंग्रह और सावयधम्मदोहामें बहुत कुछ समानता है।

पर० १०

३ देवसेनको 'दोहा' रचनेकी बहुत चाह थी। और संभवतः उस समय छन्दशास्त्रमें यह एक नवीन आविष्कार था।

किन्तु उनके उक्त आधार प्रबल नहीं हैं। प्रथम, 'क' प्रति विश्वसनीय नहीं हैं, क्योंकि अन्य प्रतियोंकी अपेक्षा उसमें पद्यसंख्या सबसे अधिक है, तथा वह सबके बादकी लिखी हुई है। इसके सिवा, जिस दोहेमें देवसेनका नाम आता है, वह केवल सदोष ही नहीं है किन्तु उसमें स्पष्ट अशुद्धियाँ हैं। उसका 'देवसेन' पाठ बड़ा ही विचित्र है, और पुस्तकभरमें इस ढँगका दूसरा उदाहरण खोजनेपर भी नहीं मिलता। छन्दशास्त्रकी दृष्टिसे भी उस दोहेकी दोनों पंक्तियाँ अशुद्ध हैं, और सबसे मजेकी बात तो यह है कि प्रो० हीरालालजीने स्वसम्पादित सावयधम्मदोहाके मूलमें उसे स्थान नहीं दिया। अतः इस प्रकारके अन्तिम दोहेका सम्बन्ध सावयधम्मदोहाके कर्ताके साथ नहीं जोड़ा जा सकता, और हम यह विश्वास नहीं कर सकते कि दर्शनसारके रचयिता देवसेनने इसे रचा है। देवसेनके चार प्राकृत ग्रंथोंका निरीक्षण करनेपर हम देखते हैं कि भावसंग्रहमें वे अपना नाम 'विमलसेनका शिष्य देवसेन' देते हैं। आराधनासारमें केवल 'देवसेन' लिखा है। दर्शनसारमें 'धारानिवासी देवसेन गणी' आता है, और तत्त्वसारमें 'मुनिनाथ देवसेन' लिखा है। किन्तु सावयधम्मदोहामें इनमेंसे एकका भी उल्लेख नहीं है। अतः पहली युक्ति ठीक नहीं है।

यह सत्य है कि भावसंग्रह और सावयधम्मदोहाकी कुछ चर्चाएँ मिलती जुलती हैं, किन्तु प्रो० हीरालालजीके द्वारा उद्धृत १८ सदृश वाक्योंमेंसे मुश्किलसे दो तीन वाक्य आपसमें मेल खाते हैं। परम्परागत शैलीके आधारपर रचे गये साहित्यमें कुछ शब्दों तथा भावोंकी समानता कोई मूल्य नहीं रखती। भावसंग्रहमें कुछ अपभ्रंश पद्य पाये जाते हैं, और सम्पादकने लिखा है कि भावसंग्रहकी प्रतियोंमें देवसेनके बादके ग्रंथकारोंके भी पद्य पाये जाते हैं, अतः यह असंभव नहीं है कि किसी लेखककी कृपासे सावयधम्मदोहाके पद्य उसमें जा मिले हों।

तीसरे आधारसे भी कोई बात सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि दोहाछन्द कब प्रचलित हुआ यह अभी तक निर्णीत नहीं हो सका है। कालिदासके विक्रमोर्वशीयमें हम एक दोहा देखते हैं; रुद्रटके काव्यालङ्कारमें दो दोहे पाये जाते हैं, और आनन्दवर्धन (लगभग ८५० ई०) ने भी अपने ध्वन्यालोकमें एक दोहा उद्धृत किया है। रुद्रटका समय नवीं शताब्दीका प्रारम्भ समझा जाता है। यदि यह मान भी लिया जावे कि देवसेनकी दोहा रचनेकी बहुत चाह थी, तो भी उनका सावयधम्मदोहाका कर्ता होना इससे प्रमाणित नहीं होता।

लक्ष्मीचन्द्र—'प' 'भ' और 'भ ३' प्रतियाँ इसे लक्ष्मीचन्द्रकृत बतलाती हैं। श्रुतसागरने इस ग्रंथसे नौ पद्य उद्धृत किये हैं, उनमेंसे एक वह लक्ष्मीचन्द्रका बतलाते हैं, और शेष लक्ष्मीधरके; अतः श्रुतसागरके उल्लेखके अनुसार लक्ष्मीचन्द्र उपनाम लक्ष्मीधर सावयधम्मदोहाके कर्ता हैं। किन्तु निम्नलिखित कारणोंसे प्रो० हीरालालजीने लक्ष्मीचन्द्रको इसका कर्ता नहीं माना। १ 'भ' प्रतिके अन्तिम पद्यमें लिखा है कि यह ग्रन्थ योगीन्द्रने बनाया है, इसकी पञ्जिका लक्ष्मीचन्द्रने और वृत्ति प्रभाचन्द्रने। २ मल्लिभूषणके शिष्य लक्ष्मण ही लक्ष्मीधर हैं। ३ 'प' प्रतिका लेख 'लक्ष्मीचन्द्रविरचिते' लेखककी भूलका परिणाम है उसके स्थानपर 'लक्ष्मीचन्द्रलिखिते' या 'लक्ष्मीचन्द्रार्थलिखिते' होना चाहिए था। ४ लक्ष्मीचन्द्ररचित किसी दूसरे ग्रन्थसे हम परिचित नहीं हैं। इसका समाधान निम्न प्रकार है—१ 'भ' प्रतिका अन्तिम पद्य बादमें जोड़ा गया है, क्योंकि वह अन्तिम सन्धि 'इति श्रावकाचारदोहकं लक्ष्मीचन्द्रविरचितं समाप्तं' के बाद आता है। और उसका अभिप्राय भी सन्धिसे विरुद्ध है। २ 'प' प्रतिके अन्तमें लिखे लक्ष्मण और लक्ष्मीचन्द्र एक ही व्यक्तिके दो नाम नहीं हैं, क्योंकि पहले 'इति उपासकाचारे आचार्य श्रीलक्ष्मीचन्द्रविरचिते दोहकसूत्राणि समाप्तानि' लिखा है, और फिर लिखा है कि सम्वत् १५५५ में यह दोहा श्रावकाचार मल्लिभूषणके शिष्य पं० लक्ष्मणके लिये लिखा गया। इससे स्पष्ट है कि सन्धिमें ग्रन्थकारका नाम आया है और बादकी पंक्ति लेखकने लिखी है। ३ जब

लक्ष्मीचन्द्र और लक्ष्मणकी एकता ही सिद्ध नहीं हो सकी तो 'प' प्रतिके पाठमें सुधार करनेका कारण ही नहीं रहता । ४ अन्तिम आधार भी अन्य तीन आधारोंपर ही निर्भर है, अतः उसके बारेमें अलग समाधान करनेकी आवश्यकता नहीं है । इस तरह लक्ष्मीचन्द्रके विरुद्ध प्रो० हीरालालजीकी आपत्तियाँ उचित नहीं हैं और उनका दावा कि देवसेन इसके कर्ता हैं, प्रमाणित नहीं हो सका, अतः श्रुतसागरके उल्लेख तथा अन्य प्रमाणोंके आधारपर लक्ष्मीचन्द्रको ही सावयधम्मदोहाका कर्ता मानना चाहिये । यह लक्ष्मीचन्द्र श्रुतसागरके समकालीन लक्ष्मीचन्द्रसे जुड़े हैं । जहाँतक हम इनके बारेमें जानते हैं, श्रुतसागर और ब्रह्म नेमिदत्त (१५२८ ई०) दोनोंसे यह अधिक प्राचीन है ।

दोहापाहुड

परिचय—इस ग्रन्थकी उपलब्ध दो प्रतियोंमेंसे एकमें इसका नाम दोहापाहुड लिखा है, और दूसरीमें पाहुडदोहा । प्रो० हीरालालजीने इसकी प्रस्तावनामें इसके नामका अर्थ समझाया है, और उनके बतलाये अर्थके अनुसार भी ग्रन्थका नाम दोहापाहुड होना चाहिये । परमात्मप्रकाशकी तरह यह भी एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है, इसमें ग्रन्थकारने आत्मतत्त्वपर विचार किया है । इसकी उपलब्ध प्रति अपनी असली हालतमें नहीं हैं; उसके अन्तमें दो पद्य संस्कृतमें हैं, और दोहा नं० २११-जिसमें रामसिंहका नाम आता है, जो एक प्रतिके अन्तिम वाक्यके अनुसार ग्रन्थके रचयिता हैं—के बाद दो गाथाएँ महाराष्ट्रीमें हैं ।

जोइन्दु—'क' प्रतिकी अन्तिम सन्धिमें इसे योगेन्द्रकी रचना बतलाया है, और इसके बहुतसे दोहे परमात्मप्रकाश और योगसारसे मिलते जुलते भी हैं । किन्तु निम्नलिखित कारणोंसे इसको योगीन्द्रकी रचना मानना साधार प्रतीत नहीं होता—(१) परमात्मप्रकाश और योगसारकी तरह इसमें उन्होंने अपना नाम नहीं दिया, जबकि पद्य नं० २११ में रामसिंहका नाम आता है । (२) दोहापाहुडमें अकारान्त शब्दके षष्ठीके एकवचनमें 'हो' और 'हुँ' प्रत्यय आते हैं, किन्तु परमात्मप्रकाशमें केवल 'हूँ' ही पाया जाता है, तथा तुहारउं, तुहारी, दोहिं मि, देहहंमि, कहिं मि आदि रूप परमात्मप्रकाशमें नहीं पाये जाते । (३) 'द' प्रतिके अन्तिम वाक्यमें रामसिंहको इसका कर्ता बतलाया है, जिसका नाम पद्य नं० २११ में भी आता है । प्रारम्भमें मुझे सन्देह था कि परमात्मप्रकाशके 'शान्ति' की तरह क्या रामसिंह भी कोई प्राचीन ग्रन्थकार है ? किन्तु दोहापाहुडकी गहरी छानबीनके पश्चात् मैं इस परिणामपर पहुँचा हूँ कि इसके जोइन्दुकृत होनेमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं है । कुछ पद्योंकी समानता और अपभ्रंश भाषाको लक्षमें रखकर किसीने इसकी सन्धिमें योगीन्द्रका नाम जोड़ दिया है, जबकि ग्रन्थमें रामसिंहका नाम आता है ।

रामसिंह—दोहापाहुडके रामसिंह रचित होनेमें दो प्रमाण हैं, एक तो इसकी उपलब्ध दोनों प्रतियोंमें ग्रन्थके अन्दर उनका नाम आता है । दूसरे, एक प्रतिकी सन्धिमें भी उनका नाम आया है । उनके विरुद्ध केवल एक ही बात है कि अन्तिम पद्यमें उनका नाम नहीं आया । किन्तु मैं ऊपर लिख आया हूँ कि उपलब्ध प्रति अपनी असली हालतमें नहीं है, और २११ के बाद बहुतसे पद्य बादके मिलाये जान पड़ते हैं । अतः उपलब्ध सामग्रीके आधारपर रामसिंहको ही इसका कर्ता मानना चाहिये । रामसिंह योगीन्द्रके बहुत ऋणी हैं, क्योंकि उनके ग्रन्थका एक पञ्चमांश—जैसा कि प्रो० हीरालालजी कहते हैं—परमात्मप्रकाशसे लिया गया है । रामसिंह रहस्यवादके प्रेमी थे, और संभवतः इसीसे प्राचीन ग्रन्थकारोंके पद्योंका उपयोग उन्होंने अपने ग्रन्थमें किया है । उनके समयके बारेमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जोइन्दु और हेमचन्द्रके मध्यमें वे हुए हैं । श्रुतसागर, ब्रह्मदेव, जयसेन और हेमचन्द्रने उनके दोहापाहुडसे कुछ पद्य उद्धृत किये हैं । दोहापाहुड और सावयधम्मदोहामें दो पद्य बिल्कुल समान हैं । किन्तु एक तो देवसेन सावयधम्मदोहाके कर्ता प्रमाणित नहीं हो सके; दूसरे, प्रक्षेपकोंसे पूर्ण दोहापाहुडकी प्रतिके आधारपर उसकी आलोचना भी नहीं की जा सकती । अतः नई प्रतियाँ मिलनेपर इस समस्यापर विशेष प्रकाश डाला जा सकेगा ।

अमृताशीति और निजात्माष्टक

अमृताशीति—यह एक उपदेशप्रद रचना है; इसमें विभिन्न छन्दोंमें ८२ पद्य हैं और जैनधर्मके अनेक विषयोंकी उनमें चर्चा है। हम नहीं जानते कि इसमें सन्धिस्थल सम्पादकने जोड़ा है, या प्रतिमें ही था ? अन्तिम पद्यमें योगीन्द्र शब्द आया है, जो चन्द्रप्रभका विशेषण भी किया जा सकता है। परमात्मप्रकाशके कर्ताके साथ इसका सम्बन्ध जोड़नेके लिये कोई प्रमाण नहीं है। इस रचनामें विद्यानंदि, जटासिंहनंदि, और अकलंकदेवके भी कुछ पद्य हैं। कुछ पद्य भर्तृहरिके शतकत्रयसे मिलते हैं। पद्यप्रभमलधारिदेवने अपनी नियमसारकी टीकामें इससे तीन पद्य (नं० ५७, ५८ और ५९) उद्धृत किये हैं। उसी टीकामें निम्नलिखित एक अन्य पद्य भी उद्धृत है—

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः । तथाहि

मुक्त्यङ्गनालिमपुनर्भवसौख्यमूलं
दुर्भावनातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम् ।
संभावयामि समतामहमुच्चकैस्तां
या सम्मता भवति संयमिनामजस्रम् ॥

किन्तु यह पद्य अमृताशीतिमें नहीं है। प्रेमीजीका अनुमान है कि सम्भवतः यह पद्य योगीन्द्ररचित कहे जानेवाले अध्यात्मसंदोहका है।

निजात्माष्टक—इसकी भाषा प्राकृत है; इसमें स्रग्धरा छन्दमें आठ पद्य हैं, और उनमें सिद्धपरमेष्ठीका स्वरूप बतलाया है। किसी भी पद्यमें रचयिताका नाम नहीं दिया, किन्तु संस्कृतमें रचित अंतिम वाक्यमें योगीन्द्रका नाम आया है। परन्तु परमात्मप्रकाशके कर्ताके साथ इसका सम्बन्ध जोड़नेके लिये यह काफी प्रमाण नहीं है।

निष्कर्ष—इस लम्बी चर्चाके बाद हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि जिस परम्पराके आधारपर योगीन्द्रको उक्त ग्रन्थोंका रचयिता कहा जाता है, वह प्रामाणिक नहीं है। अतः वर्तमानमें परमात्मप्रकाश और योगसार ये दो ही ग्रन्थ जोड़ुरचित सिद्ध होते हैं।

जोइन्दुका समय

समयका विचार—जोइन्दुके उक्त दोनों ग्रंथोंसे उनके समयके बारेमें कुछ भी मालूम नहीं होता। अतः अब हमारे सामने एक ही मार्ग शेष रह जाता है, और वह है जोइन्दुके ग्रंथसे उद्धरण देनेवाले ग्रंथोंका निरीक्षण। निम्नलिखित प्रमाणोंके आधार पर हम जोइन्दुके समयकी अंतिम अवधि निर्धारित करनेका प्रयत्न करते हैं—

(१) श्रुतसागर, जो ईसाकी सोलहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें हुए हैं, षट्प्राभृतकी टीकामें परमात्मप्रकाशसे ६ पद्य उद्धृत करते हैं।

(२) परमात्मप्रकाशपर, मलधारि बालचंद्रने कनडीमें और ब्रह्मदेवने संस्कृतमें टीका बनाई है, और उन दोनोंका समय क्रमशः ईसाकी चौदहवीं और तेरहवीं शताब्दीके लगभग है।

(३) जयसेन, जिन्होंने कुंदकुंदके पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसारपर संस्कृतमें टीकाएँ रची हैं, जोइन्दु और उनके दोनों ग्रंथोंसे अच्छी तरह परिचित हैं। समयसारकी टीकामें वे परमात्मप्रकाशका उल्लेख करते हैं, और उससे एक पद्य भी उद्धृत करते हैं। पञ्चास्तिकायकी टीकामें भी वे एक पद्य उद्धृत करते हैं, जो योगसारका ५६ वाँ पद्य है। जयसेनका समय ईसाकी बारहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धके लगभग है।

(४) ऊपर यह बतलाया है कि हेमचंद्र परमात्मप्रकाशसे परिचित हैं, उन्होंने परमात्मप्रकाशसे कुछ

सामग्री ली है; और अपने अपभ्रंश-व्याकरणके सूत्रोंके उदाहरणमें, थोड़े बहुत परिवर्तनके साथ परमात्म-प्रकाशसे कुछ दोहे भी उद्धृत किये हैं। हेमचंद्र १०८९ ई० में पैदा हुए और ११७३ ई० में स्वर्गवासी हुए। किसी भाषाके इतिहासमें यह कोई अनहोनी घटना नहीं है कि साहित्यिक रूपमें अवतरित होनेके बाद ही-चाहे वह साहित्यिकरूप परम्परागत स्मृति रूपमें रहा हो या पुस्तकरूपमें-उस भाषाके विशाल व्याकरणोंकी रचना होती है। अतः इस कल्पनाके लिये पर्याप्त साधन नहीं हैं कि हेमचंद्रके द्वारा निबद्ध अपभ्रंश ही उस समयकी प्रचलित भाषा थी। यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि अपने व्याकरणके द्वारा उन्होंने अपभ्रंशके साहित्यिक रूपको निबद्ध किया है, और यह रूप उनके समयमें प्रचलित भाषाके पूर्वका या उससे भी अधिक प्राचीन रहा होगा। क्योंकि व्याकरणका आधार केवल बोलचालकी भाषा नहीं होती। अतः हेमचंद्रसे कमसे कम दो शताब्दी पूर्व जोड़ुका समय मानना होगा।

(५) प्रो० हीरालालजीने बतलाया है कि हेमचंद्रने रामसिंहके दोहापाहुडसे कुछ पद्य उद्धृत किये हैं और रामसिंहने जोड़ुके योगसार और परमात्मप्रकाशसे बहुतसे दोहे लेकर अपनी रचनाको समृद्ध किया है। अतः जोड़ु हेमचंद्रके केवल पूर्ववर्ती ही नहीं है किंतु उन दोनोंके मध्यमें रामसिंह हुए हैं।

(६) ऊपर मैं बतला आया हूँ कि देवसेनके तत्त्वसारके कुछ पद्य परमात्मप्रकाशके दोहोंसे बहुत मिलते हैं। यह भी संभव हो सकता है कि दोनोंके रचयिताओंने किसी एक स्थानसे उन्हें लिया हो। किंतु पद्योंकी परिस्थिति और ऊपर बतलाये गये कारणोंको दृष्टिमें रखते हुए मेरा मत है कि देवसेनने योगीन्दुका अनुसरण किया है। अपनी रचनाओंमें देवसेनने अपने पूर्ववर्ती ग्रंथोंका प्रायः उपयोग किया है। उन्होंने वि० सं० ९९० (९३३ ई०) में अपना दर्शनसार समाप्त किया था।

(७) नीचेके दो पद्य तुलनाके योग्य हैं—

१ योगसार, ६५—

विरला जाणहिं तत्तु बहु विरला णिसुणहिं तत्तु ।
विरला ज्ञायहिं तत्तु जिय विरला धारहिं तत्तु ॥

२ कत्तिगेयाणुपेक्खा, २७९—

विरला णिसुणहि तच्च विरला जाणंति तच्चदो तच्च ।
विरला भावहि तच्च विरलाणं धारणा होदि ॥

(८) कुमारकी कत्तिगेयाणुपेक्खा अपभ्रंश भाषामें नहीं लिखी गई है, अतः वर्तमानकाल तृतीयपुरुषके बहुवचनके रूप 'णिसुणहि' और 'भावहि' उसमें जबरन घुस गये हैं, किन्तु योगसारमें वे ही रूप ठीक हैं। दोनों पद्योंका आशय एक ही है, केवल दोहेको गाथामें परिवर्तित कर दिया है, किन्तु यह किसी लेखककी सूझ नहीं है, बल्कि, कुमारने ही जान या अनजानमें, जोड़ुके दोहेका अनुसरण किया है। कुछ दन्तकथाओंने कुमारके व्यक्तित्वको अन्धकारमें डाल दिया है, और उनका समय अभी तक भी निश्चित नहीं हो सका है। मौखिक परम्पराओंके आधारपर यह कहा जाता है कि विक्रमसंवत्से कोई दो या तीन शताब्दी पहले कुमार हुए हैं, और ऐसा मालूम होता है कि आधुनिक कुछ विद्वानोंपर इस परम्पराका प्रभाव भी है। कुमारकी कत्तिगेयाणुपेक्खाकी केवल एक ही संस्कृतटीका उपलब्ध है, जो १५५६ ई० में शुभचन्द्रने बनाई थी। किन्हीं प्राचीन टीकाओंमें कुमारका उल्लेख भी नहीं मिलता। कुमारने बारह अनुप्रेक्षाओंकी गणनाका क्रम तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार रक्खा है, जो वट्टकेर, शिवार्य और कुन्दकुन्दके क्रमसे थोड़ा भिन्न है। ये सब बातें कुमारकी परम्परागत प्राचीनताके विरुद्ध जाती हैं। यद्यपि कत्तिगेयाणुपेक्खाका कोई शुद्ध संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ है, किन्तु गाथाओंके देखनेसे पता चलता है कि उनकी भाषा प्रवचनसारके जितनी प्राचीन नहीं है। २५ वीं गाथाके 'क्षेत्रपाल' शब्दसे अनुमान होता है कि कुमार दक्षिणप्रान्तके निवासी थे, जहाँ

क्षेत्रपालकी पूजाका बहुत प्रचार रहा है। दक्षिणमें कुमारसेन नामके कई साधु हुए हैं। मुलगुन्द मंदिरके शिलालेखमें, जो ९०३ ई० से पहलेका है, एक कुमारसेनका उल्लेख है; तथा ११४५ ई० के बोगदीके शिलालेखमें एक कुमारस्वामीका नाम आता है। किन्तु एकताके लिये केवल नामकी समता ही पर्याप्त नहीं है। अतः इन बातोंको दृष्टिमें रखते हुए मैं कुमारका कोई निश्चित समय ठहराना नहीं चाहता, किन्तु केवल इतना ही कहना है कि परम्पराके आधारपर कल्पित कुमारकी प्राचीनता प्रमाणित नहीं होती तथा उसके विरुद्ध अनेक जोरदार युक्तियाँ मौजूद हैं। मेरा मत है कि जोइन्दु और कुमारमेंसे जोइन्दु प्राचीन हैं।

(९) प्राकृतलक्षणके कर्ता चण्डने अपने सूत्र 'यथा तथा अनयोः स्थाने' के उदाहरणमें निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया है—

कालु लहेविणु जोइया जिम जिम मोहु गलेइ ।
तिम तिम दंसणु लहइ जो णियमें अप्पु मुणेइ ॥

यह परमात्मप्रकाशके प्रथम अधिकारका ८५ वाँ दोहा है। दोनोंमें केवल इतना ही अन्तर है कि परमात्मप्रकाशमें 'जिम' के स्थानपर 'जिमु', 'तिम' के स्थानपर 'तिमु' तथा 'जो' के स्थानपर 'जिउ' पाठ है, किन्तु चण्डका प्राकृत-व्याकरण अपनी असली हालतमें नहीं है। यह एक सुव्यवस्थित पुस्तक न होकर एक अर्धव्यवस्थित नोटबुकके जैसा है^१। १८८० ई० में जब प्राकृतका अध्ययन अपनी बाल्यावस्थामें था, और अपभ्रंश-साहित्यसे लोग अपरिचित थे, हॅर्नल्ले (Hoernle) ने इसका सम्पादन किया था। उनके पास साधनोंकी कमी थी, और केवल पालीभाषा तथा अशोकके शिलालेखोंपर दृष्टि रखकर उसका व्यवस्थित संस्करण सम्पादित कर सकना कठिन था। हॅर्नल्लेने उसके सम्पादनमें बड़ी कडाईसे काम लिया है, और ऐसी कडाईके लिये उन्होंने कैफियत भी दी है। किन्तु पिशेल तथा गुणे इसकी शिकायत करते हैं। इसी कडाईने उनसे उक्त सूत्र तथा उसके उदाहरणकी मूलसे पृथक् कराके परिशिष्टमें डलवा दिया है।^२ हॅर्नल्लेका कहना है कि लेखकोंकी कृपासे यह सूत्र मूलमें आ मिला है। वे कहते हैं कि व्याकरणके जिस प्रसंगमें उक्त सूत्र अपने उदाहरणके साथ आता है, वह व्यवस्थित नहीं है। उनके इस मतसे हम भी सहमत हैं। किन्तु इस बातका स्मरण रखते हुए कि सूत्रोंके क्रममें परिवर्तन किया गया है, हम उसकी मौलिकताको अस्वीकार नहीं कर सकते। चण्ड एक अपभ्रंश भाषासे परिचित हैं, जिसमें र, जब वह किसी शब्दमें द्वितीय व्यञ्जनके रूपमें आता है, सुरक्षित रहता है। अपभ्रंश भाषामें यह बात पाई जाती है; हेमचन्द्रके कुछ उदाहरणोंमें तथा रुद्रटके श्लेष-पद्योंमें भी इस बातको चित्रित किया गया है। हमें आशा है कि केवल एक सूत्रके द्वारा चण्डने अपभ्रंशका पृथक्करण न किया होगा। अतः अन्य सूत्रोंको भी चण्डकृत स्वीकार करनेपर अपभ्रंशके सम्बन्धमें अधिक जानकारी हो जाती है। यह स्वाभाविक है कि अपने सूत्रोंके उदाहरणमें वैयाकरण काव्य-ग्रन्थोंसे पद्य उद्धृत करते हैं। हेमचन्द्रके व्याकरणमें उक्त पद्यका न पाया जाना निरर्थक नहीं है। यह इस बातका निराकरण करता है कि हेमचन्द्रके व्याकरणसे लेकर लेखकोंने उसे यहाँ मिला दिया होगा। गुणेका कहना है कि यह सूत्र मूलग्रन्थका ही है और हम इससे सहमत हैं।

चण्डके समयके बारेमें अनेक मत हैं। हॅर्नल्लेका कहना है कि ईसासे तीन शताब्दी पूर्वके कुछ बाद और ईस्वी सन्के प्रारम्भसे पहले चण्डका व्याकरण रचा गया है। हॅर्नल्लेके अनुसार उक्त सूत्र तथा उसके उदाहरण वररुचिसे भी बादमें ग्रन्थमें सम्मिलित किये गये हैं किन्तु कितने बादमें सम्मिलित किये गये हैं, यह वह नहीं बताते हैं। वररुचिका समय ५०० ई० के लगभग बतलाया जाता है। गुणेका कहना है कि चण्ड उस समय हुए हैं, जब अपभ्रंश केवल आभीरोंके बोलचालकी भाषा न थी बल्कि साहित्यिक भाषा हो चुकी थी, अर्थात्

१ दलाल और गुणे लिखित 'भविष्यत्तकहा' की प्रस्तावना, पृ० ६२।

२ हॅर्नल्ले की प्रस्तावना, पृ० १, २०, आदि।

ईसाकी छठी शताब्दीके बादमें । इस प्रकार चण्डके व्याकरणके व्यवस्थित (revised) रूपका समय ईसाकी सातवीं शताब्दीके लगभग रखा जा सकता है, अतः परमात्मप्रकाशको प्राकृतलक्षणसे पुराना मानना चाहिये ।

जोइन्दुके समयकी आरम्भिक अवधि—ऊपर यह बताया गया है कि जोइन्दु, कुन्दकुन्दके मोखपाहुड और पूज्यपादके समाधिशतकके बहुत ऋणी हैं । वास्तवमें परमात्मप्रकाशमें समाधिशतकके कुछ तात्त्विक विचारोंकी बड़े परिश्रमसे निबद्ध किया है । कुन्दकुन्दका समय ईस्वी सन्के प्रारम्भके लगभग है, और पूज्यपादका पाँचवीं शताब्दीके अन्तिम पादसे कुछ पूर्व । इस चर्चाके आधारपर मैं परमात्मप्रकाशको समाधि-शतक और प्राकृतलक्षणके मध्यकालकी रचना मानता हूँ । इसलिये जोइन्दु ईसाकी छठी शताब्दीमें हुये हैं^१ ।

३ परमात्मप्रकाशकी टीकाएँ

‘क’ प्रतिकी कन्नडटीका

बालचन्द्रकी टीका और ‘क’ प्रतिकी कन्नडटीका—यह लिखा जा चुका है कि अध्यात्मी बालचन्द्रने जिन्होंने कुन्दकुन्दत्रयीपर कन्नडटीका बनाई है, परमात्मप्रकाशपर भी एक कन्नडटीका रची है । परमात्म-प्रकाशकी ‘क’ प्रतिमें एक कन्नडटीका पाई जाती है । किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह टीका बालचन्द्रकी ही है क्योंकि ‘क’ प्रतिसे इस सम्बन्धमें कोई सूचना नहीं मिलती और म० आर० नरसिंहाचार्यने बालचन्द्रकी टीकाका कुछ अंश नहीं दिया, जिससे ‘क’ प्रतिकी टीका मिलाई जा सके ।

कन्नडटीकाका परिचय—‘क’ प्रतिकी कन्नडटीकामें परमात्मप्रकाशके दोहोंकी व्याख्या बहुत अच्छे रूपमें की गई है । जहाँ तक मैंने इसे उलट-पलट कर देखा, अपभ्रंश शब्दोंका तुल्यार्थक संस्कृत शब्द कहीं भी मेरे देखनेमें नहीं आया, केवल कन्नडमें उनके अर्थ दिये हैं । अनुवादके कुछ अंश टीकाकारके भाषापाण्डित्यका परिचय देते हैं । मुझे कुछ ऐसे शब्द भी मिले, जिनके ठीक ठीक अर्थ टीकाकारने नहीं किये हैं । टीका सरल और सादी है, और दोहोंका अर्थ करनेमें काफी सावधानीसे काम लिया है । ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीकाके समान न तो इनमें विशेष दार्शनिक विवेचन ही है, और न उद्धरण ही ।

इसकी स्वतन्त्रता—ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीकाके साथ मैंने इसके कई स्थलोंका मिलान किया है, और मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि टीकाकार ब्रह्मदेवकी टीकासे अपरिचित है । यदि उनके सामने ब्रह्मदेवकी टीका होती तो उनके समान वे भी अपभ्रंश शब्दोंके संस्कृत रूप देते और विशेष विवेचन तथा उद्धरणोंसे अपनी टीकाकी शोभा बढ़ाते । इसके सिवा दोनोंमें कुछ मौलिक असमानताएँ भी हैं । ब्रह्मदेवकी अपेक्षा ‘क’ प्रतिमें ११२ पद्य कम हैं । तथा अनेक ऐसे मौलिक पाठान्तर और अनुवाद हैं, जो ब्रह्मदेवकी टीकामें नहीं पाये जाते ।

‘क’ प्रति की टीकाका समय—इस टीकाके गम्भीर अनुसन्धानके बाद मैंने निष्कर्ष निकाला है कि न केवल ब्रह्मदेवकी टीकासे, बल्कि परमात्मप्रकाशकी करीब करीब सभी टीकाओंसे यह टीका प्राचीन मालूम होती है ।

१. अपभ्रंश-पाठावलीमें श्री एम० सी० मोदीने परमात्मप्रकाशसे भी कुछ पद्य संकलित किये हैं । उनपर टिप्पण करते हुए उन्होंने मेरे ‘जोइन्दु’ विषयक लेखका उल्लेख किया है, और लिखा है कि यद्यपि जोइन्दुको हेमचन्द्रका पूर्वज कहा जा सकता है किन्तु उन्हें वि० सं० की दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दीसे भी पहलेका बतलाना ठीक नहीं है । श्री मोदीके निष्कर्ष निकालनेके ढंगको देखकर मुझे मेशमूलरके एक वाक्यका स्मरण आता है—“ऐतिहासिक व्यक्तियोंका समय जाननेकी विद्या केवल रुचिकी बात नहीं है, जो केवल स्मरणके प्रभावसे ही निश्चित की जा सके ।” अपभ्रंश स्वरोका विचार करनेपर ‘अणु’ और ‘अणु’ समय निर्णय करनेमें सहायक नहीं हो सकते । यद्यपि ब्रह्मदेवने ‘जयल’ का अर्थ ‘समीपे’ किया है किन्तु यह अर्थ बिल्कुल अप्रासङ्गिक है । यह संस्कृतके ‘यमल’ शब्दसे बना है, जिसका अर्थ ‘जोड़ा’ होता है । ‘जवल’ शब्द श्वेताम्बर आगमोंमें भी आता है । अपभ्रंशमें ‘म’ का ‘व’ हो जाता है ।

ब्रह्मदेव और उनकी वृत्ति

ब्रह्मदेव और उनकी रचनाएँ—अपनी टीकाओंमें ब्रह्मदेवने अपने सम्बन्धमें कुछ नहीं लिखा है। द्रव्यसंग्रहकी टीकामें केवल उनका नाम आता है। बृहद्द्रव्यसंग्रहकी भूमिकामें पं० जवाहरलालजीने लिखा है कि ब्रह्म उनकी उपाधि थी, जो बतलाती है कि वे ब्रह्मचारी थे, और देवजी उनका नाम था। यद्यपि आराधना-कथाकोशके कर्ता नेमिदत्तने और प्राकृत श्रुतस्कंधके रचयिता हेमचन्द्रने उपाधिके रूपमें ब्रह्म शब्दका उपयोग किया है किन्तु ब्रह्मदेव नाममें 'ब्रह्म' शब्द उपाधिसूचक नहीं मालूम देता; कारण, जैनपरम्परामें ब्रह्ममुनि, ब्रह्मसेन, ब्रह्मसूरि आदि नामोंके अनेक ग्रन्थकार हुये हैं तथा देव कोई प्रचलित नाम भी नहीं है किन्तु प्रायः नामके अन्तमें आता है अतः ब्रह्मदेव एक ही नाम है। परम्पराके अनुसार निम्नलिखित रचनाएँ ब्रह्मदेवकी मानी जाती हैं—

१—परमात्मप्रकाशटीका २—बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका ३—तत्त्वदीपक ४—ज्ञानदीपक ५—त्रिवर्णाचारदीपक ६—प्रतिष्ठातिलक ७—विवाहपटल और ८—कथाकोश। जब तक ग्रन्थ न मिलें, तब तक नम्बर ३, ४ और ७ के विषयमें कुछ नहीं कहा जा सकता। संभवतः नामके आदिमें ब्रह्म शब्द होनेके कारण ब्रह्मनेमिदत्तका कथाकोश और ब्रह्मसूरिके त्रिवर्णाचार (—दीपक) और प्रतिष्ठातिलकको गलतीसे ब्रह्मदेवके नामके साथ जोड़ दिया है। अतः ब्रह्मदेवकी केवल दो ही प्रामाणिक रचनाएँ रह जाती हैं; एक परमात्मप्रकाशवृत्ति और दूसरी द्रव्यसंग्रहवृत्ति।

परमात्मप्रकाशवृत्ति—परमात्मप्रकाशकी वृत्तिमें ब्रह्मदेवजीने अपना नाम नहीं दिया। बालचन्द्र ब्रह्मदेवकी एक संस्कृतटीकाका उल्लेख करते हैं, दूसरे, दौलतरामजी संस्कृतवृत्तिको ब्रह्मदेवरचित कहते हैं, तीसरे, परमात्मप्रकाशकी वृत्ति द्रव्यसंग्रहकी वृत्तिसे, जिसमें ब्रह्मदेवने अपना नाम दिया है, बहुत मिलती जुलती है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं है कि दोनों वृत्तियाँ एक ही ब्रह्मदेवकी हैं। ब्रह्मदेवकी व्याख्या शुद्ध साहित्यिक व्याख्या है, वे अर्थपर अधिक जोर देते हैं, इसलिये व्याकरणकी गुत्थियाँ एक दो स्थानपर ही सुलझाई गई हैं। सबसे पहले वे शब्दार्थ देते हैं, फिर नयोंका—खासकर निश्चयनयका अवलम्बन लेते हुए विशेष वर्णन करते हैं। किन्तु उनके ये वर्णन द्रव्यसंग्रहकी टीकाके वर्णनोंके समान कठिन नहीं हैं। यदि यह टीका न होती तो परमात्मप्रकाश इतना प्रसिद्ध न होता; उसकी ख्यातिका कारण यह टीका ही है।

जयसेन और ब्रह्मदेव—पदच्छेद, उत्थानिका, प्रकरणसंगत चर्चा तथा ब्रह्मदेवकी टीकाकी कुछ अन्य बातें हमें जयसेनकी टीकाकी याद दिलाती हैं। ब्रह्मदेवने जयसेनका पूरा पूरा अनुकरण किया है। परमात्मप्रकाशकी टीकाकी कुछ चर्चाएँ जयसेनके पञ्चास्तिकायकी टीकाकी चर्चाओंके समान हैं। उदाहरणके लिये परमात्मप्रकाश २-२१ और पञ्चास्तिकाय २३; प. प्र. २-३३ और पंचा० १५२; तथा प्र. प. २-३६ और पंचा० १४६ की टीकाओंको परस्परमें मिलाना चाहिए।

ब्रह्मदेवका समय—ब्रह्मदेवने अपने ग्रन्थोंमें उनका रचना-काल नहीं दिया है। पं० दौलतरामजी (ई० १८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध) कहते हैं कि ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीकाके आधारपर उन्होंने अपनी हिन्दीटीका बनाई है। पं० जवाहरलालजी लिखते हैं कि शुभचन्द्रने कस्तिगेयाणुपेक्खाकी टीकामें ब्रह्मदेवकृत द्रव्यसंग्रहवृत्तिसे बहुत कुछ लिया है। मलधारि बालचन्द्र ब्रह्मदेवकी टीकाका स्पष्ट उल्लेख करते हैं, किन्तु बालचन्द्रका समय स्वतन्त्र आधारोंपर निश्चित नहीं किया जा सकता। जैसलमेरके भण्डारमें ब्रह्मदेवकी द्रव्यसंग्रहवृत्तिकी एक प्रति मौजूद है जो संवत् १४८५ (१४२८ ई०) में माण्डवमें लिखी गई थी, उस समय वहाँ राय श्रीचान्दराय राज्य करते थे। इस प्रकार इन बाहिरी प्रमाणोंके आधारपर ब्रह्मदेवके समयकी अन्तिम अवधि १४२८ ई० से पहले

ठहरती है। अब हम देखेंगे कि उनकी रचनाओंसे उनके समयके सम्बन्धमें हम क्या जान सकते हैं? परमात्मप्रकाशकी टीकामें ब्रह्मदेवने शिवार्यकी आराधनासे, कुन्दकुन्द (ई० की प्रथम श०) के भावपाहुड, मोखपाहुड, पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसारसे, उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रसे, समन्तभद्र (दूसरी शताब्दी) के रत्नकरण्डसे, पूज्यपाद (५वीं शताब्दी के लगभग) के संस्कृत सिद्धभक्ति और इष्टोपदेशसे, कुमारकी कर्त्तिगेयाणुपेक्खासे, अमोघवर्ष (ई० ८१५ से ८७७ के लगभग) की प्रश्नोत्तररत्नमालिकासे, गुणभद्रके (जिन्होंने २३ जून ८९७ में महापुराण समाप्त किया) आत्मानुशासनसे, संभवतः नेमिचन्द्र (१० वीं श०) के गोम्मतसार जीवकाण्ड और द्रव्यसंग्रहसे, अमृतचन्द्र (लगभग १० वीं श० की समाप्ति) के पुरुषार्थसिद्धयुपायसे, अमितगति (लगभग १० वीं श० का प्रारंभ) के योगसारसे, सोमदेव (९५९ ई०) के यशस्तिलकचम्पूसे, रामसिंह (हेमचन्द्रके पूर्व) के दोहापाहुडसे, रामसेन (आशाधर-१३ वीं श० के पूर्वार्द्धसे पहिले) के तत्त्वानुशासनसे और पद्मनन्दि (पद्मप्रभ-१२ वीं श० के अन्तके पहिले) की पञ्चविंशतिकासे पद्य उद्धृत किये हैं। उद्धरणोंकी इस छानबीनसे हम निश्चित तौरपर कह सकते हैं कि ब्रह्मदेव सोमदेवसे (१० वीं श० का मध्य) बादमें हुए हैं। द्रव्यसंग्रहवृत्तिकी आरम्भिक उत्थानिकामें ब्रह्मदेव लिखते हैं कि पहले नेमिचन्द्रने लघुद्रव्यसंग्रहकी रचना की थी, जिसमें केवल २६ गाथाएँ थीं। बादमें मालवदेशकी धारानगरीके राजा भोजके आधीन मण्डलेश्वर श्रीपालके कोषाध्यक्ष, आश्रमपुर निवासी सोमके लिये इसे बढ़ाया गया। यतः सामायिक प्रमाणोंसे इस बातकी पुष्टि नहीं होती, अतः हम न तो नेमिचन्द्रको धाराके राजा भोजका समकालीन ही मान सकते हैं, और न लघुद्रव्यसंग्रहका बृहद्द्रव्यसंग्रहके रूपमें परिवर्तन ही स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु एक बात सत्य है कि ब्रह्मदेव धाराके राजा भोजसे, जिसे वे कलिकाल चक्रवर्ती बतलाते हैं, बहुत बादमें हुए हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ब्रह्मदेवके भोज मालवाके परमार और संस्कृत-विद्याके आश्रयदाता प्रसिद्ध भोज ही हैं। भोजदेवका समय ई० १०१८-१०६० है। ब्रह्मदेवका यह उल्लेख बतलाता है कि वे ११वीं शताब्दीसे भी बहुत बादमें हुए हैं।

ऊपर यह बतलाया गया है कि जयसेनकी टीकाओंका ब्रह्मदेवपर बहुत प्रभाव है। जयसेन ईसाकी बारहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धके लगभग हुए हैं। अतः ब्रह्मदेव बारहवीं शताब्दीसे बादके हैं। इन आभ्यन्तर और बाहिरी प्रमाणोंके आधारपर ब्रह्मदेव, सोमदेव (९५९ ई०), धाराके राजा भोज (ई० १०१८-६०), और जयसेन (१२वीं शताब्दीके लगभग) से बादमें हुए हैं, अतः ब्रह्मदेवको १३वीं शताब्दीका विद्वान कहा जा सकता है।

मलधारि बालचन्द्रकी कन्नडटीका

मलधारि बालचन्द्र और उनकी कन्नडटीका—परमात्मप्रकाशकी 'प' प्रतिमें एक कन्नडटीका पाई जाती है, उसके प्रारम्भिक उपोद्घातसे यह स्पष्ट है कि इस टीकाका मुख्य आधार ब्रह्मदेवकी वृत्ति है। तथा इस बातके पक्षमें भी काफी प्रमाण है कि उसके कर्ताका नाम बालचन्द्र है। संभवतः अपने समकालीन अन्य बालचन्द्रोंसे अपनेको जुदा करनेके लिए उन्होंने अपने नामके साथ, 'कुक्कुटासन मलधारि' उपाधि लगाई है।

ब्रह्मदेवकी टीकासे तुलना—बालचन्द्र लिखते हैं कि ब्रह्मदेवकी टीकामें जो विषय स्पष्ट नहीं हो सके हैं, उन्हें प्रकाशमें लानेके लिये उन्होंने यह टीका रची है। यह स्पष्ट उक्ति बतलाती है कि उन्होंने ब्रह्मदेवका अनुसरण किया है। किन्तु ब्रह्मदेवके मूलकी अपेक्षा बालचन्द्रके मूलमें ६ दोहे अधिक हैं। कुछ भेदोंको छोड़कर, जो अन्य कन्नड प्रतियोंमें भी पाये जाते हैं, दोहोंकी अपभ्रंशभाषाके सम्बन्धमें दोनों एकमत हैं। किन्तु बालचन्द्रने ब्रह्मदेवके अतिरिक्त वर्णनोंको संक्षिप्त कर दिया है। दोहोंके प्रत्येक शब्दकी व्याख्या करना ही बालचन्द्रका मुख्य लक्ष्य मालूम होता है, उन्होंने ब्रह्मदेवकी तरह भावार्थ बहुत ही कम दिये हैं। ब्रह्मदेवके

उद्धरणोंको भी उन्होंने छोड़ दिया है, किन्तु कुछ स्थलोंपर कन्नड-पद्य उद्धृत किये हैं। ग्रन्थके अन्तमें ब्रह्मदेवके अतिरिक्त वर्णनोंकी उपेक्षा करके उन्होंने केवल शब्दशः अनुवादकी ओर ही विशेष ध्यान दिया है। 'पंडवरामहि' आदि पद्यके बाद बालचन्द्र एक और पद्य देते हैं, जो इस प्रकार है—

जं अल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं ।
तं भव्वजीवसज्जं णंदउ जिणसासणं सुइरं ॥

बालचन्द्र नामके अन्य लेखक—कन्नड-साहित्यमें बालचन्द्र नामके अनेक टीकाकार तथा ग्रन्थकार हुए हैं, और उनके बारेमें जो कुछ सूचनायें प्राप्त होती हैं, उनके आधारपर एकको दूसरसे पृथक् करना कठिन है। म० आर० नरसिंहाचार्य बालचन्द्र नामके चार व्यक्तियोंको बतलाते हैं। अभिनवपम्पके गुरु बालचन्द्र मुनिके बारेमें लिखते हुए श्री एम्० गोविंद पै लगभग नौ बालचन्द्रोंका उल्लेख करते हैं। किन्तु 'कुक्कुटासन मलधारि' पदवीके कारण यह बालचन्द्र अन्य बालचन्द्रोंसे जुड़े हो जाते हैं। अपने समाननामा अन्य व्यक्तियोंसे अपनेको जुदा करनेके लिये कुछ साधुजन अपने नामके साथ मलधारि विशेषण लगाते थे। श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंमें ऐसे मुनियोंका उल्लेख मिलता है, जैसे, मलधारि मल्लिषेण, मलधारि रामचन्द्र, मलधारि हेमचन्द्र। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायके मुनिजन इस पदवीका उपयोग करते थे। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी एक मलधारि हेमचन्द्र हुए हैं, जो प्रसिद्ध हेमचन्द्रसे जुड़े हैं।

मलधारि बालचन्द्रका समय—अपनेको 'कुक्कुटासन मलधारि' लिखनेके सिवा इन बालचन्द्रने अपने बारेमें कुछ भी नहीं लिखा। अतः इनका समय निश्चित करना विशेष कठिन है। श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंमें व्यक्तिगत नामोंके रूपमें 'मलधारिदेव' और 'कुक्कुटासन मलधारिदेव' शब्द आते हैं किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह हमारे बालचन्द्रकी पदवी है। संभवतः यह किसी प्रसिद्ध आचार्यका नाम था, और उनकी परम्पराके साधुगण इसे पदवीके तौरपर धारण करते थे। शक सं० १२०० (ई० १२७८) के अमरपुरम् समाधि-लेखमें, जिसमें एक जैनमन्दिरको कुछ दान देनेका उल्लेख है, बालेन्दु मलधारिदेवका नाम आता है। यद्यपि नामोंमें इन्दु और चन्द्रका परस्परमें परिवर्तन देखा जाता है फिर भी वह बालेन्दु हमारे बालचन्द्र नहीं हो सकते, क्योंकि उनके नामके साथ कुक्कुटासन उपाधि नहीं है, तथा उनका समय भी हमारे टीकाकारसे पहले जाता है। हमारे टीकाकारके बारेमें इतनी बात निश्चित है कि वे ब्रह्मदेवके बादमें हुए हैं क्योंकि उन्होंने ब्रह्मदेवकी टीकाका अनुसरण किया है, और जाँच-पड़ताल करनेके बाद हमने ब्रह्मदेवका समय ईसाकी तेरहवीं शताब्दी निर्णीत किया है। बालचन्द्र कर्नाटकी थे, सम्भवतः श्रवणबेलगोलाके निकट किसी स्थानपर वे रहते थे। किन्तु ब्रह्मदेव उत्तरप्रान्तके वासी थे, अतः दोनों टीकाकारोंके बीचमें कमसे कम आधी शताब्दीका अंतर अवश्य मानना होगा, क्योंकि उस समयकी यात्रा आदिकी परिस्थितियोंको देखते हुए, दक्षिण प्रांतवासी बालचन्द्रके हाथमें उत्तरप्रांतवासी ब्रह्मदेवकी टीकाके पहुँचनेमें इतना समय लग जाना सम्भव है। अतः बालचन्द्रको ईसाकी चौदहवीं शताब्दीके मध्यका विद्वान माना जा सकता है।

अध्यात्मी बालचन्द्रकी टीका—म० आर० नरसिंहाचार्यका कहना है, कि अध्यात्मी बालचन्द्रने भी परमात्मप्रकाशपर कन्नडीमें एक टीका बनाई थी, किन्तु इन तीनों कन्नडटीकाओंमेंसे कोई भी उनकी नहीं है। उन्होंने मुझे सूचित किया है कि कविचरितेके उल्लेखोंको छोड़कर उनके पास इस सम्बन्धमें कोई भी अन्य सामग्री नहीं है। यद्यपि यह कोई अनहोनी बात नहीं है कि अध्यात्मी बालचन्द्रने कुन्दकुन्दके प्राकृत ग्रन्थोंपर अपनी कन्नडटीकाओंकी तरह परमात्मप्रकाशपर भी टीका लिखी होगी किन्तु निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है, क्योंकि एक तो कविचरितेका उल्लेख बहुत कमजोर है, दूसरे यह भी सम्भव है कि गलतीसे बालचन्द्र मलधारिके स्थानमें बालचन्द्र अध्यात्मी लिखा गया हो।

और एक कन्नडटीका

परमात्मप्रकाशपर दूसरी कन्नडटीका—यहाँ परमात्मप्रकाशकी दूसरी कन्नडटीकाका परिचय दिया जाता है। इस टीकाके समय तथा कर्ताके बारेमें हम कोई बात नहीं जान सके। प्रतिके अंतमें लिखा है—“मुनिभद्रस्वामीके चरण शरण हैं।” इससे इतना पता चलता है कि इस कन्नडटीकाका रचयिता या इस प्रति अथवा इस प्रतिकी मूल प्रतिका लेखक मुनिभद्रस्वामीका शिष्य था।

इस टीकाका परिचय—‘क’ टीकाकी तरह इस टीकामें भी दोहोंका केवल शब्दार्थ दिया है; किन्तु इस टीकाकी अपेक्षा ‘क’ टीकामें मूलका अनुसरण वगैरह अधिक तत्परतासे किया गया है। बिना नामकी इन टीकाओंके देखनेसे पता चलता है कि धार्मिक जैनसाधुओं और गृहस्थोंमें परमात्मप्रकाश कितना अधिक प्रसिद्ध था। ऐसा मालूम होता है कि बहुतसे नये अभ्यासी अपने अध्यापकसे दोहोंका अर्थ समझ लेनेके बाद अपनी मातृभाषामें उनके शब्दार्थ लिख लेते थे।

अन्य टीकाओंके साथ इस टीकाकी तुलना—‘क’ प्रतिकी टीका, ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीका और मलधारि बालचंद्रकी कन्नडटीकाके साथ इसकी तुलना करनेपर मैं इस निर्णयपर पहुँचा हूँ कि यद्यपि इसके पाठ ‘क’ टीका आदिके पाठोंसे बहुत मिलते जुलते हैं तथापि यह टीका ब्रह्मदेवकी बहुत कुछ ऋणी है। यतः इस टीकामें केवल शब्दार्थ दिया है, अतः ब्रह्मदेवके अतिरिक्त वर्णन इसमें नहीं मिलते। ‘क’ टीका और इस टीकाकी समानताको देखते हुए यह संभव है कि इस टीकाके कर्ताने ‘क’ टीकासे भी सहायता ली हो। मैंने इस टीकामें ऐसी कोई मौलिक अशुद्धियाँ और पाठान्तर नहीं देखे, जिनके आधारपर इसे ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीकासे स्वतंत्र कहा जा सके।

इस टीकाका समय—ऊपरकी तुलनासे यह स्पष्ट है कि यह टीका ब्रह्मदेवसे और संभवतः मलधारि बालचंद्रसे भी बादकी है। यदि इसके कर्ता मुनिभद्रके शिष्य हैं, और यदि यह मुनिभद्र वही हैं जिनकी मृत्युका उल्लेख ई० सन् १३८८ के लगभगके उद्री शिलालेखमें पाया जाता है; तो इस टीकाकी रचना ईसाकी १४ वीं शताब्दीके अन्तिम भागमें हो सकती है। ऐसा मालूम होता है कि मुनिभद्रके अनेक प्रसिद्ध शिष्य थे, जिनकी मृत्युका उल्लेख कुछ शिलालेखोंमें पाया जाता है।

पं० दौलतरामजीकृत भाषाटीका

पं० दौलतरामजी और उनकी भाषाटीका—पं० दौलतरामजीकी भाषाटीका, जो इस संस्करणमें मुद्रित है, उनकी भाषाका आधुनिक हिन्दीमें परिवर्तित रूप है। दौलतरामजीकी भाषा, जो संभवतः उनके समयमें उनकी जन्मभूमिमें प्रचलित थी, आधुनिक हिन्दीसे भिन्न है। इस विचारसे कि जैनगृहस्थों और साधुओंकी यह विशेष उपयोगी होगी, पं० मनोहरलालजीने उसे आधुनिक हिन्दीका रूप दे दिया है। मामूली संशोधनके साथ यही रूपान्तर इस दूसरे संस्करणमें छपा है। यहाँ मैं दौलतरामजीके अनुवादका कुछ अंश उद्धृत करता हूँ, इससे पाठक उनकी भाषाका अनुमान कर सकेंगे—

“बहुरि तिनि सिद्धिनिके समूहिकूं मैं बन्दू हूँ। जे सिद्धिनिके समूहि निश्चयनयकरि अपने स्वरूप विषे तिष्ठे हैं, अरि विवहारिनयकरि सर्व लोका लोककूं निसंदेहपणें प्रत्तक्ष देखे हैं। परन्तु परिपदार्थनि विषे तन्मयी नाहीं, अपने स्वरूपविषे तन्मयी हैं। जो परपदार्थनि विषे तन्मयी होई तो पराए सुख दुखकरि आप सुखी दुखी होई, सो कदापि नाहीं। विवहारिनयकरि स्थूल सूक्ष्म सकलिकूं केवलज्ज्ञानि करि प्रत्तक्ष निसन्देह जानै हैं। काहू पदार्थसुँ रागि द्वेष नाहीं। रागिके हेतुकरि जो काहुँको जाने तो राग द्वेषमई होय, सो इह बड़ा दूषण है। तातैं यही निश्चय भया जो निश्चयकरि अपने स्वरूप विषे तिष्ठे हैं, पर विषे नाहीं। अरि अपनी ज्ञायक शक्ति करि सविकूं प्रत्तक्ष देखे हैं जानै हैं। जो निश्चयकरि अपने स्वरूप विषे निवास कहा सो अपना स्वरूप ही आराधिवे योग्य है यह भावार्थ है ॥५॥”

सोलापुरकी एक नई प्रतिसे मैंने यह अंश उद्धृत किया है, और बम्बईकी एक प्राचीन प्रतिके सहारे श्री प्रेमीजीने इसका संशोधन किया है। पं० प्रेमीजीका कहना है कि कुछ अन्य प्राचीन प्रतियोंके साथ इसका मिलान करनेपर अब भी भाषासम्बन्धी कुछ भेद निकल सकते हैं। क्योंकि इसे प्रचलित भाषामें लानेके लिये नकल करते समय शिक्षित लेखक यहाँ-वहाँ भाषासम्बन्धी सुधार कर सकता है। अपभ्रंशसाहित्यके विद्यार्थियोंको इससे एक अच्छी शिक्षा मिलती है और अपभ्रंश ग्रन्थोंकी विभिन्न प्रतियोंमें जो स्वरभेद देखा जाता है, उसपर भी प्रकाश पड़ता है।

टीकाका परिचय—इस टीकामें कोई मौलिकता नहीं है। ब्रह्मदेवकी संस्कृत टीकाका यह अनुवादमात्र है। ब्रह्मदेवके कुछ कठिन पारिभाषिक शब्दोंको हिंदीमें सुगमतासे समझा दिया है। ब्रह्मदेवके समान दौलतरामजीने भी पहले शब्दार्थ दिया है, और बादमें ब्रह्मदेवके अनुसार ही संक्षेपमें भावार्थ दिया है। इस बातको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि इस हिंदी अनुवादके ही कारण जोइन्दु और उनके परमात्मप्रकाशको इतनी ख्याति मिल सकी है। परमात्मप्रकाशके पठन-पाठनमें दौलतरामजीका उतना ही हाथ है, जितना समयसार और प्रवचनसारके पठन-पाठनमें राजमल्ल और पाण्डे हेमराज का।

पं० दौलतरामजीका समय—दौलतरामजी खण्डेलवाल थे, उनका गोत्र काशलीवाल था। उनके पिता आनन्दराम थे, जन्मभूमि बसवा थी किंतु वे जयपुरमें रहते थे, तथा राजाके प्रधान कर्मचारी थे। उनकी रचनाओंको देखनेसे मालूम होता है कि वे संस्कृतके अच्छे विद्वान् थे, और अपनी मातृभाषासे भी बहुत प्रेम करते थे। सम्वत् १७९५ में जब उन्होंने अपना क्रियाकोश समाप्त किया, वे किसी जयसुत राजाके मंत्री थे, और उदयपुरमें रहते थे। अपने हरिवंशपुराणमें वे लिखते हैं कि जयपुरके दीवान प्रायः जैनसम्प्रदायके होते हैं। उनके समकालीन दीवान रतनचंद्र थे। उन्होंने सं० १७९५ में क्रियाकोश समाप्त किया, और १८२९ में हरिवंशपुराण, अतः उनका साहित्यिक कार्यकाल ई० की १८वीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध जानना चाहिये।

उनकी रचनाएँ—उनके क्रियाकोशका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। जयपुरके एक धार्मिक गृहस्थ रायमल्लकी प्रार्थना पर उन्होंने सम्वत् १८२३ में पद्मपुराणकी हिन्दीटीका की थी, इसके बाद १८२४ में आदिपुराणकी, १८२९ में हरिवंशपुराण और श्रीपालचरित्रका हिन्दी-गद्यमें अनुवाद किया, इसके बाद ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीकाके आधारपर परमात्मप्रकाशकी हिंदी टीका की। इसके बाद सं० १८२७ में उन्होंने पं० प्रवर टोडरमल्लजी रचित पुरुषार्थसिद्धचुपायकी अपूर्ण हिन्दीटीकाको पूर्ण किया। प्रेमीजीका मत है कि पुराणोंके इन हिन्दी-अनुवादोंने जैनपरम्पराका केवल रक्षण और प्रचार ही नहीं किया किन्तु जैनसमाजके लिये ये बहुत लाभदायक सिद्ध हुए।

४ इस ग्रन्थके सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका परिचय

‘ए’ प्रति—यह प्रति भाण्डारकर प्राच्यविद्यामन्दिर पूनासे प्राप्त हुई थी। इसमें १२४ पृष्ठ और प्रत्येक पृष्ठमें १३ लाइनें हैं। दोहोंके नीचे ब्रह्मदेवकी संस्कृतटीका है जो बिल्कुल शुद्ध है। इस संस्करणकी संस्कृत टीकाका इसीके आधारसे संशोधन किया है।

‘बी’ प्रति—सदलगानिवासी मेरे काका स्वर्गीय बाबाजी उपाध्येके संग्रहसे यह प्रति प्राप्त हुई थी। ‘ए’ प्रति की तरह यह भी देवनागरी अक्षरोंमें लिखी है। किन्तु यह अच्छी हालतमें नहीं है। यह कमसे कम २०० वर्ष प्राचीन है। मध्यमें दोहोंकी क्रम-संख्यामें कुछ भूल हो गई है। अन्तिम दोहेपर ३४२ नम्बर पड़ा है।

‘सी’ प्रति—यह प्रति भाण्डारकर प्राच्यविद्यामन्दिर पूना की है। इसमें २१ पृष्ठ और हरएक पृष्ठमें ९ लाइनें हैं, सुन्दर देवनागरी अक्षरोंमें लिखी हुई है। इसमें केवल दोहे ही हैं, जो शुद्ध हैं। किन्तु लेखककी भूलसे कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं।

‘पी’ प्रति—यह प्रति जैनसिद्धान्त भवन आरा की है। इसपर लिखा है—‘परमात्मप्रकाश कर्नाटक टीकासहित’। यह कन्नड अक्षरोंमें लिखी गई हैं, इसमें कुक्कुटासन मलधारि बालचन्द्रकी कन्नडटीका है, यह कोई ५० वर्ष पूर्वकी लिखी हुई है। ब्रह्मदेवके मूलसे इसमें ६ पद्य अधिक हैं।

‘क्यू’ प्रति—यह प्रति भी आराके भवनकी हैं, इसमें भी एक कर्नाटकवृत्ति है, और लिखी भी कन्नड अक्षरोंमें है। यह ताडपत्रपर है, इसके प्रारम्भका एक पत्र खो गया है।

‘आर्’ प्रति—यह भी ताडपत्रपर है, और आराके भवनकी है, इसमें केवल मूल परमात्मप्रकाश है और अक्षर कन्नड हैं।

‘एस्’ प्रति—जै० सि० भ० आराकी ताडपत्रकी इस प्रतिपर ‘योगीन्द्र गाथा’ लिखा है, यह करीब ७५ वर्ष पुरानी है। इसमें कन्नडी अक्षरोंमें केवल दोहे ही लिखे हैं।

‘टी’ प्रति—यह प्रति ताडपत्रपर है। और यह श्रीवीरवाणी विलास-भवन मूडबिद्रीसे प्राप्त हुई थी। यह पुराने कन्नडी अक्षरोंमें लिखी हुई है। इसमें केवल दोहे ही हैं।

‘के’ प्रति—यह भी मूडबिद्रीके वीरवाणीविलास-भवनकी प्रति है। हस्ताक्षरोंकी समानतासे यह स्पष्ट है कि ‘टी’ और ‘के’ प्रति एक ही लेखककी लिखी हुई हैं। इसकी लिपि पुरानी कन्नडी है।

‘एम्’ प्रति—इसमें भी केवल मूल ही है। इसका लेखक ताडपत्रपर लिखनेमें प्रवीण नहीं था। इसमें न० १६ से २३ तक केवल आठ पत्र हैं। पहले पत्रमें ‘मोक्षप्राभृत’ पर बालचन्द्रकी कन्नडटीका है उसके बाद बिना किसी उत्थानिकाके परमात्मप्रकाशका दोहा लिखा है।

इन प्रतियोंका परस्परमें सम्बन्ध—जोइंदुके मूलके दो रूप हैं, एक संक्षिप्त और दूसरा विस्तृत। ‘टी’ ‘के’ और ‘एम्’ प्रति उसके संक्षिप्त रूपके अनुयायी हैं, और ‘पी’ ‘ए’ ‘बी’ ‘सी’ ‘आर्’ और ‘एस्’ उसके विस्तृत रूप के। ‘क्यू’ प्रति ‘ए’ प्रति से मिलती है, किन्तु उस पर ‘टी’ ‘के’ और ‘एम्’ के भी प्रभाव हैं। ‘आर्’ प्रतिपर ‘ए’ ‘पी’ ‘टी’ ‘के’ और ‘एम्’ का प्रभाव है।

५ योगसारकी प्रतियाँ

योगसारकी प्रतियोंका तुलनात्मक वर्णन—इस संस्करणमें मुद्रित योगसारका सम्पादन नीचे लिखी प्रतियोंके आधारपर किया गया है।

‘अ’—पं० के० भुजबलि शास्त्रीकी कृपासे जैनसिद्धान्त भवन आरासे यह प्रति प्राप्त हुई थी। इसमें दस पत्र हैं, जो दोनों ओर लिखे हुए हैं, केवल पहला और अन्तिम पत्र एक ओर ही लिखा है। सम्वत् १९९२ में देहलीके किसी भण्डारकी प्राचीन प्रतिके आधारपर आधुनिक देवनागरी अक्षरोंमें यह प्रति लिखी गई है। इसमें दोहे और उनपर गुजराती भाषाके टब्बे हैं, इसमें अशुद्धियाँ अधिक हैं।

‘प’—मुनि श्री पुण्यविजयजी महाराजकी कृपासे पाटणके भण्डारसे यह प्रति प्राप्त हुई थी। इसमें भी दोहे और उनका गुजराती अनुवाद है। यह अनुवाद ‘अ’ प्रतिके अनुवादसे मिलता जुलता है। यह प्रति बिल्कुल शुद्ध है और ‘अ’ प्रतिकी अशुद्धियोंका शोधन करनेमें इससे काफी सहायता मिली है, गुजराती अनुवाद (टब्बे) में इसका लेखन-काल सम्वत् १७१२ चैत्र शुक्ल १२ दिया है।

‘ब’—बम्बईके पं० नाथूरामजी प्रेमीसे यह प्रति प्राप्त हुई थी। इसमें केवल दोहे ही हैं, देवनागरी अक्षरोंमें लिखे हैं। यह प्रति प्रायः शुद्ध है। इसके कमजोर पत्रों और टूटे किनारोंसे यह प्रति संपादनमें उपयुक्त चारों प्रतियोंमेंसे सबसे अधिक प्राचीन मालूम होती है। मालूम हुआ है कि माणिकचन्द्रजैनग्रन्थमालामें मुद्रित योगसारका सम्पादन इसी प्रतिके आधारपर किया गया है।

‘झ’—पं० पन्नालालजी सोनीकी कृपासे झालरापाटनके श्री एलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन से यह प्रति प्राप्त हुई थी। इसमें केवल दोहे ही हैं। इसकी लिपि सुन्दर देवनागरी है। इसमें अशुद्धियाँ अधिक हैं। इसके कुछ खास पाठ मा० जैनग्रन्थमालामें मुद्रित योगसारसे मिलते हैं।

ये चार प्रतियाँ दो विभिन्न परम्पराओंको बतलाती हैं, एक परम्परामें केवल ‘ब’ प्रति है, और दूसरीमें ‘अ’, ‘प’ और ‘झ’। ‘अ’ और ‘प’ का उद्गम एक ही स्थानसे हुआ जान पड़ता है, क्योंकि दोनोंका मूल और गुजराती अनुवाद एकसा ही है। किन्तु ‘अ’ प्रतिसे ‘प’ प्रतिके गुजराती अनुवादकी भाषा प्राचीन है। ‘ब’ प्रतिके विरुद्ध जो कि सबसे प्राचीन है, ‘अ’ और ‘प’ में कर्ता कारकके एकवचनमें ‘अ’ के स्थानमें ‘उ’ पाया जाता है। अनुस्वारकी ओर बिल्कुल ध्यान नहीं है, और ‘अउ’ के स्थानमें प्रायः ‘ओ’ लिखा है।

योगसारका प्राकृत मूल और पाठान्तर—योगसारके सम्पादनमें परम्परागत मूलका संग्रह करनेकी ओर ही मेरा लक्ष्य रहा है। अपभ्रंश ग्रन्थका सम्पादन करनेमें, विशेषतया जब विभिन्न प्रतियोंमें स्वरभेद पाया जाता हो, लेखकोंकी अशुद्धियोंके बीचमेंसे मौलिकपाठको पृथक् करना प्रायः कठिन होता है। स्वरोंके सम्बन्धमें मैंने ‘प’ और ‘ब’ प्रतिका ही विशेषतया अनुसरण किया है। आधुनिक प्रतियोंमें इ और ह में धोखा हो जाता है, अतः मैंने मूलमें कुछ परिवर्तन भी किये हैं, और उनके सामने प्रश्नसूचक चिह्न लगा दिये हैं। मैंने बहुतसे पाठान्तर केवल मूलके पाठ-भेदोंपर काफी प्रकाश डालनेके लिये ही दिये हैं। किन्तु माणिकचन्द्र-जैनग्रन्थमालामें मुद्रित योगसारके पाठान्तर मैंने नहीं दिये, क्योंकि जिस प्रतिके आधारपर इसका मुद्रण हुआ बताया जाता है, उससे मैंने मिलान कर लिया है; तथा किसी स्वतंत्र एवं प्रामाणिक प्रतिके आधारपर उसका सम्पादन होनेमें मुझे सन्देह है, जैसा कि उसमें प्रतियोंके नामके बिना दिये गये पाठान्तरोंसे मालूम होता है।

संस्कृतछाया—निम्नलिखित कारणोंसे अपभ्रंश ग्रन्थमें संस्कृतछाया देनेके मैं विरुद्ध हूँ। प्रथम यह एक गलत मार्ग है, जो न तो भाषा और न इतिहास की दृष्टिसे ही उचित है। दूसरे, छाया भट्टी संस्कृतका एक नमूना बन जाती है। क्योंकि अपभ्रंशमें वाक्य-विन्यास और वर्णनकी शैलीने उन्नति कर ली है, जो प्राचीन संस्कृतमें नहीं पाई जाती। तीसरे, उसका दुष्परिणाम यह होता है कि बहुतसे पाठक केवल छाया पढ़कर ही सन्तोष कर लेते हैं। प्राकृत ग्रन्थोंमें संस्कृतछाया देनेकी पद्धतिने भारतीय भाषाओंके अध्ययनको बहुत हानि पहुँचाई है। लोगोंने प्राकृतके अध्ययनकी ओरसे मुख फेर लिया है, मृच्छकटिक और शाकुन्तल सरीखे नाटक केवल संस्कृतके ग्रंथ बन गये हैं, जब कि स्वयं रचयिताओंने उनके मुख्य भागोंको प्राकृतमें रचा था; और परिणामस्वरूप आधुनिक भारतीय भाषाएँ प्राकृतको भुलाकर केवल संस्कृत शब्दोंसे अपना कलेवर पुष्ट कर रही हैं। तथापि प्रकाशकके आग्रहके कारण मुझे छाया देनी पड़ी है। छायामें अपभ्रंश शब्दोंके संस्कृत शब्द देते हुए कहीं कहीं उनके वैकल्पिक शब्द भी मैंने ब्रैकेट (कोष्ठक) में दे दिये हैं। संस्कृतका एक स्वतंत्र वाक्य समझकर छायाका परीक्षण न चाहिये, किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यह अपभ्रंशकी केवल छाया मात्र है। पाठकोंकी सुविधाके लिये सन्धिके नियमोंका ध्यान नहीं रखा गया है। अनेक स्थलोंपर मा० जैनग्रन्थमालामें मुद्रित योगसारकी छायासे मेरी छायामें अन्तर है।

श्रीस्याद्वादमहाविद्यालय, काशी
भाद्रपद शुक्ल ५ दशलक्षणमहापर्व, वीर सं० २४६३

हिन्दी-अनुवादकर्ता
कैलाशचन्द्र शास्त्री



परमात्मप्रकाशकी विषयानुक्रमणिका

विषय	पृ. सं.	दो. सं.
मंगलाचरण	५	१

१. त्रिविधात्माधिकार

श्रीयोगीन्दुगुरुसे भइ प्रभाकरका		
प्रश्न	१५	८
श्रीगुरुका तीन प्रकार आत्माके		
कथनका उपदेशरूप उत्तर	१८	११
बहिरात्माका लक्षण ...	२०	१३
अंतरात्माका स्वरूप	२१	१४
परमात्माका लक्षण	२२	१५
परमात्माका स्वरूप	२४	१७
शक्तिरूपसे सब जीवोंके शरीरमें		
परमात्मा विराजमान है	३०	२६
जीव और अजीवमें लक्षण-		
भेदसे भेद	३३	३०
शुद्धात्माका मुख्य लक्षण	३४	३१
शुद्धात्माके ध्यानसे संसार-		
भ्रमणका रुकना	३५	३२
जीवके परिमाणपर मत मतान्तर		
विचार	४१	४१
द्रव्य, गुण, पर्यायकी मुख्यतासे		
आत्माका कथन	५४	५६
द्रव्य, गुण, पर्यायका स्वरूप	५६	५७
जीव कर्मके संबंधका विचार	५९	५९
आत्माका परवस्तुसे भिन्नपनेका		
कथन	६७	६७
निश्चयसम्यग्दृष्टिका स्वरूप ...	७४	७६
मिथ्यादृष्टिके लक्षण	७५	७७
सम्यग्दृष्टिकी भावना ...	८१	८५

विषय	पृ. सं.	दो. सं.
भेदविज्ञानकी मुख्यतासे आत्माका		
कथन	८७	९३

२. मोक्षाधिकार

मोक्षके बारेमें प्रश्न	११५	१
मोक्षके विषयमें उत्तर	११५	२
मोक्षका फल	१२५	११
मोक्षमार्गका व्याख्यान	१२५	१२
अभेदरत्नत्रयका व्याख्यान	१५०	३१
परम उपशमभावकी मुख्यता	१६०	३९
निश्चयसे पुण्यपापका एकपना	१७४	५३
शुद्धोपयोगकी मुख्यता	१८८	६७
परद्रव्यके संबंधका त्याग	२२६	१०८
त्यागका दृष्टांत	२२८	११०
मोहका त्याग	२२९	१११
इंद्रियोंमें लपटी जीवोंका विनाश	२३२	११२
लोभकषायमें दोष	२३३	११३
स्नेहका त्याग	२३३	११४
जीवहिंसाका दोष	२४१	१२५
जीवरक्षासे लाभ	२४३	१२७
अधुवभावना	२४५	१२९
जीवको शिक्षा	२४९	१३३
पंचेंद्रियको जीतना	२५२	१३६
इंद्रियसुखका अनित्यपना	२५४	१३८
मनको जीतनेसे इंद्रियोंका जीतना	२५६	१४०
सम्यक्त्वकी दुर्लभता	२५८	१४३
गृहवास व ममत्वमें दोष ...	२६०	१४४
देहसे ममत्व त्याग	२६०	१४५
देहकी मलिनताका कथन	२६३	१४८

विषय	पृ. सं. दो. सं.	विषय	पृ. सं. दो. सं.
आत्माधीन सुखमें प्रीति	२६७ १५४	सब चिंताओंका निषेध	२९३ १८७
चित्त स्थिर करनेसे आत्म- स्वरूपकी प्राप्ति	२६९ १५६	परमसमाधिका व्याख्यान	२९५ १८९
निर्विकल्प समाधिका कथन	२७३ १६१	अहंतपदका कथन	२९९ १९५
दानपूजादि श्रावक-धर्मपरंपरा मोक्षका कारण हैं	२८० १६८	परमात्मप्रकाश शब्दका अर्थ... ..	३०२ १९८
चिंता रहित ध्यान मुक्तिका कारण	२८१ १६९	सिद्धस्वरूपका कथन ...	३०४ २०१
यह आत्मा ही परमात्मा है	२८४ १७४	परमात्मप्रकाशका फल ...	३०७ २०४
देह और आत्माकी भेदभावना	२८७ १७७	परमात्मप्रकाशके योग्य पुरुष....	३०९ २०७
		परमात्मप्रकाशशास्त्रका फल	३१३ २१३
		अंतिम मंगल	३१४ २१४
पृ. सं.		पृ. सं.	
परमात्मप्रकाशके मूल और पाठान्तर	३१९-५०	संस्कृतटीकामें उद्धृत पद्योंकी वर्णानुक्रम-सूची	३५६-५८
परमात्मप्रकाशके दोहोंकी वर्णानुक्रम-सूची	३५१-५५	योगसार-मूल, संस्कृतछाया, पाठान्तर, और भाषाटीकासहित	३५९-८४
		योगसारके दोहोंकी वर्णानुक्रम-सूची	३८५-८६

परमात्मप्रकाश' के प्रकाशनमें आर्थिक सहयोगदाताओंके नाम

नाम	गाम	रकम
श्री चिमनभाई मोतीभाई पटेल	आणंद	२०००
श्री स्मिताबेन वसंतभाई शाह	बोरीवली	१००१
श्री वल्लभभाई विठ्ठलभाई पटेल	आस्ता	१००१
श्रीमती पुष्पाबेन दिनेशभाई म. कोठारी	मुंबई	१०००
श्री हिनाबेन विश्रुतभाई	सुरत	५०१
श्री स्व. कीर्तिलाल गिरधरलाल शाह	सुरत	५०१
श्री सुभाषभाई धनराजजी मुथा	नागपुर	५०१
श्री किशोरभाई उत्तमचंदजी गुंदेचा	वरोरा	५०१
श्री वर्षाबेन विनोदभाई शाह	बोरीवली	५०१
श्री जयाबेन वसनजीभाई पालण मारु	मादुंगा	५००



श्री परमात्मने नमः

श्रीमद् योगीन्द्रदेव विरचितः परमात्मप्रकाशः

(टीकाद्वयोपेतः)

श्रीमद् ब्रह्मदेवकृत भाषाटीका

चिदानन्दैकरूपाय जिनाय परमात्मने ।

परमात्मप्रकाशाय नित्यं सिद्धात्मने नमः ॥१॥

श्रीयोगीन्द्रदेवकृतपरमात्मप्रकाशाभिधाने दोहकछन्दोग्रन्थे प्रक्षेपकान् विहाय व्याख्यानार्थमधिकारशुद्धिः कथ्यते । तद्यथा—प्रथमतस्तावत्परमेष्ठिनमस्कारमुख्यत्वेन ‘जे जाया ज्ञाणगियए’ इत्यादि सप्त दोहकसूत्राणि भवन्ति, तदनन्तरं विज्ञापनमुख्यतया ‘भाविं पणविवि’ इत्यादिसूत्रत्रयम्, अत ऊर्ध्वं बहिरन्तःपरमभेदेन त्रिधात्मप्रतिपादनमुख्यत्वेन ‘पुणु पुणु पणविवि’ इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथानन्तरं मुक्तिगतव्यक्तिरूपपरमात्मकथनमुख्यत्वेन ‘तिहु-

श्री पण्डित दौलतरामजीकृत भाषाटीका

दोहा—चिदानन्द चिद्रूप जो, जिन परमात्म देव ।

सिद्धरूप सुविसुद्ध जो, नमों ताहि करि सेव ॥१॥

परमात्म निजवस्तु जो, गुण अनंतमय शुद्ध ।

ताहि प्रकाशनके निमित्त, बंदू देव प्रबुद्ध ॥२॥

‘चिदानन्द’ इत्यादि श्लोकका अर्थ—श्रीजिनेश्वरदेव शुद्ध परमात्मा आनन्दरूप चिदानन्दचिद्रूप है, उनके लिये मेरा सदाकाल नमस्कार होवे, किसलिये ? परमात्माके स्वरूपके प्रकाशनेके लिये । कैसे है वे भगवान् ? शुद्ध परमात्मस्वरूपके प्रकाशक हैं, अर्थात् निज और पर सबके स्वरूपको प्रकाशते हैं । फिर कैसे हैं ? ‘सिद्धात्मने’ जिनका आत्मा कृतकृत्य है । सारांश यह है कि नमस्कार करने योग्य परमात्मा ही है, इसलिये परमात्माको नमस्कार कर परमात्मप्रकाशनामा ग्रंथका व्याख्यान करता हूँ ।

श्रीयोगीन्द्रदेवकृत परमात्मप्रकाश नामा दोहक छंद ग्रंथमें प्रक्षेपक दोहोंको छोड़कर व्याख्यानके लिये अधिकारोंकी परिपाटी कहते हैं—प्रथम ही पंच परमेष्ठीके नमस्कारकी मुख्यताकर ‘जे जाया ज्ञाणगियए’ इत्यादि सात दोहे जानना, विज्ञापनाकी मुख्यताकर ‘भाविं पणविवि’ इत्यादि तीन दोहे, बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, इन भेदोंसे तीन प्रकार आत्माके कथनकी मुख्यताकर ‘पुणु पुणु पणविवि’ इत्यादि पाँच दोहे, मुक्तिको प्राप्त हुए जो प्रगटस्वरूप परमात्मा उनके कथनकी

यणवंदिउ' इत्यादि सूत्रदशकम्, अत ऊर्ध्वं देहस्थितशक्तिरूपपरमात्मकथनमुख्यत्वेन 'जेहउ णिम्मलु' इत्यादि अन्तर्भूतप्रक्षेपपञ्चकसहितचतुर्विंशतिसूत्राणि भवन्ति, अथ जीवस्य स्वदेह-प्रमितिविषये स्वपरमतविचारमुख्यतया 'अप्पा जोइय' इत्यादिसूत्रषट्कं, तदनन्तरं द्रव्यगुणपर्याय-स्वरूपकथनमुख्यतया 'अप्पा जणियउ' इत्यादि सूत्रत्रयम्, अथानन्तरं कर्मविचारमुख्यत्वेन 'जीवहं कम्मु अणाइ' इत्यादि सूत्राष्टकं, तदनन्तरं सामान्यभेदभावनाकथनेन 'अप्पा अप्पु जि' इत्यादि सूत्रनवकम्, अत ऊर्ध्वं निश्चयसम्यग्दृष्टिकथनरूपेण 'अप्पे अप्पु' इत्यादि सूत्रमेकं, तदनन्तरं मिथ्याभावकथनमुख्यत्वेन 'पज्जयरत्तउ' इत्यादि सूत्राष्टकम्, अत ऊर्ध्वं सम्यग्दृष्टि-भावनामुख्यत्वेन 'कालु लहेविणु' इत्यादिसूत्राष्टकं, तदनन्तरं सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेन 'अप्पा संजमु' इत्याद्येकाधिकत्रिंशत्प्रमितानि दोहकसूत्राणि भवन्ति ॥ इति श्रीयोगीन्द्रदेव-विरचितपरमात्मप्रकाशशास्त्रे त्रयोविंशत्यधिकशतदोहकसूत्रैर्बहिरन्तःपरमात्मस्वरूपकथनमुख्य-त्वेन प्रथमप्रकरणपातनिका समाप्ता । अथानन्तरं द्वितीयमहाधिकारप्रारम्भे मोक्षमोक्षफल-मोक्षमार्गस्वरूपं कथ्यते । तत्र प्रथमतस्तावत् 'सिरिगुरु' इत्यादिमोक्षस्वरूपकथनमुख्यत्वेन दोहकसूत्राणि दशकम्, अत ऊर्ध्वं 'दंसण णाणु' इत्याद्येकसूत्रेण मोक्षफलं, तदनन्तरं 'जीवहं मोक्खहं हेउ वरु' इत्याद्येकोनविंशतिसूत्रपर्यन्तं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यतया व्याख्यानम्, अथानन्तरमभेदरत्नत्रयमुख्यत्वेन 'जो भत्तउ' इत्यादि सूत्राष्टकम्, अत ऊर्ध्वं समभावमुख्यत्वेन 'कम्मु पुरक्किउ' इत्यादिसूत्राणि चतुर्दश, अथानन्तरं पुण्यपापसमानमुख्यत्वेन 'बंधहं मोक्खहं

मुख्यताकर 'तिहुयण वंदिउ' इत्यादि दस दोहे, देहमें तिष्ठे हुए शक्तिरूप परमात्माके कथनकी मुख्यतासे 'जेहउ णिम्मलु' इत्यादि पाँच क्षेपकों सहित चौबीस दोहे, जीवके निजदेह प्रमाण कथनमें स्वमत-परमतके विचारकी मुख्यताकर 'किंवि भणंति जिउ सव्वगउ' इत्यादि छह दोहे, द्रव्य गुण पर्यायिके स्वरूप कहनेकी मुख्यताकर 'अप्पा जणियउ' इत्यादि तीन दोहे, कर्म-विचारकी मुख्यताकर 'जीवहं कम्मु अणाइ जिय' इत्यादि आठ दोहे, सामान्य भेद भावनाके कथन कर 'अप्पा अप्पु जि' इत्यादि नौ दोहे, निश्चय-सम्यग्दृष्टिके कथनरूप 'अप्पे अप्पु जि' इत्यादि एक दोहा, मिथ्याभावके कथनकी मुख्यताकर 'पज्जयरत्तउ' इत्यादि आठ दोहे, सम्यग्दृष्टिकी मुख्यता कर 'कालु लहेविणु' इत्यादि आठ दोहे और सामान्यभेदभावकी मुख्यताकर 'अप्पा संजमु' इत्यादि इकतीस दोहे कहे हैं । इस तरह श्रीयोगीन्द्र-देवविरचित परमात्मप्रकाश ग्रंथमें एकसौ तेईस १२३ दोहोंका पहला प्रकरण कहा है, इस प्रकरणमें बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्माके स्वरूपके कथनकी मुख्यता है, तथा इसमें तेरह अंतर अधिकार हैं । अब दूसरे अधिकारमें मोक्ष, मोक्षफल और मोक्षमार्ग इनका स्वरूप कहा है, उसमें प्रथम ही 'सिरिगुरु' इत्यादि मोक्ष स्वरूपके कथनकी मुख्यताकर दस दोहे, 'दंसण णाणु' इत्यादि एक दोहाकर मोक्षका फल, निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गकी मुख्यताकर 'जीवहं मोक्खहं हेउ वरु' इत्यादि उन्नीस दोहे, अभेदरत्नत्रयकी मुख्यताकर 'जो भत्तउ' इत्यादि आठ दोहे, समभावकी मुख्यताकर 'कम्मु पुरक्किउ' इत्यादि चौदह दोहे, पुण्य पापकी समानताकी मुख्यताकर 'बंधहं मोक्खहं हेउ णिउ' इत्यादि चौदह दोहे हैं, और

हेउ णिरु' इत्यादिसूत्राणि चतुर्दश, अत ऊर्ध्वम् एकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं प्रक्षेपकान् विहाय शुद्धोपयोगस्वरूपमुख्यत्वमिति समुदायपातनिका । तत्र प्रथमतः एकचत्वारिंशन्मध्ये 'सुद्धहं संजमु' इत्यादिसूत्रप्रश्नपर्यन्तं शुद्धोपयोगमुख्यतया व्याख्यानम्, अथानन्तरं 'दाणिं लब्भइ' इत्यादिपञ्चदशसूत्रपर्यन्तं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यानं, तदनन्तरं 'लेणहं इच्छइ मूहु' इत्यादिसूत्राष्टकपर्यन्तं परिग्रहत्यागमुख्यतया व्याख्यानम्, अत ऊर्ध्वं 'जो भत्तउ रयणत्तयहं' इत्यादि त्रयोदशसूत्रपर्यन्तं शुद्धनयेन षोडशवर्णिकासुवर्णवत् सर्वे जीवाः केवलज्ञानादिस्वभावलक्षणेन समाना इति मुख्यत्वेन व्याख्यानम्, इत्येकचत्वारिंशत्सूत्राणि गतानि । अत ऊर्ध्वं 'परु जाणंतु वि' इत्यादि समाप्तिपर्यन्तं प्रक्षेपकान् विहाय सप्तोत्तरशतसूत्रैश्चूलिकाव्याख्यानम् । तत्र सप्तोत्तरशतमध्ये अवसाने 'परमसमाहि' इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रेषु सप्त स्थलानि भवन्ति । तस्मिन् प्रथमस्थले निर्विकल्पसमाधिमुख्यत्वेन 'परमसमाहिमहासरहिं' इत्यादि सूत्रषट्कं, तदनन्तरमर्हत्पदमुख्यत्वेन 'सयलवियप्पहं' इत्यादि सूत्रत्रयम्, अथानन्तरं परमात्मप्रकाशनाममुख्यत्वेन 'सयलहं कम्महं दोसहं' इत्यादि सूत्रत्रयम्, अथ सिद्धपदमुख्यत्वेन 'ज्ञाणं कम्मक्खउ करिवि' इत्यादि सूत्रत्रयं, तदनन्तरं परमात्मप्रकाशाराधकपुरुषाणां फलकथनमुख्यत्वेन 'जे परमप्पयास मुणि' इत्यादिसूत्रत्रयम्, अत ऊर्ध्वं परमात्मप्रकाशाराधनायोग्यपुरुषकथनमुख्यत्वेन 'जे भवदुक्खहं' इत्यादि सूत्रत्रयम्, अथानन्तरं परमात्मप्रकाशशास्त्रफलकथनमुख्यत्वेन तथै-

शुद्धोपयोगके स्वरूपकी मुख्यताकर प्रक्षेपकोके विना इकतालीस दोहे पर्यंत व्याख्यान है । उन इकतालीस दोहोंमेंसे प्रथम ही 'सुद्धह संजमु' इत्यादि पाँच दोहा तक शुद्धोपयोगके व्याख्यानकी मुख्यता है, 'दाणिं लब्भइ' इत्यादि पंद्रह दोहा पर्यंत वीतराग स्वसंवेदनज्ञानकी मुख्यताकर व्याख्यान है, परिग्रह त्यागकी मुख्यताकर 'लेणह इच्छइ' इत्यादि आठ दोहा पर्यंत व्याख्यान है, 'जो भत्तउ रयणत्तयहं' इत्यादि तेरह दोहा पर्यंत शुद्धनयकर सोलहवानके सुवर्णकी तरह सब जीव केवलज्ञानादि स्वभावलक्षणकर समान है यह व्याख्यान है । इस तरह इकतालीस दोहोंके व्याख्यानकी विधि कही । उनके चार अधिकार हैं । यहाँपर एकसौ ग्यारह दोहोंका दूसरा महा अधिकार कहा है, उसमें दस अन्तर अधिकार हैं । इसके बाद 'पर जाणंतु वि' इत्यादि एकसौ सात दोहोंमें ग्रंथकी समाप्ति पर्यंत चूलिका व्याख्यान है । इनके सिवाय प्रक्षेपक हैं । उन एकसौ सात दोहोंमेंसे अन्तके 'परमसमाहि' इत्यादि चौबीस दोहा पर्यंत परमसमाधिका कथन है, उनमें सात स्थल हैं । उनमेंसे प्रथम स्थलमें निर्विकल्प समाधिकी मुख्यताकर 'परमसमाहिमहासरहिं' इत्यादि छह दोहे, अरहंतपदकी मुख्यताकर 'सयल वियप्पहं' इत्यादि तीन दोहे, परमात्मप्रकाशनामकी मुख्यताकर 'सयलहं दोसहं' इत्यादि तीन दोहे, सिद्धपदकी मुख्यताकर 'ज्ञाणं कम्मक्खउ करिवि' इत्यादि तीन दोहे, परमात्मप्रकाशके आराधक पुरुषोंको फलके कथनकी मुख्यताकर 'जे परमप्पयास मुणि' इत्यादि तीन दोहे, परमात्मप्रकाशकी आराधनाके योग्य पुरुषोंके कथनकी मुख्यताकर 'जे भवदुक्खहं' इत्यादि तीन दोहे, और परमात्मप्रकाशशास्त्रके

बौद्धत्यपरिहारमुख्यत्वेन च 'लक्षणछंद' इत्यादि सूत्रत्रयम् । इति चतुर्विंशतिदोहकसूत्रैकचूलिकावसाने सप्त स्थलानि गतानि । एवं प्रथमपातनिका समाप्ता । अथवा प्रकारान्तरेण द्वितीया पातनिका कथ्यते । तद्यथा—प्रथमतस्तावद्बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मकथनरूपेण प्रक्षेपकान् विहाय त्रयोविंशत्यधिकशतसूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं क्रियत इति समुदायपातनिका । तत्रादौ 'जे जाया' इत्यादि पञ्चविंशतिसूत्रपर्यन्तं त्रिधात्मपीठिकाव्याख्यानम्, अथानन्तरं 'जेहउ णिम्मलु' इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रपर्यन्तं सामान्यविवरणम्, अत ऊर्ध्वं 'अप्पा जोइय सव्वगउ' इत्यादित्रिचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं विशेषविवरणम्, अत ऊर्ध्वं 'अप्पा संजमु' इत्याद्येकत्रिंशत्सूत्रपर्यन्तं चूलिकाव्याख्यानमिति प्रथममहाधिकारः समाप्तः । अथानन्तरं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गस्वरूपकथनमुख्यत्वेन प्रक्षेपकान् विहाय चतुर्दशाधिकशतद्वयसूत्रपर्यन्तं द्वितीयमहाधिकारः प्रारभ्यत इति समुदायपातनिका । तत्रादौ 'सिरिगुरु' इत्यादित्रिंशत्सूत्रपर्यन्तं पीठिकाव्याख्यानं, तदनन्तरं 'जो भत्तउ' इत्यादिषट्त्रिंशत्सूत्रपर्यन्तं सामान्यविवरणम्, अथानन्तरं 'सुद्धहं संजमु' इत्याद्येकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं विशेषविवरणं, तदनन्तरं प्रक्षेपकान् विहाय सप्तोत्तरशतपर्यन्तमभेदरत्नत्रयमुख्यतया चूलिकाव्याख्यानं, इति द्वितीयपातनिका ज्ञातव्या ॥

इदानीं प्रथमपातनिकाभिप्रायेण व्याख्याने क्रियमाणे ग्रन्थकारो ग्रन्थस्यादौ मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारं कुर्वाणः सन् दोहकसूत्रमेकं प्रतिपादयति—

फलके कथनकी मुख्यताकर तथा गर्वके त्यागकी मुख्यताकर 'लक्षण छंद' इत्यादि तीन दोहे हैं । इस प्रकार चूलिकाके अंतमें चौबीस दोहोंमें सात स्थल कहे गये हैं । इस तरह तीन महा अधिकारोंमें अंतर स्थल अनेक हैं । एक तो इस प्रकार पातनिका कही, अथवा अन्य तरह कथनकर दूसरी पातनिका कहते हैं—पहले अधिकारमें बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्माके कथनकी मुख्यताकर प्रक्षेपकोंको छोड़कर एकसौ तेईस दोहे कहे हैं । उनमेंसे 'जे जाया' इत्यादि पच्चीस दोहा पर्यंत तीन प्रकार आत्माके कथनका पीठिका व्याख्यान, 'जेहउ णिम्मलु' इत्यादि चौबीस दोहा पर्यंत सामान्यवर्णन, 'अप्पा जोइय सव्वगउ' इत्यादि तेतालीस दोहा पर्यंत विशेष वर्णन और 'अप्पा संजमु' इत्यादि इकतीस दोहा पर्यंत चूलिका व्याख्यान है । इस तरह अन्तर अधिकारों सहित पहला महाधिकार कहा । इसके बाद मोक्ष, मोक्षफल और मोक्षमार्गके स्वरूपके कथनकी मुख्यताकर प्रक्षेपकोंके सिवाय दोसौ चौदह दोहा पर्यंत दूसरा महाधिकार है । उसमें 'सिरि गुरु' इत्यादि तीस दोहा पर्यंत पीठिकाव्याख्यान, 'जो भत्तउ' इत्यादि छत्तीस दोहा पर्यंत सामान्यवर्णन और 'सुद्धह संजमु' इत्यादि एकतालीस दोहा पर्यंत विशेषवर्णन है, उसके बाद 'उक्तं च' को छोड़कर एक सौ सात दोहा पर्यंत अभेदरत्नत्रयकी मुख्यताकर चूलिका व्याख्यान है । इस तरह दूसरी पातनिका जाननी चाहिये ।

अब प्रथम पातनिकाके अभिप्रायसे व्याख्यान किया जाता है, उसमें ग्रंथकर्ता श्रीयोगीन्द्राचार्य ग्रंथके आदिमें मंगलके लिये इष्टदेवता श्रीभगवानको नमस्कार करते हुए एक दोहा छंद कहते

जे जाया झाणगियएँ कम्म-कलंक डहेवि ।

णिच्चणिरंजण-णाण-मय ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥

ये जाता ध्यानाग्निना कर्मकलङ्कान् दग्धा ।

नित्यनिरञ्जनज्ञानमयास्तान् परमात्मनः नत्वा ॥ १ ॥

जे जाया ये केचन कर्तारो महात्मानो जाता उत्पन्नाः । केन कारणभूतेन । झाणगियएँ ध्यानाग्निना । किं कृत्वा पूर्वम् । कम्मकलंक डहेवि कर्मकलङ्कमलान् दग्धा भस्मीकृत्वा । कथंभूताः जाताः । णिच्चणिरंजणणाणमय नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः ते परमप्प णवेवि तान्परमात्मनः कर्मतापनात्तत्वा प्रणम्येति तात्पर्यार्थव्याख्यानं समुदायकथनं संपिण्डितार्थनिरूपणमुपोद्धातः 'संग्रहवाक्यं वार्तिकमिति यावत् । इतो विशेषः । तद्यथा—ये जाता उत्पन्ना मेघ-पटलविनिर्गतदिनकरकिरणप्रभावात्कर्मपटलविघटनसमये सकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टय-व्यक्तिरूपेण लोकालोकप्रकाशनसमर्थेन सर्वप्रकारोपादेयभूतेन कार्यसमयसाररूपपरिणताः । कथा नयविवक्षया जाताः सिद्धपर्यायपरिणतिव्यक्तरूपतया धातुपाषाणे सुवर्णपर्यायपरिणति-व्यक्तिवत् । तथा चोक्तं पञ्चास्तिकाये—पर्यायार्थिकनयेन “अभूदपुञ्चो हवदि सिद्धो”, द्रव्यार्थिकनयेन पुनः शक्त्यपेक्षया पूर्वमेव शुद्धबुद्धैकस्वभावस्तिष्ठति धातुपाषाणे सुवर्णशक्तिवत् ।

हैं—[ये] जो भगवान् [ध्यानाग्निना] ध्यानरूपी अग्निसे [कर्मकलङ्कान्] पहले कर्मरूपी मैलोंको [दग्धा] भस्म करके [नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः जाताः] नित्य, निरंजन और ज्ञानमयी सिद्ध परमात्मा हुए हैं, [तान्] उन [परमात्मनः] सिद्धोंको [नत्वा] नमस्कार करके मैं परमात्मप्रकाशका व्याख्यान करता हूँ । यह संक्षेप व्याख्यान किया । इसके बाद विशेष व्याख्यान करते हैं—जैसे मेघपटलसे बाहर निकली हुई सूर्यकी किरणोंकी प्रभा प्रबल होती है, उसी तरह कर्मरूप मेघसमूहके विलय होनेपर अत्यन्त निर्मल केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयकी प्रगटतास्वरूप परमात्मा परिणत हुए हैं । अनन्तचतुष्टय अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, ये अनन्तचतुष्टय सब प्रकार अंगीकार करने योग्य हैं, तथा लोकालोकके प्रकाशनेकी समर्थ हैं । जब सिद्धपरमेष्ठी अनन्तचतुष्टयरूप परिणमे, तब कार्य-समयसार हुए । अंतरात्म्य अवस्थामें कारण-समयसार थे । जब कार्यसमयसार हुए तब सिद्धपर्याय परिणतिकी प्रगटता रूपकर शुद्ध परमात्मा हुए । जैसे सोना अन्य धातुके मिलापसे रहित हुआ, अपने सोलहवानरूप प्रगट होता है, उसी तरह कर्म-कलंक रहित सिद्धपर्यायरूप परिणमे । तथा पञ्चास्तिकाय ग्रंथमें भी कहा है—जो पर्यायार्थिक-नयकर 'अभूदपुञ्चो हवदि सिद्धो' अर्थात् जो पहले सिद्धपर्याय कभी नहीं पाई थी, वह कर्म-कलंकके विनाशसे पाई । यह पर्यायार्थिकनयकी मुख्यतासे कथन है, और द्रव्यार्थिकनयकर शक्तिकी अपेक्षा यह जीव सदा ही शुद्ध बुद्ध (ज्ञान) स्वभाव तिष्ठता है । जैसे धातु पाषाणके मेलमें भी शक्तिरूप सुवर्ण मौजूद ही है, क्योंकि सुवर्ण-शक्ति सुवर्णमें सदा ही रहती है, जब परवस्तुका संयोग दूर हो जाता है, तब वह व्यक्तिरूप होता है । सारांश यह है कि शक्तिरूप तो पहले ही था, लेकिन

तथा चोक्तं द्रव्यसंग्रहे—शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन “सर्वे सुद्धा हु सुद्धणया” सर्वे जीवाः शुद्ध-
बुद्धैकस्वभावाः । केन जाताः । ध्यानाग्निना करणभूतेन ध्यानशब्देन आगमापेक्षया वीतराग-
निर्विकल्पशुद्धध्यानम्, अध्यात्मापेक्षया वीतरागनिर्विकल्परूपातीतध्यानम् । तथा चोक्तम्—
“पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम् । रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम् ॥”
तच्च ध्यानं वस्तुवृत्त्या शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधि-
समुत्पन्नवीतरागपरमानन्दसमरसीभावसुखरसास्वादरूपमिति ज्ञातव्यम् । किं कृत्वा जाताः । कर्म-
मलकलङ्कान् दग्ध्वा कर्ममलशब्देन द्रव्यकर्मभावकर्माणि गृह्यन्ते । पुद्गलपिण्डरूपाणि ज्ञानावरणा-
दीन्यष्टौ द्रव्यकर्माणि, रागादिसंकल्पविकल्परूपाणि पुनर्भावकर्माणि । द्रव्यकर्मदहनमुपचरितासद्-
भूतव्यवहारनयेन, भावकर्मदहनं पुनरशुद्धनिश्चयेन शुद्धनिश्चयेन बन्धमोक्षौ न स्तः । इत्थंभूतकर्म-
मलकलङ्कान् दग्ध्वा कथंभूता जाताः । नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः । क्षणिकैकान्तवादि सौगत-
मतानुसारिशिष्यं प्रति द्रव्यार्थिकनयेन नित्यटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मद्रव्यव्यवस्थापनार्थं
नित्यविशेषणं कृतम् । अथ कल्पशते गते जगत् शून्यं भवति पश्चात्सदाशिवे जगत्करणविषये
चिन्ता भवति तदनन्तरं मुक्तिगतानां जीवानां कर्माञ्जनसंयोगं कृत्वा संसारे पतनं करोतीति
नैयायिका वदन्ति, तन्मतानुसारिशिष्यं प्रति भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्माञ्जननिषेधार्थं मुक्तजीवानां

व्यक्तिरूप सिद्धपर्याय पानेसे हुआ । शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर सभी जीव सदा शुद्ध ही है । ऐसा ही
द्रव्यसंग्रहमें कहा है, “सर्वे सुद्धाहु सुद्धणया” अर्थात् शुद्ध नयकर सभी जीव शक्तिरूप शुद्ध हैं
और पर्यायार्थिकनयसे व्यक्तिकर शुद्ध हुए । किस कारणसे ? ध्यानाग्निना अर्थात् ध्यानरूपी
अग्निकर कर्मरूपी कलंकोंको भस्म किया, तब सिद्ध परमात्मा हुए । वह ध्यान कौनसा है ?
आगमकी अपेक्षा तो वीतराग निर्विकल्प शुक्ल ध्यान है और अध्यात्मकी अपेक्षा वीतराग
निर्विकल्प रूपातीत ध्यान है । तथा दूसरी जगह भी कहा है—‘पदस्थ’ इत्यादि, उसका अर्थ यह
है, कि णमोकारमंत्र आदिका जो ध्यान है, वह पदस्थ कहलाता है, पिण्ड (शरीर) में ठहरा हुआ
जो निज आत्मा है, उसका चिंतन वह पिण्डस्थ है, सर्व चिद्रूप (सकल परमात्मा) जो अरहंतदेव
उनका ध्यान वह रूपस्थ है, और निरंजन (सिद्धभगवान) का ध्यान रूपातीत कहा जाता है ।
वस्तुके स्वभावसे विचारा जावे, तो शुद्ध आत्माका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्यरूप
अभेद रत्नत्रयमयी जो निर्विकल्प समाधि है, उससे उत्पन्न हुआ वीतराग परमानंद समरसी भाव
सुखरसका आस्वाद वही जिसका स्वरूप है, ऐसा ध्यानका लक्षण जानना चाहिये । इसी ध्यानके
प्रभावसे कर्मरूपी मैल वही हुआ कलंक, उनको भस्मकर सिद्ध हुए । कर्म-कलंक अर्थात् द्रव्यकर्म
भावकर्म इनमेंसे जो पुद्गलपिण्डरूप ज्ञानावरणादि आठकर्म वे द्रव्यकर्म हैं, और रागादिक संकल्प-
विकल्परूप परिणाम भावकर्म कहे जाते हैं । यहाँ भावकर्मका दहन अशुद्धनिश्चयनयकर हुआ,
तथा द्रव्यकर्मका दहन असद्भूत अनुपचरितव्यवहारनयकर हुआ और शुद्ध निश्चयकर तो जीवके
बंध मोक्ष दोनों ही नहीं है । इस प्रकार कर्मरूपमलोंको भस्मकर जो भगवान हुए, वे कैसे हैं ? वे

निरञ्जनविशेषणं कृतम् । मुक्तात्मनां सुप्तावस्थावद्वहिर्ज्ञेयविषये परिज्ञानं नास्तीति सांख्या वदन्ति, तन्मतानुसारिशिष्यं प्रति जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसर्वपदार्थयुगपत्परिच्छित्तिरूपकेवलज्ञान-स्थापनार्थं ज्ञानमय-विशेषणं कृतमिति । तानित्यंभूतान् परमात्मनो नत्वा प्रणम्य नमस्कृत्येति क्रियाकारकसंबन्धः । अत्र नत्वेति शब्दरूपो वाचनिको द्रव्यनमस्कारो ग्राह्यः सद्भूतव्यवहारनयेन ज्ञातव्यः, केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारः पुनश्शुद्धनिश्चयनयेनेति, शुद्धनिश्चयनयेन बन्धवन्दकभावो नास्तीति । एवं पदखण्डनारूपेण शब्दार्थः कथितः, नयविभागकथनरूपेण नयार्थो भणितः, बौद्धादिमतस्वरूपकथनप्रस्तावे मतार्थोऽपि निरूपितः, एवंगुणविशिष्टाः सिद्धा मुक्ताः सन्तीत्यागमार्थः प्रसिद्धः । अत्र नित्यनिरञ्जनज्ञानमयरूपं परमात्मद्रव्यमुपादेयमिति भावार्थः । अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागमभावार्थो व्याख्यानकाले यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्य इति ॥ १ ॥

भगवान् सिद्धपरमेष्ठी नित्य निरंजन ज्ञानमयी हैं । यहाँपर नित्य जो विशेषण दिया है, वह एकान्तवादी बौद्ध जो कि आत्माको नित्य नहीं मानता क्षणिक मानता है, उसके समझानेके लिये है । द्रव्यार्थिकनयकर आत्माको नित्य कहा है, टंकोत्कीर्ण अर्थात् टाँकीकासा घड्या सुघट ज्ञायक एकस्वभाव परम द्रव्य है । ऐसा निश्चय करानेके लिये नित्यपनेका निरूपण किया है । इसके बाद निरंजनपनेका कथन करते हैं । जो नैयायिकमती हैं वे ऐसा कहते हैं “सौ कल्पकाल चले जानेपर जगत शून्य हो जाता है और सब जीव उस समय मुक्त हो जाते हैं तब सदाशिवको जगतके करनेकी चिन्ता होती है । उसके बाद जो मुक्त हुए थे, उन सबके कर्मरूप अंजनका संयोग करके संसारमें पुनः डाल देता है”, ऐसी नैयायिकोंकी श्रद्धा है । उनके सम्बोधनेके लिये निरंजनपनेका वर्णन किया कि भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मरूप अंजनका संसर्ग सिद्धोंके कभी नहीं होता । इसीलिये सिद्धोंको निरंजन ऐसा विशेषण कहा है । अब सांख्यमती कहते हैं—“जैसे सोनेकी अवस्थामें सोते हुए पुरुषको बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही मुक्तजीवोंको बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता है ।” ऐसे जो सिद्धदशामें ज्ञानका अभाव मानते हैं, उनके प्रतिबोध करनेके लिये तीन जगत तीनकालवर्ती सब पदार्थोंका एक समयमें ही जानना है, अर्थात् जिसमें समस्त लोकालोकके जाननेकी शक्ति है, ऐसे ज्ञायकरूप केवलज्ञानके स्थापन करनेके लिये सिद्धोंका ज्ञानमय विशेषण किया । वे भगवान् नित्य हैं, निरंजन हैं, और ज्ञानमय हैं, ऐसे सिद्धपरमात्माओंको नमस्कार करके ग्रंथका व्याख्यान करता हूँ । यह नमस्कार शब्दरूप वचन द्रव्यनमस्कार असद्भूत व्यवहारनयसे है और केवलज्ञानादि अनन्त गुणस्मरणरूप भावनमस्कार अशुद्ध निश्चयनयसे कहा जाता है । यह द्रव्य-भावरूप नमस्कार व्यवहारनयकर साधक-दशामें कहा है, शुद्ध निश्चयनयकर बंध-वन्दक भाव नहीं है । ऐसे पदखंडनारूप शब्दार्थ कहा और नयविभागरूप कथनकर नयार्थ भी कहा, तथा बौद्ध, नैयायिक, सांख्यादि मतके कथन करनेसे मतार्थ कहा, इस प्रकार अनन्तगुणात्मक सिद्धपरमेष्ठी संसारसे मुक्त हुए हैं, यह सिद्धांतका अर्थ प्रसिद्ध ही है, और निरंजन ज्ञानमयी परमात्म-द्रव्य आदरने योग्य है, उपादेय है, यह भावार्थ है, इसी तरह शब्द नय, मत, आगम, भावार्थ,

अथ संसारसमुद्रोत्तरणोपायभूतं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिपोतं समारुह्य ये शिवमयनिरुपम-
ज्ञानमया भविष्यन्त्यग्रे तानहं नमस्करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा ग्रन्थकारः सूत्रमाह, इत्यनेन
क्रमेण पातनिकास्वरूपं सर्वत्र ज्ञातव्यम्—

ते वंदउँ सिरि-सिद्ध-गण होसहिँ जे वि अणंत ।

सिवमय-णिरुपम-णाणमय परम-समाहि भजंत ॥ २ ॥

तान् वन्दे श्रीसिद्धगणान् भविष्यन्ति येऽपि अनन्ताः ।

शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः परमसमाधिं भजन्तः ॥ २ ॥

ते वंदउँ तान् वन्दे । तान् कान् । सिरिसिद्धगण श्रीसिद्धगणान् । ये किं करिष्यन्ति ।
होसहिँ जे वि अणंत भविष्यन्त्यग्रे येऽप्यनन्ताः । कथंभूता भविष्यन्ति । सिवमयणि-
रुपमणाणमय शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः, किं भजन्तः सन्तः इत्थंभूता भविष्यन्ति । परम-
समाहि भजंत रागादिविकल्परहितसमार्धिं भजन्तः सेवमानाः इतो विशेषः । तथाहि—तान्
सिद्धगणान् कर्मतापन्नान् अहं वन्दे । कथंभूतान् । केवलज्ञानादिमोक्षलक्ष्मीसहितान् सम्यक्त्वा-
द्यष्टगुणविभूतिसहितान् अनन्तान् । किं करिष्यन्ति । ये वीतरागसर्वज्ञमणीतमार्गेण दुर्लभबोधिं
लब्ध्वा भविष्यन्त्यग्रे श्रेणिकादयः । किंविशिष्टा भविष्यन्ति । शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः । अत्र
शिवशब्देन स्वशुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमानन्दसुखं ग्राह्यं, निरुपमशब्देन समस्तोपमानरहितं
ग्राह्यं, ज्ञानशब्देन केवलज्ञानं ग्राह्यम् । किं कुर्वाणाः सन्त इत्थंभूताः भविष्यन्ति । विशुद्धज्ञान-
दर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपामूल्यरत्नत्रयभारपूर्णं मिथ्यात्वविषय-

व्याख्यानके अवसर पर सब जगह जान लेना ॥१॥

अब संसारसमुद्रके तरनेका उपाय जो वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप जहाज है, उसपर
चढ़कर जो आगामी कालमें कल्याणमय अनुपम ज्ञानमयी होंगे, उनको मैं नमस्कार करता
हूँ—[‘अहं’] मैं [तान्] उन [सिद्धगणान्] सिद्धसमूहोंको [वन्दे] नमस्कार करता हूँ, [येऽपि] जो
[अनन्ताः] आगामीकालमें अनंत [भविष्यन्ति] होंगे । कैसे होंगे ? [शिवमयनिरुपमज्ञानमया]
परमकल्याणमय, अनुपम और ज्ञानमय होंगे । क्या करते हुए ? [परमसमार्धि] रागादि विकल्प
रहित जो परमसमाधि उसको [भजन्तः] सेवते हुए । अब विशेष कहते हैं—जो सिद्ध होवेंगे, उनको
मैं वन्दता हूँ । कैसे होंगे ? आगामी कालमें सिद्ध, केवलज्ञानादि मोक्षलक्ष्मी सहित और सम्यक्त्वादि
आठ गुणों सहित अनंत होंगे । क्या करके सिद्ध होंगे ? वीतराग सर्वज्ञदेवकर प्ररूपित मार्गकर
दुर्लभ ज्ञानको पाकर राजा श्रेणिक आदिकके जीव सिद्ध होंगे । पुनः कैसे होंगे ? शिव अर्थात् निज
शुद्धात्माकी भावना, उसकर उपजा जो वीतराग परमानंद सुख, उस स्वरूप होंगे, समस्त उपमा
रहित अनुपम होंगे, और केवलज्ञानमयी होंगे । क्या करते हुए ऐसे होंगे ? निर्मल ज्ञान
दर्शनस्वभाव जो शुद्धात्मा है, उसके यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अमूल्य रत्नत्रयकर पूर्ण
और मिथ्यात्व विषय कषायादिरूप समस्त विभावरूप जलके प्रवेशसे रहित शुद्धात्माकी भावनासे

कषायादिरूपसमस्तविभावजलप्रवेशरहितं शुद्धात्मभावनोत्थसहजानन्दैकरूपसुखामृतविपरीत-
नरकादिदुःखरूपेण क्षारजलेन पूर्णस्य संसारसमुद्रस्य तरणोपायभूतं समाधिपोतं भजन्तः सेव-
मानास्तदाधारेण गच्छन्त इत्यर्थः । अत्र शिवमयनिरूपमज्ञानमयशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति
भावार्थः ॥ २ ॥

अथानन्तरं परमसमाध्यग्निना कर्मेन्धनहोमं कुर्वाणान् वर्तमानान् सिद्धानहं नमस्करोमि—

ते ह्रँ वंदँ सिद्धगण अच्छहिँ जे बि हवंत ।

परम-समाहि-महग्गियएँ कर्मिधणहँ हुणंत ॥ ३ ॥

तान् अहं वन्दे सिद्धगणान् तिष्ठन्ति येऽपि भवन्तः ।

परमसमाधिमहाग्निना कर्मेन्धनानि जुह्वतः ॥ ३ ॥

ते ह्रँ वंदँ सिद्धगण तानहं सिद्धगणान् वन्दे । ये कथंभूताः । अत्थ(च्छ) हिँ
जे बि हवंत इदानीं तिष्ठन्ति ये भवन्तः सन्तः । किं कुर्वाणास्तिष्ठन्ति । परमसमाहिमह-
ग्गियएँ कर्मिधणहँ हुणंत परमसमाध्यग्निना कर्मेन्धनानि होमयन्तः । अतो विशेषः ।
तद्यथा—तान् सिद्धसमूहानहं वन्दे वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानलक्षणपारमार्थिकसिद्धभक्त्या
नमस्करोमि । ये किंविशिष्टाः । इदानीं पञ्चमहाविदेहेषु भवन्तस्तिष्ठन्ति श्रीसीमन्धरस्वामि-
प्रभृतयः । किं कुर्वन्तस्तिष्ठन्ति । वीतरागपरमसामायिकभावनाविनाभूतनिर्दोषपरमात्मसम्यक्-
श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिवैश्वानरे कर्मेन्धनाहुतिभिः कृत्वा होमं
कुर्वन्त इति । अत्र शुद्धात्मद्रव्यस्योपादेयभूतस्य प्राप्त्युपायभूतत्वान्निर्विकल्पसमाधिरेवोपादेय

उत्पन्न हुआ जो सहजानन्दरूप सुखामृत, उससे विपरीत जो नारकादि दुःख वे ही हुए क्षारजल,
उनकर पूर्ण इस संसाररूपी समुद्रके तरनेका उपाय जो परमसमाधिरूप जहाज उसको सेवते हुए,
उसके आधारसे चलते हुए, अनन्त सिद्ध होंगे । इस व्याख्यानका यह भावार्थ हुआ कि जो शिवमय
अनुपम ज्ञानमय शुद्धात्मस्वरूप है वही उपादेय है ॥२॥

आगे परमसमाधिरूप अग्निसे कर्मरूप ईंधनका होम करते हुए वर्तमानकालमें महाविदेहक्षेत्रमें
सीमन्धरस्वामी आदि तिष्ठते हैं, उनको नमस्कार करता हूँ—[अहं] मैं [तान्] उन [सिद्धगणान्]
सिद्ध समूहोंको [वन्दे] नमस्कार करता हूँ [येऽपि] जो [भवन्तः तिष्ठन्ति] वर्तमान समयमें विराज
रहे हैं । क्या करते हुये ? [परमसमाधिमहाग्निना] परमसमाधिरूप महा अग्निकर [कर्मेन्धनानि]
कर्मरूप ईंधनको [जुह्वन्तः] भस्म करते हुए । अब विशेष व्याख्यान है—उन सिद्धोंको मैं वीतराग
निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूप परमार्थ सिद्धभक्तिकर नमस्कार करता हूँ । कैसे हैं वे ? अब
वर्तमान समयमें पंच महाविदेहक्षेत्रोंमें श्रीसीमन्धरस्वामी आदि विराजमान हैं । क्या करते हुए ?
वीतराग परमसामायिकचारित्रकी भावनाकर संयुक्त जो निर्दोष परमात्माका यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-
आचरणरूप अभेद रत्नत्रय उस मई निर्विकल्पसमाधिरूपी अग्निमें कर्मरूप ईंधनको होम करते हुए
तिष्ठ रहे हैं । इस कथनमें शुद्धात्मद्रव्यकी प्राप्तिका उपायभूत निर्विकल्प समाधि उपादेय (आदरने
योग्य) है, यह भावार्थ हुआ ॥३॥

इति भावार्थः ॥ ३ ॥

अथ स्वरूपं प्राप्यापि तेन संबन्धादनुज्ञानबलेन ये सिद्धा भूत्वा निर्वाणे वसन्ति तानहं वन्दे—

ते पुणु बंदउँ सिद्ध-गण जे णिब्बाणि वसंति ।

णाणि तिहुयणि गरुया वि भव-सायरि ण पडंति ॥ ४ ॥

तान् पुनः वन्दे सिद्धगणान् ये निर्वाणे वसन्ति ।

ज्ञानेन त्रिभुवने गुरुका अपि भवसागरे न पतन्ति ॥ ४ ॥

ते पुणु बंदउँ सिद्धगण तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् । किंविशिष्टान् । जे णिब्बाणि वसंति ये निर्वाणे मोक्षपदे वसन्ति तिष्ठन्ति । पुनरपि कथंभूता ये । णाणि तिहुयणि गरुया वि भवसायरि ण पडंति ज्ञानेन त्रिभुवनगुरुका अपि भवसागरे न पतन्ति । अत ऊर्ध्वं विशेषः । तथाहि—तान् पुनर्वन्देऽहं सिद्धगणान् ये तीर्थकरपरमदेवभरतराघवपाण्ड-वाद्यः पूर्वकाले वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धात्मस्वरूपं प्राप्य कर्मक्षयं कृत्वेदानीं निर्वाणे तिष्ठन्ति सदापि न संशयः । तानपि कथंभूतान् । लोकालोकप्रकाशकेवलज्ञानस्वसंवेदन-त्रिभुवनगुरुन् । त्रैलोक्यालोकनपरमात्मस्वरूपनिश्चयव्यवहारपदपदार्थव्यवहारनयकेवलज्ञानप्रका-शेन समाहितस्वस्वरूपभूते निर्वाणपदे तिष्ठन्ति यतः ततस्तन्निर्वाणपदमुपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ ४ ॥

अत ऊर्ध्वं व्यवहारनिश्चयशुद्धात्मनो हि सिद्धास्तथापि निश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपे तिष्ठन्तीति कथयति—

ते पुणु बंदउँ सिद्ध-गण जे अप्पाणि वसंत ।

लोयालोउ वि सयलु इहु अच्छहि विमलु णियंत ॥ ५ ॥

आगे जो महामुनि होकर शुद्धात्मस्वरूपको पाकर सम्यग्ज्ञानके बलसे कर्मोंका क्षयकर सिद्ध हुए निर्वाणमें बस रहे हैं, उनको मैं वन्दता हूँ—[पुनः] फिर [‘अहं’] मैं [तान्] उन [सिद्धगणान्] सिद्धोंको [वन्दे] वन्दता हूँ, [ये] जो [निर्वाणे] मोक्षमें [वसन्ति] तिष्ठ रहे हैं । कैसे हैं वे ? [ज्ञानेन] जानसे [त्रिभुवने गुरुका अपि] तीनलोकमें गुरु हैं, तो भी [भवसागरे] संसार-समुद्रमें [न पतन्ति] नहीं पडते हैं ॥ भावार्थ—जो भारी होता है, वह गुरुतर होता है, और जलमें डूब जाता है, वे भगवान् त्रैलोक्यमें गुरु हैं, परंतु भव-सागरमें नहीं पडते हैं । उन सिद्धोंको मैं वन्दता हूँ, जो तीर्थकर परमदेव, तथा भरत, सगर, राघव, पांडवादिक पूर्वकालमें वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके बलसे निजशुद्धात्मस्वरूप पाकर, कर्मोंका क्षयकर, परम-समाधानरूप निर्वाण-पदमें विराज रहे हैं उनको मेरा नमस्कार होवे यह सारांश हुआ ॥४॥

आगे यद्यपि वे सिद्ध परमात्मा व्यवहारनयकर लोकालोकको देखते हुए मोक्षमें तिष्ठ रहे हैं,

तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् ये आत्मनि वसन्तः ।

लोकालोकमपि सकलं इह तिष्ठन्ति विमलं पश्यन्तः ॥ ५ ॥

ते पुणु बंदउं सिद्धगण तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् । जे अप्पाणि वसंत लोपा-
लोउ वि सयलु इहु अत्थ (च्छ) हिं विमलु णियंत ये आत्मनि वसन्तो लोकालोकं
सततस्वरूपपदार्थं निश्चयन्त^१इति । इदानीं विशेषः । तद्यथा—तान् पुनरहं वन्दे सिद्धगणान्
सिद्धसमूहान् वन्दे कर्मक्षयनिमित्तम् । पुनरपि कथंभूतं सिद्धस्वरूपम् । चैतन्यानन्दस्वभावं
लोकालोकव्यापिषूक्ष्मपर्यायशुद्धस्वरूपं ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणम् । निश्चय एकीभूतव्यवहाराभावे
स्वात्मनि अपि च सुखदुःखभावाभावयोरेकीकृत्य स्वसंवेद्यस्वरूपे स्वयत्ने तिष्ठन्ति । उपचरिता-
सद्भूतव्यवहारे लोकालोकावलोकनं स्वसंवेद्यं प्रतिभाति, आत्मस्वरूपकैवल्यज्ञानोपशमं यथा
पुरुषार्थपदार्थदृष्टो भवति तेषां बाह्यवृत्तिनिमित्तमुत्पत्तिस्थूलसूक्ष्मपरपदार्थव्यवहारात्मानमेव
जानन्ति । यदि निश्चयेन तिष्ठन्ति तर्हि परकीयसुखदुःखपरिज्ञाने सुखदुःखानुभवं प्राप्नोति,
परकीयरागद्वेषहेतुपरिज्ञाने च रागद्वेषमयत्वं च प्राप्नोतीति महद्दूषणम् । अत्र यत् निश्चयेन
स्वस्वरूपेऽवस्थानं भणितं तदेवोपादेयमिति भावार्थः ॥ ५ ॥

अथ निष्कलात्मानं सिद्धपरमेष्ठिनं नत्वेदानीं तस्य सिद्धस्वरूपस्य तत्प्राप्त्युपायस्य च
प्रतिपादकं सकलात्मानं नमस्करोमि—

केवल-दंसण-णाणमय केवल-सुक्ख-सहाव ।

जिणवर वंदउं भत्तिअए जेहिं पयासिय भाव ॥ ६ ॥

लोकके शिखर ऊपर विराजते हैं, तो भी शुद्ध निश्चयकर अपने स्वरूपमें ही स्थित है, उनको
में नमस्कार करता हूँ—[‘अहं’] में [पुनः] फिर [तान्] उन [सिद्धगणान्] सिद्धोंके समूहको
[वन्दे] वंदता हूँ [ये] जो [आत्मनि वसन्तः] निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें तिष्ठते हुए
व्यवहारनयकर [सकलं] समस्त [लोकालोकं] लोक अलोकको [विमलं] संशय रहित
[पश्यन्तः] प्रत्यक्ष देखते हुए [तिष्ठन्ति] ठहर रहे हैं ॥ भावार्थ—मैं कर्मोंके क्षयके निमित्त फिर
उन सिद्धोंको नमस्कार करता हूँ, जो निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें स्थित है, और व्यवहारनयकर
सब लोकालोकको निसंदेहपनेसे प्रत्यक्ष देखते हैं, परंतु पदार्थोंमें तन्मयी नहीं हैं, अपने स्वरूपमें
तन्मयी है । यदि परपदार्थोंमें तन्मयी हो, तो परके सुख दुःखसे आप सुखी दुःखी होवे, ऐसा उनमें
कदाचित् नहीं है । व्यवहारनयकर स्थूलसूक्ष्म सबको केवलज्ञानकर प्रत्यक्ष निःसंदेह जानते हैं,
किसी पदार्थसे राग द्वेष नहीं है । यदि रागके हेतुसे किसीको जाने, तो वे राग द्वेषमयी होवें, यह
बड़ा दूषण है, इसलिये यह निश्चय हुआ कि निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें निवास करते हैं परमें
नहीं, और अपनी ज्ञायकशक्तिकर सबको प्रत्यक्ष देखते हैं, जानते हैं । जो निश्चयकर अपने
स्वरूपमें निवास कहा, इसलिये वह अपना स्वरूप ही आराधने योग्य है, यह भावार्थ हुआ ॥५॥

केवलदर्शनज्ञानमयान् केवलसुखस्वभावान् ।

जिनवरान् वन्दे भक्त्या यैः प्रकाशिता भावाः ॥ ६ ॥

केवलदर्शनज्ञानमयाः केवलसुखस्वभावा ये तान् जिनवरानहं वन्दे । कया । भक्त्या । यैः किं कृतम् । प्रकाशिता भावा जीवाजीवादिपदार्था इति । इतो विशेषः । केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकं सुखदुःखजीवितमरणलाभालाभशत्रुमित्रसमानभावनाविनाभूतवीतरागनिर्विकल्पसमाधिपूर्वं जिनोपदेशं लब्ध्वा पश्चादनन्तचतुष्टयस्वरूपा जाता ये । पुनश्च किं कृतम् । यैः अनुवादरूपेण जीवादिपदार्थाः प्रकाशिताः । विशेषेण तु कर्माभावे सति केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपलाभात्मको मोक्षः, शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्गश्च, तानहं वन्दे । अत्रार्हद्गुणस्वरूपस्वशुद्धात्मस्वरूपमेवोपादेयमिति भावार्थः ॥ ६ ॥

अथानन्तरं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकानाचार्योपाध्यायसाधून्ममस्करोमि—

जे परमप्पु णियंति मुणि परम-समाहि धरेवि ।

परमाणंदह कारणिण तिणिण वि ते वि णवेवि ॥ ७ ॥

ये परमात्मानं पश्यन्ति मुनयः परमसमाधिं धृत्वा ।

परमानन्दस्य कारणेन त्रीनपि तानपि नत्वा ॥ ७ ॥

जे परमप्पु णियंति मुणि ये केचन परमात्मानं निर्गच्छन्ति स्वसंवेदनज्ञानेन जानन्ति मुनयस्तपोधनाः । किं कृत्वा पूर्वम् । परमसमाहि धरेवि रागादिविकल्परहितं परमसमाधिं धृत्वा । केन कारणेन । परमाणंदह कारणिण निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसदानन्दपरमसम-

आगे निरंजन, निराकार, निःशरीर सिद्धपरमेष्ठीको नमस्कार करता हूँ—[केवलदर्शन-ज्ञानमयाः] जो केवलदर्शन और केवलज्ञानमयी है, [केवलसुखस्वभावाः] तथा जिनका केवलसुख ही स्वभाव है और [यैः] जिन्होंने [भावाः] जीवादिक सकल पदार्थ [प्रकाशिताः] प्रकाशित किये, उनको मैं [भक्त्या] भक्तिसे [वंदे] नमस्कार करता हूँ ॥ भावार्थ—केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयस्वरूप जो परमात्मतत्त्व है, उसके यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव, इन स्वरूप अभेदरत्नत्रय वह जिनका स्वभाव है, और सुखदुःख, जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, सबमें समान भाव होनेसे उत्पन्न हुई वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधि उसके कहनेवाले जिनराजके उपदेशको पाकर अनंतचतुष्टयरूप हुए, तथा जिन्होंने यथार्थ जीवादि पदार्थोंका स्वरूप प्रकाशित किया तथा जो कर्मका अभाव है वह वही केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप मोक्ष और जो शुद्धात्माका यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेदरत्नत्रय वही हुआ मोक्षमार्ग ऐसे मोक्ष और मोक्षमार्गको भी प्रगट किया, उनको मैं नमस्कार करता हूँ । इस व्याख्यानमें अरहंतदेवके केवलज्ञानादि गुणस्वरूप जो शुद्धात्मस्वरूप है, वही आराधने योग्य है, यह भावार्थ जानना ॥६॥

आगे भेदाभेदरत्नत्रयके आराधक जो आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं, उनको मैं नमस्कार

रसीभावसुखरसास्वादनिमित्तेन तिष्ठिणि वि ते वि णवेचि त्रीनप्याचार्योपाध्यायसाधून् नत्वा नमस्कृत्येत्यर्थः । अतो विशेषः । अनुपचरितासद्भूतव्यवहारसंबन्धः द्रव्यकर्मनोकर्मरहितं तथैवाशुद्धनिश्चयसंबन्धः मतिज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायरहितं च यच्चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मतत्त्वं तदेव भूतार्थं परमार्थरूपसमयसारशब्दवाच्यं सर्वप्रकारोपादेयभूतं तस्माच्च यदन्यत्तद्वेयमिति । चलमलिनावगाढरहितत्वेन निश्चयश्रद्धानबुद्धिः सम्यक्त्वं तत्राचरणं परिणमनं दर्शनाचारस्तत्रैव संशयविपर्यासानध्यवसायरहितत्वेन स्वसंवेदनज्ञानरूपेण ग्राहकबुद्धिः सम्यग्ज्ञानं तत्राचरणं परिणमनं ज्ञानाचारः, तत्रैव शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वेन नित्यानन्दमयसुखरसास्वादस्थिरानुभवनं च सम्यक्चारित्र्यं तत्राचरणं परिणमनं चारित्राचारः, तत्रैव परद्रव्येच्छानिरोधेन सहजानन्दैकरूपेण प्रतपनं तपश्चरणं तत्राचरणं परिणमनं तपश्चरणाचारः, तत्रैव शुद्धात्मस्वरूपे स्वशक्त्यनवगूहनेनाचरणं परिणमनं वीर्याचार इति निश्चयपञ्चाचाराः । निःशङ्काद्यष्टगुणभेदो बाह्यदर्शनाचारः, कालविनयाद्यष्टभेदो बाह्यज्ञानाचारः, पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिनिर्ग्रन्थरूपो बाह्यचारित्राचारः, अनशनादिद्वादशभेदरूपो बाह्यतपश्चरणाचारः, बाह्यस्वशक्त्यनवगूहनरूपो

करता हूँ—[ये मुनयः] जो मुनि [परमसमार्धि] परमसमाधिको [धृत्वा] धारण करके सम्यग्ज्ञानकर [परमात्मानं] परमात्माको [पश्यन्ति] देखते हैं । किसलिए ? [परमानन्दस्य कारणेन] रागादि विकल्प रहित परमसमाधिसे उत्पन्न हुए परम सुखके रसका अनुभव करनेके लिये [तान् अपि] उन [त्रीन् अपि] तीनों आचार्य, उपाध्याय, साधुओंको भी [नत्वा] मैं नमस्कार करके परमात्मप्रकाशका व्याख्यान करता हूँ । भावार्थ—अनुपचरित अर्थात् जो उपचरित नहीं है, इसीसे अनादि संबंध हैं, परंतु असद्भूत (मिथ्या) है, ऐसा व्यवहारनयकर द्रव्यकर्म, नोकर्मका संबंध होता है, उससे रहित और अशुद्ध निश्चयनयकर रागादिका संबंध है, उससे तथा मतिज्ञानादि विभावगुणके संबंधसे रहित और नर नारकादि चतुर्गतिरूप विभावपर्यायोसे रहित ऐसा जो चिदानन्दचिद्रूप एक अखंडस्वभाव शुद्धात्मतत्त्व है वही सत्य है । उसीको परमार्थरूप समयसार कहना चाहिये । वही सब प्रकार आराधने योग्य है । उससे जुदी जो परवस्तु है वह सब त्याज्य है । ऐसी दृढ प्रतीति चंचलता रहित निर्मल अवगाढ परम श्रद्धा है उसको सम्यक्त्व कहते हैं, उसका जो आचरण अर्थात् उस स्वरूप परिणमन वह दर्शनाचार कहा जाता है और उसी निजस्वरूपमें संशय-विमोह-विभ्रम-रहित जो स्वसंवेदनज्ञानरूप ग्राहकबुद्धि वह सम्यग्ज्ञान हुआ, उसका जो आचरण अर्थात् उसरूप परिणमन वह ज्ञानाचार है, उसी शुद्ध स्वरूपमें शुभ-अशुभ समस्त संकल्प विकल्प रहित जो नित्यानन्दमय निजरसका आस्वाद, निश्चल अनुभव, वह सम्यक्चारित्र्य है, उसका जो आचरण, उसरूप परिणमन, वह चारित्राचार है, उसी परमानन्द स्वरूपमें परद्रव्यकी इच्छाका निरोधकर सहज आनंदरूप तपश्चरणस्वरूप परिणमन वह तपश्चरणाचार है और उसी शुद्धात्मस्वरूपमें अपनी शक्तिको प्रकटकर आचरण परिणमन वह वीर्याचार है । यह निश्चय पंचाचारका लक्षण कहा । अब व्यवहारका लक्षण कहते हैं—निःशक्तिको आदि लेकर अष्ट अंगरूप बाह्यदर्शनाचार, शब्द शुद्ध, अर्थ शुद्ध आदि अष्ट

बाह्यवीर्याचार इति । अयं तु व्यवहारपञ्चाचारः पारंपर्येण साधक इति । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव-
शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानबहिर्द्रव्येच्छानिवृत्तिरूपं तपश्चरणं स्वशक्त्यनवगूहनवीर्यरूपा-
भेदपञ्चाचाररूपात्मकं शुद्धोपयोगभावनान्तर्भूतं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिं स्वयमाचरन्त्यन्याना-
चारयन्तीति भवन्त्याचार्यास्तानहं वन्दे । पञ्चास्तिकायषट्द्रव्यसप्ततत्त्वत्रयनवपदार्थेषु मध्ये शुद्ध-
जीवास्तिकायशुद्धजीवद्रव्यशुद्धजीवतत्त्वशुद्धजीवपदार्थसंज्ञं स्वशुद्धात्मभावमुपादेयं तस्माच्चान्यद्वेयं
कथयन्ति, शुद्धात्मस्वभावसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदत्रययात्मकं निश्चयमोक्षमार्गं च ये
कथयन्ति ते भवन्त्युपाध्यायास्तानहं वन्दे । शुद्धबुद्धैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानु-
चरणतपश्चरणरूपाभेदचतुर्विधनिश्चयाराधनात्मकवीतरागनिर्विकल्पसमाधिं ये साधयन्ति ते
भवन्ति साधवस्तानहं वन्दे । अत्रायमेव ते समाचरन्ति कथयन्ति साधयन्ति च वीतरागनिर्वि-
कल्पसमाधिं तमेवोपादेयभूतस्य स्वशुद्धात्मतत्त्वस्य साधकत्वादुपादेयं जानीहीति भावार्थः
॥ ७ ॥ इति प्रभाकरभट्टस्य पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारकरणमुख्यत्वेन प्रथममहाधिकारमध्ये दोहक-
सूत्रसप्तकं गतम् ।

प्रकार बाह्य ज्ञानाचार, पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्तिरूप व्यवहार चारित्राचार, अनशनादि
बारह तपस्वरूप तपाचार और अपनी शक्ति प्रगटकर मुनिव्रतका आचरण यह व्यवहारवीर्याचार है । यह
व्यवहार पंचाचार परम्पराय मोक्षका कारण है, और निर्मल ज्ञान-दर्शनस्वभाव जो शुद्धात्मतत्त्व
उसका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान, आचरण तथा परद्रव्यकी इच्छाका निरोध और निजशक्तिका प्रगट
करना ऐसा यह निश्चय पंचाचार साक्षात् मुक्तिका कारण है । ऐसे निश्चय व्यवहाररूप पंचाचारोंको
जो आप आचरें और दूसरोंको आचरवावें ऐसे आचार्योंको मैं वंदता हूँ । पञ्चास्तिकाय, षट् द्रव्य,
सप्त तत्त्व, नवपदार्थ हैं, उनमें निज शुद्ध जीवास्तिकाय, निजशुद्ध जीवद्रव्य, निज शुद्ध
जीवतत्त्व, निज शुद्ध जीवपदार्थ, जो आप शुद्धात्मा है, वही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है,
अन्य सब त्यागने योग्य हैं, ऐसा उपदेश करते हैं, तथा शुद्धात्मस्वभावका सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-
आचरणरूप अभेद रत्नत्रय है, यही निश्चयमोक्षमार्ग है, ऐसा उपदेश शिष्योंको देते हैं, ऐसे
उपाध्यायोंको मैं नमस्कार करता हूँ, और शुद्धज्ञान स्वभाव शुद्धात्मतत्त्वकी आराधनारूप
वीतराग^१ निर्विकल्प समाधिको जो साधते हैं, उन साधुओंको मैं वंदता हूँ । वीतराग^१ निर्विकल्प
समाधिको जो आचरते हैं, कहते हैं, साधते हैं वे ही साधु है । अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय,
साधु, ये ही पंचपरमेष्ठी वंदने योग्य हैं, ऐसा भावार्थ है ॥७॥ ऐसे पंचपरमेष्ठीको नमस्कार
करनेकी मुख्यतासे श्रीयोगीन्द्राचार्यने परमात्मप्रकाशके प्रथम महाधिकारमें प्रथमस्थलमें सात दोहोंसे
प्रभाकरभट्ट नामक अपने शिष्यको पंचपरमेष्ठीकी भक्तिका उपदेश दिया । इति पीठिका ।

अब प्रभाकरभट्ट पूर्वीरतिसे पंचपरमेष्ठीको नमस्कारकर और श्रीयोगीन्द्रदेव गुरुको

१. वे पाँचों परमेष्ठी भी जिस वीतरागनिर्विकल्पसमाधिको आचरते हैं, कहते हैं और साधते हैं; तथा जो
उपादेयरूप निजशुद्धात्मतत्त्वकी साधनेवाली है, ऐसी निर्विकल्प समाधिको ही उपादेय जानो । (यह अर्थ संस्कृतके

अथ प्रभाकरभट्टः पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चपरमेष्ठिनो नत्वा पुनरिदानीं श्रीयोगीन्द्रदेवान्
विज्ञापयति—

भाविं पणविधि पञ्चगुरु सिरि-जोइंदु-जिणाउ ।

भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ ॥ ८ ॥

भावेन प्रणम्य पञ्चगुरुन् श्रीयोगीन्द्रजिनः ।

भट्टप्रभाकरेण विज्ञापितः विमलं कृत्वा भावम् ॥ ८ ॥

भाविं पणविधि पञ्चगुरु भावेन भावशुद्ध्या प्रणम्य । कान् । पञ्चगुरुन् । पश्चात्किं
कृतम् । सिरिजोइंदुजिणाउ भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ श्री-
योगीन्द्रदेवनामा भगवान् प्रभाकरभट्टेन कर्तृभूतेन विज्ञापितः विमलं कृत्वा भावं परिणाम-
मिति । अत्र प्रभाकरभट्टः शुद्धात्मतत्त्वपरिज्ञानार्थं श्रीयोगीन्द्रदेवं भक्तिप्रकर्षेण विज्ञापितवा-
नित्यर्थः ॥ ८ ॥

तद्यथा—

गउ संसारि वसंताहं सामिय कालु अणंतु ।

पर मइं किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु मइंतु ॥ ९ ॥

गतः संसारे वसतां स्वामिन् कालः अनन्तः ।

परं मया किमपि न प्राप्तं सुखं दुःखमेव प्राप्तं महत् ॥ ९ ॥

गउ संसारि वसंताहं सामिय कालु अणंतु गतः संसारे वसतां तिष्ठतां हे स्वामिन् ।
कोऽसौ । कालः । कियान् । अनन्तः । पर मइं किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु
मइंतु परं किंतु मया किमपि न प्राप्तं सुखं दुःखमेव प्राप्तं महदिति । इतो विस्तरः । तथाहि—
स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दसमरसीभावरूपसुखामृतविपरीतनारकादिदुःखरूपेण
क्षारनीरेण पूर्णे अजरामरपदविपरीतजातिजरामरणरूपेण मकरादिजलचरसमूहेन संकीर्णे अना-
नमस्कारकर श्रीगुरुसे विनती करता है—[भावेन] भावोंकी शुद्धताकर [पञ्चगुरुन्] पंच-
परमेष्ठियोंको [प्रणम्य] नमस्कारकर [भट्टप्रभाकरेण] प्रभाकरभट्ट [भावं विमलं कृत्वा] अपने
परिणामोंको निर्मल करके [श्री योगीन्द्रजिनः] श्रीयोगीन्द्रदेवसे [विज्ञापितः] शुद्धात्मतत्त्वके
जाननेके लिये महाभक्तिकर विनती करते हैं ॥८॥

वह विनती इस तरह है—[हे स्वामिन्] हे स्वामी, [संसारे वसतां] इस संसारमें रहते हुए हमारा
[अनंतः कालः गतः] अनंतकाल बीत गया, [परं] लेकिन [मया] मैंने [किमपि सुखं] कुछ भी सुख
[न प्राप्तं] नहीं पाया, उल्टा [महत् दुःखं एव प्राप्तं] महान् दुःख ही पाया है ॥ भावार्थ—निज
शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परम आनंद समरसीभाव है, उस रूप जो
आनंदामृत उससे विपरीत नरकादिदुःखरूप क्षार (खारी) जलसे पूर्ण (भरा हुआ), अजर अमर
पदसे उलटा जन्म जरा (बुढ़ापा) मरणरूपी जलचरोंके समूहसे भरा हुआ, अनाकुलता स्वरूप

कुलबलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतनानामानसादिदुःस्वरूपवडवानलशिखासंदीपिताभ्यन्तरे वीतरागनिर्विकल्पसमाधिविपरीतसंकल्पविकल्पजालरूपेण कल्लोलमालासमूहेन विराजिते संसारसागरे वसतां तिष्ठतां हे स्वामिन्ननन्तकालो गतः । कस्मात् । एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यत्वदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखव्यावर्तनक्रोधादिकषायनिवर्तनेषु परंपरया दुर्लभेषु । कथंभूतेषु । लब्धेष्वपि तपोभावनाधर्मेषु शुद्धात्मभावनाधर्मेषु शुद्धात्मभावनालक्षणस्य वीतरागनिर्विकल्पसमाधिदुर्लभत्वात् । तदपि कथम् । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबोधिप्रतिपक्षभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वादिति । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तप्रापणं बोधिस्तेषामेव निर्विघ्नेन भवान्तरप्रापणं समाधिरिति बोधिसमाधिलक्षणं यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यम् । तथा चोक्तम्—“इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् । संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरम् ॥” परं किंतु बोधिसमाध्यभावे पूर्वोक्तसंसारे भ्रमतापि मया शुद्धात्म-

निश्चय सुखसे विपरीत, अनेक प्रकार आधि व्याधि दुःखरूपी वडवानलकी शिखाकर प्रज्वलित, वीतराग निर्विकल्पसमाधिकर रहित, महान संकल्प विकल्पोके जालरूपी कल्लोलोंकी मालाओंकर विराजमान, ऐसे संसाररूपी समुद्रमें रहते हुए मुझे हे स्वामी ! अनंतकाल बीत गया । इस संसारमें एकेन्द्रियसे दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय स्वरूप विकलत्रय पर्याय पाना दुर्लभ (कठिन) है, विकलत्रयसे पंचेन्द्रिय, सैनी, छह पर्याप्तियोंकी संपूर्णता होना दुर्लभ है, उसमें भी मनुष्य होना अत्यन्त दुर्लभ, उसमें आर्यक्षेत्र दुर्लभ, उसमेंसे उत्तम कुल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण पाना कठिन है, उसमें भी सुन्दर रूप, समस्त पाँवों इन्द्रियोंकी प्रवीणता, दीर्घ आयु, बल, नीरोग शरीर, जैनधर्म इनका उत्तरोत्तर मिलना कठिन है । कभी इतनी वस्तुओंकी भी प्राप्ति हो जावे, तो भी श्रेष्ठ बुद्धि, श्रेष्ठ धर्म-श्रवण, धर्मका ग्रहण, धारण, श्रद्धान, संयम, विषय-सुखोंसे निवृत्ति, क्रोधादि कषायोंका अभाव होना अत्यंत दुर्लभ है और इन सबोंसे उत्कृष्ट शुद्धात्मभावनारूप वीतरागनिर्विकल्प समाधिका होना बहुत मुश्किल है, क्योंकि उस समाधिके शत्रु जो मिथ्यात्व, विषय, कषाय आदि विभाव परिणाम है, उनकी प्रबलता है । इसीलिये सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी प्राप्ति नहीं होती और इनका पाना ही बोधि है, उस बोधिका जो निर्विषयपनेसे धारण वही समाधि है । इस तरह बोधि समाधिका लक्षण सब जगह जानना चाहिये । इस बोधि समाधिका मुझमें अभाव है, इसीलिये संसारसमुद्रमें भटकते हुए मैंने वीतराग परमानंद सुख नहीं पाया, किंतु उस सुखसे विपरीत (उल्टा) आकुलताके उत्पन्न करनेवाला नाना प्रकारका शरीरका तथा मनका दुःख ही चारों गतियोंमें भ्रमण करते हुए पाया है । इस संसारसागरमें भ्रमण करते मनुष्य-देह आदिका पाना बहुत दुर्लभ है, परंतु उसको पाकर कभी प्रमादी (आलसी) नहीं होना चाहिये । जो प्रमादी हो जाते हैं, वे संसाररूपी वनमें अनंतकाल भटकते हैं । ऐसा ही दूसरे ग्रंथोंमें भी कहा है—“इत्यतिदुर्लभरूपा’ इत्यादि । इसका अभिप्राय ऐसा है कि यह महान् दुर्लभ जो जैनशास्त्रका ज्ञान है, उसको पाकर जो जीव प्रमादी हो जाता है, वह रंक पुरुष बहुत कालतक संसाररूपा

समाधिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दसुखामृतं किमपि न प्राप्तं किंतु तद्विपरीतमाकुलत्वोत्पादकं विविधशारीरमानसरूपं चतुर्गतिभ्रमणसंभवं दुःखमेव प्राप्तमिति । अत्र यस्य वीतरागपरमानन्द-सुखस्यालाभे भ्रमितो जीवस्तदेवोपादेयमिति भावार्थः ॥ ९ ॥

अथ यस्यैव परमात्मस्वभावस्यालाभेऽनादिकाले भ्रमितो जीवस्तमेव पृच्छति—

चउ-गइ-दुक्खहँ तत्ताहँ जो परमप्पउ कोइ ।

चउ-गइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएँ सो वि ॥ १० ॥

चतुर्गतिदुःखैः तप्तानां यः परमात्मा कश्चित् ।

चतुर्गतिदुःखविनाशकरः कथय प्रसादेन तमपि ॥ १० ॥

चउगइदुक्खहँ तत्ताहँ जो परमप्पउ कोइ चतुर्गतिदुःखतप्तानां जीवानां यः कश्चि-
च्चिदानन्दैकस्वभावः परमात्मा । पुनरपि कथंभूतः । चउगइदुक्खविणासयरु आहारभय-
मैथुनपरिग्रहसंज्ञारूपादिसमस्तविभावरहितानां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबलेन परमात्मोत्थसह-
जानन्दैकसुखामृतसंतुष्टानां चतुर्गतिदुःखविनाशकः कहहु पसाएँ सो वि हे भगवन् तमेव
परमात्मानं महाप्रसादेन कथयेति । अत्र योऽसौ परमसमाधिरतानां चतुर्गतिदुःखविनाशकः स
एव सर्वप्रकारेणोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ १० ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकार-
मध्ये प्रभाकरभट्टविज्ञप्तिकथनमुख्यत्वेन दोहकसूत्रत्रयं गतम् ।

अथ प्रभाकरभट्टविज्ञापनानन्तरं श्रीयोगीन्द्रदेवास्त्रिविधात्मानं कथयन्ति—

भयानक वनमें भटकता है । सारांश यह हुआ, कि वीतराग परमानन्द सुखके न मिलनेसे यह जीव संसाररूपी वनमें भटक रहा है, इसलिये वीतराग परमानन्दसुख ही आदर करने योग्य है ॥९॥

आगे जिस परमात्मस्वभावके अलाभमें यह जीव अनादि कालसे भटक रहा था, उसी परमात्मस्वभावका व्याख्यान प्रभाकरभट्ट सुनना चाहता है—[चतुर्गतिदुःखैः] देवगति, मनुष्यगति, नरकगति, तिर्यचगतियोंके दुःखोंसे [तप्तानां] तप्तायमान (दुःखी) संसारी जीवोंके [चतुर्गति-
दुःखविनाशकरः] चार गतियोंके दुःखोंका विनाश करनेवाले [यः कश्चित्] जो कोई [परमात्मा] चिदानन्द परमात्मा है, [तमपि] उसको [प्रसादेन] कृपा करके [कथय] हे श्रीगुरु, तुम कहो ॥
भावार्थ—वह चिदानन्द शुद्ध स्वभाव परमात्मा, आहार, भय, मैथुन, परिग्रहके भेदरूप संज्ञाओंको आदि लेकर सगस्त विभावोंसे रहित, तथा वीतराग निर्विकल्पसमाधिके बलसे निज स्वभावकर उत्पन्न हुए परमानन्द सुखामृतकर सन्तुष्ट हुआ है हृदय जिनका, ऐसे निकट संसारीजीवोंके चतुर्गतिका भ्रमण दूर करनेवाला है, जन्म जरा मरणरूप दुःखका नाशक है, तथा वह परमात्मा निज स्वरूप परमसमाधिमें लीन महामुनियोंको निर्वाणका देनेवाला है, वही सब तरह ध्यान करने योग्य है, सो ऐसे परमात्माका स्वरूप तुम्हारे प्रसादसे मैं सुनना चाहता हूँ । इसलिये कृपाकर आप कहें । इस प्रकार प्रभाकरभट्टने श्रीयोगीन्द्रदेवसे विनती की ॥१०॥

इस कथनकी मुख्यतासे तीन दोहे हुये ।

पुणु पुणु पणविचि पंच-गुरु भावे^९ चित्ति धरेवि ।

भट्टपहायर णिसुणि तुहुँ अप्पा तिविहु कहेवि (विं ?) ॥ ११ ॥

पुनः पुनः प्रणम्य पञ्चगुरून् भावेन चित्ते धृत्वा ।

भट्टप्रभाकर निश्चृणु त्वम् आत्मानं त्रिविधं कथयामि ॥ ११ ॥

पुणु पुणु पणविचि पंचगुरु भावे^९ चित्ति धरेवि पुनः पुनः प्रणम्य पञ्चगुरून्हम् ।
किं कृत्वा । भावेन भक्तिपरिणामेन मनसि धृत्वा पश्चात् भट्टपहायर णिसुणि तुहुँ अप्पा
तिविहु कहेवि हे प्रभाकरभट्ट ! निश्चयेन शृणु त्वं त्रिविधमात्मानं कथयाम्यहमिति । बहिरा-
त्मान्तरात्मपरमात्मभेदेन त्रिविधात्मा भवति । अयं त्रिविधात्मा यथा त्वया पृष्ठो हे प्रभाकर-
भट्ट तथा भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियाः परमात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दसुधारसपिपासिता
वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतविपरीतनारकादिदुःखभयभीता भव्यवरपुण्डरीका
भरत-सगर-राम-पाण्डव-श्रेणिकादयोऽपि वीतरागसर्वज्ञतीर्थकरपरमदेवानां समवसरणे सपरि-

आगे प्रभाकरभट्टकी विनती सुनकर श्रीयोगीन्द्रदेव तीन प्रकारके आत्माका स्वरूप कहते हैं—
[पुनः पुनः] बारबार [पञ्चगुरून्] पंचपरमेष्ठियोंको [प्रणम्य] नमस्कारकर और [भावेन] निर्मल
भावोंकर [चित्ते] मनमें [धृत्वा] धारण करके [‘अहं’] मैं [विविधं] तीन प्रकारके [आत्मानं]
आत्माको [कथयामि] कहता हूँ, सो [हे प्रभाकरभट्ट] हे प्रभाकरभट्ट, [त्वं] तू [निश्चृणु] निश्चयसे
सुन । भावार्थ—बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्माके भेदकर आत्मा तीन तरहका है, सो हे
प्रभाकरभट्ट ! जैसे तूने मुझसे पूछा है, उसी तरहसे भव्योंमें महाश्रेष्ठ भरतचक्रवर्ती, सगरचक्रवर्ती,
रामचंद्र, बलभद्र, पांडव तथा श्रेणिक वगैरः बड़े बड़े राजा, जिनके भक्ति-भारकर नग्रीभूत मस्तक
हो गये हैं, महा विनयवाले परिवारसहित समोसरणमें आकर, वीतराग सर्वज्ञ परमदेवसे सर्व
आगमका प्रश्नकर, उसके बाद सब तरहसे ध्यान करने योग्य शुद्धात्माका ही स्वरूप पूछते थे ।
उसके उत्तरमें भगवानने यही कहा, कि आत्मज्ञानके समान दूसरा कोई सार नहीं है । भरतादि
बड़े बड़े श्रोताओंमेंसे भरतचक्रवर्तीने श्रीकृष्णभदेव भगवानसे पूछा, सगरचक्रवर्तीने श्रीअजितनाथसे,
रामचंद्र बलभद्रने देशभूषण कुलभूषण केवलीसे तथा सकलभूषण केवलीसे, पांडवोंने
श्रीनेमिनाथभगवानसे और राजा श्रेणिकने श्रीमहावीरस्वामीसे पूछा । कैसे हैं ये श्रोता ? जिनको
निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रयकी भावना प्रिय है, परमात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग
परमानंदरूप अमृतरसके प्यासे हैं, और वीतराग निर्विकल्पसमाधिकर उत्पन्न हुआ जो सुखरूपी
अमृत उससे विपरीत जो नरकादि चारों गतियोंके दुःख, उनसे भयभीत हैं । जिस तरह इन भव्य
जीवोंने भगवंतसे पूछा, और भगवंतने तीन प्रकार आत्माका स्वरूप कहा, वैसे ही मैं जिनवाणीके
अनुसार तुझे कहता हूँ । सारांश यह हुआ, कि तीन प्रकार आत्माके स्वरूपोंसे शुद्धात्म स्वरूप जो
निज परमात्मा वही ग्रहण करने योग्य हैं । जो मोक्षका मूलकारण रत्नत्रय कहा है, वह मैंने
निश्चयव्यवहार दोनों तरहसे कहा है, उसमें अपने स्वरूपका श्रद्धान, स्वरूपका ज्ञान, और
स्वरूपका ही आचरण यह तो निश्चयरत्नत्रय है, इसीका दूसरा नाम अभेद भी है, और देव गुरु

वारा भक्तिभरनमितोत्तमाङ्गाः सन्तः सर्वागमप्रश्नानन्तरं सर्वप्रकारोपादेयं शुद्धात्मानं पृच्छन्तीति । अत्र त्रिविधात्मस्वरूपमध्ये शुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ ११ ॥

अथ त्रिविधात्मानं ज्ञात्वा बहिरात्मानं विहाय स्वसंवेदनज्ञानेन परं परमात्मानं भावयत्वमिति प्रतिपादयति—

अप्पा ति-विहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ ।

मुणि सण्णाणे णाणमउ जो परमप्प-सहाउ ॥ १२ ॥

आत्मानं त्रिविधं मत्वा लघु मूढं मुञ्च भावम् ।

मन्यस्व स्वज्ञानेन ज्ञानमयं यः परमात्मस्वभावः ॥ १२ ॥

अप्पा त्रिविहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ हे प्रभाकरभट्ट आत्मानं त्रिविधं मत्वा लघु शीघ्रं मूढं बहिरात्मस्वरूपं भावं परिणामं मुञ्च । मुणि सण्णाणे णाणमउ जो परमप्पसहाउ पश्चात् त्रिविधात्मपरिज्ञानानन्तरं मन्यस्व जानीहि । केन करणभूतेन । अन्तर्धर्मकी श्रद्धा, नवतत्त्वोंकी श्रद्धा, आगमका ज्ञान तथा संयम भाव ये व्यवहार रत्नत्रय है, इसीका नाम भेदरत्नत्रय है । इनमेंसे भेदरत्नत्रय तो साधन है और अभेदरत्नत्रय साध्य हैं ॥११॥

आगे तीन प्रकार आत्माको जानकर बहिरात्मपना छोड़ स्वसंवेदन ज्ञानकर तू परमात्माका ध्यान कर, ऐसा कहते हैं—[आत्मानं त्रिविधं मत्वा] हे प्रभाकरभट्ट, तू आत्माको तीन प्रकारका जानकर [मूढं भावं] बहिरात्म स्वरूप भावको [लघु] शीघ्र ही [मुञ्च] छोड़, और [यः] जो [परमात्मस्वभावः] परमात्माका स्वभाव है, उसे [स्वज्ञानेन] स्वसंवेदनज्ञानसे अंतरात्मा होता हुआ [मन्यस्व] जान । वह स्वभाव [ज्ञानमयः] केवलज्ञानकर परिपूर्ण है ॥ भावार्थ—जो वीतराग स्वसंवेदनकर परमात्मा जाना था, वही ध्यान करने योग्य है । यहाँ शिष्यने प्रश्न किया था, कि जो स्वसंवेदन अर्थात् अपनेकर अपनेको अनुभवना इसमें वीतराग विशेषण क्यों कहा ? क्योंकि जो स्वसंवेदन ज्ञान होवेगा, वह तो रागरहित होवेगा ही । इसका समाधान श्रीगुरुने किया—कि विषयोंके आस्वादनसे भी उन वस्तुओंके स्वरूपका जानपना होता है, परन्तु रागभावकर दूषित है, इसलिये निजरसका आस्वाद नहीं है, और वीतराग दशामें स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होता है, आकुलता रहित होता है । तथा स्वसंवेदनज्ञान प्रथम अवस्थामें चौथे पाँचवें गुणस्थानवाले गृहस्थके भी होता है, वहाँपर सराग देखनेमें आता है, इसलिये रागसहित अवस्थाके निषेधके लिये वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान ऐसा कहा है । रागभाव है, वह कषायरूप है, इस कारण जब तक मिथ्यादृष्टिके अनंतानुबंधी कषाय है, तब तक तो बहिरात्मा है, उसके तो स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात् सम्यक्ज्ञान सर्वथा ही नहीं है, व्रत और चतुर्थ गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधीके अभाव होनेसे सम्यग्ज्ञान तो हो गया, परन्तु कषायकी तीन चौकड़ी बाकी रहनेसे द्वितीयाके चन्द्रमाके समान विशेष प्रकाश नहीं होता, और श्रावकके पाँचवें गुणस्थानमें दो चौकड़ीका अभाव है, इसलिये रागभाव कुछ कम हुआ, वीतरागभाव बढ गया, इस कारण स्वसंवेदनज्ञान भी प्रबल हुआ, परन्तु दो चौकड़ीके रहनेसे मुनिके समान प्रकाश नहीं हुआ । मुनिके तीन चौकड़ीका

रात्मलक्षणवीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन । कं जानीहि । यं परमात्मस्वभावम् । किंविशिष्टम् ।
ज्ञानमयं केवलज्ञानेन निर्वृत्तमिति । अत्र योऽसौ स्वसंवेदनज्ञानेन परमात्मा ज्ञातः स एवोपादेय
इति भावार्थः । स्वसंवेदनज्ञाने वीतरागविशेषणं किमर्थमिति पूर्वपक्षः, परिहारमाह—विषया-
नुभवरूपस्वसंवेदनज्ञानं सरागमपि दृश्यते तन्निषेधार्थमित्यभिप्रायः ॥ १२ ॥

अथ त्रिविधात्मसंज्ञां बहिरात्मलक्षणं च कथयति—

मूढु वियक्खणु बंशु परु अप्पा ति-विहु हवेइ ।

देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ ॥ १३ ॥

अभाव है, इसलिये रागभाव तो निर्बल हो गया, तथा वीतरागभाव प्रबल हुआ, वहाँपर
स्वसंवेदनज्ञानका अधिक प्रकाश हुआ, परंतु चौथी चौकड़ी बाकी है, इसलिये छठे गुणस्थानवाले
मुनि सरागसंयमी हैं । वीतरागसंयमीके जैसा प्रकाश नहीं है । सातवें गुणस्थानमें चौथी चौकड़ी मंद
हो जाती है, वहाँपर आहार-विहार क्रिया नहीं होती, ध्यानमें आरूढ रहते हैं, सातवेंसे छठे
गुणस्थानमें आवें, तब वहाँपर आहारादि क्रिया है, इसी प्रकार छठ्ठा सातवाँ करते रहते हैं, वहाँपर
अंतर्मुहूर्तकाल है । आठवें गुणस्थानमें चौथी चौकड़ी अत्यन्त मंद हो जाती है, वहाँ रागभावकी
अत्यन्त क्षीणता होती है, वीतरागभाव पुष्ट होता है, स्वसंवेदनज्ञानका विशेष प्रकाश होता है,
श्रेणी मांडनेसे शुक्लध्यान उत्पन्न होता है । श्रेणीके दो भेद हैं, एक क्षपक, दूसरी उपशम ।
क्षपकश्रेणीवाले तो उसी भवसे केवलज्ञान पाकर मुक्त हो जाते हैं, और उपशमवाले आठवें नवमें
दसवेंसे ग्यारहवाँ स्पर्शकर पीछे पड़ जाते हैं, सो कुछ-एक भव भी धारण करते हैं, तथा
क्षपकवाले आठवेंसे नवमें गुणस्थानमें प्राप्त होते हैं, वहाँ कषायोंका सर्वथा नाश होता है, एक
संज्वलनलोभ रह जाता है, अन्य सबका अभाव होनेसे वीतराग भाव अति प्रबल हो जाता है,
इसलिये स्वसंवेदनज्ञानका बहुत ज्यादा प्रकाश होता है, परंतु एक संज्वलनलोभ बाकी रहनेसे वहाँ
सरागचरित्र ही कहा जाता है । दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्मलोभ भी नहीं रहता, तब मोहकी अड़ुईस
प्रकृतियोंके नष्ट हो जानेसे वीतरागचारित्रकी सिद्धि हो जाती है । दशवेंसे बारहवेंमें जाते हैं,
ग्यारहवें गुणस्थानका स्पर्श नहीं करते, वहाँ निर्मोह वीतरागीके शुक्लध्यानका दूसरा पाया (भेद)
प्रगट होता है, यथाख्यातचारित्र हो जाता है । बारहवेंके अन्तमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय
इन तीनोंका भी विनाश कर डाला, मोहका नाश पहले ही हो चुका था, तब चारों घातियाकर्मोंके
नष्ट हो जानेसे तेरहवें गुणस्थानमें केवलज्ञान प्रगट होता है, वहाँपर ही शुद्ध परमात्मा होता है,
अर्थात् उसके ज्ञानका पूर्ण प्रकाश हो जाता है, निःकषाय है । वह चौथे गुणस्थानसे लेकर बारहवें
गुणस्थानतक तो अंतरात्मा है, उसके गुणस्थान प्रति चढती हुई शुद्धता है, और पूर्ण शुद्धता
परमात्माके है, यह सारांश समझना ॥१२॥

तीन प्रकारके आत्माके भेद हैं, उनमेंसे प्रथम बहिरात्माका लक्षण कहते हैं—[मूढः] मिथ्यात्व
रागादिरूप परिणत हुआ बहिरात्मा, [विचक्षणः] वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानरूप परिणमन

मूढो विचक्षणो ब्रह्मा परः आत्मा त्रिविधो भवति ।

देहमेव आत्मानं यो मनुते स जनो मूढो भवति ॥ १३ ॥

मूढ विचक्षणं बन्धु परं अप्या त्रिविधं हवेइ मूढो मिथ्यात्वरागादिपरिणतो बहिरात्मा, विचक्षणो वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानपरिणतोऽन्तरात्मा, ब्रह्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा । शुद्धबुद्धस्वभावलक्षणं कथ्यते—शुद्धो रागादिरहितो बुद्धोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयसहित इति शुद्धबुद्धस्वभावलक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम् । स च कथंभूतः ब्रह्मा । परमो भावकर्मद्रव्यकर्मनो-कर्मरहितः । एवमात्मा त्रिविधो भवति । देहं जि अप्या जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसंजातसदानन्दैकसुखामृतस्वभावमलभमानः सन् देहमेवात्मानं यो मनुते जानाति स जनो लोको मूढात्मा भवति इति । अत्र बहिरात्मा हेयस्तदपेक्षया यद्यप्यन्तरात्मोपादेयस्तथापि सर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मापेक्षया स हेय इति तात्पर्यार्थः ॥ १३ ॥

अथ परमसमाधिस्थितः सन् देहविभिन्नं ज्ञानमयं परमात्मानं योऽसौ जानाति सोऽन्तरात्मा भवतीति निरूपयति—

देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ ।

परम-समाहि-परिद्धियउ पंडितउ सो जि हवेइ ॥ १४ ॥

देहविभिन्नं ज्ञानमयं यः परमात्मानं पश्यति ।

परमसमाधिपरिस्थितः पण्डितः स एव भवति ॥ १४ ॥

देहविभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन देहाद-

करता हुआ अंतरात्मा [ब्रह्मा परः] और शुद्ध बुद्ध स्वभाव परमात्मा अर्थात् रागादि रहित अनंत ज्ञानादि सहित, भावद्रव्य कर्म नोकर्म रहित आत्मा इस प्रकार [आत्मा] आत्मा [त्रिविधो भवति] तीन तरहका है, अर्थात् बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा, ये तीन भेद हैं । इनमेंसे [यः] जो [देहमेव] देहको ही [आत्मानं] आत्मा [मनुते] मानता है, [स जनः] वह प्राणी [मूढः] बहिरात्मा [भवति] है, अर्थात् बहिर्मुख मिथ्यादृष्टि है ॥ भावार्थ—जो देहको आत्मा समझता है, वह वीतराग निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न हुये परमानंद सुखामृतको नहीं पाता हुआ मूर्ख है, अज्ञानी है । इन तीन प्रकारके आत्माओंमेंसे बहिरात्मा तो त्याज्य ही है—आदर योग्य नहीं है । इसकी अपेक्षा यद्यपि अंतरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि वह उपादेय है, तो भी सब तरहसे उपादेय (ग्रहण करने योग्य) जो परमात्मा उसकी अपेक्षा वह अंतरात्मा हेय ही है, शुद्ध परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है, ऐसा जानना ॥१३॥

आगे परमसमाधिमें स्थित, देहसे भिन्न ज्ञानमयी (उपयोगमयी) आत्माको जो जानता है, वह अन्तरात्मा है, ऐसा कहते हैं—[यः] जो पुरुष [परमात्मानं] परमात्माको [देहविभिन्नं] शरीरसे जुदा [ज्ञानमयं] केवलज्ञानकर पूर्ण [पश्यति] जानता है, [स एव] वही [परमसमाधिपरिस्थितः] परमसमाधिमें तिष्ठता हुआ [पंडितः] अन्तरात्मा अर्थात् विवेकी [भवति] है ॥ भावार्थ—यद्यपि

भिन्नं निश्चयनयेन भिन्नं ज्ञानमयं केवलज्ञानेन निर्वृत्तं परमात्मानं योऽसौ जानाति परमसमाहि-
परिद्वियउ पंडिउ सो जि हवेइ वीतरागनिर्विकल्पसहजानन्दैकशुद्धात्मानुभूतिलक्षणपरम-
समाधिस्थितः सन् पण्डितोऽन्तरात्मा विवेकी स एव भवति । “कः पण्डितो विवेकी” इति
वचनात्, इति अन्तरात्मा हेयरूपो, योऽसौ परमात्मा भणितः स एव साक्षादुपादेय इति
भावार्थः ॥ १४ ॥

अथ समस्तपरद्रव्यं मुक्त्वा केवलज्ञानमयकर्मरहितशुद्धात्मा येन लब्धः स परमात्मा भव-
तीति कथयति—

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्मविमुक्के जेण ।

मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण ॥ १५ ॥

आत्मा लब्धो ज्ञानमयः कर्मविमुक्तेन येन ।

मुक्त्वा सकलमपि द्रव्यं परं तं परं मन्यस्व मनसा ॥ १५ ॥

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्मविमुक्के जेण आत्मा लब्धः प्राप्तः । किंविशिष्टः । ज्ञान-
मयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः । कथंभूतेन सता । ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभावकर्मरहितेन येन । किं
कृत्वात्मा लब्धः । मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण । मुक्त्वा परि-
त्यज्य । किम् । परं द्रव्यं देहरागादिकम् । सकलं कतिसंख्योपेतं समस्तमपि । तमित्थंभूत-
मात्मानं परं परमात्मानमिति मन्यस्व जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । केन कृत्वा । मायामिथ्या-
निदानशल्यत्रयस्वरूपादिसमस्तविभावपरिणामरहितेन मनसेति । अत्रोक्तलक्षणपरमात्मा उपा-
अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयसे अर्थात् इस जीवके परवस्तुका संबंध अनादिकालका मिथ्यारूप
होनेसे व्यवहारनयकर देहमयी है, तो भी निश्चयनयकर सर्वथा देहादिकसे भिन्न है, और
केवलज्ञानमयी है, ऐसा निज शुद्धात्माको वीतरागनिर्विकल्प सहजानन्द शुद्धात्माकी अनुभूतिरूप
परमसमाधिमें स्थित होता हुआ जानता है, वही विवेकी अंतरात्मा कहलाता है । यह परमात्मा ही
सर्वथा आराधने योग्य है, ऐसा जानना ॥१४॥

आगे सब परद्रव्योंको छोड़कर कर्मरहित होकर जिसने अपना स्वरूप केवलज्ञानमय पा लिया
है, वही परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—[येन] जिसने [कर्मविमुक्तेन] ज्ञानावरणादि कर्मोंका नाश
करके [सकलमपि परं द्रव्यं] और सब देहादिक परद्रव्योंको [मुक्त्वा] छोड़ करके [ज्ञानमयः]
केवलज्ञानमयी [आत्मा] आत्मा [लब्धः] पाया है, [तं] उसको [मनसा] शुद्ध मनसे [परं] परमात्मा
[मन्यस्व] जानो ॥ भावार्थ—जिसने देहादिक समस्त परद्रव्यको छोड़कर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म,
रागादिक भावकर्म, शरीरादि नोकर्म इन तीनोंसे रहित केवलज्ञानमयी अपने आत्माका लाभ कर
लिया है, ऐसे आत्माको हे प्रभाकरभट्ट, तू माया, मिथ्या, निदानरूप शल्य वगैरह समस्त विभाव
(विकार) परिणामोंसे रहित निर्मल चित्तसे परमात्मा जान, तथा केवलज्ञानादि गुणोंवाला परमात्मा
ही ध्यान करने योग्य है और ज्ञानावरणादिरूप सब परवस्तु त्यागने योग्य है, ऐसा समझना

देयो ज्ञानावरणादिसमस्तविभावरूपं परद्रव्यं तु हेयमिति भावार्थः ॥ १५ ॥ एवंविधात्मप्रति-
पादकप्रथममहाधिकारमध्ये संक्षेपेण त्रिविधात्मसूचनमुख्यतया सूत्रपञ्चकं गतम् । तदनन्तरं मुक्ति-
गतकेवलज्ञानादिव्यक्तिरूपसिद्धजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन दोहकसूत्रदशकं प्रारभ्यते । तद्यथा ।

लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा हरिहरादिविशिष्टपुरुषा यं ध्यायन्ति तं परमात्मानं जानीहीति प्रति-
पादयति—

तिहुयण-वंदिउ सिद्धि-गउ हरि-हर ज्ञायहिँ जो जि ।

लक्खु अलक्खेँ धरिवि थिरु मुणि परमप्पउ सो जि ॥ १६ ॥

त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं हरिहरा ध्यायन्ति यमेव ।

लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा स्थिरं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ १६ ॥

तिहुयणवंदिउ सिद्धिगउ हरिहर ज्ञायहिँ जो जि त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं यं
केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं परमात्मानं हरिहरहरिण्यगर्भादयो ध्यायन्ति । किं कृत्वा पूर्वम् । लक्खु
अलक्खेँ धरिवि थिरु लक्ष्यं संकल्परूपं चित्तम् । अलक्ष्येण वीतरागनिर्विकल्पनित्यानन्दैक-
स्वभावपरमात्मरूपेण धृत्वा । कथंभूतम् । स्थिरं परीषहोपसर्गैरक्षुभितं मुणि परमप्पउ सो
जि तमित्थंभूतं परमात्मानं हे प्रभाकरभट्ट मन्यस्व जानीहि भावयेत्यर्थः । अत्र केवलज्ञानादि-
व्यक्तिरूपमुक्तिगतपरमात्मसदृशो रागादिरहितः स्वशुद्धात्मा साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥ १६ ॥
संकल्पविकल्पस्वरूपं कथ्यते । तद्यथा—बहिर्द्रव्यविषये पुत्रकलत्रादिचेतनाचेतनरूपे मयेदमिति
चाहिये ॥१५॥ इस प्रकार जिसमें तीन तरहके आत्माका कथन है, ऐसे प्रथम महाधिकारमें त्रिविध
आत्माके कथनकी मुख्यतासे तीसरे स्थलमें पाँच दोहा-सूत्र कहे ।

अब मुक्तिको प्राप्त हुए केवलज्ञानादिरूप सिद्ध परमात्माके व्याख्यानकी मुख्यताकर दश दोहा-
सूत्र कहते हैं । इसमें पाँच दोहोंमें जो हरिहरादिक बड़े पुरुष अपना मन स्थिरकर जिस परमात्माका
ध्यान करते हैं, उसीका तू भी ध्यान कर, यह कहते हैं—[हरिहराः] इन्द्र, नारायण और रुद्र वगैरः
बड़े बड़े पुरुष [त्रिभुवनवंदितं] तीन लोककर वंदनीक (त्रैलोक्यनाथ) [सिद्धिगतं] और
केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप सिद्धपनेको प्राप्त [यं एव] जिस परमात्माको ही [ध्यायन्ति] ध्यावते हैं,
[लक्ष्यं] अपने मनको [अलक्ष्यते] वीतराग निर्विकल्प नित्यानन्द स्वभाव परमात्मामें [स्थिरं धृत्वा]
स्थिर करके [तमेव] उसीको हे प्रभाकरभट्ट, तू [परमात्मानं] परमात्मा [मन्यस्व] जान कर
चिंतवन कर । सारांश यह है, कि केवलज्ञानादिरूप उस परमात्माके समान रागादि रहित अपने
शुद्धात्माको पहचान, वही साक्षात् उपादेय है, अन्य सब संकल्प विकल्प त्यागने योग्य हैं । अब
संकल्प विकल्पका स्वरूप कहते हैं, कि जो बाह्यवस्तु पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब, बांधव, वगैरह सचेतन
पदार्थ, तथा चाँदी, सोना, रत्न, मणिके आभूषण वगैरह अचेतन पदार्थ है, इन सबको अपने समझे
कि ये मेरे हैं, ऐसे ममत्व परिणामको संकल्प जानना । तथा मैं सुखी, मैं दुःखी, इत्यादि हर्ष विषाद-
रूप परिणाम होना वह विकल्प है । इस प्रकार संकल्प विकल्पका स्वरूप जानना चाहिये ॥१६॥

स्वरूपः संकल्पः, अहं सुखी दुःखीत्यादिचित्तगतो हर्षविषादादिपरिणामो विकल्प इति । एवं संकल्पविकल्पलक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम् ।

अथ नित्यनिरञ्जनज्ञानमयपरमानन्दस्वभावशान्तशिवस्वरूपं दर्शयन्नाह—

णिञ्चु निरंजणु णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।

जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ॥ १७ ॥

नित्यो निरञ्जनो ज्ञानमयः परमानन्दस्वभावः ।

य ईदृशः स शान्तः शिवः तस्य मन्यस्व भावम् ॥ १७ ॥

णिञ्चु निरंजणु णाणमउ परमाणंदसहाउ द्रव्यार्थिकनयेन नित्योऽविनश्वरः, रागादि-कर्ममलरूपाञ्जनरहितत्वाभिरञ्जनः, केवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात् ज्ञानमयः, शुद्धात्मभावनोत्थवीत-रागानन्दपरिणतत्वात्परमानन्दस्वभावः जो एहउ सो संतु सिउ य इत्थंभूतः स शान्तः शिवो भवति हे प्रभाकरभट्ट तासु मुणिज्जहि भाउ तस्य वीतरागत्वात् शान्तस्य परमानन्दसुख-मयत्वात् शिवस्वरूपस्य त्वं जानीहि भावय । कं भावय । शुद्धबुद्धैकस्वभावमित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

पुनश्च किंविशिष्टो भवति—

जो णिय-भाउ ण परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ ।

जाणइ सयलु वि णिञ्चु पर सो सिउ संतु हवेइ ॥ १८ ॥

यो निजभावं न परिहरति यः परभावं न लति ।

जानाति सकलमपि नित्यं परं स शिवः शान्तो भवति ॥ १८ ॥

यः कर्ता निजभावमनन्तज्ञानादिस्वभावं न परिहरति यश्च परभावं कामक्रोधादिरूपमात्म-रूपतया न गृह्णाति । पुनरपि कथंभूतः । जानाति सर्वमपि जगन्नयकालत्रयवर्तिवस्तुस्वभावं न

आगे नित्य निरंजन ज्ञानमयी परमानंदस्वभाव शांति और शिवस्वरूपका वर्णन करते हैं—[नित्यः] द्रव्यार्थिकनयकर अविनाशी [निरंजनः] रागादिक उपाधिसे रहित अथवा कर्ममलरूपी अंजनसे रहित [ज्ञानमयः] केवलज्ञानसे परिपूर्ण और [परमानंदस्वभावः] शुद्धात्म भावना कर उत्पन्न हुये वीतराग परमानंदकर परिणत है, [यः ईदृशः] जो ऐसा है, [सः] वही [शान्तः शिवः] शान्तरूप और शिवस्वरूप है, [तस्य] उसी परमात्माका [भावं] शुद्ध बुद्ध स्वभाव [जानीहि] हे प्रभाकरभट्ट, तू जान अर्थात् ध्यान कर ॥१७॥

आगे फिर उसी परमात्माका कथन करते हैं—[यः] जो [निज भावं] अनन्तज्ञानादिरूप अपने भावोंको [न परिहरति] कभी नहीं छोड़ता [यः] और जो [परभावं] कामक्रोधादिरूप परभावोंको [न लति] कभी ग्रहण नहीं करता है, [सकलमपि] तीन लोक तीन कालकी सब चीजोंको [परं] केवल [नित्यं] हमेशा [जानाति] जानता है, [सः] वही [शिवः] शिवस्वरूप तथा [शान्तः] शान्त-स्वरूप [भवति] है ॥ भावार्थ—संसारअवस्थामें शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर सभी जीव शक्तिरूपसे

केवलं जानाति द्रव्यार्थिकनयेन नित्य एव अथवा नित्यं सर्वकालमेव जानाति परं नियमेन । स इत्थंभूतः शिवो भवति शान्तश्च भवतीति । किं च अयमेव जीवः मुक्तावस्थायां व्यक्तिरूपेण शान्तः शिवसंज्ञां लभते संसारावस्थायां तु शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शक्तिरूपेणेति । तथा चोक्तम्—“परमार्थनयाय सदा शिवाय नमोऽस्तु” । पुनश्चोक्तम्—“शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयम् । प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः ॥” अन्यः कोऽप्येको जगत्कर्ता व्यापी सदा मुक्तः शान्तः शिवोऽस्तीत्येवं न । अत्रायमेव शान्तशिवसंज्ञः शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ १८ ॥

अथ पूर्वोक्तं निरञ्जनस्वरूपं सूत्रत्रयेण व्यक्तीकरोति—

जासु ण वणु ण गंधु रसु जासु ण सहु ण फासु ।

जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरंजणु तासु ॥ १९ ॥

जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु ।

जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ॥ २० ॥

अत्थि ण पुणु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ ।

अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ॥ २१ ॥ तियलं ।

यस्य न वर्णो न गन्धो रसः यस्य न शब्दो न स्पर्शः ।

यस्य न जन्म मरणं नापि नाम निरञ्जनस्तस्य ॥ १९ ॥

यस्य न क्रोधो न मोहो मदः यस्य न माया न मानः ।

यस्य न स्थानं न ध्यानं जीव तमेव निरञ्जनं जानीहि ॥ २० ॥

अस्ति न पुण्यं न पापं यस्य अस्ति न हर्षो विषादः ।

अस्ति न एकोऽपि दोषो यस्य स एव निरञ्जनो भावः ॥ २१ ॥ त्रिकलम् ।

परमात्मा हैं, व्यक्तिरूपसे नहीं है । ऐसा कथन अन्य ग्रंथोंमें भी कहा है—‘शिवमित्यादि’ अर्थात् परमकल्याणरूप, निर्वाणरूप, महाशांत अविनश्वर ऐसे मुक्ति-पदको जिसने पा लिया है, वही शिव है, अन्य कोई, एक जगत्कर्ता सर्वव्यापी सदा मुक्त शांत, शिवरूप नैयायिकोंका तथा वैशेषिक वगैरहका माना हुआ नहीं है । यह शुद्धात्मा ही शांत है, शिव है, उपादेय है ॥ १८ ॥

आगे पहले कहे हुए निरंजनस्वरूपको तीन दोहा-सूत्रोंसे प्रगट करते हैं—[यस्य] जिस भगवानके [वर्णः] सफेद, काला, लाल, पीला, नीलस्वरूप पाँच प्रकार वर्ण [न] नहीं हैं, [गंधःरसः] सुगंध दुर्गन्धरूप दो प्रकारकी गंध [न] नहीं है, मधुर, आम्ल (खट्ट), तिक्त, कटु, कषाय (क्षार) रूप पाँच रस नहीं हैं, [यस्य] जिसके [शब्दाः न] भाषा अभाषारूप शब्द नहीं है, अर्थात् सचित्त अचित्त मिश्ररूप कोई शब्द नहीं है, सात स्वर नहीं है, [स्पर्शः न] शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, गुरु, लघु, मृदु, कठिनरूप आठ तरहका स्पर्श नहीं है, [यस्य] और जिसके [जन्म न] जन्म जरा नहीं है [मरणं नापि] तथा मरण भी नहीं है [तस्य] उसी चिदानंद शुद्धस्वभाव

यस्य मुक्तात्मनः शुक्लकृष्णरक्तपीतनीलरूपपञ्चप्रकारवर्णो नास्ति, सुरभिदुरभिरूपो द्वि-
प्रकारो गन्धो नास्ति, कटुकतीक्ष्णमधुराम्लकषायरूपः पञ्चप्रकारो रसो नास्ति, भाषात्मकाभाषा-
त्मकादिभेदभिन्नः शब्दो नास्ति, शीतोष्णस्निग्धरूक्षगुरुलघुमृदुकठिनरूपोऽष्टप्रकारः स्पर्शो नास्ति,
पुनश्च यस्य जन्म मरणमपि नैवास्ति तस्य चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मनो निरञ्जनसंज्ञा लभते ॥
पुनश्च किंरूपः स निरञ्जनः । यस्य न विद्यते । किं किं न विद्यते । क्रोधो मोहो विज्ञानाद्यष्ट-
विधमदभेदो यस्यैव मायामानकषायो यस्यैव नाभिहृदयललाटादिध्यानस्थानानि चित्तनिरोध-
लक्षणध्यानमपि यस्य न तमित्यंभूतं स्वशुद्धात्मानं हे जीव निरञ्जनं जानीहि । ख्यातिपूजालाभ-
दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपसमस्तविभावपरिणामान् त्यक्त्वा स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिर्विकल्प-
समाधौ स्थित्वानुभवेत्यर्थः ॥ पुनरपि किंस्वभावः स निरञ्जनः । यस्यास्ति न । किं किं नास्ति ।
द्रव्यभावरूपं पुण्यं पापं च । पुनरपि किं नास्ति । रागरूपो हर्षो द्वेषरूपो विषादश्च । पुनश्च ।
नास्ति क्षुधाद्यष्टादशदोषेषु मध्ये चैकोऽपि दोषः । स एव शुद्धात्मा निरञ्जन इति हे प्रभाकरभट्ट
त्वं जानीहि । स्वशुद्धात्मसंविच्छिन्नलक्षणवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वानुभवेत्यर्थः । किं च ।
एवंभूतसूत्रत्रयव्याख्यातलक्षणो निरञ्जनो ज्ञातव्यो न चान्यः कोऽपि निरञ्जनोऽस्ति परकल्पितः ।
अत्र सूत्रत्रयेऽपि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो योऽसौ निरञ्जनो व्याख्यातः स एवोपादेय इति
परमात्माकी [निरंजनं नाम] निरंजन संज्ञा है, अर्थात् ऐसे परमात्माको ही निरंजनदेव कहते हैं । फिर
वह निरंजनदेव कैसा है—[यस्य] जिस सिद्धपरमेष्ठीके [क्रोधः न] गुस्सा नहीं है, [मोहः मदः
न] मोह तथा कुल जाति वगैरह आठ तरहका अभिमान नहीं है, [यस्य माया न मानः न]
जिसके माया व मान कषाय नहीं है, और [यस्य] जिसके [स्थानं न] ध्यानके स्थान नाभि,
हृदय, मस्तक, वगैरह नहीं है [ध्यानं न] चित्तके रोकनेरूप ध्यान नहीं है, अर्थात् जब चित्त ही
नहीं है, तो रोकना किसका हो, [स एव] ऐसे निजशुद्धात्माको हे जीव, तू जान । सारांश यह
हुआ, कि अपनी प्रसिद्धता (बढाई) महिमा, अपूर्व वस्तुका मिलना, और देखे सुने भोग इनकी
इच्छारूप सब विभाव परिणामोंको छोड़कर अपने शुद्धात्माकी अनुभूतिस्वरूप निर्विकल्पसमाधिमें
ठहरकर उस शुद्धात्माका अनुभव कर । पुनः वह निरंजन कैसा है—[यस्य] जिसके [पुण्यं न
पापं न अस्ति] द्रव्यभावरूप पुण्य नहीं, तथा पाप नहीं है, [हर्षः विषादः न] राग द्वेषरूप खुशी
व रंज नहीं हैं, [यस्य] और जिसके [एकः अपि दोषः] क्षुधा (भूख) वगैरह दोषोंमेंसे एक भी
दोष नहीं है [स एव] वही शुद्धात्मा [निरंजनः] निरंजन है, ऐसा तू [भावय] जान ॥
भावार्थ—ऐसे निज शुद्धात्माके परिज्ञानरूप वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें स्थित होकर तू अनुभव
कर । इस प्रकार तीन दोहोंमें जिसका स्वरूप कहा गया है, उसे ही निरंजन जानो, अन्य कोई भी
परकल्पित निरंजन नहीं है । इन तीनों दोहोंमें जो निर्मल ज्ञान दर्शनस्वभाववाला निरंजन कहा गया
है, वही उपादेय है ॥१९-२१॥

आगे धारणा, ध्येय, यंत्र, मंत्र, मंडल, मुद्रा आदिक व्यवहारध्यानके विषय मंत्रवाद शास्त्रमें

भावार्थः ॥ १९-२१ ॥

अथ धारणाध्येययन्त्रमन्त्रमण्डलमुद्रादिकं व्यवहारध्यानविषयं मन्त्रवादशास्त्रकथितं यत्त-
भिर्दोषपरमात्मारोधनाध्याने निषेधयन्ति—

जासु ण धारणु धेउ ण वि जासु ण जंतु ण मंतु ।

जासु ण मंडलु मुह ण वि सो मुणि देउ अणंतु ॥ २२ ॥

यस्य न धारणा ध्येयं नापि यस्य न यन्त्रं न मन्त्रः ।

यस्य न मण्डलं मुद्रा नापि तं मन्यस्व देवमनन्तम् ॥ २२ ॥

यस्य परमात्मनो नास्ति न विद्यते । किं किम् । कुम्भकरेचकपूरकसंज्ञावायुधारणादिकप्रतिमा-
दिकं ध्येयमिति । पुनरपि किं तस्य । अक्षररचनाविन्यासरूपस्तम्भनमोहनादिविषयं यन्त्रस्वरूपं
विविधाक्षरोच्चारणरूपं मन्त्रस्वरूपं च अप्मण्डलवायुमण्डलपृथ्वीमण्डलादिकं गारुडमुद्राज्ञानमुद्रादिकं
च यस्य नास्ति तं परमात्मानं देवमाराध्यं द्रव्यार्थिकनयनान्तमविनश्वरमनन्तज्ञानादिगुणस्वभावं
च मन्यस्व जानीहि । अतीन्द्रियसुखास्वादविपरीतस्य जिह्वेन्द्रियविषयस्य निर्मोहशुद्धात्मस्वभाव-
प्रतिकूलस्य मोहस्य वीतरागसहजानन्दपरमसमरसीभावसुखरसानुभवप्रतिपक्षस्य नवप्रकाराब्रह्म-
व्रतस्य वीतरागनिर्विकल्पसमाधियातस्य मनोगतसंकल्पविकल्पजालस्य च विजयं कृत्वा हे
प्रभाकरभट्ट शुद्धात्मानमनुभवेत्यर्थः । तथा चोक्तम्—“अक्खाण रसणी कम्माण मोहणी तह
वयाण बंभं च । गुत्तीसु य मणगुत्ती चउरो दुक्खेहिं सिज्झंति ॥” ॥ २२ ॥

कहे गये हैं, उन सबका निर्दोष परमात्माकी आराधनारूप ध्यानमें निषेध किया है—[यस्य] जिस
परमात्माके [धारणा न] कुम्भक, पूरक, रेचक नामवाली वायुधारणादिक नहीं है, [ध्येयं नापि]
प्रतिमा वगैरह ध्यान करने योग्य पदार्थ भी नहीं है, [यस्य] जिसके [यन्त्रं न] अक्षरोंकी
रचनारूप स्तम्भन मोहनादि विषयक यन्त्र नहीं है, [मन्त्रः न] अनेक तरहके अक्षरोंके बोलनेरूप मन्त्र
नहीं है, [यस्य] और जिसके [मंडलं न] जलमंडल, वायुमंडल, अग्निमंडल, पृथ्वीमंडलादिक
पवनके भेद नहीं है, [मुद्रा न] गारुडमुद्रा, ज्ञानमुद्रा वगैरह मुद्रा नहीं है, [तं] उसे [अनन्तं]
द्रव्यार्थिकनयसे अविनाशी तथा अनन्त ज्ञानादिगुणरूप [देवं मन्यस्व] परमात्मदेव जानो ॥
भावार्थ—अतीन्द्रिय आत्मिक-सुखके आस्वादसे विपरीत जिह्वाइन्द्रियके विषय (रस) को जीतकर
निर्मोह शुद्ध स्वभावसे विपरीत मोहभावको छोड़कर और वीतराग सहज आनंद परम समरसीभाव
सुखरूपी रसके अनुभवका शत्रु जो नौ तरहका कुशील उसको तथा निर्विकल्पसमाधिके घातक
मनके संकल्प विकल्पोंको त्यागकर हे प्रभाकरभट्ट, तू शुद्धात्माका अनुभव कर । ऐसा ही दूसरी
जगह भी कहा है—“अक्खाणेति” इसका आशय इस तरह है, कि इन्द्रियोंमें जीभ प्रबल होती है,
ज्ञानावरणादि आठ कर्मांमें मोह कर्म बलवान् होता है, पाँच महाव्रतोंमें ब्रह्मचर्य व्रत प्रबल है, और
तीन गुणियोंमें मनोगुप्ति पालना कठिन है । ये चार बातें मुश्किलसे सिद्ध होती हैं ॥२२॥

अथ वेदशास्त्रेन्द्रियादिपरद्रव्यालम्बनाविषयं च वीतरागनिर्विकल्पसमाधिविषयं च परमात्मानं प्रतिपादयन्ति—

वेयहिँ सत्यहिँ इंदियहिँ जो जिय मुणहु ण जाइ ।

णिम्मल-झाणहुँ जो विसउ सो परमप्पु अणाइ ॥ २३ ॥

वेदैः शास्त्रैरिन्द्रियैः यो जीव मनुं न याति ।

निर्मलध्यानस्य यो विषयः स परमात्मा अनादिः ॥ २३ ॥

वेदशास्त्रेन्द्रियैः कृत्वा योऽसौ मनुं ज्ञातुं न याति । पुनश्च कथंभूतो यः । मिथ्याविरति-प्रमादकषाययोगाभिधानपञ्चप्रत्ययरहितस्य निर्मलस्य स्वशुद्धात्मसंवित्सिंजातनित्यानन्दैकसुखामृतास्वादपरिणतस्य ध्यानस्य विषयः । पुनरपि कथंभूतो यः । अनादिः स परमात्मा भवतीति हे जीव जानीहि । तथा चोक्तम्—“अन्यथा वेदपाण्डित्यं शास्त्रपाण्डित्यमन्यथा । अन्यथा परमं तत्त्वं लोकाः क्लिश्यन्ति चान्यथा ॥” अत्रार्थभूत एवं शुद्धात्मोपादेयो अन्यद्देयमिति भावार्थः ॥२३॥

अथ योऽसौ वेदादिविषयो न भवति परमात्मा समाधिविषयो भवति पुनरपि तस्यैव

आगे वेद, शास्त्र, इंद्रियादि परद्रव्योंके अगोचर और वीतरागनिर्विकल्प समाधिके गोचर (प्रत्यक्ष) ऐसे परमात्माका स्वरूप कहते हैं—[वेदैः] केवलीकी दिव्यवाणीसे [शास्त्रैः] महामुनियोंके वचनोंसे तथा [इंद्रियैः] इंद्रिय और मनसे भी [यः] जो शुद्धात्मा [मनुं] जाना [न याति] नहीं जाता है, अर्थात् वेद, शास्त्र, ये दोनों शब्द अर्थस्वरूप हैं, आत्मा शब्दातीत है, तथा इंद्रिय, मन विकल्परूप है, और मूर्तिक पदार्थको जानते हैं, वह आत्मा निर्विकल्प है, अमूर्तिक है, इसलिये इन तीनोंसे नहीं जान सकते । [यः] जो आत्मा [निर्मलध्यानस्य] निर्मल ध्यानके [विषयः] गम्य है, [सः] वही [अनादिः] आदि अंत रहित [परमात्मा] परमात्मा है, अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग, इन पाँच आस्रवोंसे रहित निर्मल निज शुद्धात्माके ज्ञानकर उत्पन्न हुए नित्यानंद सुखामृतका आस्वाद उस स्वरूप परिणत निर्विकल्प अपने स्वरूपके ध्यानकर स्वरूपकी प्राप्ति है । आत्मा ध्यानगम्य ही है, शास्त्रगम्य नहीं है, क्योंकि जिनको शास्त्र सुननेसे ध्यानकी सिद्धि हो जावे, वे ही आत्माका अनुभव कर सकते हैं, जिन्होंने पाया, उन्होंने ध्यानसे ही पाया है, और शास्त्र सुनना तो ध्यानका उपाय है, ऐसा समझकर अनादि अनंत चिद्रूपमें अपना परिणाम लगाओ । दूसरी जगह भी ‘अन्यथा’ इत्यादि कहा है । उसका यह भावार्थ है, कि वेद शास्त्र तो अन्य तरह ही हैं, नय प्रमाणरूप है, तथा ज्ञानकी पंडिताई कुछ और ही है, वह आत्मा निर्विकल्प है, नय प्रमाण निक्षेपसे रहित है, वह परमतत्त्व तो केवल आनन्दरूप है, और ये लोक अन्य ही मार्गमें लगे हुए हैं, सो वृथा क्लेश कर रहे हैं । इस जगह अर्थरूप शुद्धात्मा ही उपादेय है, अन्य सब त्यागने योग्य हैं, यह सारांश समझना ॥२३॥

आगे कहते हैं, कि जो परमात्मा वेदशास्त्रगम्य तथा इंद्रियगम्य नहीं, केवल परमसमाधिरूप निर्विकल्पध्यानकर ही गम्य है, इसलिये उसीका स्वरूप फिर कहते हैं—[यः] जो [केवलदर्शन

स्वरूपं व्यक्तं करोति—

केवल-दंसण-णाणमउ केवल-सुख-सहाउ ।

केवल-वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरु भाउ ॥ २४ ॥

केवलदर्शनज्ञानमयः केवलसुखस्वभावः ।

केवलवीर्यस्तं मन्यस्व य एव परापरो भावः ॥ २४ ॥

केवलोऽसहायः ज्ञानदर्शनाभ्यां निर्वृत्तः केवलदर्शनज्ञानमयः केवलानन्दसुखस्वभावः केवलानन्तवीर्यस्वभाव इति यस्तमात्मानं मन्यस्व जानीहि । पुनश्च कथंभूतः य एव । यः परापरोः परेभ्योऽर्हत्परमेष्ठिभ्यः पर उत्कृष्टो मुक्तिगतः शुद्धात्मा भावः पदार्थः स एव सर्वप्रकारेणोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ २४ ॥

अथ त्रिभुवनवन्दित इत्यादिलक्षणैर्युक्तो योऽसौ शुद्धात्मा भणितः स लोकाग्रे तिष्ठतीति कथयति—

एयहिँ जुत्तउ लक्खणहिँ जो परु णिक्कलु देउ ।

सो तहिँ णिवसइ परम-पइ जो तइलोयहँ झेउ ॥ २५ ॥

एतैर्युक्तो लक्षणैः यः परो निष्कलो देवः ।

स तत्र निवसति परमपदे यः त्रैलोक्यस्य ध्येयः ॥ २५ ॥

एतैस्त्रिभुवनवन्दितादिलक्षणैः पूर्वोक्तैर्युक्तो यः । पुनश्च कथंभूतो यः । परः परमात्मस्वभावः । पुनरपि किंविशिष्टः । निष्कलः पञ्चविधशरीररहितः । पुनरपि किंविशिष्टः । देवस्त्रिभुवनाराध्यः ज्ञानमयः] केवलज्ञान केवलदर्शनमयी है, अर्थात् जिसके परवस्तुका आश्रय (सहायता) नहीं, आप ही सब बातोंमें परिपूर्ण ऐसे ज्ञान दर्शनवाला है, [केवलसुखस्वभावः] जिसका केवलसुख स्वभाव है, और जो [केवलवीर्यः] अनन्तवीर्यवाला है [स एव] वही [परापरभावः] उत्कृष्ट अर्हत्परमेष्ठीसे भी अधिक स्वभाववाला सिद्धरूप शुद्धात्मा है ऐसा [मन्यस्व] मानो ॥ भावार्थ—परमात्माके दो भेद हैं, पहला सकलपरमात्मा दूसरा निष्कलपरमात्मा उनमेंसे कल अर्थात् शरीर सहित जो अरहन्त भगवान् हैं वे साकार हैं, और जिनके शरीर नहीं, ऐसे निष्कलपरमात्मा निराकारस्वरूप सिद्धपरमेष्ठी हैं, वे सकल परमात्मासे भी उत्तम हैं, वही सिद्धरूप शुद्धात्मा ध्यान करने योग्य है ॥२४॥

आगे तीन लोककर वंदना करने योग्य पूर्व कहे हुए लक्षणों सहित जो शुद्धात्मा कहा गया है, वही लोकके अग्रमें रहता है, ऐसा कहते हैं—[एतैः लक्षणैः] ‘तीन भुवनकर वंदनीक’ इत्यादि जो लक्षण कहे थे, उन लक्षणोंकर [युक्तः] सहित [परः] सबसे उत्कृष्ट [निष्कलः] औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण ये पाँच शरीर जिसके नहीं है, अर्थात् निराकार है, [देवः] तीन लोककर आराधित जगतका देव है, [यः] ऐसा जो परमात्मा सिद्ध है, [सः] वही [तत्र] परमपदे] उस लोकके शिखरपर [निवसति] विराजमान है, [यः] जो कि [त्रैलोक्यस्य] तीन

स एव परमपदे मोक्षे निवसति । यत्पदं कथंभूतम् । त्रैलोक्यस्यावसानमिति । अत्र तदेव मुक्त-
जीवसदृशं स्वशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ २५ ॥ एवं त्रिविधात्मकथनप्रथममहाधिकार-
मध्ये मुक्तिगतसिद्धजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन दोहकसूत्रदशकं गतम् ।

अत ऊर्ध्वं प्रक्षेपपञ्चकमन्तर्भावचतुर्विंशतिसूत्रपर्यन्तं यादृशो व्यक्तिरूपः परमात्मा मुक्तौ
तिष्ठति तादृशः शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण तिष्ठतीति कथयन्ति । तद्यथा—

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिवसइ देउ ।

तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं मं करि भेउ ॥ २६ ॥

यादृशो निर्मलो ज्ञानमयः सिद्धौ निवसति देवः ।

तादृशो निवसति ब्रह्मा परः देहे मा कुरु भेदम् ॥ २६ ॥

यादृशः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपः कार्यसमयसारः, निर्मलो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितः,
ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृतः केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणपरिणतः सिद्धो मुक्तो मुक्तौ निवसति
तिष्ठति देवः परमाराध्यः । तादृशः पूर्वोक्तलक्षणसदृशः निवसति तिष्ठति ब्रह्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः
परमात्मा पर उत्कृष्टः । क निवसति । देहे । केन । शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन । कथंभूतेन । शक्ति-
रूपेण हे प्रभाकरभट्ट भेदं मा कार्षीस्त्वमिति । तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः मोक्ष-
प्राप्नुते—“णमिएहिं जं णमिज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं । शुव्वंतेहिं शुणिज्जइ देहत्थं किं

लोकका [ध्येयः] ध्येय (ध्यान करने योग्य) है ॥ भावार्थ—यहाँ पर जो सिद्धपरमेष्ठीका व्याख्यान
किया है, उसीके समान अपना भी स्वरूप है, वही उपादेय (ध्यान करने योग्य) है, जो सिद्धालय
है, वह देहालय है, अर्थात् जैसा सिद्धलोकमें विराज रहा है, वैसा ही हंस (आत्मा) इस घट (देह)
में विराजमान है ॥ २५ ॥

इस प्रकार जिसमें तीन तरहके आत्माका कथन है, ऐसे प्रथम महाधिकारमें मुक्तिको प्राप्त हुए
सिद्धपरमात्माके व्याख्यानकी मुख्यताकर चौथे स्थलमें दश दोहा-सूत्र कहे । आगे पाँच क्षेपक मिले
हुए चौबीस दोहोंमें जैसा प्रगटरूप परमात्मा मुक्तिमें है, वैसा ही शुद्धनिश्चयनयकर देहमें भी
शक्तिरूप है, ऐसा कहते हैं—[यादृशः] जैसा केवलज्ञानादि प्रगटस्वरूप कार्यसमयसार [निर्मलः]
उपाधि रहित भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मरूप मलसे रहित [ज्ञानमय] केवलज्ञानादि अनन्त गुणरूप
सिद्धपरमेष्ठी [देवः] देवाधिदेव परम आराध्य [सिद्धो] मुक्तिमें [निवसति] रहता है, [तादृशः]
वैसा ही सब लक्षणों सहित [परः ब्रह्मा] परब्रह्म, शुद्ध बुद्ध स्वभाव परमात्मा, उत्कृष्ट शुद्ध द्रव्यार्थिक-
नयकर शक्तिरूप परमात्मा [देहे] शरीरमें [निवसति] तिष्ठता है, इसलिये हे प्रभाकरभट्ट, तू
[भेदं] सिद्ध भगवानमें और अपनेमें भेद [मा कुरु] मत कर । ऐसा ही मोक्षपाहुडमें
श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने भी कहा है “णमिएहिं” । इत्यादि इसका यह अभिप्राय है, कि जो नमस्कार
योग्य महापुरुषोंसे भी नमस्कार करने योग्य है, स्तुति करने योग्य सत्पुरुषोंसे स्तुति किया गया है,
और ध्यान करने योग्य आचार्यपरमेष्ठी वगैरहसे भी ध्यान करने योग्य ऐसा जीवनामा पदार्थ इस

पि तं मुणह ॥” अत्र स एव परमात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ २६ ॥

अथ येन शुद्धात्मना स्वसंवेदनज्ञानचक्षुषावलोकितेन पूर्वकृतकर्माणि नश्यन्ति तं किं न जानासि त्वं हे योगिन्निति कथयन्ति—

जेँ दिट्हेँ तुट्ठंति लहु कम्मइँ पुव्व-कियाइँ ।

सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइँ ॥ २७ ॥

येन दृष्टेन त्रुट्यन्ति लघु कर्माणि पूर्वकृतानि ।

तं परं जानासि योगिन् देहे वसन्तं न किम् ॥ २७ ॥

जेँ दिट्हेँ तुट्ठंति लहु कम्मइँ पुव्वकियाइँ येन परमात्मना दृष्टेन सदानन्दैकरूपवीतरागनिर्विकल्पसमाधिलक्षणनिर्मललोचनेनावलोकितेन त्रुट्यन्ति शतचूर्णानि भवन्ति लघु शीघ्रम् अन्तर्मुहूर्तेन । कानि । परमात्मनः प्रतिबन्धकानि स्वसंवेद्यभावोपाजितानि पूर्वकृतकर्माणि सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइँ तं नित्यानन्दैकस्वभावं स्वात्मानं परमोत्कृष्टं किं न जानासि हे योगिन् । कथंभूतमपि । स्वदेहे वसन्तमपीति । अत्र स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ २७ ॥

अथ ऊर्ध्वं प्रक्षेपपञ्चकं कथयन्ति । तद्यथा—

जित्थु ण इंदिय-सुह-दुहइँ जित्थु ण मण-वावारु ।

सो अप्पा मुणि जीव तुहँ अण्णु परिं अवहारु ॥ २८ ॥

देहमें बसता है, उसको तू परमात्मा जान ॥ भावार्थ—वही परमात्मा उपादेय है ॥ २६ ॥

आगे जिस शुद्धात्माको सम्यग्ज्ञान-नेत्रसे देखनेसे पहले उपार्जन किये हुए कर्म नाश हो जाते हैं, उसे हे योगिन्, तू क्यों नहीं पहचानता ? ऐसा कहते हैं—[येन] जिस परमात्माको [दृष्टेन] सदा आनंदरूप वीतराग निर्विकल्प समाधिस्वरूप निर्मल नेत्रोंकर देखनेसे [लघु] शीघ्र ही [पूर्वकृतानि] निर्वाणके रोकनेवाले पूर्व उपार्जित [कर्माणि] कर्म [त्रुट्यन्ति] चूर्ण हो जाते हैं, अर्थात् सम्यग्ज्ञानके अभावसे (अज्ञानसे) जो पहले शुभ अशुभ कर्म कमाये थे, वे निजस्वरूपके देखनेसे ही नाश हो जाते हैं, [तं परं] उस सदानंदरूप परमात्माको [देहे वसंतं] देहमें बसते हुए भी [हे योगिन्] हे योगी [किं न जानासि] तू क्यों नहीं जानता ? ॥ भावार्थ—जिसके जाननेसे कर्म-कलंक दूर हो जाते हैं वह आत्मा शरीरमें निवास करता हुआ भी देहरूप नहीं होता, उसको तू अच्छी तरह पहचान और दूसरे अनेक प्रपंचों (झगड़ों) को तो जानता है, अपने स्वरूपकी तरफ क्यों नहीं देखता ? वह निज स्वरूप ही उपादेय है, अन्य कोई नहीं है ॥ २७ ॥

इससे आगे पाँच प्रक्षेपकों द्वारा आत्माका ही कथन करते हैं—[यत्र] जिस शुद्ध आत्म-स्वभावमें [इन्द्रियसुखदुःखानि] आकुलता रहित अतीन्द्रियसुखसे विपरीत जो आकुलताके उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियजनित सुख दुःख [न] नहीं हैं, [यत्र] जिसमें [मनोव्यापारः] संकल्प-

यत्र नेन्द्रियसुखदुःखानि यत्र न मनोव्यापारः ।

तं आत्मानं मन्यस्व जीव त्वं अन्यत्परमपहर ॥ २८ ॥

जित्थु ण इंदियसुहदुहइं जित्थु ण मणवावारु यत्र शुद्धात्मस्वरूपे न सन्ति न विद्यन्ते । कानि । अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसौख्यविपरीतान्याकुलत्वोत्पादकानीन्द्रियसुखदुःखानि यत्र च निर्विकल्पपरमात्मनो विलक्षणः संकल्पविकल्परूपो मनोव्यापारो नास्ति । सो अप्पा मुणि जीव तुहुं अण्णु परिं अवहारु तं पूर्वोक्तलक्षणं स्वशुद्धात्मानं मन्यस्व नित्यानन्दैकरूपं वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा जानीहि हे जीव, त्वम् अन्यत्परमात्मस्वभावाद्विपरीतं पञ्चेन्द्रियविषयस्वरूपादिविभावसमूहं परस्मिन् दूरे सर्वप्रकारेणापहर त्यज । तात्पर्यार्थः । निर्विकल्पसमाधौ सर्वत्र वीतरागविशेषणं किमर्थं कृतम् इति पूर्वपक्षः । परिहारमाह । यत एव हेतोः वीतरागस्तत एव निर्विकल्प इति हेतुहेतुमद्भावज्ञापनार्थम्, अथवा ये सरागिणोऽपि सन्तो वयं निर्विकल्पसमाधिस्था इति वदन्ति तन्निषेधार्थम्, अथवा श्वेतशङ्खवत्स्वरूपविशेषणमिदम् इति परिहारत्रयं निर्दोषिपरमात्मशब्दादिपूर्वपक्षेऽपि योजनीयम् ॥ २८ ॥

अथ यः परमात्मा व्यवहारेण देहे तिष्ठति निश्चयेन स्वस्वरूपे तमाह—

देहादेहहिं जो वसइ भेयाभेय-णएण ।

सो अप्पा मुणि जीव तुहुं किं अण्णे बहूएण ॥ २९ ॥

देहादेहयोः यो वसति भेदाभेदनयेन ।

तमात्मानं मन्यस्व जीव त्वं किमन्येन बहुना ॥ २९ ॥

विकल्परूप मनका व्यापार भी [न] नहीं हैं, अर्थात् विकल्प रहित परमात्मासे मनके व्यापार जुदे हैं, [तं] उस पूर्वोक्त लक्षणवालेको [हे जीव त्वं] हे जीव, तू [आत्मानं] आत्माराम [मन्यस्व] मान, [अन्यत्परं] अन्य सब विभावोंको [अपहर] छोड़ ॥ भावार्थ—ज्ञानानन्दस्वरूप निज शुद्धात्माको निर्विकल्पसमाधिमें स्थिर होकर जान, अन्य परमात्मस्वभावसे विपरीत पाँच इन्द्रियोंके विषय वगैरह सब विकार परिणामोंको दूरसे ही त्याग, उनका सर्वथा ही त्याग कर । यहाँपर किसी शिष्यने प्रश्न किया, कि निर्विकल्पसमाधिमें सब जगह वीतराग विशेषण क्यों कहा है ? उसका उत्तर कहते हैं—जहाँपर वीतरागता है, वही निर्विकल्प समाधिपना है, इस रहस्यको समझानेके लिये अथवा जो रागी हुए कहते हैं कि, हम निर्विकल्प समाधिमें स्थित हैं, उनके निषेधके लिये वीतरागता सहित निर्विकल्पसमाधिका कथन किया गया है, अथवा सफेद शंखकी तरह स्वरूप प्रकट करनेके लिये कहा गया है, अर्थात् जो शंख होगा, वह श्वेत ही होगा, उसी प्रकार जो निर्विकल्पसमाधि होगी, वह वीतरागतारूप ही होगी ॥२८॥

आगे यह परमात्मा व्यवहारनयसे तो इस देहमें ठहर रहा है, लेकिन निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें ही तिष्ठता है, ऐसे आत्माको कहते हैं—[यः] जो [भेदाभेदनयेन देहादेहयोः वसति]

देहादेहयोरधिकरणभूतयोर्यो वसति । केन । भेदाभेदनयेन । तथाहि—अनुपचरितासद्भूत-
व्यवहारेणाभेदनयेन स्वपरात्मनोऽभिन्ने स्वदेहे वसति शुद्धनिश्चयनयेन तु भेदनयेन स्वदेहाद्भिन्ने
स्वात्मनि वसति यः तमात्मानं मन्यस्व जानीहि हे जीव नित्यानन्दैकवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ
स्थित्वा भावयेत्यर्थः । किमन्येन शुद्धात्मनो भिन्नेन देहरागादिना बहुना । अत्र योऽसौ देह
वसन्नपि निश्चयेन देहरूपो न भवति स एव स्वशुद्धात्मोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ २९ ॥

अथ जीवाजीवयोरेकत्वं मा कार्षीर्लक्षणभेदेन भेदोऽस्तीति निरूपयति—

जीवाजीव म एक्कु करि लक्खण भेएँ भेउ ।

जो परु सो परु भणामि मुणि अप्पा अप्पु अभेउ ॥ ३० ॥

जीवाजीवौ मा एकौ कुरु लक्षणभेदेन भेदः ।

यत्परं तत्परं भणामि मन्यस्व आत्मन आत्मना अभेदः ॥ ३० ॥

हे प्रभाकरभट्ट जीवाजीवावेकौ मा कार्षीः । कस्मात् । लक्षणभेदेन भेदोऽस्ति तद्यथा—
रसादिरहितं शुद्धचैतन्यं जीवलक्षणम् । तथा चोक्तं प्राभृते—“अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणा-
गुणमसदं जाण अल्लिगगहणं जीवमणिद्वित्संठाणं ॥” । इत्थंभूतशुद्धात्मनो भिन्नमजीवलक्षणम् ।
तच्च द्विविधम् । जीवसंबन्धमजीवसंबन्धं च । देहरागादिरूपं जीवसंबन्धं, पुद्गलादिष्वद्रव्यरूपम-

अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनयकर अपनेसे भिन्न जडरूप देहमें तिष्ठ रहा है, और शुद्ध
निश्चयनयकर अपने आत्मस्वभावमें ठहरा हुआ है, अर्थात् व्यवहारनयकर तो देहसे अभेदरूप
(तन्मय) है, और निश्चयसे सदा कालसे अत्यंत जुदा है अपने स्वभावमें स्थित है, [तं] उसे [हे
जीव त्वं] हे जीव, तू [आत्मानं] परमात्माको [मन्यस्व] जान । अर्थात् नित्यानन्द वीतराग
निर्विकल्पसमाधिमें ठहरकर अपने आत्माका ध्यान कर । [अन्येन] अपनेसे भिन्न [बहुना] देह
रागादिकोंसे [किं] तुझे क्या प्रयोजन है ? भावार्थ—देहमें रहता हुआ भी निश्चयसे देहस्वरूप जो
नहीं होता, वही निज शुद्धात्मा उपादेय है ॥२९॥

आगे जीव और अजीवमें लक्षणके भेदसे भेद है, तू दोनोंको एक मत जान, ऐसा कहते हैं—हे
प्रभाकरभट्ट, तू [जीवाजीवौ] जीव और अजीवको [एकौ] एक [मा कार्षीः] मत कर, क्योंकि
इन दोनोंमें [लक्षणभेदेन] लक्षणके भेदसे [भेदः] भेद है । [यत्परं] जो परके संबंधसे उत्पन्न हुए रागादि
विभाव (विकार) हैं, [तत्परं] उनको पर (अन्य) [मन्यस्व] समझ [च] और [आत्मनः] आत्माको
[आत्मना अभेदः] अपनेसे अभेद जान [भणामि] ऐसा मैं कहता हूँ ॥ भावार्थ—जीव अजीवके
लक्षणोंमेंसे जीवका लक्षण शुद्ध चैतन्य है, वह स्पर्श, रस, गंधरूप, शब्दादिकसे रहित है । ऐसा
ही श्रीसमयसारमें कहा है—‘अरसं’ इत्यादि । इसका सारांश यह है, कि जो आत्मद्रव्य है, वह
मिष्ट वगैरह पाँच प्रकारके रस रहित है, श्वेत आदिक पाँच तरहके वर्ण रहित है, सुगन्ध दुर्गन्ध
इन दो तरहके गंध उसमें नहीं हैं, प्रगट (दृष्टिगोचर) नहीं है, चैतन्यगुण सहित है, शब्दसे रहित
है, बुद्धि वगैरह करके ग्रहण नहीं होता, अर्थात् लिंग रहित है, और उसका आकार नहीं दीखता,
अर्थात् निराकार वस्तु है । आकार छह प्रकारके हैं—समचतुरस्र, न्यग्रोध-परिमंडल, सात्तिक,

जीवसंबन्धमजीवलक्षणम् । अत एव भिन्नं जीवादजीवलक्षणम् । ततः कारणात् यत्परं रागादिकं तत्परं जानीहि । कथंभूतम् । भेद्यमभेद्यमित्यर्थः । अत्र योऽसौ शुद्धलक्षणसंयुक्तः शुद्धात्मा स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ३० ॥

अथ तस्य शुद्धात्मनो ज्ञानमयादिलक्षणं विशेषेण कथयति—

अमणु अणिदिउ णाणमउ मुत्ति-विरहिउ चिमिउ ।

अप्पा इंदिय-विसउ णवि लक्खणु एहु णिरुत्तु ॥ ३१ ॥

अमनाः अनिन्द्रियो ज्ञानमयः मूर्तिविरहितश्चिन्मात्रः ।

आत्मा इन्द्रियविषयो नैव लक्षणमेतन्निरुक्तम् ॥ ३१ ॥

परमात्मविपरीतमानसविकल्पजालरहितत्वात्मनस्कः, अतीन्द्रियशुद्धात्मविपरीतेनेन्द्रिय-
ग्रामेण रहितत्वादतीन्द्रियः, लोकालोकप्रकाशकेवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात् ज्ञानमयः, अमूर्तात्म-
विपरीतलक्षणया स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या वर्जितत्वान्मूर्तिविरहितः, अन्यद्रव्यासाधारणया
शुद्धचेतनया निष्पन्नत्वाच्चिन्मात्रः । कोऽसौ । आत्मा । पुनश्च किंविशिष्टः । वीतरागस्वसंवेदन-
ज्ञानेन ग्राह्योऽपीन्द्रियाणामविषयश्च लक्षणमिदं निरुक्तं निश्चितमिति । अत्रोक्तलक्षणपरमात्मो-
पादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ३१ ॥

कुब्जक, वामन, हुंडक । इन छह प्रकारके आकारोंसे रहित है, ऐसा जो चिद्रूप निज वस्तु है, उसे तू पहचान । आत्मासे भिन्न जो अजीव पदार्थ है, उसके लक्षण दो तरहसे हैं, एक जीव संबंधी, दूसरा अजीव संबंधी । जो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मरूप है, वह तो जीवसंबंधी है, और पुद्गलादि पाँच द्रव्यरूप अजीव जीवसंबंधी नहीं हैं, अजीवसंबंधी ही हैं, इसलिये अजीव हैं, जीवसे भिन्न हैं । इस कारण जीवसे भिन्न अजीवरूप जो पदार्थ हैं, उनको अपने मत समझो । यद्यपि रागादिक विभाव परिणाम जीवमें ही उपजते हैं, इससे जीवके कहे जाते हैं, परंतु वे कर्मजनित हैं, परपदार्थ (कर्म) के संबंधसे हैं, इसलिये पर ही समझो । यहाँपर जीव और अजीव दो पदार्थ कहे गये हैं, उनमेंसे शुद्ध चेतना लक्षणका धारण करनेवाला शुद्धात्मा ही ध्यान करने योग्य है, यह सारांश हुआ ॥३०॥

आगे शुद्धात्माके ज्ञानादिक लक्षणोंको विशेषणसे कहते हैं—[आत्मा] यह शुद्ध आत्मा [अमनाः] परमात्मासे विपरीत विकल्पजालमयी मनसे रहित है [अनिन्द्रियः] शुद्धात्मासे भिन्न इन्द्रिय-समूहसे रहित है [ज्ञानमयः] लोक और अलोकके प्रकाशनेवाले केवलज्ञान स्वरूप है, [मूर्तिविरहितः] अमूर्तिक आत्मासे विपरीत स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाली मूर्तिरहित है, [चिन्मात्रः] अन्य द्रव्योंमें नहीं पाई जावे, ऐसी शुद्धचेतनास्वरूप ही है, जो [इन्द्रियविषयः नैव] इन्द्रियोंके गोचर नहीं है, वीतरागस्वसंवेदनसे ही ग्रहण किया जाता है, [एतत् लक्षणं] ये लक्षण जिसके [निरुक्तं] प्रकट कहे गये हैं उसको ही तू निःसंदेह आत्मा जान । इस जगह जिसके ये लक्षण कहे गये हैं, वही आत्मा है, वही उपादेय है, आराधने योग्य है, यह तात्पर्य निकला ॥३१॥

अथ संसारशरीरभोगनिर्विण्णो भूत्वा यः शुद्धात्मानं ध्यायति तस्य संसारबल्ली नश्यतीति कथयति—

भव-तणु-भोग-विरक्त-मणु जो अप्पा झाएइ ।

तासु गुरुक्की बेल्लडी संसारिणि तुट्टेइ ॥ ३२ ॥

भवतनुभोगविरक्तमना य आत्मानं ध्यायति ।

तस्य गुर्वी बल्ली सांसारिकी नुट्यति ॥ ३२ ॥

भवतनुभोगेषु रञ्जितं मूर्छितं वासितमासक्तं चित्तं स्वसंवित्तिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्द-सुखरसास्वादेन व्यावृत्त्य स्वशुद्धात्मसुखे रतत्वात्संसारशरीरभोगविरक्तमनाः सन् यः शुद्धात्मानं ध्यायति तस्य गुरुक्की महती संसारबल्ली नुट्यति नश्यति शतचूर्णा भवतीति । अत्र येन परमात्मध्यानेन संसारबल्ली विनश्यति स एव परमात्मोपादेयो भावनीयश्चेति तात्पर्यार्थः ॥ ३२ ॥ इति चतुर्विंशतिसूत्रमध्ये प्रक्षेपकपञ्चकं गतम् ।

तदनन्तरं देहदेवगृहे योऽसौ वसति स एव शुद्धनिश्चयेन परमात्मा तन्निरूपयति—

देहादेवलि जो बसइ देउ अणाइ-अणंतु ।

केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु ॥ ३३ ॥

देहदेवालये यः वसति देवः अनाद्यनन्तः ।

केवलज्ञानस्फुरत्तनुः स परमात्मा निर्भ्रान्तः ॥ ३३ ॥

व्यवहारेण देहदेवकुले वसन्नपि निश्चयेन देहाद्भिन्नतादेहवन्मूर्तः सर्वाशुचिमयो न भवति । यद्यपि देहो नाराध्यस्तथापि स्वयं परमात्मा राध्यो देवः पूज्यः, यद्यपि देह आद्यन्तस्तथापि

आगे जो कोई संसार, शरीर, भोगोंमें विरक्त होकर शुद्धात्माका ध्यान करता है उसीके संसाररूपी बेल नाशको प्राप्त हो जाती है, ऐसा कहते हैं—[यः] जो जीव [भवतनुभोग-विरक्तमनाः] संसार, शरीर और भोगोंमें विरक्त मन हुआ [आत्मानं] शुद्धात्माका [ध्यायति] चिंतवन करता है, [तस्य] उसकी [गुर्वी] मोटी [सांसारिकी बल्ली] संसाररूपी बेल [नुट्यति] नाशको प्राप्त हो जाती है ॥ भावार्थ—संसार, शरीर, भोगोंमें अत्यंत आसक्त (लगा हुआ) चित्त है, उसको आत्मज्ञानसे उत्पन्न हुए वीतरागपरमानंद सुखामृतके आस्वादसे राग-द्वेषसे हटाकर अपने शुद्धात्म-सुखमें अनुरागी कर शरीरादिकमें वैराग्यरूप हुआ जो शुद्धात्माको विचारता है, उसका संसार छूट जाता है, इसलिये जिस परमात्माके ध्यानसे संसाररूपी बेल दूर हो जाती है, वही ध्यान करने योग्य उपादेय हैं ॥३२॥

आगे जो देहरूपी देवालयमें रहता है, वही शुद्धनिश्चयनयसे परमात्मा है, यह कहते हैं—[यः] जो व्यवहारनयकर [देहदेवालये] देहरूपी देवालयमें [वसति] बसता है, निश्चयनयकर देहसे भिन्न है, देहकी तरह मूर्तिक तथा अशुचिमय नहीं है, महा पवित्र है; [देवः] आराधने योग्य है, पूज्य है, देह आराधने योग्य नहीं है; [अनाद्यनंतः] जो परमात्मा आप शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर

स्वयं शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनानाद्यनन्तः, यद्यपि देहो जडस्तथापि स्वयं लोकालोकप्रकाशकत्वा-
त्केवलज्ञानस्फुरिततनुः केवलज्ञानप्रकाशरूपशरीर इत्यर्थः । स पूर्वोक्तलक्षणयुक्तः परमात्मा
भवतीति । कथंभूतः । निर्भ्रान्तः निस्सन्देह इति अत्र योऽसौ देहे वसन्नपि सर्वाशुच्यादिदेह-
धर्म न स्पृशति स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ३३ ॥

अथ शुद्धात्मविलक्षणे देहे वसन्नपि देहं न स्पृशति देहेन सोऽपि न स्पृश्यते इति प्रति-
पादयति—

देहे वसंतु वि णवि छिवइ णियमे देहु वि जो जि ।

देहे छिप्पइ जो वि णवि सुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३४ ॥

देहे वसन्नपि नैव स्पृशति नियमेन देहमपि य एव ।

देहेन स्पृश्यते योऽपि नैव मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ३४ ॥

देहे वसन्नपि नैव स्पृशति नियमेन देहमपि, देहेन न स्पृश्यते योऽपि मन्यस्व जानीहि
परमात्मा सोऽपि । इतो विशेषः—य एव शुद्धात्मानुभूतिविपरीतेन क्रोधमानमायालोभस्व-
रूपादिविभावपरिणामेनोपाजितेन पूर्वकर्मणा निर्मिते देहे अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण वसन्नपि
निश्चयेन य एव देहं न स्पृशति, तथाविधदेहेन न स्पृश्यते योऽपि तं मन्यस्व जानीहि परमा-
त्मानं तमेवम् । किं कृत्वा । वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थितेति । अत्र य एव शुद्धात्मानुभूति-
रहितदेहे ममत्वपरिणामेन सहितानां हेयः स एव शुद्धात्मा देहममत्वपरिणामरहितानामुपादेय

अनादि अनन्त है, तथा यह देह आदि अंतकर सहित है, [केवलज्ञानस्फुरिततनुः] जो आत्मा
निश्चयनयकर लोक अलोकको प्रकाशनेवाले केवलज्ञानस्वरूप है, अर्थात् केवलज्ञान ही प्रकाशरूप
शरीर है, और देह जड है [सः परमात्मा] वही परमात्मा [निर्भ्रान्तः] निःसंदेह है, इसमें कुछ
संशय नहीं समझना । सारांश यह है, कि जो देहमें रहता है, तो भी देहसे जुदा है, सर्वाशुचिमयी
देहको वह देव छूता नहीं है, वही आत्मदेव उपादेय है ॥३३॥

आगे शुद्धात्मासे भिन्न इस देहमें रहता हुआ भी देहको नहीं स्पर्श करता हैं, और देह भी
उसको नहीं छूती है, यह कहते हैं—[य एव] जो [देहे वसन्नपि] देहमें रहता हुआ भी [नियमेन]
निश्चयनयकर [देहमपि] शरीरको [नैव स्पृशति] नहीं स्पर्श करता, [देहेन] देहसे [यः अपि]
वह भी [नैव स्पृश्यते] नहीं छुआ जाता । अर्थात् न तो जीव देहको स्पर्श करता है और न देह
जीवको स्पर्श करती है, [तमेव] उसीको [परमात्मानं] परमात्मा [मन्यस्व] तू जान, अर्थात्
अपना स्वरूप ही परमात्मा है ॥ भावार्थ—जो शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत क्रोध, मान, माया,
लोभरूप विभाव परिणाम हैं, उनकर उपार्जन किये शुभ अशुभ कर्मोंकर बनाई हुई देहमें अनुपचरित-
असद्भूत-व्यवहारनयकर बसता हुआ भी निश्चयकर देहको नहीं छूता, उसको तुम परमात्मा
जानो, उसी स्वरूपको वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें तिष्ठकर चिंतवन करो । यह आत्मा जडरूप
देहमें व्यवहारनयकर रहता है, सो देहात्मबुद्धिवालेको नहीं मालूम होता है, वही शुद्धात्मा देहके

इति भावार्थः ॥ ३४ ॥

अथ यः समभावस्थितानां योगिनां परमानन्दं जनयन् कोऽपि शुद्धात्मा स्फुरति । तमाह—

जो सम-भाव-परिद्विष्ट है जोइहैं कोइ फुरेइ ।

परमाणंदु जणंतु फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥ ३५ ॥

यः समभावप्रतिष्ठितानां योगिनां कश्चित् स्फुरति ।

परमानन्दं जनयन् स्फुटं स परमात्मा भवति ॥ ३५ ॥

यः कोऽपि परमात्मा जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रादिसमभावपरिणतस्वशुद्धा-
त्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ प्रतिष्ठितानां परम-
योगिनां कश्चित् स्फुरति संवित्तिमायाति । किं कुर्वन् । वीतरागपरमानन्दं जनयन् स्फुटं निश्चि-
तम् । तथा चोक्तम्—“आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः । जायते परमानन्दः कश्चि-
द्योगेन योगिनः ॥” हे प्रभाकरभट्ट स एवंभूतः परमात्मा भवतीति । अत्र वीतरागनिर्विकल्प-
समाधिरतानां स एवोपादेयः, तद्विपरीतानां हेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ३५ ॥

अथ शुद्धात्मप्रतिपक्षभूतकर्मदेहप्रतिबद्धोऽप्यात्मा निश्चयनयेन सकलो न भवतीति
ज्ञापयति—

कम्म-णिबद्धु वि जोइया देहि वसंतु वि जो जि ।

होइ ण सयलु कया वि फुडु मुणि परमप्पु सो जि ॥ ३६ ॥

ममत्वसे रहित (विवेकी) पुरुषोंके आराधने योग्य है ॥३४॥

आगे जो योगी समभावमें स्थित हैं, उनको परमानन्द उत्पन्न करता हुआ कोई शुद्धात्मा
स्फुरायमान है, उसका स्वरूप कहते हैं—[समभावप्रतिष्ठितानां] समभाव अर्थात् जीवित, मरण,
लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, शत्रु, मित्र इत्यादि इन सबमें समभावको परिणत हुए [योगिनां] परम
योगीश्वरोंके अर्थात् जिनके शत्रु-मित्रादि सब समान है, और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान,
सम्यक्चारित्र्यरूप अभेदरत्नत्रय जिसका स्वरूप है, ऐसी वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें तिष्ठे हुए हैं,
उन योगीश्वरोंके हृदयमें [परमानन्दं जनयन्] वीतराग परम आनन्दको उत्पन्न करता हुआ [यः
कश्चित्] जो कोई [स्फुरति] स्फुरायमान होता है, [स स्फुटं] वही प्रकट [परमात्मा] परमात्मा
[भवति] है ऐसा जानो । ऐसा ही दूसरी जगह भी “आत्मानुष्ठान” इत्यादिसे कहा है, अर्थात् जो
योगी आत्माके अनुभवमें तल्लीन हैं, और व्यवहारसे रहित शुद्ध निश्चयमें तिष्ठते हैं, उन योगियोंके
ध्यान करके अपूर्व परमानन्द उत्पन्न होता है । इसलिये हे प्रभाकरभट्ट, जो आत्मस्वरूप
योगीश्वरोंके हृदयमें स्फुरायमान है, वही उपादेय है । जो योगी वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें लगे हुए
हैं, संसारसे पराङ्मुख हैं, उन्हींके वह आत्मा उपादेय है, और जो देहात्मबुद्धि विषयासक्त हैं, वे
अपने स्वरूपको नहीं जानते हैं, उनके आत्मरुचि नहीं हो सकती यह तात्पर्य हुआ ॥३५॥

आगे शुद्धात्मासे जुदे कर्म और शरीर इन दोनोंकर अनादिकर बँधा हुआ यह आत्मा है, तो

कर्मनिबद्धोऽपि योगिन् देहे वसन्नपि य एव ।

भवति न सकलः कदापि स्फुटं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ३६ ॥

कर्मनिबद्धोऽपि हे योगिन् देहे वसन्नपि य एव न भवति सकलः कापि काले स्फुटं मन्यस्व जानीहि परमात्मानं तमेवेति । अतो विशेषः—परमात्मभावनाविषयभूतैः रागद्वेषमोहैः समुपाजितैः कर्मभिरशुद्धनयेन बद्धोऽपि तथैव देहस्थितोऽपि निश्चयनयेन सकलः सदेहो न भवति कापि तमेव परमात्मानं हे प्रभाकरभट्ट मन्यस्व जानीहि वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन भावयेत्यर्थः । अत्र सदैव परमात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानामुपादेयो भवत्यन्येषां हेय इति भावार्थः ॥ ३६ ॥

यः परमार्थेन देहकर्मरहितोऽपि मूढात्मानां सकल इति प्रतिभातीत्येवं निरूपयति—

जो परमर्थेँ णिष्कलु चि कम्म-विभिण्णउ जो जि ।

मूढा सयलु भणंति फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३७ ॥

यः परमार्थेन निष्कलोऽपि कर्मविभिन्नो य एव ।

मूढाः सकलं भणन्ति स्फुटं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ३७ ॥

यः परमार्थेन निष्कलोऽपि देहरहितोऽपि कर्मविभिन्नोऽपि य एव भेदाभेदरत्नत्रयभावना-रहिता मूढात्मानस्तमात्मानं सकलमिति भणन्ति स्फुटं निश्चितं हे प्रभाकरभट्ट तमेव परमात्मानं मन्यस्व जानीहीति, वीतरागसदानन्दैकसमाधौ स्थितानुभवेत्यर्थः । अत्र स एव परमात्मा शुद्धात्मसंवित्प्रतिपक्षभूतमिथ्यास्वरगादिनिवृत्तिकाले सम्यगुपादेयो भवति तदभावे हेय इति

भी निश्चयनयकर शरीरस्वरूप नहीं है, यह कहते हैं—[योगिन्] हे योगी [यः] जो यह आत्मा [कर्मनिबद्धोऽपि] यद्यपि कर्मोंसे बँधा है, [देहे वसन्नपि] और देहमें रहता भी है, [कदापि] परंतु कभी [सकलः न भवति] देहरूप नहीं होता, [तमेव] उसीको तू [परमात्मानं] परमात्मा [स्फुटं] निश्चयसे [मन्यस्व] जान ॥ भावार्थ—परमात्माकी भावनासे विपरीत जो राग, द्वेष, मोह हैं, उनकर यद्यपि व्यवहारनयसे बँधा है, और देहमें तिष्ठ रहा है, तो भी निश्चयनयसे शरीररूप नहीं है, उससे जुदा ही है, किसी कालमें भी यह जीव जड़ न तो हुआ, न होगा, उसे हे प्रभाकरभट्ट, परमात्मा जान । निश्चयनयकर आत्मा ही परमात्मा है, उसे तू वीतराग स्वसंवेदनज्ञानकर चिंतवन कर । सारांश यह है, कि यह आत्मा सदैव वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें लीन साधुओंको तो प्रिय है किन्तु मूढ़ोंको नहीं ॥ ३६ ॥

आगे निश्चयनयकर आत्मा देह और कर्मोंसे रहित है, तो भी मूढ़ों (अज्ञानियों) को शरीरस्वरूप मालूम होता है, ऐसा कहते हैं—[यः] जो आत्मा [परमार्थेन] निश्चयनयकर [निष्कलोऽपि] शरीर रहित है, [कर्मविभिन्नोऽपि] और कर्मोंसे भी जुदा है, तो भी [मूढाः] निश्चय व्यवहार रत्नत्रयकी भावनासे विमुख मूढ़ [सकलं] शरीरस्वरूप ही [स्फुटं] प्रगटपनेसे [भणंति] मानते हैं, सो हे प्रभाकरभट्ट, [तमेव] उसीको [परमात्मानं] परमात्मा [मन्यस्व] जान, अर्थात् वीतराग सदानन्द निर्विकल्पसमाधिमें रहकर अनुभव कर ॥ भावार्थ—वही परमात्मा शुद्धात्माके

तात्पर्यार्थः ॥ ३७ ॥

अथानन्ताकाशैकनक्षत्रमिव यस्य केवलज्ञाने त्रिभुवनं प्रतिभाति स परमात्मा भवतीति कथयति—

गयणि अणंति वि एक उडु जेहउ भुयणु विहाइ ।

मुक्कहँ जसु पए बिंबियउ सो परमप्पु अणाइ ॥ ३८ ॥

गगने अनन्तेऽपि एकमुडु यथा भुवनं विभाति ।

मुक्तस्य यस्य पदे बिम्बितं स परमात्मा अनादिः ॥ ३८ ॥

गगने अनन्तेऽप्येकनक्षत्रं यथा तथा भुवनं जगत् प्रतिभाति । क प्रतिभाति । मुक्तस्य यस्य पदे केवलज्ञाने बिम्बितं प्रतिफलितं दर्पणे बिम्बमिव । स एवंभूतः परमात्मा भवतीति । अत्र यस्यैव केवलज्ञाने नक्षत्रमेकमिव लोकः प्रतिभाति स एव रागादिसमस्तविकल्परहितानामुपादेयो भवतीति भावार्थः ॥ ३८ ॥

अथ योगीन्द्रवृन्दैर्यो निरवधिज्ञानमयो निर्विकल्पसमाधिकाले ध्येयरूपश्चिन्त्यते तं परमात्मानमाह—

जोइय-बिंदहिँ णाणमउ जो झाइज्जइ झेउ ।

मोक्खहँ कारणि अनवरउ सो परमप्पउ देउ ॥ ३९ ॥

योगिवृन्दैः ज्ञानमयः यो ध्यायते ध्येयः ।

मोक्षस्य कारणे अनवरतं स परमात्मा देवः ॥ ३९ ॥

योगीन्द्रवृन्दैः शुद्धात्मवीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतैः ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः यः कर्म-
तापन्नो ध्यायते ध्येयो ध्येयरूपोऽपि । किमर्थं ध्यायते । मोक्षकारणे मोक्षनिमित्ते अनवरतं
वैरी मिथ्यात्व रागादिकोंके दूर होनेके समय ज्ञानी जीवोंको उपादेय है, और जिनके मिथ्यात्व-
रागादिक दूर नहीं हुए उनके उपादेय नहीं, परवस्तुका ही ग्रहण है ॥३७॥

आगे अनंत आकाशमें एक नक्षत्रकी तरह जिसके केवलज्ञानमें तीनों लोक भासते हैं, वह परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—[यथा] जैसे [अनन्तेऽपि] अनंत [गगने] आकाशमें [एकं उडु] एक नक्षत्र [“तथा”] उसी तरह [भुवनं] तीन लोक [यस्य] जिसके [पदे] केवलज्ञानमें [बिंबितं] प्रतिबिंबित हुए [विभाति] दर्पणमें मुखकी तरह भासता है, [सः] वह [परमात्मा अनादिः] परमात्मा अनादि है ॥ भावार्थ—जिसके केवलज्ञानमें एक नक्षत्रकी तरह समस्त लोक अलोक भासते हैं, वही परमात्मा रागादि समस्त विकल्पोंसे रहित योगीश्वरोंको उपादेय है ॥३८॥

आगे अनंतज्ञानमयी परमात्मा योगीश्वरोंकर निर्विकल्पसमाधि-कालमें ध्यान करने योग्य है, उसी परमात्माको कहते हैं—[यः] जो [योगीन्द्रवृन्दैः] योगीश्वरोंकर [मोक्षस्य कारणे] मोक्षके निमित्त [अनवरतं] निरन्तर [ज्ञानमयः] ज्ञानमयी [ध्यायते] चिंतवन किया जाता है, [सः परमात्मा देवः] वह परमात्मदेव [ध्येयः] आराधने योग्य है, दूसरा कोई नहीं ॥ भावार्थ—जो

निरन्तरं स एव परमात्मा देवः परमाराध्य इति । अत्र य एव परमात्मा मुनिवृन्दानां ध्येयरूपो भणितः स एव शुद्धात्मसंवित्तिप्रतिपक्षभूतार्तरौद्रध्यानरहितानामुपादेय इति भावार्थः ॥ ३९ ॥

अथ योऽयं शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवो ज्ञानावरणादिकर्महेतुं लब्ध्वा त्रसस्थावररूपं जगज्जनयति स एव परमात्मा भवति नान्यः कोऽपि जगत्कर्ता ब्रह्मादिरिति प्रतिपादयति—

जो जिउ हेउ लहेवि विहि जगु बहु-बिहउ जणेइ ।

लिंगत्रय-परिमंडियउ सो परमप्पु हवेइ ॥ ४० ॥

यो जीवः हेतुं लब्ध्वा विधिं जगत् बहुविधं जनयति ।

लिङ्गत्रयपरिमण्डितः स परमात्मा भवति ॥ ४० ॥

यो जीवः कर्ता हेतुं लब्ध्वा । किम् । विधिसंज्ञं ज्ञानावरणादिकर्म । पश्चाज्जन्मस्थावररूपं जगज्जनयति स एव लिङ्गत्रयमण्डितः सन् परमात्मा भण्यते न चान्यः कोऽपि जगत्कर्ता हरिहरादिरिति । तद्यथा । योऽसौ पूर्वं बहुधा शुद्धात्मा भणितः स एव शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धोऽपि सन् अनादिसंतानागतज्ञानावरणादिकर्मबन्धप्रच्छादितत्वाद्बीतरागनिर्विकल्पसहजानन्दैकसुखास्वादमलभमानो व्यवहारनयेन त्रसो भवति, स्थावरो भवति, स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गो भवति, तेन कारणेन जगत्कर्ता भण्यते नान्यः कोऽपि परकल्पितपरमात्मेति । अत्रायमेव शुद्धात्मा परमा-

परमात्मा मुनियोंको ध्यावने योग्य कहा है, वही शुद्धात्मज्ञानके वैरी आर्त रौद्र ध्यानकर रहित धर्म ज्ञानी पुरुषोंको उपादेय है, अर्थात् जब आर्तध्यान रौद्रध्यान ये दोनों छूट जाते हैं, तभी उसका ध्यान हो सकता है ॥३९॥

आगे जो शुद्ध ज्ञानस्वभाव जीव ज्ञानावरणादि कर्मोंके कारणसे त्रस स्थावर जन्मरूप जगतको उत्पन्न करता है, वही परमात्मा है, दूसरे कोई भी ब्रह्मादिक जगत्कर्ता नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—[यः] जो [जीवः] आत्मा [विधिं हेतुं] ज्ञानावरणादि कर्मरूप कारणोंको [लब्ध्वा] पाकर [बहुविधं जगत्] अनेक प्रकारके जगतको [जनयति] पैदा करता है, अर्थात् कर्मके निमित्तसे त्रस स्थावररूप अनेक जन्म धरता है [लिंगत्रयपरिमंडितः] स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसकलिंग इन तीन चिह्नोंकर सहित हुआ [सः] वही [परमात्मा] शुद्धनिश्चयकर परमात्मा [भवति] है, अर्थात् अशुद्धपनेको परिणत हुआ जगतमें भटकता है, इसलिये जगतका कर्ता कहा है, और शुद्धपनेरूप परिणत हुआ विभाव (विकार) परिणामोंको हरता है, इसलिये हर्ता है । यह जीव ही ज्ञान अज्ञान दशाकर कर्ता हर्ता है और दूसरे कोई भी हरिहरादिक कर्ता हर्ता नहीं है ॥ भावार्थ—पूर्व जो शुद्धात्मा कहा था, वह यद्यपि शुद्धनयकर शुद्ध है, तो भी अनादिसे संसारमें ज्ञानावरणादि कर्मबंधकर ढका हुआ बीतराग, निर्विकल्पसहजानन्द, अद्वितीयसुखके स्वादको न पानेसे व्यवहारनयकर त्रस और स्थावररूप स्त्री पुरुष नपुंसक लिंगादि सहित होता है, इसलिये जगत्कर्ता कहा जाता है, अन्य कोई भी दूसरोंकर कल्पित परमात्मा नहीं है । यह आत्मा ही परमात्माकी प्राप्तिके शत्रु तीन वेदों (स्त्रीलिंगादि) कर उत्पन्न हुए रागादि विकल्प-जालोंको निर्विकल्पसमाधिसे जिस समय नाश

त्मोपलब्धिप्रतिपक्षवेदत्रयोदयजनितं रागादिविकल्पजालं निर्विकल्पसमाधिना यदा विनाशयति तदोपादेयभूतमोक्षसुखसाधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥ ४० ॥

अथ यस्य परमात्मनः केवलज्ञानप्रकाशमध्ये जगद्वसति जगन्मध्ये सोऽपि वसति तथापि तद्रूपो न भवतीति कथयति—

जस्य अब्भंतरि जगु वसइ जग-अब्भंतरि जो जि ।

जगि जि वसंतु वि जगु जि ण वि मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ४१ ॥

यस्य अभ्यन्तरे जगत् वसति जगदभ्यन्तरे य एव ।

जगति एव वसन्नपि जगत् एव नापि मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ४१ ॥

यस्य केवलज्ञानस्याभ्यन्तरे जगत् त्रिभुवनं ज्ञेयभूतं वसति जगतोऽभ्यन्तरे योऽसौ ज्ञायको भगवानपि वसति जगति वसन्नेव रूपविषये चक्षुरिव निश्चयनयेन तन्मयो न भवति मन्यस्व जानीहि । हे प्रभाकरभट्ट, तमित्थंभूतं परमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । अत्र योऽसौ केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य वीतरागस्वसंवेदनकाळे मुक्तिकारणं भवति स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ४१ ॥

अथ देहे वसन्तमपि हरिहरादयः परमसमाधेरभावादेव यं न जानन्ति स परमात्मा भवतीति कथयन्ति—

देहि वसंतु वि हरि-हर वि जं अज्ज वि ण मुणंति ।

परम-समाहि-तवेण विणु सो परमप्पु भणंति ॥ ४२ ॥

करता है, उसी समय उपादेयरूप मोक्षसुखका कारण होनेसे उपादेय हो जाता है ॥४०॥

आगे जिस परमात्माके केवलज्ञानरूप प्रकाशमें जगत् बस रहा है, और जगतके मध्यमें वह ठहर रहा है, तो भी वह जगतरूप नहीं है, ऐसा कहते हैं—[यस्य] जिस आत्मारामके [अभ्यन्तरे] केवलज्ञानमें [जगत्] संसार [वसति] बस रहा है, अर्थात् प्रतिबिम्बित हो रहा है, प्रत्यक्ष भास रहा है, [जगदभ्यन्तरे] और जगतमें वह बस रहा है, अर्थात् सबमें व्याप रहा है । वह ज्ञाता है और जगत् ज्ञेय है, [जगति एव वसन्नपि] संसारमें निवास करता हुआ भी [जगदेव नापि] निश्चयनयकर किसी जगतकी वस्तुसे तन्मय (उस स्वरूप) नहीं होता, अर्थात् जैसे रूपी पदार्थको नेत्र देखते हैं, तो भी उनसे जुड़े ही रहते हैं, इस तरह वह भी सबसे जुड़ा रहता है, [तमेव] उसीको [परमात्मानं] परमात्मा [मन्यस्व] हे प्रभाकरभट्ट, तू जान ॥ भावार्थ—जो शुद्ध, बुद्ध, सर्वव्यापक, सबसे अलिप्त, शुद्धात्मा है, उसे वीतराग निर्विकल्प समाधिमें स्थिर होकर ध्यान कर । जो केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप कार्यसमयसार है, उसका कारण वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानरूप निजभाव ही उपादेय हैं ॥४१॥

आगे वह शुद्धात्मा यद्यपि देहमें रहता है, तो भी परमसमाधिके अभावसे हरिहरादिक सरीखे भी जिसे प्रत्यक्ष नहीं जान सकते, वह परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—[देहे] परमात्मस्वभावसे भिन्न

देहे वसन्तमपि हरिहरा अपि यम् अद्यापि न जानन्ति ।

परमसमाधितपसा विना तं परमात्मानं भणन्ति ॥ ४२ ॥

परमात्मस्वभावविलक्षणे देहे अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन वसन्तमपि हरिहरा अपि यमद्यापि न जानन्ति । केन विना । वीतरागनिर्विकल्पनित्यानन्दैकसुखामृतरसास्वादरूपपरमसमाधितपसा । तं परमात्मानं भणन्ति वीतरागसर्वज्ञा इति । किं च । पूर्वभवे कोऽपि जीवो भेदाभेदरत्नत्रयाराधनां कृत्वा विशिष्टपुण्यबन्धं च कृत्वा पश्चादज्ञानभावेन निदानबन्धं करोति तदनन्तरं स्वर्गं गत्वा पुनर्मनुष्यो भूत्वा त्रिखण्डाधिपतिर्वासुदेवो भवति । अन्यः कोऽपि जिनदीक्षां गृहीत्वान्यत्रैव भवे विशिष्टसमाधिबलेन पुण्यबन्धं कृत्वा पश्चात्पूर्वकृतचारित्रमोहोदयेन विषयासक्तो भूत्वा रुद्रो भवति । कथं ते परमात्मस्वरूपं न जानन्ति इति पूर्वपक्षः । तत्र परिहारं ददाति । युक्तमुक्तं भवता, यद्यपि रत्नत्रयाराधनां कृतवन्तस्तथापि यादृशेन वीतरागनिर्विकल्परत्नत्रयस्वरूपेण तद्भवे मोक्षो भवति तादृशं न जानन्तीति । अत्र यमेव शुद्धात्मानं साक्षादुपादेयभूतं तद्भवमोक्षसाधकाराधनासमर्थं च ते हरिहरादयो न जानन्तीति स एवोपादेयो भवः शरीरमे [वसन्तमपि] अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनयकर बसता है, तो भी [यं] जिसको [हरिहरा अपि] हरिहर सरीखे चतुर पुरुष [अद्यअपि] अब तक भी [न जानन्ति] नहीं जानते हैं । किसके बिना ? [परमसमाधितपसा विना] वीतरागनिर्विकल्प नित्यानन्द अद्वितीय सुखरूप अमृतके रसके आस्वादरूप परमसमाधिभूत महातपके विना नहीं जानते, [तं] उसको [परमात्मानं] परमात्मा [भणन्ति] कहते हैं । यहाँ किसीका प्रश्न है, कि पूर्वभवमें कोई जीव जिनदीक्षा धारणकर व्यवहार निश्चयरूप रत्नत्रयकी आराधनाकर महान् पुण्यको उपार्जन करके अज्ञानभावसे निदानबन्ध करनेके बाद स्वर्गमें उत्पन्न होता है, पीछे आकर मनुष्य होता है, वही तीन खंडका स्वामी वासुदेव (हरि) कहलाता है, और कोई जीव इसी भवमें जिनदीक्षा लेकर समाधिके बलसे पुण्यबन्ध करता है, उसके बाद पूर्वकृत चारित्रमोहके उदयसे विषयोंसे लीन हुआ रुद्र (हर) कहलाता है । इसलिये वे हरिहरादिक परमात्माका स्वरूप कैसे नहीं जानते ? इसका समाधान यह है, कि तुम्हारा कहना ठीक है । यद्यपि इन हरिहरादिक महान् पुरुषोंने रत्नत्रयकी आराधना की, तो भी जिस तरहके वीतराग-निर्विकल्प-रत्नत्रयस्वरूपसे तद्भव मोक्ष होता है, वैसा रत्नत्रय इनके नहीं प्रगट हुआ, सरागरत्नत्रय हुआ है, इसीका नाम व्यवहाररत्नत्रय है । सो यह तो हुआ, लेकिन शुद्धोपयोगरूप वीतरागरत्नत्रय नहीं हुआ, इसलिये वीतरागरत्नत्रयके धारक उसी भवसे मोक्ष जानेवाले योगी जैसा जानते हैं, वैसा ये हरिहरादिक नहीं जानते । इसीलिये परम शुद्धोपयोगियोंकी अपेक्षा इनको नहीं जाननेवाले कहा गया है, क्योंकि जैसे स्वरूपके जाननेसे साक्षात् मोक्ष होता है, वैसा स्वरूप ये नहीं जानते । यहाँपर सारांश यह है, कि जिस साक्षात् उपादेय शुद्धात्माको तद्भव मोक्षके साधक महामुनि ही आराध सकते हैं, और हरिहरादिक नहीं जान सकते, वही चिंतवन करने योग्य है ॥४२॥

तीति भावार्थः ॥ ४२ ॥

अथोत्पादव्ययपर्यायार्थिकनयेन संयुक्तोऽपि यः द्रव्यार्थिकनयेन उत्पादव्ययरहितः स एव परमात्मा निर्विकल्पसमाधिबलेन जिनवरैर्देहेऽपि दृष्ट इति निरूपयति—

भावाभावहिँ संजुवउ भावाभावहिँ जो जि ।

देहि जि दिहुउ जिणवरहिँ मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ४३ ॥

भावाभावाभ्यां संयुक्तः भावाभावाभ्यां य एव ।

देहे एव दृष्टः जिनवरैः मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ४३ ॥

भावाभावाभ्यां संयुक्तः पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययाभ्यां परिणतः द्रव्यार्थिकनयेन भावाभावयोः रहितः य एव वीतरागनिर्विकल्पसदानन्दैकसमाधिना तद्भवमोक्षसाधकाराधनासमर्थेन जिनवरैर्देहेऽपि दृष्टः तमेव परमात्मानं मन्यस्व जानीहि वीतरागपरमसमाधिबलेनानुभवेत्यर्थः । अत्र य एव परमात्मा कृष्णनीलकापोतलेश्यास्वरूपादिसमस्तविभावरहितेन शुद्धात्मोपलब्धिध्यानेन जिनवरैर्देहेऽपि दृष्टः स एव साक्षादुपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ४३ ॥

अथ येन देहे वसता पञ्चेन्द्रियग्रामो वसति गतेनोद्वसो भवति स एव परमात्मा भवतीति कथयति—

देहि वसंतेँ जेण पर इंदिय-गासु वसेइ ।

उव्वसु होइ गएण फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥ ४४ ॥

देहे वसता येन परं इन्द्रियग्रामः वसति ।

उद्वसो भवति गतेन स्फुटं स परमात्मा भवति ॥ ४४ ॥

आगे यद्यपि पर्यायार्थिकनयकर उत्पादव्ययकर सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयकर उत्पादव्ययरहित है, सदा ध्रुव (अविनाशी) ही है, वही परमात्मा निर्विकल्प समाधिके बलसे तीर्थकरदेवोंने देहमें भी देख लिया है, ऐसा कहते हैं—[य एव] जो [भावाभावाभ्यां] व्यवहारनयकर यद्यपि उत्पाद और व्ययकर [संयुक्तः] सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयसे [भावाभावाभ्यां] उत्पाद और विनाशसे [‘रहितः’] रहित हैं, तथा [जिनवरैः] वीतराग-निर्विकल्प आनंदरूप-समाधिकर तद्भव मोक्षके साधक जिनवरदेवने [देहे अपि] देहमें भी [दृष्टः] देख लिया है, [तमेव] उसीको तू [परमात्मानं] परमात्मा [मन्यस्व] जान, अर्थात् वीतराग परमसमाधिके बलसे अनुभव कर ॥ भावार्थ—जो परमात्मा कृष्ण, नील, कापोत लेश्यारूप विभाव परिणामोंसे रहित शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप ध्यानकर जिनवरदेवने देहमें देखा है, वही साक्षात् उपादेय है ॥४३॥

आगे देहमें जिसके रहनेसे पाँच इंद्रियरूप गाँव बसता है, और जिसके निकलनेसे पंचेन्द्रियरूप ग्राम उजड़ हो जाता है, वह परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—[येन परं देहे वसता] जिसके केवल देहमें रहनेसे [इन्द्रियग्रामः] इन्द्रिय गाँव [वसति] रहता है, [गतेन] और जिसके परभवमें चले जानेपर [उद्वसः स्फुटं भवति] ऊजड़ निश्चयसे हो जाता है [स परमात्मा] वह परमात्मा

देहे वसता येन परं नियमेनेन्द्रियग्रामो वसति येनात्मना निश्चयेनातीन्द्रियस्वरूपेणापि व्यवहारनयेन शुद्धात्मविपरीते देहे वसता स्पर्शनादीन्द्रियग्रामो वसति, स्वसंविषयभावे स्वकीय-विषये प्रवर्तत इत्यर्थः । उद्भूतो भवति गतेन स एवेन्द्रियग्रामो यस्मिन् भवान्तरगते सत्युद्भूतो भवति स्वकीयविषयव्यापाररहितो भवति स्फुटं निश्चितं स एवंलक्षणश्चिदानन्दैकस्वभावः परमात्मा भवतीति । अत्र य एवातीन्द्रियसुखास्वादसमाधिरतानां मुक्तिकारणं भवति स एव सर्वप्रकारोपादेयातीन्द्रियसुखसाधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥ ४४ ॥

अथ यः पञ्चेन्द्रियैः पञ्चविषयान् जानाति स च तैर्न ज्ञायते स परमात्मा भवतीति निरूपयति—

जो णिय-करणहिँ पंचहिँ वि पंच वि विसय मुणेइ ।

मुणिउ ण पंचहिँ पंचहिँ वि सो परमप्पु हवेइ ॥ ४५ ॥

यः निजकरणैः पञ्चभिरपि पञ्चापि विषयान् जानाति ।

ज्ञातः न पञ्चभिः पञ्चभिरपि स परमात्मा भवति ॥ ४५ ॥

यो निजकरणैः पञ्चभिरपि पञ्चापि विषयान् मनुते जानाति । तद्यथा । यः कर्ता शुद्ध-निश्चयनयेनातीन्द्रियज्ञानमयोऽपि अनादिबन्धवशात् असद्भूतव्यवहारेणेन्द्रियमयशरीरं गृहीत्वा स्वयमर्थान् ग्रहीतुमसमर्थत्वात्पञ्चेन्द्रियैः कृत्वा पञ्चविषयान् जानाति, इन्द्रियज्ञानेन परिणमतीत्यर्थः । पुनश्च कथंभूतः । मुणिउ ण पंचहिँ पंचहिँ वि सो परमप्पु हवेइ मतो न ज्ञातो न पञ्चभिरिन्द्रियैः पञ्चभिरपि स्पर्शादिविषयैः । तथाहि—वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञान-

[भवति] है ॥ भावार्थ—शुद्धात्मासे जुदी ऐसी देहमें बसते आत्मज्ञानके अभावसे ये इन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंमें (रूपादिमें) प्रवर्तती हैं, और जिसके चले जाने पर अपने अपने विषय-व्यापारसे रुक जाती हैं, ऐसा चिदानन्द निज आत्मा वही परमात्मा है । अतीन्द्रियसुखके आस्वादी परमसमाधिमें लीन हुए मुनियोंको ऐसे परमात्माका ध्यान ही मुक्तिका कारण है, वही अतीन्द्रियसुखका साधक होनेसे सब तरह उपादेय हैं ॥४४॥

आगे जो पाँच इन्द्रियोंसे पाँच विषयोंको जानता है, और आप इन्द्रियोंके गोचर नहीं होता है, वही परमात्मा है, यह कहते हैं—[यः] जो आत्माराम शुद्धनिश्चयनयकर अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, तो भी अनादि बंधके कारण व्यवहारनयसे इन्द्रियमय शरीरको ग्रहणकर [निजकरणैः पंचभिरपि] अपनी पाँचों इन्द्रियों द्वारा [पंचापि विषयान्] रूपादि पाँचों ही विषयोंको जानता है, अर्थात् इन्द्रियज्ञानरूप परिणमन करके इन्द्रियोंसे रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्शको जानता है, और आप [पंचभिः] पाँच इन्द्रियोंकर तथा [पंचभिरपि] पाँचों विषयोंसे तो [ज्ञातः न] नहीं जाना जाता, अगोचर है, [स परमात्मा] ऐसे लक्षण जिसके हैं, वही परमात्मा [भवति] है ॥ भावार्थ—पाँच इन्द्रियोंके विषयसुखके आस्वादसे विपरीत, वीतराग निर्विकल्प परमानंद समरसीभावरूप, सुखके

विषयोऽपि पञ्चेन्द्रियैश्च न ज्ञात इत्यर्थः । स एवंलक्षणः परमात्मा भवतीति । अत्र य एव पञ्चेन्द्रियविषयसुखास्वादविपरीतेन वीतरागनिर्विकल्पपरमानन्दसमरसीभावसुखरसास्वादपरिणतेन समाधिना ज्ञायते, स एवात्मोपादानसिद्धमित्यादिविशेषणविशिष्टस्योपादेयभूतस्यातीन्द्रियसुखस्य साधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥ ४५ ॥

अथ यस्य परमार्थेन बन्धसंसारौ न भवतस्तमात्मानं व्यवहारं मुक्त्वा जानीहि इति कथयति—

जसु परमर्थे बंधु णवि जोइय ण वि संसारु ।

सो परमप्पउ जाणि तुहुं मणि मिल्लिवि ववहारु ॥ ४६ ॥

यस्य परमार्थेन बन्धो नैव योगिन् नापि संसारः ।

तं परमात्मानं जानीहि त्वं मनसि मुक्त्वा व्यवहारम् ॥ ४६ ॥

जसु परमर्थे बंधु णवि जोइय ण वि संसारु यस्य परमार्थेन बन्धो नैव हे योगिन् नापि संसारः । तद्यथा—यस्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मनस्तद्विलक्षणो द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपः परमागमप्रसिद्धः पञ्चप्रकारः संसारो नास्ति, इत्थंभूतसंसारस्य कारणभूतप्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदभिन्नकेवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपमोक्षपदार्थाद्विलक्षणो बन्धोऽपि नास्ति, सो परमप्पउ जाणि तुहुं मणि मिल्लिहि ववहारु तमेवेत्थंभूतलक्षणं परमात्मानं मनसि व्यवहारं मुक्त्वा जानीहि, वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । अत्र य एव शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणेन संसारेण बन्धनेन च रहितः स एवानाकुलत्वलक्षणसर्वप्रकारोपादेयभूतमोक्षसुखसाधकत्वादुपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ४६ ॥

रसका आस्वादरूप, परमसमाधि करके जो जाना जाता है, वही परमात्मा है, वह ज्ञानगम्य है, इन्द्रियोंसे अगम्य है, और उपादेयरूप अतीन्द्रिय सुखका साधन अपना स्वभावरूपे वही परमात्मा आराधने योग्य है ॥४५॥

आगे जिसके निश्चयकर बंध नहीं हैं, और संसार भी नहीं है, उस आत्माको सब लौकिक व्यवहार छोड़कर अच्छी तरह पहचानो, ऐसा कहते हैं—[योगिन्] हे योगी, [यस्य] जिस चिदानन्द शुद्धात्माके [परमार्थेन] निश्चय करके [संसारः] निज स्वभावसे भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच प्रकार परिवर्तन (भ्रमण) स्वरूप संसार [नैव] नहीं है, [बन्धो नापि] और संसारके कारण जो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप चार प्रकारका बंध भी नहीं है । जो बंध केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयकी प्रगटतारूप मोक्ष-पदार्थसे जुदा है, [तं परमात्मानं] उस परमात्माको [त्वं] तू [मनसि व्यवहारं मुक्त्वा] मनमेंसे सब लौकिक व्यवहारको छोड़कर तथा वीतरागसमाधिमें ठहरकर [जानीहि] जान, अर्थात् चिन्तवन कर ॥ भावार्थ—शुद्धात्माकी अनुभूतिसे भिन्न जो संसार और संसारका कारण बंध इन दोनोंसे रहित और आकुलतासे रहित ऐसे लक्षणवाला मोक्षका मूलकारण जो शुद्धात्मा है, वही सर्वथा आराधने योग्य है ॥४६॥

अथ यस्य परमात्मनो ज्ञानं बलीवत् ज्ञेयास्तित्वाभावेन निवर्तते न च शक्त्यभावेनेति कथयति—

ज्ञेयाभावे विह्वलि जिम थक्कइ णाणु बलेवि ।

मुक्कहँ जसु पय बिंबियउ परम-सहाउ भणेवि ॥ ४७ ॥

ज्ञेयाभावे बली यथा तिष्ठति ज्ञानं बलित्वा ।

मुक्तानां यस्य पदे बिम्बितं परमस्वभावं भणित्वा ॥ ४७ ॥

ज्ञेयाभावे विह्वलि जिम थक्कइ णाणु बलेवि ज्ञेयाभावे बली यथा तथा ज्ञानं तिष्ठति व्यावृत्त्येति । यथा मण्डपाद्यभावे बली व्यावृत्त्य तिष्ठति तथा ज्ञेयावलम्बनाभावे ज्ञानं व्यावृत्त्य तिष्ठति न च ज्ञातृत्वशक्त्यभावेनेत्यर्थः । कस्य संबन्धि ज्ञानम् । मुक्कहँ मुक्तात्मनां ज्ञानम् । कथं-भूतम् । जसु पय बिंबियउ यस्य भगवतः पदे परमात्मस्वरूपे बिम्बितं प्रतिफलितं तदाकारेण परिणतम् । कस्मात् । परमसहाउ भणेवि परमस्वभाव इति भणित्वा मत्वा ज्ञात्वैवेत्यर्थः । अत्र यस्येत्थंभूतं ज्ञानं सिद्धसुखस्योपादेयस्याविनाभूतं स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ४७ ॥

अथ यस्य कर्माणि यद्यपि सुखदुःखादिकं जनयन्ति तथापि स न जनितो न हत इत्यभि-

आगे जिस परमात्माका ज्ञान सर्वव्यापक है, उसके ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो ज्ञानसे न जाना जावे, सब ही पदार्थ ज्ञानमें भासते हैं, ऐसा कहते हैं—[यथा] जैसे मंडपके अभावसे [बली] बेल (लता) [तिष्ठति] ठहरती है, अर्थात् जहाँ तक मंडप है, वहाँ तक तो चढ़ती है और आगे मंडपका सहारा न मिलनेसे चढ़नेसे ठहर जाती है, उसी तरह [मुक्तानां] मुक्त-जीवोंका [ज्ञान] ज्ञान भी जहाँ तक ज्ञेय (पदार्थ) है, वहाँ तक फैल जाता है, [ज्ञेयाभावे] और ज्ञेयका अवलम्बन न मिलनेसे [बलेवि ?] जाननेकी शक्ति होनेपर भी [तिष्ठति] ठहर जाता है, अर्थात् कोई पदार्थ जाननेसे बाकी नहीं रहता, सब द्रव्य, क्षेत्र, काल और सब भावोंको ज्ञान जानता है, ऐसे तीन लोक सरीखे अनंते लोकालोक होवें, तो भी एक समयमें ही जान लेवे, [यस्य] जिस भगवान परमात्माके [पदे] केवलज्ञानमें [परमस्वभावं] अपना उत्कृष्ट स्वभाव सबके जाननेरूप [बिंबितं] प्रतिभासित हो रहा है, अर्थात् ज्ञान सबका अंतर्ग्रामी है, सर्वाकार ज्ञानकी परिणति है, ऐसा [भणित्वा] जानकर ज्ञानका आराधन करो ॥ भावार्थ—जहाँ तक मंडप वहाँ तक ही बेल (लता) की बढवारी है, और जब मंडपका अभाव हो, तब बेल स्थिर होकर आगे नहीं फैलती, लेकिन बेलमें विस्तार-शक्तिका अभाव नहीं कह सकते, इसी तरह सर्वव्यापक ज्ञान केवलीका है, जिसके ज्ञानमें सब पदार्थ झलकते हैं, वही ज्ञान आत्माका परम स्वभाव है, ऐसा जिसका ज्ञान है, वही शुद्धात्मा उपादेय है । यह ज्ञानानंदरूप आत्माराम है, वही महामुनियोंके चित्तका विश्राम (ठहरनेकी जगह) है ॥ ४७ ॥

आगे जो शुभ अशुभ कर्म हैं, वे यद्यपि सुख-दुःखादिको उपजाते हैं, तो भी वह आत्मा किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ, किसीने बनाया नहीं, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर गाथा-सूत्र कहते हैं—

प्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं कथयति—

कस्महिँ जासु जणंतहिँ वि णिउ णिउ कज्जु सया वि ।

किं पि ण जणिउ हरिउ णवि सो परमप्पउ भावि ॥ ४८ ॥

कर्मभिः यस्य जनयद्विरपि निजनिजकार्यं सदापि ।

किमपि न जनितो हृतः नैव तं परमात्मानं भावय ॥ ४८ ॥

कर्मभिर्यस्य जनयद्विरपि । किम् । निजनिजकार्यं सदापि तथापि किमपि न जनितो हृतश्च नैव तं परमात्मानं भावयत । यद्यपि व्यवहारनयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रतिबन्धकानि कर्माणि सुख-दुःखादिकं निजनिजकार्यं जनयन्ति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन अनन्तज्ञानादिस्वरूपं न हृतं न विनाशितं न चाभिनवं जनितमुत्पादितं किमपि यस्यात्मनस्तं परमात्मानं वीतरागनिर्विकल्प-समाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । अत्र यदेव कर्मभिर्न हृतं न चोत्पादितं चिदानन्दैकस्वरूपं तदेवो-पादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ ४८ ॥

अथ यः कर्मनिबद्धोऽपि कर्मरूपो न भवति कर्मापि तद्रूपं न संभवति तं परमात्मानं भावयेति कथयति—

[कर्मभिः] ज्ञानावरणादि कर्म [सदापि] हमेशा [निजनिजकार्यं] अपने अपने सुख-दुःखादि कार्यको [जनयद्विरपि] प्रगट करते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयकर [यस्य] जिस आत्माका [किमपि] कुछ भी अर्थात् अनन्तज्ञानादिस्वरूप [न जनितः] न तो नया पैदा किया और [नैव हृतः] न ही विनाश किया, और न दूसरी तरहका किया, [तं] उस [परमात्मानं] परमात्माको [भावय] तू चिंतन कर ॥ भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे शुद्धात्मस्वरूपके रोकनेवाले ज्ञानावरणादिकर्म अपने अपने कार्यको करते हैं, अर्थात् ज्ञानावरण कर्म तो ज्ञानको ढँकता है, दर्शनावरणकर्म दर्शनको आच्छादन करता है, वेदनीय कर्म साता असाता उत्पन्न करके अतीन्द्रियसुखको घातता है, मोहनीयकर्म सम्यक्त्व तथा चारित्रको रोकता है, आयुर्कर्म स्थितिके प्रमाण शरीरमें रखता है, अविनाशी भावको प्रगट नहीं होने देता, नामकर्म नाना प्रकार गति जाति शरीरादिको उपजाता है, गोत्रकर्म ऊँच नीच गोत्रमें डाल देता है, और अन्तरायकर्म अनन्तवीर्य (बल) को प्रगट नहीं होने देता । इस प्रकार ये कार्यको करते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयकर आत्माके अनन्तज्ञानादि स्वरूपका इन कर्मोंने न तो नाश किया, और न नया उत्पन्न किया, आत्मा तो जैसा है वैसा ही है । ऐसे अखंड परमात्माका तू वीतराग-निर्विकल्पसमाधिमें स्थिर होकर ध्यान कर । यहाँपर यह तात्पर्य है, कि जो जीवपदार्थ कर्मोंसे न हरा गया, न उपजा, किसी दूसरी तरह नहीं किया गया, वही चिदानन्द स्वरूप उपादेय है ॥४८॥

इसके बाद जो आत्मा कर्मोंसे अनादिकालका बँधा हुआ है, तो भी कर्मरूप नहीं होता, और कर्म भी आत्मस्वरूप नहीं होते; आत्मा चैतन्य है, कर्म जड़ हैं, ऐसा जानकर उस परमात्माका तू

कम्मणिबडु वि होइ णवि जो फुडु कम्मु कया वि ।

कम्मु वि जो ण कया वि फुडु सो परमप्पउ भावि ॥ ४९ ॥

कर्मनिबद्धोऽपि भवति नैव यः स्फुटं कर्म कदापि ।

कर्मापि यो न कदापि स्फुटं तं परमात्मानं भावय ॥ ४९ ॥

कम्मणिबडु वि होइ णवि जो फुडु कम्मु कया वि कर्मनिबद्धोऽपि भवति नैव यः स्फुटं निश्चितम् । किं न भवति । कर्म कदाचिदपि । तथाहि—यः कर्ता शुद्धात्मोपलम्भाभावेनोपार्जितेन ज्ञानावरणादिशुभाशुभकर्मणा व्यवहारेण बद्धोऽपि शुद्धनिश्चयेन कर्मरूपो न भवति । केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपं त्यक्त्वा कर्मरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । पुनश्च किंविशिष्टः । कम्मु वि जो ण कया वि फुडु कर्मापि यो न कदापि स्फुटं निश्चितम् । तद्यथा—ज्ञानावरणादिद्रव्यभावरूपं कर्मापि कर्तृभूतं यः परमात्मा न भवति, स्वकीयकर्मपुद्गलस्वरूपं विहाय परमात्मरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । सो परमप्पउ भावि तमेवलक्षणं परमात्मानं भावय । देहरागादिपरिणतिरूपं बहिरात्मानं मुक्त्वा शुद्धात्मपरिणतिभावनारूपेऽन्तरात्मनि स्थित्वा सर्वप्रकारोपादेयभूतं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं परमात्मानं भावयेति भावार्थः ॥ ४९ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये यथा निर्मलो ज्ञानमयो व्यक्तिरूपः शुद्धात्मा सिद्धौ तिष्ठति, तथाभूतः शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण देहेऽपि तिष्ठतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्विंशतिसूत्राणि गतानि ॥

अत ऊर्ध्वं स्वदेहप्रमाणव्याख्यानमुख्यत्वेन षट्सूत्राणि कथयन्ति । तद्यथा—

ध्यान कर, ऐसा कहते हैं—[यः] जो चिदानन्द आत्मा [कर्मनिबद्धोऽपि] ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बँधा हुआ होनेपर भी [कदाचिदपि] कभी भी [कर्म नैव स्फुटं] कर्मरूप निश्चयसे नहीं [भवति] होता, [कर्म अपि] और कर्म भी [यः] जिस परमात्मरूप [कदाचिदपि स्फुटं] कभी भी निश्चयकर [न] नहीं होते, [तं] उस पूर्वोक्त लक्षणोंवाले [परमात्मानं] परमात्माको तू [भावय] चिंतवन कर ॥ भावार्थ—जो आत्मा अपने शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्तिके अभावसे उत्पन्न किये ज्ञानावरणादि शुभ अशुभ कर्मोंसे व्यवहारनयकर बँधा हुआ है, तो भी शुद्धनिश्चयनयसे कर्मरूप नहीं है, अर्थात् केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप अपने स्वरूपको छोड़कर कर्मरूप नहीं परिणमता, और ये ज्ञानावरणादि द्रव्य-भावरूप कर्म भी आत्मस्वरूप नहीं परिणमते, अर्थात् अपने जडरूप पुद्गलपनेको छोड़कर चैतन्यरूप नहीं होते, यह निश्चय है, कि जीव तो अजीव नहीं होता, और अजीव है, वह जीव नहीं होता । ऐसी अनादिकालकी मर्यादा है । इसलिये कर्मोंसे भिन्न ज्ञानदर्शनमयी सब तरह उपादेयरूप (आराधने योग्य) परमात्माको तुम देह रागादि परिणतिरूप बहिरात्मपनेको छोड़कर शुद्धात्मपरिणतिकी भावनारूप अन्तरात्मामें स्थिर होकर चिंतवन करो, उसीका अनुभव करो, ऐसा तात्पर्य हुआ ॥४९॥

ऐसे तीन प्रकार आत्माके कहनेवाले पहले महाधिकारके पाँचवें स्थलमें जैसा निर्मल ज्ञानमयी प्रगटरूप शुद्धात्मा सिद्धलोकमें विराजमान है, वैसा ही शुद्धनिश्चयनयकर शक्तिरूपसे देहमें तिष्ठ

किं वि भणन्ति जिउ सव्वगउ जिउ जडु के वि भणन्ति ।

किं वि भणन्ति जिउ देह-समु सुण्णु वि के वि भणन्ति ॥ ५० ॥

केऽपि भणन्ति जीवं सर्वगतं जीवं जडं केऽपि भणन्ति ।

केऽपि भणन्ति जीवं देहसमं शून्यमपि केऽपि भणन्ति ॥ ५० ॥

केऽपि भणन्ति जीवं सर्वगतं, जीवं केऽपि जडं भणन्ति, केऽपि भणन्ति जीवं देहसमं, शून्यमपि केऽपि वदन्ति । तथाहि—केचन सांख्यनैयायिकमीमांसकाः सर्वगतं जीवं वदन्ति । सांख्याः पुनर्जडमपि कथयन्ति । जैनाः पुनर्देहप्रमाणं वदन्ति । बौद्धाश्च शून्यं वदन्तीति । एवं प्रश्नचतुष्टयं कृतमिति भावार्थः ॥ ५० ॥

अथ वक्ष्यमाणनयविभागेन प्रश्नचतुष्टयस्याप्यभ्युपगमं स्वीकारं करोति—

अप्पा जोइय सव्व-गउ अप्पा जडु वि वियाणि ।

अप्पा देह-प्रमाणु मुणि अप्पा सुण्णु वियाणि ॥ ५१ ॥

आत्मा योगिन् सर्वगतः आत्मा जडोऽपि विजानीहि ।

आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व आत्मानं शून्यं विजानीहि ॥ ५१ ॥

आत्मा हे योगिन् सर्वगतोऽपि भवति, आत्मानं जडमपि विजानीहि, आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व, आत्मानं शून्यमपि जानीहि । तथा । हे प्रभाकरभट्ट वक्ष्यमाणविवक्षितनयविभागेन परमात्मा सर्वगतो भवति, जडोऽपि भवति, देहप्रमाणोऽपि भवति, शून्योऽपि भवति नापि दोष इति भावार्थः ॥ ५१ ॥

रहा है, ऐसे कथनकी मुख्यतासे चौबीस दोहा-सूत्र कहे गये । इससे आगे छह दोहा-सूत्रोंमें आत्मा व्यवहारनयकर अपनी देहके प्रमाण है, यह कहते हैं—[केऽपि] कोई नैयायिक, वेदान्ती और मीमांसक-दर्शनवाले [जीवं] जीवको [सर्वगतं] सर्वव्यापक [भणन्ति] कहते हैं, [केऽपि] कोई सांख्य-दर्शनवाले [जीवं] जीवको [जडं] जड [भणन्ति] कहते हैं, [केऽपि] कोई बौद्ध-दर्शनवाले जीवको [शून्यं अपि] शून्य भी [भणन्ति] कहते हैं, [केऽपि] कोई जिनधर्मी [जीवं] जीवको [देहसमं] व्यवहारनयकर देहप्रमाण [भणन्ति] कहते हैं, और निश्चयनयकर लोकप्रमाण कहते हैं ॥ भावार्थ—वह आत्मा कैसा है ? और कैसा नहीं है ? ऐसे चार प्रश्न शिष्यने किये, ऐसा तात्पर्य है ॥५०॥

आगे नय-विभागकर आत्मा सबरूप है, एकान्तवादकर अन्यवादी मानते हैं, सो ठीक नहीं है, इस प्रकार चारों प्रश्नोंको स्वीकार करके समाधान करते हैं—[योगिन्] हे प्रभाकरभट्ट, [आत्मा सर्वगतः] आगे कहे जानेवाले नयके भेदसे आत्मा सर्वगत भी है, [आत्मा] आत्मा [जडोऽपि] जड भी है ऐसा [विजानीहि] जानो, [आत्मानं देहप्रमाणं] आत्माको देहके बराबर भी [मन्यस्व] मानो, [आत्मानं शून्यं] आत्माको शून्य भी [विजानीहि] जानो । नय-विभागसे माननेमें कोई दोष नहीं है, ऐसा तात्पर्य है ॥५१॥

अथ कर्मरहितात्मा केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति तेन कारणेन सर्वगतो भवतीति प्रतिपादयति—

अप्पा कम्म-विचज्जियउ केवल-णाणेँ जेण ।

लोयालोउ वि मुणइ जिय सब्बगु वुच्चइ तेण ॥ ५२ ॥

आत्मा कर्मविवर्जितः केवलज्ञानेन येन ।

लोकालोकमपि मनुते जीव सर्वगतः उच्यते तेन ॥ ५२ ॥

आत्मा कर्मविवर्जितः सन् केवलज्ञानेन कारणभूतेन येन कारणेन लोकालोकं मनुते जानाति हे जीव सर्वगत उच्यते तेन कारणेन । तथाहि—अयमात्मा व्यवहारेण केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति, देहमध्ये स्थितोऽपि निश्चयनयेन स्वात्मानं जानाति, तेन कारणेन व्यवहारनयेन ज्ञानापेक्षया रूपविषये दृष्टिवत्सर्वगतो भवति न च प्रदेशापेक्षयेति । कश्चिदाह । यदि व्यवहारेण लोकालोकं जानाति तर्हि व्यवहारनयेन सर्वज्ञत्वं, न च निश्चयनयेनेति । परिहारमाह—यथा स्वकीयमात्मानं तन्मयत्वेन जानाति तथा परद्रव्यं तन्मयत्वेन न जानाति तेन कारणेन व्यवहारो भण्यते न च परिज्ञानाभावात् । यदि पुनर्निश्चयेन स्वद्रव्यवत्तन्मयो भूत्वा परद्रव्यं जानाति तर्हि परकीयसुखदुःखरागद्वेषपरिज्ञातो सुखी दुःखी रागी द्वेषी च स्यादिति

आगे कर्मरहित आत्मा केवलज्ञानसे लोक और अलोक दोनोंको जानता है, इसलिये सर्वव्यापक भी हो सकता है, ऐसा कहते हैं—[आत्मा] यह आत्मा [कर्मविवर्जितः] कर्मरहित हुआ [केवलज्ञानेन] केवलज्ञानसे [येन] जिस कारण [लोकालोकमपि] लोक और अलोकको [मनुते] जानता है, [तेन] इसीलिये [जीव] हे जीव, [सर्वगतः] सर्वगत [उच्यते] कहा जाता है ॥ भावार्थ—यह आत्मा व्यवहारनयसे केवलज्ञानकर लोक अलोकको जानता है, और शरीरमें रहनेपर भी निश्चयनयसे अपने स्वरूपको जानता है, इस कारण ज्ञानकी अपेक्षा तो व्यवहारनयसे सर्वगत है, प्रदेशोंकी अपेक्षा नहीं है । जैसे रूपवाले पदार्थोंको नेत्र देखते हैं, परंतु उन पदार्थोंसे तन्मय नहीं होते, उसरूप नहीं होते हैं । यहाँ कोई प्रश्न करता है, कि यदि व्यवहारनयसे लोकालोकको जानता है, और निश्चयनयसे नहीं, तो व्यवहारसे सर्वज्ञपना हुआ, निश्चयनयकर न हुआ ? उसका समाधान करते हैं—जैसे अपने आत्माको तन्मयी होकर जानता है, उस तरह परद्रव्यको तन्मयीपनेसे नहीं जानता, भिन्नस्वरूप जानता है, इस कारण व्यवहारनयसे कहा, कुछ ज्ञानके अभावसे नहीं कहा । ज्ञानकर जानपना तो निज और परका समान है । जैसे अपनेको सन्देह रहित जानता है, वैसा ही परको भी जानता है, इसमें सन्देह नहीं समझना, लेकिन निज स्वरूपसे तो तन्मयी है, और परसे तन्मयी नहीं । और जिस तरह निजको तन्मयी होकर निश्चयसे जानता है, उसी तरह यदि परको भी तन्मय होकर जाने, तो परके सुख, दुःख, राग द्वेषके ज्ञान होने पर सुखी, दुःखी, रागी, द्वेषी होवे, यह बड़ा दूषण है । सो इस प्रकार कभी नहीं हो सकता । यहाँ जिस ज्ञानसे सर्वव्यापक कहा, वही ज्ञान उपादेय अतीन्द्रियसुखसे अभिन्न है, सुखरूप है, ज्ञान

महद्दूषणं प्राप्नोतीति । अत्र येनैव ज्ञानेन व्यापको भण्यते तदेवोपादेयस्यानन्तसुखस्याभिन्न-
त्वादुपादेयमित्यभिप्रायः ॥ ५२ ॥

अथ येन कारणेन निजबोधं लब्ध्वात्मन इन्द्रियज्ञानं नास्ति तेन कारणेन जडो भवतीत्य-
भिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं कथयति—

जे णिय-बोह-परिद्धियहँ जीवहँ तुद्धइ णाणु ।

इंदिय-जणियउ जोइया तिं जिउ जडु वि वियाणु ॥ ५३ ॥

येन निजबोधप्रतिष्ठितानां जीवानां त्रुट्यति ज्ञानम् ।

इन्द्रियजनितं योगिन् तेन जीवं जडमपि विजानीहि ॥ ५३ ॥

येन कारणेन निजबोधप्रतिष्ठितानां जीवानां त्रुट्यति विनश्यति । किं कर्तुं । ज्ञानम् । कथं-
भूतम् । इन्द्रियजनितं हे योगिन् तेन कारणेन जीवं जडमपि विजानीहि । तद्यथा । छद्मस्थानां
वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले स्वसंवेदनज्ञाने सत्यपीन्द्रियजनितं ज्ञानं नास्ति, केवलज्ञानिनां
पुनः सर्वदैव नास्ति तेन कारणेन जडत्वमिति । अत्र इन्द्रियज्ञानं हेयमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमिति
भावार्थः ॥ ५३ ॥

अथ शरीरनामकर्मकारणरहितो जीवो न वर्धते न च हीयते तेन कारणेन मुक्तश्चरमशरीर-
प्रमाणो भवतीति निरूपयति—

कारण-विरहिउ सुद्ध-जिउ वडुइ खिरइ ण जेण ।

चरम-सरीर-प्रमाणु जिउ जिणवर बोळुहिँ तेण ॥ ५४ ॥

और आनन्दमें भेद नहीं है, वही ज्ञान उपादेय है, यह अभिप्राय जानना । इस दोहेमें जीवको
ज्ञानकी अपेक्षा सर्वगत कहा है ॥ ५२ ॥

आगे आत्मज्ञानको पाकर इन्द्रियज्ञान नाशको प्राप्त होता है, परमसमाधिमें आत्मस्वरूपमें लीन
है, परवस्तुकी गम्य नहीं है, इसलिये नयप्रमाणकर जड भी है, परन्तु ज्ञानाभावरूप जड नहीं है,
चैतन्यरूप ही है, अपेक्षासे जड कहा जाता है, यह अभिप्राय मनमें रखकर गाथा-सूत्र कहते
हैं—[येन] जिस अपेक्षा [निजबोधप्रतिष्ठितानां] आत्मज्ञानमें ठहरे हुए [जीवानां] जीवोंके
[इन्द्रियजनितं ज्ञानं] इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान [त्रुट्यति] नाशको प्राप्त होता है, [योगिन्] हे
योगी, [तेन] उसी कारणसे [जीवं] जीवको [जडमपि] जड भी [विजानीहि] जानो ॥
भावार्थ—महामुनियोंके वीतरागनिर्विकल्प-समाधिके समयमें स्वसंवेदनज्ञान होनेपर भी इन्द्रियजनित
ज्ञान नहीं है, और केवलज्ञानियोंके तो किसी समय भी इन्द्रियज्ञान नहीं है, केवल अतीन्द्रियज्ञान
ही है, इसलिये इन्द्रिय-ज्ञानके अभावकी अपेक्षा आत्मा जड भी कहा जा सकता है । यहाँपर बाह्य
इन्द्रिय-ज्ञान सब तरह हेय है, और अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है, यह सारांश हुआ ॥ ५३ ॥

आगे शरीरनामा नामकर्मरूप कारणसे रहित यह जीव न घटता है, और न बढ़ता है, इस

कारणविरहितः शुद्धजीवः वर्धते क्षरति न येन ।

चरमशरीरप्रमाणं जीवं जिनवराः ब्रुवन्ति तेन ॥ ५४ ॥

कारणविरहितः शुद्धजीवो वर्धते क्षरति हीयते न येन कारणेन चरमशरीरप्रमाणं मुक्तजीवं जिनवरा भणन्ति तेन कारणेनेति । तथाहि—यद्यपि संसारावस्थायां हानिवृद्धिकारणभूतशरीर-नामकर्मसहितत्वाद्दीयते वर्धते च तथापि मुक्तावस्थायां हानिवृद्धिकारणाभावाद्बर्धते हीयते च नैव, शरीरप्रमाण एव तिष्ठतीत्यर्थः । कश्चिदाह—मुक्तावस्थायां प्रदीपवदावरणाभावे सति लोक-प्रमाणविस्तारेण भाव्यमिति । तत्र परिहारमाह—प्रदीपस्य योऽसौ प्रकाशविस्तारः स स्वभावज एव न त्वपरजनितः पश्चाद्भाजनादिना साद्यावरणेन प्रच्छादितस्तेन कारणेन तस्यावरणाभावेऽपि प्रकाशविस्तारो घटते एव । जीवस्य पुनरनादिकर्मप्रच्छादितत्वात्पूर्वं स्वभावेन विस्तारो नास्ति । कारण मुक्त-अवस्थामें चरम-शरीरसे कुछ कम पुरुषाकार रहता है, इसलिये शरीरप्रमाण भी कहा जाता है, ऐसा कहते हैं—[येन] जिस हेतु [कारणविरहितः] हानि-वृद्धिका कारण शरीर नामकर्मसे रहित हुआ [शुद्धजीवः] शुद्धजीव [न वर्धते क्षरति] न तो बढता है, और न घटता है, [तेन] इसी कारण [जिनवराः] जिनेन्द्रदेव [जीवं] जीवको [चरमशरीरप्रमाणं] चरमशरीर प्रमाण [ब्रुवन्ति] कहते हैं ॥ भावार्थ—यद्यपि संसार अवस्थामें हानि-वृद्धिका कारण शरीरनामा नामकर्म है, उसके संबंधसे जीव घटता है, और बढता है; जब महामच्छका शरीर पाता है, तब तो शरीरकी वृद्धि होती है, और जब निगोदिया शरीर धारण करता है, तब घट जाता है, और मुक्त अवस्थामें हानि-वृद्धिका कारण जो नामकर्म उसका अभाव होनेसे जीवके प्रदेश न तो सिकुडते हैं, न फैलते हैं, किंतु चरमशरीरसे कुछ कम पुरुषाकार ही रहते हैं, इसलिये शरीरप्रमाण हैं, यह निश्चय हुआ । यहाँ कोई प्रश्न करे, कि जब तक दीपकके आवरण है, तब तक तो प्रकाश नहीं हो सकता है, और जब उसके रोकनेवालेका अभाव हुआ, तब प्रकाश विस्तृत होकर फैल जाता है, उसी प्रकार मुक्तिअवस्थामें आवरणके अभाव होनेसे आत्माके प्रदेश लोकप्रमाण फैलने चाहिये, शरीर-प्रमाण ही क्यों रह गये ? उसका समाधान यह है, कि दीपकके प्रकाशका जो विस्तार है, वह स्वभावसे होता है, परसे नहीं उत्पन्न हुआ, पीछे भाजन वगैरहसे अथवा दूसरे आवरणसे आच्छादन किया गया, तब वह प्रकाश संकोचको प्राप्त हो जाता है, जब आवरणका अभाव होता है, तब प्रकाश विस्तार रूप हो जाता है, इसमें संदेह नहीं और जीवका प्रकाश अनादिकालसे कर्मोंसे ढका हुआ है, पहले कभी विस्ताररूप नहीं हुआ । शरीर-प्रमाण ही संकोचरूप और विस्ताररूप हुआ, इसलिये जीवके प्रदेशोंका प्रकाश संकोच विस्ताररूप शरीरनामकर्मसे उत्पन्न हुआ है, इस कारण सूखी मिट्टीके बर्तनकी तरह कारणके अभावसे संकोचविस्ताररूप नहीं होता, शरीर-प्रमाण ही रहता है, अर्थात् जब तक मिट्टीका बर्तन जलसे गीला रहता है, तब तक जलके सम्बन्धसे वह घट बढ जाता है, और जब जलका अभाव हुआ, तब बर्तन सूख जानेसे घटता बढता नहीं है—जैसेका तैसा रहता है । उसी तरह इस जीवके जब

किंरूपसंहारविस्तारौ । शरीरनामकर्मजनितौ । तेन कारणेन शुष्कमृत्तिकाभाजनवत् कारणाभावा-
दुपसंहारविस्तारौ न भवतः । चरमशरीरप्रमाणेन तिष्ठतीति । अत्र य एव मुक्तौ शुद्धबुद्धस्वभावः
परमात्मा तिष्ठति तत्सदृशो रागादिरहितकाले स्वशुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ५४ ॥

अथाष्टकर्माष्टादशदोषरहितत्वापेक्षया शून्यो भवतीति न च केवलज्ञानादिगुणापेक्षया चेति
दर्शयति—

अद्द वि कम्मइँ बहुविहइँ णवणव दोस वि जेण ।

सुद्धहं एक्कु वि अत्थि णवि सुण्णु वि वुच्चइ तेण ॥ ५५ ॥

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन ।

शुद्धानां एकोऽपि अस्ति नैव शून्योऽपि उच्यते तेन ॥ ५५ ॥

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन कारणेन शुद्धात्मनां तन्मध्ये चैको-
ऽप्यस्ति नैव शून्योऽपि भण्यते तेन कारणेनैवेति । तद्यथा । शुद्धनिश्चयनयेन ज्ञानावरणाद्यष्ट-
द्रव्यकर्माणि क्षुधादिदोषकारणभूतानि क्षुधातृषादिरूपाष्टदशदोषा अपि कार्यभूताः, अपिशब्दा-
त्सत्ताचैतन्यबोधादिशुद्धप्राणरूपेण शुद्धजीविते सत्यपि दशप्राणरूपनशुद्धजीवलं च नास्ति तेन
कारणेन संसारिणां निश्चयनयेन शक्तिरूपेण रागादिविभावशून्यं च भवति । मुक्तात्मनां तु
व्यक्तिरूपेणापि न चात्मानन्तज्ञानादिगुणशून्यत्वमेकान्तेन बौद्धादिमतवदिति । तथा चोक्तं

तक नामकर्मका संबध है, तब तक संसार-अवस्थामें शरीरकी हानि-वृद्धि होती है, उसकी हानि-
वृद्धिसे प्रदेश सिकुडते हैं और फैलते हैं । तथा सिद्ध-अवस्थामें नामकर्मका अभाव हो जाता है, इस
कारण शरीरके न होनेसे प्रदेशोंका संकोच विस्तार नहीं होता, सदा एकसे ही रहते हैं । जिस
शरीरसे मुक्त हुआ, उसी प्रमाण कुछ कम रहता है । दीपकका प्रकाश तो स्वभावसे उत्पन्न है,
इससे आवरणसे आच्छादित हो जाता है । जब आवरण दूर हो जाता है, तब प्रकाश सहज ही
विस्तरता है । यहाँ तात्पर्य यह है, कि जो शुद्ध बुद्ध (ज्ञान) स्वभाव परमात्मा मुक्तिमें तिष्ठ रहा
है, वैसा ही शरीरमें भी विराज रहा है । जब रागका अभाव होता है, उस कालमें यह आत्मा
परमात्माके समान है, वही उपादेय है ॥५४॥

आगे आठ कर्म और अठारह दोषोंसे रहित हुआ विभाव-भावोंकर रहित होनेसे शून्य कहा
जाता है, लेकिन केवलज्ञानादि गुणकी अपेक्षा शून्य नहीं है, सदा पूर्ण ही है, ऐसा दिखलाते
हैं—[येन] जिस कारण [अष्टौ अपि] आठों ही [बहुविधानि कर्माणि] अनेक भेदोंवाले कर्म
[नवनव दोषा अपि] अठारह ही दोष इनमेंसे [एकः अपि] एक भी [शुद्धानां] शुद्धात्माओंके
[नैव अस्ति] नहीं है, [तेन] इसलिये [शून्योऽपि] शून्य भी [भण्यते] कहा जाता है ॥
भावार्थ—इस आत्माके शुद्धनिश्चयनयकर ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म नहीं है, क्षुधादि दोषोंके
कारणभूत कर्मोंके नाश हो जानेसे क्षुधा तृषादि अठारह दोष कार्यरूप नहीं हैं, और अपि शब्दसे
सत्ता चैतन्य ज्ञान आनंदादि शुद्ध प्राण होनेपर भी इंद्रियादि दश अशुद्धरूप प्राण नहीं हैं, इसलिये
संसारी-जीवोंके भी शुद्धनिश्चयनयसे शक्तिरूपसे शुद्धपना है, लेकिन रागादि विभाव-भावोंकी

पञ्चास्तिकाये—“जेसि जीवसहायो गत्थि अभावो य सच्चहा तत्थ । ते होति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा” । अत्र य एव मिथ्यातरागादिभावेन शून्यश्चिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थः प्रतिपादितः परमात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ५५ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथम-महाधिकारमध्ये य एव ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापको भणितः स एव परमात्मा निश्चयनयेनासंख्यातप्रदेशोऽपि स्वदेहमध्ये तिष्ठतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्कं गतम् ।

तदनन्तरं द्रव्यगुणपर्यायनिरूपणमुख्यत्वेन सूत्रत्रयं कथयति । तद्यथा—

अप्पा जणियउ केण ण बि अप्पे जणिय ण कोइ ।

दव्व-सहावे णिणु मुणि पज्जउ विणसइ होइ ॥ ५६ ॥

आत्मा जनितः केन नापि आत्मना जनितं न किमपि ।

द्रव्यस्वभावेन नित्यं मन्यस्व पर्यायः विनश्यति भवति ॥ ५६ ॥

आत्मा न जनितः केनापि आत्मना कर्तृभूतेन जनितं न किमपि, द्रव्यस्वभावेन नित्यमात्मानं मन्यस्व जानीहि । पर्यायो विनश्यति भवति चेति । तथाहि । संसारिजीवः शुद्धात्म-संविच्यभावेनोपार्जितेन कर्मणा यद्यपि व्यवहारेण जन्यते स्वयं च शुद्धात्मसंविचिच्युतः सन्

शून्यता ही है । तथा सिद्ध जीवोंके तो सब तरहसे प्रगटरूप रागादिसे रहितपना है, इसलिये विभावोंसे रहितपनेकी अपेक्षा शून्यभाव है, इसी अपेक्षासे आत्माको शून्य भी कहते हैं । ज्ञानादिक शुद्ध भावकी अपेक्षा सदा पूर्ण ही है, और जिस तरह बौद्धमती सर्वथा शून्य मानते हैं, वैसा अनंतज्ञानादि गुणोंसे कभी नहीं हो सकता । ऐसा कथन श्रीपंचास्तिकायमें भी किया है—“जेसि जीवसहायो” इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है, कि जिन सिद्धोंके जीवका स्वभाव निश्चल है, जिस स्वभावका सर्वथा अभाव नहीं है, वे सिद्धभगवान् देहसे रहित हैं, और वचनके विषयसे रहित हैं, अर्थात् जिनका स्वभाव वचनोंसे नहीं कह सकते । यहाँ मिथ्यात्व रागादिभावकर शून्य तथा एक चिदानन्दस्वभावसे पूर्ण जो परमात्मा कहा गया है, अर्थात् विभावसे शून्य स्वभावसे पूर्ण कहा गया है, वही उपादेय है, ऐसा तात्पर्य हुआ ॥५५॥

ऐसे जिसमें तीन प्रकारके आत्माका कथन है, ऐसे पहले महा अधिकारमें जो ज्ञानकी अपेक्षा व्यवहारनयसे लोकालोकव्यापक कहा गया, वही परमात्मा निश्चयनयसे असंख्यातप्रदेशी है, तो भी अपनी देहके प्रमाण रहता है, इस व्याख्यानकी मुख्यतासे छह दोहा-सूत्र कहे गये । आगे द्रव्य, गुण, पर्यायके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहे कहते हैं—[आत्मा] यह आत्मा [केन अपि] किसीसे भी [न जनितः] उत्पन्न नहीं हुआ, [आत्मना] और इस आत्मासे [किमपि] कोई द्रव्य [न जनितं] उत्पन्न नहीं हुआ, [द्रव्यस्वभावेन] द्रव्यस्वभावकर [नित्यं मन्यस्व] नित्य जानो, [पर्यायः विनश्यति भवति] पर्यायभावसे विनाशिक है ॥ भावार्थ—यह संसारी-जीव यद्यपि व्यवहारनयकर शुद्धात्मज्ञानके अभावसे उपार्जन किये ज्ञानावरणादि शुभाशुभ कर्मोंके निमित्तसे नर नारकादि पर्यायोंसे उत्पन्न होता है, और विनसता है, और आप भी शुद्धात्मज्ञानसे रहित हुआ कर्मोंको

कर्माणि जनयति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण कर्मकर्तृभूतेन नरनारकादिपर्यायेण न जन्यते स्वयं च कर्मनोकर्मादिकं न जनयतीति । आत्मा पुनर्न केवलं शुद्धनिश्चयनयेन व्यवहारेणापि न च जन्यते न च जनयति तेन कारणेन द्रव्यार्थिकनयेन नित्यो भवति, पर्यायार्थिकनयेनोत्पद्यते विनश्यति चेति । अत्राह शिष्यः । मुक्तात्मनः कथमुत्पादव्ययाविति । परिहारमाह । आगमप्रसिद्ध्यागुरुलघुकुणहानिवृद्ध्यपेक्षया, अथवा येनोत्पादादिरूपेण ज्ञेयं वस्तु परिणमति तेन परिच्छिन्त्याकारेण ज्ञानपरिणत्यपेक्षया । अथवा मुक्तौ संसारपर्यायविनाशः सिद्धपर्यायोत्पादः शुद्धजीवद्रव्यं ध्रौव्यापेक्षया च सिद्धानामुत्पादव्ययौ ज्ञातव्याविति । अत्र तदेव सिद्धस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ ५६ ॥

उपजाता (बाँधता) है, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर शक्तिरूप शुद्ध ही है, कर्मोंसे उत्पन्न हुई नर नारकादि पर्यायरूप नहीं होता, और आप भी कर्म नोकर्मादिकको नहीं उपजाता और व्यवहारसे भी न जन्मता है, न किसीसे विनाशको प्राप्त होता है, न किसीको उपजाता है, कारणकार्यसे रहित है, अर्थात् कारण उपजानेवालेको कहते हैं । कार्य उपजनेवालेको कहते हैं । सो ये दोनों भाव वस्तुमें नहीं हैं, इससे द्रव्यार्थिकनयकर जीव नित्य है, और पर्यायार्थिकनयकर उत्पन्न होता है, तथा विनाशको प्राप्त होता है । यहाँ पर शिष्य प्रश्न करता है, कि संसारी जीवोंके तो नर नारकी आदि पर्यायोंकी अपेक्षा उत्पत्ति और मरण प्रत्यक्ष दीखता है, परन्तु सिद्धोंके उत्पाद, व्यय किस तरह हो सकता है ? क्योंकि उनके विभाव-पर्याय नहीं है, स्वभाव-पर्याय ही है, और वे सदा अखंड अविनश्वर ही हैं । इसका समाधान यह है—कि जैसा उत्पन्न होना, मरना, चारों गतियोंमें संसारीजीवोंके है, वैसा तो उन सिद्धोंके नहीं है, वे अविनाशी हैं, परन्तु शास्त्रोंमें प्रसिद्ध अगुरुलघु गुणकी परिणतिरूप अर्थपर्याय है, वह समय समयमें आविर्भावतिरोभावरूप होती है । अर्थात् समय-समयमें पूर्वपरिणतिका व्यय होता है और आगेकी पर्यायका आविर्भाव (उत्पाद) होता है । इस अर्थपर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व्यय जानना, अन्य संसारी-जीवोंकी तरह नहीं है । सिद्धोंके एक तो अर्थपर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व्यय कहा है । अर्थपर्यायमें षट्गुणी हानि और वृद्धि होती है । अनंतभागवृद्धि १, असंख्यातभागवृद्धि २, संख्यातभागवृद्धि ३, संख्यातगुणवृद्धि ४, असंख्यातगुणवृद्धि ५, अनंतगुणवृद्धि ६ । अनंतभागहानि १, असंख्यातभागहानि २, संख्यातभागहानि ३, संख्यातगुणहानि ४, असंख्यातगुणहानि ५, अनंतगुणहानि ६ । ये षट्गुणी हानि-वृद्धिके नाम कहे हैं । इनका स्वरूप तो केवलीके गम्य है, सो इस षट्गुणी हानि-वृद्धिकी अपेक्षा सिद्धोंके उत्पाद व्यय कहा जाता है । अथवा समस्त ज्ञेयपदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणमते हैं सो सब पदार्थ सिद्धोंके ज्ञानगोचर हैं । ज्ञेयाकार ज्ञानकी परिणति है, सो जब ज्ञेय-पदार्थमें उत्पाद व्यय हुआ, तब ज्ञानमें सब प्रतिभासित हुआ, इसलिये ज्ञानकी परिणतिकी अपेक्षा उत्पाद व्यय जानना । अथवा जब सिद्ध हुए, तब संसार-पर्यायका विनाश हुआ, सिद्धपर्यायका उत्पाद हुआ, तथा द्रव्य स्वभावसे सदा ध्रुव ही हैं । सिद्धोंके जन्म, जरा, मरण नहीं हैं, सदा अविनाशी हैं । सिद्धका स्वरूप सब उपाधियोंसे रहित हैं, वही उपादेय है, यह भावार्थ जानना ॥५६॥

अथ द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं प्रतिपादयति—

तं परियाणहि दब्बु तुहुं जं गुण-पञ्जय-जुत्तु ।

सह-भुव जाणहि ताहं गुण कम-भुव पञ्जउ वुत्तु ॥ ५७ ॥

तत् परिजानीहि द्रव्यं त्वं यत् गुणपर्याययुक्तम् ।

सहभुवः जानीहि तेषां गुणाः क्रमभुवः पर्यायाः उक्ताः ॥ ५७ ॥

तं परियाणहि दब्बु तुहुं जं गुणपञ्जयजुत्तु तत्परि समन्ताज्जानीहि द्रव्यं त्वम् । तत्किम् । यद्गुणपर्याययुक्तं, गुणपर्यायस्य स्वरूपं कथयति । सहभुव जाणहि ताहं गुण कमभुव पञ्जउ वुत्तु सहभुवो जानीहि तेषां द्रव्याणां गुणाः, क्रमभुवः पर्याया उक्ता भणिता इति । तथा । गुणपर्यायवद् द्रव्यं ज्ञातव्यम् । इदानीं तस्य तद्द्रव्यस्य गुणपर्यायाः कथ्यन्ते । सहभुवो गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः, इदमेकं तावत्सामान्यलक्षणम् । अन्वयिनो गुणाः व्यतिरेकिणः पर्यायाः, इति द्वितीयं च । यथा जीवस्य ज्ञानादयः पुद्गलस्य वर्णादयश्चेति । ते च प्रत्येकं द्विविधाः स्वभावविभावभेदेनेति । तथाहि । जीवस्य यावत्कथ्यन्ते । सिद्धत्वादयः स्वभाव-

आगे द्रव्य, गुण, पर्यायिका स्वरूप कहते हैं—[यत्] जो [गुणपर्याययुक्तं] गुण और पर्यायोंकर सहित है, [तत्] उसको [त्वं] हे प्रभाकरभट्ट, तू [द्रव्यं] द्रव्य [परिजानीहि] जान, [सहभुवः] जो सदाकाल पाये जावें, नित्यरूप हों, वे तो [तेषां गुणाः] उन द्रव्योंके गुण हैं, [क्रमभुवः] और जो द्रव्यकी अनेकरूप परिणति क्रमसे हों अर्थात् अनित्यपनेरूप समय समय उपजे, विनशे, नानास्वरूप हों वह [पर्यायाः] पर्याय [उक्ताः] कही जाती है ॥ भावार्थ—जो द्रव्य होता है, वह गुणपर्यायकर सहित होता है । यही कथन तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है ‘गुणपर्यायवद्द्रव्यं’ । अब गुणपर्यायिका स्वरूप कहते हैं—“सहभुवो गुणाः क्रमभुवः पर्यायाः” यह नयचक्र ग्रंथका वचन है, अथवा ‘अन्वयिनो गुणा व्यतिरेकिणः पर्यायाः’ इनका अर्थ ऐसा है, कि गुण तो सदा द्रव्यसे सहभावी है, द्रव्यमें हमेशा एकरूप नित्यरूप पाये जाते हैं, और पर्याय नानारूप होती हैं, जो परिणति पहले समयमें थी, वह दूसरे समयमें नहीं होती, समय समयमें उत्पाद व्ययरूप होता है, इसलिये पर्याय क्रमवर्ती कहा जाता है । अब इसका विस्तार कहते हैं—जीव द्रव्यके ज्ञान आदि अर्थात् ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनंत गुण हैं, और पुद्गल-द्रव्यके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, इत्यादि अनंतगुण हैं, सो ये गुण तो द्रव्यमें सहभावी हैं, अन्वयी हैं, सदा नित्य हैं, कभी द्रव्यसे तन्मयपना नहीं छोड़ते । तथा पर्यायके दो भेद हैं—एक तो स्वभाव, दूसरा विभाव । जीवके सिद्धत्वादि स्वभाव-पर्याय हैं, और केवलज्ञानादि स्वभाव-गुण हैं । ये तो जीवमें ही पाये जाते हैं, अन्य द्रव्यमें नहीं पाये जाते । तथा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, ये स्वभावगुण सब द्रव्योंमें पाये जाते हैं । अगुरुलघु गुणका परिणमन षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप है । यह स्वभावपर्याय सभी द्रव्योंमें हैं, कोई द्रव्य षट्गुणी हानिवृद्धि विना नहीं है, यही अर्थ-पर्याय कही जाती हैं, वह शुद्ध पर्याय हैं । यह शुद्ध पर्याय संसारी-जीवोंके, सब अजीव-पदार्थोंके तथा सिद्धोंके पायी जाती

पर्यायाः केवलज्ञानादयः स्वभावगुणा असाधारणा इति । अगुरुलघुकाः स्वभावगुणास्तेषामेव गुणानां षड्दानिवृद्धिरूपस्वभावपर्यायाश्च सर्वद्रव्यसाधारणाः । तस्यैव जीवस्य मतिज्ञानादिविभावगुणा नरनारकादिविभावपर्यायाश्च इति । इदानीं पुद्गलस्य कथ्यन्ते । केवलपरमाणुरूपेणावस्थानं स्वभावपर्यायः वर्णान्तरादिरूपेण परिणमनं वा । तस्मिन्नेव परमाणौ वर्णादयः स्वभावगुणा इति, द्रव्यणुकादिरूपस्कन्धरूपविभावपर्यायास्तेष्वेव द्रव्यणुकादिस्कन्धेषु वर्णादयो विभावगुणा इति भावार्थः । धर्माधर्माकाशकालानां स्वभावगुणपर्यायास्ते च यथावसरं कथ्यन्ते । विभावपर्यायास्तूपचारेण यथा घटाकाशमित्यादि । अत्र शुद्धगुणपर्यायसहितः शुद्धजीव एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ५७ ॥

अथ जीवस्य विशेषेण द्रव्यगुणपर्यायान् कथयति—

अप्या बुज्झहि दब्बु तुहुं गुण पुणु दंसणु णाणु ।

पज्जय चउ-गह-भाब तणु कम्म-विणिम्मिय जाणु ॥ ५८ ॥

आत्मानं बुध्यस्व द्रव्यं त्वं गुणौ पुनः दर्शनं ज्ञानम् ।

पर्यायान् चतुर्गतिभावान् तनुं कर्मविनिर्मितान् जानीहि ॥ ५८ ॥

अप्या बुज्झहि दब्बु तुहुं आत्मानं द्रव्यं बुध्यस्व जानीहि तम् । गुण पुणु दंसणु

है, और सिद्धपर्याय तथा केवलज्ञानादि गुण सिद्धोंके ही पाया जाता है, दूसरोंके नहीं । संसारी जीवोंके मतिज्ञानादि विभावगुण और नर नारकी आदि विभावपर्याय ये संसारी-जीवोंके पायी जाती हैं । ये तो जीव-द्रव्यके गुण-पर्याय कहे और पुद्गलके परमाणुरूप तो द्रव्य तथा वर्ण आदि स्वभावगुण और एक वर्णसे दूसरे वर्णरूप होना, ये विभावगुण व्यंजन-पर्याय तथा एक परमाणुमें दो तीन इत्यादि अनेक परमाणु मिलकर स्कन्धरूप होना, ये विभावद्रव्य व्यंजन-पर्याय हैं । द्रव्यणुकादि स्कन्धमें जो वर्ण आदि हैं, ये विभावगुण कहे जाते हैं, और वर्णसे वर्णान्तर होना, रस से रसान्तर होना, गंधसे अन्य गंध होना, यह विभाव-पर्याय हैं । परमाणु शुद्ध द्रव्यमें एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध, और शीत उष्णमेंसे एक, तथा सूखे चिकनेमेंसे एक, ऐसे दो स्पर्श इस तरह पाँच गुण तो मुख्य हैं, इनको आदिदे अस्तित्वादि अनन्तगुण हैं, ये स्वभाव-गुण कहे जाते हैं, और परमाणुका जो आकार वह स्वभावद्रव्य व्यंजन-पर्याय है, तथा वर्णादि गुणरूप परिणमन वह स्वभावगुण व्यंजन-पर्याय है । जीव और पुद्गल इन दोनोंमें तो स्वभाव और विभाव दोनों हैं, तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन चारोंमें अस्तित्वादि स्वभाव-गुण ही हैं, और अर्थ-पर्याय षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वभाव-पर्याय सभीके हैं । धर्मादिक चार पदार्थोंके विभावगुण-पर्याय नहीं हैं । आकाशके घटाकाश मठाकाश इत्यादिकी जो कहावत है, वह उपचारमात्र है । ये षट्द्रव्योंके गुण-पर्याय कहे हैं । इन षट् द्रव्योंमें जो शुद्ध गुण, शुद्ध पर्याय सहित जो शुद्ध जीवद्रव्य है, वही उपादेय है—आराधने योग्य है ॥५७॥

आगे जीवके विशेषणकर द्रव्य-गुणपर्याय कहते हैं—हे शिष्य, [त्वं] तू [आत्मानं] आत्माको तो [द्रव्यं] द्रव्य [बुध्यस्व] जान, [पुनः] और [दर्शनं ज्ञानं] दर्शन ज्ञानको [गुणौ] गुण जान,

णाणु गुणौ पुनर्दर्शनं ज्ञानं च । पञ्जय चउगहभाव तणु कम्मविणिम्मिय जाणु तस्यैव जीवस्य पर्यायांश्चतुर्गतिभावान् परिणामान् तनुं शरीरं च । कथंभूतान् तान् । कर्मविनिर्मितान् जानीहीति । इतो विशेषः । शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानं द्रव्यं जानीहि । तस्यैवात्मनः सविकल्पं ज्ञानं निर्विकल्पं दर्शनं गुण इति । तत्र ज्ञानमष्टविधं केवलज्ञानं सकलमखण्डं शुद्धमिति शेषं सप्तकं खण्डज्ञानमशुद्धमिति । तत्र सप्तकमध्ये मत्यादिचतुष्टयं सम्यग्ज्ञानं कुमत्यादित्रयं मिथ्या-ज्ञानमिति । दर्शनचतुष्टयमध्ये केवलदर्शनं सकलमखण्डं शुद्धमिति चक्षुरादित्रयं विकलमशुद्धमिति । किं च । गुणास्त्रिविधा भवन्ति । केचन साधारणाः; केचनासाधारणाः, केचन साधारणासाधारणा इति । जीवस्य तावदुच्यन्ते । अस्तित्वं वस्तुत्वं प्रमेयत्वागुरुलघुत्वादयः साधारणाः, ज्ञानसुखादयः स्वजातौ साधारणा अपि विजातौ पुनरसाधारणाः । अमूर्तत्वं पुद्गलद्रव्यं प्रत्यसाधारणमाकाशादिकं प्रति साधारणम् । प्रदेशत्वं पुनः कालद्रव्यं प्रति पुद्गलपरमाणुद्रव्यं च प्रत्यसाधारणं शेषद्रव्यं प्रति साधारणमिति संक्षेपव्याख्यानम् । एवं शेषद्रव्याणामपि यथासंभवं ज्ञातव्यमिति भावार्थः ॥५८॥

अथानन्तसुखस्योपादेयभूतस्याभिन्नत्वात् शुद्धगुणपर्याय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते । तत्राष्टकमध्ये प्रथमचतुष्टयं कर्मशक्तिस्वरूपमुख्यत्वेन द्वितीयचतुष्टयं कर्मफलमुख्यत्वे-

[चतुर्गतिभावान् तनुं] चार गतियोंके भाव तथा शरीरको [कर्मविनिर्मितान्] कर्मजनित [पर्यायान्] विभाव-पर्याय [जानीहि] समझ ॥ भावार्थ—इसका विशेष व्याख्यान करते हैं—शुद्ध-निश्चयनयकर शुद्ध, बुद्ध, अखंड, स्वभाव आत्माको तू द्रव्य जान, चेतनपनेके सामान्य स्वभावको दर्शन जान, और विशेषतासे जानपना उसको ज्ञान समझ । ये दर्शन ज्ञान आत्माके निज गुण हैं, उनमेंसे ज्ञानके आठ भेद हैं, उनमें केवलज्ञान तो पूर्ण है, अखंड है, शुद्ध है, तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान ये चार ज्ञान तो सम्यक्ज्ञान और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन मिथ्या ज्ञान, ये केवलकी अपेक्षा सातों ही खंडित हैं, अखंड नहीं हैं, और सर्वथा शुद्ध नहीं हैं, अशुद्धता सहित हैं, इसलिये परमात्मामें एक केवलज्ञान ही है । पुद्गलमें अमूर्तगुण नहीं पाये जाते, इस कारण पाँचोंकी अपेक्षा साधारण, पुद्गलकी अपेक्षा असाधारण । प्रदेशत्वगुण कालके बिना पाँच द्रव्योंमें पाया जाता है, इसलिये पाँचकी अपेक्षा यह प्रदेशगुण साधारण है, और कालमें न पानेसे कालकी अपेक्षा असाधारण है । पुद्गल-द्रव्यमें मूर्तिकगुण असाधारण है, इसीमें पाया जाता है, अन्यमें नहीं और अस्तित्वादि गुण इसमें भी पाये जाते हैं, तथा अन्यमें भी, इसलिये साधारणगुण हैं । चेतनपना पुद्गलमें सर्वथा नहीं पाया जाता । पुद्गल-परमाणुको द्रव्य कहते हैं । स्पर्श, रस, गंध, वर्णस्वरूप जो मूर्ति वह इस पुद्गलका विशेषगुण है । अन्य सब द्रव्योंमें जो उनका स्वरूप है, वह द्रव्य है, और अस्तित्वादि गुण, तथा स्वभाव परिणति पर्याय है । जीव और पुद्गलके बिना अन्य चार द्रव्योंमें विभाव-गुण और विभाव-पर्याय नहीं है, तथा जीव पुद्गलमें स्वभाव विभाव दोनों हैं । उनमेंसे सिद्धोंमें तो स्वभाव ही है, और संसारीमें विभावकी मुख्यता है । पुद्गल परमाणुमें स्वभाव ही हैं, और स्कंधमें विभाव ही है । इस तरह छहों द्रव्योंका संक्षेपसे व्याख्यान जानना ॥५८॥

नेति । तद्यथा ।

जीवकर्मणोरनादिसंबन्धं कथयति—

जीवहं कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण ।

कम्मे जीउ वि जणियउ णवि दोहिं वि आइ ण जेण ॥ ५९ ॥

जीवानां कर्माणि अनादीनि जीव जनितं कर्म न तेन ।

कर्मणा जीवोऽपि जनितः नैव द्वयोरपि आदिः न येन ॥ ५९ ॥

जीवहं कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण जीवानां कर्मणामनादिसंबन्धो भवति हे जीव जनितं कर्म न तेन जीवेन । कम्मे जीउ वि जणियउ णवि दोहिं वि आइ ण जेण कर्मणा कर्तृभूतेन । जीवोऽपि जनितो न द्वयोरप्यादिर्न येन कारणेनेति । इतो विशेषः । जीवकर्मणामनादिसंबन्धः पर्यायसंतानेन बीजवृक्षवद्व्यवहारनये संबन्धः कर्म तावत्तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावेन जीवेन न तु जनितं तथाविधजीवोऽपि स्वशुद्धात्म-संचित्यभावोपार्जितेन कर्मणा नरनारकादिरूपेण न जनितः कर्मात्मेति च द्वयोरनादित्वादिति । अत्रानादिजीवकर्मणोस्संबन्धव्याख्यानेन सदा मुक्तः सदा शिवः कोऽप्यस्तीति निराकृतमिति

ऐसे तीन प्रकारके आत्माका है कथन जिसमें ऐसे पहले महाधिकारमें द्रव्य-गुण-पर्यायके व्याख्यानकी मुख्यतासे सातवें स्थलमें तीन दोहा-सूत्र कहे । आगे आदर करने योग्य अतीन्द्रिय सुखसे तन्मयी जो निर्विकल्पभाव उसकी प्राप्तिके लिए शुद्ध गुण-पर्यायके व्याख्यानकी मुख्यतासे आठ दोहा कहते हैं । इनमें पहले चार दोहोंमें अनादि कर्मसंबंधका व्याख्यान और पिछले चार दोहोंमें कर्मके फलका व्याख्यान इस प्रकार आठ दोहोंका रहस्य है, उसमें प्रथम ही जीव और कर्मका अनादि कालका संबंध है, ऐसा कहते हैं—[जीव] हे आत्मा, [जीवानां] जीवोंके [कर्माणि] कर्म [अनादीनि] अनादि कालसे हैं, अर्थात् जीव कर्मका अनादि कालका संबंध है, [तेन] उस जीवने [कर्म] कर्म [न जनितं] नहीं उत्पन्न किये, [कर्मणा अपि] ज्ञानावरणादि कर्मोंने भी [जीवः] यह जीव [नैव जनितः] नहीं उपजाया, [येन] क्योंकि [द्वयोः अपि] जीव कर्म इन दोनोंका ही [आदिः न] आदि नहीं है, दोनों ही अनादिके हैं ॥ भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे पर्यायोंके समूहकी अपेक्षा नये नये कर्म समय समय बाँधता है, नये नये उपार्जन करता है, जैसे बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज होता है, उसी तरह पहले बीजरूप कर्मोंसे देह धारता है, देहमें नये नये कर्मोंको विस्तारता हैं, यह तो बीजसे वृक्ष हुआ । इसी प्रकार जन्म-सन्तान चली आती है । परन्तु शुद्धनिश्चयनयसे विचारा जावे, तो जीव निर्मल ज्ञान दर्शनस्वभाव ही है । जीवने ये कर्म न तो उत्पन्न किये, और यह जीव भी इन कर्मोंने नहीं पैदा किया । जीव भी अनादिका है, ये पुद्गलस्कंध भी अनादिके हैं, जीव और कर्म नये नहीं है, जीव अनादिका कर्मोंसे बाँधा है और कर्मोंके क्षयसे मुक्त होता है । इस व्याख्यानसे जो कोई ऐसा कहते हैं, कि आत्मा सदा मुक्त है, कर्मोंसे रहित है, उनका निराकरण (खंडन) किया । ये वृथा कहते हैं, ऐसा तात्पर्य है । ऐसा

भावार्थः ॥ तथा चोक्तम्—“मुक्तश्चेत्प्राग्भवे बद्धो नो बद्धो मोचनं वृथा । अबद्धो मोचनं नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थकः ॥ अनादितो हि मुक्तश्चेत्पश्चाद्वन्धः कथं भवेत् । बन्धनं मोचनं नो चेन्मुञ्चेरर्थो निरर्थकः ॥ ” ॥ ५९ ॥

अथ व्यवहारनयेन जीवः पुण्यपापरूपो भवतीति प्रतिपादयति—

एह ववहारे जीवडउ हेउ लहेविणु कम्म ।

बहुविह-भावे परिणवइ तेण जि धम्म अहम्म ॥ ६० ॥

एष व्यवहारेण जीवः हेतुं लब्ध्वा कर्म ।

बहुविधभावेन परिणमति तेन एव धर्मः अधर्मः ॥ ६० ॥

एह ववहारे जीवडउ हेउ लहेविणु कम्म एष प्रत्यक्षीभूतो जीवो व्यवहारनयेन हेतुं लब्ध्वा । किम् । कर्मेति । बहुविह-भावे परिणवइ तेण जि धम्म अहम्म बहुविधभावेन विकल्पज्ञानेन परिणमति तेनैव कारणेन धर्मोऽधर्मश्च भवतीति । तद्यथा । एष जीवः शुद्धनिश्चयेन वीतरागचिदानन्दैकस्वभावोऽपि पश्चाद्व्यवहारेण वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनाभावेनोपार्जितं शुभाशुभं कर्म हेतुं लब्ध्वा पुण्यरूपः पापरूपश्च भवति । अत्र यद्यपि व्यवहारेण पुण्यपापरूपो भवति तथापि परमात्मानुभूत्यविनाभूतवीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यबहिर्द्रव्येच्छानिरोधलक्षण-तपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना तस्या भावनाकाले साक्षादुपादेयभूतवीतरागपरमानन्दैकरूपो मोक्षमुखाभिबलात् शुद्धजीव उपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ६० ॥

दूसरी जगह भी कहा है—“मुक्तश्चेत्” इत्यादि । इसका अर्थ यह है, कि यदि यह जीव पहले बँधा हुआ होवे, तभी ‘मुक्त’ ऐसा कथन संभवता है, और यदि पहले बँधा ही नहीं तो फिर ‘मुक्त’ ऐसा कहना किस तरह ठीक हो सकता है ? मुक्त तो छूटे हुका नाम है, सो जब बँधा ही नहीं, तो फिर ‘छूटा’ किस तरह कहा जा सकता है ? जो अबंध है, उसको छूटा कहना ठीक नहीं । जो विभावबंध मुक्ति मानते हैं, उनका कथन निरर्थक है । यदि यह अनादिका मुक्त ही होवे, तो पीछे बंध कैसे सम्भव हो सकता है ? बंध होवे तभी मोचन छुटकारा हो सके । यदि बंध न हो तो मुक्त कहना निरर्थक है ॥५९॥

आगे व्यवहारनयसे यह जीव पुण्य-पापरूप होता है, ऐसा कहते हैं—[एष जीवः] यह जीव [व्यवहारेण] व्यवहारनयकर [कर्म हेतुं] कर्मरूप कारणको [लब्ध्वा] पाकर [बहुविधभावेन] अनेक विकल्परूप [परिणमति] परिणमता है । [तेन एव] इसीसे [धर्मः अधर्मः] पुण्य और पापरूप होता है । भावार्थ—यह जीव शुद्ध निश्चयनयकर वीतराग चिदानन्द स्वभाव है, तो भी व्यवहारनयकर वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके अभावसे रागादिरूप परिणमनेसे उपार्जन किये शुभ अशुभ कर्मोंके कारणको पाकर पुण्यी तथा पापी होता है । यद्यपि यह व्यवहारनयकर पुण्य पापरूप है, तो भी परमात्माकी अनुभूतिसे तन्मयी जो वीतराग, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, और बाह्य पदार्थोंमें इच्छाके रोकनेरूप तप, ये चार निश्चयआराधना है, उनकी भावनाके समय साक्षात्

अथ तानि पुनः कर्माण्यष्टौ भवन्तीति कथयति—

ते पुणु जीवहं जोइया अट्ट वि कम्म हवन्ति ।

जेहिं जि झंपिय जीव णवि अप्प-सहाउ लहन्ति ॥ ६१ ॥

तानि पुनः जीवानां योगिन् अष्टौ अपि कर्माणि भवन्ति ।

येः एव ज्ञापिताः जीवाः नैव आत्मस्वभावं लभन्ते ॥ ६१ ॥

ते पुणु जीवहं जोइया अट्ट वि कम्म हवन्ति तानि पुनर्जीवानां हे योगिभट्टादेव कर्माणि भवन्ति । जेहिं जि झंपिय जीव णवि अप्पसहाउ लहन्ति यैरेव कर्मभिर्ज्ञापिताः सन्तो जीवाः सम्यक्त्वाद्यष्टविधस्वकीयस्वभावं न लभन्ते । तद्यथा हि—“सम्मत्तणाणदंसण-वीरियसुद्धुमं तहेव अवगाहणं । अगुरुगलहुगं अच्चावाहं अट्टगुणा हुंति सिद्धानं ॥” । शुद्धात्मादि-पदार्थविषये विपरीताभिनिवेशरहितः परिणामः क्षायिकसम्यक्त्वमिति भण्यते । जगज्जयकालत्रय-वर्तिपदार्थयुगपद्विशेषपरिच्छित्तिरूपं केवलज्ञानं भण्यते तत्रैव सामान्यपरिच्छित्तिरूपं केवलदर्शनं भण्यते । केवलज्ञानविषये अनन्तपरिच्छित्तिशक्तिरूपमनन्तवीर्यं भण्यते । अतीन्द्रियज्ञानविषयं सूक्ष्मत्वं भण्यते । एकजीवावगाहप्रदेशे अनन्तजीवावगाहदानसामर्थ्यमवगाहनत्वं भण्यते । एका-न्तेन गुरुलघुत्वस्याभावरूपेण अगुरुलघुत्वं भण्यते । वेदनीयकर्मोदयजनितसमस्तबाधारहितत्वाद्-व्याबाधगुणमेति । इदं सम्यक्त्वादिगुणाष्टकं संसारावस्थायां किमपि केनापि कर्मणा प्रच्छादितं तिष्ठति यथा तथा कथ्यते । सम्यक्तत्वं मिथ्यात्वकर्मणा प्रच्छादितं, केवलज्ञानं केवलज्ञानावरणेन

उपादेयरूप वीतराग परमानन्द जो मोक्षका सुख उससे अभिन्न आनन्दमयी ऐसा निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, अन्य सब हेय हैं ॥६०॥

आगे कहते हैं, वे कर्म आठ हैं, जिनसे संसारी जीव बंधे हैं—श्रीगुरु अपने शिष्य मुनिसे कहते हैं, कि [योगिन्] हे योगी, [तानि पुनः कर्माणि] वे फिर कर्म [जीवानां अष्टौ अपि] जीवोंके आठ ही [भवन्ति] होते हैं, [यैः एव ज्ञापिताः] जिन कर्मोंसे ही आच्छादित (ढँके हुए) [जीवाः] ये जीवकर [आत्मस्वभावं] अपने सम्यक्त्वादि आठ गुणरूप स्वभावको [नैव लभन्ते] नहीं पाते।

अब उन्हीं आठ गुणोंका व्याख्यान करते हैं “सम्मत्त” इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है, कि शुद्ध आत्मादि पदार्थोंमें विपरीत श्रद्धान रहित जो परिणाम उसको क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं; तीन लोक तीन कालके पदार्थोंको एक ही समयमें विशेषरूप सबको जानें, वह केवलज्ञान है; सब पदार्थोंको केवलदृष्टिसे एक ही समयमें देखे, वह केवलदर्शन है । उसी केवलज्ञानमें अनन्तज्ञायक (जाननेकी) शक्ति वह अनन्तवीर्य है, अतीन्द्रियज्ञानसे अमूर्तक सूक्ष्म पदार्थोंको जानना, आप चार ज्ञानके धारियोंसे न जाना जावे वह सूक्ष्मत्व हैं, एक जीवके अवगाह क्षेत्रमें (जगहमें) अनन्ते जीव समा जावें, ऐसी अवकाश देनेकी सामर्थ्य वह अवगाहनगुण है, सर्वथा गुरुता और लघुताका अभाव अर्थात् न गुरु न लघु—उसे अगुरुलघु कहते हैं, और वेदनीयकर्मके उदयके अभावसे उत्पन्न हुआ समस्त बाधा रहित जो निराबाधगुण उसे अव्याबाध कहते हैं । ये सम्यक्त्वादि आठ गुण जो

श्रंपितं, केवलदर्शनं केवलदर्शनावरणेन श्रंपितम्, अनन्तवीर्यं वीर्यान्तरायेण प्रच्छादितं, सूक्ष्मत्व-
मायुष्कर्मणा प्रच्छादितम् । कस्मादिति चेत् । विवक्षितायुःकर्मोदयेन भवान्तरे प्राप्ते सत्यती-
न्द्रियज्ञानविषयं सूक्ष्मत्वं त्यक्त्वा पञ्चादिन्द्रियज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः । अवगाहनत्वं शरीरनाम-
कर्मोदयेन प्रच्छादितं, सिद्धावस्थायोग्यं विशिष्टागुरुलघुत्वं नामकर्मोदयेन प्रच्छादितम् । गुरुत्व-
शब्देनोच्चगोत्रजनितं महत्त्वं भण्यते, लघुत्वशब्देन नीचगोत्रजनितं तुच्छत्वमिति, तदुभयकारण-
भूतेन गोत्रकर्मोदयेन विशिष्टागुरुलघुत्वं प्रच्छाद्यत इति । अव्याबाधगुणत्वं वेदनीयकर्मोदयेनेति
संक्षेपेणाष्टगुणानां कर्मभिराच्छादनं ज्ञातव्यमिति । तदेव गुणाष्टकं मुक्तावस्थायां स्वकीयस्वकीय-
कर्मप्रच्छादनाभावे व्यक्तं भवतीति संक्षेपेणाष्टगुणाः कथिताः । विशेषेण पुनरमूर्ततन्निर्नामगोत्रा-
दयः साधारणासाधारणरूपानन्तगुणाः यथासंभवमागमाविरोधेन ज्ञातव्या इति । अत्र सम्य-
त्त्वादिशुद्धगुणस्वरूपः शुद्धात्मैवोपादेय इति भावार्थः ॥ ६१ ॥

अथ विषयकषायासक्तानां जीवानां ये कर्मपरमाणवः संबद्धा भवन्ति तत्कर्मेति कथयति—

विसय-कसायहि रंगियहं जे अणुया लग्गति ।

जीव-पएसहं मोहियहं ते जिण कम्म भणति ॥ ६२ ॥

विषयकषायैः रञ्जितानां ये अणवः लग्नन्ति ।

जीवप्रदेशेषु मोहितानां तान् जिनाः कर्म भणन्ति ॥ ६२ ॥

विसयकसायहि रंगियहं जे अणुया लग्गति विषयकषायै रंजितानां रक्तानां ये

सिद्धोंके हैं, वे संसारावस्थामें किस किस कर्मसे ढँके हुए हैं, इसे कहते हैं—सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्वनाम दर्शनमोहनीयकर्मसे आच्छादित है, केवलज्ञानावरणसे केवलज्ञान ढँका हुआ है, केवलदर्शनावरणसे केवलदर्शन ढँका है, वीर्यान्तरायकर्मसे अनन्तवीर्य ढँका है, आयुःकर्मसे सूक्ष्मत्व-
गुण ढँका है, क्योंकि आयुर्कर्म उदयसे जब जीव परभवको जाता है, वहाँ इन्द्रियज्ञानका धारक होता है, अतीन्द्रियज्ञानका अभाव होता है, इस कारण कुछ एक स्थूलवस्तुओंको तो जानता है, सूक्ष्मको नहीं जानता, शरीरनामकर्मके उदयसे अवगाहनगुण आच्छादित है, सिद्धावस्थाके योग्य विशेषरूप अगुरुलघुगुण नामकर्मके उदयसे अथवा गोत्रकर्मके उदयसे ढँक गया है, क्योंकि गोत्रकर्मके उदयसे जब नीच गोत्र पाया, तब उसमें तुच्छ या लघु कहलाया, और उच्च गोत्रमें बड़ा अर्थात् गुरु कहलाया और वेदनीयकर्मके उदयसे अव्याबाध गुण ढँक गया, क्योंकि उसके उदय साता असातारूप सांसारिक सुख दुःखका भोक्ता हुआ । इस प्रकार आठ गुण आठ कर्मोंसे ढँक गये, इसलिये यह जीव संसारमें भ्रमा । जब कर्मका आवरण मिट जाता है, तब सिद्धपदमें ये आठ गुण प्रकट होते हैं । यह संक्षेपमें आठ गुणोंका कथन किया । विशेषतासे अमूर्तत्व निर्नामगोत्रादिक अनन्तगुण यथासम्भव शास्त्र-प्रमाणसे जानने । तात्पर्य यह है, कि सम्यक्त्वादि निज शुद्ध गुणस्वरूप जो शुद्धात्मा है, वही उपादेय है ॥६१॥

आगे विषय-कषायोंमें लीन जीवोंके जो कर्मपरमाणुओंके समूह बँधते हैं, वे कर्म कहे जाते हैं,

परमाण्वो लम्बा भवन्ति । जीवपरसिहिं मोहियहं ते जिण कम्म भणंति । केषु लम्बा भवन्ति । जीवप्रदेशेषु । केषाम् । मोहितानां जीवानाम् । तान् कर्मस्कन्धान् जिनाः कर्मेति कथयन्ति । तथाहि । शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणैर्विषयकषायै रक्तानां स्वसंविच्यभावोपार्जितमोह-कर्मोदयपरिणतानां च जीवानां कर्मवर्णनायोग्यस्कन्धास्तैलप्रक्षितानां मलपर्यायबद्धविषयज्ञाना-वरणादिकर्मरूपेण परिणमन्तीत्यर्थः ॥ अत्र य एव विषयकषायकाले कर्मोपार्जनं करोति स एव परमात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले साक्षादुपादेयो भवतीति तात्पर्यार्थः ॥ ६२ ॥ इति कर्मस्वरूपकथनमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतम् ॥

अथापीन्द्रियचित्तसमस्तविभावचतुर्गतिसंतापाः शुद्धनिश्चयनयेन कर्मजनिता इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं कथयन्ति—

पंच वि इंदिय अण्णु मणु अण्णु वि सयल-विभाव ।

जीवहं कम्महं जणिय जिय अण्णु वि चउगइ-ताव ॥ ६३ ॥

पञ्चापि इन्द्रियाणि अन्यत् मनः अन्यदपि सकलविभावः ।

जीवानां कर्मणा जनिताः जीव अन्यदपि चतुर्गतितापाः ॥ ६३ ॥

पंच वि इंदिय अण्णु वि सयलवि भाव पञ्चेन्द्रियाणि अन्यन्मनः अन्यदपि पुनरपि समस्तविभावः । जीवहं कम्महं जणिय जिय अण्णु वि चउगइताव एते जीवानां कर्मणा जनिता हे जीव, न केवलमेते अन्यदपि पुनरपि चतुर्गतिसंतापास्ते कर्मजनिता इति । तद्यथा ।

ऐसा कहते हैं—[विषयकषायैः] विषय-कषायोंसे [रंगितानां] रागी [मोहितानां] मोही जीवोंके [जीवप्रदेशेषु] जीवके प्रदेशोंमें [ये अणवः] जो परमाणु [लगंति] लगते हैं, बँधते हैं, [तान्] उन परमाणुओंके स्कंधों (समूहों) को [जिनाः] जिनेन्द्रदेव [कर्म] कर्म [भणंति] कहते हैं ॥ भावार्थ—शुद्ध आत्माकी अनुभूतिसे भिन्न जो विषयकषाय उनसे रंगे हुए आत्मज्ञानके अभावसे उपार्जन किये हुए मोहकर्मके उदयकर परिणत हुए, ऐसे रागी द्वेषी मोही संसारी जीवोंके कर्मवर्णना योग्य जो पुद्गलस्कंध हैं, वे ज्ञानावरणादि आठ प्रकार कर्मरूप होकर परिणमते हैं । जैसे तेलसे शरीर चिकना होता है, और धूलि लगकर मैलरूप होकर परिणमती है, वैसे ही रागी, द्वेषी, मोही जीवोंके विषय-कषाय-दशामें पुद्गलवर्णना कर्मरूप होकर परिणमती है । जो कर्मोंका उपार्जन करते हैं, वही जब वीतराग निर्विकल्पसमाधिके समय कर्मोंका क्षय करते हैं, तब आराधने योग्य हैं, यह तात्पर्य हुआ ॥६२॥

इस प्रकार कर्मस्वरूपके कथनकी मुख्यतासे चार दोहे कहे । आगे पाँच इंद्रिय, मन, समस्त विभाव और चार गतिके दुःख ये सब शुद्ध निश्चयनकर कर्मसे उपजे हैं, जीवके नहीं हैं, यह अभिप्राय मनमें रखकर दोहा-सूत्र कहते हैं [पंचापि] पाँचों ही [इंद्रियाणि] इंद्रियाँ [अन्यत्] भिन्न हैं, [मनः] मन [अपि] और [सकलविभावः] रागादि सब विभाव परिणाम [अन्यत्] अन्य हैं, [चतुर्गतितापाः अपि] तथा चारों गतियोंके दुःख भी [अन्यत्] अन्य हैं, [जीव] हे जीव, ये

अतीन्द्रियात् शुद्धात्मनो यानि विपरीतानि पञ्चेन्द्रियाणि, शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितात्मनो विपरीतमनेकसंकल्पविकल्पजालरूपं मनः, ये च शुद्धात्मतत्त्वानुभूतेर्विकल्पाः समस्तविभाव-पर्यायाः, वीतरागपरमानन्दसुखाद्युत्पत्तिकृताः समस्तचतुर्गतिसंतापाः दुःखदाहाद्येति सर्वेऽप्येते अशुद्धनिश्चयनयेन स्वसंवेद्याभावोपाधिभेदेन कर्मणा निर्मिता जीवानामिति । अत्र परमात्मद्रव्या-त्मतिकूलं यत्पञ्चेन्द्रियादिसमस्तविकल्पजालं तद्वेधं तद्विपरीतं स्वशुद्धात्मतत्त्वं पञ्चेन्द्रियविषयामि-लाषादिसमस्तविकल्परहितं परमसमाधिकाले साक्षादुपादेयमिति भावार्थः ॥ ६३ ॥

अथ सांसारिकसमस्तसुखदुःखानि शुद्धनिश्चयनयेन जीवानां कर्म जनयतीति निरूपयति—

दुःखस्तु वि सुखस्तु वि बहु-विद्दु जीवहं कम्मु जणेइ ।

अप्पा देवस्सइ मुणइ पर णिच्छउ एउं भणेइ ॥ ६४ ॥

दुःखमपि सुखमपि बहुविधं जीवानां कर्म जनयति ।

आत्मा पश्यति मनुते परं निश्चयः एवं भणति ॥ ६४ ॥

दुःखस्तु वि सुखस्तु वि बहुविद्दु जीवहं कम्मु जणेइ दुःखमपि सुखमपि । कथं भूतम् । बहुविधं जीवानां कर्म जनयति । अप्पा देवस्सइ मुणइ पर णिच्छउ एउं भणेइ आत्मा पुनः पश्यति जानाति परं नियमेन निश्चयः एवं भुवते इति । तथाहि—अनाकुल-सब [जीवानां] जीवोके [कर्मणा] कर्मकर [जनिताः] उपजे हैं, जीवसे भिन्न हैं, ऐसा जान ॥ भावार्थ—इन्द्रिय रहित शुद्धात्मासे विपरीत जो स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों, शुभ अशुभ संकल्प-विकल्पसे रहित आत्मासे विपरीत अनेक संकल्प-विकल्पसमूहरूप जो मन और शुद्धात्मतत्त्वकी अनुभूतिसे भिन्न जो राग, द्वेष, मोहादिरूप सब विभाव ये सब आत्मासे जुड़े हैं, तथा वीतराग परमानन्द सुखरूप अमृतसे पराङ्मुख जो समस्त चतुर्गतिके महान् दुःखदायी दुःख वे सब जीवपदार्थसे भिन्न हैं । ये सभी अशुद्धनिश्चयनयकर आत्मज्ञानके अभावसे उपार्जन किये हुए कर्मोंसे जीवके उत्पन्न हुए हैं । इसलिये ये सब अपने नहीं हैं, कर्मजनित हैं । यहाँपर परमात्मद्रव्यसे विपरीत जो पाँचों इन्द्रियोंको आदि लेकर सब विकल्प-जाल हैं, वे तो त्यागने योग्य हैं, उससे विपरीत पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषाको आदि लेकर सब विकल्प-जालोंसे रहित अपना शुद्धात्मतत्त्व वही परमसमाधिके समय साक्षात् उपादेय है । यह तात्पर्य जानना ॥ ६३ ॥

आगे संसारके सब सुख दुःख शुद्ध निश्चयनयसे शुभ अशुभ कर्मोंकर उत्पन्न होते हैं, और कर्मोंको ही उपजाते हैं, जीवके नहीं है, ऐसा कहते हैं—[जीवानां] जीवोके [बहुविधं] अनेक तरहके [दुःखमपि सुखं अपि] दुःख और सुख दोनों ही [कर्म] कर्म ही [जनयति] उपजाता है । [आत्मा] और आत्मा [पश्यति] उपयोगमयी होनेसे देखता है [परं मनुते] और केवल जानता है [एवं] इस प्रकार [निश्चयः] निश्चयनय [भणति] कहता है, अर्थात् निश्चयनयसे भगवानने ऐसा कहा है ॥ भावार्थ—आकुलता रहित पारमार्थिक वीतराग सुखसे पराङ्मुख (उलटा) जो संसारके सुख दुःख यद्यपि अशुद्ध निश्चयनयकर जीवसम्बन्धी है, तो भी शुद्ध निश्चयनयकर

लक्षणपारमार्थिकवीतरागसौख्यात् प्रतिकूलं सांसारिकसुखदुःखं यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन जीवजनितं तथापि शुद्धनिश्चयेन कर्मजनितं भवति । आत्मा पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थः सन् वस्तु वस्तुस्वरूपेण पश्यति जानाति च न च रागादिकं करोति । अत्र पारमार्थिकसुखाद्विपरीतं सांसारिकसुखदुःखविकल्पजालं हेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ ६४ ॥

अथ निश्चयेन बन्धमोक्षौ कर्म करोतीति प्रतिपादयति—

बंधु वि मोक्षु वि सयलु जिय जीवहं कम्मु जणेइ ।

अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउं भणेइ ॥ ६५ ॥

बन्धमपि मोक्षमपि सकलं जीव जीवानां कर्म जनयति ।

आत्मा किमपि करोति नैव निश्चय एवं भणति ॥ ६५ ॥

बंधु वि मोक्षु वि सयलु जिय जीवहं कम्मु जणेइ बन्धमपि मोक्षमपि समस्तं हे जीव जीवानां कर्म कर्तृ जनयति अप्पा किंपि [किंचि] वि कुणइ णवि णिच्छउ एउं भणेइ आत्मा किमपि न करोति बन्धमोक्षस्वरूपं निश्चय एवं भणति । तद्यथा । अनुपचरिता-सद्भूतव्यवहारेण द्रव्यबन्धं तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावबन्धं तथा नयद्वयेन द्रव्यभावमोक्षमपि यद्यपि जीवः करोति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेन शुद्धनिश्चयनयेन न करोत्येव भणति । कोऽसौ । निश्चय इति । अत्र य एव शुद्धनिश्चयेन बन्धमोक्षौ न करोति स एव शुद्धात्मापादेय इति भावार्थः ॥ ६५ ॥

जीवने उपजाये नहीं है, इसलिये जीवके नहीं है, कर्म-संयोगकर उत्पन्न हुए और आत्मा तो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें स्थिर हुआ वस्तुको वस्तुके स्वरूप देखता है, जानता है, रागादिकरूप नहीं होता, उपयोगरूप है, ज्ञाता द्रष्टा है, परम आनंदरूप है । यहाँ पारमार्थिक सुखसे उलटा जो इन्द्रियजनित संसारका सुख दुःख आदि विकल्प समूह है वह त्यागने योग्य है, ऐसा भगवानने कहा है, यह तात्पर्य है ॥६४॥

आगे निश्चयनयकर बंध और मोक्ष कर्मजनित ही है, कर्मके योगसे बंध और कर्मके वियोगसे मोक्ष है, ऐसा कहते हैं—[जीव] हे जीव, [बंधमपि] बंधको [मोक्षमपि] और मोक्षको [सकलं] सबको [जीवानां] जीवोंके [कर्म] कर्म ही [जनयति] करता है, [आत्मा] आत्मा [किमपि] कुछ भी [नैव करोति] नहीं करता, [निश्चयः] निश्चयनय [एवं] ऐसा [भणति] कहता है, अर्थात् निश्चयनयसे भगवानने ऐसा कहा है ॥ भावार्थ—अनादि कालकी संबंधवाली अयथार्थ-स्वरूप अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयसे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मबंध और अशुद्धनिश्चयनयसे रागादि भावकर्मके बंधको तथा दोनों नयोंसे द्रव्यकर्म भावकर्मकी मुक्तिको यद्यपि जीव करता है, तो भी शुद्धपारिणामिक परमभावके ग्रहण करनेवाले शुद्धनिश्चयनयसे नहीं करता है, बंध और मोक्षसे रहित है, ऐसा भगवानने कहा है । यहाँ जो शुद्धनिश्चयनयकर बंध और मोक्षका कर्ता नहीं, वही शुद्धात्मा आराधने योग्य है ॥६५॥

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

सो णत्थि त्ति पएसो चउरासी-जोणि-लक्ख-मज्झम्मि ।

जिण-वयणं ण लहंतो जत्थ ण दुल्लुदुल्लिओ जीवो ॥ ६५*१ ॥

स नास्ति इति प्रदेशः चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये ।

जिनवचनं न लभमानः यत्र न भ्रमितः जीवः ॥ ६५*१ ॥

सो णत्थि त्ति पएसो स प्रदेशो नास्त्यत्र जगति । स किम् । चउरासीजोणि-लक्खमज्झम्मि जिणवयणं ण लहंतो जत्थ ण दुल्लुदुल्लिओ जीवो चतुर्लक्षेषु मध्ये भूत्वा जिनवचनमलभमानो यत्र न भ्रमितो जीव इति । तथाहि । भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादकं जिनवचनमलभमानः सन्नयं जीवोऽनादिकाले यत्र चतुरशीतियोनिलक्षेषु मध्ये भूत्वा न भ्रमितः सोऽत्र कोऽपि प्रदेशो नास्ति इति । अत्र यदेव भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादकं जिनवचनमलभमानो भ्रमितो जीवस्तदेवोपादेयात्मसुखप्रतिपादकत्वादुपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ ६५*१ ॥

अथात्मा पङ्गुवत् स्वयं न याति न चैति कर्मैव नयत्यानयति चेति कथयति—

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ ।

भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥ ६६ ॥

आत्मा पङ्गोः अनुहरति आत्मा न याति न आयाति ।

भुवनत्रयस्य अपि मध्ये जीव विधिः आनयति विधिः नयति ॥ ६६ ॥

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ आत्मा पङ्गोरनुहरति सदृशो भवति अयमात्मा न याति न चागच्छति । क । भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ भुवनत्रयस्यापि मध्ये हे जीव विधिरानयति विधिर्नयतीति । तद्यथा । अयमात्मा शुद्धनिश्चये-

आगे दोहा-सूत्रोंकी स्थल-संख्यासे बाहर उक्तं च स्वरूप प्रक्षेपकको कहते हैं—[अत्र?] इस जगतमें [स (कः अपि)] ऐसा कोई भी [प्रदेशः नास्ति] प्रदेश (स्थान) नहीं है, कि [यत्र] जिस जगह [चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये] चौरासी लाख योनियोंमें होकर [जिनवचनं न लभमानः] जिन-वचनको नहीं प्राप्त करता हुआ [जीवः] यह जीव [न भ्रमितः] नहीं भटका ॥ भावार्थ—इस जगतमें कोई ऐसा स्थान नहीं रहा, जहाँपर यह जीव निश्चय व्यवहार रत्नत्रयको कहनेवाले जिनवचनको नहीं पाता हुआ अनादि कालसे चौरासी लाख योनियोंमें होकर न घूमा हो, अर्थात् जिनवचनकी प्रतीति न करनेसे सब जगह और सब योनियोंमें भ्रमण किया, जन्ममरण किये । यहाँ यह तात्पर्य है, कि जिनवचनके न पानेसे यह जीव जगतमें भ्रमा, इसलिये जिन-वचन ही आराधने योग्य है ॥६५*१॥

आगे आत्मा पङ्गु (लंगड़े) की तरह आप न तो कहीं जाता है, और न आता है, कर्म ही इसको ले जाते हैं, और ले आते हैं, ऐसा कहते हैं—[जीव] हे जीव, [आत्मा] यह आत्मा [पङ्गोः अनुहरति] पङ्गुके समान है, [आत्मा] आप [न याति] न कहीं जाता है, [न आयाति] न आता है

नान्तवीर्यत्वात् शुभाशुभकर्मरूपनिगलद्वयरहितोऽपि व्यवहारेण अनादिसंसारे स्वशुद्धात्मभावना-
प्रतिबन्धकेन मनोवचनकायत्रयेणोपार्जितेन कर्मणा निर्मितेन पुण्यपापनिगलद्वयेन दृढतरं बद्धः
सन् पङ्गुवद्धत्वा स्वयं न याति न चागच्छति स एवात्मा परमात्मोपलम्भप्रतिपक्षभूतेन विधि-
शब्दवाच्येन कर्मणा भुवनत्रये नीयते तथैवानीयते चेति । अत्र वीतरागसदानन्दैकरूपात्सर्व-
प्रकारोपादेयभूतात्परमात्मनो यद्विभं शुभाशुभकर्मद्वयं तद्वेयमिति भावार्थः ॥ ६६ ॥ इति
कर्मशक्तिस्वरूपकथनस्थले सूत्राष्टकं गतम् ।

अत ऊर्ध्वं भेदाभेदभावनामुख्यतया पृथक् पृथक् स्वतन्त्रसूत्रनवकं कथयति—

अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जि ण होइ ।

परु जि क्याइ वि अप्पु णवि णियमे पभणहिं जोइ ॥ ६७ ॥

आत्मा आत्मा एव परः एव परः आत्मा परः एव न भवति ।

पर एव कदाचिदपि आत्मा नैव नियमेन प्रभणन्ति योगिनः ॥ ६७ ॥

अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जि ण होइ आत्मात्मैव पर एव परः आत्मा
पर एव न भवति । परु जि क्याइ वि अप्पु णवि णियमे पभणहिं जोइ पर एव

[भुवनत्रयस्य अपि मध्ये] तीनों लोकमें इस जीवको [विधिः] कर्म ही [नयति] ले जाता है,
[विधिः] कर्म ही [आनयति] ले आता है ॥ भावार्थ—यह आत्मा शुद्ध निश्चयनयसे अनन्तवीर्य
(बल) का धारण करनेवाला होनेसे शुभ अशुभ कर्मरूप बंधनसे रहित है, तो भी व्यवहारनयसे
इस अनादि संसारमें निज शुद्धात्माकी भावनासे विमुख जो मन वचन काय इन तीनोंसे उपार्जे
कर्मोंकर उत्पन्न हुए पुण्य-पापरूप बंधनोंकर अच्छी तरह बँधा हुआ पंगुके समान आप न कहीं
जाता है न कहीं आता है । जैसे बंदीवान आपसे न कहीं जाता है और न कहीं आता है, चौकीदारों-
कर ले जाया जाता है, और आता है, आप तो पंगुके समान है । वही आत्मा परमात्माकी प्राप्तिके
रोकनेवाले चतुर्गतिरूप संसारके कारणस्वरूप कर्मोंकर तीन जगतमें गमन-आगमन करता है, एक
गतिसे दूसरी गतिमें जाता है । यहाँ सारांश यह हैं, कि वीतराग परम आनंदरूप तथा सब तरह
उपादेयरूप परमात्मासे (अपने स्वरूपसे) भिन्न जो शुभ अशुभ कर्म हैं, वे त्यागने योग्य हैं ॥ ६६ ॥

इस प्रकार कर्मकी शक्तिके स्वरूपके कहनेकी मुख्यतासे आठवें स्थलमें आठ दोहे कहे । इससे
आगे भेदाभेदरत्नत्रयकी भावनाकी मुख्यतासे जुदे जुदे स्वतन्त्र नौ सूत्र कहते हैं—[आत्मा]
निजवस्तु [आत्मा एव] आत्मा ही हैं, [परः] देहादि पदार्थ [पर एव] पर ही हैं, [आत्मा]
आत्मा तो [परः न एव] परद्रव्य नहीं [भवति] होता, [पर एव] और परद्रव्य ही
[कदाचिदपि] कभी [आत्मा नैव] आत्मा नहीं होता, ऐसा [नियमेन] निश्चयकर [योगिनः]
योगीश्वर [प्रभणन्ति] कहते हैं ॥ भावार्थ—शुद्धात्मा तो केवलज्ञानादि स्वभाव है, जडरूप नहीं है,
उपाधिरूप नहीं है, शुद्धात्मस्वरूप ही है । पर जो काम-क्रोधादि पर वस्तु भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म
हैं, वे पर ही हैं, अपने नहीं हैं । जो यह आत्मा संसार-अवस्थामें यद्यपि अशुद्धनिश्चयनयकर काम

कदाचिदप्यात्मा नैव भवति नियमेन निश्चयेन भणन्ति कथयन्ति । के कथयन्ति । परमयोगिन इति । तथाहि । शुद्धात्मा केवलज्ञानादिस्वभावः शुद्धात्मात्मैव परः कामक्रोधादिस्वभावः पर एव पूर्वोक्तः परमात्माभिधानं तदैकस्वस्वभावं त्यक्त्वा कामक्रोधादिरूपो न भवति । कामक्रोधादिरूपः परः कापि काले शुद्धात्मा न भवतीति परमयोगिनः कथयन्ति । अत्र मोक्षसुखादुपादेय-भूतादभिन्नः कामक्रोधादिभ्यो भिन्नो यः शुद्धात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ६७ ॥

अथ शुद्धनिश्चयेनोत्पत्तिं मरणं बन्धमोक्षौ न करोत्यात्मेति प्रतिपादयति—

ण वि उत्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ ।

जिउ परमत्थे जोइया जिणवरु एउँ भणेइ ॥ ६८ ॥

नापि उत्पद्यते नापि म्रियते बन्धं न मोक्षं करोति ।

जीवः परमार्थेन योगिन् जिनवरः एवं भणति ॥ ६८ ॥

नाप्युत्पद्यते नापि म्रियते बन्धमोक्षं च न करोति । कोऽसौ कर्ता । जीवः । केन परमार्थेन हे योगिन् जिनवर एवं ब्रूते कथयति । तथाहि । यद्यप्यात्मा शुद्धात्मानुभूत्यभावे सति शुभा-शुभोपयोगाभ्यां परिणम्य जीवितमरणशुभाशुभबन्धान् करोति । शुद्धात्मानुभूतिसद्भावे तु शुद्धो-पयोगेन परिणम्य मोक्षं च करोति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयनेन क्रोधादिरूप हो गया है, तो भी परमभावके ग्राहक शुद्धनिश्चयनयकर अपने ज्ञानादि निजभावको छोड़कर काम क्रोधादिरूप नहीं होता, अर्थात् निजभावरूप ही है । ये रागादि विभावपरिणाम उपाधिक हैं, परके संबंधसे हैं, निजभाव नहीं हैं, इसलिये आत्मा कभी इन रागादिरूप नहीं होता, ऐसा योगीश्वर कहते हैं । यहाँ उपादेयरूप मोक्षसुख (अतीन्द्रिय सुख) से तन्मय और कामक्रोधादिकसे भिन्न जो शुद्धात्मा है, वही उपादेय है, ऐसा अभिप्राय है ॥६७॥

आगे शुद्धनिश्चयनयकर आत्मा जन्म, मरण, बंध और मोक्षको नहीं करता है, जैसा है वैसा ही है, ऐसा निरूपण करते हैं—[योगिन्] हे योगीश्वर, [परमार्थेन] निश्चयनयकर विचारा जावे, तो [जीवः] यह जीव [नापि उत्पद्यते] न तो उत्पन्न होता है, [नापि म्रियते] न मरता है [च] और [न बंधं मोक्षं] न बंध मोक्षको [करोति] करता है, अर्थात् शुद्धनिश्चयनयसे बंध-मोक्षसे रहित है [एवं] ऐसा [जिनवरः] जिनेन्द्रदेव [भणति] कहते हैं ॥ भावार्थ—यद्यपि यह आत्मा शुद्धात्मानुभूतिके अभावके होनेपर शुभ अशुभ उपयोगोंसे परिणमन करके जीवन, मरण, शुभ, अशुभ कर्मबंधको करता है, और शुद्धात्मानुभूतिके प्रगट होनेपर शुद्धोपयोगसे परिणत होकर मोक्षको करता है, तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर न बंधका कर्ता है, और न मोक्षका कर्ता है । ऐसा कथन सुनकर शिष्यने प्रश्न किया कि हे प्रभो, शुद्धद्रव्यार्थिक स्वरूप शुद्धनिश्चयनयकर मोक्षका भी कर्ता नहीं है, तो ऐसा समझना चाहिये, कि शुद्धनयकर मोक्ष ही नहीं है, जब मोक्ष नहीं, तब मोक्षके लिये यत्न करना वृथा है । उसका उत्तर कहते हैं—मोक्ष है, वह बंधपूर्वक है, और बंध है, वह शुद्धनिश्चयनयकर होता ही नहीं, इस कारण बंधके

न करोति । अत्राह शिष्यः । यदि शुद्धद्रव्यार्थिकलक्षणेन शुद्धनिश्चयेन मोक्षं च न करोति तर्हि शुद्धनयेन मोक्षो नास्तीति तदर्थमनुष्ठानं वृथा । परिहारमाह । मोक्षो हि बन्धपूर्वकः, स च बन्धः शुद्धनिश्चयेन नास्ति, तेन कारणेन बन्धप्रतिपक्षभूतो मोक्षः सोऽपि शुद्धनिश्चयेन नास्ति यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बन्धो भवति तदा सर्वदैव बन्ध एव । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह । एकः कोऽपि पुरुषः शृङ्खलाबद्धस्तिष्ठति द्वितीयस्तु बन्धनरहितस्तिष्ठति यस्य बन्धभावो मुक्त इति व्यवहारो घटते, द्वितीयं प्रति मोक्षो जातो भवत इति यदि भण्यते तदा कोपं करोति । कस्माद्बन्धाभावे मोक्षवचनं कथं घटत इति । तथा जीवस्यापि शुद्धनिश्चयेन बन्धाभावे मुक्तवचनं न घटते इति । अत्र वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतो मुक्तजीवसदृशः स्वशुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ६८ ॥

अथ निश्चयनयेन जीवस्योद्भवजरामरणरोगलिङ्गवर्णसंज्ञा नास्तीति कथयन्ति—

अत्थि ण उब्भउ जर-मरणु रोय वि लिंग वि वण्ण ।

णियमिं अप्पु चियाणि तुहं जीवहं एक वि सण्ण ॥ ६९ ॥

अस्ति न उद्भवः जरामरणं रोगाः अपि लिङ्गान्यपि वर्णाः ।

नियमेन आत्मन् विजानीहि त्वं जीवस्य एकापि संज्ञा ॥ ६९ ॥

अत्थि ण उब्भउ जरमरणु रोय वि लिंग वि वण्ण अस्ति न न विद्यते । किं किं नास्ति । उब्भउ उत्पत्तिः जरामरणं रोगा अपि लिङ्गान्यपि वर्णाः णियमिं चियाणि तुहं जीवहं एक वि सण्ण नियमेन निश्चयेन हे आत्मन् हे जीव विजानीहि त्वम् । कस्य नास्ति ।

अभावरूप मोक्ष है, वह भी शुद्धनिश्चयनयकर नहीं है । यदि शुद्धनिश्चयनयसे बंध होता, तो हमेशा बंधा ही रहता, कभी बंधका अभाव न होता । इसके बारेमें दृष्टान्त कहते हैं—कोई एक पुरुष साँकलसे बँध रहा है, और कोई एक पुरुष बंध रहित हैं, उनमेंसे जो पहले बँधा था, उसको तो 'मुक्त' (छूटा) ऐसा कहना ठीक मालूम पड़ता है, और दूसरा जो बँधा ही नहीं, उसको यदि 'आप छूट गये' ऐसा कहा जाय, तो वह क्रोध करे, कि मैं कब बँधा था, सो यह मुझे 'छूटा' कहता है । बँधा होवे, वह छूटे, इसलिये बंधेको तो मोक्ष कहना ठीक है, और बँधा ही न हो, उसे छूटे कैसे कह सकते हैं ? उसी प्रकार यह जीव शुद्धनिश्चयनयकर बँधा हुआ नहीं है, इस कारण मुक्त कहना ठीक नहीं है । बंध भी व्यवहारनयकर है, और मुक्ति भी व्यवहारनयकर है, शुद्धनिश्चयनयकर न बंध है, न मोक्ष है और अशुद्धनयकर बंध है, इसलिये बंधके नाशका यत्न भी अवश्य करना चाहिये । यहाँ यह अभिप्राय है, कि सिद्ध समान यह अपना शुद्धात्मा वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें लीन पुरुषोंको उपादेय है, अन्य सब हेय हैं ॥६८॥

आगे निश्चयनयकर जीवके जन्म, जरा, मरण, रोग, लिंग, वर्ण और संज्ञा नहीं है, आत्मा इन सब विकारोंसे रहित है, ऐसा कहते हैं—[आत्मन्] हे जीव आत्माराम, [जीवस्य] जीवके [उद्भवः न] जन्म नहीं [अस्ति] हैं, [जरामरणः] जरा (बुढ़ापा) मरण [रोगाः अपि] रोग

जीवस्य न केवलमेतन्नास्ति संज्ञापि नास्तीति । अत्र संज्ञाशब्देनाहारादिसंज्ञा नामसंज्ञा वा ग्राह्या । तथाहि । वीतरागनिर्विकल्पसमाधेर्विपरीतैः क्रोधमानमायालोभप्रभृतिविभावपरिणामैर्यान्युषार्जितानि कर्माणि तदुदयजनितान्युद्भवादीनि शुद्धनिश्चयेन न सन्ति जीवस्य । ते कस्मान्न सन्ति । केवलज्ञानाद्यनन्तगुणैः कृता निश्चयेनानादिसंतानागतोद्भवादिभ्यो भिन्नत्वादिति । अत्र उपादेयरूपानन्तसुखाविनाभूतशुद्धजीवात्तत्सकाशाद्यानि भिन्नान्युद्भवादीनि तानि हेयानीति तात्पर्यार्थः ॥ ६९ ॥

यद्युद्भवादीनि स्वरूपाणि शुद्धनिश्चयेन जीवस्य न सन्ति तर्हि कस्य सन्तीति प्रश्ने देहस्य भवन्तीति प्रतिपादयति—

देहहं उब्भउ जर-मरणु देहहं वण्णु विचिउ ।

देहहं रोय वियाणि तुहं देहहं लिङ्गु विचिउ ॥ ७० ॥

देहस्य उद्भवः जरामरणं देहस्य वर्णः विचित्रः ।

देहस्य रोगान् विजानीहि त्वं देहस्य लिङ्गं विचित्रम् ॥ ७० ॥

देहस्य भवति । किं किम् । उब्भउ उत्पत्तिः जरामरणं च वर्णो विचित्रः । वर्णशब्देनात्र पूर्वसूत्रे च श्वेतादि ब्राह्मणादि वा गृह्यते । तस्यैव देहस्य रोगान् विजानीहीति, लिङ्गमपि लिङ्गशब्देनात्र पूर्वसूत्रे च स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गं यतिलिङ्गं वा ग्राह्यं चित्तं मनश्चेति । तद्यथा—शुद्धात्म-

[लिङ्गान्यपि] चिह्न [वर्णाः] वर्ण [एका संज्ञा अपि] आहारादिक एक भी संज्ञा वा नाम नहीं है, ऐसा [त्वं] तू [नियमेन] निश्चयकर [विजानीहि] जान ॥ भावार्थ—वीतराग निर्विकल्प-समाधिसे विपरीत जो क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि विभावपरिणाम उनकर उपार्जन किये कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए जन्म मरण आदि अनेक विकार हैं, वे शुद्धनिश्चयनयकर जीवके नहीं हैं, क्योंकि निश्चयनयकर आत्मा केवलज्ञानादि अनन्त गुणोंकर पूर्ण है, और अनादि-संतानसे प्राप्त जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, स्त्री, पुरुष, नपुंसकलिङ्ग, सफेद, काला वगैर वर्ण, आहार, भय, मैथुन, परिग्रहरूप संज्ञा इन सबोंसे भिन्न है । यहाँ उपादेयरूप अनन्तसुखका धाम जो शुद्ध जीव उससे भिन्न जन्मादिक हैं, वे सब त्याज्य हैं, एक आत्मा ही उपादेय हैं, यह तात्पर्य जानना ॥६९॥

आगे जो शुद्धनिश्चयनयकर जन्म-मरणादि जीवके नहीं हैं, तो किसके हैं ? ऐसा शिष्यके प्रश्न करने पर समाधान यह है, कि ये सब देहके हैं ऐसा कथन करते हैं—श्रीगुरु कहते हैं, कि हे शिष्य, [त्वं] तू [देहस्य] देहके [उद्भवः] जन्म [जरामरणं] जरा मरण होते हैं, अर्थात् नया शरीर धरना, विद्यमान शरीर छोड़ना, वृद्ध अवस्था होना, ये सब देहके जानो, [देहस्य] देहके [विचित्रः वर्णः] अनेक तरहके सफेद, श्याम, हरे, पीले, लालरूप पाँच वर्ण, अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये चार वर्ण, [देहस्य] देहके [रोगान्] वात, पित्त, कफ आदि अनेक रोग, [देहस्य] देहके [विचित्रं लिङ्गं] अनेक प्रकारके स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग, नपुंसकलिङ्गरूप चिह्नको अथवा यतिके लिङ्गको और द्रव्यमनको [विजानीहि] जान ॥ भावार्थ—शुद्धात्माका सच्चा श्रद्धान ज्ञान

सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयभावनाप्रतिकूलै रागद्वेषमोहैर्यान्युपाजितानि कर्माणि तदु-
दयसंपन्ना जन्ममरणादिधर्मा यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्य सन्ति तथापि निश्चयनयेन देहस्येति
ज्ञातव्यम् । अत्र देहादिममत्वरूपविकल्पजालं त्यक्त्वा यदा वीतरागसदानन्दैकरूपेण सर्वप्रकारो-
पादेयभूतेन परिणमति तदा स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति भावार्थः ॥ ७० ॥

अथ देहस्य जरामरणं दृष्ट्वा मा भयं जीव कार्षीरिति निरूपयति—

देहहं पेक्खि वि जर-मरणं मा भउ जीव करेहि ।

जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाणु मुणेहि ॥ ७१ ॥

देहस्य दृष्ट्वा जरामरणं मा भयं जीव कार्षीः ।

यः अजरामरः ब्रह्मा परः तं आत्मानं मन्यस्व ॥ ७१ ॥

देहहं पेक्खि वि जरमरणं मा भउ जीव करेहि देहसंबन्धि दृष्ट्वा । किम् । जरा-
मरणम् । मा भयं कार्षीः हे जीव । अथमर्थो यद्यपि व्यवहारेण जीवस्य जरामरणं तथापि शुद्ध-
निश्चयेन देहस्य न च जीवस्येति मत्वा भयं मा कार्षीः । तर्हि किं कुरु । जो अजरामरु बंभु
परु सो अप्पाणु मुणेहि यः कश्चिदजरामरो जरामरणरहितब्रह्मशब्दवाच्यः शुद्धात्मा । कथं-
भूतः । परः सर्वोत्कृष्टतमिदं भूतं परं ब्रह्मस्वभावमात्मानं जानीहि पञ्चेन्द्रियविषयप्रभृतिसमस्त-
विकल्पजालं मुक्त्वा परमसमाधौ स्थित्वा तमेव भावयेति भावार्थः ॥ ७१ ॥

आचरणरूप अभेदरत्नत्रयकी भावनासे विमुख जो राग, द्वेष, मोह उनकर उपार्जे जो कर्म उनसे
उपजे जन्ममरणादि विकार हैं, वे सब यद्यपि व्यवहारनयसे जीवके हैं, तो भी निश्चयनयकर
जीवके नहीं हैं, देहसम्बन्धी है ऐसा जानना चाहिये । यहाँपर देहादिकर्म ममत्तरूप विकल्पजालको
छोड़कर जिस समय यह जीव वीतराग सदा आनंदरूप सब तरह उपादेयरूप निज भावोंकर
परिणमता है, तब अपना यह शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा अभिप्राय जानो ॥७०॥

आगे ऐसा कहते हैं कि हे जीव, तू जरा मरण देहके जानकर डर मत कर—[जीव] हे आत्माराम,
तू [देहस्य] देहके [जरामरणं] बुढ़ापा मरनेको [दृष्ट्वा] देखकर [भयं] डर [मा कार्षीः] मत
कर; [यः] जो [अजरामरः] अजर अमर [परः ब्रह्मा] परमब्रह्म शुद्ध स्वभाव है, [तं] उसको
तू [आत्मानं] आत्मा [मन्यस्व] जान ॥ भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे जीवके जरा मरण हैं,
तो भी शुद्धनिश्चयनयकर जीवके नहीं हैं, देहके हैं, ऐसा जानकर भय मत कर; तू अपने चित्तमें
ऐसा समझ कि जो कोई जरा मरण रहित अखंड परब्रह्म हैं, वैसा ही मेरा स्वरूप है, शुद्धात्मा सबसे
उत्कृष्ट है, ऐसा तू अपना स्वभाव जान । पाँच इन्द्रियोंके विषयको और समस्त विकल्पजालोंको
छोड़कर परमसमाधिमें स्थिर होकर निज आत्माका ही ध्यान कर, यह तात्पर्य हुआ ॥७१॥

आगे यदि देह छिद जावे, भिद जावे, क्षय हो जावे, तो भी तू भय मत कर, केवल शुद्ध
आत्माका ध्यान कर, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर सूत्र कहते हैं—[योगिन्] हे योगी, [इदं

अथ देहे छिद्यमानेऽपि भिद्यमानेऽपि शुद्धात्मानं भावयेत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं प्रतिपादयति—

छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ जोइय एहु सरीरु ।

अप्पा भावहि णिम्मलउ जिं पावहि भवतीरु ॥ ७२ ॥

छिद्यतां भिद्यतां यातु क्षयं योगिन् इदं शरीरम् ।

आत्मानं भावय निर्मलं येन प्राप्नोषि भवतीरम् ॥ ७२ ॥

छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ जोइय एहु सरीरु छिद्यतां वा द्विधा भवतु भिद्यतां वा छिद्भीभवतु क्षयं वा यातु हे योगिन् इदं शरीरं तथापि त्वं किं कुरु। अप्पा भावहि णिम्मलउ आत्मानं वीतरागचिदानन्दैकस्वभावं भावय। किंविशिष्टम्। निर्मलं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितम्। येन किं भवति। जिं पावहि भवतीरु येन परमात्मध्यानेन प्राप्नोषि लभसे त्वं हे जीव। किम्। भवतीरं संसारसागरावसानमिति। अत्र योऽसौ देहस्य छेदनादिव्यापारेऽपि रागद्वेषादिकोभम-कुर्वन् सन् शुद्धात्मानं भावयतीति संपादनादर्वाङ्मोक्षं स गच्छतीति भावार्थः ॥ ७२ ॥

अथ कर्मकृतभावानचेतनं द्रव्यं च निश्चयनयेन जीवाद्भिन्नं जानीहीति कथयति—

कम्महँ केरा भावडा अण्णु अचेयणु दब्बु ।

जीव-सहावहँ भिण्णु जिय णियमिं बुज्झहि सब्बु ॥ ७३ ॥

कर्मणः संबन्धिनः भावाः अन्यत् अचेतनं द्रव्यम् ।

जीवस्वभावात् भिन्नं जीव नियमेन बुध्यस्व सर्वम् ॥ ७३ ॥

कम्महँ केरा भावडा अण्णु अचेयणु दब्बु कर्मसंबन्धिनो रागादिभावा अन्यत् चाचेतनं देहादिद्रव्यं एतत्पूर्वोक्तं अप्सहावहँ भिण्णु जिय विशुद्धज्ञानदर्शनस्वरूपादात्म-शरीरं] यह शरीर [छिद्यतां] छिद जावे, दो टुकड़े हो जावे, [भिद्यतां] अथवा भिद जावे, छेदसहित हो जावे, [क्षयं यातु] नाशको प्राप्त होवे, तो भी तू भय मत कर, मनमें खेद मत ला, [निर्मलं आत्मानं] अपने निर्मल आत्माका ही [भावय] ध्यान कर, अर्थात् वीतराग चिदानन्द शुद्धस्वभाव तथा भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्मसे रहित अपने आत्माका चिंतन कर, [येन] जिस परमात्माके ध्यानसे तू [भवतीरं] भवसागरका पार [प्राप्नोषि] पायेगा ॥ भावार्थ—जो देहके छेदनादि कार्य होते भी राग द्वेषादि विकल्प नहीं करता, निर्विकल्पभावको प्राप्त हुआ शुद्ध आत्माको ध्याता है, वह थोड़े ही समयमें मोक्षको पाता है ॥७२॥

आगे ऐसा कहते हैं, जो कर्मजनित रागादिभाव और शरीरादि परवस्तु हैं, वे चेतन द्रव्य न होनेसे निश्चयनयकर जीवसे भिन्न हैं, ऐसा जानो—[जीव] हे जीव, [कर्मणः सम्बन्धिनः भावाः] कर्मजन्य रागादिक भाव और [अन्यत्] दूसरा [अचेतनं द्रव्यं] शरीरादिक अचेतन पदार्थ [सर्वं] इन सबको [नियमेन] निश्चयसे [जीवस्वभावात्] जीवके स्वभावसे [भिन्नं] जुदे

स्वभावान्निश्चयेन भिन्नं पृथग्भूतं हे जीव णियमिं बुज्झहि सव्वु नियमेन निश्चयेन बुध्यस्व जानीहि सर्वं समस्तमिति । अत्र मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगनिवृत्तिपरिणामकाले शुद्धात्मोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ७३ ॥

अथ ज्ञानमयपरमात्मनः सकाशादन्यत्परद्रव्यं मुक्त्वा शुद्धात्मानं भावयेति निरूपयति—

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ ।

सो छंडेविणु जीव तुहूँ भावहि अप्प-सहाउ ॥ ७४ ॥

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं अन्यः परः भावः ।

तं त्यक्त्वा जीव त्वं भावय आत्मस्वभावम् ॥ ७४ ॥

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ आत्मानं मुक्त्वा । किंविशिष्टम् । ज्ञानमयं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणराशिं निश्चयात् अन्यो भिन्नोऽभ्यन्तरे मिथ्यात्तरागादिबहिर्विषये देहादिपरभावः सो छंडेविणु जीव तुहूँ भावहि अप्पसहाउ तं पूर्वोक्तं शुद्धात्मनो विलक्षणं परभावं छंडयित्वा त्यक्त्वा हे जीव त्वं भावय । कम् । स्वशुद्धात्मस्वभावम् । किंविशिष्टम् । केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपकार्यसमयसारसाधकमभेदरत्नत्रयात्मककारणसमयसारपरिणतमिति । अत्र तमेवोपादेयं जानीहीत्यभिप्रायः ॥ ७४ ॥

अथ निश्चयेनाष्टकर्मसर्वदोषरहितं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसहितमात्मानं जानीहीति कथयति—

अट्ठहँ कम्महँ बाहिरउ सयलहँ दोसहँ चत्तु ।

दंसण-णाण-चरित्तमउ अप्पा भावि णिरुत्तु ॥ ७५ ॥

[बुध्यस्व] जानो, अर्थात् ये सब कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए हैं, आत्माका स्वभाव निर्मल ज्ञान दर्शनमयी है ॥ भावार्थ—जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योगोंकी निवृत्तिरूप परिणाम हैं, उस समय शुद्ध आत्मा ही उपादेय हैं ॥७३॥

आगे ज्ञानमयी परमात्मासे भिन्न परद्रव्यको छोड़कर तू शुद्धात्माका ध्यान कर, ऐसा कहते हैं—[जीव] हे जीव [त्वं] तू [ज्ञानमयं] ज्ञानमयी [आत्मानं] आत्माको [मुक्त्वा] छोड़कर [अन्यः परः भावः] अन्य जो दूसरे भाव हैं, [तं] उनको [छंडयित्वा] छोड़कर [आत्मस्वभावं] अपने शुद्धात्मस्वभावको [भावय] चिंतवन कर ॥ भावार्थ—केवलज्ञानादि अनंतगुणोंकी राशि आत्मासे जुड़े जो मिथ्यात्व रागादि अंदरके भाव तथा देहादि बाहिरके परभाव ऐसे जो शुद्धात्मासे विलक्षण परभाव हैं, उनको छोड़कर केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयरूप कार्यसमयसारका साधक जो अभेदरत्नत्रयरूप कारणसमयसार है, उस रूप परिणत हुए अपने शुद्धात्मस्वभावको चिंतवन कर और उसीको उपादेय समझ ॥७४॥

आगे निश्चयनयकर आठ कर्म और सब दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी आत्माको तू जान, ऐसा कहते हैं—[अष्टभ्यः कर्मभ्यः] शुद्धनिश्चयनयकर ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे [बाह्यं] रहित [सकलैः दोषैः] मिथ्यात्व रागादि सब विकारोंसे [त्यक्तं] रहित [दर्शनज्ञानचारित्रमयं]

अष्टभ्यः कर्मभ्यः बाह्यं सकलैः दोषैः त्यक्तम् ।

दर्शनज्ञानचारित्रमयं आत्मानं भावय निश्चितम् ॥ ७५ ॥

अद्वहं कम्महं बाहिरउ सयलहं दोसहं चत्तु अष्टकर्मभ्यो बाह्यं शुद्धनिश्चयेन ज्ञाना-
वरणाद्यष्टकर्मभ्यो भिन्नं मिथ्यावरागादिभावकर्मरूपसर्वदोषैस्त्यक्तम् । पुनश्च किंविशिष्टम् ।
दंसणणाणचरित्तमउ दर्शनज्ञानचारित्रमयं शुद्धोपयोगाविनाभूतैः स्वशुद्धात्मसम्यग्दर्शनज्ञान-
चारित्रैर्निर्वृत्तं अप्पा भावि णिरुत्तु तमित्थंभूतमात्मानं भावय । दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षा-
रूपनिदानबन्धादिसमस्तविभावपरिणामान् त्यक्त्वा भावयेत्यर्थः । णिरुत्तु निश्चितम् । अत्र
निर्वाणसुखादुपादेयभूतादभिन्नः समस्तभावकर्मद्रव्यकर्मभ्यो भिन्नो योऽसौ शुद्धात्मा स एवाभेद-
रत्नत्रयपरिणतानां भव्यानामुपादेय इति भावार्थः ॥ ७५ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथम-
महाधिकारमध्ये पृथक् पृथक् स्वतन्त्रं भेदभावनास्थलसूत्रनवकं गतम् ।

तदनन्तरं निश्चयसम्यग्दृष्टिमुख्यत्वेन स्वतन्त्रसूत्रमेकं कथयति—

अप्पि अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिट्ठि हवेइ ।

सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइ मुचेइ ॥ ७६ ॥

आत्मना आत्मानं जानन् जीवः सम्यग्दृष्टिः भवति ।

सम्यग्दृष्टिः जीवः लघु कर्मणा मुच्यते ॥ ७६ ॥

अप्पि अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिट्ठि हवेइ आत्मनात्मानं जानन् सन् जीवो वीत-
रागस्वसंवेदनज्ञानपरिणतेनान्तरात्मना स्वशुद्धात्मानं जानन्ननुभवन् सन् जीवः कर्ता वीतराग-
सम्यग्दृष्टिर्भवति । निश्चयसम्यक्त्वभावनायां फलं कथ्यते सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइ
मुचेइ सम्यग्दृष्टिः जीवो लघु शीघ्रं ज्ञानावरणादिकर्मणा मुच्यते इति । अत्र येनैव कारणेन
शुद्धोपयोगके साथ रहनेवाले अपने सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप भावस्वरूप [आत्मानं] आत्माको
[निश्चितं] निश्चयकर [भावय] चिंतवन कर ॥ भावार्थ—देखे सुने अनुभवे भोगोंकी
अभिलाषारूप सब विभाव-परिणामोंको छोड़कर निजस्वरूपका ध्यान कर । यहाँ उपादेयरूप
अतीन्द्रियसुखसे तन्मयी और सब भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्मसे जुदा जो शुद्धात्मा है, वही अभेद
रत्नत्रयको धारण करनेवाले निकटभव्योंको उपादेय हैं, ऐसा तात्पर्य हुआ ॥७५॥

ऐसे तीन प्रकार आत्माके कहनेवाले प्रथम महाधिकारमें जुदे जुदे स्वतंत्र भेद भावनाके स्थलमें
नौ दोहा-सूत्र कहे । आगे निश्चयकर सम्यग्दृष्टिकी मुख्यतासे स्वतंत्र एक दोहासूत्र कहते हैं—
[आत्मानं] अपनेको [आत्मना] अपनेसे [जानन्] जानता हुआ यह [जीवः] जीव
[सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [भवति] होता है, [सम्यग्दृष्टिः जीवः] और सम्यग्दृष्टि हुआ संता
[लघु] जल्दी [कर्मणा] कर्मोंसे [मुच्यते] छूट जाता है ॥ भावार्थ—यह आत्मा वीतराग
स्वसंवेदनज्ञानमें परिणत हुआ अंतरात्मा होकर अपनेको अनुभवता हुआ वीतराग सम्यग्दृष्टि होता
है, तब सम्यग्दृष्टि होनेके कारणसे ज्ञानावरणादि कर्मोंसे शीघ्र ही छूट जाता है—रहित हो जाता है ।

वीतरागसम्यग्दृष्टिः किल कर्मणा शीघ्रं मुच्यते तेनैव कारणेन वीतरागचारित्रानुकूलं शुद्धात्मानु-
भूत्यविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वमेव भावनीयमित्यभिप्रायः । तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यै-
र्मोक्षप्राप्त्युक्ते निश्चयसम्यक्त्वलक्षणम्—“सद्वर्णो सवर्णो सम्मादिष्टो हवेइ णियमेण ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठकम्माइ ॥” ॥ ७६ ॥

अत ऊर्ध्वं मिथ्यादृष्टिलक्षणकथनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते तद्यथा—

पञ्जरत्तउ जीवइउ मिच्छादिट्ठि हवेइ ।

बंधइ बहु-विह-कम्मडा जे संसार भमेइ ॥ ७७ ॥

पर्यायरक्तो जीवः मिथ्यादृष्टिः भवति ।

बध्नाति बहुविधकर्माणि येन संसारं भ्रमति ॥ ७७ ॥

पञ्जरत्तउ जीवइउ मिच्छादिट्ठि हवेइ पर्यायरक्तो जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति पर-
मात्मानुभूतिरुचिप्रतिपक्षभूताभिनिवेशरूपा व्यावहारिकमूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलान्तर्भाविनी
मिथ्या वितथा व्यलीका च सा दृष्टिरभिप्रायो रुचिः प्रत्ययः श्रद्धानं यस्य स भवति मिथ्या-
दृष्टिः । स च किंपिशिष्टः । नरनारकादिविभावपर्यायरतः । तस्य मिथ्यापरिणामस्य फलं
कथ्यते । बंधइ बहुविहकम्मडा जे संसार भमेइ बध्नाति बहुविधकर्माणि यैः संसारं
भ्रमति, येन मिथ्यात्वपरिणामेन शुद्धात्मोपलब्धेः प्रतिपक्षभूतानि बहुविधकर्माणि बध्नाति तैश्च

यहाँ जिस हेतु वीतराग सम्यग्दृष्टि होनेसे यह जीव कर्मोंसे छूटकर सिद्ध हो जाता है, इसी कारण
वीतराग चारित्रके अनुकूल जो शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतराग सम्यक्त्व है, वही ध्यावने योग्य हैं,
ऐसा अभिप्राय हुआ । ऐसा ही कथन श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने मोक्षपाहुड ग्रंथमें निश्चयसम्यक्त्वके लक्षणमें
किया है “सद्वर्णो” इत्यादि—उसका अर्थ यह है कि, आत्मस्वरूपमें मग्न हुआ जो यति वह
निश्चयकर सम्यग्दृष्टि होता है, फिर वह सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वरूप परिणमता हुआ दुष्ट आठ
कर्मोंको क्षय करता है ॥७६॥

इसके बाद मिथ्यादृष्टिके लक्षणके कथनकी मुख्यतासे आठ दोहे कहते हैं—[पर्यायरक्तः
जीवः] शरीर आदि पर्यायमें लीन हुआ जो अज्ञानी जीव है वह [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि
[भवति] होता है, और फिर वह [बहुविधकर्माणि] अनेक प्रकारके कर्मोंको [बध्नाति] बाँधता
है, [येन] जिनसे कि [संसारं] संसारमें [भ्रमति] भ्रमण करता है । भावार्थ—परमात्माकी
अनुभूतिरूप श्रद्धासे विमुख जो आठ मद, आठ मल, छह अनायतन, तीन मूछता, इन पच्चीस
दोषोंकर सहित अतत्त्व श्रद्धानरूप मिथ्यात्व परिणाम जिसके हैं, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है । वह
मिथ्यादृष्टि नर नारकादि विभाव-पर्यायोंमें लीन रहता है । उस मिथ्यात्व परिणामसे शुद्धात्माके
अनुभवसे पराङ्मुख अनेक तरहके कर्मोंको बाँधता है, जिनसे कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव,
भावरूपी पाँच प्रकारके संसारमें भटकता है । ऐसा कोई शरीर नहीं, जो इसने न धारण किया हो,

कर्मभिर्द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपं पञ्चप्रकारं संसारं परिभ्रमतीति । तथा चोक्तं मोक्षप्राभृते निश्चयमिथ्यादृष्टिलक्षणम्—“जो पुणु परदब्बरओ मिच्छाइटी हवेइ सो साहू । मिच्छत्तपरिणदो उण बज्जदि दुट्ठकम्महिं ॥ ” पुनश्चोक्तं तैरेव—“जे पज्जएसु गिरदा जीवा परसमइग ति गिहिट्ठा । आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेयव्वा ॥ ” अत्र स्वसंवित्तिरूपाद्वीतरागसम्यक्त्वात् प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं हेयमिति भावार्थः ॥ ७७ ॥

अथ मिथ्यात्वोपार्जितकर्मशक्तिं कथयति—

कम्मइं दिढ-घण-चिक्कणइं गरुवइं वज्ज-समाइं ।

णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताइं ॥ ७८ ॥

कर्माणि दृढघनचिक्कणानि गुरुकाणि वज्रसमानि ।

ज्ञानविचक्षणं जीवं उत्पद्ये पातयन्ति तानि ॥ ७८ ॥

कम्मइं दिढघणचिक्कणइं गरुवइं वज्जसमाइं कर्माणि भवन्ति । किंविशिष्टानि । दृढानि बलिष्ठानि घनानि निबिडानि चिक्कणान्यपनेतुमशक्यानि विनाशयितुमशक्यानि गुरुकाणि महान्ति वज्रसमान्यभेदानि च । इत्थंभूतानि कर्माणि किं कुर्वन्ति । णाणवियक्खणु जीवडउ उप्पहि

ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है कि जहाँ न उपजा हो और मरण न किया हो, ऐसा कोई काल नहीं है कि जिसमें इसने जन्म-मरण न किये हों, ऐसा कोई भव नहीं जो इसने पाया न हो, और ऐसे कोई अशुद्ध भाव नहीं हैं जो इसके न हुए हों । इस तरह अनंत परावर्तन इसने किये हैं । ऐसा ही कथन मोक्षपाहुडमें निश्चय मिथ्यादृष्टिके लक्षणमें श्रीकुंदकुंदाचार्यने कहा है—“जो पुण” इत्यादि । इसका अर्थ यह है, कि जो अज्ञानी जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूप परद्रव्यमें लीन हो रहे हैं, वे साधुके व्रत धारण करने पर भी मिथ्यादृष्टि ही हैं, सम्यग्दृष्टि नहीं और मिथ्यात्वकर परिणमते दुःख देनेवाले आठ कर्मोंको बाँधते हैं । फिर भी आचार्यने ही मोक्षपाहुडमें कहा है—“जे पज्जयेसु” इत्यादि । उसका अर्थ यह है, कि जो नर नारकादि पर्यायोंमें मग्न हो रहे हैं, वे जीव परपर्यायमें रत मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसा भगवानने कहा है, और जो उपयोग लक्षणरूप निजभावमें तिष्ठ रहे हैं वे स्वसमयरूप सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा जानो । सारांश यह है, कि जो परपर्यायमें रत हैं, वे तो परसमय (मिथ्यादृष्टि) है, और जो आत्मस्वभावमें लगे हुए हैं, वे स्वसमय (सम्यग्दृष्टि) हैं, मिथ्यादृष्टि नहीं हैं । यहाँ पर आत्मज्ञानरूपी वीतराग सम्यक्त्वसे पराङ्मुख जो मिथ्यात्व है, वह त्यागने योग्य है ॥७७॥

आगे मिथ्यात्वकर अनेक प्रकार उपार्जन किये कर्मोंसे यह जीव संसार-वनमें भ्रमता है, उस कर्मशक्तिको कहते हैं—[तानि कर्माणि] वे ज्ञानावरणादि कर्म [ज्ञानविचक्षणं] ज्ञानादि गुणसे चतुर [जीवं] इस जीवको [उत्पद्ये] खोटे मार्गमें [पातयन्ति] पटकते (डालते) हैं । कैसे हैं वे कर्म ? [दृढघनचिक्कणानि] बलवान हैं, बहुत हैं, विनाश करनेको अशक्य हैं, इसलिये चिकने हैं, [गुरुकाणि] भारी हैं, [वज्रसमानि] और वज्रके समान अभेद्य हैं ॥ भावार्थ—यह जीव एक

पाडहिं ताइं ज्ञानविचक्षणं जीवमुत्पथे पातयन्ति । तानि कर्माणि युगपल्लोकालोकप्रकाशक-
केवलज्ञानाद्यनन्तगुणविचक्षणं दक्षं जीवमभेदरत्नत्रयलक्षणान्निश्चयमोक्षमार्गात्प्रतिपक्षभूत उन्मार्गे
पातयन्तीति । अत्रायमेवाभेदरत्नत्रयरूपो निश्चयमोक्षमार्ग उपादेय इत्यभिप्रायः ॥ ७८ ॥

अथ मिथ्यापरिणत्या जीवो विपरीतं तत्त्वं जानातीति निरूपयति—

जिउ मिच्छसें परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ ।

कम्म-विणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ ॥ ७९ ॥

जीवः मिथ्यात्वेन परिणतः विपरीतं तत्त्वं मनुते ।

कर्मविनिर्मितान् भावान् तान् आत्मानं भणति ॥ ७९ ॥

जिउ मिच्छसें परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ जीवो मिथ्यात्वेन परिणतः सन्
विपरीतं तत्त्वं जानाति, शुद्धात्मानुभूतिरुचिविलक्षणेन मिथ्यात्वेन परिणतः सन् जीवः परमा-
त्मादितत्त्वं च यथावद् वस्तुस्वरूपमपि विपरीतं मिथ्यात्वरगादिपरिणतं जानाति । ततश्च किं
करोति । कम्मविणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ कर्मविनिर्मितान् भावान् ताना-
त्मानं भणति, विशिष्टभेदज्ञानाभावाद्गौरस्थूलकृशादिकर्मजनितदेहधर्मात्मानं जानातीत्यर्थः । अत्र
तेभ्यः कर्मजनितभावेभ्यो भिन्नो रागादिनिवृत्तिकाले स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति तात्पर्यम् ॥७९॥

अथानन्तरं तत्पूर्वोक्तकर्मजनितभावान् येन मिथ्यापरिणामेन कृत्वा बहिरात्मा आत्मनि

समयमें लोकालोकके प्रकाशनेवाले केवलज्ञान आदिक अनन्त गुणोंसे बुद्धिमान चतुर हैं, तो भी इस
जीवको वे संसारके कारण कर्म ज्ञानादि गुणोंका आच्छादन करके अभेदरत्नत्रयरूप
निश्चयमोक्षमार्गसे विपरीत छोटे मार्गमें डालते हैं, अर्थात् मोक्षमार्गसे भुलाकर भव-वनमें भटकाते
हैं । यहाँ यह अभिप्राय है, कि संसारके कारण जो कर्म और उनके कारण मिथ्यात्व रागादि
परिणाम हैं, वे सब हेय हैं, तथा अभेदरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्ग है, वह उपादेय है ॥७८॥

आगे मिथ्यात्व परिणतिसे यह जीव तत्त्वको यथार्थ नहीं जानता, विपरीत जानता है, ऐसा
कहते हैं—[जीवः] यह जीव [मिथ्यात्वेन परिणतः] अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणत हुआ, [तत्त्वं]
आत्माको आदि लेकर तत्त्वोंके स्वरूपको [विपरीतं] अन्यका अन्य [मनुते] श्रद्धान करता है,
यथार्थ नहीं जानता । वस्तुका स्वरूप तो जैसा है वैसा ही है तो भी यह मिथ्यात्वी जीव वस्तुके
स्वरूपको विपरीत मानता है, अपना जो शुद्ध ज्ञानादि सहित स्वरूप है, उसको मिथ्यात्व
रागादिरूप जानता है । उससे क्या करता है ? [कर्मविनिर्मितान् भावान्] कर्मोंकर रचे गये जो
शरीरादि परभाव हैं [तान्] उनको [आत्मानं] अपने [भणति] कहता है, अर्थात् भेदविज्ञानके
अभावसे गोरा, श्याम, स्थूल, कृश इत्यादि कर्मजनित देहके स्वरूपको अपना जानता है, इसीसे
संसारमें भ्रमण करता है ॥ भावार्थ—यहाँपर कर्मोंसे उपार्जन किये भावोंसे भिन्न जो शुद्ध आत्मा
है, उससे जिस समय रागादि दूर होते हैं, उस समय उपादेय हैं, क्योंकि तभी शुद्ध आत्माका ज्ञान
होता है ॥७९॥

योजयति तं परिणामं सूत्रपञ्चकेन विवृणोति—

हउँ गौरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु ।

हउँ तणु-अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु ॥ ८० ॥

अहं गौरः अहं श्यामः अहमेव विभिन्नः वर्णः ।

अहं तन्वङ्गः स्थूलः अहं एतं मूढं मन्यस्व ॥ ८० ॥

अहं गौरो गौरवर्णः, अहं श्यामः श्यामवर्णः, अहमेव भिन्नो नानावर्णः मिश्रवर्णः । क ।
वर्णविषये रूपविषये । पुनश्च कथंभूतोऽहम् । तन्वङ्गः कृशाङ्गः । पुनश्च कथंभूतोऽहम् । स्थूलः
स्थूलशरीरः । इत्थंभूतं मूढात्मानं मन्यस्व । एवं पूर्वोक्तमिध्यापरिणामपरिणतं जीवं मूढात्मानं
जानीहीति । अयमत्र भावार्थः । निश्चयनयेनात्मनो भिन्नान् कर्मजनितान् गौरस्थूलादिभावान्
सर्वथा हेयभूतानपि सर्वप्रकारोपादेयभूते वीतरागनित्यानन्दैकस्वभावे शुद्धजीवे यो योजयति
स विषयकषायाधीनतया स्वशुद्धात्मानुभूतेऽन्युतः सन् मूढात्मा भवतीति ॥ ८० ॥ अथ—

हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु ।

पुरिसु णउंसउ इत्थि हउँ मण्णइ मूढु विसेसु ॥ ८१ ॥

अहं वरः ब्राह्मणः वैश्यः अहं अहं क्षत्रियः अहं शेषः ।

पुरुषः नपुंसकः स्त्री अहं मन्यते मूढः विशेषम् ॥ ८१ ॥

हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु अहं वरो विशिष्टो ब्राह्मणः अहं
वैश्यो वणिक् अहं क्षत्रियोऽहं शेषः शूद्रादिः । पुनश्च कथंभूतः । पुरिसु णउंसउ इत्थि हउँ

इसके बाद उन पूर्वकथित कर्मजनित भावोंको जिस मिथ्यात्व परिणामसे बहिरात्मा अपने
मानता है, और वे अपने हैं नहीं, ऐसे परिणामोंको पाँच दोहा-सूत्रोंमें कहते हैं—[अहं] मैं [गौरः]
गोरा हूँ, [अहं] मैं [श्यामः] काला हूँ, [अहमेव] मैं ही [विभिन्नः वर्णः] अनेक वर्णवाला हूँ,
[अहं] मैं [तन्वङ्गः] कृश (पतले) शरीरवाला हूँ, [अहं] मैं [स्थूलः] मोटा हूँ [एतं] इस प्रकार
मिथ्यात्व परिणामकर परिणत मिथ्यादृष्टि जीवको तू [मूढ] मूढ [मन्यस्व] मान ॥ भावार्थ—
निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न जो कर्मजनित गौर स्थूलादि भाव हैं, वे सर्वथा त्याज्य हैं, और
सर्वप्रकार आराधने योग्य वीतराग नित्यानन्द स्वभाव जो शुद्धजीव है, वह इनसे भिन्न है, तो भी
जो पुरुष विषय कषायोंके आधीन होकर शरीरके भावोंको अपने जानता है, वह अपनी
शुद्धात्मानुभूतिसे रहित हुआ मूढात्मा है ॥ ८० ॥

आगे फिर भी मिथ्यादृष्टिके लक्षण कहते हैं—[मूढः] मिथ्यादृष्टि अपनेको [विशेषं] मनुते]
ऐसा विशेष मानता है, कि [अहं] मैं [वरः ब्राह्मणः] सबमें श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ, [अहं] मैं [वैश्यः]
वणिक् हूँ, [अहं] मैं [क्षत्रियः] क्षत्री हूँ, [अहं] मैं [शेषः] इनके सिवाय शूद्र हूँ, [अहं] मैं
[पुरुषः नपुंसकः स्त्री] पुरुष हूँ, नपुंसक हूँ, और स्त्री हूँ, । इस प्रकार शरीरके भावोंको मूर्ख
अपने मानता है । सो ये सब शरीरके हैं, आत्माके नहीं हैं ॥ भावार्थ—निश्चयनयसे ब्राह्मणादि भेद

मण्णइ मूढु विसेसु पुरुषो नपुंसकः स्त्रीलिङ्गोऽहं मन्यते मूढो विशेषं ब्राह्मणादिविशेषमिति ।
इदमत्र तात्पर्यम् । यन्निश्चयनयेन परमात्मनो भिन्नानपि कर्मजनितान् ब्राह्मणादिभेदान् सर्व-
प्रकारेण हेयभूतानपि निश्चयनयेनोपादेयभूते वीतरागसदानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि योजयति
संबद्धान् करोति । कोऽसौ कथंभूतः । अज्ञानपरिणतः स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनारहितो मूढात्मेति
॥ ८१ ॥ अथ—

तरुणउ बूढउ रूपडउ शूरउ पंडित दिव्वु ।

खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ८२ ॥

तरुणः वृद्धः रूपवान् शूरः पण्डितः दिव्यः ।

क्षपणकः वन्दकः श्वेतपटः मूढः मन्यते सर्वम् ॥ ८२ ॥

तरुणउ बूढउ रूपडउ शूरउ पंडित दिव्वु तरुणो यौवनस्थोऽहं वृद्धोऽहं रूपस्वयं
शूरः सुभटोऽहं पण्डितोऽहं दिव्योऽहम् । पुनश्च किंविशिष्टः । खवणउ वंदउ सेवडउ क्षप-
णको दिगम्बरोऽहं वन्दको बौद्धोऽहं श्वेतपटादिलिङ्गधारकोऽहमिति मूढात्मा सर्वं मन्यत इति ।
अयमत्र तात्पर्यार्थः । यद्यपि व्यवहारेणाभिन्नान् तथापि निश्चयेन वीतरागसहजानन्दैकस्वभावा-
त्परमात्मनः भिन्नान् कर्मोदयोत्पन्नान् तरुणवृद्धादिविभावपर्यायान् हेयानपि साक्षादुपादेयभूते
स्वशुद्धात्मतत्त्वे योजयति । कोऽसौ । ख्यातिपूजालाभादिविभावपरिणामाधीनतया परमात्म-
भावनाच्युतः सन् मूढात्मेति ॥ ८२ ॥ अथ—

कर्मजनित हैं, परमात्माके नहीं हैं, इसलिये सब तरह आत्मज्ञानीके त्याग्यरूप हैं तो भी जो
निश्चयनयकर आराधने योग्य वीतराग सदा आनन्दस्वभाव निज शुद्धात्मामें इन भेदोंको लगाता है,
अर्थात् अपनेको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र मानता है, स्त्री, पुरुष, नपुंसक मानता है, वह कर्मोंका
बंध करता है, वही अज्ञानसे परिणत हुआ निज शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे रहित हुआ मूढात्मा हैं,
ज्ञानवान् नहीं है ॥८१॥

आगे फिर मूढके लक्षण कहते हैं—[तरुणः] मैं जवान हूँ, [वृद्धः] बूढ़ा हूँ [रूपस्वी] रूपवान्
हूँ, [शूरः] शूरवीर हूँ, [पंडितः] पंडित हूँ, [दिव्यः] सबमें श्रेष्ठ हूँ, [क्षपणकः] दिगंबर हूँ,
[वंदकः] बौद्धमतका आचार्य हूँ, [श्वेतपटः] और मैं श्वेताम्बर हूँ, इत्यादि [सर्वं] सब शरीरके
भेदोंको [मूढः] मूर्ख [मन्यते] अपने मानता है । ये भेद जीवके नहीं हैं ॥ भावार्थ—यद्यपि
व्यवहारनयकर ये सब तरुण वृद्धादि शरीरके भेद आत्माके कहे जाते हैं, तो भी निश्चयनयकर
वीतराग सहजानन्द एक स्वभाव जो परमात्मा उससे भिन्न हैं । ये तरुणादि विभावपर्याय कर्मके
उदयकर उत्पन्न हुए हैं, इसलिये त्यागने योग्य हैं, तो भी उनकी साक्षात् उपादेयरूप निज
शुद्धात्मतत्त्वमें जो लगाता है, अर्थात् आत्माके मानता है, वह अज्ञानी जीव बड़ाई प्रतिष्ठा धनका
लाभ इत्यादि विभाव परिणामोंके आधीन होकर परमात्माकी भावनासे रहित हुआ मूढात्मा हैं, वह
जीवके ही भाव मानता है ॥८२॥

जणणी जणणु वि कंत घर पुत्तु वि मित्तु वि दब्बु ।

माया-जालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ८३ ॥

जननी जननः अपि कान्ता गृहं पुत्रोऽपि मित्रमपि द्रव्यम् ।

मायाजालमपि आत्मीयं मूढः मन्यते सर्वम् ॥ ८३ ॥

जणणी जणणु वि कंत घर पुत्तु वि मित्तु वि दब्बु जननी माता जननः पितापि कान्ता भार्या गृहं पुत्रोऽपि मित्रमपि द्रव्यं सुवर्णादि यत्तत्सर्वं मायाजालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु मायाजालमप्यसत्यमपि कृत्रिममपि आत्मीयं स्वकीयं मन्यते । कोऽसौ । मूढो मूढात्मा । कतिसंख्योपेतमपि । सर्वमपीति । अयमत्र भावार्थः । जनन्यादिकं परस्वरूपमपि शुद्धात्मनो भिन्नमपि हेयस्याशेषनारकादिदुःखस्य कारणत्वाद्देयमपि साक्षादुपादेयभूतानाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसौख्यादभिन्ने वीतरागपरमानन्दैकस्वभावे शुद्धात्मतत्त्वे योजयति । स कः । मनोवचनकायव्यापारपरिणतः स्वशुद्धात्मद्रव्यभावनाशून्यो मूढात्मेति ॥ ८३ ॥ अथ—

दुक्खहँ कारणि जे विसय ते सुहहेउ रमेइ ।

मिच्छाइड्डिउ जीवडउ इत्थु ण काई करेइ ॥ ८४ ॥

दुःखस्य कारणं ये विषयाः तान् सुखहेतून् रमते ।

मिथ्यादृष्टिः जीवः अत्र न किं करोति ॥ ८४ ॥

दुक्खहँ कारणि जे विसय ते सुहहेउ रमेइ दुःखस्य कारणं ये विषयास्तान् विषयान्

आगे फिर मूढके लक्षण कहते हैं—[जननी] माता [जननः] पिता [अपि] और [कान्ता] स्त्री [गृहं] घर [पुत्रः अपि] और बेटा बेटी [मित्रमपि] मित्र वगैरह सब कुटुम्बीजन बहिन भानजी नाना मामा भाई बंधु और [द्रव्यं] रत्न माणिक मोती सुवर्ण चांदी धन धान्य, द्विपद—बांदी धाय नौकर, चौपाये-गाय, बैल, घोडा, घोड़ी, ऊँट, हाथी, रथ, पालकी, वहली, ये [सर्वं] सर्व [मायाजालमपि] असत्य हैं, कर्मजनित हैं, तो भी [मूढः] अज्ञानी जीव [आत्मीयं] अपने [मन्यते] मानता है ॥ भावार्थ—ये माता पिता आदि सब कुटुम्बीजन परस्वरूप भी हैं, सब स्वारथके हैं, शुद्धात्मासे भिन्न भी हैं, शरीर संबंधी हैं, हेयरूप सांसारिक नारकादि दुखोंके कारण होनेसे त्याज्य भी हैं, उनको जो जीव साक्षात् उपादेयरूप अनाकुलतास्वरूप पारमार्थिक सुखसे अभिन्न वीतराग परमानंदरूप एकस्वभाववाले शुद्धात्मद्रव्यमें लगाता है, अर्थात् अपने मानता है, वह मन वचन कायरूप परिणत हुआ शुद्ध अपने आत्मद्रव्यकी भावनासे शून्य (रहित) मूढात्मा है ऐसा जानो, अर्थात् अतीन्द्रियसुखरूप आत्मामें परवस्तुका क्या प्रयोजन हैं ? जो परवस्तुको अपना मानता है, वही मूर्ख है ॥ ८३ ॥

अब और भी मूढका लक्षण कहते हैं—[दुःखस्य] दुःखके [कारणं] कारण [ये] जो [विषयाः] पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं, [तान्] उनको [सुखहेतून्] सुखके कारण जानकर

सुखहेतून् मत्वा रमते । स कः । मिच्छाद्दृष्टिः जीवद्वय मिथ्यादृष्टिर्जीवः । इत्थु ण काइं करेइ अत्र जगति योऽसौ दुःखरूपविषयान् निश्चयनयेन सुखरूपान् मन्यते स मिथ्यादृष्टिः किमकृत्यं पापं न करोति, अपि तु सर्वं करोत्येवेति । अत्र तात्पर्यम् । मिथ्यादृष्टिर्जीवो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानन्दपरमसमरसीभावरूपसुखरसापेक्षया निश्चयेन दुःखरूपानपि विषयान् सुखहेतून् मत्वा अनुभवतीत्यर्थः ॥ ८४ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये 'जिउ मिच्छत्ते' इत्यादि सूत्राष्टकेन मिथ्यादृष्टिपरिणतिव्याख्यानस्थलं समाप्तम् ॥ तदनन्तरं सम्यग्दृष्टिभावनाव्याख्यानमुख्यत्वेन 'कालु लहेविणु' इत्यादि सूत्राष्टकं कथ्यते ।

अथ—

कालु लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ ।

तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ गियमे अप्पु मुणेइ ॥ ८५ ॥

कालं लब्ध्वा योगिन् यथा यथा मोहः गलति ।

तथा तथा दर्शनं लभते जीवः नियमेन आत्मानं मनुते ॥ ८५ ॥

कालु लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ कालं लब्ध्वा हे योगिन् यथा यथा मोहो विगलति तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ तथा तथा दर्शनं सम्यक्त्वं लभते जीवः । तदनन्तरं किं करोति । गियमे अप्पु मुणेइ नियमेनात्मानं मनुते जानातीत्यर्थः । तथाहि— एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंश्लिष्याप्तमनुष्यदेशकुलशुद्धात्मोपदेशादीनामुत्तरोत्तरदुर्लभक्रमेण दुःभाक्ता काललब्धिः, कथंचित्काकतालीयन्यायेन तां लब्ध्वा परमागमकथितमार्गेण मिथ्यासा-
[रमते] रमण करता है, वह [मिथ्यादृष्टिः जीवः] मिथ्यादृष्टि जीव [अत्र] इस संसारमें [किं न करोति] क्या पाप नहीं करता ? सभी पाप करता है, अर्थात् जीवोंकी हिंसा करता है, झूठ बोलता है, दूसरेका धन हरता है, दूसरेकी स्त्री सेवन करता है, अति तृष्णा करता है, बहुत आरंभ करता है, खेती करता है, खोटे खोटे व्यसन सेवता है, जो न करनेके काम हैं उनको भी करता है ॥ भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव वीतराग निर्विकल्प परमसमाधिसे उत्पन्न परमानन्द परमसमरसी-भावरूप सुखसे पराङ्मुख हुआ निश्चयकर महा दुःखरूप विषयोंको सुखके कारण समझकर सेवन करता है, सो इनमें सुख नहीं हैं ॥ ८४ ॥

इस प्रकार तीन तरहके आत्माको कहनेवाले पहले महा अधिकारमें “जिउ मिच्छत्ते” इत्यादि आठ दोहोंमेंसे मिथ्यादृष्टिकी परिणतिका व्याख्यान समाप्त किया । इसके आगे सम्यग्दृष्टिकी भावनाके व्याख्यानकी मुख्यतासे “काल लहेविणु” इत्यादि आठ दोहा-सूत्र कहते हैं—[योगिन्] हे योगी, [कालं लब्ध्वा] काल पाकर [यथा यथा] जैसा जैसा [मोहः] मोह [गलति] गलता है-कम होता जाता है, [तथा तथा] वैसा वैसा [जीवः] यह जीव [दर्शनं] सम्यग्दर्शनको [लभते] पाता है, फिर [नियमेन] निश्चयसे [आत्मानं] अपने स्वरूपको [मनुते] जानता है ॥ भावार्थ—एकेन्द्रियसे विकलत्रय (दोइंद्री तेइंद्री चोइंद्री) होना दुर्लभ है, विकलत्रयसे पंचेंद्री, पंचेंद्रीसे सैनी पर्याप्त,

दिभेदभिन्नपरमात्मोपलम्भप्रतिपत्तेर्वया यथा मोहो विगलति तथा तथा शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वं लभते । शुद्धात्मकर्मणोर्भेदज्ञानेन शुद्धात्मतत्त्वं मनुते जानातीति । अत्र यस्यैवोपादेयभूतस्य शुद्धात्मनो रुचिपरिणामेन निश्चयसम्यग्दृष्टिर्जातो जीवः, स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ८५ ॥

अत ऊर्ध्वं पूर्वोक्तन्यायेन सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा मिथ्यादृष्टिभावनायाः प्रतिपक्षभूतां यादृशीं भेद-
भावनां करोति तादृशीं क्रमेण सूत्रसप्तकेन विवृणोति—

अप्पा गोरउ किण्हु ण वि अप्पा रत्तु ण होइ ।

अप्पा सुद्धुसु वि थूलु ण वि णाणिउ जाणे जोइ ॥ ८६ ॥

आत्मा गौरः कृष्णः नापि आत्मा रक्तः न भवति ।

आत्मा सूक्ष्मोऽपि स्थूलः नापि ज्ञानी ज्ञानेन पश्यति ॥ ८६ ॥

आत्मा गौरो न भवति रक्तो न भवति आत्मा सूक्ष्मोऽपि न भवति स्थूलोऽपि नैव । तर्हि किंविशिष्टः । ज्ञानी ज्ञानस्वरूपः ज्ञानेन करणभूतेन पश्यति । अथवा 'णाणिउ जाणइ जोइ' इति पाठान्तरं, ज्ञानी योऽसौ योगी स जानात्यात्मानम् । अथवा ज्ञानी ज्ञानस्वरूपेण आत्मा । कोऽसौ जानाति । योगीति । तथाहि—कृष्णगौरादिकधर्मान् व्यवहारेण जीवसंबद्धानपि तथापि शुद्धात्मनो भिन्नान् कर्मजनितान् हेयान् वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी स्वशुद्धात्मतत्त्वे तान् न योजयति संबद्धान् करोतीति भावार्थः ॥ ८६ ॥ अथ—

उससे मनुष्य होना कठिन है । मनुष्यमें भी आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, शुद्धात्माका उपदेश आदि मिलना उत्तरोत्तर बहुत कठिन हैं, और किसी तरह काकतालीय न्यायसे काललब्धिको पाकर सब दुर्लभ सामग्री मिलनेपर भी जैन-शास्त्रोक्त मार्गसे मिथ्यात्वादिके दूर हो जानेसे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होते हुए, जैसा जैसा मोह क्षीण होता जाता है, वैसा वैसा शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, ऐसा रुचिरूप सम्यक्त्व होता है । शुद्ध आत्मा और कर्मको जुदे जुदे जानता है । जिस शुद्धात्माकी रुचिरूप परिणामसे यह जीव निश्चयसम्यग्दृष्टि होता है, वही उपादेय है, यह तात्पर्य हुआ ॥ ८५ ॥

इसके बाद पूर्वकथित रीतिसे सम्यग्दृष्टि होकर मिथ्यात्वकी भावनासे विपरीत जैसी भेदविज्ञानकी भावनाको करता है, वैसी भेदविज्ञान-भावनाका स्वरूप क्रमसे सात दोहा-सूत्रोंमें कहते हैं—[आत्मा] आत्मा [गौरः कृष्णः नापि] सफेद नहीं हैं, काल नहीं है, [आत्मा] आत्मा [रक्तः] लाल [न भवति] नहीं है, [आत्मा] आत्मा [सूक्ष्मः अपि स्थूलः नैव] सूक्ष्म भी नहीं है, और स्थूल भी नहीं है, [ज्ञानी] ज्ञानस्वरूप है, [ज्ञानेन] ज्ञानदृष्टिसे [पश्यति] देखा जाता है, अथवा ज्ञानी पुरुष योगी ही ज्ञानसे आत्माको जानता है ॥ भावार्थ—ये श्वेत काले आदि धर्म व्यवहारनयकर शरीरके सम्बन्धसे जीवके कहे जाते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर शुद्धात्मासे जुदे हैं, कर्मजनित हैं, त्यागने योग्य हैं । जो वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी है, वह निज शुद्धात्मतत्त्वमें इन धर्मोंको नहीं लगाता, अर्थात् इनको अपने नहीं समझता है ॥ ८६ ॥

अप्या बंभणु वइसु ण वि ण वि खत्तिउ ण वि सेसु ।

पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि णाणिउ मुणइ असेसु ॥ ८७ ॥

आत्मा ब्राह्मणः वैश्यः नापि नापि क्षत्रियः नापि शेषः ।

पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि ज्ञानी मनुते अशेषम् ॥ ८७ ॥

अप्या बंभणु वइसु ण वि ण वि खत्तिउ ण वि सेसु पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि आत्मा ब्राह्मणो न भवति वैश्योऽपि नैव नापि क्षत्रियो नापि शेषः शूद्रादिः पुरुष-नपुंसकस्त्रीलिङ्गरूपोऽपि नैव । तर्हि किंविशिष्टः । णाणिउ मुणइ असेसु ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा ज्ञानी सन् । किं करोति । मनुते जानाति । कम् । अशेषं वस्तुजातं वस्तुसमूहमिति । तद्यथा । यानेव ब्राह्मणादिवर्णभेदान् पुंलिङ्गादिलिङ्गभेदान् व्यवहारेण परमात्मपदार्थादभिन्नान् शुद्धनिश्चयेन भिन्नान् साक्षाद्वेयभूतान् वीतरागनिर्विकल्पसमाधिच्युतो बहिरात्मा स्वात्मनि योजयति तानेव तद्विपरीतभावनारतोऽन्तरात्मा स्वशुद्धात्मस्वरूपेण योजयतीति तात्पर्यार्थः ॥ ८७ ॥ अथ—

अप्या वंदउ खवणु ण वि अप्या गुरउ ण होइ ।

अप्या लिङ्गिउ एकु ण वि णाणिउ जाणइ जोइ ॥ ८८ ॥

आत्मा वन्दकः क्षपणः नापि आत्मा गुरवः न भवति ।

आत्मा लिङ्गी एकः नापि ज्ञानी जानाति योगी ॥ ८८ ॥

आत्मा वन्दको बौद्धो न भवति, आत्मा क्षपणको दिगम्बरो न भवति, आत्मा गुरवशब्द-

आगे ब्राह्मणादि वर्ण आत्माके नहीं हैं, ऐसा वर्णन करते हैं—[आत्मा] आत्मा [ब्राह्मणः वैश्यः नापि] ब्राह्मण नहीं है, वैश्य भी नहीं है, [क्षत्रियः नापि] क्षत्री भी नहीं है, [शेषः] बाकी शूद्र भी [नापि] नहीं है, [पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि] पुरुष नपुंसक स्त्रीलिङ्गरूप भी नहीं है, [ज्ञानी] ज्ञानस्वरूप हुआ [अशेषं] समस्त वस्तुओंको ज्ञानसे [मनुते] जानता है ॥ भावार्थ—जो ब्राह्मणादि वर्ण-भेद हैं, और पुरुष लिंगादि तीन लिंग हैं, वे यद्यपि व्यवहारनयकर देहके संबंधसे जीवके कहे जाते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर आत्मासे भिन्न हैं, और साक्षात् त्यागने योग्य हैं, उनको वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसे रहित मिथ्यादृष्टि जीव अपने जानता है, और उन्हींको मिथ्यात्वसे रहित सम्यग्दृष्टि जीव अपने नहीं समझता । आपको तो वह ज्ञानस्वभावरूप जानता है ॥८७॥

आगे वंदक क्षपणकादि भेद भी जीवके नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—[आत्मा] आत्मा [वंदकः क्षपणः नापि] बौद्धका आचार्य नहीं है, दिगम्बर भी नहीं है, [आत्मा] आत्मा [गुरवः न भवति] श्वेताम्बर भी नहीं है, [आत्मा] आत्मा [एकः अपि] कोई भी [लिङ्गी] वेशका धारी [न] नहीं है, अर्थात् एकदंडी, त्रिदंडी, हंस, परमहंस, संन्यासी, जटाधारी, मुंडित, रुद्राक्षकी माला तिलक कुलक घोष वगैरः भेषोंमें कोई भी भेषधारी नहीं है, एक [ज्ञानी] ज्ञानस्वरूप है, उस आत्माको

वाच्यः श्वेताम्बरो न भवति । आत्मा एकदण्डिभिदण्डिहंसपरमहंससंज्ञाः संन्यासी शिखी मुण्डी योगदण्डासमालातिरङ्गकुलकयोषमभृतिवेषधारी नैकोऽपि कश्चिदपि लिङ्गी न भवति । तर्हि कथं भूतो भवति । ज्ञानी । तमात्मानं कोऽसौ जानाति योगी ध्यानीति । तथाहि—यद्यप्यात्मा व्यवहारेण वन्दकादिलिङ्गी भण्यते तथापि शुद्धनिश्चयनयेनैकोऽपि लिङ्गी न भवतीति । अयमत्र भावार्थः । देहाभितं द्रव्यलिङ्गमुपचरितासद्भूतव्यवहारेण जीवस्वरूपं भण्यते, वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपं भावलिंगं तु यद्यपि शुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वादुपचारेण शुद्धजीवस्वरूपं भण्यते, तथापि सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन न भण्यत इति ॥ ८८ ॥ अथ—

अप्या गुरु णवि सिस्सु णवि णवि सामिउ णवि भिच्छु ।

सूरउ कायरु होइ णवि णवि उत्तमु णवि णिच्छु ॥ ८९ ॥

आत्मा गुरुः नैव शिष्यः नैव नैव स्वामी नैव भृत्यः ।

शूरः कातरः भवति नैव नैव उत्तमः नैव नीचः ॥ ८९ ॥

आत्मा गुरुनैव भवति शिष्योऽपि न भवति नैव स्वामी नैव भृत्यः शूरो न भवति कातरो हीनसत्त्वो नैव भवति नैवोत्तमः उत्तमकुलमद्यतः नैव नीचो नीचकुलमद्यत इति । तद्यथा । गुरु-शिष्यादिसंबन्धान् यद्यपि व्यवहारेण जीवस्वरूपांस्तथापि शुद्धनिश्चयेन परमात्मद्रव्याङ्गिज्ञानं हेयभूतान् वीतरागपरमानन्दैकस्वशुद्धात्मोपलब्धेश्च्युतो बहिरात्मा स्वात्मसंबद्धान् करोति तानेव

[योगी] ध्यानी मुनि ध्यानाखूट होकर [जानाति] जानता है, ध्यान करता है ॥ भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयकर यह आत्मा वन्दकादि अनेक भेषोंको धरता है, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर कोई भी भेष जीवके नहीं है, देहके है । यहाँ देहके आश्रयसे जो द्रव्यलिंग है, वह उपचरितासद्भूत-व्यवहारनयकर जीवका स्वरूप कहा जाता है, तो भी निश्चयनयकर जीवका स्वरूप नहीं है । क्योंकि जब देह ही जीवकी नहीं, तो भेष कैसे हो सकता है ? इसलिये द्रव्यलिंग तो सर्वथा ही नहीं है, और वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप भावलिंग यद्यपि शुद्धात्मस्वरूपका साधक है, इसलिये उपचारनयकर जीवका स्वरूप कहा जाता है, तो भी परमसूक्ष्म शुद्धनिश्चयनयकर भावलिंग भी जीवका नहीं है । भावलिंग साधनरूप है, वह भी परम अवस्थाका साधक नहीं है ॥ ८८ ॥

आगे यह गुरु शिष्यादिक भी नहीं हैं—[आत्मा] आत्मा [गुरुः नैव] गुरु नहीं है, [शिष्यः नैव] शिष्य भी नहीं है, [स्वामी नैव] स्वामी भी नहीं है, [भृत्यः नैव] नौकर नहीं है, [शूरः कातरः नैव] शूरवीर नहीं है, कायर नहीं है, [उत्तमः नैव] उच्चकुली नहीं है, [नीचः नैव भवति] और नीचकुली भी नहीं है ॥ भावार्थ—ये सब गुरु, शिष्य, स्वामी, सेवकादि संबंध यद्यपि व्यवहारनयसे जीवके स्वरूप हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयसे शुद्ध आत्मासे जुदे हैं, आत्माके नहीं है, त्यागने योग्य हैं, इन भेदोंको वीतरागपरमानन्द निज शुद्धात्माकी प्राप्तिसे रहित बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव अपने समझता है, और इन्हीं भेदोंको वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें रहता हुआ अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि जीव पर रूप (दूसरे) जानता है ॥ ८९ ॥

वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थो अन्तरात्मा परस्वरूपान् जानातीति भावार्थः ॥ ८९ ॥ अथ—

अप्या माणुसु देउ ण वि अप्या तिरिउ ण होइ ।

अप्या णारउ कहिँ वि णवि णाणिउ जाणइ जोइ ॥ ९० ॥

आत्मा मनुष्यः देवः नापि आत्मा तिर्यग् न भवति ।

आत्मा नारकः कापि नैव ज्ञानी जानाति योगी ॥ ९० ॥

अप्या माणुसु देउ ण वि अप्या तिरिउ ण होइ अप्या णारउ कहिँ वि णवि आत्मा मनुष्यो न भवति देवो नैव भवति आत्मा तिर्यग्योनिर्न भवति आत्मा नारकः कापि काले न भवति । तर्हि किंविशिष्टो भवति । णाणिउ जाणइ जोइ ज्ञानी ज्ञानरूपो भवति । तमात्मानं कोऽसौ जानाति । योगी कोऽर्थः । त्रिगुप्तिनिर्विकल्पसमाधिस्थ इति । तथाहि । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनाप्रतिपक्षभूतैः रागद्वेषादिविभावपरिणामजालैर्यान्तु-पार्जितानि कर्माणि तदुदयजनितान् मनुष्यादिविभावपर्यायान् भेदाभेदरत्नत्रयभावनाच्युतो बहिरात्मा स्वात्मतत्त्वे योजयति । तद्विपरीतोऽन्तरात्मशब्दवाच्यो ज्ञानी पृथक् जानातीत्य-मिषायः ॥ ९० ॥ अथ—

अप्या पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु ।

तरुणउ वृद्धउ बालु णवि अणु वि कम्म-विसेसु ॥ ९१ ॥

आत्मा पण्डितः मूर्खः नैव नैव ईश्वरः नैव निःस्वः ।

तरुणः वृद्धः बालः नैव अन्यः अपि कर्मविशेषः ॥ ९१ ॥

अप्या पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु तरुणउ वृद्धउ बालु णवि

आगे आत्माका स्वरूप कहते हैं—[आत्मा] जीव पदार्थ [मनुष्यः देवः नापि] न तो मनुष्य है, न तो देव है, [आत्मा] आत्मा [तिर्यक् न भवति] तिर्यच पशु भी नहीं है, [आत्मा] आत्मा [नारकः] नारकी भी [क्वापि नैव] कभी नहीं, अर्थात् किसी प्रकार भी पररूप नहीं है, परन्तु [ज्ञानी] ज्ञानस्वरूप है, उसको [योगी] मुनिराज तीन गुप्तिके धारक और निर्विकल्पसमाधिमें लीन हुए [जानाति] जानते हैं ॥ भावार्थ—निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव जो परमात्मतत्त्व उसकी भावनासे उलटे रागद्वेषादि विभाव-परिणामोंसे उपार्जन किये जो शुभाशुभ कर्म हैं, उनके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्यादि विभाव-पर्यायोंको भेदाभेदस्वरूप रत्नत्रयकी भावनासे रहित हुआ मिथ्यादृष्टि जीव अपने जानता है, और इस अज्ञानसे रहित सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव उन मनुष्यादि पर्यायोंको अपनेसे जुदा जानता है ॥९०॥

आगे फिर आत्माका स्वरूप कहते हैं—[आत्मा] चिद्रूप आत्मा [पंडितः] विद्यावान् व [मूर्खः] मूर्ख [नैव] नहीं है, [ईश्वर] धनवान् सब बातोंमें समर्थ भी [नैव] नहीं है [निःस्वः] दरिद्री भी [नैव] नहीं हैं, [तरुणः वृद्धः बालः नैव] जवान, बूढ़ा और बालक भी नहीं है, [अन्यः अपि कर्मविशेषः]

आत्मा पण्डितो न भवति मूर्खो नैव ईश्वरः समर्थो नैव निःस्वो दग्धिः तरुणो वृद्धो बालोऽपि नैव । पण्डितादिस्वरूपं यद्यात्मस्वभावो न भवति तर्हि किं भवति । अणुं वि कम्मविसेसु अन्य एव कर्मजनितोऽयं विभावपर्यायविशेष इति । तथा । पण्डितादिसंबन्धान् यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्वभावान् तथापि शुद्धनिश्चयेन शुद्धात्मद्रव्याद्विज्ञानं सर्वप्रकारेण हेयभूतान् वीतरागस्वसंवेदनज्ञानभावनारहितोऽपि बहिरात्मा स्वस्मिन्नियोजयति तानेव पण्डितादिविभावपर्यायांस्तद्विपरीतो योऽसौ चान्तरात्मा परस्मिन् कर्मणि नियोजयतीति तात्पर्यार्थः ॥ ९१ ॥ अथ—

पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्मु वि काउ ।

एक्कु वि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयणभाउ ॥ ९२ ॥

पुण्यमपि पापमपि कालः नभः धर्माधर्ममपि कायः ।

एकमपि आत्मा भवति नैव मुक्त्वा चेतनभावम् ॥ ९२ ॥

पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्मु वि काउ पुण्यमपि पापमपि कालः नभः आकाशं धर्माधर्ममपि कायः शरीरं, एक्कु वि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयणभाउ इदं पूर्वोक्तमेकमप्यात्मा न भवति । किं कृत्वा । मुक्त्वा किं चेतनभावमिति । तथाहि । व्यवहारनयेनात्मनः सकाशादभिज्ञानं शुद्धनिश्चयेन भिन्नान् हेयभूतान् पुण्यपापादिधर्माधर्मान्मिथ्यात्वरागादिपरिणतो बहिरात्मा स्वात्मनि योजयति तानेव पुण्यपापादिसमस्तसंकल्पविकल्पपरिहारभावनारूपे स्वशुद्धात्मद्रव्ये सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मके परमसमाधौ स्थितोऽन्तरात्मा शुद्धात्मनः सकाशात् पृथग् जानातीति तात्पर्यार्थः ॥ ९२ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रति-

ये सब पर्याये आत्मासे जुदे कर्मके विशेष हैं, अर्थात् कर्मसे उत्पन्न हुए विभाव-पर्याय हैं ॥ भावार्थ—यद्यपि शरीरके सम्बन्धसे पंडित वगैरह भेद व्यवहारनयसे जीवके कहे जाते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर शुद्धात्मद्रव्यसे भिन्न हैं, और सर्वथा त्यागने योग्य हैं । इन भेदोंको वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकी भावनासे रहित मिथ्यादृष्टि जीव अपने जानता है, और इन्हींको पंडितादि विभावपर्यायोंको अज्ञानसे रहित सम्यग्दृष्टि जीव अपनेसे जुदे कर्मजनित जानता है ॥ ९१ ॥

आगे आत्माका चेतनभाव वर्णन करते हैं—[पुण्यमपि] पुण्यरूप शुभकर्म [पापमपि] पापरूप अशुभकर्म [कालः] अतीत अनागत वर्तमान काल [नभः] आकाश [धर्माधर्ममपि] धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य [कायः] शरीर, इनमेंसे [एक अपि] एक भी [आत्मा] आत्मा [नैव भवति] नहीं है, [चेतनभावं मुक्त्वा] चेतनभावको छोड़कर अर्थात् एक चेतनभाव ही अपना है ॥ भावार्थ—व्यवहारनयकर यद्यपि पुण्य पापादि आत्मासे अभिन्न हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर भिन्न हैं, और त्यागने योग्य हैं, उन परभावोंको मिथ्यात्व रागादिरूप परिणत हुआ बहिरात्मा अपने जानता है, और उन्हींको पुण्य पापादि समस्त संकल्प विकल्परहित निज शुद्धात्मद्रव्यमें सम्यक् श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप अभेदरत्नत्रयस्वरूप परमसमाधिमें तिष्ठता सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धात्मासे जुदे जानता है ॥ ९२ ॥

पादकमहाधिकारमध्ये मिथ्यादृष्टिभावनाविपरीतेन सम्यग्दृष्टिभावनास्थितेन सूत्राष्टकं समाप्तम् ॥

अथानन्तरं सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेन 'अप्पा संजमु' इत्यादि प्रक्षेपकान् विहायैक-
त्रिंशत्सूत्रपर्यन्तमुपसंहाररूपा चूलिका कथ्यते । तद्यथा—

यदि पुण्यपापादिरूपः परमात्मा न भवति तर्हि कीदृशो भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह—

अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु ।

अप्पा सासय-मोक्ख-पउ जाणंतउ अप्पाणु ॥ ९३ ॥

आत्मा संयमः शीलं तपः आत्मा दर्शनं ज्ञानम् ।

आत्मा शाश्वतमोक्षपदं जानन् आत्मानम् ॥ ९३ ॥

अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु अप्पा सासयमोक्खपउ आत्मा संयमो
भवति शीलं भवति तपश्चरणं भवति आत्मा दर्शनं भवति ज्ञानं भवति शाश्वतमोक्षपदं च भवति ।
अथवा पाठान्तरं 'सासयमुक्खपहुं' शाश्वतमोक्षस्य पन्था मार्गः, अथवा 'सासयमुक्खपउ'
शाश्वतसौख्यपदं स्वरूपं च भवति । किं कुर्वन् सन् । जाणंतउ अप्पाणु जानन्ननुभवन् । कम् ।
आत्मानमिति । तद्यथा । बहिरङ्गेन्द्रियसंयमप्राणसंयमबलेन साध्यसाधकभावेन निश्चयेन स्वशु-
द्धात्मनि संयमनात् स्थितिकरणात् संयमो भवति, बहिरङ्गसहकारिकारणभूतेन कामक्रोधवि-
वर्जनलक्षणेन व्रतपरिरक्षणशीलेन निश्चयेनाभ्यन्तरे स्वशुद्धात्मद्रव्यनिर्मलानुभवनेन शीलं भवति ।

ऐसे बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मारूप तीन प्रकारके आत्माका जिसमें कथन है, ऐसे पहले
अधिकारमें मिथ्यादृष्टिकी भावनासे रहित जो सम्यग्दृष्टिकी भावना उसकी मुख्यतासे आठ दोहा
सूत्र कहे । आगे भेदविज्ञानकी मुख्यतासे "अप्पा संजमु" इत्यादि इकतीस दोहापर्यंत क्षेपक-सूत्रोंको
छोड़कर पहला अधिकार पूर्ण करते हुए व्याख्यान करते हैं उसमें भी जो शिष्यने प्रश्न किया, कि
यदि पुण्य पापादिरूप आत्मा नहीं है, तो कैसा है ? ऐसे प्रश्नका श्रीगुरु समाधान करते
हैं—[आत्मा] निज गुण-पर्यायका धारक ज्ञानस्वरूप चिदानंद ही [संयमः] संयम है, [शीलं
तपः] शील है, तप है, [आत्मा] आत्मा [दर्शनं ज्ञानं] दर्शनज्ञान है, और [आत्मानं जानन्]
अपनेको जानता अनुभवता हुआ [आत्मा] आत्मा [शाश्वतमोक्षपदं] अविनाशी सुखका स्थान
मोक्षका मार्ग है । इसी कथनको विशेषताकर कहते हैं ॥ भावार्थ—पाँच इन्द्रियाँ और मनका
रोकना व छह कायके जीवोंकी दयास्वरूप ऐसे इन्द्रियसंयम तथा प्राणसंयम इन दोनोंके बलसे
साध्य-साधक भावकर निश्चयसे अपने शुद्धात्मस्वरूपमें स्थिर होनेसे आत्माको संयम कहा गया है,
बहिरंग सहकारी निश्चय शीलका कारणरूप जो काम क्रोधादिके त्यागरूप व्रतकी रक्षा वह
व्यवहार शील है, और निश्चयकर अंतरंगमें अपने शुद्धात्मद्रव्यका निर्मल अनुभव वह शील कहा
जाता है, सो शीलरूप आत्मा ही कहा गया है, बाह्य सहकारी कारणभूत जो अनशनादि बारह
प्रकारका तप है, उससे तथा निश्चयकर अंतरंगमें सब परद्रव्यकी इच्छाके रोकनेसे परमात्मस्वभाव
(निजस्वभाव) में प्रतापरूप तिष्ठ रहा है, इस कारण और समस्त विभावपरिणामोंके जीतनेसे

बहिरङ्गेन सहकारिकारणभूतानुभवादिद्वादशविधतपश्चरणेन निश्चयनयेनाभ्यन्तरे समस्तपरद्रव्ये-
च्छानिरोधेन परमात्मस्वभावे प्रतपनाद्विजयनात्तपश्चरणं भवति । स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति
रुचिकरणान्निश्चयसम्यक्त्वं भवति । वीतरागस्वसंवेदनज्ञानानुभवनाभिश्चयज्ञानं भवति ।
मिथ्यात्वरागादिसमस्तविकल्पजालत्यागेन परमात्मतत्त्वे परमसमरसीभावपरिणमनाच्च मोक्ष-
मार्गो भवतीति । अत्र बहिरङ्गद्रव्येन्द्रियसंयमादिप्रतिपादनादभ्यन्तरे शुद्धात्मानुभूतिरूपभाव-
संयमादिपरिणमनादुपादेयसुखसाधकत्वादात्मैवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ९३ ॥

अथ स्वशुद्धात्मसंविद्धिं विहाय निश्चयनयेनान्यदर्शनज्ञानचारित्रं नास्तीत्यभिप्रायं मनसि
संभार्य सूत्रं कथयति—

अण्णु जि दंसणु अत्थि ण वि अण्णु जि अत्थि ण णाणु ।

अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय मेल्लिवि अप्पा जाणु ॥ ९४ ॥

अन्यद् एव दर्शनं अस्ति नापि अन्यदेव अस्ति न ज्ञानम् ।

अन्यद् एव चरणं न अस्ति जीव मुक्त्वा आत्मानं जानीहि ॥ ९४ ॥

अण्णु जि दंसणु अत्थि ण वि अण्णु जि अत्थि ण णाणु अण्णु जि चरणु ण
अत्थि जिय अन्यदेव दर्शनं नास्ति अन्यदेव ज्ञानं नास्ति अन्यदेव चरणं नास्ति हे जीव ।
किं कृता । मेल्लिवि अप्पा जाणु युक्त्वा । कम् । आत्मानं जानीहीति । तथाहि यद्यपि
षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्ववपदार्थाः साध्यसाधकभावेन निश्चयसम्यक्त्वहेतुत्वाद्व्यवहारेण

आत्मा ही 'तपश्चरण' है, और आत्मा ही निजस्वरूपकी रुचिरूप सम्यक्त्व है, वह सर्वथा
उपादेयरूप है, इससे सम्यग्दर्शन आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं है, वीतराग स्वसंवेदनज्ञानके अनुभवसे
आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं है, वीतरागसंवेदनज्ञानके अनुभवसे आत्मा ही निश्चयज्ञानरूप है,
और मिथ्यात्व रागादि समस्त विकल्पजालको त्यागकर परमात्मतत्त्वमें परमसमरसीभावके
परिणमनसे आत्मा ही मोक्षमार्ग है । तात्पर्य यह है, कि बहिरंग द्रव्येन्द्रिय-संयमादिके पालनेसे
अंतरंगमें शुद्धात्माके अनुभवरूप भावसंयमादिके परिणमनसे उपादेयसुख जो अतीन्द्रियसुख
उसके साधकपनेसे आत्मा ही उपादेय है ॥९३॥

आगे निज शुद्धात्मस्वरूपको छोड़कर निश्चयनयसे दूसरा कोई दर्शन ज्ञान चारित्र नहीं है, इस
अभिप्रायको मनमें रखकर गाथा-सूत्र कहते हैं—[जीव] हे जीव, [आत्मानं] आत्माको [मुक्त्वा]
छोड़कर [अन्यदपि] दूसरा कोई भी [दर्शनं] दर्शन [न एव] नहीं है, [अन्यदपि] अन्य कोई
[ज्ञानं न अस्ति] ज्ञान नहीं है, [अन्यद् एव चरणं नास्ति] अन्य कोई चारित्र नहीं है, ऐसा
[जानीहि] तू जान, अर्थात् आत्मा ही दर्शन ज्ञान चारित्र है, ऐसा संदेह रहित जानो ॥
भावार्थ—यद्यपि छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थका श्रद्धान कार्य-कारणभावसे
निश्चयसम्यक्त्वका कारण होनेसे व्यवहारसम्यक्त्व कहा जाता है, अर्थात् व्यवहार साधक है,
निश्चय साध्य है, तो भी निश्चयनयकर एक वीतराग परमानन्दस्वभाववाला शुद्धात्मा ही उपादेय है,

सम्यक्त्वं भवति, तथापि निश्चयेन वीतरागपरमानन्दैकस्वभावः शुद्धात्मोपादेय इति रुचिरूप-परिणामपरिणतशुद्धात्मैव निश्चयसम्यक्त्वं भवति । यद्यपि निश्चयस्वसंवेदनज्ञानसाधकत्वात्तु व्यव-हारेण शास्त्रज्ञानं भवति, तथापि निश्चयनयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिणतः शुद्धात्मैव निश्चय-ज्ञानं भवति । यद्यपि निश्चयचारित्रसाधकत्वान्मूलोत्तरगुणा व्यवहारेण चारित्रं भवति, तथापि शुद्धात्मानुभूतिरूपवीतरागचारित्रपरिणतः स्वशुद्धात्मैव निश्चयनयेन चारित्रं भवतीति । अत्रोक्त-लक्षणेऽभेदरत्नत्रयपरिणतः परमात्मैवोपादेय इति भावार्थः ॥ ९४ ॥

अथ निश्चयेन वीतरागभावपरिणतः स्वशुद्धात्मैव निश्चयतीर्थः निश्चयगुरुर्निश्चयदेव इति कथयति—

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुड म सेवि ।

अण्णु जि देउ म चिंति तुहुं अप्पा विमलु मुएवि ॥ ९५ ॥

अन्यद् एव तीर्थं मा याहि जीव अन्यद् एव गुरुं मा सेवस्व ।

अन्यद् एव देवं मा चिन्तय त्वं आत्मानं विमलं मुक्त्वा ॥ ९५ ॥

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुड म सेवि अण्णु जि देउ म चिंति तुहुं अन्यदेव तीर्थं मा गच्छ हे जीव अन्यदेव गुरुं मा सेवस्व अन्यदेव देवं मा चिन्तय तम् । किं कृता । अप्पा विमलु मुएवि मुक्त्वा त्यक्त्वा । कम् । आत्मानम् । कथंभूतम् । विमलं रागादिरहितमिति । तथाहि । यद्यपि व्यवहारनयेन निर्वाणस्थानचैत्यचैत्यालयादिकं तीर्थभूत-

ऐसा रुचिरूप परिणामसे परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चयसम्यक्त्व है; यद्यपि निश्चयस्वसंवेदन-ज्ञानका साधक होनेसे व्यवहारनयकर शास्त्रका ज्ञान भी ज्ञान है, तो भी निश्चयनयकर वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरूप परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चयज्ञान है । यद्यपि निश्चयचारित्रके साधक होनेसे अट्ठाईस मूलगुण, चौरासी लाख उत्तरगुण, व्यवहारनयकर चारित्र कहे जाते हैं, तो भी शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतराग चारित्रको परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही निश्चयनयकर चारित्र हैं । तात्पर्य यह है, कि अभेदरूप परिणत हुआ परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है ॥९४॥

आगे निश्चयनयकर वीतरागभावरूप परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही निश्चयतीर्थ, निश्चयगुरु, निश्चयदेव है, ऐसा कहते हैं—[जीव] हे जीव, [त्वं] तू [अन्यद् एव] दूसरे [तीर्थ] तीर्थको [मा याहि] मत जा, [अन्यद् एव] दूसरे [गुरुं] गुरुको [मा सेवस्व] मत सेव, [अन्यद् एव] अन्य [देवं] देवको [मा चिन्तय] मत ध्यावे, [आत्मानं विमलं] रागादि मल रहित आत्माको [मुक्त्वा] छोड़कर अर्थात् अपना आत्मा ही तीर्थ है वहाँ रमण कर, आत्मा ही गुरु है उसकी सेवा कर, और आत्मा ही देव है उसीकी आराधना कर । अपने सिवाय दूसरेका सेवन न कर, इसी कथनको विस्तारसे कहते हैं ॥ भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे मोक्षके स्थानक सम्पेदशिखर आदि व जिनप्रतिमा जिनमंदिर आदि तीर्थ हैं, क्योंकि वहाँसे गये महान् पुरुषोंके गुणोंकी याद होती है, तो भी वीतराग निर्विकल्पसमाधिरूप छेद रहित जहाजकर संसाररूपी समुद्रके तरनेको समर्थ जो निज आत्मतत्त्व

पुरुषगुणस्मरणार्थं तीर्थं भवति, तथापि वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपनिश्छिद्रपोंतेन संसारसमुद्र-
तरणसमर्थत्वाभिश्चयनयेन स्वात्मतत्त्वमेव तीर्थं भवति तदुपदेशात्पारंपर्येण परमात्मतत्त्वलाभो
भवतीति । व्यवहारेण शिक्षादीक्षादायको यद्यपि गुरुर्भवति, तथापि निश्चयनयेन पञ्चेन्द्रियविषय-
प्रभृतिसमस्तविभावपरिणामपरित्यागकाले संसारविच्छित्तिकारणत्वात् स्वशुद्धात्मैव गुरुः । यद्यपि
प्राथमिकापेक्षया सविकल्पापेक्षया चित्तस्थितिकरणार्थं तीर्थकरपुण्यहेतुभूतं साध्यसाधकभावेन
परंपरया निर्वाणकारणं च जिनप्रतिमादिकं व्यवहारेण देवो भण्यते, तथापि निश्चयनयेन परमा-
राध्यत्वाद्गीतरागनिर्विकल्पत्रिगुणपरमसमाधिकाले स्वशुद्धात्मस्वभाव एव देव इति । एवं निश्चय-
व्यवहारान्यां साध्यसाधकभावेन तीर्थगुरुदेवतास्वरूपं ज्ञातव्यमिति भावार्थः ॥ ९५ ॥

अथ निश्चयेनात्मसंविचिरेव दर्शनमिति प्रतिपादयति—

अप्पा दंसणु केवलु वि अण्णु सव्वु ववहारु ।

एक्कु जि जोइय झाइयइ जो तइलोयहँ सारु ॥ ९६ ॥

आत्मा दर्शनं केवलोऽपि अन्यः सर्वः व्यवहारः ।

एक एव योगिन् ध्यायते यः त्रैलोक्यस्य सारः ॥ ९६ ॥

अप्पा दंसणु केवलु वि आत्मा दर्शनं सम्यक्सं भवति । कथंभूतोऽपि । केवलोऽपि ।
अण्णु सव्वु ववहारु अन्यः शेषः सर्वोऽपि व्यवहारः । तेन कारणेन एक्कु जि जोइय
है, वही निश्चयकर तीर्थ है, उसके उपदेश-परम्परासे परमात्मतत्त्वका लाभ होता है । यद्यपि
व्यवहारनयकर दीक्षा शिक्षाका देनेवाला दिग्गम्बर गुरु होता है, तो भी निश्चयनयकर विषय कषाय
आदिक समस्त विभावपरिणामोके त्यागनेके समय निजशुद्धात्मा ही गुरु है, उसीसे संसारकी
निवृत्ति होती है । यद्यपि प्रथम अवस्थामें चित्तकी स्थिरताके लिये व्यवहारनयकर जिनप्रतिमादिक
देव कहे जाते हैं, और वे परंपरासे निर्वाणके कारण हैं, तो भी निश्चयनयकर परम आराधने योग्य
वीतराग निर्विकल्पपरमसमाधिके समय निज शुद्धात्मभाव ही देव हैं, अन्य नहीं । इस प्रकार
निश्चय व्यवहारनयकर साध्य-साधक-भावसे तीर्थ गुरु देवका स्वरूप जानना चाहिये । निश्चयदेव
निश्चयगुरु निश्चयतीर्थ निज आत्मा ही है, वही साधने योग्य है, और व्यवहारदेव जिनेन्द्र तथा
उनकी प्रतिमा, व्यवहारगुरु महामुनिराज, व्यवहारतीर्थ सिद्धक्षेत्रादिक ये सब निश्चयके साधक हैं,
इसलिये प्रथम अवस्थामें आराधने योग्य हैं । तथा निश्चयनयकर ये सब पदार्थ हैं, इनसे साक्षात्
सिद्धि नहीं है, परम्परासे है । यहाँ श्रीपरमात्मप्रकाश अध्यात्म-ग्रंथमें निश्चयदेव गुरु तीर्थ अपना
आत्मा ही है, उसे आराधनकर अनंत सिद्ध हुए और होवेंगे, ऐसा सारांश हुआ ॥९५॥

आगे निश्चयनयकर आत्मस्वरूप ही सम्यग्दर्शन है—[केवलः आत्मा अपि] केवल (एक)
आत्मा ही [दर्शनं] सम्यग्दर्शन है, [अन्यः सर्वः व्यवहारः] दूसरा सब व्यवहार है, इसलिये
[योगिन्] हे योगी, [एक एव ध्यायते] एक आत्मा ही ध्यान करने योग्य है, [यः त्रैलोक्यस्य
सारः] जो कि तीन लोकमें सार है ॥ भावार्थ—वीतराग चिदानंद अखंड स्वभाव, आत्मतत्त्वका

ज्ञाह्यह हे योगिन्, एक एव ध्यायते । यः आत्मा कथंभूतः । जो तइलोग्यहं सारु यः परमात्मा त्रैलोक्यस्य सारभूत इति । तद्यथा । वीतरागचिदानन्दैकस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिपरिणतो निश्चयनयेन स्वात्मैव सम्यक्त्वं अन्यः सर्वोऽपि व्यवहारस्तेन कारणेन स एव ध्यातव्य इति । अत्र यथा द्राक्षाकर्पूरश्रीखण्डादिबहु-द्रव्यैर्निष्पन्नमपि पानकमभेदविवक्षया कृतैकं भण्यते, तथा शुद्धात्मानुभूतिलक्षणैर्निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र्यैर्बहुभिः परिणतो अनेकोऽप्यात्मा त्वभेदविवक्षया एकोऽपि भण्यत इति भावार्थः । तथा चोक्तं अभेदरत्नत्रयलक्षणम्—“दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः । स्थिति-रात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥” ॥ ९६ ॥

अथ निर्मलमात्मानं ध्यायस्व येन ध्यातेनान्तर्मुहूर्तेनैव मोक्षपदं लभ्यत इति निरूपयति—

अप्पा ज्ञायहि णिम्मलउ किं बहुएँ अण्णेण ।

जो ज्ञायंतहँ परम-पउ लब्भइ एक-खणेण ॥ ९७ ॥

आत्मानं ध्यायस्व निर्मल किं बहुना अन्येन ।

यं ध्यायमानानां परमपदं लभ्यते एकक्षणेन ॥ ९७ ॥

अप्पा ज्ञायहि णिम्मलउ आत्मानं ध्यायस्व । कथंभूतं निर्मलम् । किं बहुएँ अण्णेण किं बहुनान्येन शुद्धात्मवर्धिभूतेन रागादिविकल्पजालमालाप्रपञ्चेन । जो ज्ञायंतहँ परमपउ लब्भइ यं परमात्मानं ध्यायमानानां परमपदं लभ्यते । केन कारणभूतेन । एकखणेण एक-सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, अनुभवरूप जो अभेदरत्नत्रय वही जिसका लक्षण है, तथा मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तिरूप समाधिमें लीन निश्चयनयसे निज आत्मा ही निश्चयसम्यक्त्व है, अन्य सब व्यवहार है । इस कारण आत्मा ही ध्यावने योग्य है । जैसे दाख, कपूर, चन्दन वगैरह बहुत द्रव्योंसे बनाया गया जो पीनेका रस वह यद्यपि अनेक रसरूप है, तो भी अभेदनयकर एक पानवस्तु कही जाती है, उसी तरह शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रादि अनेक भावोंसे परिणत हुआ आत्मा अनेकरूप है, तो भी अभेदनयकी विवक्षासे आत्मा एक ही वस्तु है । यही अभेदरत्नत्रयका स्वरूप जैनसिद्धांतोंमें हरएक जगह कहा है—“दर्शनमित्यादि” इसका अर्थ ऐसा है, कि आत्माका निश्चय वह सम्यग्दर्शन है, आत्माका जानना वह सम्यग्ज्ञान है, और आत्मामें निश्चल होना वह सम्यक्चारित्र्य है । यह निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मोक्षका कारण है, इनसे बंध कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता ॥९६॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि जो निर्मल आत्माको ही ध्यावो, जिसके ध्यान करनेसे अंतर्मुहूर्तमें (तत्काल) मोक्षपदकी प्राप्ति हो-हे योगी, तू [निर्मलं आत्मानं] निर्मल आत्माका ही [ध्यायस्व] ध्यान कर, [अन्येन बहुना किं] और बहुत पदार्थोंसे क्या ? देश काल पदार्थ आत्मासे भिन्न हैं, उनसे कुछ प्रयोजन नहीं है, रागादि-विकल्पजालके समूहोंके प्रपंचसे क्या फायदा ? एक निज स्वरूपको ध्यावो, [यं] जिस परमात्माके [ध्यायमानानां] ध्यान करनेवालोंको [एकक्षणेन]

क्षणान्तर्मुहूर्तेनापि । तथाहि । समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितेन स्वशुद्धात्मतत्त्वध्याने-
नान्तर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन कारणेन तदेव निरन्तरं ध्यातव्यमिति । तथा चोक्तं बृहदा-
राधनाशास्त्रे । षोडशतीर्थकराणां एकक्षणे तीर्थकरोत्पत्तिवासरे प्रथमे भ्रामण्यबोधसिद्धिः
अन्तर्मुहूर्तेन निर्वृत्ता । अत्राह शिष्यः । यद्यन्तर्मुहूर्तपरमात्मध्यानेन मोक्षो भवति तर्हि इदानी-
मस्माकं तदध्यानं कुर्वाणानां किं न भवति । परिहारमाह । यादृशं तेषां प्रथमसंहननसहितानां
शुक्लध्यानं भवति तादृशमिदानीं नास्तीति । तथा चोक्तम्—“अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं
जिनोत्तमाः । धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तनम् ॥” । अत्र येन कारणेन परमात्म-
ध्यानेनान्तर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन कारणेन संसारस्थितिच्छेदनार्थमिदानीमपि तदेव ध्या-
तव्यमिति भावार्थः ॥ ९७ ॥

अथ यस्य वीतरागमनसि शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्रपुराणतपश्चरणानि किं कुर्वन्तीति
कथयति—

अप्पा णियमणि णिम्मलउ णियमे वसइ ण जासु ।

सत्थ-पुराणइ तव-चरणु मुखु वि करहि कि तासु ॥ ९८ ॥

आत्मा निजमनसि निर्मलः नियमेन वसति न यस्य ।

शास्त्रपुराणानि तपश्चरणं मोक्षं अपि कुर्वन्ति किं तस्य ॥ ९८ ॥

अप्पा णियमणि णिम्मलउ णियमे वसइ ण जासु आत्मा निजमनसि निर्मलो

क्षणमात्रमे [परमपदं] मोक्षपद [लभ्यते] मिलता है ॥ भावार्थ—सब शुभाशुभ संकल्प विकल्प
रहित निजशुद्ध आत्मस्वरूपके ध्यान करनेसे शीघ्र ही मोक्ष मिलता है, इसलिये वही हमेशा ध्यान
करने योग्य है । ऐसा ही बृहदाराधना शास्त्रमें कहा है । सोलह तीर्थकरोंको एक ही समय
तीर्थकरोंके उत्पत्तिके दिन पहले चारित्र ज्ञानकी सिद्धि हुई, फिर अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष हो गया ।
यहाँपर शिष्य प्रश्न करता है, कि यदि परमात्माके ध्यानसे अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष होता है, तो इस समय
ध्यान करनेवाले हम लोगोंको क्यों नहीं होता ? उसका समाधान इस तरह है—कि जैसा निर्विकल्प
शुक्लध्यान वज्रवृषभनारायसंहननवालोंको चौथे कालमें होता है, वैसा अब नहीं हो सकता । ऐसा
ही दूसरे ग्रंथोंमें कहा है—‘अत्रेत्यादि’ । इसका अर्थ यह है, कि श्रीसर्वज्ञवीतरागदेव इस भरतक्षेत्रमें
इस पंचमकालमें शुक्लध्यानका निषेध करते हैं, इस समय धर्मध्यान हो सकता है, शुक्लध्यान नहीं
हो सकता । उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी दोनों ही इस समय नहीं हैं, सातवाँ गुणस्थानतक
गुणस्थान है, ऊपरके गुणस्थान नहीं हैं । इस जगह तात्पर्य यह है, कि जिस कारण परमात्माके
ध्यानसे अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष होता है, इसलिये संसारकी स्थिति घटानेके वास्ते अब भी धर्मध्यानका
आराधन करना चाहिये, जिससे परम्पराय मोक्ष भी मिल सकता है ॥९७॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि जिसके राग रहित मनमें शुद्धात्माकी भावना नहीं है, उसके शास्त्र
पुराण तपश्चरण क्या कर सकते हैं ? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकते—[यस्य] जिसके

नियमेन वसति तिष्ठति न यस्य सत्त्वपुराणं तवचरणं मुक्खं च करहिं किं तासु शास्त्रपुराणानि तपश्चरणं च मोक्षमपि किं कुर्वन्ति तस्येति । तद्यथा । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपा यस्य शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्रपुराणतपश्चरणानि निरर्थकानि भवन्ति । तर्हि किं सर्वथा निष्फलानि । नैकम् । यदि वीतरागसम्यक्स्वरूपस्वशुद्धात्मोपादेयभावनासहितानि भवन्ति तदा मोक्षस्यैव बहिरङ्गसहकारिकारणानि भवन्ति तदभावे पुण्यबन्धकारणानि भवन्ति । मिथ्या-त्तरागादिसहितानि पापबन्धकारणानि च विद्यानुवादसंज्ञितदशमपूर्वश्रुतं पठित्वा भर्गपुरुषादि-वदिति भावार्थः ॥ ९८ ॥

अथात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति दर्शयति—

जोइय अप्पे जाणिएण जगु जाणियउ ह्वेइ ।

अप्पहँ केरइ भावइ बिंबिउ जेण वसेइ ॥ ९९ ।

योगिन् आत्मना ज्ञातेन जगत् ज्ञातं भवति ।

आत्मनः संबन्धिनि भावे बिम्बितं येन वसति ॥ ९९ ॥

जोइय अप्पे जाणिएण हे योगिन् आत्मना ज्ञातेन । किं भवति । जगु जाणियउ ह्वेइ जगत्त्रिभुवनं ज्ञातं भवति । कस्मात् । अप्पहँ केरइ भावइ बिंबिउ जेण वसेइ आत्मनः संबन्धिनि भावे केवलज्ञानपर्याये बिम्बितं प्रतिबिम्बितं येन कारणेन वसति तिष्ठतीति । अयमर्थः ।

[निजमनसि] निज मनमें [निर्मलः आत्मा] निर्मल आत्मा [नियमेन] निश्चयसे [न वसति] नहीं रहता, [तस्य] उस जीवके [शास्त्रपुराणानि] शास्त्र पुराण [तपश्चरणमपि] तपस्या भी [किं] क्या [मोक्षं] मोक्षको [कुर्वन्ति] कर सकते हैं ? कभी नहीं कर सकते ॥ भावार्थ—वीतराग-निर्विकल्पसमाधिरूप शुद्धभावना जिसके नहीं है, उसके शास्त्र पुराण तपश्चरणादि सब व्यर्थ हैं । यहाँ शिष्य प्रश्न करता है, कि क्या बिलकुल ही निरर्थक हैं ? उसका समाधान ऐसा है, कि बिलकुल तो नहीं है, लेकिन वीतराग सम्यक्स्वरूप निज शुद्धात्माकी भावना सहित हो, तब तो मोक्षके ही बाह्य सहकारी कारण हैं, यदि वे वीतरागसम्यक्स्वरूपके अभावरूप हों तो पुण्यबन्धके कारण हैं, और यदि मिथ्यात्तरागादि सहित हों तो पापबन्धके कारण हैं, जैसे कि रुद्र वगैरह विद्यानुवादानामा दशवें पूर्वतक शास्त्र पढ़कर भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ ९८ ॥

आगे जिन भव्यजीवोंने आत्मा जान लिया, उन्होंने सब जाना ऐसा दिखलाते हैं—[योगिन्] हे योगी [आत्मना ज्ञातेन] एक अपने आत्माके जाननेसे [जगत् ज्ञातं भवति] यह तीन लोक जाना जाता है [येन] क्योंकि [आत्मनः संबन्धिनि भावे] आत्माके भावरूप केवलज्ञानमें [बिम्बितं] यह लोक प्रतिबिम्बित हुआ [वसति] बस रहा है ॥ भावार्थ—वीतराग निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानसे शुद्धात्मतत्त्वके जाननेपर समस्त द्वादशांग शास्त्र जाना जाता है । क्योंकि जैसे रामचंद्र पांडव भरत सगर आदि महान् पुरुष भी जिनराजकी दीक्षा लेकर फिर द्वादशांगको पढ़कर द्वादशांग पढ़नेका फल निश्चयरत्नत्रयस्वरूप जो शुद्धपरमात्मा उसके ध्यानमें लीन हुए तिष्ठे थे । इसलिये वीतराग-

वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन परमात्मतत्त्वे ज्ञाते सति समस्तद्वादशाङ्गागमस्वरूपं ज्ञातं भवति । कस्मात् । यस्माद्वाच्यपाण्डवादयो महापुरुषा जिनदीक्षां गृहीत्वा द्वादशाङ्गं पठित्वा द्वादशाङ्गाध्ययनफलभूते निश्चयरत्नत्रयात्मके परमात्मध्याने तिष्ठन्ति तेन कारणेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन निजात्मनि ज्ञाते सति सर्वं ज्ञातं भवतीति । अथवा निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानन्दसुखरसास्वादे जाते सति पुरुषो जानाति । किं जानाति । वेत्ति मम स्वरूपमन्यदेहरागादिकं परमिति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवति । अथवा आत्मा कर्ता श्रुतज्ञानरूपेण व्याप्तिज्ञानेन करणभूतेन सर्वं लोकालोकं जानाति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति । अथवा वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिबलेन केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतेन केवलज्ञाने जाते सति दर्पणे बिम्बवत् सर्वं लोकालोकस्वरूपं विज्ञायत इति हेतोरात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति । अत्रेदं व्याख्यानचतुष्टयं ज्ञात्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्यागं कृत्वा सर्वतात्पर्येण निजशुद्धात्मभावना कर्तव्येति तात्पर्यम् । तथा चोक्तं समयसारे—“जो परसइ अण्णाणं अबद्धपुटं अण्णमविसेसं । अपदेसमुत्तमज्झं परसइ जिणसासणं सच्चं ॥ ” ॥ ९९ ॥

अथैतदेव समर्थयति—

स्वसंवेदनज्ञानकर अपने आत्माका जानना ही सार है, आत्माके जाननेसे सबका जानपना सफल होता है, इस कारण जिन्होंने अपना आत्मा जाना उन्होंने सबको जाना । अथवा निर्विकल्पसमाधिसे उत्पन्न हुआ जो परमानन्द सुखरस उसके आस्वाद होनेपर ज्ञानी पुरुष ऐसा जानता है, कि मेरा स्वरूप जुदा है, और देह रागादिक मेरेसे दूसरे हैं, मेरे नहीं हैं, इसलिये आत्माके (अपने) जाननेसे सब भेद जाने जाते हैं, जिसने अपनेको जान लिया उसने अपनेसे भिन्न सब पदार्थ जाने । अथवा आत्मा श्रुतज्ञानरूप व्याप्तिज्ञानसे सर्व लोकालोकको जानता है, इसलिये आत्माके जाननेसे सब जाना गया । अथवा वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधिके बलसे केवलज्ञानको उत्पन्न (प्रगट) करके जैसे दर्पणमें घट पटादि पदार्थ झलकते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी दर्पणमें सब लोक अलोक भासते हैं । इससे यह बात निश्चय हुई, कि आत्माके जाननेसे सब जाना जाता है । यहाँपर सारांश यह हुआ, कि इन चारों व्याख्यानोँका रहस्य जानकर बाह्य अभ्यन्तर सब परिग्रह छोडकर सब तरहसे अपने शुद्धात्माकी भावना करनी चाहिये । ऐसा ही कथन समयसारमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने किया है—‘जो परसइ’ इत्यादि । इसका अर्थ यह है, कि जो निकट-संसारी जीव स्वसंवेदनज्ञानकर अपने आत्माको अनुभवता, सम्यग्दृष्टिपनेसे अपनेको देखता है, वह सब जैनशासनको देखता है, ऐसा जिनसूत्रमें कहा है । कैसा है वह आत्मा ? रागादिक ज्ञानावरणादिकसे रहित है, अन्यभाव जो नर नारकादि पर्याय उनसे रहित है, विशेष अर्थात् गुणस्थान मार्गणा जीवसमास इत्यादि सब भेदोंसे रहित है । ऐसे आत्माके स्वरूपको जो देखता है, जानता है, अनुभवता है, वह सब जिनशासनका मर्म जाननेवाला है ॥९९॥

अप्प-सहावि परिट्टियहँ एहउ होइ बिसेसु ।

दीसइ अप्प-सहावि लहु लोयालोउ असेसु ॥ १०० ॥

आत्मस्वभावे प्रतिष्ठितानां एष भवति विशेषः ।

दृश्यते आत्मस्वभावे लघु लोकालोकः अशेषः ॥ १०० ॥

अप्पसहावि परिट्टियहँ आत्मस्वभावे प्रतिष्ठितानां पुरुषाणां, एहउ होइ बिसेसु एष प्रत्यक्षीभूतो विशेषो भवति । एष कः । दीसइ अप्पसहावि लहु दृश्यते परमात्मस्वभावे स्थितानां लघु शीघ्रम् । अथवा पाठान्तरं 'दीसइ अप्पसहाउ लहु' । दृश्यते, स कः, आत्मस्वभावः कर्मतापन्नो, लघु शीघ्रम् । न केवलमात्मस्वभावो दृश्यते लोयालोउ असेसु लोकालोकस्वरूपमप्यशेषं दृश्यत इति । अत्र विशेषेण पूर्वसूत्रोक्तमेव व्याख्यानचतुष्टयं ज्ञातव्यं यस्मात्तस्यैव वृद्धमतसंवादरूपतादिति भावार्थः ॥ १०० ॥

अतोऽमुमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

अप्पु पयासइ अप्पु परु जिम अंबरि रवि-राउ ।

जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थु-सहाउ ॥ १०१ ॥

आत्मा प्रकाशयति आत्मानं परं यथा अम्बरे रविरागः ।

योगिन् अत्र मा भ्रान्ति कुरु एष वस्तुस्वभावः ॥ १०१ ॥

अप्पु पयासइ आत्मा कर्ता प्रकाशयति । कम् । अप्पु परु आत्मानं परं च । यथा कः किं प्रकाशयति । जिमु अंबरि रविराउ यथा येन प्रकारेण अम्बरे रविरागः । जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थुसहाउ हे योगिन् अत्र भ्रान्ति मा कार्षीः, एष वस्तुस्वभावः इति । तद्यथा । यथा निर्मेधाकाशे रविरागो रविप्रकाशः स्वं परं च प्रकाशयति तथा वीतरागनिर्वि-

अब इसी बातका समर्थन (दृढ) करते हैं—[आत्मस्वभावे] आत्माके स्वभावमें [प्रतिष्ठितानां] लीन हुए पुरुषोंके [एष विशेषः भवति] प्रत्यक्षमें तो यह विशेषता होती है, कि [आत्मस्वभावे] आत्मस्वभावमें उनको [अशेषः लोकालोकः] समस्त लोकालोक [लघु] शीघ्र ही [दृश्यते] दीख जाता है । अथवा इस जगह ऐसा भी पाठान्तर है—“अप्पसहाव लहु” । इसका अर्थ यह है, कि अपना स्वभाव शीघ्र ही दीख जाता है, और स्वभावके देखनेसे समस्त लोक भी दीखता है । यहाँपर भी विशेष करके पूर्व सूत्रकथित चारों तरहका व्याख्यान जानना चाहिये, क्योंकि यही व्याख्यान बड़े-बड़े आचार्योंने माना है ॥१००॥

आगे इसी अर्थको दृष्टान्तदार्ष्टान्तसे दृढ करते हैं—[यथा] जैसे [अंबरे] आकाशमें [रविरागः] सूर्यका प्रकाश अपनेको और परको प्रकाशित करता है, उसी तरह [आत्मा] आत्मा [आत्मानं] अपनेको [परं] पर पदार्थोंको [प्रकाशयति] प्रकाशता है, सो [योगिन्] हे योगी, [अत्र] इसमें [भ्रान्ति मा कुरु] भ्रम मत कर । [एष वस्तुस्वभावः] ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है ॥ भावार्थ—जैसे मेघ रहित आकाशमें सूर्यका प्रकाश अपनेको और परको प्रकाशता

कल्पसमाधिरूपे कारणसमयसारे स्थिता मोहमेघपटले विनष्टे सति परमात्मा छन्नस्थावस्थायां वीतरागभेदभावनाज्ञानेन स्वं परं च प्रकाशयतीत्येष पश्चादहदवस्थारूपकार्यसमयसाररूपेण परिणम्य केवलज्ञानेन स्वं परं च प्रकाशयतीत्येष आत्मवस्तुस्वभावः संदेहो नास्तीति । अत्र योऽसौ केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपः कार्यसमयसारः स एवोपादेय इत्यभिप्रायः ॥ १०१ ॥

अथास्मिन्नेवार्थे पुनरपि व्यक्त्यर्थं दृष्टान्तमाह—

तारायणु जलि बिंबियउ णिम्मलि दीसइ जेम ।

अप्पए णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउ वि तेम ॥ १०२ ॥

तारागणः जले बिम्बितः निर्मले दृश्यते यथा ।

आत्मनि निर्मले बिम्बितं लोकालोकमपि तथा ॥ १०२ ॥

तारायणु जलि बिंबियउ तारागणो जले बिम्बितः प्रतिफलितः । कथंभूते जले । णिम्मलि दीसइ जेम निर्मले दृश्यते यथा । दाष्टान्तमाह । अप्पइ णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउ वि तेम आत्मनि निर्मले मिथ्यातरागादिविकल्पजालरहिते बिम्बितं लोकालोकमपि तथा दृश्यत इति । अत्र विशेषव्याख्यानं यदेव पूर्वदृष्टान्तसूत्रे व्याख्यातमत्रापि तदेव ज्ञातव्यम् । कस्मात् । अयमपि तस्य दृष्टान्तस्य दृढीकरणार्थमिति सूत्रतात्पर्यार्थः ॥ १०२ ॥

अथात्मा परश्च येनात्मना ज्ञानेन ज्ञायते तमात्मानं स्वसंवेदनज्ञानबलेन जानीहीति कथयति—

अप्पु वि पढ वि चियाणइ जे" अप्पे" मुणिएण ।

सो जिअ-अप्पा जाणि तुहुं जोइय णाण-बलेण ॥ १०३ ॥

है, उसी प्रकार वीतरागनिर्विकल्प समाधिरूप कारणसमयसारमें लीन होकर मोहरूप मेघसमूहका नाश करके यह आत्मा मुनिअवस्थामें वीतराग स्वसंवेदनज्ञानकर अपनेको और परको कुछ प्रकाशित करता है, पीछे अरहंत अवस्थारूप कार्यसमयसार स्वरूप परिणमन करके केवलज्ञानसे निज और परको सब द्रव्य क्षेत्र काल भावसे प्रकाशता है । यह आत्मवस्तुका स्वभाव है, इसमें संदेह नहीं समझना । इस जगह ऐसा सारांश है, कि जो केवलज्ञान केवलदर्शन अनंतसुख अनंतवीर्यरूप कार्य समयसार है, वही आराधने योग्य है ॥१०१॥

आगे इसी अर्थको फिर भी खुलासा करनेके लिये दृष्टान्त देकर कहते हैं—[यथा] जैसे [तारागणः] ताराओंका समूह [निर्मले जले] निर्मल जलमें [बिम्बितः] प्रतिबिम्बित हुआ [दृश्यते] प्रत्यक्ष दीखता है, [तथा] उसी तरह [निर्मले आत्मनि] मिथ्यात्व रागादि विकल्पोंसे रहित स्वच्छ आत्मामें [लोकालोकं अपि] समस्त लोक अलोक भासते हैं ॥ भावार्थ—इसका विशेष व्याख्यान जो पहले कहा था, वही यहाँ पर जानना अर्थात् जो सबका ज्ञाता दृष्टा आत्मा है वही उपादेय है । यह सूत्र भी पहले कथनको दृढ करनेवाला है ॥१०२॥

आगे जिस आत्माके जाननेसे निज और पर सब पदार्थ जाने जाते हैं, उसी आत्माको तू

आत्मापि परः अपि विज्ञायते येन आत्मना विज्ञातेन ।

तं निजात्मानं जानीहि त्वं योगिन् ज्ञानबलेन ॥ १०३ ॥

अप्यु वि परु वि बियाणियइ जें अप्पें मुणिएण आत्मापि परोऽपि विज्ञायते येन आत्मना विज्ञातेन सो णिय अप्पा जाणि तुहुं तं निजात्मानं जानीहि त्वम् । जोइय णाण-बलेण हे योगिन्, केन कृत्वा जानीहि । ज्ञानबलेनेति । अयमत्रार्थः । वीतरागसदानन्दैकस्व-भावेन येनात्मना ज्ञातेन स्वात्मा परोऽपि ज्ञायते तमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञान-भावनासमुत्पन्नपरमानन्दसुखरसास्वादेन जानीहि तन्मयो भूत्वा सम्यगनुभवेति भावार्थः ॥ १०३ ॥

अतः कारणात् ज्ञानं पृच्छति—

णाणु पयासहि परमु महु किं अण्णे^१ बहुएण ।

जेण णियप्पा जाणियइ सामिय एक-खणेण ॥ १०४ ॥

ज्ञानं प्रकाशय परमं मम किं अन्येन बहुना ।

येन निजात्मा ज्ञायते स्वामिन् एकक्षणेन ॥ १०४ ॥

णाणु पयासहि परमु महु ज्ञानं प्रकाशय परमं मम । किं अण्णे बहुएण किमन्येन ज्ञान-रहितेन बहुना । जेण णियप्पा जाणियइ येन ज्ञानेन निजात्मा ज्ञायते, सामिय एकखणेण हे स्वामिन् नियतकालेनैकक्षणेनेति । तथाहि । प्रभाकरभट्टः पृच्छति । किं पृच्छति । हे भगवन् येन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन क्षणमात्रेणैव शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ज्ञायते तदेव ज्ञानं कथय स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे जान, ऐसा कहते हैं—[येन आत्मना विज्ञातेन] जिस आत्माको जाननेसे [आत्मा अपि] आप और [परः अपि] पर सब पदार्थ [विज्ञायते] जाने जाते हैं, [तं निजात्मानं] उस अपने आत्माको [योगिन्] हे योगी, [त्वं] तू [ज्ञानबलेन] आत्मज्ञानके बलसे [जानीहि] जान ॥ भावार्थ—रागादि विकल्प-जालसे रहित सदा आनन्द स्वभाव जो निज आत्मा उसके जाननेसे निज और पर सब जाने जाते हैं, इसलिये हे योगी, हे ध्यानी, तू उस आत्माको वीतराग निर्विकल्प-स्वसंवेदनज्ञानकी भावनासे उत्पन्न परमानन्द सुखरसके आस्वादसे जान, अर्थात् तन्मयी होकर अनुभव कर । स्वसंवेदन ज्ञान (आपकर अपनेको अनुभव करना) ही सार है । ऐसा उपदेश श्रीयोगीन्द्रदेवने प्रभाकरभट्टको दिया ॥ १०३ ॥

अब प्रभाकरभट्ट महान् विनयसे ज्ञानका स्वरूप पूछता है—[स्वामिन्] हे भगवन्, [येन ज्ञानेन] जिस ज्ञानसे [एक क्षणेन] क्षणभरमें [निजात्मा] अपना आत्मा [ज्ञायते] जाना जाता है, वह [परमं ज्ञानं] परम ज्ञान [मम] मेरे [प्रकाशय] प्रकाशित करो, [अन्येन बहुना] और बहुत विकल्प-जालोंसे [किम्] क्या फायदा ? कुछ भी नहीं ॥ भावार्थ—प्रभाकरभट्ट श्रीयोगीन्द्रदेवसे पूछता है, कि हे स्वामी, जिस वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकर क्षणमात्रमें शुद्ध बुद्ध स्वभाव अपना आत्मा जाना जाता है, वह ज्ञान मुझको प्रकाशित करो, दूसरे विकल्प-जालोंसे कुछ फायदा नहीं है, क्योंकि ये रागादिक विभावोंके बढानेवाले हैं । सारांश यह है, कि मिथ्यात्व रागादि विकल्पोंसे

किमन्येन रागादिप्रवर्धकेन विकल्पजालेनेति । अत्र येनैव ज्ञानेन मिथ्यात्तरागादिविकल्प-
रहितेन निजशुद्धात्मसंवित्तिरूपेणान्तर्मुहूर्तेनैव परमात्मस्वरूपं ज्ञायते तदेवोपादेयमिति
तात्पर्यार्थः ॥ १०४ ॥

अत ऊर्ध्वं सूत्रचतुष्टयेन ज्ञानस्वरूपं प्रकाशयति—

अप्पा णाणु मुणेहि तुहुं जो जाणइ अप्पाणु ।

जीव-पएसहिं तित्तिडउ णाणेँ गयण-पवाणु ॥ १०५ ॥

आत्मानं ज्ञानं मन्यस्व त्वं यः जानाति आत्मानम् ।

जीवप्रदेशैः तावन्मात्रं ज्ञानेन गगनप्रमाणम् ॥ १०५ ॥

अप्पा णाणु मुणेहि तुहुं प्रभाकरभट्ट आत्मानं ज्ञानं मन्यस्व त्वम् । यः किं करोति ।
जो जाणइ अप्पाणु यः कर्ता जानाति । कम् । आत्मानम् । किंविशिष्टम् । जीवपएसहिं
तित्तिडउ जीवप्रदेशैस्तावन्मात्रं लोकमात्रप्रदेशम् । अथवा पाठान्तरम् । ‘जीवपएसहिं देहसमु’
तस्यार्थो निश्चयेन लोकमात्रप्रदेशोऽपि व्यवहारेणैव संहारविस्तारधर्मत्वाद्देहमात्रः । पुनरपि कथं-
भूतम् आत्मानं णाणेँ गयणपवाणु ज्ञानेन कृत्वा व्यवहारेण गगनमात्रं जानीहि इति । तद्यथा ।
निश्चयनयेन मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानपञ्चकादभिन्नं व्यवहारेण ज्ञानापेक्षया रूपावलोकन-
विषये दृष्टिबल्लोकालोकव्यापकं निश्चयेन लोकमात्रासंख्येयप्रदेशमपि व्यवहारेण स्वदेहमात्रं तमित्थं-
भूतमात्मानम् आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञास्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्पकल्लोलजालं त्यक्त्वा जानाति

रहित तथा निज शुद्ध आत्मानुभवरूप जिस ज्ञानसे अंतर्मुहूर्तमें ही परमात्माका स्वरूप जाना जाता
है, वही ज्ञान उपादेय है । ऐसी प्रार्थना शिष्यने श्रीगुरुसे की हैं ॥१०४॥

आगे श्रीगुरु चार दोहा-सूत्रोंसे ज्ञानका स्वरूप प्रकाशते हैं—श्रीगुरु कहते हैं, कि हे
प्रभाकरभट्ट, [त्वं] तू [आत्मानं] आत्माको ही [ज्ञानं] ज्ञान [मन्यस्व] जान, [यः] जो
ज्ञानरूप आत्मा [आत्मानं] अपनेको [जीवप्रदेशैः तावन्मात्रं] अपने प्रदेशोंसे लोक-प्रमाण [ज्ञानेन
गगनप्रमाणं] ज्ञानसे व्यवहारनयकर आकाश-प्रमाण [जानाति] जानता है । अथवा यहाँ
‘देहसमु’ ऐसा भी पाठ है, तब ऐसा समझना कि निश्चयनयसे लोकप्रमाण है, तो भी व्यवहारनयसे
संकोच विस्तार स्वभाव होनेसे शरीरप्रमाण है ॥ भावार्थ—निश्चयनयकर मति श्रुत अवधि
मनःपर्यय केवल इन पाँच ज्ञानोंसे अभिन्न तथा व्यवहारनयसे ज्ञानकी अपेक्षारूप देखनेमें नेत्रोंकी
तरह लोक अलोकमें व्यापक है । अर्थात् जैसे आँखें रूपी पदार्थोंको देखती हैं, परन्तु उन स्वरूप
नहीं होती, वैसे ही आत्मा यद्यपि लोक अलोकको जानता है, देखता है, तो भी उन स्वरूप नहीं
होता, अपने स्वरूप ही रहता है, ज्ञानकर ज्ञेय प्रमाण है, यद्यपि निश्चयसे प्रदेशोंकर लोक-प्रमाण
है, असंख्यात प्रदेशी है, तो भी व्यवहारनयकर अपने देह-प्रमाण है । ऐसे आत्माको जो पुरुष
आहार भय मैथुन परिग्रहरूप चार वांछाओं स्वरूप आदि समस्त विकल्पकी तरंगोंको छोड़कर
जानता है, वही पुरुष ज्ञानसे अभिन्न होनेसे ज्ञान कहा जाता है । आत्मा और ज्ञानमें भेद नहीं है,

यः स पुरुष एव ज्ञानादभिन्नत्वाज् ज्ञानं भण्यत इति । अत्रायमेव निश्चयनयेन पञ्चज्ञानाभिन्न-
मात्मानं जानात्यसौ ध्याता तमेवोपादेयं जानीहीति भावार्थः । तथा चोक्तम्—“आभिणिमुदो-
हिमणकेवलं च तं होदि एगमेव पदं । सो एसो परमद्वो जं लहिदुं णिब्बुदिं लहदि ॥” ॥१०५॥

अथ—

अप्पहँ जे वि विभिण्ण वढ ते वि हवँति ण णाणु ।

ते तुहँ तिण्णि वि परिहरिवि णियमि अप्पु वियाणु ॥ १०६ ॥

आत्मनः ये अपि विभिन्नाः वत्स तेऽपि भवन्ति न ज्ञानम् ।

तान् त्वं त्रीण्यपि परिहृत्य नियमेन आत्मानं विजानीहि ॥ १०६ ॥

अप्पहँ जे वि विभिण्ण वढ आत्मनः सकाशाद्येऽपि भिन्नाः वत्स ते वि हवँति ण
णाणु तेऽपि भवन्ति न ज्ञानं, तेन कारणेन तुहँ तिण्णि वि परिहरिवि तान् कर्मतापन्नान्
तत्र हे प्रभाकरभट्ट त्रीण्यपि परिहृत्य । पश्चार्त्तिक कुरु । णियमि अप्पु वियाणु निश्चयेना-
त्मानं विजानीहीति । तद्यथा । सकलविशदैकज्ञानस्वरूपात् परमात्मपदार्थात् निश्चयनयेन भिन्नं
त्रीण्यपि धर्मार्थकामान् त्यक्त्वा वीतरागस्वसंवेदनलक्षणे शुद्धात्मानुभूतिज्ञाने स्थित्वात्मानं
जानीहीति भावार्थः ॥ १०६ ॥

अप्पा णाणहँ गम्मु पर णाणु वियाणह जेण ।

तिण्णि वि मिळ्ळिवि जाणि तुहँ अप्पा णाणँ तेण ॥ १०७ ॥

आत्मा ही ज्ञान है । यहाँ सारांश यह है, कि निश्चयनयकरके पाँच प्रकारके ज्ञानोंसे अभिन्न अपने
आत्माको जो ध्यानी जानता है, उसी आत्माको तू उपादेय जान । ऐसा ही सिद्धांतोंमें हरएक जगह
कहा है—“आभिणि” इत्यादि । इसका अर्थ यह है, कि मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवलज्ञान ये
पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञान एक आत्माके ही स्वरूप हैं, आत्माके विना ये ज्ञान नहीं हो सकते, वह
आत्मा ही परम अर्थ है, जिसको पाकर यह जीव निर्वाणको पाता है ॥१०५॥

आगे परभावका निषेध करते हैं—[वत्स] हे शिष्य, [आत्मनः] आत्मासे [ये अपि भिन्नाः]
जो जुदे भाव हैं, [तेऽपि] वे भी [ज्ञानं न भवँति] ज्ञान नहीं हैं, वे सब भाव ज्ञानसे रहित
जडरूप हैं, [तान्] उन [त्रीणि अपि] धर्म अर्थ कामरूप तीनों भावोंको [परिहृत्य] छोड़कर
[नियमेन] निश्चयसे [आत्मानं] आत्माको [त्वं] तू [विजानीहि] जान ॥ भावार्थ—हे
प्रभाकरभट्ट, मुनिरूप धर्म, अर्थरूप संसारके प्रयोजन, काम (विषयाभिलाषा) ये तीनों ही आत्मासे
भिन्न हैं, ज्ञानरूप नहीं हैं । निश्चयनयकरके सब तरहसे निर्मल केवलज्ञानस्वरूप परमात्मपदार्थसे
भिन्न तीनों ही धर्म अर्थ काम पुरुषार्थोंको छोड़कर वीतरागस्वसंवेदनस्वरूप शुद्धात्मानुभवरूपज्ञानमें
रहकर आत्माको जान ॥१०६॥

आगे आत्माका स्वरूप दिखलाते हैं—[आत्मा] आत्मा [परः] नियमसे [ज्ञानस्य] ज्ञानके
[गम्यः] गोचर है, [येन] क्योंकि [ज्ञानं] ज्ञान ही [विजानाति] आत्माको जानता है, [तेन]

आत्मा ज्ञानस्य गम्यः परः ज्ञानं विजानाति येन ।

त्रीण्यपि मुक्त्वा जानीहि त्वं आत्मानं ज्ञानेन तेन ॥ १०७ ॥

अप्पा णाणहं गम्मु पर आत्मा ज्ञानस्य गम्यो विषयः परः । कोऽर्थः । नियमेन । कस्मात् । णाणु विद्याणइ जेण ज्ञानं कर्तुं विजानात्यात्मानं येन कारणेन अतः कारणात् तिणिं वि मिल्लिवि जाणि तुहुं त्रीण्यपि मुक्त्वा जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट, अप्पा णाणे तेण । कं जानीहि । आत्मानम् । केन । ज्ञानेन तेन कारणेनेति । तथाहि । निजशुद्धात्मा ज्ञानस्यैव गम्यः । कस्मादिति चेत् । मतिज्ञानादिकपञ्चविकल्परहितं यत्परमपदं परमात्मशब्द-वाच्यं साक्षान्मोक्षकारणं तद्रूपो योऽसौ परमात्मा तमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदन-ज्ञानगुणेन विना दुर्धरानुष्ठानं कुर्वाणा अपि बहवोऽपि न लभन्ते यतः कारणात् । तथा चोक्तं समयसारे—“णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहू वि ण लहंति । तं गिण्हसु पदमेदं जइ इच्छसि दुक्खपरिमोक्खं ॥ ” । अत्र धर्मार्थकामादिसर्वपरद्रव्येच्छां योऽसौ मुञ्चति स्वशुद्धात्म-सुखामृते तप्तो भवति स एव निःपरिग्रहो भण्यते स एवात्मानं जानातीति भावार्थः । उक्तं च—“अपरिग्गहो अणिच्छो भणिओ णाणी दु णेच्छदे धम्मं । अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ ” ॥ १०७ ॥

इसलिये [त्वं] हे प्रभाकरभट्ट, तू [त्रीणि अपि मुक्त्वा] धर्म अर्थ काम इन तीनों ही भावोंको छोडकर [ज्ञानेन] ज्ञानसे [आत्मानं] निज आत्माको [जानीहि] जान ॥ भावार्थ—निज शुद्धात्मा ज्ञानके ही गोचर (जानने योग्य) है, क्योंकि मतिज्ञानादि पाँच भेदों रहित जो परमात्म शब्दका अर्थ परमपद है, वही साक्षात् मोक्षका कारण है, उस स्वरूप परमात्माको वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदन ज्ञानके विना दुर्धर तपके करनेवाले भी बहुतसे प्राणी नहीं पाते । इसलिये ज्ञानसे ही अपना स्वरूप अनुभव कर । ऐसा ही कथन श्रीकुंदकुंदाचार्यने समयसारमें किया है “णाणगुणेहिं” इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि सम्यग्ज्ञाननामा निज गुणसे रहित पुरुष इस ब्रह्मपदको बहुत कष्ट करके भी नहीं पाते, अर्थात् यदि महान दुर्धर तप करो तो भी नहीं मिलता । इसलिये यदि तू दुःखसे छूटना चाहता है, सिद्धपदकी इच्छा रखता है, तो आत्मज्ञानकर निजपदको प्राप्त कर । यहाँ सारांश यह है, कि जो धर्म अर्थ कामादि सब परद्रव्यकी इच्छाको छोडता है, वही निज शुद्धात्मसुखरूप अमृतमें तृप्त हुआ सिद्धांतमें परिग्रह रहित कहा जाता है, और निर्ग्रथ कहा जाता है, और वही अपने आत्माको जानता है । ऐसा ही समयसारमें कहा है “अपरिग्गहो” इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है, कि निज सिद्धांतमें परिग्रह रहित और इच्छारहित ज्ञानी कहा गया है । जो धर्मको भी नहीं चाहता है, अर्थात् जिसके व्यवहारधर्मकी भी कामना नहीं है, उसके अर्थ तथा कामकी इच्छा कहाँसे होवे ? वह आत्मज्ञानी सब अभिलाषाओंसे रहित है । जिसके धर्मका भी परिग्रह नहीं है, तो अन्य परिग्रह कहाँसे हो ? इसलिये वह ज्ञानी परिग्रही नहीं है, केवल निजस्वरूपका जाननेवाला ही होता है ॥१०७॥

अथ—

णाणिय णाणिउ णाणिएण णाणिउँ जा ण मुणेहि ।
ता अण्णार्णि णाणमउँ किं पर बंभु लहेहि ॥ १०८ ॥

ज्ञानिन् ज्ञानी ज्ञानिना ज्ञानिनं यावत् न जानासि ।

तावद् अज्ञानेन ज्ञानमयं किं परं ब्रह्म लभसे ॥ १०८ ॥

णाणिय हे ज्ञानिन् णाणिउ ज्ञानी निजात्मा णाणिएण ज्ञानिना निजात्मना करण-
भूतेन । कथंभूतो निजात्मा । णाणिउ ज्ञानी ज्ञानलक्षणः तमित्थंभूतमात्मानं जा ण मुणेहि
यावत्कालं न जानासि ता अण्णार्णि णाणमउं तावत्कालमज्ञानेन मिथ्यात्तरागादिविकल्प-
जालेन ज्ञानमयम् । किं पर बंभु लहेहि किं परमुत्कृष्टं ब्रह्मस्वभावं लभसे किं तु नैवेति ।
तद्यथा । यावत्कालमात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नम् आत्मना करणभूतेन आत्मने निमित्तं
आत्मनः सकाशात् आत्मनि स्थितं समस्तरागादिविकल्पजालं मुक्त्वा न जानासि तावत्कालं
परमब्रह्मशब्दवाच्यं निर्दोषपरमात्मानं किं लभसे नैवेति भावार्थः ॥ १०८ ॥

अथानन्तरं सूत्रचतुष्टयेनान्तरस्थले परलोकशब्दव्युत्पत्त्या परलोकशब्दवाच्यं परमात्मानं
कथयति—

जोइज्जइ तिं बंभु पर जाणिज्जइ तिं सोइ ।

बंभु मुणेविणु जेण लहु गम्मिज्जइ परलोइ ॥ १०९ ॥

दृश्यते तेन ब्रह्मा परः ज्ञायते तेन स एव ।

ब्रह्म मत्वा येन लघु गम्यते परलोके ॥ १०९ ॥

जोइज्जइ दृश्यते तिं तेन पुरुषेण तेन कारणेन वा । कोऽसौ दृश्यते । बंभु पर ब्रह्म-
शब्दवाच्यः शुद्धात्मा । कथंभूतः । परः उत्कृष्टः । अथवा पर इति पाठे नियमेन । न केवलं

आगे ज्ञानसे ही परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं—[ज्ञानिन्] हे ज्ञानी, [ज्ञानी]
ज्ञानवान् अपना आत्मा [ज्ञानिना] सम्यग्ज्ञान करके [ज्ञानिनं] ज्ञान लक्षणवाले आत्माको
[यावत्] जब तक [न] नहीं [जानासि] जानता, [तावत्] तब तक [अज्ञानेन] अज्ञानी होनेसे
[ज्ञानमयं] ज्ञानमय [परं ब्रह्म] अपने स्वरूपको [किं लभसे] क्या पा सकता है ? कभी नहीं
पा सकता । यदि कोई आत्माको पाता है, तो ज्ञानसे ही पा सकता है ॥ भावार्थ—जब तक यह
जीव अपनेको आपकर अपनी प्राप्तिके लिये आपसे अपनेमें तिष्ठना नहीं जान ले, तब तक निर्दोष
शुद्ध परमात्मा सिद्धपरमेष्ठीको क्या पा सकता है ? कभी नहीं पा सकता । जो आत्माको
जानता है, वही परमात्माको जानता है ॥१०८॥

इस प्रकार प्रथम महास्थलमें चार दोहोंमें अंतरस्थलमें ज्ञानका व्याख्यान किया । आगे चार
सूत्रोंमें अंतरस्थलमें परलोक शब्दकी व्युत्पत्तिकर परलोक शब्दसे परमात्माको ही कहते हैं—[तेन]
उस कारणसे उसी पुरुषसे [परः ब्रह्मा] शुद्धात्मा नियमसे [दृश्यते] देखा जाता है, [तेन] उसी

दृश्यते जाणिज्जइ ज्ञायते तेन पुरुषेण तेन कारणेन वा सोइ स एव शुद्धात्मा । केन कारणेन । यंभु मुणेविणु जेण लहु येन पुरुषेण येन कारणेन वा ब्रह्मशब्दवाच्यनिर्दोषिपरमात्मानं मत्वा ज्ञात्वा पश्चात् गम्मिज्जइ परलोइ तेनैव पूर्वोक्तेन ब्रह्मस्वरूपे परिज्ञानपुरुषेण तेनैव कारणेन वा गम्यते । क । परलोके परलोकशब्दवाच्ये परमात्मतत्त्वे । किं च । योऽसौ शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण केवलज्ञानदर्शनस्वभावः परमात्मा स सर्वेषां सूक्ष्मैकेन्द्रियादिजीवानां शरीरे पृथक् पृथग्रूपेण तिष्ठति स एव परमब्रह्मा स एव परमविष्णुः स एव परमशिवः इति, व्यक्तिरूपेण पुनर्भगवानर्हन्नैव मुक्तिगतसिद्धात्मा वा परमब्रह्मा विष्णुः शिवो वा भण्यते । तेन नान्यः कोऽपि परिकल्पितः जगद्व्यापी तथैवैको परमब्रह्मा शिवो वास्तीति । अयमत्रार्थः । यत्रासौ मुक्तात्मा लोकाग्रे तिष्ठति स एव ब्रह्मलोकः स एव विष्णुलोकः स एव शिवलोको नान्यः कोऽपीति भावार्थः ॥ १०९ ॥ अथ—

मुणि-वर-विंदहं हरि-हरहं जो मणि णिवसइ देउ ।

परहं जि परतरु णाणमउ सो बुच्चइ पर-लोउ ॥ ११० ॥

मुनिवरवृन्दानां हरिहराणां यः मनसि निवसति देवः ।

परस्माद् अपि परतरः ज्ञानमयः स उच्यते परलोकः ॥ ११० ॥

मुनिवरविंदहं हरिहरहं मुनिवरवृन्दानां हरिहराणां च जो मणि णिवसइ देउ

पुरुषसे निश्चयसे [स एव] वही शुद्धात्मा [ज्ञायते] जाना जाता है, [येन] जो पुरुष जिस कारण [ब्रह्म मत्वा] अपना स्वरूप जानकर [परलोके लघु गम्यते] परमात्मतत्त्वमें शीघ्र ही प्राप्त होता है ॥ भावार्थ—जो कोई शुद्धात्मा अपना स्वरूप शुद्ध निश्चयनयकर शक्तिरूपसे केवलज्ञान केवलदर्शन स्वभाव है, वही वास्तवमें (असलमें) परमेश्वर है । परमेश्वरमें और जीवमें जाति-भेद नहीं है, जब तक कर्मोंसे बँधा हुआ है, तब तक संसारमें भ्रमण करता है । सूक्ष्म बादर एकेन्द्रियादि जीवोंके शरीरमें जुदा जुदा तिष्ठता है, और जब कर्मोंसे रहित हो जाता है, तब सिद्ध कहलाता है । संसार-अवस्थामें शक्तिरूप परमात्मा है, और सिद्ध-अवस्थामें व्यक्तिरूप परमात्मा है । यही आत्मा परम-ब्रह्म परमविष्णु परमशिव शक्तिरूप है, और प्रगटरूपसे भगवान् अर्हंत अथवा मुक्तिको प्राप्त हुए सिद्धात्मा ही परमब्रह्मा परमविष्णु परमशिव कहे जाते हैं यह निश्चयसे जानो । ऐसा कहनेसे अन्य कोई भी कल्पना किया हुआ जगतमें व्यापक परमब्रह्म परमविष्णु परमशिव नहीं । सारांश यह है कि जिस लोकके शिखरपर अनंत सिद्ध विराज रहे हैं, वही लोकका शिखर परमधाम ब्रह्मलोक वही विष्णुलोक और वही शिवलोक है, अन्य कोई भी ब्रह्मलोक विष्णुलोक शिवलोक नहीं है । ये सब निर्वाण क्षेत्रके नाम हैं, और ब्रह्मा विष्णु शिव ये सब सिद्धपरमेष्ठीके नाम हैं । भगवान् तो व्यक्तिरूप परमात्मा हैं, तथा यह जीव शक्तिरूप परमात्मा है । इसमें संदेह नहीं है । जितने भगवान्के नाम हैं, उतने सब शक्तिरूप इस जीवके नाम हैं । यह जीव ही शुद्ध नयकर भगवान् हैं ॥१०९॥

आगे ऐसा कहते हैं कि भगवानका ही नाम परलोक है—[यः] जो आत्मदेव [मुनिवरवृन्दानां

योऽसौ मनसि निवसति देवः आराध्यः । पुनरपि किंविशिष्टः । परहं जि परतरु णाणमउ
परस्मादुत्कृष्टादपि अथवा परहं जि बहुवचनं परेभ्योऽपि सकाशादतिशयेन परः परतरः ।
पुनरपि कथंभूतः । ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृतः सो बुचइ परलोउ स एवंगुणविशिष्टः
शुद्धात्मा परलोक इत्युच्यते इति । पर उत्कृष्टो वीतरागचिदानन्दैकस्वभाव आत्मा तस्य लोको-
ऽवलोकनं निर्विकल्पसमाधौ वानुभवनमिति परलोकशब्दस्यार्थः, अथवा लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवा-
दिपदार्था यस्मिन् परमात्मस्वरूपे यस्य केवलज्ञानेन वा स भवति लोकः परश्चासौ लोकश्च
परलोकः व्यवहारेण पुनः स्वर्गापवर्गलक्षणः परलोको भण्यते । अत्र योऽसौ परलोकशब्दवाच्यः
परमात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ११० ॥ अथ—

सो पर बुचइ लोउ परु जसु मइ तित्थु वसेइ ।

जहिं मइ तहिं गइ जीवह जि णियमे जेण हवेइ ॥ १११ ॥

सः परः उच्यते लोकः परः यस्य मतिः तत्र वसति ।

यत्र मतिः तत्र गतिः जीवस्य एव नियमेन येन भवति ॥ १११ ॥

सो पर बुचइ लोउ परु स परः नियमेनोच्यते लोको जनः । कथंभूतो भण्यते । पर
उत्कृष्टः । स कः । जसु मइ तित्थु वसेइ यस्य भव्यजनस्य मतिर्मनश्चितं तत्र निजपरमात्म-
स्वरूपे वसति विषयकषायविकल्पजालत्यागेन स्वसंवेदनसंवित्तिस्वरूपेण स्थिरीभवतीति । यस्य
परमात्मतत्त्वे मतिस्तिष्ठति स कस्मात्परो भवतीति चेत् जहिं मइ तहिं गइ जीवहं जि
हरिहराणां मुनीश्वरेके समूहके तथा इंद्र वा वासुदेव रुद्रोके [मनसि] चित्तमें [निवसति] बस रहा
है, [सः] वह [परस्माद् अपि परतरः] उत्कृष्टसे भी उत्कृष्ट [ज्ञानमयः] ज्ञानमयी [परलोकः]
परलोक [उच्यते] कहा जाता है ॥ भावार्थ—परलोक शब्दका अर्थ ऐसा है कि पर अर्थात्
उत्कृष्ट वीतराग चिदानन्द शुद्ध स्वभाव आत्मा उसका लोक अर्थात् अवलोकन निर्विकल्पसमाधिमें
अनुभवना वह परलोक है । अथवा जिसके परमात्मस्वरूपमें या केवलज्ञानमें जीवादि पदार्थ देखे
जावें, इसलिये उस परमात्माका नाम परलोक है । अथवा व्यवहारनयकर स्वर्ग मोक्षको परलोक
कहते हैं । स्वर्ग और मोक्षका कारण भगवानका धर्म है इसलिये केवली भगवानको परलोक कहते
हैं । परमात्माके समान अपना निज आत्मा है, वही परलोक है, वही उपादेय है ॥११०॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि जिसका मन निज आत्मामें बस रहा है, वही ज्ञानी जीव परलोक
है—[यस्य मतिः] जिस भव्यजीवकी बुद्धि [तत्र] उस निज आत्मस्वरूपमें [वसति] बस रही हैं,
अर्थात् विषय-कषाय-विकल्प-जालके त्यागसे स्वसंवेदन-ज्ञानस्वरूपकर स्थिर हो रही है । [सः]
वह पुरुष [परः] निश्चयकर [परः लोकः] उत्कृष्ट जन [उच्यते] कहा जाता है । अर्थात् जिसकी
बुद्धि निजस्वरूपमें ठहर रही है, वही उत्तम जन है, [येन] क्योंकि [यत्र मतिः] जैसी बुद्धि होती
है, [तत्र] वैसी [एव] ही [जीवस्य] जीवकी [गतिः] गति [नियमेन] निश्चयकर [भवति]
होती है, ऐसा जिनवरदेवने कहा है । अर्थात् शुद्धात्मस्वरूपमें जिस जीवकी बुद्धि होवे, उसको वैसी

णियमें जेण ह्वेइ येन कारणेन यत्र स्वशुद्धात्मस्वरूपे मतिस्तत्रैव गतिः । कस्यैव । जीव-जीवस्यैव अथवा बहुवचनपक्षे जीवानामेव निश्चयेन भवतीति । अयमत्र भावार्थः । यद्यार्तरौद्राधीनतया स्वशुद्धात्मभावनाच्युतो भूत्वा परभावेन परिणमति तदा दीर्घसंसारी भवति, यदि पुनर्निश्चयरत्नत्रयात्मके परमात्मतत्त्वे भावनां करोति तर्हि निर्वाणं प्राप्नोति इति ज्ञात्वा सर्व-रागादिविकल्पत्यागेन तत्रैव भावना कर्तव्येति ॥ १११ ॥ अथ—

जहिँ मइ तहिँ गइ जीव तुहुँ मरणु वि जेण लहेहि ।

तेँ परबंशु मुएवि मइँ मा पर-दब्बि करेहि ॥ ११२ ॥

यत्र मतिः तत्र गतिः जीव त्वं मरणमपि येन लभसे ।

तेन परब्रह्म मुक्त्वा मतिं मा परद्रव्ये कार्षीः ॥ ११२ ॥

जहिँ मइ तहिँ गइ जीव तुहुँ मरणु वि जेण लहेहि यत्र मतिस्तत्र गतिः । हे जीव त्वं मरणेन कृत्वा येन कारणेन लभसे तेँ परबंशु मुएवि मइँ मा परदब्बि करेहि तेन कारणेन परब्रह्मशब्दवाच्यं शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावं वीतरागसदानन्दैक-सुखामृतरसपरिणतं निजशुद्धात्मतत्त्वं मुक्त्वा मतिं चित्तं परद्रव्ये देहसंगादिषु मा कार्षीरिति तात्पर्यार्थः ॥ ११२ ॥ एवं सूत्रचतुष्टयेनान्तरस्थले परलोकशब्दव्युत्पत्त्या परलोकशब्दवाच्यस्य परमात्मनो व्याख्यानं गतम् ।

तदनन्तरं किं तत् परद्रव्यमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति—

जं णियदब्बहँ भिण्णु जडु तं पर-दब्बु वियाणि ।

पुग्गलु धम्माधम्मु णहु कालु वि पंचसु जाणि ॥ ११३ ॥

ही गति होती है, जिन जीवोंका मन निज-वस्तुमें है, उनको निज-पदकी प्राप्ति होती है, इसमें संदेह नहीं है । भावार्थ—यदि आर्तध्यान रौद्रध्यानकी आधीनतासे अपने शुद्धात्माकी भावनासे रहित हुआ रागादिक परभावोंस्वरूप परिणमन करता है, तो वह दीर्घसंसारी होता है, और यदि निश्चय-रत्नत्रयस्वरूप परमात्मतत्त्वमें भावना करता है, तो वह मोक्ष पाता है । ऐसा जानकर सब रागादि विकल्पोंको त्यागकर उस परमात्मतत्त्वमें ही भावना करनी चाहिये ॥१११॥

आगे फिर भी इसी बातको दृढ़ करते हैं—[जीव] हे जीव [यत्र मतिः] जहाँ तेरी बुद्धि है, [तत्र गतिः] वहींपर गति है, उसको [येन] जिस कारणसे [त्वं मृत्वा] तू मरकर [लभसे] पावेगा [तेन] इसलिये तू [परब्रह्म] परमब्रह्मको [मुक्त्वा] छोड़कर [परद्रव्ये] परद्रव्यमें [मतिं] बुद्धिको [मा कार्षीः] मत कर । भावार्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे टांकीक-सा गढा हुआ अघटितघाट, अमूर्तिक पदार्थ, ज्ञायकमात्र स्वभाव, वीतराग, सदा आनन्दरूप, अद्वितीय अतीन्द्रिय सुखरूप, अमृतके रसकर तृप्त, ऐसे निज शुद्धात्मतत्त्वको छोड़कर द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्ममें या देहादि परिग्रहमें मनको मत लगा ॥११२॥ इस प्रकार पहले महाधिकारमें चार दोहा-सूत्रोंकर अंतरस्थलमें परलोक शब्दका अर्थ परमात्मा किया ।

आगे परलोक (परमात्मा) में ही मन लगा, परद्रव्यसे ममता छोड़ ऐसा कहा गया था, उसमें

यत् निजद्रव्याद् भिन्नं जडं तत् परद्रव्यं जानीहि ।

पुद्गलः धर्माधर्मः नभः कालं अपि पञ्चमं जानीहि ॥ ११३ ॥

जमित्यादि । पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । जं यत् गियदव्वहं निजद्रव्यात् भिण्णु भिन्नं पृथग्भूतं जडु जडं तं तत् परदव्वु वियाणि परद्रव्यं जानीहि । तच्च किम् । पुग्गलु धम्मधम्मु णहु पुद्गलधर्माधर्मनभोरूपं कालु वि कालमपि पंचमु जाणि पञ्चमं जानीहीति । अनन्तचतुष्टयस्वरूपाभिजद्रव्याद्वाह्यं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरूपं जीवसंबद्धं शेषं पुद्गलादिपञ्चभेदं यत्सर्वं तद्देयमिति ॥ ११३ ॥

अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरन्तर्मुहूर्तेनापि कर्मजालं दहतीति ध्यानसामर्थ्यं दर्शयति—

जइ णिविसद्धु वि कु वि करइ परमप्पइ अणुराउ ।

अग्नि-कणी जिम कट्ट-गिरी डहइ असेसु वि पाउ ॥ ११४ ॥

यदि निमिषार्धमपि कोऽपि करोति परमात्मनि अनुरागम् ।

अग्निकणिका यथा काष्ठगिरिं दहति अशेषमपि पापम् ॥ ११४ ॥

जइ इत्यादि । जइ णिविसद्धु वि यदि निमिषार्धमपि कु वि करइ कोऽपि कश्चित् करोति । किं करोति । परमप्पइ अणुराउ परमात्मन्यनुरागम् । तदा किं करोति । अग्नि-कणी जिम कट्टगिरी अग्निकणिका यथा काष्ठगिरिं दहति तथा डहइ असेसु वि पाउ

शिष्यने प्रश्न किया कि परद्रव्य क्या है ? उसका समाधान श्रीगुरु करते हैं—[यत्] जो [निजद्रव्यात्] आत्मपदार्थसे [भिन्नं] जुदा [जडं] जड पदार्थ है, [तत्] उसे [परद्रव्यं] परद्रव्य [जानीहि] जानो, और वह परद्रव्य [पुद्गलः धर्माधर्मः नभः कालं अपि पञ्चमं] पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और पाँचवाँ कालद्रव्य [जानीहि] ये सब परद्रव्य जानो ॥ भावार्थ—द्रव्य छह हैं, उनमेंसे पाँच जड और जीवको चैतन्य जानो । पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाश ये सब जड हैं, इनको अपनेसे जुदा जानो और जीव भी अनन्त हैं, उन सबोंको अपनेसे भिन्न जानो । अनन्त-चतुष्टयस्वरूप अपना आत्मा है, उसीको निज (अपना) जानो, और जीवके भावकर्मरूप रागादिक तथा द्रव्यकर्म, ज्ञानावरणादि आठ कर्म, और शरीरादिक नोकर्म, और इनका संबंध अनादिसे है, परन्तु जीवसे भिन्न है, इसलिये अपने मत मानो । पुद्गलादि पाँच भेद जड पदार्थ सब हेय जानो और अपना स्वरूप ही उपादेय है, उसीका आराधन करो ॥११३॥

आगे एक अन्तर्मुहूर्तमें कर्म-जालको वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप अग्नि भस्म कर डालती है ऐसी समाधिकी सामर्थ्य है, वही दिखाते हैं—[यदि] जो [निमिषार्धमपि] आधे निमेषमात्र भी [कोऽपि] कोई [परमात्मनि] परमात्मामें [अनुरागं] प्रीतिको [करोति] करे तो [यथा] जैसे [अग्निकणिका] अग्निकी कणी [काष्ठगिरिं] काठके पहाड़को [दहति] भस्म करती है, उसी तरह [अशेषं अपि पापं] सब ही पापोंको भस्म कर डाले ॥ भावार्थ—ऋद्धिका गर्व, रसायनका गर्व अर्थात् पारा वगैरह आदि धातुओंके भस्म करनेका मद, अथवा नौ रसके जाननेका गर्व,

दहत्यशेषं पापमिति । तथाहि—ऋद्धिगौरवरसगौरवकवितवादित्यगमकत्ववाग्मित्यचतुर्विधशब्द-
गौरवस्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्पजालत्यागरूपेण महावातेन प्रज्वलिता निजशुद्धात्मतत्त्वध्या-
नाग्निकणिका स्तोकाग्निकेन्धनराशिमिवान्तर्मुहूर्तेनापि चिरसंचितकर्मराशिं दहतीति । अत्रैवंविधं
शुद्धात्मध्यानसामर्थ्यं ज्ञात्वा तदेव निरन्तरं भावनीयमिति भावार्थः ॥ ११४ ॥

अथ हे जीव चिन्ताजालं मुक्त्वा शुद्धात्मस्वरूपं निरन्तरं पश्येति निरूपयति—

मेल्लिवि सयल अवक्खडी जिय णिच्चित्तउ होइ ।

चित्तु णिवेसहि परमपए देउ गिरंजणु जोइ ॥ ११५ ॥

मुक्त्वा सकलां चिन्तां जीव निश्चिन्तः भूत्वा ।

चित्तं निवेशय परमपदे देवं निरञ्जनं पश्य ॥ ११५ ॥

मेल्लिवि इत्यादि । मेल्लिवि मुक्त्वा सयल समस्तं अवक्खडी देशभाषया चिन्ता जिय
हे जीव णिच्चित्तउ होइ निश्चिन्तो भूत्वा । किं कुरु । चित्तु णिवेसहि चित्तं निवेशय धारय ।
क । परमपए निजपरमात्मपदे । पश्चात् किं कुरु । देउ गिरंजणु जोइ देवं निरञ्जनं पश्येति ।
तद्यथा । हे जीव दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षास्वरूपापध्यानादि समस्तचिन्ताजालं मुक्त्वा निश्चिन्तो
भूत्वा चित्तं परमात्मस्वरूपे स्थिरं कुरु, तदनन्तरं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मज्ञानरहितं देवं परमा-

कविकलाका मद, वादमें जीतनेका मद, शास्त्रकी टीका बनानेका मद, शास्त्रके व्याख्यान करनेका
मद, ये चार तरहका शब्द-गौरव स्वरूप इत्यादि अनेक विकल्प-जालोंका त्यागरूप प्रचंड पवन
उससे प्रज्वलित हुई (दहकती हुई) जो निज शुद्धात्मतत्त्वके ध्यानरूप अग्निकी कणी है, जैसे वह
अग्निकी कणी काठके पर्वतको भस्म कर देती है, उसी तरह यह समस्त पापोंको भस्म कर डालती
है, अर्थात् जन्म जन्मके इकट्ठे किये हुए कर्मोंको आधे निमेषमें नष्ट कर देती है, ऐसी शुद्ध
आत्मध्यानकी सामर्थ्य जानकर उसी ध्यानकी ही भावना सदा करनी चाहिये ॥११४॥

आगे हे जीव, चिन्ताओंको छोड़कर शुद्धात्मस्वरूपको निरन्तर देख, ऐसा कहते हैं—[जीव] हे
जीव, [सकलां] समस्त [चिन्तां] चिन्ताओंको [मुक्त्वा] छोड़कर [निश्चितः भूत्वा] निश्चित
होकर तू [चित्तं] अपने मनको [परमपदे] परमपदमें [निवेशय] धारण कर, और [निरंजनं
देवं] निरंजनदेवको [पश्य] देख ॥ भावार्थ—हे हंस (जीव), देखे सुने और भोगे हुए भोगोंकी
वांछारूप खोटे ध्यान आदि सब चिन्ताओंको छोड़कर अत्यंत निश्चित होकर अपने चित्तको परमात्म-
स्वरूपमें स्थिर कर । उसके बाद भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्मरूप अंजनसे रहित जो निरंजनदेव परम
आराधने योग्य अपना शुद्धात्मा है, उसका ध्यान कर । पहले यह कहा था कि खोटे ध्यानको
छोड़, सो खोटे ध्यानका नाम शास्त्रमें अपध्यान कहा है । अपध्यानका लक्षण कहते हैं —
'बंधवधेत्यादि' । उसका अर्थ ऐसा है कि निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जिन-शासनमें उसको अपध्यान
कहते हैं, जो द्वेषसे परके मारनेका, बांधनेका अथवा छेदनेका चिंतन करे, और रागभावसे परस्त्री
आदिका चिंतन करे । उस अपध्यानके दो भेद हैं, एक आर्त दूसरा रौद्र । सो ये दोनों ही नरक

राध्यं निजशुद्धात्मानं ध्यायेति भावार्थः । अपध्यानलक्षणं कथ्यते—“बन्धवधच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः । आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥ ” ॥ ११५ ॥

अथ शिवशब्दवाच्ये निजशुद्धात्मनि ध्याते यत्सुखं भवति तत्सूत्रत्रयेण प्रतिपादयति—

जं सिव-दंसणि परम-सुहु पावहि झाणु करंतु ।

तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणंतु ॥ ११६ ॥

यत् शिवदर्शने परमसुखं प्राप्नोषि ध्यानं कुर्वन् ।

तत् सुखं भुवनेऽपि अस्ति नैव मुक्त्वा देवं अनन्तम् ॥ ११६ ॥

जमित्यादि । पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते—जं यत् सिवदंसणि स्वशुद्धात्मदर्शने परमसुहु परमसुखं पावहि प्राप्नोषि हे प्रभाकरभट्ट । किं कुर्वन् सन् । झाणु करंतु ध्यानं कुर्वन् सन् तं सुहु तत्पूर्वोक्तसुखं भुवणि वि भुवनेऽपि अत्थि णवि अस्ति नैव । किं कृत्वा । मेल्लिवि मृत्वा । कम् । देउ देवम् । कथंभूतम् । अणंतु अनन्तशब्दवाच्यपरमात्मपदार्थमिति । तथाहि—शिवशब्देनात्र विशुद्धज्ञानस्वभावो निजशुद्धात्मा ज्ञातव्यः तस्य दर्शनमवलोकनमनुभवं तस्मिन् शिवदर्शनेन परमसुखं निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमाह्लादरूपं लभसे । किं कुर्वन् सन् । वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिं कुर्वन् । इत्थंभूतं सुखं अनन्तशब्दवाच्यो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तं मुक्त्वा त्रिभुवनेऽपि नास्तीति । अयमत्रार्थः । शिवशब्दवाच्यो योऽसौ निजपरमात्मा स एव रागद्वेषमोहपरिहारेण ध्यातः सन्ननाकुलत्वलक्षणं परमसुखं ददाति नान्यः कोऽपि निगोदके कारणं है, इस लिये विवेकियोंको त्यागने योग्य हैं ॥११५॥

आगे शिव शब्दसे कहे गये निज शुद्ध आत्माके ध्यान करनेपर जो सुख होता है, उस सुखको तीन दोहा-सूत्रोंमें वर्णन करते हैं—[यत्] जो [ध्यानं कुर्वन्] ध्यान करता हुआ [शिव दर्शने परमसुखं] निज शुद्धात्माके अवलोकनमें अत्यंत सुख [प्राप्नोषि] हे प्रभाकर, तू पा सकता है, [तत् सुखं] वह सुख [भुवने अपि] तीनलोकमें भी [अनंतं देवं मुक्त्वा] परमात्म द्रव्यके सिवाय [नैव अस्ति] नहीं है ॥ भावार्थ—शिव नाम कल्याणका है, सो कल्याणरूप ज्ञानस्वभाव निज शुद्धात्मा जानो, उसका जो दर्शन अर्थात् अनुभव उसमें सुख होता है, वह सुख परमात्माको छोड़ तीन लोकमें नहीं है । वह सुख क्या है ? जो निर्विकल्प वीतराग परम आनंदरूप शुद्धात्मभाव है, वही सुखी है । क्या करता हुआ यह सुख पाता है ? तीन गुप्तिरूप परमसमाधिमें आरूढ हुआ सत्ता ध्यानी पुरुष ही उस सुखको पाता है । अनंत गुणरूप आत्मतत्त्वके बिना वह सुख तीनों लोकके स्वामी इंद्रादिको भी नहीं है । इस कारण सारांश यह निकला कि शिव नामवाला जो निज शुद्धात्मा है, वही राग द्वेष मोहके त्यागकर ध्यान किया गया आकुलता रहित परम सुखको देता है । संसारी जीवोंके जो इन्द्रियजनित सुख है, वह आकुलतारूप है, और आत्मिक अतीन्द्रियसुख आकुलता रहित है, सो सुख ध्यानसे ही मिलता है, दूसरा कोई शिव या ब्रह्मा या विष्णु नामका पुरुष देनेवाला नहीं है । आत्माका ही नाम शिव है, विष्णु है, ब्रह्मा है ॥११६॥

शिवनामेति पुरुषः ॥ ११६ ॥ अथ—

जं मुणि लहइ अणंत-सुहु गिय-अप्पा झायंतु ।

तं सुहु इंदु वि णवि लहइ देविहिं कोडि रमंतु ॥ ११७ ॥

यत् मुनिः लभते अनन्तसुखं निजात्मानं ध्यायन् ।

तत् सुखं इन्द्रोऽपि नैव लभते देवीनां कोटिं रमयन् ॥ ११७ ॥

जमित्यादि । जं यत् मुणि मुनिस्तपोधनः लहइ लभते अणंतसुहु अनन्तसुखम् । किं कुर्वन् सन् । गियअप्पा झायंतु निजात्मानं ध्यायन् सन् तं सुहु तत्पूर्वोक्तं सुखं इंदु वि णवि लहइ इन्द्रोऽपि नैव लभते । किं कुर्वन् सन् । देविहिं कोडि रमंतु देवीनां कोटिं रम्यमाणः अनुभव-
मिति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नवीतरागपर-
मानन्दसहितो मुनिर्यत्सुखं लभते तदेवेन्द्रादयोऽपि न लभन्त इति । तथा चोक्तम्—“ दहमाने
जगत्यस्मिन्महता मोहवह्निना । विमुक्तविषयासंगाः सुखायन्ते तपोधनाः ” ॥ ११७ ॥

अप्पा-दंसणि जिणवरहं जं सुहु होइ अणंतु ।

तं सुहु लहइ विराउं जिउ जाणंतउ सिउ संतु ॥ ११८ ॥

आत्मदर्शने जिनवराणां यत् सुखं भवति अनन्तम् ।

तत् सुखं लभते विरागः जीवः जानन् शिवं शान्तम् ॥ ११८ ॥

अप्पा इत्यादि । अप्पादंसणि निजशुद्धात्मदर्शने जिणवरहं उच्चस्थावस्थायां जिनवराणां

आगे कहते हैं कि जो सुख आत्माको ध्यावनेसे महामुनि पाते हैं, वह सुख इन्द्रादि देवोंको दुर्लभ है—[निजात्मानं ध्यायन्] अपने आत्माको ध्यावता [मुनिः] परम तपोधन (मुनि) [यद् अनंतसुखं] जो अनंतसुख [लभते] पाता है, [तत् सुखं] उस सुखको [इंद्रः अपि] इंद्र भी [देवीनां कोटिं रम्यमाणः] करोड़ देवियोंके साथ रमता हुआ [नैव] नहीं [लभते] पाता ॥
भावार्थ—बाह्य और अंतरंग परिग्रहसे रहित निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परमानंद सहित महामुनि जो सुख पाता है, उस सुखको इंद्रादिक भी नहीं पाते । जगतमें सुखी साधु ही हैं, अन्य कोई नहीं । यही कथन अन्य शास्त्रोंमें भी कहा है—“दहमाने इत्यादि” । इसका अर्थ ऐसा है कि महामोहरूपी अग्निसे जलते हुए इस जगतमें देव मनुष्य तिर्यञ्च नारकी सभी दुःखी हैं, और जिनके तप ही धन है, तथा सब विषयोंका संबंध जिन्होंने छोड़ दिया है, ऐसे साधु मुनि ही इस जगतमें सुखी हैं ॥११७॥

आगे ऐसा कहते हैं कि वैरागी मुनि ही निज आत्माको जानते हुए निर्विकल्प सुखको पाते हैं—[आत्मदर्शने] निज शुद्धात्माके दर्शनमें [यद् अनंतं सुखं] जो अनंत अद्भुत सुख [जिनवराणां] मुनि-अवस्थामें जिनेश्वरदेवोंके [भवति] होता है, [तत् सुखं] वह सुख [विरागः जीवः] वीतरागभावनाको परिणत हुआ मुनिराज [शिवं शांतं जानन्] निज शुद्धात्मस्वभावको तथा रागादि रहित शांत भावको जानता हुआ [लभते] पाता है ॥ भावार्थ—दीक्षाके समय

जं सुहु होइ अणंतु यत्सुखं भवत्यनन्तं तं सुहु तत्पूर्वोक्तसुखं लहइ लभते । कोऽसौ ।
 बिराज जिउ वीतरागभावनापरिणतो जीवः किं कुर्वन् सन् । जाणंतउ जानन्ननुभवन् सन् ।
 कम् । सिउ शिवशब्दवाच्यं निजशुद्धात्मस्वभावम् । कथंभूतम् । संतु शान्तं रागादिविभाव-
 रहितमिति । अयमत्र भावार्थः । दीप्ताकाले शिवशब्दवाच्यस्वशुद्धात्मानुभवने यत्सुखं भवति
 जिनवराणां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतो जीवस्तत्सुखं लभत इति ॥ ११८ ॥

अथ कामक्रोधादिपरिहारेण शिवशब्दवाच्यः परमात्मा दृश्यत इत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य
 सूत्रमिदं कथयन्ति—

जोइय गिय-मणि गिम्मलए पर दीसइ सिउ संतु ।

अंवरि गिम्मलि घण-रहिए भाणु जि जेम फुरंतु ॥ ११९ ॥

योगिन् निजमनसि निर्मले परं दृश्यते शिवः शान्तः ।

अम्बरे निर्मले घनरहिते भानुः इव यथा स्फुरन् ॥ ११९ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् गियमणि निजमनसि । कथंभूते । गिम्मलए निर्मले
 परं नियमेन दीसइ दृश्यते । कोऽसौ । कर्मतापन्नः सिउ शिवशब्दवाच्यो निजपरमात्मा ।
 कथंभूतः । संतु शान्तः रागादिरहितः । दृष्टान्तमाह । अम्बरे आकाशे । कथंभूते । गिम्मलि
 निर्मले । पुनरपि कथंभूते । घणरहिए घनरहिते । क इव । भाणु जि भानुरिव यथा । किं
 कुर्वन् । फुरंतु स्फुरन् प्रकाशमान इति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यथा घनघटाटोपविषट्ठने सति
 निर्मलाकाशे दिनकरः प्रकाशते तथा शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतानां कामक्रोधादिविकल्परूप-
 घनानां विनाशे सति निर्मलचित्ताकाशे केवलज्ञानाद्यनन्तगुणकरकलितः निजशुद्धात्मादित्यः प्रकाशं

तीर्थकरदेव निज शुद्ध आत्माको अनुभवते हुए जो निर्विकल्प सुख पाते हैं, वही सुख रागादि रहित
 निर्विकल्प-समाधिमें लीन विरक्त मुनि पाते हैं ॥११८॥

आगे काम क्रोधादिकके त्यागनेसे शिव शब्दसे कहा गया परमात्मा दीख जाता है, ऐसा अभिप्राय
 मनमें रखकर यह गाथा-सूत्र कहते हैं—[योगिन्] हे योगी, [निर्मले निजमनसि] निर्मल अपने मनमें
 [शिवः शान्तः] निज परमात्मा रागादि रहित [परं] नियमसे [दृश्यते] दीखता है, [यथा] जैसे
 [घनरहिते निर्मले] बादल रहित निर्मल [अंबरे] आकाशमें [भानुः इव] सूर्यके समान [स्फुरन्]
 भासमान (प्रकाशमान) है ॥ भावार्थ—जैसे मेघमालाके आडंबरसे सूर्य नहीं भासता—दीखता और
 मेघके आडंबरके दूर होनेपर निर्मल आकाशमें सूर्य स्पष्ट दीखता है, उसी तरह शुद्ध आत्माकी
 अनुभूतिके शत्रु जो काम-क्रोधादि विकल्परूप मेघ हैं, उनके नाश होनेपर निर्मल मनरूपी आकाशमें
 केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप किरणोंकर सहित निज शुद्धात्मारूपी सूर्य प्रकाश करता है ॥११९॥

आगे जैसे मैले दर्पणमें रूप नहीं दीखता, उसी तरह रागादिकर मलिन चित्तमें शुद्ध
 आत्मस्वरूप नहीं दीखता, ऐसा कहते हैं—[रागेन रंजिते] रागकरके रंजित [हृदये] मनमें

करोतीति ॥ ११९ ॥

अथ यथा मलिने दर्पणे रूपं न दृश्यते तथा रागादिमलिनचित्ते शुद्धात्मस्वरूपं न दृश्यत इति निरूपयति—

राएँ रंगिए हियवडए देउ ण दीसइ संतु ।

दप्पणि मइलए बिंबु जिम एहउ जाणि णिभंतु ॥ १२० ॥

रागेन रञ्जिते हृदये देवः न दृश्यते शान्तः ।

दर्पणे मलिने बिम्बं यथा एतत् जानीहि निर्भ्रान्तम् ॥ १२० ॥

राएँ इत्यादि । राएँ रंगिए हियवडए रागेन रञ्जिते हृदये देउ ण दीसइ देवो न दृश्यते । किंविशिष्टः संतु शान्तो रागादिरहितः । दृष्टान्तमाह । दप्पणि मइलए दर्पणे मलिने बिंबु जिम बिम्बं यथा एहउ एतत् जानीहि हे प्रभाकरभट्ट णिभंतु निर्भ्रान्तं यथा भवतीति । अयमत्राभिप्रायः । यथा मेघपटलप्रच्छादितो विद्यमानोऽपि सहस्रकरो न दृश्यते तथा केवलज्ञानकिरणैर्लोकालोकप्रकाशकोऽपि कामक्रोधादिविकल्पमेघप्रच्छादितः सन् देहमध्ये शक्तिरूपेण विद्यमानोऽपि निजशुद्धात्मा दिनकरो न दृश्यते इति ॥ १२० ॥

अथानन्तरं विषयासक्तानां परमात्मा न दृश्यत इति दर्शयति—

जसु हरिणच्छी हियवडए तसु णवि बंभु वियारि ।

एक्कहिँ केम समंति वढ बे खंडा पडियारि ॥ १२१ ॥

यस्य हरिणाक्षी हृदये तस्य नैव ब्रह्म विचारय ।

एकस्मिन् कथं समायातौ वत्स द्वौ खड्गौ प्रत्याकारे (?) ॥ १२१ ॥

जसु इत्यादि । जसु यस्य पुरुषस्य हरिणच्छि हरिणाक्षी स्त्री हियवडए हृदये वसतीति

[शांतः देवः] रागादि रहित आत्मा देव [न दृश्यते] नहीं दीखता, [यथा] जैसे कि [मलिने दर्पणे] मैले दर्पणमें [बिंबं] मुख नहीं भासता । [एतत्] यह बात हे प्रभाकरभट्ट, तू [निर्भ्रान्तं] संदेह रहित [जानीहि] जान ॥ भावार्थ—ऐसा श्रीयोगीन्द्राचार्यने उपदेश दिया है कि जैसे सहस्र किरणोंसे शोभित सूर्य आकाशमें प्रत्यक्ष दीखता है, लेकिन मेघसमूहकर ढँका हुआ नहीं दीखता, उसी तरह केवलज्ञानादि अनन्त गुणरूप किरणोंकर लोक-अलोकका प्रकाशनेवाला भी इस देह (घट) के बीचमें शक्तिरूपसे विद्यमान निज शुद्धात्मरूप (परमज्योति चिद्रूप) सूर्य काम क्रोधादि राग द्वेष भावोंस्वरूप विकल्पजालरूप मेघसे ढँका हुआ नहीं दीखता ॥ १२० ॥

आगे जो विषयोंमें लीन हैं, उनको परमात्माका दर्शन नहीं होता, ऐसा दिखलते हैं—[यस्य हृदये] जिस पुरुषके चित्तमें [हरिणाक्षी] मृगके समान नेत्रवाली स्त्री [वसति] बस रही है [तस्य] उसके [ब्रह्म] अपना शुद्धात्मा [नैव] नहीं है, अर्थात् उसके शुद्धात्माका विचार नहीं होता, ऐसा हे प्रभाकरभट्ट, तू अपने मनमें [विचारय] विचार कर । बड़े [वत्] खेदकी बात है कि [एकस्मिन्] एक [प्रतिकारे] म्यानमें [द्वौ खड्गौ] दो तलवारें [कथं समायातौ] कैसे आ

क्रियाध्याहारः, तस्य तस्य णचि नैवास्ति । कोऽसौ । बंभु ब्रह्मशब्दवाच्यो निजपरमात्मा वियारि एवं विचारय तं हे प्रभाकरभट्ट । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह । एकहिं केम एकस्मिन् कथं समंति सम्यग्निमाते सम्यगवकाशं कथं लभते वढ वत बे खंडा द्वौ खड्गौ असी । काधिकरणभूते । पडियारि प्रतिकारे (?) कोशशब्दवाच्ये इति । तथाहि । वीतरागनिर्विकल्प-परमसमाधिसंजातानाकुलतलक्षणपरमानन्दसुखामृतप्रतिबन्धकैराकुलतोत्पादकैः स्त्रीरूपावलोकन-चिन्तादिसमुत्पन्नहावभावविभ्रमविलासविकल्पजालैर्मूर्च्छिते वासिते रञ्जिते परिणते चित्ते लेकस्मिन् प्रतिहारे (?) खड्गद्वयवत्परमब्रह्मशब्दवाच्यनिजशुद्धात्मा कथमवकाशं लभते न कथ-मपीति भावार्थः । हावभावविभ्रमविलासलक्षणं कथ्यते । “ हावो मुखविकारः स्याद्भावश्चि-तोत्थ उच्यते । विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूयुगान्तयोः ॥ ” ॥ १२१ ॥

अथ रागादिरहिते निजमनसि परमात्मा निवसतीति दर्शयति—

णिय-मणि णिम्मलि णाणियहँ णिवसइ देउ अणाइ ।

हंसो सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ ॥ १२२ ॥

निजमनसि निर्मले ज्ञानिनां निवसति देवः अनादिः ।

हंसः सरोवरे लीनः यथा मम ईदृशः प्रतिभाति ॥ १२२ ॥

णियमणि इत्यादि । णियमणि निजमनसि । किंविशिष्टे । णिम्मलि निर्मले रागादि-

सकती हैं ? कभी नहीं समा सकती ॥ भावार्थ—वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिसे उत्पन्न हुआ अनाकुलतारूप परम आनंद अतीन्द्रिय-सुखरूप अमृत है, उसके रोकनेवाले तथा आकुलताको उत्पन्न करनेवाले जो स्त्रीरूपके देखनेकी अभिलाषादिसे उत्पन्न हुए हाव (मुख-विकार) भाव अर्थात् चित्तका विकार, विभ्रम अर्थात् मुँहका टेढ़ा करना, विलास अर्थात् नेत्रोंके कटाक्ष इन स्वरूप विकल्पजालोंकर मूर्छित रंजित परिणत चित्तमें ब्रह्मका (निज शुद्धात्माका) रहना कैसे हो सकता है ? जैसे कि एक म्यानमें दो तलवारें कैसे आ सकती हैं ? नहीं आ सकतीं । उसी तरह एक चित्तमें ब्रह्म-विद्या और विषय-विनोद ये दोनों नहीं समा सकते । जहाँ ब्रह्म-विचार है, वहाँ विषय-विकार नहीं है; जहाँ विषय-विकार हैं वहाँ ब्रह्म-विचार नहीं है । इन दोनोंमें आपसमें विरोध है । हाव भाव विभ्रम विलास इन चारोंका लक्षण दूसरी जगह भी कहा है—“हावो मुखविकारः” इत्यादि । उसका अर्थ ऊपर कर चुके हैं, इससे दूसरी बार नहीं किया ॥१२१॥

आगे रागादि रहित निज मनमें परमात्मा निवास करता है, ऐसा दिखाते हैं—[ज्ञानिनां] ज्ञानियोंके [निर्मले] रागादि मल रहित [निजमनसि] निज मनमें [अनादिः देवः] अनादि देव आराधने योग्य शुद्धात्मा [निवसति] निवास कर रहा है, [यथा] जैसे [सरोवरे] मानस-सरोवरमें [लीनः हंसः] लीन हुआ हंस बसता है । सो हे प्रभाकरभट्ट, [मम] मुझे [एवं] ऐसा [प्रतिभाति] मालूम पड़ता है । ऐसा वचन श्रीयोगीन्द्रदेवने प्रभाकरभट्टसे कहा ॥ भावार्थ—पहले दोहोंमें जो कहा था कि चित्तकी आकुलताके उपजानेवाले स्त्रीरूपका देखना सेवना चिन्तादिकोंसे

मलरहिते । केषां मनसि । णाणियहं ज्ञानिनां णिवसइ निवसति । कोऽसौ । देउ देवः
 आराध्यः । किंविशिष्टः । अणाइ अनादिः । क इव कुत्र । हंसा सरवरि लीणु जिम हंसः
 सरोवरे लीनो यथा हे प्रभाकरभट्ट महु एहउ पडिहाइ ममैवं प्रतिभातीति । तथाहि ।
 पूर्वसूत्रकथितेन चित्ताकुलोत्पादकेन स्त्रीरूपावलोकनसेवनचिन्तादिसमुत्पन्नेन रागादिकलोल-
 मालाजालेन रहिते निजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानसहजसमुत्पन्नवीतरागपरमसुखसुधारसस्वरूपेण
 निर्मलनीरेण पूर्णे वीतरागस्वसंवेदनजनितमानससरोवरे परमात्मा लीनस्तिष्ठति । कथंभूतः ।
 निर्मलगुणसादृश्येन हंस इव हंसपक्षी इव । कुत्र प्रसिद्धः । सरोवरे । हंस इवेत्यभिप्रायो भगवतां
 श्रीयोगीन्द्रदेवानाम् ॥ १२२ ॥

उक्तं च—

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।

अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ समचित्ति ॥ १२३ ॥

देवः न देवकुले नैव शिलायां नैव लेप्ये नैव चित्रे ।

अक्षयः निरञ्जनः ज्ञानमयः शिवः संस्थितः समचित्ते ॥ १२३ ॥

देउ इत्यादि । देउ देवः परमाराध्यः ण नास्ति । कस्मिन् कस्मिन् नास्ति । देउले देव-
 कुले देवतागृहे णवि सिलए नैव शिलाप्रतिमायां, णवि लिप्पइ नैव लेपप्रतिमायां, णवि
 चित्ति नैव चित्रप्रतिमायाम् । तर्हि क तिष्ठति । निश्चयेन अखउ अक्षयः णिरंजणु कर्माञ्जन-
 रहितः । पुनरपि किंविशिष्टः । णाणमउ ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृतः सिउ शिवशब्दवाच्यो

उत्पन्न हुए रागादितरंगोंके समूह हैं, उनकर रहित निज शुद्धात्मद्रव्यका सम्यक् श्रद्धान
 स्वाभाविकज्ञान उससे उत्पन्न वीतराग परमसुखरूप अमृतरस उस स्वरूप निर्मल नीरसे भरे हुए
 ज्ञानियोंके मानसरोवरमें परमात्मदेवरूपी हंस निरंतर रहता है । वह आत्मदेव निर्मल गुणोंकी
 उज्ज्वलताकर हंसके समान है । जैसे हंसोंका निवास-स्थान मानसरोवर है, वैसे ब्रह्मका निवास-
 स्थान ज्ञानियोंका निर्मल चित्त है । ऐसा श्रीयोगीन्द्रदेवका अभिप्राय है ॥१२२॥

आगे इसी बातको दृढ करते हैं—[देवः] आत्मदेव [देवकुले] देवालयमें (मंदिरमें) [न] नहीं
 है, [शिलायां नैव] पाषाणकी प्रतिमामें भी नहीं है, [लेपे नैव] लेपमें भी नहीं है, [चित्रे नैव]
 चित्रामकी मूर्तिमें भी नहीं है । लेप और चित्रामकी मूर्ति लौकिकजन बनाते हैं, पंडितजन तो धातु
 पाषाणकी ही प्रतिमा मानते हैं, सो लौकिक दृष्टांतके लिये दोहामें लेप चित्रामका भी नाम आ गया । वह
 देव किसी जगह नहीं रहता । वह देव [अक्षयः] अविनाशी है, [निरंजनः] कर्माञ्जनसे रहित है,
 [ज्ञानमयः] केवलज्ञानसे पूर्ण है, [शिवः] ऐसा निज परमात्मा [समचित्ते संस्थितः] समभावमें
 तिष्ठ रहा है, अर्थात् समभावको परिणत हुए साधुओंके मनमें विराज रहा है, अन्य जगह नहीं
 है ॥ भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयकर धर्मकी प्रवृत्तिके लिये स्थापनारूप अरहंतदेव देवालयमें तिष्ठते
 हैं, धातु पाषाणकी प्रतिमाको देव कहते हैं तो भी निश्चयनयकर शत्रु मित्र सुख दुःख जीवित मरण

निजपरमात्मा । एवंगुणविशिष्टः परमात्मा देव इति । संठिउ संस्थितः समचित्ति समभावे समभावपरिणतमनसि इति । तथा । यद्यपि व्यवहारेण धर्मवर्तनानिमित्तं स्थापनारूपेण पूर्वोक्त-गुणलक्षणो देवो देवगृहादौ तिष्ठति तथापि निश्चयेन शत्रुमित्रसुखदुःखजीवितमरणादिसमत्तरूपे वीतरागसहजानन्दैकरूपपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकसमचित्ते सम-शब्दवाच्यः परमात्मा तिष्ठतीति भावार्थः ॥ तथा चोक्तं समचित्तपरिणतश्रमणलक्षणम्—
“समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिदसमो । समलोहकंचणो वि य जीवियमरणे समो समणो ॥” ॥ १२३ ॥ इत्येकत्रिंशत्सूत्रैश्चूलिकास्थलं गतम् ।

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकद्वयं कथ्यते—

मणु मिलियउ परमेसरहँ परमेसरु वि मणस्स ।

बीहि वि समरसि-हूवाहँ पुज्ज चडावउं कस्स ॥ १२३*२ ॥

मनः मिलितं परमेश्वरस्य परमेश्वरः अपि मनसः ।

द्वयोरपि समरसीभूतयोः पूजां समारोपयामि कस्य ॥ १२३*२ ॥

मणु इत्यादि । मणु मनो विकल्परूपं मिलियउ मिलितं तन्मयं जातम् । कस्य संबन्धि-त्वेन । परमेसरहँ परमेश्वरस्य परमेसरु वि मणस्स परमेश्वरोऽपि मनःसंबन्धित्वेन लीनो जातः बीहि वि समरसिहूवाहँ एवं द्वयोरपि समरसीभूतयोः पुज्ज पूजां चडावउं समारोपयामि । कस्स कस्य निश्चयनयेन न कस्यापीति । अयमत्र भावार्थः । यद्यपि व्यवहारनयेन गृहस्थावस्थायां विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं धर्मवर्धनार्थं च पूजाभिषेकदानादिव्यवहारोऽस्ति तथापि वीतराग-जिसमें समान हैं, तथा वीतराग सहजानन्दरूप परमात्मतत्त्वका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयमें लीन ऐसे ज्ञानियोके सम चित्तमें परमात्मा तिष्ठता है । ऐसा ही अन्य जगह भी समचित्तको परिणत हुए मुनियोंका लक्षण कहा है—‘समसत्तु’ इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जिसके सुख दुःख समान हैं, शत्रु मित्रोंका वर्ग समान हैं, प्रशंसा निंदा समान हैं, पत्थर और सोना समान है, और जीवन मरण जिसके समान हैं, ऐसा समभावका धारण करनेवाला मुनि होता है । अर्थात् ऐसे समभावके धारक शांतचित्त योगीश्वरोंके चित्तमें चिदानंद देव तिष्ठता है ॥१२३॥

इस प्रकार इकतीस दोहा-सूत्रोंका चूलिका स्थल कहा । चूलिका नाम अंतका है, सो पहले स्थलका अंत यहाँतक हुआ । आगे स्थलकी संख्याके सिवाय दो प्रक्षेपक दोहा कहते हैं—[मनः] विकल्परूप मन [परमेश्वरस्य मिलितं] भगवान् आत्मारामसे मिल गया, तन्मयी हो गया [परमेश्वरः अपि] और परमेश्वर भी [मनसः] मनसे मिल गया तो [द्वयोः अपि] दोनोंका ही [समरसी-भूतयोः] समरस (आपसमें एकमेक) होनेपर [कस्य] किसकी अब मैं [पूजां समारोपयामि] पूजा करूँ ? अर्थात् निश्चयनयकर किसीको पूजना, सामग्री चढाना नहीं रहा । भावार्थ—जब तक मन भगवानसे नहीं मिला था, तब तक पूजा करता था, और जब मन प्रभुसे मिल गया, तब पूजाका प्रयोजन नहीं है । यद्यपि व्यवहारनयकर गृहस्थ-अवस्थामें विषय कषायरूप खोटे ध्यानके

निर्विकल्पसमाधिरतानां तत्काले बहिरङ्गव्यापाराभावात् स्वयमेव नास्तीति ॥ १२३*२ ॥

जेण निरंजणि मणु धरिउ विसय-कसायहिं जंतु ।

मोक्षखहं कारणु एत्तडउ अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥ १२३*३ ॥

येन निरञ्जने मनः धृतं विषयकषायेषु गच्छत् ।

मोक्षस्य कारणं एतावदेव अन्यः न तन्त्रं न मन्त्रः ॥ १२३*३ ॥

जेण इत्यादि । येन येन पुरुषेण कर्तृभूतेन निरंजणि कर्माञ्जनरहिते परमात्मनि मणु मनः धरिउ धृतम् । किं कुर्वत् सत् । विसयकसायहिं जंतु विषयकषायेषु गच्छत् सत् । विसयकसायहिं तृतीयान्तं पदं सम्म्यन्तं कथं जातमिति चेत् । परिहारमाह । प्राकृते कचित्कारक-व्यभिचारो भवति लिङ्गव्यभिचारश्च । इदं सर्वत्र ज्ञातव्यम् । मोक्षखहं कारणु मोक्षस्य कारणं एत्तडउ एतावदेव । विषयकषायरतचित्तस्य व्यावर्तनेन स्वात्मनि स्थापनं अण्णु ण अन्यत् किमपि न मोक्षकारणम् । अन्यत् किम् । तंतु तन्त्रं शास्त्रभौषधं वा मंतु मन्त्राक्षरं चेति । तथाहि । शुद्धात्मतत्त्वभावनाप्रतिकूलेषु विषयकषायेषु गच्छत् सत् मनो वीतरागनिर्विकल्पस्व-संवेदनज्ञानबलेन व्यावर्त्य निजशुद्धात्मद्रव्ये स्थापयति यः स एव मोक्षं लभते नान्यो मन्त्र-तन्त्रादिबलिष्ठोऽपीति भावार्थः ॥ १२३*३ ॥

एवं परमात्मप्रकाशवृत्तौ प्रक्षेपकत्रयं विहाय त्र्यधिकविंशत्युत्तरशतदोहकसूत्रैस्त्रिविधात्मप्रतिपादकनामा प्रथममहाधिकारः समाप्तः ॥ १ ॥

हटानेके लिये और धर्मके बढानेके लिये पूजा अभिषेक दान आदिका व्यवहार है, तो भी वीतरागनिर्विकल्प-समाधिमें लीन हुए योगीश्वरोंको उस समयमें बाह्य व्यापारके अभाव होनेसे स्वयं ही द्रव्य-पूजाका प्रसंग नहीं आता, वे भाव-पूजामें ही तन्मय रहते हैं ॥१२३*२॥

आगे इसी कथनको दृढ करते हैं—[येन] जिस पुरुषने [विषयकषायेषु गच्छत्] विषय कषायोंमें जाता हुआ [मनः] मन [निरंजने धृतं] कर्मरूपी अंजनसे रहित भगवानमें रक्खा, [एतावदेव] और ये ही [मोक्षस्य कारणं] मोक्षके कारण हैं, [अन्यः] दूसरा कोई भी [तन्त्रं न] तंत्र नहीं हैं, [मन्त्रः न] और न मंत्र है । तंत्र नाम शास्त्र व औषधका है, मंत्र नाम मन्त्राक्षरोंका है । विषय कषायादि परपदार्थोंसे मनको रोककर परमात्मामें मनको लगाना, यही मोक्षका कारण है ॥ भावार्थ—जो कोई निकट-संसारी जीव शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उलटे विषय कषायोंमें जाते हुए मनको वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके बलसे पीछे हटाकर निज शुद्धात्मद्रव्यमें स्थापन करता है, वही मोक्षको पाता है, दूसरा कोई मंत्र तन्त्रादिमें चतुर होनेपर भी मोक्ष नहीं पाता ॥१२३*३॥

इस तरह परमात्मप्रकाशकी टीकामें तीन क्षेपकोंके सिवाय एकसौ तेईस दोहा-सूत्रोंमें बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मारूप तीन प्रकारसे आत्माको कहनेवाला पहला महाधिकार पूर्ण किया ॥१॥

इति प्रथम महाधिकार

द्वितीय महाधिकारः

अत ऊर्ध्वं स्थलसंख्याबहिर्भूतान् प्रक्षेपकान् विहाय चतुर्दशाधिकशतद्वयममितैर्दोहकसूत्रै-
र्मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वितीयमहाधिकारः प्रारभ्यते । तत्रादौ सूत्रदशकपर्यन्तं
मोक्षमुख्यतया व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

सिरिगुरु अक्खहि मोक्खु महु मोक्खहँ कारण तत्थु ।

मोक्खहँ केरउ अण्णु फलु जेँ जाणउँ परमत्थु ॥ १ ॥

श्रीगुरो आख्याहि मोक्ष मम मोक्षस्य कारणं तथ्यम् ।

मोक्षस्य संबन्धि अन्यत् फलं येन जानामि परमार्थम् ॥ १ ॥

सिरिगुरु इत्यादि । सिरिगुरु हे श्रीगुरो योगीन्द्रदेव अक्खहि कथय मोक्खु मोक्षं
महु मम, न केवलं मोक्षं मोक्खहँ कारणं मोक्षस्य कारणम् । कथंभूतम् । तत्थु तथ्यम्
मोक्खहँ केरउ मोक्षस्य संबन्धि अण्णु अन्यत् । किम् । फलु फलम् । एतत्रयेन ज्ञातेन किं
भवति । जेँ जाणउँ येन त्रयस्य व्याख्यानेन जानाम्यहं कर्ता । कम् । परमत्थु परमार्थमिति ।
तद्यथा । प्रभाकरभट्टः श्रीयोगीन्द्रदेवान् विज्ञाप्य मोक्षं मोक्षफलं मोक्षकारणमिति त्रयं
पृच्छतीति भावार्थः ॥ १ ॥

अथ तदेव त्रयं क्रमेण भगवान् कथयति—

जोइय मोक्खु वि मोक्ख-फलु पुच्छिउ मोक्खहँ हेउ ।

सो जिण-भासिउ गिसुणि तुहुँ जेण वियाणहि भेउ ॥ २ ॥

योगिन् मोक्षोऽपि मोक्षफलं पृष्टं मोक्षस्य हेतुः ।

तत् जिनभाषितं निशृणु त्वं येन विजानासि भेदम् ॥ २ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् मोक्खु वि मोक्षोऽपि मोक्खफलु मोक्षफलं

द्वितीय महाधिकार

इसके बाद प्रकरणकी संख्याके बाहर अर्थात् क्षेपकोंके सिवाय दोसौ चौदह दोहा-सूत्रोंसे मोक्ष,
मोक्षफल और मोक्षमार्गके कथनकी मुख्यतासे दूसरा महा अधिकार आरंभ करते हैं । उसमें भी
पहले दस दोहोंतक मोक्षकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं—[श्रीगुरो] हे श्रीगुरु, [मम] मुझे
[मोक्षं] मोक्ष [तथ्यं मोक्षस्य कारणं] सत्यार्थ मोक्षका कारण [अन्यत्] और [मोक्षस्य
संबन्धि] मोक्षका [फलं] फल [आख्याहि] कृपाकर कहो [येन] जिससे कि मैं [परमार्थं]
परमार्थको [जानामि] जानूँ ॥ भावार्थ—प्रभाकरभट्ट श्रीयोगीन्द्रदेवसे विनती करके मोक्ष, मोक्षका
कारण और मोक्षका फल इन तीनोंको पूछते हैं ॥१॥

अब श्रीगुरु उन्हीं तीनोंको क्रमसे कहते हैं—[योगिन्] हे योगी, तूने [मोक्षोऽपि] मोक्ष और
[मोक्षफलं] मोक्षका फल तथा [मोक्षस्य] मोक्षका [हेतुः] कारण [पृष्टं] पूछा, [तत्] उसको

पुच्छिउ पृष्ठं तया कर्तृभूतेन । पुनरपि कः पृष्ठः । मोक्खहं हेउ मोक्षस्य हेतुः कारणम् । तत्रयं जिणभासिउ जिनभाषितं गिसुणि निश्चयेन शृणु समाकर्णय जेण विद्याणहि भेउ विजानासि भेदं त्रयाणां संबन्धिनमिति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । श्रीयोगीन्द्रदेवाः कथयन्ति हे प्रभाकरभट्ट शुद्धात्मोपलम्भलक्षणं मोक्षं केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपं मोक्षफलं भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं मोक्षमार्गं च क्रमेण प्रतिपादयाम्यहं त्वं शृण्विति ॥ २ ॥

अथ धर्मार्थकाममोक्षाणां मध्ये सुखकारणत्वान्मोक्ष एवोत्तम इति अभिप्रायं मनसि संप्रधाय सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

धम्महं अत्थहं कामहं वि एयहं सयलहं मोक्खु ।

उत्तमु पभणहिं णाणि जिय अण्णे जेण ण सोक्खु ॥ ३ ॥

धर्मस्य अर्थस्य कामस्यापि एतेषां सकलानां मोक्षम् ।

उत्तमं प्रभणन्ति ज्ञानिनः जीव अन्येन येन न सौख्यम् ॥ ३ ॥

धम्महं इत्यादि । धम्महं धर्मस्य धर्माद्वा अत्थहं अर्थस्य अर्थाद्वा कामहं वि कामस्यापि कामाद्वा एयहं सयलहं एतेषां सकलानां संबन्धित्वेन एतेभ्यो वा सकाशात् मोक्खु मोक्षं उत्तमु पभणहिं उत्तमं विशिष्टं प्रभणन्ति । के कथयन्ति । णाणि ज्ञानिनः । जिय हे जीव । कस्मादुत्तमं प्रभणन्ति मोक्षम् । अण्णहं अन्येन धर्मार्थकामादिना जेण येन कारणेन ण सोक्खु नास्ति परमसुखम् इति । तद्यथा—धर्मशब्देनात्र पुण्यं कथ्यते अर्थशब्देन तु पुण्यफलभूतार्थो राज्यादिविभूतिविशेषः, कामशब्देन तु तस्यैव राज्यस्य मुख्यफलभूतः स्त्रीवस्त्रगन्ध-

[जिनभाषितं] जिनेश्वरदेवके कहे अनुसार [त्वं] तू [निशृणु] निश्चयकर सुन, [येन] जिससे कि [भेदं] भेद [विजानासि] अच्छी तरह जान जावे ॥ भावार्थ—श्रीयोगीन्द्रदेव गुरु शिष्यसे कहते हैं कि हे प्रभाकरभट्ट, योगी शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष, केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयका प्रगटपना स्वरूप मोक्षफल, और निश्चय व्यवहाररत्नत्रयरूप मोक्षका मार्ग, इन तीनोंको क्रमसे जिनआज्ञाप्रमाण तुझको कहूँगा । उनको तू अच्छी तरह चित्तमें धारण कर, जिससे सब भेद मालूम हो जावेगा ॥२॥

अब धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारोंमेंसे सुखका मूलकारण मोक्ष ही सबसे उत्तम है, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर इस गाथा-सूत्रको कहते हैं—[जीव] हे जीव, [धर्मस्य] धर्म [अर्थस्य] अर्थ [कामस्य अपि] और काम [एतेषां सकलानां] इन सब पुरुषार्थोंमेंसे [मोक्षं उत्तमं] मोक्षको उत्तम [ज्ञानिनः] ज्ञानी पुरुष [प्रभणन्ति] कहते हैं, [येन] क्योंकि [अन्येन] अन्य धर्म अर्थ कामादि पदार्थोंमें [सुखं] परमसुख [न] नहीं है ॥ भावार्थ—धर्म शब्दसे यहाँ पुण्य समझना, अर्थ शब्दसे पुण्यका फल राज्य वगैरह संपदा जानना, और काम शब्दसे उस राज्यका मुख्यफल स्त्री कपडे सुगंधितमाला आदि वस्तुरूप भोग जानना । इन तीनोंसे परमसुख नहीं हैं, क्लेशरूप दुःख ही है इसलिये इन सबसे उत्तम मोक्षको ही वीतरागसर्वज्ञदेव कहते हैं, क्योंकि मोक्षसे जुदा जो धर्म अर्थ काम हैं, वे आकुलताके उत्पन्न करनेवाले हैं, तथा वीतराग परमानन्दसुखरूप अमृतरसके

माल्यादिसंभोगः एतेभ्यस्त्रिभ्यः सकाशान्मोक्षमुत्तमं कथयन्ति । के ते । वीतरागनिर्विकल्प-
स्वसंवेदनज्ञानिनः । कस्मात् । आकुलत्वोत्पादकेन वीतरागपरमानन्दसुखामृतरसास्वादविपरीतेन
धर्मार्थकामादिना मोक्षादन्येन येन कारणेन सुखं नास्तीति भावार्थः ॥ ३ ॥

अथ धर्मार्थकामेभ्यो यद्युत्तमो न भवति मोक्षस्तर्हि तत्त्रयं मुक्त्वा परलोकशब्दवाच्यं मोक्षं
किमिति जिना गच्छन्तीति प्रकटयन्ति—

जइ जिय उत्तमु होइ णवि एयहँ सयलहँ सोइ ।

तो किं तिण्णि वि परिहरवि जिण वच्चहिँ परलोइ ॥ ४ ॥

यदि जीव उत्तमो भवति नैव एतेभ्यः सकलेभ्यः स एव ।

ततः किं त्रीण्यपि परिहृत्य जिनाः व्रजन्ति परलोके ॥ ४ ॥

जइ इत्यादि । जइ यदि चेत् जिय हे जीव उत्तमो होइ णवि उत्तमो भवति नैव ।
केभ्यः । एयहँ सयलहँ एतेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यो धर्मादिभ्यः । कतिसंख्योपेतेभ्यः । सकलेभ्यः
सो वि स एव पूर्वोक्तो मोक्षः तो ततः कारणात् किं किमर्थं तिण्णि वि परिहरवि त्रीण्यपि
परिहृत्य त्यक्त्वा जिण जिनाः कर्तारः वच्चहिँ व्रजन्ति गच्छन्ति । कुत्र गच्छन्ति । परलोइ
परलोकशब्दवाच्ये परमात्मध्याने न तु कायमोक्षे चेति । तथाहि—परलोकशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थः
कथ्यते । परः उत्कृष्टो मिथ्यात्वरगादिरहितः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितः परमात्मा परशब्दे-
नोच्यते तस्यैवगुणविशिष्टस्य परमात्मनो लोको लोकनमवलोकनं वीतरागपरमानन्दसमरसी-
भावानुभवनं लोक इति परलोकशब्दस्यार्थः । अथवा पूर्वोक्तलक्षणः परमात्मा परशब्देनोच्यते ।
निश्चयेन परमशिवशब्दवाच्यो मुक्तात्मा शिव इत्युच्यते तस्य लोकः शिवलोक इति । अथवा
परमब्रह्मशब्दवाच्यो मुक्तात्मा परमब्रह्म इति तस्य लोको ब्रह्मलोक इति । अथवा परमविष्णु-
शब्दवाच्यो मुक्तात्मा विष्णुरिति तस्य लोको विष्णुलोक इति परलोकशब्देन मोक्षो भण्यते
आस्वादसे विपरीत हैं, इसलिये सुखके करनेवाले नहीं हैं, ऐसा जानना ॥३॥

आगे धर्म अर्थ काम इन तीनोंसे यदि मोक्ष उत्तम नहीं होता तो इन तीनोंको छोड़कर
जिनेश्वरदेव मोक्षको क्यों जाते ? ऐसा दिखाते हैं—[जीव] हे जीव, [यदि] यदि [एतेभ्यः सकलेभ्यः]
इन सबोंसे [सः] मोक्ष [उत्तमः] उत्तम [एव] ही [नैव] नहीं [भवति] होता [ततः] तो
[जिनाः] श्रीजिनवरदेव [त्रीण्यपि] धर्म अर्थ काम इन तीनोंको [परिहृत्य] छोड़कर [परलोके]
मोक्षमें [किं] क्यों [व्रजन्ति] जाते ? इसलिये जाते हैं कि मोक्ष सबसे उत्कृष्ट है ॥ भावार्थ—पर
अर्थात् उत्कृष्ट मिथ्यात्व रागादि रहित केवलज्ञानादि अनन्त गुण सहित परमात्मा वह पर है, उस
परमात्माका लोक अर्थात् अवलोकन वीतराग परमानन्द समरसीभावका अनुभव वह परलोक कहा
जाता है, अथवा परमात्माको परमशिव कहते हैं, उसका जो अवलोकन वह शिवलोक है, अथवा
परमात्माका ही नाम परमब्रह्म है, उसका लोक वह ब्रह्मलोक है, अथवा उसीका नाम परमविष्णु है,
उसका लोक अर्थात् स्थान वह विष्णुलोक है, ये सब मोक्षके नाम हैं, यानि जितने परमात्माके नाम

परश्चासौ लोकश्च परलोक इति । परलोकशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थो ज्ञातव्यः न चान्यः कोऽपि परकल्पितः शिवलोकादिरस्तीति । अत्र स एव परलोकशब्दवाच्यः परमात्मोपादेय इति तात्पर्यम् ॥ ४ ॥

अथ तमेव मोक्षं सुखदायकं दृष्टान्तद्वारेण द्रवयति—

उत्तमु सुखं ण देइ जइ उत्तमु सुखं ण होइ ।

तो किं इच्छहि* बंधणहि* बद्धा पसुय वि सोइ ॥ ५ ॥

उत्तमं सुखं न ददाति यदि उत्तमो मोक्षो न भवति ।

ततः किं इच्छन्ति बन्धनैः बद्धा पशवोऽपि तमेव ॥ ५ ॥

उत्तमु इत्यादि । उत्तमु उत्तमं सुखं सुखं ण देइ जइ न ददाति यदि चेत् उत्तमु सुखं ण होइ उत्तमो मोक्षो न भवति तो तस्मात्कारणात् किं किमर्थं इच्छहिं इच्छन्ति बंधणहिं बन्धनैः बद्धा निबद्धाः । पसुय वि पशवोऽपि । किमिच्छन्ति । सोइ तमेव मोक्षमिति । अयमत्र भावार्थः । सुखकारणत्वाद्धेतोः बन्धनबद्धाः पशवोऽपि मोक्षमिच्छन्ति तेन कारणेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाविनाभूतस्योपादेयरूपस्यानन्तसुखस्य कारणत्वादिति ज्ञानिनो विशेषेण मोक्षमिच्छन्ति ॥ ५ ॥

अथ यदि तस्य मोक्षस्याधिकगुणगणो न भवति तर्हि लोको निजमस्तकस्योपरि तं किमर्थं धरतीति निरूपयति—

अणु जइ जगहँ वि अहिययरु गुण-गणु तासु ण होइ ।

तो तइलोउ वि किं धरइ णिय-सिर-उप्परि सोइ ॥ ६ ॥

हैं, उनके आगे लोक लगानेसे मोक्षके नाम हो जाते हैं, दूसरा कोई कल्पना किया हुआ शिवलोक, ब्रह्मलोक या विष्णुलोक नहीं है । यहाँ पर सारांश यह हुआ कि परलोकके नामसे कहा गया परमात्मा ही उपादेय है, ध्यान करने योग्य है, अन्य कोई नहीं ॥४॥

आगे मोक्ष अनंत सुखका देनेवाला है, इसको दृष्टान्तके द्वारा दृढ करते हैं—[यदि] यदि [मोक्षः] मोक्ष [उत्तमं सुखं] उत्तम सुखको [न ददाति] न देवे तो [उत्तमः] उत्तम [न भवति] नहीं होवे और यदि मोक्ष उत्तम ही न होवे [ततः] तो [बंधनैः बद्धाः] बंधनोंसे बंधे [पश्वोऽपि] पशु भी [तमेव] उस मोक्षकी ही [किं इच्छन्ति] क्यों इच्छा करें ? ॥ भावार्थ—बंधनेके समान कोई दुःख नहीं है, और छूटनेके समान कोई सुख नहीं है, बंधनसे बंधे जानवर भी छूटना चाहते हैं, और जब वे छूटते हैं, तब सुखी होते हैं । इस सामान्य बंधनके अभावसे ही पशु सुखी होते हैं, तो कर्म-बंधनके अभावसे ज्ञानीजन परमसुखी होंगे, इसमें अचम्भा क्या है ? इसलिये केवलज्ञानादि अनंत गुणसे तन्मयी अनन्त सुखका कारण मोक्ष ही आदरने योग्य है, इस कारण ज्ञानी पुरुष विशेषतासे मोक्षको ही इच्छते हैं ॥५॥

आगे बतलाते हैं—यदि मोक्षमें अधिक गुणोंका समूह नहीं होता, तो मोक्षको तीन लोक अपने मस्तकपर क्यों रखता ? [अन्यद्] फिर [यदि] यदि [जगतः अपि] सब लोकसे भी [अधिकतरः]

अन्यद् यदि जगतोऽपि अधिकतरः गुणगणः तस्य न भवति ।

ततः त्रिलोकोऽपि किं धरति निजशिर उपरि तमेव ॥ ६ ॥

अणु इत्यादि । अणु पुनः जड़ यदि चेत् जगद् वि जगतोऽपि सकाशात् अहिययरु अतिशयेनाधिकः अधिकतरः । कोऽसौ । गुणगणु गुणगणः तासु तस्य मोक्षस्य ण होइ न भवति । तो ततः कारणात् तइलोउ वि त्रिलोकोऽपि कर्ता । किं धरइ किमर्थं धरति । कस्मिन् । गियसिरउप्परि निजशिरसि उपरि । किं धरइ किं धरति । सोइ तमेव मोक्षमिति । तद्यथा । यदि तस्य मोक्षस्य पूर्वोक्तः सम्यक्त्वादिगुणगणो न भवति तर्हि लोकः कर्ता निज-मस्तकस्योपरि तत्किं धरतीति । अत्रानेन गुणगणस्थापनेन किं कृतं भवति, बुद्धिसुखदुःखेच्छा-द्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराभिधानानां नवानां गुणानामभावं मोक्षं मन्यन्ते ये वृद्धवैशेषिकास्ते

बहुत ज्यादा [गुणगणः] गुणोंका समूह [तस्य] उस मोक्षमें [न भवति] नहीं होता, [ततः] तो [त्रिलोकः अपि] तीनों ही लोक [निजशिरसि] अपने मस्तकके [उपरि] ऊपर [तमेव] उसी मोक्षको [किं धरति] क्यों रखते ? ॥ भावार्थ—मोक्ष लोकके शिखर (अग्रभाग) पर है, सो सब लोकोंसे मोक्षमें बहुत ज्यादा गुण हैं, इसीलिये उसको लोक अपने सिरपर रखता है । कोई किसीको अपने सिरपर रखता है, वह अपनेसे अधिक गुणवाला जानकर ही रखता है । यदि क्षायिक-सम्यक्त्व केवलदर्शनादि अनंत गुण मोक्षमें न होते, तो मोक्ष सबके सिरपर न होता, मोक्षके ऊपर अन्य कोई स्थान नहीं हैं, सबके ऊपर मोक्ष ही है, और मोक्षके आगे अनंत अलोक हैं, वह शून्य है, वहाँ कोई स्थान नहीं है । वह अनंत अलोक भी सिद्धोंके ज्ञानमें भास रहा है । यहाँपर मोक्षमें अनंत गुणोंके स्थापन करनेसे मिथ्यादृष्टियोंका खंडन किया । कोई मिथ्यादृष्टि वैशेषिकादि ऐसा कहते हैं, कि जो बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार इन नव गुणोंके अभावरूप मोक्ष है, उनका निषेध किया, क्योंकि इंद्रियजनित बुद्धिका तो अभाव है, परंतु केवल बुद्धि अर्थात् केवलज्ञानका अभाव नहीं हैं, इंद्रियोंसे उत्पन्न सुखका अभाव है, लेकिन अतीन्द्रिय सुखकी पूर्णता है, दुःख इच्छा द्वेष यत्न इन विभावरूप गुणोंका तो अभाव ही है, केवलरूप परिणमन है, व्यवहार-धर्मका अभाव ही है, और वस्तुका स्वभावरूप धर्म वह ही है, अधर्मका तो अभाव ठीक ही है, और परद्रव्यरूप-संस्कार सर्वथा नहीं है, स्वभाव-संस्कार ही है । जो मूढ़ इन गुणोंका अभाव मानते हैं वे वृथा बकते हैं, मोक्ष तो अनंत गुणरूप है । इस तरह निर्गुणवादियोंका निषेध किया । तथा बौद्धमती जीवके अभावको मोक्ष कहते हैं । वे मोक्ष ऐसा मानते हैं कि जैसे दीपकका निर्वाण (बुझना) उसी तरह जीवका अभाव वही मोक्ष है । ऐसी बौद्धकी श्रद्धाका भी तिरस्कार किया । क्योंकि यदि जीवका ही अभाव हो गया, तो मोक्ष किसको हुआ ? जीवका शुद्ध होना वह मोक्ष हैं, अभाव कहना वृथा है । सांख्यदर्शनवाले ऐसा कहते हैं कि जो एकदम सोनेकी अवस्था है, वही मोक्ष है, जिस जगह न सुख है, न ज्ञान है, ऐसी प्रतीतिका निवारण किया । नैयायिक ऐसा कहते हैं कि जहाँसे मुक्त हुआ वहीपर ही तिष्ठता है, ऊपरको गमन नहीं करता । ऐसे नैयायिकके

निषिद्धाः । ये च प्रदीपनिर्वाणवज्जीवाभावं मोक्षं मन्यन्ते सौगतास्ते च निरस्ताः । यच्चोक्तं सांख्यैः सुप्तावस्थावत् सुखज्ञानरहितो मोक्षस्तदपि निरस्तम् । लोकाग्रे तिष्ठतीति वचनेन तु मण्डिकसंज्ञा नैयायिकमतान्तर्गता यत्रैव मुक्तस्तत्रैव तिष्ठतीति वदन्ति तेऽपि निरस्ता इति । जैनमते पुनरिन्द्रियजनितज्ञानसुखस्याभावे न चातीन्द्रियज्ञानसुखस्येति कर्मजनितेन्द्रियादिदश-प्राणसहितस्याशुद्धजीवस्याभावेन न पुनः शुद्धजीवस्येति भावार्थः ॥ ६ ॥

अथोत्तमं सुखं न ददाति यदि मोक्षस्तर्हि सिद्धाः कथं निरन्तरं सेवन्ते तमिति कथयति—

उत्तमु सुखखु ण देइ जइ उत्तमु सुखखु ण होइ ।

तो किं सयलु बि कालु जिय सिद्ध बि सेवहि सोइ ॥ ७ ॥

उत्तमं सुखं न ददाति यदि उत्तमः मोक्षो न भवति ।

ततः किं सकलमपि कालं जीव सिद्धा अपि सेवन्ते तमेव ॥ ७ ॥

उत्तमु इत्यादि । उत्तमु सुखखु उत्तमं सुखं ण देइ न ददाति जइ यदि चेत् । उत्तमु उत्तमो सुखखु मोक्षः ण होइ न भवति । तो ततः कारणात्, किं किमर्थं, सयलु बि कालु सकलमपि कालम् । जिय हे जीव । सिद्ध बि सिद्धा अपि सेवहि सेवन्ते सोइ तमेव कथनका “लोक-शिखरपर तिष्ठता है”, इस वचनसे निषेध किया । जहाँ बंधनसे छूटता है, वहाँ वह नहीं रहता, यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, जैसे कैदी कैदसे जब छूटता है, तब बंदीगृहसे छूटकर अपने घरकी तरफ गमन करता है, वह निजघर निर्वाण ही है । जैन-मार्गमें तो इंद्रियजनितज्ञान जो कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय हैं, उनका अभाव माना है, और अतीन्द्रियरूप जो केवलज्ञान है, वह वस्तुका स्वभाव है, उसका अभाव आत्मामें नहीं हो सकता । स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द इन पाँच इंद्रिय विषयोंकर उत्पन्न हुए सुखका तो अभाव ही है, लेकिन अतीन्द्रिय सुख जो निराकुल परमानंद है, उसका अभाव नहीं है । कर्मजनित जो इंद्रियादि दस प्राण अर्थात् पाँच इंद्रियाँ, मन, वचन, काय, आयु, श्वासोच्छ्वास इन दस प्राणोंका भी अभाव है, ज्ञानादि निज प्राणोंका अभाव नहीं है । जीवकी अशुद्धताका अभाव है, शुद्धपनेका अभाव नहीं यह निश्चयसे जानना ॥६॥

आगे कहते हैं कि यदि मोक्ष उत्तम सुख नहीं दे, तो सिद्ध उसे निरंतर क्यों सेवन करें ? [यदि] यदि [उत्तमं सुखं] उत्तम अविनाशी सुखको [न ददाति] नहीं देवे, तो [मोक्षः उत्तमः] मोक्ष उत्तम भी [न भवति] नहीं हो सकता; उत्तम सुख देता है, इसीलिये मोक्ष सबसे उत्तम है । यदि मोक्षमें परमानंद नहीं होता [ततः] तो [जीव] हे जीव [सिद्धा अपि] सिद्धपरमेष्ठी भी [सकलमपि कालं] सदा काल [तमेव] उसी मोक्षको [किं सेवते] क्यों सेवन करते ? कभी भी न सेवते ॥ भावार्थ—वह मोक्ष अखंड सुख देता है, इसीलिये उसे सिद्ध महाराज सेवते हैं, मोक्ष परम आह्लादरूप है, अविनश्वर है, मन और इंद्रियोंसे रहित है, इसीलिये उसे सदाकाल सिद्ध सेवते हैं, केवलज्ञानादि गुण सहित सिद्धभगवान् निरंतर निर्वाणमें ही निवास करते हैं, ऐसा निश्चित है ।

मोक्षमिति । तथाहि । यद्यतीन्द्रियपरमाह्लादरूपमविनश्वरं सुखं न ददाति मोक्षस्तर्हि कथमुत्तमो भवति उत्तमत्वाभावे च केवलज्ञानादिगुणसहिताः सिद्धा भगवन्तः किमर्थं निरन्तरं सेवन्ते च चेत् । तस्मादेव ज्ञायते तत्सुखमुत्तमं ददातीति । उक्तं च सिद्धसुखम्—“आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्बीतबाधं विशालं, वृद्धिहासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावम् । अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपमममितं शाश्वतं सर्वकालमुत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ॥ ” । अत्रेदमेव निरन्तरमभिलषणीयमिति भावार्थः ॥ ७ ॥

अथ सर्वेषां परमपुरुषाणां मोक्ष एव ध्येय इति प्रतिपादयति—

हरि-हर-बंभु वि जिणवर वि मुणि-वर-विंद वि भव्व ।

परम-णिरंजणि मणु धरिवि मुक्खु जि ज्ञायहि सव्व ॥ ८ ॥

हरिहरब्रह्माणोऽपि जिनवरा अपि मुनिवरवृन्दान्यपि भव्याः ।

परमनिरञ्जने मनः धृत्वा मोक्ष एव ध्यायन्ति सर्वे ॥ ८ ॥

हरिहर इत्यादि । हरिहरबंभु वि हरिहरब्रह्माणोऽपि जिणवर वि जिनवरा अपि मुणिवरविंद वि मुनिवरवृन्दान्यपि भव्व शेषभव्या अपि । एते सर्वे किं कुर्वन्ति । परम-णिरंजणि परमनिरञ्जनाभिधाने निजपरमात्मस्वरूपे । मणु मनः धरिवि विषयकषायेषु गच्छत् सद् व्यावृत्त्य धृत्वा पश्चात् मुक्खु जि मोक्षमेव ज्ञायहि ध्यायन्ति सव्व सर्वेऽपि इति । तथा । हरिहरादयः सर्वेऽपि प्रसिद्धपुरुषाः ख्यातिपूजालाभादिसमस्तविकल्पजालेन शून्ये, सिद्धोका सुख दूसरी जगह भी ऐसा कहा है “आत्मोपादान” इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है कि इस अध्यात्मज्ञानसे सिद्धोंके जो परमसुख हुआ है, वह कैसा है कि अपनी अपनी जो उपादान-शक्ति उसीसे उत्पन्न हुआ है, परकी सहायतासे नहीं है, स्वयं (आप ही) अतिशयरूप है, सब बाधाओंसे रहित है, निराबाध है, विस्तीर्ण है, घटती-बढतीसे रहित है, विषय-विकारसे रहित है, भेदभावसे रहित है, निर्द्वन्द्व है, जहाँपर वस्तुकी अपेक्षा ही नहीं है, अनुपम है, अनंत है, अपार है, जिसका प्रमाण नहीं, सदा काल शाश्वत है, महा उत्कृष्ट है, अनंत सारता लिये हुए है । ऐसा परमसुख सिद्धोंके है, अन्यके नहीं है । यहाँ तात्पर्य यह है कि हमेशा मोक्षका ही सुख अभिलाषा करने योग्य है, और संसार-पर्याय सब हेय है ॥७॥

आगे सभी महान पुरुषोंके मोक्ष ही ध्यावने योग्य है ऐसा कहते हैं—[हरिहरब्रह्माणोऽपि] नारायण वा इन्द्र रुद्र अन्य ज्ञानी पुरुष [जिनवरा अपि] श्रीतीर्थकर परमदेव [मुनिवरवृन्दान्यपि] मुनीश्वरोंके समूह तथा [भव्याः] अन्य भी भव्यजीव [परमनिरंजने] परम निरंजनमें [मनः धृत्वा] मन रखकर [सर्वे] सब ही [मोक्षं] मोक्षको [एव] ही [ध्यायन्ति] ध्यावते हैं । यह मन विषयकषायोंमें जो जाता है, उसको पीछे लौटाकर अपने स्वरूपमें स्थिर अर्थात् निर्वाणका साधनेवाला करते हैं ॥ भावार्थ—श्री तीर्थकरदेव तथा चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, महादेव इत्यादि सब प्रसिद्ध पुरुष अपने शुद्ध ज्ञान अखंड स्वभाव जो निज आत्मद्रव्य उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप

शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नवीतरागसहजानन्दैकसुखरसानुभवेन पूर्णकलशवत् भरितावस्थे निरञ्जनशब्दाभिधेयपरमात्मध्याने स्थित्वा मोक्षमेव ध्यायन्ति । अयमत्र भावार्थः । यद्यपि व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां वीतरागसर्वज्ञस्वरूपं तत्प्रतिबिम्बानि तन्मन्त्राक्षराणि तदाराधकपुरुषाश्च ध्येया भवन्ति तथापि वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिकाले निजशुद्धात्मैव ध्येय इति ॥ ८ ॥

अथ भुवनत्रयेऽपि मोक्षं मुक्त्वा अन्यत्परमसुखकारणं नास्तीति निश्चिनोति—

तिहुयणि जीवहँ अत्थि णवि सोक्खहँ कारणु कोइ ।

मुक्खु मुएविणु एक्कु पर तेणवि चिंतहि सोइ ॥ ९ ॥

त्रिभुवने जीवानां अस्ति नैव सुखस्य कारणं किमपि ।

मोक्षं मुक्त्वा एकं परं तेनैव चिन्तय तमेव ॥ ९ ॥

तिहुयणि इत्यादि । तिहुयणि त्रिभुवने जीवहं जीवानां अत्थि णवि अस्ति नैव । किं नास्ति । सोक्खहं कारणं सुखस्य कारणम् । कोइ किमपि वस्तु । किं कृत्वा । मुक्खु मुएविणु एक्कु मोक्षं मुक्त्वैकं परं नियमेन तेणवि तेनैव कारणेन चिंतहि चिन्तय सोइ तमेव मोक्षमिति । तथाहि । त्रिभुवनेऽपि मोक्षं मुक्त्वा निरन्तरातिशयसुखकारणमन्यत्पञ्चेन्द्रिय-

जो अभेदरत्नत्रयमय समाधिकर उत्पन्न वीतराग सहजानन्द अतीन्द्रियसुखरस उसके अनुभवसे पूर्ण कलशकी तरह भरे हुए निरंतर निराकार निजस्वरूप परमात्माके ध्यानमें स्थिर होकर मुक्त होते हैं । कैसा वह ध्यान है, कि ख्याति (प्रसिद्धि) पूजा (अपनी महिमा) और धनादिकका लाभ इत्यादि समस्त विकल्प-जालोंसे रहित है । यहाँ केवल आत्मध्यानको ही मोक्षमार्ग बतलाया है, और अपना स्वरूप ही ध्यावने योग्य है । तात्पर्य यह है कि यद्यपि व्यवहारनयकर प्रथम अवस्थामें वीतरागसर्वज्ञका स्वरूप अथवा वीतरागके नाममंत्रके अक्षर अथवा वीतरागके सेवक महामुनि ध्यावने योग्य हैं, तो भी वीतराग निर्विकल्प तीन गुप्तिरूप परमसमाधिके समय अपना शुद्ध आत्मा ही ध्यान करने योग्य है, अन्य कोई भी दूसरा पदार्थ पूर्ण अवस्थामें ध्यावने योग्य नहीं है ॥८॥

अब तीन लोकमें मोक्षके सिवाय अन्य कोई भी परमसुखका कारण नहीं है, ऐसा निश्चय करते हैं—[त्रिभुवने] तीन लोकमें [जीवानां] जीवोंको [मोक्षं मुक्त्वा] मोक्षके सिवाय [किमपि] कोई भी वस्तु [सुखस्य कारणं] सुखका कारण [नैव] नहीं [अस्ति] है, एक सुखका कारण मोक्ष ही है [तेन] इस कारण तू [परं एकं तं एव] नियमसे एक मोक्षका ही [विचिंतय] चिंतन कर जिसे कि महामुनि भी चिंतन करते हैं ॥ भावार्थ—श्रीयोगीन्द्राचार्य प्रभाकरभट्टसे कहते हैं कि वत्स; मोक्षके सिवाय अन्य सुखका कारण नहीं है, और आत्म-ध्यानके सिवाय अन्य मोक्षका कारण नहीं है, इसलिये तू वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें ठहरकर निज शुद्धात्मस्वभावको ही ध्याव । यह श्रीगुरुने आज्ञा की । तब प्रभाकरभट्टने विनती की कि हे भगवन्; तुमने निरंतर अतीन्द्रिय

विषयानुभवरूपं किमपि नास्ति तेन कारणेन हे प्रभाकरभट्ट वीतरागनिर्विकल्पपरमसामायिके स्थित्वा निजशुद्धात्मस्वभावं ध्याय तमिति । अत्राह प्रभाकरभट्टः हे भगवन्नतीन्द्रियमोक्षसुखं निरन्तरं वर्ण्यते भवद्विस्तम्ब न ज्ञायते जनैः । भगवानाह हे प्रभाकरभट्ट कोऽपि पुरुषो निर्व्याकुलचित्तः प्रस्तावे पञ्चेन्द्रियभोगसेवारहितस्तिष्ठति स केनापि देवदत्तेन पृष्टः सुखेन स्थितो भवान् । तेनोक्तं सुखमस्तीति तत्सुखमात्मोत्थम् । कस्मादिति चेत् । तत्काले स्त्रीसेवादिस्पर्शविषयो नास्ति भोजनादिजिह्वेन्द्रियविषयो नास्ति विशिष्टरूपगन्धमाल्यादिघ्राणेन्द्रियविषयो नास्ति दिव्यस्त्रीरूपावलोकनादिलोचनविषयो नास्ति श्रवणरमणीयगीतवाद्यादिशब्दविषयोऽपि नास्तीति तस्मात् ज्ञायते तत्सुखमात्मोत्थमिति । किं च । एकदेशविषयव्यापाररहितानां तदेकदेशेनात्मोत्थसुखमुपलभ्यते वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानरतानां पुनर्निरवशेषपञ्चेन्द्रियविषयमानसविकल्पजालनिरोधे सति विशेषेणोपलभ्यते । इदं तावत् स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्यं सिद्धात्मनां च सुखं पुनरनुमानगम्यम् । तथाहि । मुक्तात्मनां शरीरेन्द्रियव्यापाराभावेऽपि सुखमस्तीति साध्यम् । कस्माद्धेतोः इदानीं पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थानां परमयोगिनां पञ्चेन्द्रियविषय-

मोक्षसुखका वर्णन किया है, सो ये जगतके प्राणी अतीन्द्रिय सुखको जानते ही नहीं हैं, इन्द्रिय सुखको ही सुख मानते हैं । तब गुरुने कहा कि हे प्रभाकरभट्ट, कोई एक पुरुष जिसका चित्त व्याकुलता रहित है, और पंचेन्द्रियके भोगोंसे रहित अकेला स्थित है, उस समय किसी पुरुषने पूछा कि तुम सुखी हो ? तब उसने कहा कि सुखसे तिष्ठ रहे हैं, उस समयपर विषय-सेवनादि सुख तो है ही नहीं, उसने यह क्यों कहा कि हम सुखी हैं ? इसलिए यह मालूम होता है कि सुख नाम व्याकुलता रहितका है, सुखका मूल निर्व्याकुलपना है, वह निर्व्याकुल अवस्था आत्मामें ही है, विषय-सेवनमें नहीं । भोजनादि जिह्वा इन्द्रियका विषय भी उस समय नहीं है, स्त्रीसेवनादि स्पर्शका विषय नहीं है, और गंधमाल्यादिक नाकका विषय भी नहीं है, दिव्य स्त्रियोंका रूप अवलोकनादि नेत्रका विषय भी नहीं, और कानोंका मनोज्ञ गीत वादित्रादि शब्द विषय भी नहीं हैं, इसलिये जानते हैं कि सुख आत्मामें ही है । ऐसा तू निश्चय कर, कि जो एकोदेश विषय-व्यापारसे रहित हैं, उनके एकोदेश धिरताका सुख है, तो वीतराग निर्विकल्पस्वसंवेदन ज्ञानियोंके समस्त पंच इन्द्रियोंके विषय और मनके विकल्प-जालोंकी रुकावट होनेपर विशेषतासे निर्व्याकुल सुख उपजता है । इसलिये ये दो बातें तो प्रत्यक्ष ही दीख पड़ती हैं । जो पुरुष नीरोग और चिन्ता रहित हैं, उनके विषय-सामग्रीके विना ही सुख भासता है, और जो महामुनि शुद्धोपयोग अवस्थामें ध्यानारूढ हैं, उनके निर्व्याकुलता प्रगट ही दीख रही है, वे इन्द्रादिक देवोंसे भी अधिक सुखी हैं । इस कारण जब संसार अवस्थामें ही सुखका मूल निर्व्याकुलता दीखती है, तो सिद्धोंके सुखकी बात ही क्या है ? यद्यपि वे सिद्ध दृष्टिगोचर नहीं हैं, तो भी अनुमान कर ऐसा जाना जाता है, कि सिद्धोंके भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म नहीं, तथा विषयोंकी प्रवृत्ति नहीं है, कोई भी विकल्प-जाल नहीं है, केवल अतीन्द्रिय आत्मिक-सुख ही है, वही सुख उपादेय है, अन्य सुख सब दुःखरूप ही हैं । जो

व्यापाराभावेऽपि स्वात्मोत्थवीतरागपरमानन्दसुखोपलब्धिरिति । अत्रेत्थंभूतं सुखमेवोपादेय-
मिति भावार्थः । तथागमे चोक्तमात्मोत्थमतीन्द्रियसुखम्—“अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं
अणोवममणंतं । अब्बुच्छिणं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥ ” ॥ ९ ॥

अथ यस्मिन् मोक्षे पूर्वोक्तमतीन्द्रियसुखमस्ति तस्य मोक्षस्य स्वरूपं कथयति—

जीवहं सो पर मोक्खु मुणि जो परमप्पय-लाहु ।

कम्म-कलंक-विमुक्काहं णाणिय बोल्लहिं साहु ॥ १० ॥

जीवानां तं परं मोक्षं मन्यस्व यः परमात्मलाभः ।

कर्मकलङ्कविमुक्तानां ज्ञानिनः ब्रुवन्ति साधवः ॥ १० ॥

जीवहं इत्यादि । जीवहं जीवानां सो तं परं मोक्खु मोक्षं मुणि मन्यस्व जानीहि हे
प्रभाकरभट्ट । तं कम् । जो परमप्पयलाहु यः परमात्मलाभः । इत्थंभूतो मोक्षः केषां भवति ।
कम्मकलंकविमुक्काहं ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मकलङ्कविमुक्तानाम् । इत्थंभूतं मोक्षं के ब्रुवन्ति ।
णाणिय बोल्लहिं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो ब्रुवन्ति । ते के । साहु साधवः इति । तथाहि ।
केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारभूतस्य हि परमात्मलाभो मोक्षो भवतीति । स
च केषाम् । पुत्रकलत्रममत्वस्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्परहितध्यानेन भावकर्मद्रव्यकर्मकलङ्करहितानां
भव्यानां भवतीति ज्ञानिनः कथयन्ति । अत्रायमेव मोक्षः पूर्वोक्तस्यानन्तसुखस्योपादेयभूतस्य
कारणत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥ १० ॥ एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहा-

चारों गतियोंकी पर्यायें हैं, उनमें कदापि सुख नहीं है । सुख तो सिद्धोंके है, या महामुनीश्वरोंके
सुखका लेशमात्र देखा जाता है, दूसरेके जगतकी विषय-वासनाओंमें सुख नहीं है । ऐसा ही कथन
श्रीप्रवचनसारमें किया है—‘अइसय’ इत्यादि । सारांश यह है, कि जो शुद्धोपयोगकर प्रसिद्ध ऐसे
श्रीसिद्धपरमेष्ठी हैं, उनके अतीन्द्रिय सुख है, वह सर्वोत्कृष्ट है, और आत्मजनित है, तथा विषय-
वासनासे रहित है, अनुपम है, जिसके समान सुख तीन लोकमें भी नहीं है, जिसका पार नहीं ऐसा
बाधारहित सुख सिद्धोंके है ॥९॥

आगे जिस मोक्षमें ऐसा अतीन्द्रियसुख है, उस मोक्षका स्वरूप कहते हैं—हे प्रभाकरभट्ट, जो
[कर्मकलंकविमुक्तानां जीवानां] कर्मरूपी कलंकसे रहित जीवोंको [यः परमात्मलाभः] जो
परमात्माकी प्राप्ति है [तं परं] उसीको नियमसे तू [मोक्षं मन्यस्व] मोक्ष जान, ऐसा [ज्ञानिनः
साधवः] ज्ञानवान् मुनिराज [ब्रुवन्ति] कहते हैं, रत्नत्रयके योगसे मोक्षका साधन करते हैं, इससे
उनका नाम साधु है ॥ भावार्थ—केवलज्ञानादि अनन्तगुण प्रगटरूप जो कार्यसमयसार अर्थात् शुद्ध
परमात्माका लाभ वह मोक्ष है, यह मोक्ष भव्यजीवोंके ही होता है । भव्य कैसे हैं कि पुत्र कलत्रादि
परवस्तुओंके ममत्वको आदि लेकर सब विकल्पोंसे रहित जो आत्मध्यान उससे जिन्होंने भावकर्म
और द्रव्यकर्मरूपी कलंक क्षय किये हैं, ऐसे जीवोंके निर्वाण होता है, ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं ।
यहाँ पर अनन्त सुखका कारण होनेसे मोक्ष ही उपादेय है ॥१०॥

धिकारमध्ये सूत्रदशकेन मोक्षस्वरूपनिरूपणस्थलं समाप्तम् ।

अथ तस्यैव मोक्षस्यानन्तचतुष्टयस्वरूपं फलं दर्शयति—

दंसणु णाणु अणंत-सुखु समउ ण तुट्ठ जासु ।

सो पर सासउ मोक्ख-फलु बिज्जउ अत्थि ण तासु ॥ ११ ॥

दर्शनं ज्ञानं अनन्तसुखं समयं न व्रुट्थति यस्य ।

तत् परं शाश्वतं मोक्षफलं द्वितीयं अस्ति न तस्य ॥ ११ ॥

दंसणु इत्यादि । दंसणु केवलदर्शनं णाणु केवलज्ञानं अणंतसुखं अनन्तसुखम् एतदुपलक्षणमनन्तवीर्याद्यनन्तगुणाः समउ ण तुट्ठ एतद्गुणकदम्बकमेकसमयमपि यावच्च व्रुट्थति न नश्यति जासु यस्य मोक्षपर्यायस्याभेदेन तदाधारजीवस्य वा सो पर तदेव केवलज्ञानादिस्वरूपं सासउ मोक्खफलु शाश्वतं मोक्षफलं भवति । बिज्जउ अत्थि ण तासु तस्यानन्तज्ञानादिमोक्षफलस्यान्यद् द्वितीयमधिकं किमपि नास्तीति । अयमत्र भावार्थः । अनन्तज्ञानादिमोक्षफलं ज्ञात्वा समस्तरागादित्यागेन तदर्थमेव निरन्तरं शुद्धात्मभावना कर्तव्येति ॥ ११ ॥ एवं द्वितीयमहाधिकारे मोक्षफलकथनरूपेण स्वतन्त्रसूत्रमेकं गतम् ।

अथानन्तरमेकोनविंशतिसूत्रपर्यन्तं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गव्याख्यानस्थलं कथ्यते तद्यथा—

जीवहं मोक्खहं हेउ वरु दंसणु णाणु चरित्तु ।

ते पुणु तिण्णि वि अप्पु मुणि णिच्छएँ एहउ वुत्तु ॥ १२ ॥

जीवानां मोक्षस्य हेतुः वरं दर्शनं ज्ञानं चारित्रम् ।

तानि पुनः त्रीण्यपि आत्मानं मन्यस्व निश्चयेन एवं उक्तम् ॥ १२ ॥

जीवहं इत्यादि । जीवहं जीवानां अथवा एकवचनपक्षे 'जीवहो' जीवस्य मोक्खहं

इस प्रकार मोक्षका फल और मोक्षमार्गका जिसमें कथन है, ऐसे दूसरे महाधिकारके दस दोहोंमें मोक्षका स्वरूप दिखलाया ।

आगे मोक्षका फल अनन्तचतुष्टय है, यह दिखलाते हैं—[यस्य] जिस मोक्षपर्यायके धारक शुद्धात्माके [दर्शनं ज्ञानं अनन्तसुखं] केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन अनन्तचतुष्टयोंको आदि लेकर अनन्त गुणोंका समूह [समयं न व्रुट्थति] एक समयमात्र भी नाश नहीं होता, अर्थात् हमेशा अनन्त गुण पाये जाते हैं [तस्य] उस शुद्धात्माके [तत्] वही [परं] निश्चयसे [शाश्वतं फलं] हमेशा रहनेवाला मोक्षका फल [अस्ति] है, [द्वितीयं न] इसके सिवाय दूसरा मोक्षफल नहीं है, और इससे अधिक दूसरी वस्तु कोई नहीं है ॥ भावार्थ—मोक्षका फल अनन्तज्ञानादि जानकर समस्तरागादिकका त्याग करके उसीके लिये निरन्तर शुद्धात्माकी भावना करनी चाहिये ॥११॥ इस प्रकार दूसरे महाधिकारमें मोक्षफलके कथनकी मुख्यताकर एक दोहा-सूत्र कहा ।

आगे उन्नीस दोहापर्यन्त निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गका व्याख्यान करते हैं—[जीवानां]

हेउ मोक्षस्य हेतुः कारणं व्यवहारनयेन भवतीति क्रियाध्याहारः । कथंभूतम् । वरु वरमुत्कृष्टम् । किं तत् । दंसणु णाणु चरित्तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यम् । ते पुणु तानि पुनः तिणिण चि त्रीण्यपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि अप्पु आत्मानमभेदनयेन मुणि मन्यस्व जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट णिच्छएं निश्चयनयेन एहउ वुत्तु एवमुक्तं भणितं तिष्ठतीति । इदमत्र तात्पर्यम् । भेदरत्नत्रयात्मको व्यवहारमोक्षमार्गः साधको भवति अभेदरत्नत्रयात्मकः पुनर्निश्चय-मोक्षमार्गः साध्यो भवति, एवं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधकभावो ज्ञातव्यः सुवर्ण-सुवर्णपाषाणयत् इति । तथा चोक्तम्—“सम्मदंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे । व्यवहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥” ॥ १२ ॥

अथ निश्चयरत्नत्रयपरिणतो निजशुद्धात्मैव मोक्षमार्गो भवतीति प्रतिपादयति—

पेच्छइ जाणइ अणुचरइ अप्पि अप्पउ जो जि ।

दंसणु णाणु चरित्तु जिउ मोक्खहं कारणु सो जि ॥ १३ ॥

पश्यति जानाति अनुचरति आत्मना आत्मानं य एव ।

दर्शनं ज्ञानं चारित्रं जीवः मोक्षस्य कारणं स एव ॥ १३ ॥

पेच्छइ इत्यादि । पेच्छइ पश्यति जाणइ जानाति अणुचरइ अनुचरति । केन कृत्वा । अप्पइ आत्मना करणभूतेन । कं कर्मतापन्नम् । अप्पउ निजात्मानम् । जो जि य एव कर्ता दंसणु णाणु चरित्तु दर्शनज्ञानचारित्र्यं भवतीति क्रियाध्याहारः । कोऽसौ भवति । जिउ जीवः य एवाभेदनयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यं भवतीति मोक्खहं कारणु निश्चयेन मोक्षस्य जीवोके [मोक्षस्य हेतुः] मोक्षके कारण [वरं] उत्कृष्ट [दर्शनं ज्ञानं चारित्रं] दर्शन ज्ञान और चारित्र हैं [तानि पुनः] फिर वे [त्रीण्यपि] तीनों ही [निश्चयेन] निश्चयकर [आत्मानं] आत्माको ही [मन्यस्व] जाने [एवं] ऐसा [उक्तं] श्री वीतरागदेवने कहा है, ऐसा हे प्रभाकरभट्ट, तू जान ॥ भावार्थ— भेदरत्नत्रयरूप व्यवहार-मोक्षमार्ग साधक हैं, और अभेदरत्नत्रयरूप निश्चय-मोक्षमार्ग साधने योग्य है । इस प्रकार निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गका साध्य-साधकभाव, सुवर्ण सुवर्ण-पाषाणकी तरह जानना । ऐसा ही कथन श्रीद्रव्यसंग्रहमें कहा है—“सम्मदंसण” इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र ये तीनों ही व्यवहारनयकर मोक्षके कारण जानने, और निश्चयसे उन तीनोंमेंयी एक आत्मा ही मोक्षका कारण है ॥१२॥

आगे निश्चयरत्नत्रयरूप परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही मोक्षका मार्ग है, ऐसा कहते हैं—[य एव] जो [आत्मना] अपनेसे [आत्मानं] आपको [पश्यति] देखता है, [जानाति] जानता है, [अनुचरति] आचरण करता है, [स एव] वही विवेकी [दर्शनं ज्ञानं चारित्रं] दर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणत हुआ [जीवः] जीव [मोक्षस्य कारणं] मोक्षका कारण है ॥ भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्माको आपकर निर्विकल्परूप देखता है, अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानकी अपेक्षा चंचलता और मलिनता तथा शिथिलता इनका त्यागकर शुद्धात्मा ही उपादेय है, इस प्रकार

कारणं एक एव सो जि स एव निश्चयरत्नत्रयपरिणतो जीव इति । तथाहि । यः कर्ता निजात्मानं मोक्षस्य कारणभूतेन पश्यति निर्विकल्परूपेणावलोकयति । अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानापेक्षया चलमलिनावगाढपरिहारेण शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपेण निश्चिनोति न केवलं निश्चिनोति वीतरागस्वसंवेदनलक्षणाभेदज्ञानेन जानाति परिच्छिनत्ति । न केवलं परिच्छिनत्ति । अनुचरति रागादिसमस्तविकल्पत्यागेन तत्रैव निजस्वरूपे स्थिरीभवतीति स निश्चयरत्नत्रयपरिणतः पुरुष एव निश्चयमोक्षमार्गो भवतीति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । तत्त्वार्थश्रद्धानरुचिरूपं सम्यग्दर्शनं मोक्षमार्गो भवति नास्ति दोषः, पश्यति निर्विकल्परूपेणावलोकयति इत्येवं यदुक्तं तत्सत्तावलोकदर्शनं कथं मोक्षमार्गो भवति यदि भवति चेत्तर्हि तत्सत्तावलोकदर्शनमभव्यानामपि विद्यते तेषामपि मोक्षो भवति स चागमविरोधः इति । परिहारमाह । तेषां निर्विकल्पसत्तावलोकदर्शनं बहिर्विषये विद्यते न चाभ्यन्तरशुद्धात्मतत्त्वविषये । कस्मादिति चेत् । तेषामभव्यानां मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयाभावात् शुद्धात्मोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनमेव नास्ति चारित्रमोहोदयात् पुनर्वीतरागचारित्ररूपं निर्विकल्पशुद्धात्मसत्तावलोकनमपि न संभवतीति भावार्थः । निश्चयेनाभेदरत्नत्रयपरिणतो निजशुद्धात्मैव मोक्षमार्गो भवतीत्यस्मिन्नर्थे संवादगाथामाह—“रयणत्तयं ण वट्ठइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि । तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥ ” ॥ १३ ॥

रुचिरूप निश्चय करता है, वीतराग स्वसंवेदनलक्षण ज्ञानसे जानता है, और सब रागादिक विकल्पोंके त्यागसे निज स्वरूपमें स्थिर होता है, सो निश्चयरत्नत्रयको परिणत हुआ पुरुष ही मोक्षका मार्ग है । ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया कि हे प्रभो, तत्त्वार्थश्रद्धानरुचिरूप सम्यग्दर्शन वह मोक्षका मार्ग है, इसमें तो दोष नहीं; और तुमने कहा कि जो देखे वह दर्शन, जाने वह ज्ञान, और आचरण करे वह चारित्र है । सो यह देखनेरूप दर्शन कैसे मोक्षका मार्ग हो सकता है ? और यदि कभी देखनेका नाम दर्शन कहो तो देखना अभव्यको भी होता है, उसके मोक्षमार्ग तो नहीं माना है ? यदि अभव्यके मोक्षमार्ग होवे, तो आगमसे विरोध आवे । आगममें तो यह निश्चय है कि अभव्यको मोक्ष नहीं होता । उसका समाधान यह है कि अभव्योंके देखनेरूप जो दर्शन है, वह बाह्यपदार्थोंका है, अंतरंग शुद्धात्मतत्त्वका दर्शन तो अभव्योंके नहीं होता, उसके मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंका उपशम क्षयोपशम क्षय नहीं है, तथा शुद्धात्मा ही उपादेय हैं, ऐसी रुचिरूप सम्यग्दर्शन भी उसके नहीं है, और चारित्रमोहके उदयसे वीतराग चारित्ररूप निर्विकल्प शुद्धात्माका सत्तावलोकन भी उसके कभी नहीं है । तात्पर्य यह है, निश्चयकर अभेदरत्नत्रयको परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही मोक्षका मार्ग है । ऐसी ही द्रव्यसंग्रहमें साक्षीभूत गाथा कही है—“रयणत्तयं” इत्यादि । उसका अर्थ ऐसा है कि रत्नत्रय आत्माको छोड़कर अन्य (दूसरे) द्रव्योंमें नहीं रहता, इसलिये मोक्षका कारण उन तीनमयी निज आत्मा ही है ॥१३॥

अथ भेदरत्नत्रयात्मकं व्यवहारमोक्षमार्गं दर्शयति—

जं बोद्धुं व्यवहारणञ्च दंसणु णाणु चरित्तु ।

तं परिचाणहि जीव तुहं जे परु होहि पवित्र ॥ १४ ॥

यद् ब्रूते व्यवहारनयः दर्शनं ज्ञानं चारित्रम् ।

तत् परिजानीहि जीव त्वं येन परः भवसि पवित्रः ॥ १४ ॥

जं इत्यादि । जं यत् बोद्धुं ब्रूते । कोऽसौ कर्ता । व्यवहारणञ्च व्यवहारनयः । यत् किं ब्रूते । दंसणु णाणु चरित्तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यत्रयं तं पूर्वोक्तं भेदरत्नत्रयस्वरूपं परिचाणहि परि समन्तात् जानीहि । जीव तुहं हे जीव त्वं कर्ता । जे येन भेदरत्नत्रयपरिज्ञानेन परु होहि परः उत्कृष्टो भवसि त्वम् । पुनरपि किंविशिष्टत्वम् । पवित्र पवित्रः सर्वजनपूज्य इति । तद्यथा । हे जीव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यरूपनिश्चयरत्नत्रयलक्षणनिश्चयमोक्षमार्गसाधकं व्यवहारमोक्षमार्गं जानीहि । त्वं येन ज्ञातेन कथंभूतो भविष्यसि । परंपरया पवित्रः परमात्मा भविष्यसि इति । व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं कथ्यते । तद्यथा । वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादिसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताधनुष्ठानरूपो व्यवहारमोक्षमार्गः निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठान-

आगे भेदरत्नत्रयस्वरूप-व्यवहार वह परम्पराय मोक्षका मार्ग है, ऐसा दिखलाने हैं—[जीव] हे जीव, [व्यवहारनयः] व्यवहारनय [यत्] जो [दर्शनं ज्ञानं चारित्रं] दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनोंको [ब्रूते] कहता है, [तत्] उस व्यवहाररत्नत्रयको [त्वं] तू [परिजानीहि] जान, [येन] जिससे कि [परः पवित्रः] उत्कृष्ट अर्थात् पवित्र [भवसि] होवे ॥ भावार्थ—हे जीव, तू तत्त्वार्थका श्रद्धान, शास्त्रका ज्ञान और अशुभ क्रियाओंका त्यागरूप सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र व्यवहारमोक्षमार्गको जान, क्योंकि ये निश्चयरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्गके साधक हैं, इनके जाननेसे किसी समय परम पवित्र परमात्मा हो जायगा । पहले व्यवहाररत्नत्रयकी प्राप्ति हो जावे, तब ही निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति हो सकती हैं, इसमें संदेह नहीं है । जो अनन्त सिद्ध हुए और होवेंगे वे पहले व्यवहाररत्नत्रयको पाकर निश्चयरत्नत्रयरूप हुए । व्यवहार साधन है, और निश्चय साध्य है । व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप कहते हैं—वीतराग सर्वज्ञदेवके कहे हुए छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय, इनका श्रद्धान, इनके स्वरूपका ज्ञान, और शुभ क्रियाका आचरण, यह व्यवहार मोक्षमार्ग है, और निज शुद्ध आत्माका सम्यक् श्रद्धान, स्वरूपका ज्ञान, और स्वरूपका आचरण यह निश्चयमोक्षमार्ग है । साधनके बिना सिद्धि नहीं होती, इसलिये व्यवहारके बिना निश्चयकी प्राप्ति नहीं होती । यह कथन सुनकर शिष्यने प्रश्न किया कि हे प्रभो, निश्चयमोक्षमार्ग जो निश्चयरत्नत्रय वह तो निर्विकल्प है, और व्यवहाररत्नत्रय विकल्प सहित हैं, सो यह विकल्प-दशा निर्विकल्पपनेकी साधन कैसे हो सकती है ? इस कारण उसको साधक मत कहो । अब इसका समाधान करते हैं । जो अनादिकालका यह जीव विषय कषायोंसे मलीन हो रहा है, सो व्यवहार-साधनके बिना उज्ज्वल नहीं हो सकता, जब मिथ्यात्व अव्रत कषायादिकी क्षीणतासे देव गुरु धर्मकी

रूपो निश्चयमार्गः । अथवा साधको व्यवहारमोक्षमार्गः, साध्यो निश्चयमोक्षमार्गः । अत्राह शिष्यः । निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्पः तत्काले सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति । अत्र परिहारमाह । भूतनैगमनयेन परंपरया भवतीति । अथवा सविकल्पनिर्विकल्प-भेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा, तत्रानन्तज्ञानरूपोऽहमित्यादि सविकल्पसाधको भवति, निर्विकल्पसमाधिरूपो साध्यो भवतीति भावार्थः ॥ सविकल्पनिर्विकल्पनिश्चयमोक्षमार्गविषये संवाद-गाथामाह—“जं पुण सगयं तच्चं सवियपं होइ तह य अवियपं । सवियपं सासवयं गिरासवं विगयसंकपं । ” ॥ १४ ॥ एवं पूर्वोक्तैकोनविंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्ष-मार्गप्रतिपादनरूपेण सूत्रत्रयं गतम् । इदानीं चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं व्यवहारमोक्षमार्गप्रथमावयवभूत-व्यवहारसम्यक्त्वं मुख्यवृत्त्या प्रतिपादयति । तद्यथा—

दब्बहँ जाणइ जहठियहँ तह जगि मण्णइ जो जि ।

अप्पहँ केरउ भावडउ अविचलु दंसणु सो जि ॥ १५ ॥

द्रव्याणि जानाति यथास्थितानि तथा जगति मन्यते य एव ।

आत्मनः संबन्धी भावः अविचलः दर्शनं स एव ॥ १५ ॥

श्रद्धा करे, तत्त्वोंका जानपना होवे, अशुभ क्रिया मिट जावे, तब वह अध्यात्मका अधिकारी हो सकता है । जैसे मलिन कपडा धोनेसे रंगने योग्य होता है, बिना धोये रंग नहीं लगता, इसलिये परम्पराय मोक्षका कारण व्यवहाररत्नत्रय कहा है । मोक्षका मार्ग दो प्रकारका है, एक व्यवहार, दूसरा निश्चय । निश्चय तो साक्षात् मोक्षमार्ग है, और व्यवहार परम्पराय है । अथवा सविकल्प निर्विकल्पके भेदसे निश्चयमोक्षमार्ग भी दो प्रकारका है । मैं अनंतज्ञानरूप हूँ, शुद्ध हूँ, एक हूँ, ऐसा ‘सोऽहं’ का चिंतन है, वह तो सविकल्प निश्चय-मोक्षमार्ग है, उसको साधक कहते हैं, और जहाँपर कुछ चिंतन नहीं है, कुछ बोलना नहीं है, और कुछ चेष्टा नहीं है, वह निर्विकल्पसमाधिरूप साध्य है, यह तात्पर्य हुआ । इसी कथनके बारेमें द्रव्यसंग्रहकी साक्षी देते हैं—“मा चिड्ह” इत्यादि । सारांश यह है, कि हे जीव, तू कुछ भी कायकी चेष्टा मत कर, कुछ बोल भी मत, मौनसे रह, और कुछ चिंतन मत कर । सब बातोंको छोड़, आत्मामें आपको लीन कर, यह ही परमध्यान है । श्रीतत्त्वसारमें भी सविकल्प निर्विकल्प निश्चयमोक्षमार्गके कथनमें यह गाथा कही है कि “जं पुण समयं” इत्यादि । इसका सारांश यह है कि जो आत्मतत्त्व है, वह भी सविकल्प निर्विकल्पके भेदसे दो प्रकारका है, जो विकल्प सहित है, वह तो आस्रव सहित है, और जो निर्विकल्प है, वह आस्रव रहित है ॥१४॥ इस तरह पहले महास्थलमें अनेक अंतरस्थलोंमेंसे उन्नीस दोहोंके स्थलमें तीन दोहोंसे निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गका कथन किया ।

आगे चौदह दोहापर्यंत व्यवहारमोक्षमार्गका पहला अंग व्यवहारसम्यक्त्वको मुख्यतासे कहते हैं—[य एव] जो [द्रव्याणि] द्रव्योंको [यथास्थितानि] जैसा उनका स्वरूप है, वैसा [जानाति]

द्वन्द्वं इत्यादि । द्वन्द्वं द्रव्याणि जाणह जानाति । कथंभूतानि । जहठियइं यथास्थितानि वीतरागस्वसंवेदनलक्षणस्य निश्चयसम्यग्ज्ञानस्य परंपरया कारणभूतेन परमागमज्ञानेन परिच्छिनत्तीति । न केवलं परिच्छिनत्ति तह तथैव जगि इह जगति मण्णइ मन्यते निजात्मद्रव्यमेवोपादेयमिति रुचिरूपं यन्निश्चयसम्यक्त्वं तस्य परंपरया कारणभूतेन—“मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् । अष्टौ शङ्कादयश्चेति द्वादोषाः पञ्चविंशतिः ” इति श्लोककथितपञ्चविंशतिसम्यक्त्वमलत्यागेन श्रद्धधातीति । एवं द्रव्याणि जानाति श्रद्धधाति । कोऽसौ । अप्पहं केरउ भावडउ आत्मनः संबन्धिभावः परिणामः । किंविशिष्टो भावः । अविचलु अविचलोऽपि चलमलिनावगाढदोषरहितः दंसणु दर्शनं सम्यक्त्वं भवतीति । क एव । सो जि स एव पूर्वोक्तो जीवभाव इति । अयमत्र भावार्थः । इदमेव सम्यक्त्वं चिन्तामणिरिदमेव कल्पवृक्ष इदमेव कामधेनुरिति मत्वा भोगाकांक्षास्वरूपादिसमस्तविकल्पजालं वर्जनीयमिति । तथा चोक्तम्—

जाने, [तथा] और उसी तरह [जगति] इस जगतमें [मन्यते] निर्दोष श्रद्धान करे, [स एव] वही [आत्मनः संबंधी] आत्माका [अविचलः भावः] चलमलिनावगाढ दोष रहित निश्चल भाव है, [स एव] वही आत्मभाव [दर्शनं] सम्यक्दर्शन है ॥ भावार्थ—यह जगत छह द्रव्यमयी है, सो इन द्रव्योंको अच्छी तरह जानकर श्रद्धान करे, जिसमें संदेह नहीं वह सम्यग्दर्शन है, यह सम्यग्दर्शन आत्माका निज स्वभाव है । वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन निश्चयसम्यग्ज्ञान उसका परम्पराय कारण जो परमागमका ज्ञान उसे अच्छी तरह जानें, और मनमें मानें । यह निश्चय करे कि इन सब द्रव्योंमें निज आत्मद्रव्य ही ध्यावने योग्य है, ऐसा रुचिरूप जो निश्चयसम्यक्त्व है, उसका परम्पराय कारण व्यवहारसम्यक्त्व देव गुरु धर्मकी श्रद्धा उसे स्वीकार करे । व्यवहारसम्यक्त्वके पच्चीस दोष हैं, उनको छोड़े । उन पच्चीसोंको ‘मूढत्रयं’ इत्यादि श्लोकमें कहा है । इसका अर्थ ऐसा है कि जहाँ देव कुदेवका विचार नहीं है, वह तो देवमूढ; जहाँ सुगुरु कुगुरुका विचार नहीं है, वह गुरुमूढ, जहाँ धर्म कुधर्मका विचार नहीं है, वह धर्ममूढ, ये तीन मूढता; और जातिमद, कुलमद, धनमद, रूपमद, तपमद, बलमद, विद्यामद, राजमद ये आठ मद । कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, इनकी और इनके आराधकोंकी जो प्रशंसा वह छह अनायतन और निःशंकितादि आठ अंगोंसे विपरीत शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढता, परदोष-कथन, अधिरकरण, साधर्मियोंसे स्नेह नहीं रखना, और जिनधर्मकी प्रभावना नहीं करना, ये शंकादि आठ मल, इस प्रकार सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष हैं, इन दोषोंको छोड़कर तत्त्वोंकी श्रद्धा करे, वह व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है । जहाँ अस्थिर बुद्धि नहीं है, और परिणामोंकी मलिनता नहीं, और शिथिलता नहीं, वह सम्यक्त्व है । यह सम्यग्दर्शन ही कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामणि है, ऐसा जानकर भोगोंकी वांछारूप जो विकल्प उनको छोड़कर सम्यक्त्वका ग्रहण करना चाहिये । ऐसा कहा है ‘हस्ते’ इत्यादि । जिसके हाथमें चिन्तामणि है, धनमें कामधेनु है, और जिसके घरमें कल्पवृक्ष है, उसके अन्य क्या प्रार्थनाकी आवश्यकता है ? कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामणि तो कहने

“हस्ते चिन्तामणिर्यस्य गृहे यस्य सुरद्रुमः । कामधेनुर्धनं यस्य तस्य का प्रार्थना परा ॥” ॥ १५ ॥

अथ यैः षड्रव्यैः सम्यक्त्वविषयभूतैस्त्रिभुवनं भूतं तिष्ठति तानीदृक् जानीहीत्यभिप्रायं मनसि सम्प्रधार्य सूत्रमिदं कथयति—

दब्बइं जाणहि ताइं छह तिहुयणु भरियउ जेहिं ।

आइ-विणास-विवज्जियहिं णाणिहि पभणियएहिं ॥ १६ ॥

द्रव्याणि जानीहि तानि षट् त्रिभुवनं भूतं यैः ।

आदिविनाशविवर्जितैः ज्ञानिभिः प्रभणितैः ॥ १६ ॥

दब्बइं इत्यादि । दब्बइं द्रव्याणि जाणहि तं हे प्रभाकरभट्ट ताइं तानि परमागम-प्रसिद्धानि । कतिसंख्योपेतानि छह षडेव । यैः द्रव्यैः किं कृतम् । तिहुयणु भरियउ त्रिभुवनं भूतम् । जेहिं यैः कर्तृभूतैः । पुनरपि किंविशिष्टैः । आइविणासविवज्जियहिं द्रव्यार्थिक-नयेनादिविनाशविवर्जितैः । पुनरपि कथंभूतैः । णाणिहि पभणियएहिं ज्ञानिभिः प्रभणितैः कथितैश्चेति । अयमत्राभिप्रायः । एतैः षड्भिर्द्रव्यैर्निष्पन्नोऽयं लोको न चान्यः कोऽपि लोकस्य हर्ता कर्ता रक्षको वास्तीति । किं च । षड्रव्याणि व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतानि भवन्ति तथापि शुद्धनिश्चयेन शुद्धात्मानुभूतिरूपस्य वीतरागसम्यक्त्वस्य नित्यानन्दैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव विषयो भवतीति ॥ १६ ॥

अथ तेषामेव षड्रव्याणां संज्ञां चेतनाचेतनविभागं च कथयति—

जीउ सचेयणु दब्बु मुणि पंच अचेयण अण्ण ।

पोग्गलु धम्माहम्मु णहु काले सहिया भिण्ण ॥ १७ ॥

जीवः सचेतनं द्रव्यं मन्यस्व पञ्च अचेतनानि अन्यानि ।

पुद्गलः धर्माधर्मौ नभः कालेन सहितानि भिन्नानि ॥ १७ ॥

मात्र हैं, सम्यक्त्व ही कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामणि है, ऐसा जानना ॥१५॥

आगे सम्यक्त्वके कारण जो छह द्रव्य हैं, उनसे यह तीनलोक भरा हुआ है, उनको यथार्थ जानो, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर यह गाथा-सूत्र कहते हैं—हे प्रभाकरभट्ट, तू [तानि षड्रव्याणि] उन छहों द्रव्योंको [जानीहि] जान, [यैः] जिन द्रव्योंसे [त्रिभुवनं भूतं] यह तीन लोक भर रहा है, वे छह द्रव्य [ज्ञानिभिः] ज्ञानियोंने [आदिविनाशविवर्जितैः] आदि अंतकर रहित द्रव्यार्थिकनयसे [प्रभणितैः] कहे हैं ॥ भावार्थ—यह लोक छह द्रव्योंसे भरा है, अनादिनिधन है, इस लोकका आदि अंत नहीं है, तथा इसका कर्ता, हर्ता व रक्षक कोई नहीं है । यद्यपि ये छह द्रव्य व्यवहारसम्यक्त्वके कारण हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतरागसम्यक्त्वका कारण नित्य आनंद स्वभाव निज शुद्धात्मा ही है ॥१६॥

आगे उन छह द्रव्योंके नाम कहते हैं—हे शिष्य, तू [जीवः सचेतनद्रव्यं] जीव चेतनद्रव्य है,

जीउ इत्यादि । जीउ सचेयणु दब्बु चिदानन्दैकस्वभावो जीवश्चेतनाद्रव्यं भवति । मुणि मन्यस्व जानीहि तम् । पंच अचेयणु पञ्चाचेतनानि अण्ण जीवादन्यानि । तानि कानि । पोग्गलु धम्माहम्मु णड्डु पुद्गलधर्माधर्मनभांसि कथंभूतानि तानि काले सहिया कालद्रव्येण सहितानि । पुनरपि कथंभूतानि । भिण्ण स्वकीयस्वकीयलक्षणेन परस्परं भिन्नानि इति । तथाहि । द्विधा सम्यक्त्वं भण्यते सरागवीतरागभेदेन । सरागसम्यक्त्वलक्षणं कथ्यते । प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं भण्यते, तदेव व्यवहारसम्यक्त्वमिति तस्य विषयभूतानि षड्द्रव्याणीति । वीतरागसम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचारित्राविना-भूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वमिति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्वं भवद्भिः, इदानीं पुनः वीतरागचारित्राविनाभूतं निश्चयसम्यक्त्वं व्याख्यातमिति पूर्वापरविरोधः कस्मादिति चेत् । निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थंकरपरमदेवभरतसगररामपाण्डवादीनां विद्यते, न च तेषां वीतरागचारित्रमस्तीति परस्परविरोधः, अस्ति चेत्तर्हि तेषामसंयतत्वं कथमिति पूर्वपक्षः । तत्र परिहारमाह । तेषां शुद्धात्मोपादेयभावनारूपं निश्चयसम्यक्त्वं विद्यते परं किंतु चारित्र-मोहोदयेन स्थिरता नास्ति व्रतप्रतिज्ञाभङ्गो भवतीति तेन कारणेनासंयता वा भण्यन्ते । शुद्धा-

ऐसा [मन्यस्व] जान, [अन्यानि] और बाकी [पुद्गलः धर्माधर्मौ] पुद्गल धर्म अधर्म [नभः] आकाश [कालेन सहिता] और काल सहित जो [पंच] पाँच हैं, वे [अचेतनानि] अचेतन हैं, और [अन्यानि] जीवसे भिन्न हैं, तथा ये सब [भिन्नानि] अपने-अपने लक्षणोंसे आपसमें भिन्न [जुदा जुदा] हैं, काल सहित छह द्रव्य हैं, कालके बिना पाँच अस्तिकाय हैं ॥ भावार्थ—सम्यक्त्व दो प्रकारका है। एक सरागसम्यक्त्व दूसरा वीतरागसम्यक्त्व । सरागसम्यक्त्वका लक्षण कहते हैं—प्रशम अर्थात् शान्तिपना, संवेग अर्थात् जिनधर्मकी रुचि तथा जगतसे अरुचि, अनुकंपा परजीवोंको दुःखी देखकर दया भाव और आस्तिक्य अर्थात् देव गुरु धर्मकी तथा छह द्रव्योंकी श्रद्धा इन चारोंका होना वह व्यवहारसम्यक्त्वरूप सरागसम्यक्त्व है, और वीतरागसम्यक्त्व जो निश्चयसम्यक्त्व वह निजशुद्धात्मानुभूतिरूप वीतरागचारित्रसे तन्मयी है । यह कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया—हे प्रभो, निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्वका कथन पहले तुमने अनेक बार किया, फिर अब वीतरागचारित्रसे तन्मयी निश्चयसम्यक्त्व है, यह व्याख्यान करते हैं, सो यह तो पूर्वापर विरोध है । क्योंकि जो निज शुद्धात्मा ही उपादेय हैं, ऐसी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व तो गृहस्थ अवस्था में तीर्थंकर परमदेव भरत चक्रवर्ती, सगर चक्रवर्ती और राम पाण्डवादि बड़े बड़े पुरुषोंके रहता है, लेकिन उनके वीतरागचारित्र नहीं है । यही परस्पर विरोध है । यदि उनके वीतरागचारित्र माना जावे, तो गृहस्थपना क्यों कहा ? यह प्रश्न किया । उसका उत्तर श्रीगुरु देते हैं—उन महान् (बड़े) पुरुषोंके शुद्धात्मा उपादेय हैं ऐसी भावनारूप निश्चयसम्यक्त्व तो है, परन्तु चारित्रमोहके उदयसे स्थिरता नहीं है । जब तक महाव्रतका उदय

त्मभावनाच्युताः सन्तः भरतादयो निर्दोषिपरमात्मनामर्हत्सिद्धानां गुणस्तववस्तुस्तवरूपस्तवनादिकं कुर्वन्ति तच्चरितपुराणादिकं च समाकर्णयन्ति तदाराधकपुरुषाणामाचार्योपाध्यायसाधूनां विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं संसारस्थितिच्छेदनार्थं च दानपूजादिकं कुर्वन्ति तेन कारणेन शुभरागयोगात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति । या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्वसंज्ञा वीतरागचारित्राविनाश्रुतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परंपरया साधकत्वादिति । वस्तुवृत्त्या तु तत्सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वाख्यं व्यवहारसम्यक्त्वमेवेति भावार्थः ॥ १७ ॥

अथानन्तरं सूत्रचतुष्टयेन जीवादिषड्रव्याणां क्रमेण प्रत्येकं लक्षणं कथ्यते—

मुक्ति-विहूणउ णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।

णियमिं जोइय अप्पु मुणि णिच्चु णिरंजणु भाउ ॥ १८ ॥

मूर्तिविहीनः ज्ञानमयः परमानन्दस्वभावः ।

नियमेन योगिन् आत्मानं मन्यस्व नित्यं निरञ्जनं भावम् ॥ १८ ॥

मुक्तिविहूणउ इत्यादि । **मुक्तिविहूणउ** अमूर्तः शुद्धात्मनो विलक्षणया स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या विहीनत्वात् मूर्तिविहीनः । **णाणमउ** क्रमकरणव्यवधानरहितेन लोकालोकप्रकाशकेन केवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात् ज्ञानमयः । **परमाणंदसहाउ** वीतरागपरमानन्दैकरूपसुखामृतरसास्वादेन समरसीभावपरिणतस्वरूपत्वात् परमानन्दस्वभावः । **णियमिं** शुद्धनिश्चयेन । **जोइय** हे योगिन् ।

नहीं है, तब तक असंयमी कहलाते हैं, शुद्धात्माकी अखंड भावनासे रहित हुए भरत सगर राघव पांडवादिक निर्दोष परमात्मा अरहंत सिद्धोंके गुणस्तवन वस्तुस्तवनरूप स्तोत्रादि करते हैं, और उनके चरित्र पुराणादिक सुनते हैं, तथा उनकी आज्ञाके आराधक जो महान पुरुष आचार्य उपाध्याय साधु उनको भक्तिसे आहारदानादि करते हैं, पूजा करते हैं । विषय कषायरूप खोटे ध्यानके रोकनेके लिये तथा संसारकी स्थितिके नाश करनेके लिये ऐसी शुभ क्रिया करते हैं । इसलिये शुभ रागके संबंधसे सम्यग्दृष्टि हैं और इनके निश्चयसम्यक्त्व भी कहा जा सकता है क्योंकि वीतरागचारित्रसे तन्मयी निश्चयसम्यक्त्वके परम्पराय साधकपना है । अब वास्तवमें (असलमें) विचारा जावे, तो गृहस्थ अवस्थामें इनके सरागसम्यक्त्व ही है, और जो सरागसम्यक्त्व है, वह व्यवहार ही है, ऐसा जानो ॥१७॥

आगे चार दोहोंसे छह द्रव्योंके क्रमसे हरएकके लक्षण कहते हैं—[योगिन्] हे योगी, [नियमेन] निश्चय करके [आत्मानं] तू आत्माको ऐसा [मन्यस्व] जान । कैसा है आत्मा ? [मूर्तिविहीनः] मूर्तिसे रहित है, [ज्ञानमयः] ज्ञानमयी है, [परमानंदस्वभावः] परमानंद स्वभाववाला है, [नित्यं] नित्य है, [निरंजनं] निरंजन है, [भावं] ऐसा जीवपदार्थ है ॥ **भावार्थ**—यह आत्मा अमूर्तिक शुद्धात्मासे भिन्न जो स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाली मूर्ति उससे रहित है, लोक-अलोकका प्रकाश करनेवाले केवलज्ञानकर पूर्ण है, जोकि केवलज्ञान सब पदार्थोंको एक समयमें प्रत्यक्ष जानता है, आगे पीछे नहीं जानता, वीतरागभाव परमानंदरूप अतीन्द्रिय सुखस्वरूप अमृतके रसके स्वादसे समरसी भावको

अप्सु तमित्यंभूतमात्मानं मुणि मन्यस्य जानीहि तम् । पुनरपि किंविशिष्टं जानीहि । णिचु शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वाभित्यम् । पुनरपि किंविशिष्टम् । णिरंजणु मिथ्यात्तरागादिरूपाञ्जनरहितत्वान्निरञ्जनम् । पुनश्च कथंभूतमात्मानं जानीहि । भाउ भावं विशिष्टपदार्थम् इति । अत्रैवंगुणविशिष्टः शुद्धात्मैवोपादेय अन्यदेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ १८ ॥

अथ—

पुग्गलु छव्विहु मुत्तु वढ इयर अमुत्तु वियाणि ।

धम्माधम्मु वि गयठियहं कारणु पभणहिं णाणि ॥ १९ ॥

पुद्गलः षड्विधः मूर्तः वत्स इतराणि अमूर्तानि विजानीहि ।

धर्माधर्ममपि गतिस्थित्योः कारणं प्रभणन्ति ज्ञानिनः ॥ १९ ॥

पुग्गलु इत्यादि । पुग्गलु पुद्गलद्रव्यं छव्विहु षड्विधम् । तथा चोक्तम्— “पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्मपाउग्गा । कम्मातीदा एवं छब्भेया पुग्गला होंति ॥” । एवं तत्कथं भवति । मुत्तु स्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्तिरिति वचनान्मूर्तम् । वढ वत्स पुत्र । इयर इतराणि पुद्गलात् शेषद्रव्याणि अमुत्तु स्पर्शाद्यभावादमूर्तानि वियाणि विजानीहि तम् । धम्माधम्मु वि धर्माधर्मद्वयमपि गयठियहं गतिस्थित्योः कारणु कारणं निमित्तं पभणहिं

परिणत हुआ है, ऐसा है योगी, शुद्ध निश्चयसे अपने आत्माको ऐसा समझ, शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे बिना टाँकीका घडा हुआ सुघटघाट ज्ञायक स्वभाव नित्य है । तथा मिथ्यात्व रागादिरूप अंजनसे रहित निरंजन है । ऐसे आत्माको तू भली-भाँति जान, जो सब पदार्थोंमें उत्कृष्ट है । इन गुणोंसे मंडित शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, और सब तजने योग्य हैं ॥१८॥

आगे फिर भी कहते हैं—[वत्स] हे वत्स, तू [पुद्गलः] पुद्गलद्रव्य [षड्विधः] छह प्रकार तथा [मूर्तः] मूर्तिक है, [इतराणि] अन्य सब द्रव्य [अमूर्तानि] अमूर्त हैं, ऐसा [विजानीहि] जान, [धर्माधर्ममपि] धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्योंको [गतिस्थित्योः कारणं] गति स्थितिका सहायक-कारण [ज्ञानिनः] केवली श्रुतकेवली [प्रभणन्ति] कहते हैं । भावार्थ—पुद्गल द्रव्यके छह भेद दूसरी जगह भी ‘पुढवी जलं’ इत्यादि गाथासे कहे हैं । उसका अर्थ यह है, कि बादरबादर १, बादर २, बादरसूक्ष्म ३, सूक्ष्मबादर ४, सूक्ष्म ५, सूक्ष्मसूक्ष्म ६, ये छह भेद पुद्गलके हैं । उनमेंसे पत्थर काठ तृण आदि पृथ्वी बादरबादर हैं, टुकड़े होकर नहीं जुड़ते, जल घी तैल आदि बादर हैं, जो टूटकर मिल जाते हैं, छाया आतप चाँदनी ये बादरसूक्ष्म हैं, जो कि देखनेमें तो बादर और ग्रहण करनेमें सूक्ष्म हैं, नेत्रको छोड़कर चार इंद्रियोंके विषय रस गंधादि सूक्ष्मबादर हैं, जो कि देखनेमें नहीं आते, और ग्रहण करनेमें आते हैं । कर्मवर्गणा सूक्ष्म हैं, जो अनंत मिली हुई हैं, परंतु दृष्टिमें नहीं आती, और सूक्ष्मसूक्ष्म परमाणु है, जिसका दूसरा भाग नहीं होता । इस तरह छह भेद हैं । इन छहों तरहके पुद्गलोंको तू अपने स्वरूपसे जुदा समझ । यह पुद्गलद्रव्य स्पर्श रस गंध वर्णको धारण करता है, इसलिये मूर्तिक है, अन्य धर्म अधर्म दोनों गति तथा स्थितिके कारण

प्रभणन्ति कथयन्ति । के कथयन्ति । णाणि वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनः इति । अत्र द्रष्टव्यम् । यद्यपि वज्रवृषभनाराचसंहननरूपेण पुद्गलद्रव्यं मुक्तिगमनकाले सहकारिकारणं भवति तथापि धर्मद्रव्यं च गतिसहकारिकारणं भवति, अधर्मद्रव्यं च लोकाग्रे स्थितस्य स्थितिसहकारिकारणं भवति । यद्यपि मुक्तात्मप्रदेशमध्ये परस्परैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठन्ति तथापि निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मनः सकाशाद्भिन्नस्वरूपेण मुक्तौ तिष्ठन्ति । तथात्र संसारे चेतनाकारणानि हेयानीति भावार्थः ॥ १९ ॥

अथ—

दब्बइँ सयलइँ वरि ठियइँ णियमेँ जासु वसंति ।

तं णहु दब्बु वियाणि तुहुँ जिणवर एउ भणंति ॥ २० ॥

द्रव्याणि सकलानि उदरे स्थितानि नियमेन यस्य वसन्ति ।

तत् नभः द्रव्यं विजानीहि त्वं जिनवरा एतद् भणन्ति ॥ २० ॥

दब्बइँ द्रव्याणि । कतिसंख्योपेतानि । सयलइँ समस्तानि उवरि उदरे ठियइँ स्थितानि णियमेँ निश्चयेन जासु यस्य वसन्ति आधाराधेयभावेन तिष्ठन्ति तं तत् णहु दब्बु नभ आकाशद्रव्यं वियाणि विजानीहि तुहुँ तं हे प्रभाकरभट्ट जिणवर जिनवराः वीतराग-सर्वज्ञाः एउ भणंति एतद्भणंति कथयन्तीति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यद्यपि परस्परैक-क्षेत्रावगाहेन तिष्ठत्याकाशं तथापि साक्षादुपादेयभूतादनन्तसुखस्वरूपात्परमात्मनः सकाशादत्यन्तभिन्नत्वाद्धेयमिति ॥२०॥

हैं, ऐसा वीतरागदेवने कहा है । यहाँपर एक बात देखनेकी है कि यद्यपि वज्रवृषभनाराचसंहननरूप पुद्गलद्रव्य मोक्षके गमनका सहायक है, इसके बिना मुक्ति नहीं हो सकती, तो भी धर्मद्रव्य गति सहायी है, इसके बिना सिद्धलोकको जाना नहीं हो सकता, तथा अधर्म द्रव्य सिद्धलोकमें स्थितिका सहायी है । लोक-शिखरपर आकाशके प्रदेश अवकाशमें सहायी हैं । अनंत सिद्ध अपने स्वभावमें ही ठहरे हुए हैं, परद्रव्यका कुछ प्रयोजन नहीं है । यद्यपि मुक्तात्माओंके प्रदेश आपसमें एक जगह हैं, तो भी विशुद्ध ज्ञान दर्शन भाव भगवान सिद्धक्षेत्रमें भिन्न-भिन्न स्थित हैं, कोई सिद्ध किसी सिद्धसे प्रदेशोंकर मिला हुआ नहीं है । पुद्गलादि पाँचों द्रव्य जीवको यद्यपि निमित्त कारण कहे गये हैं, तो भी उपादानकारण नहीं है, ऐसा सारांश हुआ ॥१९॥

आगे आकाशका स्वरूप कहते हैं—[यस्य] जिसके [उदरे] अंदर [सकलानि द्रव्याणि] सब द्रव्य [स्थितानि] स्थित हुए [नियमेन वसंति] निश्चयसे आधार आधेयरूप होकर रहते हैं, [तत्] उसको [त्वं] तू [नभः द्रव्यं] आकाशद्रव्य [विजानीहि] जान, [एतत्] ऐसा [जिनवराः] जिनेंद्रदेव [भणंति] कहते हैं । लोकाकाश आधार है, अन्य सब द्रव्य आधेय हैं ॥ भावार्थ—यद्यपि ये सब द्रव्य आकाशमें परस्पर एक क्षेत्रावगाहसे ठहरे हुए हैं, तो भी आत्मासे अत्यंत भिन्न हैं, इसलिये त्यागने योग्य हैं, और आत्मा साक्षात् आराधने योग्य हैं, अनंतसुखस्वरूप है ॥२०॥

अथ—

कालु मुणिज्जहि दब्बु तुहँ वट्ठण-लक्खणु एउ ।

रयणहँ रासि विभिण्ण जिम तसु अणुयहँ तह भेउ ॥ २१ ॥

कालं मन्यस्व द्रव्यं त्वं वर्तनालक्षणं एतत् ।

रत्नानां राशिः विभिन्नः यथा तस्य अणूनां तथा भेदः ॥ २१ ॥

कालु इत्यादि । कालु कालं मुणिज्जहि मन्यस्व जानीहि । किं जानीहि । दब्बु काल-संज्ञं द्रव्यम् । कथंभूतम् । वट्ठणलक्खणु वर्तनालक्षणं स्वयमेव परिणममाणानां द्रव्याणां बहिरङ्गसहकारिकारणम् । किंवदिति चेत् । कुम्भकारचक्रस्याधस्तनशिलावदिति । एउ एतत् प्रत्यक्षीभूतं तस्य कालद्रव्यस्यासंख्येयप्रमितस्य परस्परभेदविषये दृष्टान्तमाह । रयणहँ रासि रत्नानां राशिः । कथंभूतः । विभिण्ण विभिन्नः विशेषेण स्वरूपव्यवधानेन भिन्नः तसु तस्य कालद्रव्यस्य अणुयहँ अणूनां कालाणूनां तह तथा भेउ भेदः इति । अत्राह शिष्यः । समय एव निश्चयकालः, अन्यनिश्चयकालसंज्ञं कालद्रव्यं नास्ति । अत्र परिहारमाह । समयस्तावत्पर्यायः । कस्मात् । विनश्चरत्वात् । तथा चोक्तं समयस्य विनश्चरत्वम्—“समओ उप्पण्णपद्धंसी” इति । स च पर्यायो द्रव्यं विना न भवति । कस्य द्रव्यस्य भवतीति विचार्यते यदि पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायो भवति तर्हि पुद्गलपरमाणुपिण्डनिष्पन्नघटादयो यथा मूर्ता भवन्ति तथा अणोरण्वन्तरव्यतिक्रमणाज्जातः समयः, चक्षुःसंपुटविघटनाज्जातो निमिषः, जलभाजनहस्तादिव्यापाराज्जाता घटिका, आदित्यबिम्बदर्शनाज्जातो दिवसः, इत्यादि कालपर्याया मूर्ता दृष्टिविषयाः प्राग्भवन्ति । कस्मात् ।

आगे कालद्रव्यका व्याख्यान करते हैं—[त्वं] हे भव्य, तू [एतत्] इस प्रत्यक्षरूप [वर्तनालक्षणं] वर्तनालक्षणवालेको [कालं] कालद्रव्य [मन्यस्व] जान अर्थात् अपने आप परिणमते हुए द्रव्योंको कुम्हारके चक्रके नीचेकी सिलाकी तरह जो बहिरंग सहकारीकारण है, यह कालद्रव्य असंख्यात प्रदेशप्रमाण है [यथा] जैसे [रत्नानां राशिः] रत्नोंकी राशि [विभिन्नः] जुदारूप है, सब रत्न जुदा जुदा रहते हैं—मिलते नहीं हैं, [तथा] उसी तरह [तस्य] उस कालके [अणूनां] अणुओंका [भेदः] भेद है, एक कालाणुसे दूसरा कालाणु नहीं मिलता । यहाँ पर शिष्यने प्रश्न किया कि समय ही निश्चयकाल है, अन्य निश्चयकाल नामवाला द्रव्य नहीं है ? इसका समाधान श्रीगुरु करते हैं । समय वह कालद्रव्यकी पर्याय है, क्योंकि विनाशको पाता है । ऐसा ही श्रीपंचास्तिकायमें कहा है —“समओ उप्पण्णपद्धंसी” अर्थात् समय उत्पन्न होता है और नाश होता है । इससे जानते हैं कि समय पर्याय द्रव्यके बिना हो नहीं सकता । किस द्रव्यका पर्याय है, इसपर अब विचार करना चाहिये । यदि पुद्गलद्रव्यकी पर्याय मानी जावे, तो जैसे पुद्गल परमाणुओंसे उत्पन्न हुए घटादि मूर्तिक हैं, वैसे समय भी मूर्तिक होना चाहिये, परंतु समय अमूर्तिक है, इसलिये पुद्गलकी पर्याय तो नहीं है । पुद्गलपरमाणु आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशको जब गमन

पुद्गलद्रव्योपादानकारणजातत्वाद् घटादिवत् इति । तथा चोक्तम् । उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति मृत्पिण्डाद्युपादानकारणजनितघटादिवदेव न च तथा समयनिमिषघटिकादिवसादिकाल-पर्याया मूर्ता दृश्यन्ते । यैः पुनः पुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमननयनपुटविघटनजलभाजनहस्तादि-व्यापारदिनकरबिम्बगमनादिभिः पुद्गलपर्यायभूतैः क्रियाविशेषैः समयादिकालपर्यायाः परिच्छि-द्यन्ते, ते चाणुव्यतिक्रमणादयः तेषामेव समयादिकालपर्यायाणां व्यक्तिनिमित्तत्वेन बहिरङ्ग-सहकारिकारणभूता एव ज्ञातव्या न चोपादानकारणभूता घटोत्पत्तौ कुम्भकारचक्रचीवरादि-वत् । तस्माद् ज्ञायते तत्कालद्रव्यममूर्तमविनश्वरमस्तीति तस्य तत्पर्यायाः समयनिमिषादय इति । अत्रेदं तु कालद्रव्यं सर्वप्रकारोपादेयभूतात् शुद्धबुद्धैकस्वभावाज्जीवद्रव्याद्भिन्नत्वाद्देयमिति तात्प-र्यार्थः ॥ २१ ॥

अथ जीवपुद्गलकालद्रव्याणि मुक्त्वा शेषधर्माधर्माकाशान्येकद्रव्याणीति निरूपयति—

जीउ वि पुग्गलु कालु जिय ए मेहेविणु दब्ब ।

इयर अखंड वियाणि तुहुं अप्प-पएसहिं सव्व ॥ २२ ॥

जीवोऽपि पुद्गलः कालः जीव एतानि मुक्त्वा द्रव्याणि ।

इतराणि अखण्डानि विजानीहि त्वं आत्मप्रदेशैः सर्वाणि ॥ २२ ॥

जीउ वि इत्यादि । जीउ चि जीवोऽपि पुग्गलु पुद्गलः कालु कालः जिय हे जीव ए मेहेविणु एतानि मुक्त्वा दब्ब द्रव्याणि इयर इतराणि धर्माधर्माकाशानि अखंड अखण्ड-द्रव्याणि वियाणि विजानीहि तुहुं त्वं हे प्रभाकरभट्ट । कैः कृत्वाखण्डानि विजानीहि ।

करता है तब समय होता है, सो समय-पर्याय कालकी है, पुद्गलपरमाणुके निमित्तसे होते हैं, नेत्रोंका मिलना तथा विघटना उससे निमेष होता है, जल-पात्र तथा हस्तादिकके व्यापारसे घटिका होती है, और सूर्य-बिम्बके उदयसे दिन होता है, इत्यादि कालकी पर्याय हैं, पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे होती हैं, पुद्गल इन पर्यायोंका मूलकारण नहीं है, मूलकारण काल है । यदि पुद्गल मूलकारण होता तो समयादिक मूर्तिक होते । जैसे मूर्तिक मिट्टीके ढेलेसे उत्पन्न घड़े वगैरह मूर्तिक होते हैं, वैसे समयादिक मूर्तिक नहीं हैं । इसलिये अमूर्तद्रव्य जो काल उसकी पर्याय हैं, द्रव्य नहीं हैं, कालद्रव्य अणुरूप अमूर्तिक अविनश्वर है, और समयादिक पर्याय अमूर्तिक हैं, परंतु विनश्वर हैं, अविनश्वरपना द्रव्यमें ही है, पर्यायमें नहीं है, यह निश्चयसे जानना । इसलिये समयादिको कालद्रव्यकी पर्याय ही कहना चाहिये, पुद्गलकी पर्याय नहीं हैं, पुद्गलपर्याय मूर्तिक है । सर्वथा उपादेय शुद्ध बुद्ध केवलस्वभाव जो जीव उससे भिन्न कालद्रव्य है, इसलिये हेय है, यह सारांश हुआ ॥२१॥

आगे जीव पुद्गल काल ये तीन द्रव्य अनेक हैं, और धर्म अधर्म आकाश ये तीन द्रव्य एक हैं, ऐसा कहते हैं—[जीव] हे जीव, [त्वं] तू [जीवः अपि] जीव और [पुद्गलः] पुद्गल [कालः] काल [एतानि द्रव्याणि] इन तीन द्रव्योंको [मुक्त्वा] छोड़कर [इतराणि] दूसरे धर्म अधर्म आकाश [सर्वाणि] ये सब तीन द्रव्य [आत्मप्रदेशैः] अपने प्रदेशोंसे [अखंडानि]

अप्पपएसहिं आत्मप्रदेशैः । कतिसंख्योपेतानि । सच्च सर्वाणि इति । तथाहि । जीवद्रव्याणि पृथक् पृथक् जीवद्रव्यगणनेनानन्तसंख्यानि पुद्गलद्रव्याणि तेभ्योऽप्यनन्तगुणानि भवन्ति । धर्माधर्माकाशानि पुनरेकद्रव्याण्येवेति । अत्र जीवद्रव्यमेवोपादेयं तत्रापि यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शक्यपेक्षया सर्वे जीवा उपादेयास्तथापि व्यक्त्यपेक्षया पञ्च परमेष्ठिन एव, तेष्वपि मध्ये विशेषेणार्हत्सिद्धा एव तयोरपि मध्ये सिद्धा एव, परमार्थेन तु मिथ्यात्तरागादिविभावपरिणाम-निवृत्तिकाले स्वशुद्धात्मैवोपादेय इत्युपादेयपरंपरा ज्ञातव्येति भावार्थः ॥ २२ ॥

अथ जीवपुद्गलौ सक्रियो धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि निःक्रियाणीति प्रतिपादयति—

दच्च चयारि वि इयर जिय गमणागमन-विहीण ।

जीउ वि पुग्गलु परिहरिवि पभणहिं णाण-पवीण ॥ २३ ॥

द्रव्याणि चत्वारि अपि इतराणि जीव गमनागमनविहीनानि ।

जीवमपि पुद्गलं परिहृत्य प्रभणन्ति ज्ञानप्रवीणाः ॥ २३ ॥

दच्च इत्यादि । दच्च द्रव्याणि । कतिसंख्योपेतानि एव । चयारि वि चत्वार्येव इयर जीवपुद्गलाभ्यामितराणि जिय हे जीव । कथंभूतान्येतानि । गमणागमनविहीण गमनागमन-विहीनानि निःक्रियाणि चलनक्रियाविहीनानि । किं कृत्वा । जीउ वि पुग्गलु परिहरिवि जीवपुद्गलौ परिहृत्य पभणहिं एवं प्रभणन्ति कथयन्ति । के ते । णाणपवीण भेदाभेदरत्न-

अखंडित हैं ॥ भावार्थ— जीवद्रव्य जुदा जुदा जीवोंकी गणनासे अनंत हैं, पुद्गलद्रव्य उससे भी अनंतगुणे हैं, कालद्रव्याणु असंख्यात हैं, धर्मद्रव्य एक हैं, और वह लोकव्यापी है, अधर्मद्रव्य भी एक है, और वह लोकव्यापी है, ये दोनों द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं, और आकाशद्रव्य अलोककी अपेक्षा अनंतप्रदेशी है, तथा लोककी अपेक्षा असंख्यातप्रदेशी हैं । ये सब द्रव्य अपने-अपने प्रदेशोंकर सहित हैं, किसीके प्रदेश किसीसे नहीं मिलते । इन छहों द्रव्योंमें जीव ही उपादेय है । यद्यपि शुद्ध निश्चयसे शक्तिकी अपेक्षा सभी जीव उपादेय हैं, तो भी व्यक्तिकी अपेक्षा पंचपरमेष्ठी ही उपादेय हैं, उनमें भी अरहंत सिद्ध ही हैं, उन दोनोंमें भी सिद्ध ही हैं, और निश्चयनयकर मिथ्यात्व रागादि विभावपरिणामके अभावमें विशुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा जानना ॥२२॥

आगे जीव पुद्गल ये दोनों चलन-हलनादि क्रियायुक्त हैं, और धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चारों निःक्रिय हैं, ऐसा निरूपण करते हैं—[जीव] हे हंस, [जीवं अपि पुद्गलं] जीव और पुद्गल इन दोनोंको [परिहृत्य] छोड़कर [इतराणि] दूसरे [चत्वारि एव द्रव्याणि] धर्मादि चारों ही द्रव्य [गमनागमनविहीनानि] चलन हलनादि क्रिया रहित हैं, जीव पुद्गल क्रियावंत हैं, गमनागमन करते हैं, ऐसा [ज्ञानप्रवीणाः] ज्ञानियोंमें चतुर रत्नत्रयके धारक केवली श्रुतकेवली [प्रभणन्ति] कहते हैं ॥ भावार्थ—जीवोंके संसार-अवस्थामें इस गतिसे अन्य गतिके जानेको कर्म-नोकर्म जातिके पुद्गल सहायी हैं । और कर्म नोकर्मके अभावसे सिद्धोंके निःक्रियपना है, गमनागमन नहीं है । पुद्गलके स्कन्धोंको गमनका बहिरंग निमित्तकारण कालाणुरूप कालद्रव्य है ।

त्रयाराधका विवेकिन इत्यर्थः । तथाहि । जीवानां संसारावस्थायां गतेः सहकारिकारणभूताः कर्मनोकर्मपुद्गलाः कर्मनोकर्माभावात्सिद्धानां निःक्रियत्वं भवति पुद्गलस्कन्धानां तु कालाणुरूपं कालद्रव्यं गतेर्बहिरङ्गनिमित्तं भवति । अनेन किमुक्तं भवति । अविभागिव्यवहारकालसमयोत्पत्तौ मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुः घटोत्पत्तौ कुम्भकारबहिरङ्गनिमित्तेन व्यञ्जको व्यक्तिकारको भवति । कालद्रव्यं तु मृत्पिण्डबदुपादानकारणं भवति । तस्य तु पुद्गलपरमाणोर्मन्दगतिगमनकाले यद्यपि धर्मद्रव्यं सहकारिकारणमस्ति तथापि कालाणुरूपं निश्चयकालद्रव्यं च सहकारिकारणं भवति । सहकारिकारणानि तु बहून्यपि भवन्ति मत्स्यानां धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि जलवत्, घटोत्पत्तौ कुम्भकारबहिरङ्गनिमित्तेऽपि चक्रचीवरादिवत्, जीवानां धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि कर्मनोकर्मपुद्गला गतेः सहकारिकारणं, पुद्गलानां तु कालद्रव्यं गतेः सहकारिकारणम् । कुत्र भणितमास्ते इति चेत् । पञ्चास्तिकायप्राभृते श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः सक्रियनिःक्रियव्याख्यान-

इससे क्या अर्थ निकला ? यह निकला कि निश्चयकालकी पर्याय जो समयरूप व्यवहारकाल उसकी उत्पत्तिमें मंद गतिरूप परिणत हुआ अविभागी पुद्गलपरमाणु कारण होता है । समयरूप व्यवहारकालका उपादानकारण निश्चयकालद्रव्य है, उसीकी एक समयादि व्यवहारकालका मूलकारण निश्चयकालाणुरूप कालद्रव्य है, उसीकी एक समयादिक पर्याय है, पुद्गल परमाणुकी मंदगति बहिरंग निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं है, पुद्गल परमाणु आकाशके प्रदेशमें मंदगतिसे गमन करता है, यदि शीघ्र गतिसे चले तो एक समयमें चौदह राजू जाता है, जैसे घटपर्यायकी उत्पत्तिमें मूलकारण तो मिट्टीका डला है, और बहिरंगकारण कुम्हार है, वैसे समयपर्यायकी उत्पत्तिमें मूलकारण तो कालाणुरूप निश्चयकाल है, और बहिरंग निमित्तकारण पुद्गलपरमाणु है । पुद्गलपरमाणुकी मंदगतिरूप गमन समयमें यद्यपि धर्मद्रव्य सहकारी है, तो भी कालाणुरूप निश्चयकाल परमाणुकी मंदगतिका सहायी जानना । परमाणुके निमित्तसे तो कालका समयपर्याय प्रगट होता है, और कालकी सहायसे परमाणु मंदगति करता है । कोई प्रश्न करे कि गतिका सहकारी धर्म है, कालको क्यों कहा ? उसका समाधान यह है कि सहकारीकारण बहुत होते हैं, और उपादानकारण एक ही होता है, दूसरा द्रव्य नहीं होता, निज द्रव्य ही निज (अपने) गुण-पर्यायोंका मूल कारण है, और निमित्तकारण बहिरंगकारण तो बहुत होते हैं, इसमें कुछ दोष नहीं है । धर्मद्रव्य तो सबका ही गतिसहायी है, परंतु मछलियोंको गतिसहायी जल है, तथा घटकी उत्पत्तिमें बहिरंगनिमित्त कुम्हार है, तो भी दंड चक्र चीवरादिक ये भी अवश्य कारण हैं, इनके बिना घट नहीं होता, और जीवोंके धर्मद्रव्य गतिका सहायी विद्यमान है, तो भी कर्म नोकर्म पुद्गल सहकारीकारण हैं, इसी तरह पुद्गलको कालद्रव्य गति सहकारीकारण जानना । यहाँ कोई प्रश्न करे कि धर्मद्रव्य तो गतिका सहायी सब जगह कहा है, और कालद्रव्य वर्तनाका सहायी है, गति सहायी किस जगह कहा है ? उसका समाधान श्रीपञ्चास्तिकायमें कुन्दकुन्दाचार्यने क्रियावंत और अक्रियावंतके व्याख्यानमें कहा है—“जीवा पुगल” इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जीव और

काले भणितमस्ति—“ जीवा पुग्गलकाया सह सकिरिया हवन्ति ण य सेसा । पुग्गलकरणा जीवा खंदा खलु कालकरणेहिं ॥ ” । पुद्गलस्कन्धानां धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि जलवत् द्रव्यकालो गतेः सहकारिकारणं भवतीत्यर्थः । अत्र निश्चयनयेन निःक्रियसिद्धस्वरूपसमानं निजशुद्धात्मद्रव्यमुपादेयमिति तात्पर्यम् । तथा चोक्तं निश्चयनयेन निःक्रियजीवलक्षणम्— “ यावत्क्रियाः प्रवर्तन्ते तावद् द्वैतस्य गोचराः । अद्वये निष्कले प्राप्ते निःक्रियस्य कुतः क्रिया ॥ ” ॥ २३ ॥

अथ पञ्चास्तिकायसूचनार्थं कालद्रव्यमप्रदेशं विहाय कस्य द्रव्यस्य क्रियन्तः प्रदेशा भवन्तीति कथयति—

धम्माधम्मू वि एक्कु जिउ ए जि असंख-पदेस ।

गयणु अणंत-पएसु सुणि बहु-विह पुग्गल-देस ॥ २४ ॥

धर्माधर्मौ अपि एकः जीवः एतानि एव असंख्यप्रदेशानि ।

गगनं अनन्तप्रदेशं मन्यस्व बहुविधाः पुद्गलप्रदेशाः ॥ २४ ॥

धम्माधम्मू वि इत्यादि । धम्माधम्मू वि धर्माधर्मद्वितयमेव एक्कु जिउ एको विवक्षितो जीवः । ए जि एतान्येव त्रीणि द्रव्याणि असंख्यप्रदेशं असंख्येयप्रदेशानि भवन्ति । गयणु गगनं अणंतपएसु अनन्तप्रदेशं सुणि मन्यस्व जानीहि । बहुविह बहुविधा भवन्ति । के ते ।

पुद्गल ये दोनों क्रियावन्त हैं, और शेष चार द्रव्य अक्रियावाले हैं, चलन-हलन क्रियासे रहित हैं । जीवको दूसरी गतिमें गमनका कारण कर्म है, वह पुद्गल है और पुद्गलको गमनका कारण काल है । जैसे धर्मद्रव्यके मौजूद होनेपर भी मच्छोंको गमनसहायी जल है, उसी तरह पुद्गलको धर्मद्रव्यके होनेपर भी द्रव्यकाल गमनका सहकारी कारण है । यहाँ निश्चयनयकर गमनादि क्रियासे रहित निःक्रिय सिद्धस्वरूपके समान निःक्रिय निर्बद्ध निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, यह शास्त्रका तात्पर्य हुआ । इसी प्रकार दूसरे ग्रन्थोंमें भी निश्चयकर हलन चलनादि क्रिया रहित जीवका लक्षण कहा है—“यावत्क्रिया” इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जब तक इस जीवके हलन चलनादि क्रिया है, गतिसे गत्यन्तरको जाना है, तब तक दूसरे द्रव्यका सम्बन्ध है, जब दूसरेका सम्बन्ध मिटा, अद्वैत हुआ, तब निकल अर्थात् शरीरसे रहित निःक्रिय है, उसके हलन चलनादि क्रिया कहाँसे हो सकती हैं, अर्थात् संसारी जीवके कर्मके सम्बन्धसे गमन है, सिद्धभगवान् कर्मरहित निःक्रिय हैं, उनके गमनागमन क्रिया कभी नहीं हो सकती ॥२३॥

आगे पञ्चास्तिकायके प्रगट करनेके लिये कालद्रव्य अप्रदेशीको छोड़कर अन्य पाँच द्रव्योंमेंसे किसके कितने प्रदेश हैं, यह कहते हैं—[धर्माधर्मौ] धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य [अपि एकः जीवः] और एक जीव [एतानि एव] इन तीनोंको ही [असंख्यप्रदेशानि] असंख्यात प्रदेशी [मन्यस्व] तू जान, [गगनं] आकाश [अनन्तप्रदेशं] अनन्तप्रदेशी हैं, [पुद्गलप्रदेशाः] और पुद्गलके प्रदेश [बहुविधाः] बहुत प्रकारके हैं, परमाणु तो एकप्रदेशी हैं, और स्कंध संख्यातप्रदेशी असंख्यातप्रदेशी तथा अनन्तप्रदेशी भी होते हैं ॥ भावार्थ—जगतमें धर्मद्रव्य तो एक ही है, वह असंख्यातप्रदेशी है,

पुद्गलदेशः पुद्गलप्रदेशः । अत्र पुद्गलद्रव्यप्रदेशविवक्षया प्रदेशशब्देन परमाणवो ग्राह्याः न च क्षेत्रप्रदेशा इति । कस्मात् । पुद्गलस्यानन्तक्षेत्रप्रदेशाभावादिति । अथवा पाठान्तरम् । ‘पुग्गलु तिविहु पएसु’ । पुद्गलद्रव्ये संख्यातासंख्यातानन्तरूपेण त्रिविधाः प्रदेशाः परमाणवो भवन्तीति । अत्र निश्चयेन द्रव्यकर्माभावादमूर्ता मिथ्यावरागादिरूपभावकर्मसंकल्पविकल्पाभावात् शुद्धा लोकाकाशप्रमाणेनासंख्येयाः प्रदेशा यस्य शुद्धात्मनः स शुद्धात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिपरिणतिकाले साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥ २४ ॥

अथ लोके यद्यपि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठन्ति द्रव्याणि तथापि निश्चयेन संकरव्यतिकरपरिहारेण कृत्वा स्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्तीति दर्शयति—

लोयागासु धरेवि जिय कहियई दव्वई जाई ।

एक्कहिँ मिलियई इत्थु जगि सगुणहिँ णिवसहिँ ताई ॥ २५ ॥

लोकाकाशं धृत्वा जीव कथितानि द्रव्याणि यानि ।

एकत्वे मिलितानि अत्र जगति स्वगुणेषु निवसन्ति तानि ॥ २५ ॥

लोयागासु इत्यादि । लोयागासु लोकाकाशं कर्मतापन्नं धरेवि धृत्वा मर्यादीकृत्य जिय हे जीव अथवा लोकाकाशमाधारीकृत्वा ठियाई आधेयरूपेण स्थितानि । कानि स्थितानि ।

अधर्मद्रव्य भी एक है, असंख्यातप्रदेशी है, जीव अनंत हैं, सो एक एक जीव असंख्यात प्रदेशी हैं, आकाशद्रव्य एक ही है, वह अनंतप्रदेशी है, ऐसा जानो । पुद्गल एक प्रदेशसे लेकर अनंतप्रदेश तक है । एक परमाणु तो एक प्रदेशी है, और जैसे जैसे परमाणु मिलते जाते हैं, वैसे वैसे प्रदेश भी बढ़ते जाते हैं, वे संख्यात असंख्यात अनंत प्रदेश तक जानने । अनंत परमाणु इकट्ठे होवें, तब अनंत प्रदेश कहे जाते हैं । अन्य द्रव्योंके तो विस्ताररूप प्रदेश हैं, और पुद्गलके स्कन्धरूप प्रदेश हैं । पुद्गलके कथनमें प्रदेश शब्दसे परमाणु लेना, क्षेत्र नहीं लेना । पुद्गलका प्रचार लोकमें ही है, अलोकाकाशमें नहीं है, इसलिए अनंत क्षेत्र प्रदेशके अभाव होनेसे क्षेत्र-प्रदेश न जानने । जैसे जैसे परमाणु मिल जाते हैं वैसे वैसे प्रदेशोंकी बढवारी जाननी । इसी दोहाके कथनमें पाठांतर “पुग्गलु तिविहु पएसु” ऐसा है उसका अर्थ यह है कि पुद्गलके संख्यात, असंख्यात, अनन्त प्रदेश परमाणुओंके मेलसे जानना चाहिए, अर्थात् एक परमाणु एक प्रदेश, बहुत परमाणु बहु प्रदेश, यह जानना । सूत्रमें शुद्धनिश्चयकर द्रव्यकर्मके अभावसे यह जीव अमूर्तिक है, और मिथ्यात्व रागादिरूप भावकर्म संकल्प विकल्पके अभावसे शुद्ध है, लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशवाला है, ऐसा जो निज शुद्धात्मा वही वीतरागनिर्विकल्पसमाधिदशामें साक्षात् उपादेय है, यह जानना ॥२४॥

आगे लोकमें यद्यपि व्यवहारनयकर ये सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाहसे तिष्ठ रहे हैं, तो भी निश्चयनयकर कोई द्रव्य किसीसे नहीं मिलता, और कोई भी अपने अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता है, ऐसा दिखलाते हैं—[जीव] हे जीव, [अत्र जगति] इस संसारमें [यानि द्रव्याणि कथितानि] जो द्रव्य कहे गये हैं, [तानि] वे सब [लोकाकाशं धृत्वा] लोकाकाशमें स्थित हैं, लोकाकाश तो

कहियइं दब्बइं जाइं कथितानि जीवादिद्रव्याणि यानि । पुनः कथंभूतानि । एकहिं मिलि-
यइं एकत्वे मिलितानि । इत्थु जगि अत्र जगति सगुणहिं णिवसहिं निश्चयनयेन स्वकीय-
गुणेषु निवसन्ति 'सगुणहिं' तृतीयान्तं करणपदं स्वगुणेष्वधिकरणं कथं जातमिति । ननु कथितं
पूर्वं प्राकृते कारकव्यभिचारो लिङ्गव्यभिचारश्च कचिद्भवतीति । कानि निवसन्ति । ताइं पूर्वी-
क्तानि जीवादिषड्द्रव्याणीति । तद्यथा । यद्यप्युपचरितासद्भूतव्यवहारेणाधाराधेयभावेनैकक्षेत्रा-
वगाहेन तिष्ठन्ति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन संकरव्यतिकर-
परिहारेण स्वकीयस्वकीयसामान्यविशेषशुद्धगुणान्न त्यजन्तीति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । हे
भगवन् लोकस्तावदसंख्यातप्रदेशः परमागमे भणितः तिष्ठति तत्रासंख्यातप्रदेशलोके प्रत्येकं
प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशान्यनन्तजीवद्रव्याणि, तत्र चैकैके जीवद्रव्ये कर्मनोकर्मरूपेणानन्तानि पुद्गल-
परमाणुद्रव्याणि च तिष्ठन्ति तेभ्योऽप्यनन्तगुणानि शेषपुद्गलद्रव्याणि तिष्ठन्ति तानि सर्वाण्यसंख्येय-
प्रदेशलोके कथमवकाशं लभन्ते इति पूर्वपक्षः । भगवान् परिहारमाह । अवगाहनशक्तियोगादिति ।
तथाहि । यथैकस्मिन् गूढनागरसगद्याणके शतसहस्रलक्षसुवर्णसंख्याप्रमितान्यवकाशं लभन्ते,
अथवा यथैकस्मिन् प्रदीपप्रकाशे बहवोऽपि प्रदीपप्रकाशा अवकाशं लभन्ते, अथवा यथैकस्मिन्
भस्मघटे जलघटः सम्यगवकाशं लभते, अथवा यथैकस्मिन् भूमिगृहे बहवोऽपि पटहजयघण्टादि-

आधार है, और ये सब आधेय हैं, [एकत्वे मिलितानि] ये द्रव्य एक क्षेत्रमें मिले हुए रहते हैं,
एक क्षेत्रावगाही हैं, तो भी [स्वगुणेषु] निश्चयनयकर अपने अपने गुणोंमें ही [निवसन्ति] निवास
करते हैं, परद्रव्यसे मिलते नहीं हैं ॥ भावार्थ—यद्यपि उपचरितअसद्भूतव्यवहारनयकर
आधाराधेयभावसे एक क्षेत्रावगाहकर तिष्ठ रहे हैं, तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्ध
द्रव्यार्थिकनयसे परद्रव्यसे मिलनेरूप संकर-दोषसे रहित हैं, और अपने अपने सामान्य गुण तथा
विशेष गुणोंको नहीं छोड़ते हैं । यह कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया कि हे भगवन्,
परमागममें लोकाकाश तो असंख्यातप्रदेशी कहा है, उस असंख्यातप्रदेशी लोकमें अनंत जीव किस
तरह समा सकते हैं ? क्योंकि एक एक जीवके असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं, और एक एक
जीवमें अनंतानंत पुद्गलपरमाणु कर्म नोकर्मरूपसे लग रहे हैं, और उनके सिवाय अनन्तगुणें अन्य
पुद्गल रहते हैं, सो ये द्रव्य असंख्यातप्रदेशी लोकमें कैसे समा गये ? इसका समाधान श्री गुरु
करते हैं—आकाशमें अवकाशदान (जगह देनेकी) शक्ति है, उसके सम्बन्धसे समा जाते हैं । जैसे
एक गूढ नागरस गुटिकामें शत सहस्र लक्ष सुवर्ण संख्या आ जाती है, अथवा एक दीपकके
प्रकाशमें बहुत दीपकोंका प्रकाश जगह पाता है, अथवा जैसे एक राखके घड़ेमें जलका घड़ा अच्छी
तरह अवकाश पाता है, भस्ममें जल शोषित हो जाता हैं, अथवा जैसे एक ऊँटनीके दूधके घड़ेमें
शहदका घड़ा समा जाता है, अथवा एक भूमिघरमें ढोल घण्टा आदि बहुत बाजोंका शब्द अच्छी
तरह समा जाता है, उसी तरह एक लोकाकाशमें विशिष्ट अवगाहनशक्तिके योगसे अनंत जीव
और अनन्तानन्त पुद्गल अवकाश पाते हैं, इसमें विरोध नहीं है, और जीवोंमें परस्पर

शब्दाः सम्यगवकाशं लभन्ते, तथैकस्मिन् लोके विशिष्टावगाहनशक्तियोगात् पूर्वोक्तानन्तसंख्या जीवपुद्गला अवकाशं लभन्ते नास्ति विरोधः इति । तथा चोक्तं जीवानामवगाहनशक्तिस्वरूपं परमागमे—“एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीद-कालेण ॥” पुनस्तथोक्तं पुद्गलानामवगाहनशक्तिस्वरूपम्—“ओगाढगाढणिचिदो पुगलकाएहिं सव्वदो लोगो । सुहुमेहिं बादरेहिं य णंतानंतेहिं विविहेहिं ॥” । अयमत्र भावार्थः । यद्यप्ये-कावगाहेन तिष्ठन्ति तथापि शुद्धनिश्चयेन जीवाः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपं न त्यजन्ति पुद्गलाश्च वर्णादिस्वरूपं न त्यजन्ति शेषद्रव्याणि च स्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्ति ॥ २५ ॥

अथ जीवस्य व्यवहारेण शेषपञ्चद्रव्यकृतपुष्पकारं कथयति, तस्यैव जीवस्य निश्चयेन तान्येव दुःखकारणानि च कथयति—

एयइं दव्वइं देहियहं णिय-णिय-कज्जु जणंति ।

चउ-गइ-दुक्ख सहंत जिय ते संसारु भमंति ॥ २६ ॥

एतानि द्रव्याणि देहिनां निजनिजकार्यं जनयन्ति ।

चतुर्गतिदुःखं सहमानाः जीवाः तेन संसारं भ्रमन्ति ॥ २६ ॥

एयइं इत्यादि । एयइं एतानि दव्वइं जीवादन्त्यद्रव्याणि देहियहं देहिनां संसारिजीवानाम् । किं कुर्वन्ति । णियणियकज्जु जणंति निजनिजकार्यं जनयन्ति येन कारणेन निजनिजकार्यं जनयन्ति । चउगइदुक्ख सहंत जिय चतुर्गतिदुःखं सहमानाः सन्तो जीवाः तै

अवगाहनशक्ति है । ऐसा ही कथन परमागममें कहा है—“एगणिगोद” इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि एक निगोदिया जीवके शरीरमें जीवद्रव्यके प्रमाणसे दिखलाये गये जितने सिद्ध हैं, उन सिद्धोंसे अनंत गुणे जीव एक निगोदियाके शरीरमें हैं, और निगोदियाका शरीर अंगुलके असंख्यातवें भाग है, सो ऐसे सूक्ष्म शरीरमें अनंत जीव समा जाते हैं, तो लोकाकाशमें समा जानेमें क्या अचम्भा है ? अनंतानंत पुद्गल लोकाकाशमें समा रहे हैं, उसकी “ओगाढ” इत्यादि गाथा है । उसका अर्थ यह है कि सब प्रकार सब जगह यह लोक पुद्गल कार्योंकर अवगाढगाढ भरा है, ये पुद्गल काय अनंत हैं; अनेक प्रकारके भेदको धरते हैं, कोई सूक्ष्म हैं कोई बादर हैं । तात्पर्य यह है कि यद्यपि सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाहकर रहते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर जीव केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप अपने स्वरूपको नहीं छोड़ते हैं, पुद्गलद्रव्य अपने वर्णादि स्वरूपको नहीं छोड़ता और धर्मादि अन्य द्रव्य भी अपने अपने स्वरूपको नहीं छोड़ते हैं ॥ २५ ॥

आगे जीवका व्यवहारनयकर अन्य पाँचों द्रव्य उपकार करते हैं, ऐसा कहते हैं, तथा उसी जीवके निश्चयसे वे ही दुःखके कारण हैं, ऐसा कहते हैं—[एतानि] ये [द्रव्याणि] द्रव्य [देहिनां] जीवोंके [निजनिजकार्यं] अपने अपने कार्यको [जनयंति] उपजाते हैं, [तेन] इस कारण [चतुर्गतिदुःखं सहमानाः जीवाः] नरकादि चारों गतियोंके दुःखोंको सहते हुए जीव [संसारं] संसारमें [भ्रमंति] भटकते हैं ॥ भावार्थ—ये द्रव्य जो जीवका उपकार करते हैं, उसको दिखलाते

संसारं भ्रमन्ति तेन कारणेन संसारं भ्रमन्तीति । तथा च । पुद्गलस्तावज्जीवस्य स्वसंविद्धि-
विलक्षणविभावपरिणामरतस्य व्यवहारेण शरीरवाङ्मनःप्राणापाननिष्पत्तिं करोति, धर्मद्रव्यं
चोपचरितासद्भूतव्यवहारेण गतिसहकारित्वं करोति, तथैवाधर्मद्रव्यं स्थितिसहकारित्वं करोति,
तेनैव व्यवहारनयेन आकाशद्रव्यमवकाशदानं ददाति, तथैव कालद्रव्यं च शुभाशुभपरिणाम-
सहकारित्वं करोति । एवं पञ्चद्रव्याणामुपकारं लब्ध्वा जीवो निश्चयव्यवहाररत्नत्रयभावनाच्युतः
सन् चतुर्गतिदुःखं सहत इति भावार्थः ॥ २६ ॥

अथैवं पञ्चद्रव्याणां स्वरूपं निश्चयेन दुःखकारणं ज्ञात्वा हे जीव निजशुद्धात्मोपलम्भलक्षणं
मोक्षमार्गं स्वीयत इति निरूपयति—

दुःखहं कारणं मुनिवि जिय दब्बहं एहु सहाउ ।

होयवि मोक्खहं मग्गि लहु गम्मिज्जइ परलोउ ॥ २७ ॥

दुःखस्य कारणं मत्वा जीव द्रव्याणां एतत्स्वभावम् ।

भूत्वा मोक्षस्य मार्गं लघु गम्यते परलोकः ॥ २७ ॥

दुःखहं कारणं दुःखस्य कारणं मुनिवि मत्वा ज्ञात्वा जिय हे जीव । किं दुःखस्य कारणं
ज्ञात्वा दब्बहं एहु सहाउ द्रव्याणामिमं शरीरवाङ्मनःप्राणापाननिष्पत्त्यादिलक्षणं पूर्वोक्त-
स्वभावम् । एवं पुद्गलादिपञ्चद्रव्यस्वभावं दुःखस्य कारणं ज्ञात्वा । किं क्रियते । होयवि भूत्वा ।
क । मोक्खहं मग्गि मोक्षस्य मार्गं लहु लघु शीघ्रं पश्चात् गम्मिज्जइ गम्यते । कः कर्मता-
पन्नः । परलोउ परलोको मोक्ष इति । तथाहि । वीतरागसदानन्दैकस्याभाविकसुखविपरीत-
स्याकुलत्वोत्पादकस्य दुःखस्य कारणानि पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणि ज्ञात्वा हे जीव भेदाभेदरत्नत्रय-

हैं । पुद्गल तो आत्मदानसे विपरीत विभाव परिणामोंमें लीन हुए अज्ञानी जीवोंके व्यवहारनयकर
शरीर, वचन, मन, श्वासोश्वास, इन चारोंकी उत्पत्ति करता है, अर्थात् मिथ्यात्व, अन्नत, कषाय,
रागद्वेषादि विभावपरिणाम हैं, इन विभाव परिणामोंके योगसे जीवके पुद्गलका संबन्ध है, और
पुद्गलके संबन्धसे ये हैं, धर्मद्रव्य उपचरितासद्भूत व्यवहारनयकर गतिसहायी हैं । अधर्मद्रव्य
स्थितिसहकारी हैं, व्यवहारनयकर आकाशद्रव्य अवकाश (जगह) देता है, और कालद्रव्य शुभ
अशुभ परिणामोंका सहायी है । इस तरह ये पाँच द्रव्य सहकारी हैं । इनकी सहाय पाकर ये जीव
निश्चय व्यवहाररत्नत्रयकी भावनासे रहित भ्रष्ट होते हुए चारों गतियोंके दुःखोंको सहते हुए
संसारमें भटकते हैं, यह तात्पर्य हुआ ॥२६॥

आगे परद्रव्योंका संबन्ध निश्चयनयसे दुःखका कारण है, ऐसा जानकर हे जीव, शुद्धात्माकी
प्राप्तिरूप मोक्षमार्गमें स्थित हो, ऐसा कहते हैं—[जीव] हे जीव, [द्रव्याणां इमं स्वभावं] परद्रव्योंके
ये स्वभाव [दुःखस्य] दुःखके [कारणं मत्वा] कारण जानकर [मोक्षस्य मार्गं] मोक्षके मार्गमें
[भूत्वा] लगेकर [लघु] शीघ्र ही [परलोकः गम्यते] उत्कृष्ट लोकरूप मोक्षमें जाना चाहिये । भावार्थ—
पहले कहे गये पुद्गलादि द्रव्योंके सहाय शरीर वचन मन श्वासोच्छ्वास आदिक ये सब दुःखके

लक्षणे मोक्षस्य मार्गे स्थित्वा परः परमात्मा तस्यावलोकनमनुभवं परमसमरसीभावेन परिणमनं परलोको मोक्षस्तत्र गम्यत इति भावार्थः ॥ २७ ॥

अथेदं व्यवहारेण मया भणितं जीवद्रव्यादिश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनमिदानीं सम्यग्ज्ञानं चारित्रं च हे प्रभाकरभट्ट शृणु तमिति मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

णियमेँ कहियउ एहु मइँ व्यवहारेण वि दिट्ठि ।

एवहिँ णाणु चरित्तु सुणि जेँ पावहिँ परमेट्ठि ॥ २८ ॥

नियमेन कथिता एषा मया व्यवहारेणापि दृष्टिः ।

इदानीं ज्ञानं चारित्रं शृणु येन प्राप्नोषि परमेष्ठिनम् ॥ २८ ॥

णियमेँ नियमेन निश्चयेन कहियउ कथिता एहु मइँ एषा कर्मतापन्ना मया । केनैव । व्यवहारेण वि व्यवहारनयेनैव । एषा का । दिट्ठि दृष्टिः । दृष्टिः कोऽर्थः, सम्यक्त्वम् । एवहिँ इदानीं णाणु चरित्तु सुणि हे प्रभाकरभट्ट क्रमेण ज्ञानचारित्रद्वयं शृणु । येन श्रुतेन किं भवति । जेँ पावहिँ येन सम्यग्ज्ञानचरित्रद्वयेन प्राप्नोषि । किं प्राप्नोषि । परमेट्ठि परमेष्ठिपदं मुक्तिपदमिति । अतो व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतानां द्रव्याणां चूलिकारूपेण व्याख्यानं क्रियते । तद्यथा । “परिणाम जीव मुत्तं सपदेसं एय खित्त किरिया य । णिच्चं कारण कत्ता सच्चगदं इदरम्हि य पवेसो ।” परिणाम इत्यादि । ‘परिणाम’ परिणामिनौ जीवपुद्गलौ स्वभावविभाव-परिणामाभ्यां शेषचत्वारि द्रव्याणि जीवपुद्गलवद्विभावव्यञ्जनपर्यायाभावात् मुख्यवृत्त्या पुनरकारण हैं, क्योंकि वीतराग सदा आनंदरूप स्वभावकर उत्पन्न जो अतीन्द्रिय सुख उससे विपरीत आकुलताके उपजानेवाले हैं, ऐसा जानकर हे जीव, तू भेदाभेद रत्नत्रयस्वरूप मोक्षके मार्गमें लगकर परमात्माका अनुभव परमसमरसीभावसे परिणमनरूप मोक्ष उसमें गमन कर ॥२७॥

आगे व्यवहारनयसे मैंने ये जीवादि द्रव्योंके श्रद्धानरूपको सम्यग्दर्शन कहा है, अब सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको हे प्रभाकरभट्ट; तू सुन, ऐसा मनमें रखकर यह दोहासूत्र कहते हैं—हे प्रभाकरभट्ट, [मया] मैंने [व्यवहारेणैव] व्यवहारनयसे तुझको [एषा दृष्टिः] ये सम्यग्दर्शनका स्वरूप [नियमेन कथिता] अच्छी तरह कहा, [इदानीं] अब तू [ज्ञानं चारित्रं] ज्ञान और चारित्रको [शृणु] सुन, [येन] जिसके धारण करनेसे [परमेष्ठिनं प्राप्नोषि] सिद्धपरमेष्ठिके पदको पावेगा ॥ भावार्थ—व्यवहारसम्यक्त्वके कारणभूत छह द्रव्योंका सांगोपांग व्याख्यान करते हैं “परिणाम” इत्यादि गाथासे । इसका अर्थ यह है, कि इन छह द्रव्योंमें विभावपरिणामके परिणमनेवाले जीव और पुद्गल दो ही हैं, अन्य चार द्रव्य अपने स्वभावस्वरूप तो परिणमते हैं, लेकिन जीव पुद्गलकी तरह विभावव्यञ्जनपर्यायके अभावसे विभावपरिणमन नहीं है, इसलिये मुख्यतासे परिणामी दो द्रव्य ही कहे हैं, शुद्धनिश्चयनयकर शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो शुद्ध चैतन्यप्राण उनसे जीवता है, जीवेगा, पहले जी आया, और व्यवहारनयकर इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोश्वासरूप द्रव्यप्राणोंकर जीता है, जीवेगा, पहले जी चुका, इसलिये जीवको ही जीव कहा गया है, अन्य

परिणामीनि इति । ‘जीव’ शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं शुद्धचैतन्यं प्राणशब्दे-
नोच्यते तेन जीवतीति जीवः, व्यवहारनयेन पुनः कर्मोदयजनितद्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैर्जी-
वति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणि पुनरजीवरूपाणि । ‘मुक्तं’ अमूर्त-
शुद्धात्मनो विलक्षणा स्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्तिरुच्यते तद्भावान्मूर्तः पुद्गलः जीवद्रव्यं पुनरनुप-
चरितासद्भूतव्यवहारेण मूर्तमपि शुद्धनिश्चयनयेनामूर्तं धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चामूर्तानि ।
‘सप्रदेशं’ लोकमात्रप्रमितासंख्येयप्रदेशलक्षणं जीवद्रव्यमार्दि कृत्वा पञ्चद्रव्याणि पञ्चास्तिकाय-
संज्ञानि सप्रदेशानि कालद्रव्यं पुनर्बहुप्रदेशलक्षणकायत्वाभावादप्रदेशम् । ‘एय’ द्रव्यार्थिकनयेन
धर्माधर्माकाशद्रव्याण्येकानि भवन्ति जीवपुद्गलकालद्रव्याणि पुनरनेकानि भवन्ति । ‘खेत्त’ सर्व-
द्रव्याणामवकाशदानसामर्थ्यात् क्षेत्रमाकाशमेकं शेषपञ्चद्रव्याण्यक्षेत्राणि । ‘किरिया य’ क्षेत्रा-
त्क्षेत्रान्तरगमनरूपा परिस्पन्दवती चलनवती क्रिया सा विद्यते ययोस्तौ क्रियावन्तौ जीवपुद्गलौ
धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि पुनर्निष्क्रियाणि । ‘णिच्चं’ धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि यद्यप्यर्थ-
पर्यायत्वेनानित्यानि तथापि मुख्यवृत्त्या विभावव्यञ्जनपर्यायाभावात् नित्यानि, द्रव्यार्थिकनयेन

पुद्गलादि पाँच द्रव्य अजीव हैं, स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाली मूर्ति सहित मूर्तिक एक पुद्गलद्रव्य ही
है, अन्य पाँच अमूर्तिक हैं । उनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चारों तो अमूर्तिक हैं, तथा
जीवद्रव्य अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनयकर मूर्तिक भी कहा जाता है क्योंकि शरीरको धारण
कर रहा है, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर अमूर्तिक ही है, लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी जीवद्रव्यको
आदि लेकर पाँच द्रव्य पञ्चास्तिकाय हैं, वे सप्रदेशी हैं, और कालद्रव्य बहुप्रदेश स्वभावकायपना न
होनेसे अप्रदेशी है, धर्म अधर्म आकाश ये तीन द्रव्य एक एक हैं, और जीव पुद्गल काल ये तीनों
अनेक हैं । जीव तो अनंत हैं । पुद्गल अनंतानंत हैं, काल असंख्यात हैं, सब द्रव्योंको अवकाश
देनेमें समर्थ एक आकाश ही है, इसलिये आकाश क्षेत्र कहा गया है, बाकी पाँच द्रव्य अक्षेत्री हैं,
एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गमन करना, वह चलन हलनवती क्रिया कही गई है, यह क्रिया जीव
पुद्गल दोनोंके ही है, और धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये चार द्रव्य निष्क्रिय हैं, जीवोंमें भी
संसारी जीव हलन-चलनवाले हैं, इसलिये क्रियावन्त हैं, और सिद्धपरमेष्ठी निःक्रिय हैं, उनके हलन
चलन क्रिया नहीं है । द्रव्यार्थिकनयसे विचारा जावे तो सभी द्रव्य नित्य हैं, और अर्थपर्याय जो
षट्गुणी हानिवृद्धिरूप स्वभावपर्याय हैं, उसकी अपेक्षा सब ही अनित्य हैं, तो भी
विभावव्यञ्जनपर्याय जीव और पुद्गल इन दोनोंकी है, इसलिये इन दोनोंको ही अनित्य कहा है,
अन्य चार द्रव्य विभावके अभावसे नित्य ही हैं, इस कारण यह निश्चयसे जानना कि चार नित्य
हैं, दो अनित्य हैं, तथा द्रव्यकर सब ही नित्य हैं, कोई भी द्रव्य विनश्वर नहीं है, जीवको पाँचों
ही द्रव्य कारणरूप हैं, पुद्गल तो शरीरादिकका कारण है, धर्म अधर्मद्रव्य गति स्थितिके कारण
हैं, आकाशद्रव्य अवकाश देनेका कारण है, और काल वर्तनाका सहायी है । ये पाँचों द्रव्य जीवको
कारण हैं, और जीव उनको कारण नहीं है । यद्यपि जीवद्रव्य अन्य जीवोंको गुरु शिष्यादिरूप

च जीवपुद्गलद्रव्ये पुनर्यद्यपि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्ये तथाप्यगुरुलघुपरिणतिरूपस्वभावपर्यायापेक्षया विभावव्यञ्जनपर्यायापेक्षया चानित्ये । 'कारण' पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि व्यवहारनयेन जीवस्य शरीरवाङ्मनःप्राणापानादिगतिस्थित्यवगाहवर्तनाकार्याणि कुर्वन्ति इति कारणानि भवन्ति, जीवद्रव्यं पुनर्यद्यपि गुरुशिष्यादिरूपेण परस्परोपग्रहं करोति तथापि पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां किमपि न करोतीत्यकारणम् । 'कर्ता' शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि बन्धमोक्षद्रव्यभावरूपः पुण्यपापघटपटादीनामकर्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनिश्चयेन शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणतः सन् पुण्यपापबन्धयोः कर्ता तत्फलभोक्ता च भवति विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन तत्परिणतः सन् मोक्षस्यापि कर्ता तत्फलभोक्ता च । शुभाशुभशुद्धपरिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं सर्वत्र ज्ञातव्यमिति । पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां च स्वकीयस्वकीयपरिणामेन परिणमनमेव कर्तृत्वम् । वस्तुवृत्त्या पुनः पुण्यपापादिरूपेणाकर्तृत्वमेव । 'सर्वगतं' लोकालोकव्याप्त्यपेक्षया सर्वगतमाकाशं भण्यते धर्माधर्मौ च लोकव्याप्त्यपेक्षया जीवद्रव्यं तु पुनरेकैकजीवापेक्षया लोकपूरणावस्थां विहायासर्वगतं नानाजीवापेक्षया सर्वगतमेव भवतीति । पुद्गलद्रव्यं पुनर्लोकरूपमहास्कन्धापेक्षया सर्वगतं शेषपुद्गलापेक्षया सर्वगतं न भवतीति । कालद्रव्यं पुनरेककालाणुद्रव्यापेक्षया सर्वगतं न भवति लोकप्रदेशप्रमाणनानाकालाणुविवक्षया लोके सर्वगतं भवति । 'इदरमिह यपवेसो'

परस्पर उपकार करता है, तो भी पुद्गलादि पाँच द्रव्योंको अकारण है, और ये पाँचों कारण हैं, शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर यह जीव यद्यपि बंध मोक्ष पुण्य पापका कर्ता नहीं है, तो भी अशुद्धनिश्चयनयकर शुभ अशुभ उपयोगोंसे परिणत हुआ पुण्य पापके बंधका कर्ता होता है, और उनके फलका भोक्ता होता है, तथा विशुद्ध ज्ञान दर्शनरूप निज शुद्धात्मद्रव्यका श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप शुद्धोपयोगकर परिणत हुआ मोक्षका भी कर्ता होता है और अनंतसुखका भोक्ता होता है । इसलिये जीवको कर्ता भी कहा जाता है, और भोक्ता भी कहा जाता है । शुभ अशुभ शुद्ध परिणमन ही सब जगह कर्तापना है, और पुद्गलादि पाँच द्रव्योंको अपने अपने परिणामरूप जो परिणमन वही कर्तापना है, पुण्य पापादिकका कर्तापना नहीं है, सर्वगतपना लोकालोक व्यापकताकी अपेक्षा आकाशमें ही हैं, धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य ये दोनों लोकाकाशव्यापी हैं, अलोकमें नहीं हैं, और जीवद्रव्यमें एक जीवकी अपेक्षा केवलसमुद्घातमें लोकपूरण अवस्थामें लोकमें सर्वगतपना है, तथा नाना जीवकी अपेक्षा सर्वगतपना नहीं है, पुद्गलद्रव्य लोकप्रमाण महास्कंधकी अपेक्षा सर्वगत है, अन्य पुद्गलकी अपेक्षा सर्वगत नहीं है, कालद्रव्य एक कालाणुकी अपेक्षा तो एकप्रदेशगत है, सर्वगत नहीं है, और नाना कालाणुकी अपेक्षा लोकाकाशके सब प्रदेशोंमें कालाणु है, इसलिये सब कालाणुओंकी अपेक्षा सर्वगत कह सकते हैं । इस नयविवक्षासे सर्वगतपनेका व्याख्यान किया । और मुख्यवृत्तिसे विचारा जावे, तो सर्वगतपना आकाशमें ही है, अथवा ज्ञानकी अपेक्षा जीवमें भी है, जीवका केवलज्ञान लोकालोक व्यापक है, इसलिये सर्वगत

यद्यपि सर्वद्रव्याणि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेनान्योन्यानुप्रवेशेन तिष्ठन्ति तथापि निश्चयनयेन चेतनादिस्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्तीति । तथा चोक्तम्—“अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स । मेलंता वि य णिच्चं सगसब्भावं ण विजहंति ॥ ” । इदमत्र तात्पर्यम् । व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतेषु षड्द्रव्येषु मध्ये वीतरागचिदानन्दैकादिगुणस्वभावं शुभाशुभमनो-वचनकायव्यापाररहितं निजशुद्धात्मद्रव्यमेवोपादेयम् ॥ २८ ॥ एवमेकोनविंशतिसूत्रप्रमितस्थले निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादकत्वेन पूर्वसूत्रत्रयं गतम् । इदं पुनरन्तरं स्थलं चतुर्दशसूत्रप्रमितं षड्द्रव्यध्येयभूतव्यवहारसम्यक्त्वव्याख्यानमुख्यत्वेन समाप्तमिति ।

अथ संशयविपर्ययानध्यवसायरहितं सम्यग्ज्ञानं प्रकटयति—

जं जह् थक्कउ दब्बु जिय तं तह जाणइ जो जि ।

अप्पहं केरउ भावडउ णाणु मुणिज्जहि सो जि ॥ २९ ॥

यद् यथा स्थितं द्रव्यं जीव तत् तथा जानाति य एव ।

आत्मनः संबन्धी भावः ज्ञानं मन्यस्व स एव ॥ २९ ॥

जं इत्यादि । जं यत् जह् यथा थक्कउ स्थितं दब्बु द्रव्यं जिय हे जीव तं तत् तह तथा जाणइ जानाति जो जि य एव । य एव कः । अप्पहं केरउ भावडउ आत्मनः संबन्धी भावः परिणामः णाणु मुणिज्जहि ज्ञानं मन्यस्व जानीहि सो जि स एव पूर्वोक्त आत्मपरिणाम इति । तथा च । यद् द्रव्यं यथा स्थितं सत्तालक्षणं उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं वा गुणपर्यायलक्षणं वा सप्त-
कहा । ये सब द्रव्य यद्यपि व्यवहारनयकर एक क्षेत्रावगाही रहते हैं, तो भी निश्चयनयकर अपने अपने स्वभावको नहीं छोड़ते, दूसरे द्रव्यमें जिनका प्रवेश नहीं है, सभी द्रव्य निज निज स्वरूपमें हैं, पररूप नहीं हैं—कोई किसीका स्वभाव नहीं लेता । ऐसा ही कथन श्रीपंचास्तिकायमें हैं—“अण्णोण्णं” इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है, कि यद्यपि ये छहों द्रव्य परस्परमें प्रवेश करते हुए देखे जाते हैं, तो भी कोई किसीमें प्रवेश नहीं करता, यद्यपि अन्यको अन्य अवकाश देता है, तो भी अपना अपना अवकाश आपमें ही है, परमें नहीं है । यद्यपि ये द्रव्य हमेशासे मिल रहे हैं, तो भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ते । यहाँ तात्पर्य यह है, कि व्यवहारसम्यक्त्वके कारण छह द्रव्योंमें वीतराग चिदानन्द अनंत गुणरूप जो शुद्धात्मा है, वह शुभ अशुभ मन वचन कायके व्यापारसे रहित हुआ ध्यावने योग्य है ॥२८॥ इस प्रकार उन्नीस दोहोंके स्थलमें निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहा कहे । ऐसे चौदह दोहोंतक व्यवहारसम्यक्त्वका व्याख्यान किया, जिसमें छह द्रव्योंका श्रद्धानु मुख्य है ।

आगे संशय विमोह विभ्रम रहित जो सम्यग्ज्ञान है, उसका स्वरूप प्रगट करते हैं—[जीव] हे जीव; [यत्] ये सब द्रव्य [यथा स्थितं] जिस तरह अनादिकालके तिष्ठे हुए हैं, जैसा इनका स्वरूप है, [तत् तथा] उनको वैसा ही संशयादि रहित [य एव जानाति] जो जानता है, [स एव] वही [आत्मनः संबन्धीभावः] आत्माका निजस्वरूप [ज्ञानं] सम्यग्ज्ञान है, ऐसा [मन्यस्व] तू मान ॥

भङ्ग्यात्मकं वा तत् तथा जानाति य आत्मसंबन्धी स्वपरपरिच्छेदको भावः परिणामस्तत् सम्यग्-
ज्ञानं भवति । अयमत्र भावार्थः । व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां तत्त्वविचारकाले स्वपरपरिच्छेदकं
ज्ञानं भण्यते । निश्चयनयेन पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले बहिरूपयोगो यद्यप्यनीहितवृत्त्या
निरस्तस्तथापीहापूर्वकविकल्पाभावाद्गौणत्वमितिकृत्वा स्वसंवेदनज्ञानमेव ज्ञानमुच्यते ॥ २९ ॥

अथ स्वपरद्रव्यं ज्ञात्वा रागादिरूपपरद्रव्यविषयसंकल्पविकल्पत्यागेन स्वस्वरूपे अवस्थानं
ज्ञानिनां चारित्र्यमिति प्रतिपादयति—

जाणवि मण्णवि अप्पु परु जो पर-भाउ चएइ ।

सो णिउ सुद्धउ भावडउ गाणिहिं चरणु हवेइ ॥ ३० ॥

ज्ञात्वा मत्वा आत्मानं परं यः परभावं त्यजति ।

स निजः शुद्धः भावः ज्ञानिनां चरणं भवति ॥ ३० ॥

जाणवि इत्यादि । जाणवि सम्यग्ज्ञानेन ज्ञात्वा न केवलं ज्ञात्वा मण्णवि तत्त्वार्थश्रद्धान-
लक्षणपरिणामेन मत्वा श्रद्धाय । कम् । अप्पु परु आत्मानं च परं च जो यः कर्ता परभाउ पर-
भावं चएइ त्यजति सो स पूर्वोक्तः णिउ निजः सुद्धउ भावडउ शुद्धो भावो गाणिहिं चरणु
हवेइ ज्ञानिनां पुरुषाणां चरणं भवतीति । तद्यथा । वीतरागसहजानन्दैकस्वभावं स्वद्रव्यं तद्विपरीतं
परद्रव्यं च संशयविपर्ययानध्यवसायरहितेन ज्ञानेन पूर्वं ज्ञात्वा शङ्कादिदोषरहितेन सम्यक्तत्त्वपरि-
णामेन श्रद्धाय च यः कर्ता मायामिध्यानिदानशल्यप्रभृतिसमस्तचिन्ताजालत्यागेन निजशुद्धात्म-
स्वरूपे परमानन्दसुखरसास्वादतृप्तो भूत्वा तिष्ठति स पुरुष एवाभेदेन निश्चयचारित्रं भवतीति

भावार्थ—जो द्रव्य है, वह सत्ता लक्षण है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है, और सभी द्रव्य गुण पर्यायको
धारण करते हैं, गुण पर्यायके बिना कोई नहीं हैं । अथवा सब ही द्रव्य सप्तभंगीस्वरूप हैं, ऐसा
द्रव्योंका स्वरूप जो निःसंदेह जाने, आप और परको पहचाने, ऐसा जो आत्माका भाव (परिणाम)
वह सम्यग्ज्ञान है । सारांश यह है, कि व्यवहारनयकर विकल्प सहित अवस्थामें तत्त्वके विचारके
समय आप और परका जानपना ज्ञान कहा है, और निश्चयनयकर वीतराग निर्विकल्प समाधि-
समय पदार्थोंका जानपना मुख्य नहीं लिया, केवल स्वसंवेदनज्ञान ही निश्चयसम्यग्ज्ञान है । व्यवहार-
सम्यग्ज्ञान तो परम्पराय मोक्षका कारण है, और निश्चयसम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्षका कारण है । २९।

आगे निज और परद्रव्यको जानकर रागादिरूप जो परद्रव्यमें संकल्प विकल्प हैं, उनके
त्यागसे जो निजस्वरूपमें निश्चलता होती है, वही ज्ञानी जीवोंके सम्यक्चारित्र है, ऐसा कहते
हैं—सम्यग्ज्ञानसे [आत्मानं च परं] आपको और परको [ज्ञात्वा] जानकर और सम्यग्दर्शनसे
[मत्वा] आप और परकी प्रतीति करके [यः] जो [परभावं] परभावको [त्यजति] छोड़ता है
[सः] वह [निजः शुद्धः भावः] आत्माका निज शुद्ध भाव [ज्ञानिनां] ज्ञानी पुरुषोंके [चरणं]
चारित्र [भवति] होता है ॥ भावार्थ—वीतराग सहजानन्द अद्वितीय स्वभाव जो आत्मद्रव्य उससे
विपरीत पुद्गलादि परद्रव्योंको सम्यग्ज्ञानसे पहले तो जानें, वह सम्यग्ज्ञान संशय विमोह और

भावार्थः ॥ ३० ॥ एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन सूत्रत्रयं षड्द्रव्यश्रद्धानलक्षणव्यवहारसम्यक्त्वव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राणि चतुर्दश, सम्यग्ज्ञानचारित्र्यमुख्यत्वेन सूत्रद्वयमिति समुदायेनैकोनविंशतिसूत्रस्थलं समाप्तम् ।

अथानन्तरमभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते, तत्रादौ तावत् रत्नत्रयभक्त-भव्यजीवस्य लक्षणं प्रतिपादयति—

जो भक्तउ रयणत्तयहँ तसु मुणि लक्खणु एउ ।

अप्पा मिल्लिवि गुण-णिलउ तासु वि अण्णु ण झेउ ॥ ३१ ॥

यः भक्तः रत्नत्रयस्य तस्य मन्यस्व लक्षणं एतत् ।

आत्मानं मुक्त्वा गुणनिलयं तस्यापि अन्यत् न ध्येयम् ॥ ३१ ॥

जो इत्यादि । जो यः भक्तउ भक्तः । कस्य । रयणत्तयहँ रत्नत्रयसंयुक्तस्य तसु तस्य जीवस्य मुणि मन्यस्व जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । किं जानीहि । लक्खणु लक्षणं एउ इदमग्रे वक्ष्यमाणम् । इदं किम् । अप्पा मिल्लिवि आत्मानं मुक्त्वा । किंविशिष्टम् । गुणणिलउ गुण-निलयं गुणगृहं तासु वि तस्यैव जीवस्य अण्णु ण झेउ निश्चयेनान्यद्बहिर्द्रव्यं ध्येयं न भवतीति । तथाहि । व्यवहारेण वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थ-

विभ्रम इन तीनोंसे रहित है । तथा शंकादि दोषोंसे रहित जो सम्यग्दर्शन है, उससे आप और परकी श्रद्धा करे, अच्छी तरह जानके प्रतीति करे, और माया मिथ्या निदान इन तीन शक्तियोंको आदि लेकर समस्त चिन्ता-समूहके त्यागसे निज शुद्धात्मस्वरूपमें तिष्ठे हैं, वह परम आनन्द अतीन्द्रिय सुखरसके आस्वादसे तृप्त हुआ पुरुष ही अभेदनयसे निश्चयचारित्र्य है ॥३०॥

इस प्रकार मोक्ष, मोक्षका फल, मोक्षका मार्ग इनको कहनेवाले दूसरे महाधिकारमें निश्चय व्यवहाररूप निर्वाणके पंथकी मुख्यतासे तीन दोहोंमें व्याख्यान किया, और चौदह दोहोंमें छह द्रव्यकी श्रद्धारूप व्यवहारसम्यक्त्वका व्याख्यान किया, तथा दो दोहोंमें सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र्यका मुख्यतासे वर्णन किया । इस प्रकार उन्नीस दोहोंका स्थल पूरा हुआ ।

आगे अभेदरत्नत्रयके व्याख्यानकी मुख्यतासे आठ दोहा-सूत्र कहते हैं, उनमेंसे पहले रत्नत्रयके भक्त भव्यजीवके लक्षण कहते हैं—[यः] जो जीव [रत्नत्रयस्य भक्तः] रत्नत्रयका भक्त है [तस्य] उसका [इदं लक्षणं] यह लक्षण [मन्यस्व] जानना । हे प्रभाकरभट्ट, रत्नत्रय धारकके ये लक्षण हैं । [गुणनिलयं] गुणोंके समूह [आत्मानं मुक्त्वा] आत्माको छोड़कर [तस्यापि अन्यत्] आत्मासे अन्य बाह्य द्रव्यको [न ध्येयं] न ध्यावे, निश्चयनयसे एक आत्मा ही ध्यावने योग्य है, अन्य नहीं ॥ भावार्थ—व्यवहारनयकर वीतराग सर्वज्ञके कहे हुए शुद्धात्मतत्त्व आदि छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पंच अस्तिकायका श्रद्धान जानने योग्य है, और हिंसादि पाप त्याग करने योग्य हैं, व्रत शीलादि पालने योग्य हैं । ये लक्षण व्यवहाररत्नत्रयके हैं, सो व्यवहारका नाम भेद हैं, वह भेदरत्नत्रय आराधने योग्य है, उसके प्रभावमे निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति है । वीतराग मदा

विषये सम्यक् श्रद्धानज्ञानाहिंसादिव्रतशीलपरिपालनरूपस्य भेदरत्नत्रयस्य निश्चयेन वीतरागसदानन्दैकरूपसुखसुधारसास्वादपरिणतनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपस्याभेदरत्नत्रयस्य च योऽसौ भक्तस्तस्येदं लक्षणं जानीहि । इदं किम् । यद्यपि व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां चित्तस्थितिकरणार्थं देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषकारणं परंपरया शुद्धात्मप्राप्तिहेतुभूतं पञ्चपरमेष्ठिरूपस्तवस्तुस्तवगुणस्तवादिकं वचनेन स्तुत्यं भवति मनसा च तदक्षररूपादिकं प्राथमिकानां ध्येयं भवति, तथापि पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयपरिणतिकाले केवलज्ञानाद्यनन्तगुणपरिणतः स्वशुद्धात्मैव ध्येय इति । अत्रेदं तात्पर्यम् । योऽसावनन्तज्ञानादिगुणः शुद्धात्मा ध्येयो भणितः स एव निश्चयेनोपादेय इति ॥ ३१ ॥

अथ ये ज्ञानिनो निर्मलरत्नत्रयमेवात्मानं मन्यन्ते शिवशब्दवाच्यं ते मोक्षपदाराधकाः सन्तो निजात्मानं ध्यायन्तीति निरूपयति—

जे रयणत्तउ णिम्मलउ णाणिय अप्पु भणंति ।

ते आराहय सिव-पयहँ णिय-अप्पा ज्ञायंति ॥ ३२ ॥

ये रत्नत्रयं निर्मलं ज्ञानिनः आत्मानं भणन्ति ।

ते आराधकाः शिवपदस्य निजात्मानं ध्यायन्ति ॥ ३२ ॥

जे इत्यादि । ये केचन रयणत्तउ रत्नत्रयम् । कथंभूतम् । णिम्मलउ निर्मलं रागादिदोषरहितम् । कथंभूता ये । णाणिय ज्ञानिनः । किं कुर्वन्ति । अप्पु भणंति पूर्वोत्तरत्नत्रयस्वरूपमेवात्मानं, आत्मस्वरूपं कर्मतापन्नं भणन्ति मन्यन्ते ते आराहय ते पूर्वोक्ताः पुरुषाः आराधका

आनंदरूप जो निज शुद्धात्मा आत्मिक सुखरूप सुधारसके आस्वाद कर परिणत हुआ उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अभेदरत्नत्रय है, उसका जो भक्त (आराधक) उसके ये लक्षण हैं, यह जानो । वे कौनसे लक्षण हैं—यद्यपि व्यवहारनयकर सविकल्प अवस्थामें चित्तके स्थिर करनेके लिये पंचपरमेष्ठीका स्तवन करता है, जो पंचपरमेष्ठीका स्तवन देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि विभूतिका कारण है, और परम्पराय शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति का कारण है, सो प्रथम अवस्थामें भव्यजीवोंको पंचपरमेष्ठी ध्यावने योग्य हैं, उनके आत्माका स्तवन, गुणोंकी स्तुति, वचनसे उनकी अनेक तरहकी स्तुति करनी, और मनसे उनके नामके अक्षर तथा उनका रूपादिक ध्यावने योग्य हैं, तो भी पूर्वोक्त निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्तिके समय केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप परिणत जो निज शुद्धात्मा वही आराधने योग्य है, अन्य नहीं । तात्पर्य यह है कि ध्यान करने योग्य या तो निज आत्मा है, या पंचपरमेष्ठी हैं, अन्य नहीं । प्रथम अवस्थामें तो पंचपरमेष्ठीका ध्यान करना योग्य है, और निर्विकल्पदशामें निजस्वरूप ही ध्यावने योग्य है, निजरूप ही उपादेय हैं ॥३१॥

आगे जो ज्ञानी निर्मल रत्नत्रयको ही आत्मस्वरूप मानते हैं, और अपनेको ही शिव जानते हैं, वे ही मोक्षपदके धारक हुए निज आत्माको ध्यावते हैं, ऐसा निरूपण करते हैं—[ये ज्ञानिनः] जो ज्ञानी [निर्मलं रत्नत्रयं] निर्मल रागादि दोष रहित रत्नत्रयको [आत्मानं] आत्मा [भणंति]

भवन्ति । कस्य । शिवपदस्य शिवशब्दवाच्यमोक्षस्य । मोक्षपदाराधकाः सन्तः किं कुर्वन्ति । गियअप्पा ज्ञायन्ति निजात्मानं कर्मतापन्नं ध्यायन्ति इति । तथा च ये केचन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनः परमात्मानं सम्यक्श्रद्धानुष्ठानलक्षणं निश्चयरत्नत्रयमेवाभेदनयेन निजशुद्धात्मानं मन्यन्ते ते शिवशब्दवाच्यमोक्षपदाराधका भवन्ति । आराधकाः सन्तः किं ध्यायन्ति । विशुद्धज्ञानदर्शनं स्वशुद्धात्मस्वरूपं निश्चयनयेन ध्यायन्ति भावयन्तीत्यभिप्रायः ॥ ३२ ॥

अथात्मानं गुणस्वरूपं रागादिदोषरहितं ये ध्यायन्ति ते शीघ्रं नियमेन मोक्षं लभन्त इति प्रकटयति—

अप्पा गुणमउ गिम्मलउ अणुदिणु जे ज्ञायन्ति ।

ते पर गियमे^९ परममुणि लहु गिन्वाणु लहन्ति ॥ ३३ ॥

आत्मानं गुणमयं निर्मलं अनुदिनं ये ध्यायन्ति ।

ते परं नियमेन परममुनयः लघु निर्वाणं लभन्ते ॥ ३३ ॥

अप्पा इत्यादि । अप्पा आत्मानं कर्मतापन्नम् । कथंभूतम् गुणमउ गुणमयं केवलज्ञानाद्यनन्त-गुणनिर्वृत्तम् । पुनरपि कथंभूतम् । गिम्मलउ निर्मलं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितं अणुदिणु दिनें दिनें प्रति अनुदिनमनवरतमित्यर्थः । इत्थंभूतमात्मानं जे ज्ञायन्ति ये केचन ध्यायन्ति ते पर ते एव नान्ये गियमे^९ निश्चयेन । किंविशिष्टास्ते । परममुणि परममुनयः लहु लघु शीघ्रं लहन्ति लभन्ते । किं लभन्ते । गिन्वाणु निर्वाणमिति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । अत्रोक्तं भवद्भिर्न एव शुद्धात्मध्यानं कुर्वन्ति त एव मोक्षं लभन्ते न चान्ये । चारित्रसारादौ पुनर्भ-

कहते हैं [ते] वे [शिवपदस्य आराधकाः] शिवपदके आराधक हैं, और वे ही [निजात्मानं] मोक्षपदके आराधक हुए अपने आत्माको [ध्यायन्ति] ध्यावते हैं ॥ भावार्थ—जो कोई वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप आत्माको मानते हैं, वे ही मोक्षपदके आराधक हुए निश्चयनयकर केवल निजरूपको ही ध्यावते हैं ॥ ३२ ॥

आगे यह व्याख्यान करते हैं—जो अनन्त गुणरूप रागादि दोष रहित निज आत्माको ध्यावते हैं, वे निश्चयसे शीघ्र ही मोक्षको पाते हैं, [ये] जो पुरुष [गुणमयं] केवलज्ञानादि अनन्त गुणरूप [निर्मलं] भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म मल रहित निर्मल [आत्मानं] आत्माको [अनुदिनं] निरन्तर [ध्यायन्ति] ध्यावते हैं, [ते परं] वे ही [परममुनयः] परममुनि [नियमेन] निश्चयकर [निर्वाणं] निर्वाणको [लघु] शीघ्र [लभन्ते] पाते हैं ॥ भावार्थ—यह कथन श्रीगुरुने कहा, तब प्रभाकरभट्टने पूछा कि हे प्रभो, तुमने कहा कि जो शुद्धात्माका ध्यान करते हैं, वे ही मोक्षको पाते हैं, दूसरे नहीं । तथा चारित्रसारादिक ग्रंथोंमें ऐसा कहा है, कि जो द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणुका ध्यान करें वे केवलज्ञानको पाते हैं । इस विषयमें मुझको संदेह है । तब श्रीयोगीन्द्रदेव समाधान करते हैं—द्रव्यपरमाणुसे द्रव्यकी सूक्ष्मता और भावपरमाणुसे भावकी सूक्ष्मता कहीं गई है । उसमें पुद्गल परमाणुका कथन नहीं है । तत्त्वार्थसूत्रकी सर्वार्थमिद्धि टीकामें भी ऐसा ही कथन है, कि

णितं द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा ध्यात्वा केवलज्ञानमुत्पादयन्तीत्यत्र विषये अस्माकं संदेहोऽस्ति । अत्र श्रीयोगीन्द्रदेवाः परिहारमाहुः । तत्र द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं भावपरमाणुशब्देन भावसूक्ष्मत्वं ग्राह्यं न च पुद्गलद्रव्यपरमाणुः । तथा चोक्तं सर्वार्थसिद्धिदिप्पणिके । द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं भावपरमाणुशब्देन भावसूक्ष्मत्वमिति । तद्यथा । द्रव्यमात्मद्रव्यं तस्य परमाणुशब्देन सूक्ष्मावस्था ग्राह्या । सा च रागादिविकल्पोपाधिरहिता तस्य सूक्ष्मत्वं कथमिति चेत्, निर्विकल्पसमाधिविषयत्वेनेन्द्रियमनोविकल्पातीतत्वात् । भावशब्देन स्वसंवेदनपरिणामः तस्य भावस्य परमाणुशब्देन सूक्ष्मावस्था ग्राह्या । सूक्ष्मा कथमिति चेत् । वीतरागनिर्विकल्पसमरसी-भावविषयेन यश्चेन्द्रियमनोविषयातीतत्वादिति । पुनरप्याह । इदं परद्रव्यावलम्बनं ध्यानं निषिद्धं किल भवद्भिः निजशुद्धात्मध्यानेनैव मोक्षः कुत्रापि भणितमास्ते । परिहारमाह—‘अप्पा ज्ञायहि णिम्मलउ’ इत्यत्रैव ग्रन्थे निरन्तरं भणितमास्ते, ग्रन्थान्तरे च समाधिशतकादौ पुनश्चोक्तं तैरेव पूज्यपादस्वामिभिः—“आत्मानमात्मा आत्मन्येवात्मनासौ क्षणमुपजनयन् स स्वयंभूः प्रवृत्तः” अस्यार्थः । आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मा कर्ता आत्मन्येवाधिकरणभूते असौ पूर्वोक्ता-त्मा आत्मना करणभूतेन क्षणमन्तर्मुहूर्तमात्रं उपजनयन् निर्विकल्पसमाधिनाराधयन् स स्वयंभूः प्रवृत्तः सर्वज्ञो जात इत्यर्थः । ये च तत्र द्रव्यभावपरमाणुध्येयलक्षणे शुक्लध्याने व्यधिकचत्वारिंशद्विकल्पा भणितास्तिष्ठन्ति ते पुनरनीहितवृत्त्या ग्राह्याः । केन दृष्टान्तेनेति चेत् । यथा प्रथमौ-

द्रव्यपरमाणुसे द्रव्यकी सूक्ष्मता और भावपरमाणुसे भावकी सूक्ष्मता समझना, अन्य द्रव्यका कथन न लेना । यहाँ निज द्रव्य तथा निज गुण पर्यायका ही कथन है, अन्य द्रव्यका प्रयोजन नहीं है । द्रव्य अर्थात् आत्मद्रव्य उसकी सूक्ष्मता वह द्रव्यपरमाणु कहा जाता है । वह रागादि विकल्पकी उपाधिसे रहित है, उसको सूक्ष्मपना कैसे हो सकता है ? ऐसा शिष्यने प्रश्न किया । उसका समाधान इस तरह है—कि मन इन्द्रियोंके अगोचर होनेसे सूक्ष्म कहा जाता है, तथा भाव (स्वसंवेदन-परिणाम) भी परमसूक्ष्म हैं, वीतराग निर्विकल्प परमसमरसीभावरूप हैं, वहाँ मन और इन्द्रियोंकी गम्य नहीं हैं, इसलिये सूक्ष्म है । ऐसा कथन सुनकर फिर शिष्यने पूछा, कि तुमने परद्रव्यके आलम्बनरूप ध्यानका निषेध किया, और निज शुद्धात्माके ध्यानसे ही मोक्ष कहा । ऐसा कथन किस जगह कहा है ? इसका समाधान यह है—“अप्पा ज्ञायहि णिम्मलउ” निर्मल आत्माको ध्यावो, ऐसा कथन इस ही ग्रंथमें पहले कहा है, और समाधिशतकमें भी श्रीपूज्यपादस्वामीने कहा है “आत्मानम्” इत्यादि । अर्थात् जीवपदार्थ अपने स्वरूपको अपनेमें ही अपने करके एक क्षणमात्र भी निर्विकल्प समाधिकर आराधता हुआ वह सर्वज्ञ वीतराग हो जाता है । जिस शुक्लध्यानमें द्रव्यपरमाणुकी सूक्ष्मता और भावपरमाणुकी सूक्ष्मता ध्यान करने योग्य है, ऐसे शुक्लध्यानमें निजवस्तु और निजभावका ही सहारा है, परवस्तुका नहीं । सिद्धान्तमें शुक्लध्यानके बयालीस भेद कहे हैं, वे अवांछीक वृत्तिसे गौणरूप जानना, मुख्य वृत्तिसे न जानना । उसका दृष्टांत—जैसे उपशमसम्यक्त्वके ग्रहणके समय परमागममें प्रसिद्ध जो अधःकरणादि भेद हैं, उनको

पशमिकसम्यक्त्वग्रहणकाले परमागमप्रसिद्धान्धाप्रवृत्तिकरणादिविकल्पान् जीवः करोति न चात्रेहादिपूर्वकलेन स्मरणमस्ति तथात्र शुक्लध्याने चेति । इदमत्र तात्पर्यम् । प्राथमिकानां चित्तस्थितिकरणार्थं विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं च परंपरया मुक्तिकारणमर्हदादिपरद्रव्यं ध्येयम्, पश्चात् चित्ते स्थिरीभूते साक्षान्मुक्तिकारणं स्वशुद्धात्मतत्त्वमेव ध्येयं नास्त्येकान्तः, एवं साध्यसाधकभावं ज्ञात्वा ध्येयविषये विवादो न कर्तव्यः इति ॥ ३३ ॥

अथ सामान्यग्राहकं निर्विकल्पं सत्तावलोकदर्शनं कथयति—

सयल-पयत्थहं जं ग्रहणु जीवहं अग्गिमु होइ ।

वत्थु-विसेस-विवज्जियउ तं णिय-दंसणु जोइ ॥ ३४ ॥

सकलपदार्थानां यद् ग्रहणं जीवानां अग्रिमं भवति ।

वस्तुविशेषविवर्जितं तत् निजदर्शनं पश्य ॥ ३४ ॥

सयल इत्यादि । सयलपयत्थहं सकलपदार्थानां जं ग्रहणु यद् ग्रहणमवलोकनम् । कस्य । जीवहं जीवस्य अथवा बहुवचनपक्षे 'जीवहं' जीवानाम् । कथंभूतमवलोकनम् । अग्गिमु अग्रिमं सविकल्पज्ञानात्पूर्वं होइ भवति । पुनरपि कथंभूतम् । वत्थुविसेसविवज्जियउ वस्तुविशेषविवर्जितं शुक्लमिदमित्यादिविकल्परहितं तं तत्पूर्वोक्तलक्षणं णियदंसणु निज आत्मा तस्य दर्शनमवलोकनं जोइ पश्य जानीहीति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । निजात्मा तस्य दर्शन-

जीव करता हैं, वे वांछापूर्वक नहीं होते, सहज ही होते हैं, वैसे ही शुक्लध्यानमें भी ऐसे ही जानना । तात्पर्य यह है कि प्रथम अवस्थामें चित्तके स्थिर करनेके लिए और विषयकषायरूप खोटे ध्यानके रोकनेके लिये परम्पराय मुक्तिके कारणरूप अरहंत आदि पंचपरमेष्ठी ध्यान करने योग्य हैं, बादमें चित्तके स्थिर होनेपर साक्षात् मुक्तिका कारण जो निज शुद्धात्मतत्त्व है, वही ध्यावने योग्य है । इस प्रकार साध्य-साधकभावको जानकर ध्यावने योग्य वस्तुमें विवाद नहीं करना, पंचपरमेष्ठीका ध्यान साधक है, और आत्मध्यान साध्य है, यह निःसंदेह जानना ॥३३॥

आगे सामान्य ग्राहक निर्विकल्प सत्तावलोकनरूप दर्शनको कहते हैं—[यत्] जो [जीवानां] जीवोंके [अग्रिम] ज्ञानके पहले [सकलपदार्थानां] सब पदार्थोंका [वस्तुविवर्जितं] यह सफेद है, इत्यादि भेद रहित [ग्रहणं] सामान्यरूप देखना, [तत्] वह [निजदर्शनं] दर्शन है, [पश्य] उसको तू जान ॥ भावार्थ—यहाँ प्रभाकरभट्ट पूछता है, कि आपने जो कहा कि निजात्माका देखना वह दर्शन हैं, ऐसा बहुत बार तुमने कहा है, अब सामान्य अवलोकनरूप दर्शन कहते हैं । ऐसा दर्शन तो मिथ्यादृष्टियोंके भी होता है, उनको भी मोक्ष कहना चाहिये ? इसका समाधान—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन ये दर्शनके चार भेद हैं । इन चारोंमें मनकर जो देखना वह अचक्षुदर्शन, जो आँखोंसे देखना वह चक्षुदर्शन है । इन चारोंमेंसे आत्माका अवलोकन छद्मस्थअवस्थामें मनसे होता है, और वह आत्मदर्शन मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंके उपशम,

मवलोकनं दर्शनमिति व्याख्यातं भवद्भिरिदं तु सत्तावलोकदर्शनं मिथ्यादृष्टीनामप्यस्ति तेषामपि मोक्षो भवतु । परिहारमाह । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलभेदेन चतुर्धा दर्शनम् । अत्र चतुष्टयमध्ये मान-समचक्षुर्दर्शनमात्मग्राहकं भवति, तच्च मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयजनिततत्त्वार्थ-श्रद्धानलक्षणसम्यक्त्वाभावात् शुद्धात्मतत्त्वमेवोपादेयमिति श्रद्धानाभावे सति तेषां मिथ्यादृष्टीनां न भवत्येवेति भावार्थः ॥ ३४ ॥

अथ छद्मस्थानां सत्तावलोकदर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवतीति प्रतिपादयति—

दंसणपुण्वु हवेइ फुडु जं जीवहं विण्णाणु ।

वत्थु-विसेसु मुणंतु जिय तं मुणि अविचलु णाणु ॥ ३५ ॥

दर्शनपूर्वं भवति स्फुटं यत् जीवानां विज्ञानम् ।

वस्तुविशेषं जानन् जीव तत् मन्यस्व अविचलं ज्ञानम् ॥ ३५ ॥

दंसणपुण्वु इत्यादि । दंसणपुण्वु सामान्यग्राहकनिर्विकल्पसत्तावलोकदर्शनपूर्वकं हवेइ भवति फुडु स्फुटं जं यत् जीवहं जीवानाम् । किं भवति । विण्णाणु विज्ञानम् । किं कुर्वन् सन् । वत्थुविसेसु मुणंतु वस्तुविशेषं वर्णसंस्थानादिविकल्पपूर्वकं जानन् । जिय हे जीव । तं तत् मुणि मन्यस्व जानीहि । किं जानीहि अविचलु णाणु अविचलं संशयविपर्ययानध्यवसायरहितं ज्ञानमिति । तत्रेदं दर्शनपूर्वकं ज्ञानं व्याख्यातम् । यद्यपि शुद्धात्मभावनाव्याख्यानकाले प्रस्तुतं न भवति तथापि भणितं भगवता । कस्मादिति चेत् । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलभेदेन दर्शनोपयोगश्च-क्षयोपशम, तथा क्षयसे होता है । सो सम्यग्दृष्टिके तो यह दर्शन तत्त्वार्थश्रद्धानरूप होनेसे मोक्षका कारण है, जिसमें शुद्ध आत्मतत्त्व ही उपादेय है, और मिथ्यादृष्टियोंके तत्त्वश्रद्धान नहीं होनेसे आत्माका दर्शन नहीं होता । मिथ्यादृष्टियोंके स्थूलरूप परद्रव्यका देखना जानना मन और इन्द्रियोंके द्वारा होता है, वह सम्यग्दर्शन नहीं है, इसलिये मोक्षका कारण भी नहीं है । सारांश यह है—कि तत्त्वार्थश्रद्धानके अभावसे सम्यक्त्वका अभाव हैं, और सम्यक्त्वके अभावसे मोक्षका अभाव है ॥३४॥

आगे केवलज्ञानके पहले छद्मस्थोंके पहले दर्शन होता है, उसके बाद ज्ञान होता है, और केवली भगवानके दर्शन और ज्ञान एक साथ ही होते हैं—आगे पीछे नहीं होते, यह कहते हैं—[यत्] जो [जीवानां] जीवोंके [विज्ञानं] ज्ञान है, वह [स्फुटं] निश्चयकरके [दर्शनपूर्वं] दर्शनके बादमें [भवति] होता है, [तत् ज्ञानं] वह ज्ञान [वस्तुविशेषं जानन्] वस्तुकी विस्तीर्णताको जाननेवाला है, उस ज्ञानको [जीव] हे जीव, [अविचलं] संशय विमोह विभ्रमसे रहित [मन्यस्व] तू जान ॥ भावार्थ—जो सामान्यको ग्रहण करे, विशेष न जाने, वह दर्शन है, तथा जो वस्तुका विशेष वर्णन आकार जाने वह ज्ञान है । यह दर्शन ज्ञानका व्याख्यान किया । यद्यपि यह व्यवहारसम्यग्ज्ञान शुद्धात्माकी भावनाके व्याख्यानके समय प्रशंसा योग्य नहीं है, तो भी प्रथम अवस्थामें प्रशंसा योग्य है, ऐसा भगवानने कहा है । क्योंकि चक्षु अचक्षु अवधि केवलके

तुर्विधो भवति । तत्र चतुष्टयमध्ये द्वितीयं यदचक्षुर्दर्शनं मानसरूपं निर्विकल्पं यथा भव्यजीवस्य दर्शनमोहचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमक्षयलाभे सति शुद्धात्मानुभूतिरुचिरूपं वीतरागसम्यक्त्वं भवति तथैव च शुद्धात्मानुभूतिस्थिरतालक्षणं वीतरागचारित्रं भवति तदा काले तत्पूर्वोक्तं सत्तावलोकलक्षणं मानसं निर्विकल्पदर्शनं कर्तुं पूर्वोक्तनिश्चयसम्यक्त्वचारित्रबलेन निर्विकल्पनिज-शुद्धात्मानुभूतिध्यानेन सहकारिकारणं भवति पूर्वोक्तभव्यजीवस्य न चाभव्यस्य । कस्मात् । निश्चयसम्यक्त्वचारित्राभावादिति भावार्थः ॥ ३५ ॥

अथ परमध्यानारूढो ज्ञानी समभावेन दुःखं सहमानः स एवाभेदेन निर्जराहेतुर्भण्यते इति दर्शयति—

दुःखं वि सुखं सहंतु जिय णाणिउ ज्ञाण-णिलीणु ।

कम्महं णिज्जरहेउ तउ वुच्चइ संग-विहीणु ॥ ३६ ॥

दुःखमपि सुखं सहमानः जीव ज्ञानी ध्याननिलीनः ।

कर्मणः निर्जराहेतुः तपः उच्यते संगविहीनः ॥ ३६ ॥

दुःखं वि इत्यादि । दुःखं वि सुखं सहंतु दुःखमपि सुखमपि समभावेन सहमानः सन् जिय हे जीव । कोऽसौ कर्ता । णाणिउ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी । किंविशिष्टः । ज्ञाण-णिलीणु वीतरागचिदानन्दैकाग्र्यध्याननिलीनो रतः स एवाभेदेन कम्महं णिज्जरहेउ शुभा-शुभकर्मणो निर्जराहेतुरुच्यते न केवलं ध्यानपरिणतपुरुषो निर्जराहेतुरुच्यते तउ परद्रव्येच्छा-

भेदसे दर्शनोपयोग चार तरहका होता है । उन चार भेदोंमें दूसरा भेद अचक्षुदर्शन मनसंबंधी निर्विकल्प भव्यजीवोंके दर्शनमोह चारित्रमोहके उपशम क्षयोपशम तथा क्षयके होनेपर शुद्धात्मानुभूति रुचिरूप वीतराग सम्यक्त्व होता है, और शुद्धात्मानुभूतिमें स्थिरतारूप वीतरागचारित्र होता है, उस समय पूर्वोक्त सत्ताके अवलोकनरूप मनसंबंधी निर्विकल्पदर्शन निश्चयचारित्रके बलसे विकल्प रहित निज शुद्धात्मानुभूतिके ध्यानकर सहकारी कारण होता है । इसलिये व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञान भव्यजीवके ही होता है, अभव्यके सर्वथा नहीं, क्योंकि अभव्यजीव मुक्तिका पात्र नहीं है । जो मुक्तिका पात्र होता है, उसीके व्यवहाररत्नत्रयकी प्राप्ति होती है । व्यवहाररत्नत्रय परम्पराय मोक्षका कारण है, और निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मुक्तिका कारण है, ऐसा तात्पर्य हुआ ॥३५॥

आगे परमध्यानमें आरूढ ज्ञानी जीव समभावसे दुःख सुखको सहता हुआ अभेदनयसे निर्जराका कारण होता है, ऐसा दिखाते हैं—[जीव] हे जीव, [ज्ञानी] वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी [ध्यान-निलीनः] आत्मध्यानमें लीन [दुःखं अपि सुखं] दुःख और सुखको [सहमानः] समभावोंसे सहता हुआ अभेदनयसे [कर्मणो निर्जराहेतुः] शुभ अशुभ कर्मोंकी निर्जराका कारण है, ऐसा भगवानने [उच्यते] कहा है, और [संगविहीनः तपः] बाह्य अभ्यंतर परिग्रह रहित परद्रव्यकी इच्छाके निरोधरूप बाह्य अभ्यंतर अनशनादि बारह प्रकारके तपस्वरूप भी वह ज्ञानी है ॥ भावार्थ—

निरोधरूपवाद्याभ्यन्तरलक्षणं द्वादशविधं तपश्च । किंविशिष्टः स तपोधनस्तत्तपश्च । संगविहीणु संगविहीनो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहित इति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । ध्यानेन निर्जरा भणिता भवद्भिः उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति ध्यानलक्षणं, उत्तमसंहननाभावे कथं ध्यानमिति । भगवानाह । उत्तमसंहननेन यद्वचनं भणितं तदपूर्वगुणस्थानादिषूपशमक्षपकश्रेण्योर्यत् शुक्लध्यानं तदपेक्षया भणितम् । अपूर्वगुणस्थानादधस्तनगुणस्थानेषु धर्मध्यानस्य निषेधकं न भवति । तथाचोक्तं तत्त्वानुशासने ध्यानग्रन्थे—“ यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः । श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाथस्तान्निषेधकम् ॥ ” । किं च । रागद्वेषाभावलक्षणं परमं यथाख्यातस्वरूपं स्वरूपे चरणं निश्चयचारित्रं भणन्ति इदानीं तदभावेऽन्यचारित्रमाचरन्तु तपोधनाः ।

यहाँ प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया, कि हे प्रभो; आपने ध्यानसे निर्जरा कही, वह ध्यान एकाग्र चित्तका निरोधरूप उत्तम संहननवाले मुनिके होता है, जहाँ उत्तमसंहनन ही नहीं है, वहाँ ध्यान किस तरहसे हो सकता है ? उसका समाधान श्रीगुरु कहते हैं—उत्तम संहननवाले मुनिके जो ध्यान कहा है, वह आठवें गुणस्थानसे लेकर उपशम क्षपकश्रेणीवालोंके जो शुक्लध्यान होता है, उसकी अपेक्षा कहा गया है । उपशमश्रेणी वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच इन तीन संहननवालोंके होती हैं, उनके शुक्लध्यानका पहला पाया है, वे ग्यारहवें गुणस्थानसे नीचे आते हैं, और क्षपकश्रेणी एक वज्रवृषभनाराच संहननवालेके ही होती है, वे आठवें गुणस्थानमें क्षपकश्रेणी मौड़ते (प्रारंभ करते) हैं, उनके आठवें गुणस्थानमें शुक्लध्यानका पहला पाया (भेद) होता है, वह आठवें नववें दशवें तथा दशवेंसे बारहवें गुणस्थानमें स्पर्श करते हैं, ग्यारहवेंमें नहीं, तथा बारहवेंमें शुक्लध्यानका दूसरा पाया होता है, उसके प्रसादसे केवलज्ञान पाता है, और उसी भवमें मोक्षको जाता है । इसलिये उत्तम संहननका कथन शुक्लध्यानकी अपेक्षासे है । आठवें गुणस्थानसे नीचेके चौथेसे लेकर सातवेंतक शुक्लध्यान नहीं होता, धर्मध्यान छहों संहननवालोंके है, श्रेणीके नीचे धर्मध्यान ही है; उसका निषेध किसी संहननमें नहीं है । ऐसा ही कथन तत्त्वानुशासन नामक ग्रंथमें कहा है ‘यत्पुनः’ इत्यादि । उसका अर्थ ऐसा है, कि वज्रकायके ही ध्यान होता है, ऐसा जो आगमका वचन है, वह दोनों श्रेणियोंमें शुक्लध्यान होनेकी अपेक्षा है, और श्रेणीके नीचे जो धर्मध्यान है, उसका निषेध (न होना) किसी संहननमें नहीं कहा है, यह निश्चयसे जानना । रागद्वेषके अभावरूप उत्कृष्ट यथाख्यातस्वरूप स्वरूपाचरण ही निश्चयचारित्र है, वह इस समय पंचमकालमें भरतक्षेत्रमें नहीं है, इसलिये साधुजन अन्य चारित्रका आचरण करो । चारित्रके पाँच भेद हैं, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात । उनमें इस समय इस क्षेत्रमें सामायिक छेदोपस्थापना ये दो ही चारित्र होते हैं, अन्य नहीं, इसलिये इनको ही आचरो । तत्त्वानुशासनमें भी कहा है ‘चरितारो’ इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है, कि इस समय यथाख्यातचारित्रके आचरण करनेवाले मौजूद नहीं हैं, तो क्या हुआ ? अपनी शक्तिके अनुसार तपस्वीजन सामायिक छेदोपस्थापनाका आचरण करो । फिर श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने भी मोक्षपाहुडमें ऐसा ही कहा है ‘अज्ज

तथा चोक्तं तत्रेदम्—“चरितारो न सन्त्यद्य यथाख्यातस्य संप्रति । तत्किमन्ये यथाशक्ति-
माचरन्तु तपस्विनः ॥” । पुनश्चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः मोक्षप्राभृते—“अज्ज वि तिय-
रणसुद्धा अप्पा ज्ञाऊण लहहिं इंदत्तं । लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥” । अयमत्र
भावार्थः । यथादिक्रिकसंहननलक्षणवीतरागयथाख्यातचारित्राभावेऽपीदानीं शेषसंहननेनापि शेष-
चारित्रमाचरन्ति तपस्विनः तथादिक्रिकसंहननलक्षणशुद्ध्यानाभावेऽपि शेषसंहननेनापि संसार-
स्थितिच्छेदकारणं परंपरया मुक्तिकारणं च धर्मध्यानमाचरन्तीति ॥ ३६ ॥

अथ सुखदुःखं सहमानः सन् येन कारणेन समभावं करोति मुनिस्तेन कारणेन पुण्यपाप-
द्वयसंवरहेतुर्भवतीति दर्शयति—

बिण्णि वि जेण सहंतु मुणि मणि सम-भाउ करेइ ।

पुण्णहं पावहं तेण जिय संवर-हेउ हवेइ ॥ ३७ ॥

द्वे अपि येन सहमानः मुनिः मनसि समभावं करोति ।

पुण्यस्य पापस्य तेन जीव संवरहेतुः भवति ॥ ३७ ॥

बिण्णि वि इत्यादि । बिण्णि वि द्वे अपि सुखदुःखे जेण येन कारणेन सहंतु सहमानः
सन् । कोऽसौ कर्ता । मुणि मुनिः स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानी । मणि अविक्षिप्तमनसि । सम-भाउ
समभावं सहजशुद्धज्ञानानन्दैकरूपं रागद्वेषमोहरहितं परिणामं कर्मतापन्नं करेइ करोति परिणमति
पुण्णहं पावहं पुण्यस्य पापस्य संबन्धी तेण तेन कारणेन जिय हे जीव संवरहेउ संवरहेतुः

वि’ । उसका तात्पर्य यह है, कि अब भी इस पंचमकालमें मन वचन कायकी शुद्धतासे आत्माका
ध्यान करके यह जीव इन्द्र पदको पाता है, अथवा लौकांतिकदेव होता है, और वहाँसे च्युत होकर
मनुष्यभव धारण करके मोक्षको पाता है । अर्थात् इस समय पहलेके तीन संहनन तो नहीं हैं, परंतु
अर्धनाराच, कीलक, सृपाटिका, ये आगेके तीन हैं, इन तीनोंसे सामायिक छेदोपस्थापनाका
आचरण करो, तथा धर्मध्यानको आचरो । धर्मध्यानका अभाव छहों संहननोंमें नहीं है, शुक्लध्यान
पहलेके तीन संहननोंमें ही होता है, उनमें भी पहला पाया (भेद) उपशमश्रेणीसंबन्धी तीनों संहननोंमें
है, और दूसरा तीसरा चौथा पाया प्रथम संहननवाले के ही होता है, ऐसा नियम है । इसलिये अब
शुक्लध्यानके अभावमें भी हीन संहननवाले इस धर्मध्यानको आचरो । यह धर्मध्यान परम्पराय
मुक्तिका मार्ग है, संसारकी स्थितिका छेदनेवाला है । जो कोई नास्तिक इस समय धर्मध्यानका
अभाव मानते हैं, वे झूठ बोलनेवाले हैं, इस समय धर्मध्यान है, शुक्लध्यान नहीं है ॥३६॥

आगे जो मुनिराज सुख दुःखको सहते हुए समभाव रखते हैं, अर्थात् सुखमें तो हर्ष नहीं
करते, और दुःखमें खेद नहीं करते, जिनके सुख दुःख दोनों ही समान हैं, वे ही साधु पुण्यकर्म
पापकर्मके संवर (रोकने) के कारण हैं, आनेवाले कर्मोंको रोकते हैं, ऐसा दिखलाते हैं—[येन]
जिस कारण [द्वे अपि सहमानः] सुख दुःख दोनोंको ही सहता हुआ [मुनिः] स्वसंवेदन प्रत्यक्ष
ज्ञानी [मनसि] निश्चित मनमें [समभावं] समभावोंको [करोति] धारण करता है, अर्थात् राग

कारणं हवेइ भवतीति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । कर्मोदयवशात् सुखदुःखे जातेऽपि योऽसौ रागादिरहितमनसि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मसंविद्धिं न त्यजति स पुरुष एवाभेदनयेन द्रव्यभावरूपपुण्यपापसंवरस्य हेतुः कारणं भवतीति ॥ ३७ ॥

अथ यावन्तं कालं रागादिरहितपरिणामेन स्वशुद्धात्मस्वरूपे तन्मयो भूत्वा तिष्ठति तावन्तं कालं संवरनिर्जरां करोतीति प्रतिपादयति—

अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि अप्प-सरूवि णिलीणु ।

संवर-णिज्जर जाणि तुहुं सयल-वियप्प-विहीणु ॥ ३८ ॥

तिष्ठति यावन्तं कालं मुनिः आत्मस्वरूपे निलीनः ।

संवरनिर्जरां जानीहि त्वं सकलविकल्पविहीनम् ॥ ३८ ॥

अत्थ(च्छ)इ इत्यादि । अत्थ(च्छ)इ तिष्ठति । किं कृत्वा तिष्ठति । जित्तिउ कालु यावन्तं कालं प्राप्य । क तिष्ठति । अप्पसरूवि निजशुद्धात्मस्वरूपे । कथंभूतः सन् । णिलीणु निश्चयेन लीनो द्रवीभूतो वीतरागनित्यानन्दैकपरमसमरसीभावेन परिणतः, हे प्रभाकरभट्ट इत्थं भूतपरिणामपरिणतं तपोधनमेवाभेदेन संवरणिज्जर जाणि तुहुं संवरनिर्जरास्वरूपं जानीहि त्वम् । पुनरपि कथंभूतम् । सयलवियप्पविहीणु सकलविकल्पहीनं ख्यातिपूजालाभप्रभृति-विकल्पजालावलीरहितमिति । अत्र विशेषव्याख्यानं यदेव पूर्वसूत्रद्वयभणितं तदेव ज्ञातव्यम् । कस्मात् । तस्यैव निर्जरासंवरव्याख्यानस्योपसंहारोऽयमित्यभिप्रायः ॥ ३८ ॥ एवं मोक्षमोक्ष-मार्गमोक्षफलादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारोक्तसूत्राष्टकेनाभेदवन्नयव्याख्यानमुख्यत्वेन स्थलं

द्वेष मोह रहित स्वाभाविक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप परिणमन करता है, विभावरूप नहीं परिणमता, [तेन] इसी कारण [जीव] हे जीव, वह मुनि [पुण्यस्य पापस्य संवरहेतुः] सहजमें ही पुण्य और पाप इन दोनोंके संवरका कारण [भवति] होता है ॥ भावार्थ—कर्मके उदयसे सुख दुःख उत्पन्न होनेपर भी जो मुनीश्वर रागादि रहित मनमें शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूप अपने निज शुद्ध स्वरूपको नहीं छोड़ता है, वही पुरुष अभेदनयकर द्रव्य भावरूप पुण्य पापके संवरका कारण है ॥३७॥

आगे जिस समय जितने काल तक रागादि रहित परिणामोंकर निज शुद्धात्मस्वरूपमें तन्मय हुआ ठहरता है, तब तक संवर और निर्जराको करता है, ऐसा कहते हैं—[मुनिः] मुनिराज [यावन्तं कालं] जब तक [आत्मस्वरूपे निलीनः] आत्मस्वरूपमें लीन हुआ [तिष्ठति] रहता है, अर्थात् वीतराग नित्यानन्द परम समरसीभावकर परिणमता हुआ अपने स्वभावमें तल्लीन होता है, उस समय हे प्रभाकरभट्ट, [त्वं] तू [सकलविकल्पविहीनं] समस्त विकल्प समूहोंसे रहित अर्थात् ख्याति (अपनी बड़ाई) पूजा (अपनी प्रतिष्ठा) लाभको आदि देकर विकल्पोंसे रहित उस मुनिको [संवरनिर्जरा] संवर निर्जरा स्वरूप [जानीहि] जान । यहाँपर भावार्थरूप विशेष व्याख्यान जो कि पहले दो सूत्रोंमें कहा था, वही जानो ! इस प्रकार संवर निर्जराका व्याख्यान संक्षेपरूपसे कहा गया है ॥३८॥

समाप्तम् । अत ऊर्ध्वं चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं परमोपशमभावमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति ।

तथाहि—

कम्मु पुरक्खिउ सो खवइ अहिणव पेसु ण देइ ।

संगु मुएविणु जो सयलु उवसम-भाउ करेइ ॥ ३९ ॥

कर्म पुराकृतं स क्षपयति अभिनवं प्रवेशं न ददाति ।

संगं मुक्त्वा यः सकलं उपशमभावं करोति ॥ ३९ ॥

कम्मु इत्यादि । कम्मु पुरक्खिउ कर्म पुराकृतं सो खवइ स एव वीतरागस्वसंवेदनतत्त्व-
ज्ञानी क्षपयति । पुनरपि किं करोति । अहिणव पेसु ण देइ अभिनवं कर्म प्रवेशं न ददाति ।
स कः । संगु मुएविणु जो सयलु संगं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं मुक्त्वा यः कर्ता समस्तम् ।
पश्चात्किं करोति । उवसमभाउ करेइ जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखादिसमताभावलक्षणं
समभावं करोति । तद्यथा । स एव पुराकृतं कर्म क्षपयति नवतरं संवृणोति य एव बाह्याभ्यन्तर-
परिग्रहं मुक्त्वा सर्वशास्त्रं पठित्वा च शास्त्रफलभूतं वीतरागपरमानन्दैकसुखरसास्वादरूपं समभावं
करोतीति भावार्थः । तथा चोक्तम्—“साम्यमेवादराद्भाव्यं किमन्यैर्ग्रन्थविस्तरैः । प्रक्रिया-
मात्रमेवेदं वाङ्मयं विश्वमस्य हि ॥” ॥ ३९ ॥

अथ यः समभावं करोति तस्यैव निश्चयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि नान्यस्येति दर्शयति—

दंसणु णाणु चरित्तु तसु जो सम-भाउ करेइ ।

इयरहँ एक्कु वि अत्थि णवि जिणवरु एउ भणेइ ॥ ४० ॥

इस तरह मोक्ष, मोक्षमार्ग और मोक्षफलका निरूपण करनेवाले दूसरे महाधिकारमें आठ दोहा-
सूत्रोंसे अभेदरत्नत्रयके व्याख्यानकी मुख्यतासे अंतरस्थल पूरा हुआ ।

आगे चौदह दोहोंमें परम उपशमभावकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं—[सः] वही वीतराग
स्वसंवेदन ज्ञानी [पुराकृतं कर्म] पूर्व उपार्जित कर्मोंको [क्षपयति] क्षय करता है, और
[अभिनवं] नये कर्मोंको [प्रवेशं] प्रवेश [न ददाति] नहीं होने देता, [यः] जो कि [सकलं]
सब [संगं] बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहको [मुक्त्वा] छोड़कर [उपशमभावं] परम शांतभावको
[करोति] करता है, अर्थात् जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, शत्रु, मित्र, तृण, कंचन
इत्यादि वस्तुओंमें एकसा परिणाम रखता है । भावार्थ—जो मुनिराज सकल परिग्रहको छोड़कर
सब शास्त्रोंका रहस्य जानकर वीतराग परमानंद सुखरसका आस्वादी हुआ समभाव करता है,
वही साधु पूर्वके कर्मोंका क्षय करता है, और नवीन कर्मोंको रोकता है । ऐसा ही कथन
पद्मनंदिपद्मीसीमें भी है—“साम्यमेव” इत्यादि । इसका तात्पर्य यह है, कि आदरसे समभावको ही
धारण करना चाहिये, अन्य ग्रन्थके विस्तारोंसे क्या, समस्त पंथ तथा सकल द्वादशांग इस
समभावरूप सूत्रकी ही टीका है ॥३९॥

आगे जो जीव समभावको करता है, उसीके निश्चयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र

दर्शनं ज्ञानं चारित्रं तस्य यः समभावं करोति ।

इतरस्य एकमपि अस्ति नैव जिनवरः एवं भणति ॥ ४० ॥

दंसणु इत्यादि । दंसणु णाणु चरित्तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं तसु निश्चयनयेन तस्यैव भवति । कस्य । जो समभाव करेइ यः कर्ता समभावं करोति इयरहं इतरस्य समभावरहितस्य एक्कु वि अत्थि णवि रत्तयमध्ये नास्त्येकमपि जिणवरु एउ भणेइ जिनवरो वीतरागः सर्वज्ञ एवं भणतीति । तथाहि । निश्चयनयेन निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं तस्यैव निजशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दमधुररसास्वादोऽयमात्मा निरन्तराकुलत्वोत्पादकत्वात् कटुकरसास्वादाः कामक्रोधादय इति भेदज्ञानं तस्यैव भवति स्वरूपे चरणं चारित्रमिति वीतरागचारित्रं तस्यैव भवति । तस्य कस्य । वीतरागनिर्विकल्पपरमसामायिकभावनानुकूलं निर्दोषिपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं यः समभावं करोतीति भावार्थः ॥ ४० ॥

अथ यदा ज्ञानी जीव उपशम्यति तदा संयतो भवति कामक्रोधादिकषायसंगतः पुनरसंयतो भवतीति निश्चिनोति—

जाँवइ णाणिउ उवसमइ तामइ संजदु होइ ।

होइ कसायहँ वसि गयउ जीउ असंजदु सोइ ॥ ४१ ॥

यावत् ज्ञानी उपशम्यति तावत् संयतो भवति ।

भवति कषायाणां वशे गतः जीवः असंयतः स एव ॥ ४१ ॥

जाँवइ इत्यादि । जाँवइ यदा काले णाणिउ ज्ञानी जीवः उवसमइ उपशम्यति तामइ तदा काले संजदु होइ संयतो भवति । होइ भवति कसायहँ वसि गयउ कषायवशं गतः

होता है, अन्यके नहीं, ऐसा दिखलाते हैं—[दर्शनं ज्ञानं चारित्रं] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र [तस्य] उसीके निश्चयसे होते हैं, [यः] जो यति [समभावं] समभाव [करोति] करता है, [इतरस्य] दूसरे समभाव रहित जीवके [एकं अपि] तीन रत्नोंमेंसे एक भी [नैव अस्ति] नहीं है, [एवं] इस प्रकार [जिनवरः] जिनेन्द्रदेव [भणति] कहते हैं ॥ भावार्थ—निश्चयनयसे निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप सम्यग्दर्शन उस समभावके धारकके होता है, और निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परमानन्द मधुर रसका आस्वाद उस स्वरूप आत्मा है, तथा हमेशा आकुलताके उपजानेवाले काम क्रोधादिक हैं, वे महा कटुक रसरूप अत्यंत विरस हैं, ऐसा जानना । वह सम्यग्ज्ञान और स्वरूपके आचरणरूप वीतरागचारित्र भी उसी समभावके धारण करनेवालेके ही होता है । जो मुनीश्वर वीतराग निर्विकल्प परम सामायिकभावकी भावनाके अनुकूल (सम्मुख) निर्दोष परमात्माके यथार्थ श्रद्धान यथार्थ ज्ञान और स्वरूपका यथार्थ आचरणरूप अखंडभाव धारण करता है, उसीके परमसमाधिकी सिद्धि होती है ॥४०॥

आगे ऐसा कहते हैं कि जिस समय ज्ञानी जीव शांतभावको धारण करता है, उसी समय संयमी होता है, तथा जब क्रोधादि कषायके वश होता है, तब असंयमी होता है—[यदा] जिस

जीउ जीवः । कथंभूतो भवति । असंजदु असंयतः । कोऽसौ । सोइ स एव पूर्वोक्तजीव इति । अयमत्र भावार्थः । अनाकुलत्वलक्षणस्य स्वशुद्धात्मभावनोत्थपारमार्थिकसुखस्यानुकूलपरमोपशमे यदा ज्ञानी तिष्ठति तदा संयतो भवति तद्विपरीतं परमाकुलत्वोत्पादककामक्रोधादौ परिणतः पुनरसंयतो भवतीति । तथा चोक्तम्—“अकसायं तु चरितं कसायवसगदो असंजदो होदि । उवसमइ जम्हि काले तक्काले संजदो होदि ” ॥ ४१ ॥

अथ येन कषाया भवन्ति मनसि तं मोहं त्यजेति प्रतिपादयति—

जेण कसाय हवंति मणि सो जिय मिल्लहि मोहु ।

मोह-कसाय-विवज्जयउ पर पावहि सम-बोहु ॥ ४२ ॥

येन कषाया भवन्ति मनसि तं जीव मुञ्च मोहम् ।

मोहकषायविवर्जितः परं प्राप्नोषि समबोधम् ॥ ४२ ॥

जेण इत्यादि । जेण येन वस्तुना वस्तुनिमित्तेन मोहेन वा । किं भवति । कसाय हवंति क्रोधादिकषाया भवन्ति । क भवन्ति । मणि मनसि सो तं जिय हे जीव मिल्लहि मुञ्च । कम् । तं पूर्वोक्तं मोहु मोहं मोहनिमित्तपदार्थं चेति । पश्चात् किं लभसे त्वम् । मोहकसायविवज्जिउ मोहकषायविवर्जितः सन् परं नियमेन पावहि प्राप्नोषि । कं कर्मतापनम् । समबोहु समबोधं रागद्वेषरहितं ज्ञानमिति । तथाहि । निर्मोहनिजशुद्धात्मध्यानेन निर्मोहस्वशुद्धात्मतत्त्वविपरीतं

समय [ज्ञानी जीवः] ज्ञानी जीव [उपशाम्यति] शांतभावको प्राप्त होता है, [तदा] उस समय [संयतः भवति] संयमी होता है, और [कषायाणां] क्रोधादि कषायोंके [वशे गतः] आधीन हुआ [स एव] वही जीव [असंयतः] असंयमी [भवति] होता है ॥ भावार्थ—आकुलता रहित निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुये निर्विकल्प (असली) सुखका कारण जो परम शांतभाव उसमें जिस समय ज्ञानी ठहरता है, उसी समय संयमी कहलाता है, और आत्मभावनामें परम आकुलताके उपजानेवाले काम क्रोधादिक अशुद्ध भावोंमें परिणमता हुआ जीव असंयमी होता है, इसमें कुछ संदेह नहीं है । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है—‘अकसायं’ इत्यादि । अर्थात् कषायका जो अभाव है, वही चारित्र्य है, इसलिये कषायके आधीन हुआ जीव असंयमी होता है, और जब कषायोंको शांत करता है, तब संयमी कहलाता है ॥४१॥

आगे जिस मोहसे मनमें कषाय होते हैं, उस मोहको तू छोड़, ऐसा वर्णन करते हैं—[जीव] हे जीव; [येन] जिस मोहसे अथवा मोहके उत्पन्न करनेवाली वस्तुसे [मनसि] मनमें [कषायाः] कषाय [भवन्ति] होंगे, [तं मोहं] उस मोहको अथवा मोह निमित्तक पदार्थको [मुञ्च] छोड़, [मोहकषाय-विवर्जितः] फिर मोहको छोड़नेसे मोह कषाय रहित हुआ तू [परं] नियमसे [समबोधं] राग द्वेष रहित ज्ञानको [प्राप्नोषि] पावेगा ॥ भावार्थ—निर्मोह निज शुद्धात्माके ध्यानसे निर्मोह निज शुद्धात्मतत्त्वसे विपरीत मोहको, हे जीव छोड़ । जिस मोहसे अथवा मोह करनेवाले पदार्थसे कषाय रहित परमात्मतत्त्वरूप ज्ञानानंद स्वभावके विनाशक क्रोधादि कषाय होते हैं, इन्हींसे संसार

हे जीव मोहं मुञ्च, येन मोहेन मोहनिमित्तवस्तुना वा निष्कषायपरमात्मतत्त्वविनाशकाः क्रोधादिकषाया भवन्ति पश्चान्मोहकषायाभावे सति रागरहितं विशुद्धज्ञानं लभसे त्वमित्यभिप्रायः । तथा चोक्तम्—“तं वत्थुं मुत्तत्त्वं जं पडि उपज्जए कसायग्गी । तं वत्थुमल्लिएज्जो (तद् वस्तु अंगीकरोति, इति टिप्पणी) जत्थुवसम्मो कसायाणं ॥ ” ॥ ४२ ॥

अथ हेयोपादेयतत्त्वं ज्ञात्वा परमोपशमे स्थित्वा येषां ज्ञानिनां स्वशुद्धात्मनि रतिस्त एव सुखिन इति कथयति—

तत्तातत्तु मुणेवि मणि जे थक्का सम-भावि ।

ते पर सुहिया इत्थु जगि जहँ रइ अप्प-सहावि ॥ ४३ ॥

तत्त्वातत्त्वं मत्वा मनसि ये स्थिताः समभावे ।

ते परं सुखिनः अत्र जगति येषां रतिः आत्मस्वभावे ॥ ४३ ॥

तत्तातत्तु इत्यादि । तत्तातत्तु मुणेवि अन्तस्तत्त्वं बहिस्तत्त्वं मत्वा । क । मणि मनसि जे ये केचन वीतरागस्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानिनः थक्का स्थिता । क । सम-भावि परमोपशमपरिणामे ते पर त एव सुहिया सुखिनः इत्थु जगि अत्र जगति । के ते । जहँ रइ येषां रतिः । क । अप्प-सहावि स्वकीयशुद्धात्मस्वभावे इति । तथाहि । यद्यपि व्यवहारेणानादिबन्धनबद्धं तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयेन प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धरहितं, यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन प्रकृतशुभाशुभकर्मफलभोक्ता है, इसलिये मोह कषायके अभाव होनेपर ही रागादि रहित निर्मल ज्ञानको तू पा सकेगा । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है— “तं वत्थुं” इत्यादि । अर्थात् वह वस्तु मन वचन कायसे छोड़नी चाहिये, कि जिससे कषायरूपी अग्नि न उत्पन्न हो, तथा उस वस्तुको अंगीकार करना चाहिये, जिससे कषाय शांत हों । तात्पर्य यह है, कि विषयादिक सब सामग्री और मिथ्यादृष्टि पापियोंका संग सब तरहसे मोहकषायको उपजाते हैं, इससे ही मनमें कषायरूपी अग्नि दहकती रहती है । वह सब प्रकारसे छोड़ना चाहिये, और सत्संगति तथा शुभ सामग्री (कारण) कषायोंको उपशमाती है,—कषायरूपी अग्निको बुझाती है, इसलिये उस संगति वगैरहको अंगीकार करना चाहिये ॥४२॥

आगे हेयोपादेय तत्त्वको जानकर परम शांतभावमें स्थित होकर जिनके निःकषायभाव हुआ और निजशुद्धात्मामें जिनकी लीनता हुई, वे ही ज्ञानी परम सुखी हैं, ऐसा कथन करते हैं—[ये] जो कोई वीतराग स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञानी जीव [तत्त्वातत्त्वं] आराधने योग्य निज पदार्थ और त्यागने योग्य रागादि सकल विभावोंको [मनसि] मनमें [मत्वा] जानकर [समभावे स्थिताः] शांतभावमें तिष्ठते हैं, और [येषां रतिः] जिनकी लगन [आत्मस्वभावे] निज शुद्धात्म स्वभावमें हुई है, [ते परं] वे ही जीव [अत्र जगति] इस संसारमें [सुखिनः] सुखी हैं ॥ भावार्थ—यद्यपि यह आत्मा व्यवहारनयकर अनादिकालसे कर्मबंधनकर बँधा है, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश—इन चार तरहके बंधनोंसे रहित है, यद्यपि अशुद्धनिश्चयनयसे अपने उपार्जन केये शुभ अशुभ कर्मोंके फलका भोक्ता है, तो भी शुद्धब्रह्मवार्थिकनयसे निज शुद्धात्मतत्त्वकी

तथापि शुद्धद्रव्यार्थिकनयने निजशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्थवीतरागपरमानन्दैकसुखामृतभोक्ता, यद्यपि व्यवहारेण कर्मक्षयानन्तरं मोक्षभाजनं भवति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयने सदा मुक्तमेव, यद्यपि व्यवहारेणेन्द्रियजनितज्ञानदर्शनसहितं तथापि निश्चयेन सकल-विमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावं, यद्यपि व्यवहारेण स्वोपात्तदेहमात्रं तथापि निश्चयेन लोकाकाश-प्रमितासंख्येयप्रदेशं, यद्यपि व्यवहारेणोपसंहारविस्तारसहितं तथापि मुक्तावस्थायामुपसंहार-विस्ताररहितं चरमशरीरप्रमाणप्रदेशं, यद्यपि पर्यायार्थिकनयनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तथापि द्रव्यार्थिकनयने नित्यटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावं निजशुद्धात्मद्रव्यं पूर्वं ज्ञात्वा तद्विलक्षणं परद्रव्यं च निश्चित्य पश्चात् समस्तमिथ्यात्तरागादिविकल्पत्यागेन वीतरागचिदानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मतत्त्वे ये रतास्त एव धन्या इति भावार्थः । तथा चोक्तं परमात्मतत्त्वलक्षणे श्रीपूज्यपादस्वामिभिः—
 “अस्त्यात्मानादिबद्धः स्वकृतजफलशुक्ल तत्क्षयान्मोक्षभागी । ज्ञाता द्रष्टा स्वदेहप्रमितिरूपशमा-
 हारविस्तारधर्मा । ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः” ॥ ४३ ॥

अथ योऽसावेवोपशमभावं करोति तस्य निन्दाद्वारेण स्तुतिं त्रिकलेन कथयति—

भावनासे उत्पन्न हुए वीतराग परमानन्द सुखरूप अमृतका ही भोगनेवाला है, यद्यपि व्यवहारनयसे कर्मोंके क्षय होनेके बाद मोक्षका पात्र है, तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे सदा मुक्त ही है, यद्यपि व्यवहारनयकर इंद्रियजनित मति आदि क्षायोपशमिकज्ञान तथा चक्षु आदि दर्शन सहित है तो भी निश्चयनयसे सकल विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वभाववाला है, यद्यपि व्यवहारनयकर यह जीव नामकर्मसे प्राप्त देहप्रमाण है, तो भी निश्चयनयसे लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी है, यद्यपि व्यवहारनयसे प्रदेशोंके संकोच विस्तार सहित है, तो भी सिद्ध-अवस्थामें संकोच विस्तारसे चरमशरीरप्रमाण प्रदेशवाला है और यद्यपि पर्यायार्थिकनयसे उत्पाद व्यय ध्रौव्यकर सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयकर टङ्कोत्कीर्ण ज्ञानके अखण्ड स्वभावसे ध्रुव ही है । इस तरह पहिले निज शुद्धात्मद्रव्यको अच्छी तरह जानकर और आत्मस्वरूपसे विपरीत पुद्गलादि परद्रव्योंको भी अच्छी तरह निश्चय करके अर्थात् आप परका निश्चय करके बादमें समस्त मिथ्यात्व रागादि विकल्पोंको छोड़कर वीतराग चिदानन्द स्वभाव शुद्धात्मतत्त्वमें जो लीन हुए हैं, वे ही धन्य हैं । ऐसा ही कथन परमात्मतत्त्वके लक्षणमें श्रीपूज्यपादस्वामीने कहा है—
 “नाभाव” इत्यादि । अर्थात् यह आत्मा व्यवहारनयकर अनादिका बँधा हुआ है, और अपने किये हुए कर्मोंके फलका भोक्ता है, उन कर्मोंके क्षयसे मोक्षपदका भोक्ता है, ज्ञाता है, देखनेवाला है, अपनी देहके प्रमाण हैं, संसार-अवस्थामें प्रदेशोंके संकोच विस्तारको धारण करता है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित हैं, और अपने गुण पर्याय सहित है । इस प्रकार आत्माके जाननेसे ही साध्यकी सिद्धि है, दूसरी तरह नहीं है ॥४३॥

आगे जो संयमी परम शांतभावका ही कर्ता है, उसकी निन्दाद्वारा स्तुति तीन गाथाओंमें करते हैं—

१. यह श्लोक अपूर्ण है, भाषामें ‘नाभाव’ आदि लिखा है ।

बिण्णि वि दोस हवन्ति तसु जो सम-भाउ करेइ ।

बंधु जि णिहणइ अप्पणउ अणु जगु गहिलु करेइ ॥ ४४ ॥

द्वौ अपि दोषौ भवतः तस्य यः समभावं करोति ।

बन्धं एव निहन्ति आत्मीयं अन्यत् जगद् ग्रहिलं करोति ॥ ४४ ॥

बिण्णि वि इत्यादि । बिण्णि वि द्वावपि । द्वौ कौ । दोस दोषौ हवन्ति भवतः तसु तस्य तपोधनस्य जो समभाउ करेइ यः समभावं करोति रागद्वेषत्यागं करोति । तौ दोषौ बंधु जि णिहणइ बन्धमेव निहन्ति । कथंभूतं बन्धम् । अप्पणउ आत्मीयं अणु पुनः जगु जगत् प्राणि-गणं गहिलु करेइ गहिलं पिशाचसमानं विकलं करोति । अयमत्र भावार्थः । समशब्देनात्राभेद-नयेन रागादिरहित आत्मा भण्यते, तेन कारणेन योऽसौ समं करोति वीतरागचिदानन्दैकस्वभावं निजात्मानं परिणमति तस्य दोषद्वयं भवति । कथमिति चेत् । प्राकृतभाषया बंधुशब्देन ज्ञाना-वरणादिबन्धा भण्यन्ते गोत्रं च येन कारणेनोपशमस्वभावेन परमात्मस्वरूपेण परिणतः सन् ज्ञाना-वरणादिकर्मबन्धं निहन्ति तेन कारणेन स्तवनं भवति, अथवा येन कारणेन बन्धुशब्देन गोत्रमपि भण्यते तेन कारणेन बन्धुघाती लोकव्यवहारभाषया निन्दापि भवतीति । तथा चोक्तम् । लोक-व्यवहारे ज्ञानिनां लोकः पिशाचो भवति लोकस्याज्ञानिजनस्य ज्ञानी पिशाच इति ॥ ४४ ॥

अथ—

अण्णु वि दोसु हवेइ तसु जो सम-भाउ करेइ ।

सत्तु वि मिल्लिवि अप्पणउ परहँ णिलीणु हवेइ ॥ ४५ ॥

[यः] जो साधु [समभावं] रागद्वेषके त्यागरूप समभावको [करोति] करता है, [तस्य] उस तपोधनके [द्वौ अपि दोषौ] दो दोष [भवतः] होते हैं । [आत्मीयं बंधं एव निहन्ति] एक तो अपने बंधको नष्ट करता है, [पुनः] दूसरे [जगद् ग्रहिलं करोति] जगतके प्राणिओंको बावला-पागल बना देता है ॥ भावार्थ—यह निंदाद्वारा स्तुति है । प्राकृत भाषामें बंधु शब्दसे ज्ञानावरणादि कर्मबंध भी लिया जाता है, तथा भाईको भी कहते हैं । यहाँपर बंधु-हत्या निंद्य है, इससे एक तो बंधु-हत्याका दोष आया तथा दूसरा दोष यह है, कि जो कोई इनका उपदेश सुनता है, वह वस्त्र आभूषणका त्यागकर नग्न दिगंबर हो जाता है । कपडे उतारकर नंगा हो जाना उसे लोग गहला-पागल कहते हैं । ये दोनों लोकव्यवहारमें दोष हैं, इन शब्दोंके ऐसे अर्थ ऊपरसे निकाले हैं । परंतु दूसरे अर्थमें कोई दोष नहीं है, स्तुति ही है । क्योंकि कर्मबंध नाश करने ही योग्य है, तथा जो समभावका धारक है, वह आप नग्न दिगम्बर हो जाता है, और अन्यको दिगम्बर कर देता है, सो मूढ लोग निंदा करते हैं । यह दोष नहीं है, गुण ही है । मूढ लोगोंके जाननेमें ज्ञानीजन बावले हैं, और ज्ञानियोंके जाननेमें जगतके जन बावले हैं । क्योंकि ज्ञानी जगतसे विमुख हैं, तथा जगत ज्ञानियोंसे विमुख है ॥४४॥

आगे समभावके धारक मुनिकी फिर भी निंदा-स्तुति करते हैं—[यः] जो [समभावं]

अन्यः अपि दोषो भवति तस्य यः समभावं करोति ।

शत्रुमपि मुक्त्वा आत्मीयं परस्य निलीनः भवति ॥ ४५ ॥

अण्णु वि इत्यादि । अण्णु वि न केवलं पूर्वोक्त अन्योऽपि दोस्तु दोषः हवेइ भवति तस्य तपोधनस्य । यः किं करोति । जो समभाउ करेइ यः कर्ता समभावं करोति । पुनरपि किं करोति । सच्चु वि मिल्लिवि शत्रुमपि मुञ्चति । कथंभूतं शत्रुम् । अप्पणउ आत्मीयम् । पुनश्च किं करोति । परहं णिलीणु हवेइ परस्यापि लीनः अधीनो भवति इति । अयमत्र भावार्थः । यो रागादिरहितस्य निजपरमात्मनो भावनां करोति स पुरुषः शत्रुशब्दवाच्यं ज्ञानावरणादिकर्मरूपं निश्चयशत्रुं मुञ्चति परशब्दवाच्यं परमात्मानमाश्रयति च तेन कारणेन तस्य स्तुतिर्भवति । अथवा यथा लोकव्यवहारेण बन्धनबद्धं निजशत्रुं मुक्त्वा कोऽपि केनापि कारणेन तस्यैव परशब्दवाच्यस्य शत्रोरधीनो भवति तेन कारणेन स निन्दां लभते तथा शब्दच्छलेन तपोधनोऽपीति ॥ ४५ ॥

अथ—

अण्णु वि दोस्तु हवेइ तसु जो सम-भाउ करेइ ।

चियलु हवेविणु इक्कलउ उप्परि जगहँ चडेइ ॥ ४६ ॥

अन्यः अपि दोषः भवति तस्य यः समभावं करोति ।

विकलः भूत्वा एकाकी उपरि जगतः आरोहति ॥ ४६ ॥

अण्णु वि इत्यादि । अण्णु वि न केवलं पूर्वोक्तोऽन्योऽपि दोस्तु दोषः हवेइ भवति । तसु तस्य तपस्विनः । यः किं करोति । जो समभाउ करेइ यः कर्ता समभावं करोति ।

समभावको [करोति] करता है, [तस्य] उस तपोधनके [अन्यः अपि दोषः] दूसरा भी दोष [भवति] है । क्योंकि [परस्य निलीनः] परके आधीन [भवति] होता है, और [आत्मीयं अपि] अपने आधीन भी [शत्रु] शत्रुको [मुञ्चति] छोड़ देता है ॥ भावार्थ—जो तपोधन धन धान्यादिका राग त्यागकर परम शांतभावको आदरता है, राजा रंकको समान जानता है, उसके दोष कभी नहीं हो सकता । सदा स्तुतिके योग्य है, तो भी शब्दकी योजनासे निन्दाद्वारा स्तुति की गई है; वह इस तरहसे है कि शत्रु शब्दसे कहे गये जो ज्ञानावरणादि कर्म-शत्रु उनको छोड़कर पर शब्दसे कहे गये परमात्माका आश्रय करता है । इसमें निन्दा क्या हुई, बल्कि स्तुति ही हुई । परंतु लोकव्यवहारमें अपने आधीन शत्रुको छोड़कर किसी कारणसे पर शब्दसे कहे गये शत्रुके आधीन आप होता है, इसलिये लौकिक-निन्दा हुई, यह शब्दके छलसे निन्दा-स्तुति की गई । वह शब्दके श्लेष होनेसे रूपअलंकार कहा गया है ॥४५॥

आगे समदृष्टिकी फिर भी निन्दा-स्तुति करते हैं—[यः] जो तपस्वी महामुनि [समभावं] समभावको [करोति] करता है, [तस्य] उसके [अन्यः अपि] दूसरा भी [दोषः] दोष [भवति] होता है, क्योंकि [विकलः भूत्वा] शरीर रहित होकर अथवा बुद्धि धन वगैरहसे भ्रष्ट होकर [एकाकी] अकेला [जगतः उपरि] लोकके शिखरपर अथवा सबके ऊपर [आरोहति] चढ़ता है ॥

पुनरपि किं करोति । विधलु हवेविणु विकलः कलरहितः शरीररहितो भूत्वा इकलउ एकाकी पश्चात् उप्परि जगहं चडेइ उपरितनभागे जगतो लोकस्यारोहणं करोतीति । अयमत्राभिप्रायः । यः तपस्वी रागादिविकल्परहितस्य परमोपशमरूपस्य निजशुद्धात्मनो भावनां करोति स कल-शब्दवाच्यं शरीरं मुक्त्वा लोकस्योपरि तिष्ठति तेन कारणेन स्तुतिं लभते अथवा यथा कोऽपि लोकमध्ये चित्तविकलो भूतः सन् निन्दां लभते तथा शब्दच्छलेन तपोधनोऽपीति ॥ ४६ ॥

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

जा णिसि सयलहं देहियहं जोगिगउ तहिं जग्गेइ ।

जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु सा णिसि मणिवि सुवेइ ॥ ४६*१ ॥

या निशा सकलानां देहिनां योगी तस्यां जागर्ति ।

यत्र पुनः जागर्ति सकलं जगत् तां निशां मत्वा स्वपिति ॥ ४६*१ ॥

जा णिसि इत्यादि । जा णिसि या वीतरागपरमानन्दैकसहजशुद्धात्मावस्था मिथ्यात्वरगा-अन्धकारावगुण्ठिता सती रात्रिः प्रतिभाति । केषाम् । सयलहं देहियहं सकलानां स्वशुद्धात्म-संवित्तिरहितानां देहिनाम् । जोगिगउ तहिं जग्गेइ परमयोगी वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञान-रत्नप्रदीपप्रकाशेन मिथ्यात्वरगादिविकल्पजालान्धकारमपसार्य स तस्यां तु शुद्धात्मना जागर्ति । जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु यत्र पुनः शुभाशुभमनोवाकायपरिणामव्यापारे परमात्मतत्त्व-

भावार्थ—जो तपस्वी रागादि रहित परम उपशमभावरूप निज शुद्धात्माकी भावना करता है, उसकी शब्दके छलसे तो निन्दा है, कि विकल अर्थात् बुद्धि वगैरहसे भ्रष्ट होकर लोक अर्थात् लोकोंके ऊपर चढ़ता है । यह लोक-निन्दा हुई । लेकिन असलमें ऐसा अर्थ है, कि विकल अर्थात् शरीरसे रहित होकर तीन लोकके शिखर (मोक्ष) पर विराजमान हो जाता है । यह स्तुति ही है । क्योंकि जो अनन्त सिद्ध हुए, तथा होंगे, वे शरीर रहित निराकार होकर जगतके शिखर पर विराजे हैं । ४६।

आगे स्थलसंख्याके सिवाय क्षेपक दोहा कहते हैं—[या] जो [सकलानां देहिनां] सब संसारी जीवोंकी [निशा] रात है, [तस्यां] उस रातमें [योगी] परम तपस्वी [जागर्ति] जागता है, [पुनः] और [यत्र] जिसमें [सकलं जगत्] सब संसारी जीव [जागर्ति] जाग रहे हैं, [तां] उस दशाको [निशां मत्वा] योगी रात मानकर [स्वपिति] योग निद्रामें सोता है ॥ भावार्थ—जो जीव वीतराग परमानन्दरूप सहज शुद्धात्माकी अवस्थासे रहित हैं, मिथ्यात्व रागादि अन्धकारसे मंडित हैं, इसलिए इन सबोंको वह परमानन्द अवस्था रात्रिके समान मालूम होती है । कैसे हैं ये जगतके जीव ? कि आत्मज्ञानसे रहित हैं, अज्ञानी हैं, और अपने स्वरूपसे विमुख हैं, जिनके जाग्रत-दशा नहीं हैं, अचेत सो रहे हैं, ऐसी रात्रिमें वह परमयोगी वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूपी रत्नदीपके प्रकाशसे मिथ्यात्व रागादि विकल्प-जालरूप अंधकारको दूरकर अपने स्वरूपमें सावधान होनेसे सदा जागता है । तथा शुद्धात्माके ज्ञानसे रहित शुभ अशुभ मन, वचन, कायके परिणमन-रूप व्यापारवाले स्थावर जंगम सकल अज्ञानी जीव परमात्मतत्त्वकी भावनासे पराङ्मुख हुए विषय-

भावनापराङ्मुखः सन् जगज्जागर्ति स्वशुद्धात्मपरिज्ञानरहितः सकलोऽज्ञानी जनः सा णिसि
मणिवि सुवेइ तां रात्रिं मत्ता त्रिगुप्तिगुप्तः सन् वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधियोगनिद्रायां स्वपिति
इति निद्रां करोतीति । अत्र बहिर्विषये शयनमेवोपशमो भण्यत इति तात्पर्यार्थः ॥ ४६*१ ॥

अथ ज्ञानी पुरुषः परमवीतरागरूपं समभावं मुक्त्वा बहिर्विषये रागं न गच्छतीति दर्शयति—

णाणि मुएप्पिणु भाउ समु कित्थु वि जाइ ण राउ ।

जेण लहेसइ णाणमउ तेण जि अप्प-सहाउ ॥ ४७ ॥

ज्ञानी मुक्त्वा भावं शमं कापि याति न रागम् ।

येन लभिष्यति ज्ञानमयं तेन एव ज्ञानस्वभावम् ॥ ४७ ॥

णाणि इत्यादि । णाणि परमात्मरागाद्यास्रवयोर्भेदज्ञानी मुएप्पिणु मुक्त्वा । कम् । भाउ
भावम् । कथंभूतं भावम् । समु उपशमं पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषरहितं वीतरागपरमाह्लादसहितम् ।
कित्थु वि जाइ ण राउ तं पूर्वोक्तं समभावं मुक्त्वा कापि बहिर्विषये रागं न याति न गच्छति ।
कस्मादिति चेत् । जेण लहेसइ येन कारणेन लभिष्यति भाविकाले प्राप्स्यति । कम् । णाणमउ
ज्ञानमयं केवलज्ञाननिर्वृत्तं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणं । तेण जि तेनैव समभावेन अप्पसहाउ
निर्दोषपरमात्मस्वभावमिति । इदमत्र तात्पर्यम् । ज्ञानी पुरुषः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं समभावं

कषायरूप अविद्यामें सदा सावधान हैं, जाग रहे हैं, उस अवस्थामें विभावपर्यायके स्मरण
करनेवाले महामुनि सावधान (जागते) नहीं रहते । इसलिए संसारकी दशामें सोते हुए से मालूम
पडते हैं । जिनको आत्मस्वभावके सिवाय विषय-कषायरूप प्रपंच मालूम भी नहीं है । उस प्रपंचको
रात्रिके समान जानकर उसमें याद नहीं रखते, मन, वचन, कायकी तीन गुप्तिमें अचल हुए
वीतराग निर्विकल्प परम समाधिरूप योग-निद्रामें मगन हो रहे हैं । सारांश यह है, कि ध्यानी
मुनियोंको आत्मस्वरूप ही गम्य है, प्रपंच गम्य नहीं है, और जगतके प्रपंची मिथ्यादृष्टि जीव
उनको आत्मस्वरूपकी गम्य नहीं है, अनेक प्रपंचोंमें (झगडोंमें) लगे हुए हैं । प्रपंचकी सावधानी
रखनेको भूल जाना वही परमार्थ है, तथा बाह्य विषयोंमें जाग्रत होना ही भूल है ॥४६*१॥

आगे जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे परमवीतरागरूप समभावको छोड़कर शरीरादि परद्रव्यमें राग नहीं
करते, ऐसा दिखलाते हैं—[ज्ञानी] निजपरके भेदका जाननेवाला ज्ञानी मुनि [शमं भावं]
समभावको [मुक्त्वा] छोड़कर [क्वापि] किसी पदार्थमें [रागं न याति] राग नहीं करता,
[येन] इसी कारण [ज्ञानमयं] ज्ञानमयी निर्वाणपद [प्राप्स्यति] पावेगा, [तेनैव] और उसी
समभावसे [आत्मस्वभावं] केवलज्ञान पूर्ण आत्मस्वभावको आगे पावेगा । भावार्थ—जो अनन्त
सिद्ध हुए वे समभावके प्रसादसे हुए हैं, और जो होवेंगे, इसी भावसे होंगे । इसलिए ज्ञानी
समभावके सिवाय अन्य भावोंमें राग नहीं करते । इस समभावके बिना अन्य उपायसे शुद्धात्माका
लाभ नहीं है । एक समभाव ही भवसागरसे पार होनेका उपाय है । समभाव उसे कहते हैं, जो
पंचेन्द्रियके विषयोंकी अभिलाषामें रहित वीतराग परमानन्दसहित निर्विकल्प निजभाव हो ॥४७॥

विहाय बहिर्भावे रागं न गच्छति येन कारणेन समभावेन विना शुद्धात्मलाभो न भवतीति ॥४७॥

अथ ज्ञानी कमप्यन्यं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न निन्दतीति प्रतिपादयति—

भणइ भणावइ णवि थुणइ णिंदइ णाणि ण कोइ ।

सिद्धिहि कारण भाउ समु जाणंतउ पर सोइ ॥ ४८ ॥

भणति भाणयति नैव स्तौति निन्दति ज्ञानी न कमपि ।

सिद्धेः कारणं भावं समं जानन् परं तमेव ॥ ४८ ॥

भणइ इत्यादि । भणइ भणति नैव भणावइ नैवान्यं भाणयति न भणन्तं प्रेरयति णवि थुणइ नैव स्तौति णिंदइ णाणि ण कोइ निन्दति ज्ञानी न कमपि । किं कुर्वन् सन् । सिद्धिहि कारण भाउ समु जाणंतउ पर सोइ जानन् । कम् । परं भावं परिणामम् । कथंभूतम् । समु समं रागद्वेषरहितम् । पुनरपि कथंभूतं कारणम् । कस्याः । सिद्धेः परं नियमेन सोइ तमेव सिद्धिकारणं परिणाममिति । इदमत्र तात्पर्यम् । परमोपेक्षासंयमभावनारूपं विशुद्ध-ज्ञानदर्शननिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिलक्षणं साक्षात्सिद्धिकारणं कारणसमयसारं जानन् त्रिगुणावस्थायां अनुभवन् सन् भेदज्ञानी पुरुषः परं प्राणिनं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न च निन्दतीति ॥ ४८ ॥

अथ बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहेच्छायाः पञ्चेन्द्रियविषयभोगाकांक्षादेहमूर्च्छाव्रतादिसंकल्पविकल्प-रहितेन निजशुद्धात्मध्यानेन योऽसौ निजशुद्धात्मानं जानाति स परिग्रहविषयदेहव्रताव्रतेषु रागद्वेषौ न करोतीति चतुःकलं प्रकटयति—

आगे कहते हैं, कि ज्ञानीजन समभावका स्वरूप जानता हुआ न किसीसे पढता है, न किसीको पढाता है, न किसीको प्रेरणा करता है, न किसीकी स्तुति करता है, न किसीकी निंदा करता है—[ज्ञानी] निर्विकल्प ध्यानी पुरुष [कमपि न] न किसीका [भणति] शिष्य होकर पढता है, न गुरु होकर किसीको [भाणयति] पढाता है, [नैव स्तौति निंदति] न किसीकी स्तुति करता है, न किसीकी निंदा करता है, [सिद्धेः कारणं] मोक्षका कारण [समं भावं] एक समभावको [परं] निश्चयसे [जानन्] जानता हुआ [तमेव] केवल आत्मस्वरूपमें अचल हो रहा है, अन्य कुछ भी शुभ अशुभ कार्य नहीं करता ॥ भावार्थ—परमोपेक्षा संयम अर्थात् तीन गुप्तिमें स्थिर परम समाधि उसमें आरूढ जो परमसंयम उसकी भावनारूप निर्मल यथार्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य वही जिसका लक्षण है, ऐसा मोक्षका कारण जो समयसार उसे जानता हुआ, अनुभवता हुआ, अनुभवी पुरुष न किसी प्राणीको सिखाता है, न किसीसे सीखता है, न स्तुति करता है, न निंदा करता है । जिसके शत्रु मित्र सुख दुःख सब एक समान हैं ॥४८॥

आगे बाह्य अंतरंग परिग्रहकी इच्छासे पाँच इंद्रियोंके विषय-भोगोंका वांछक हुआ देहमें ममता नहीं करता, तथा मिथ्यात्व अव्रत आदि समस्त संकल्प विकल्पोंसे रहित जो निज शुद्धात्मा उसे

गंथहँ उप्परि परम-मुनि देसु वि करइ ण राउ ।

गंथहँ जेण विद्याणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥ ४९ ॥

ग्रन्थस्य उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।

ग्रन्थाद् येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥ ४९ ॥

गंथहं इत्यादि । गंथहं उप्परि ग्रन्थस्य बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहस्योपरि अथवा ग्रन्थरचनारूपशास्त्रस्योपरि परममुनि परमतपस्वी देसु वि करइ ण द्वेषमपि न करोति न राउ रागमपि । येन तपोधनेन किं कृतम् । गंथहं जेण विद्याणियउ भिण्णउ अप्पसहाउ ग्रन्थात्सकाशाघेन विज्ञातो भिन्न आत्मस्वभाव इति । तद्यथा । मिथ्यात्वं, ह्यादिवेदकांक्षारूपवेदत्रयं, हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपं नोकषायषट्कं, क्रोधमानमायालोभरूपं कषायचतुष्टयं चेति चतुर्दशाभ्यन्तरपरिग्रहाः, क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभाण्डरूपा बाह्यपरिग्रहाः इत्थंभूतान् बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहान् जगन्नये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतेष्वत्यक्त्वा शुद्धात्मोपलम्भलक्षणे वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च यो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाद्विन्नमात्मानं जानाति स परिग्रहस्योपरि रागद्वेषौ न करोति । अत्रेदं व्याख्यानं एवं गुणविशिष्टनिर्ग्रन्थस्यैव शोभते न च सपरिग्रहस्येति तात्पर्यार्थः ॥ ४९ ॥

अथ—

विसयहँ उप्परि परम-मुनि देसु वि करइ ण राउ ।

विसयहँ जेण विद्याणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥ ५० ॥

विषयाणां उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।

विषयेभ्यः येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥ ५० ॥

जानता है, वह परिग्रहमें तथा विषय देहसंबंधी व्रत अव्रतमें राग द्वेष नहीं करता, ऐसा चार सूत्रोंसे प्रगट करते हैं—[ग्रन्थस्य उपरि] अंतरङ्ग बाह्य परिग्रहके ऊपर अथवा शास्त्रके ऊपर जो [परममुनिः] परम तपस्वी [रागं द्वेषमपि न करोति] राग और द्वेष नहीं करता है [येन] जिस मुनिने [आत्मस्वभावः] आत्माका स्वभाव [ग्रन्थात्] ग्रन्थसे [भिन्नः विज्ञातः] जुदा जान लिया है ॥ भावार्थ—मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चौदह अंतरङ्ग परिग्रह और क्षेत्र, वास्तु (घर), हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भांडरूप दस बाह्य परिग्रह—इस प्रकार चौबीस तरहके बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहोंको तीन जगत्में, तीनों कालोंमें, मन, वचन, काय, कृत कारित अनुमोदनासे छोड़कर और शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप वीतराग निर्विकल्प समाधिमें ठहरकर परवस्तुसे अपनेको भिन्न जानता है, वो ही परिग्रहके ऊपर रागद्वेष नहीं करता है । यहाँपर ऐसा व्याख्यान निर्ग्रन्थ मुनिको ही शोभा देता है, परिग्रहधारीको नहीं शोभा देता है, ऐसा तात्पर्य जानना ॥४९॥

आगे विषयोंके ऊपर वीतरागता दिखलते हैं—[परममुनिः] महामुनि [विषयाणां उपरि]

विसयहं इत्यादि । विसयहं उप्परि विषयाणामुपरि परममुणि परममुनिः देसु वि करइ ण राउ द्वेषमपि करोति न च रागमपि । येन किं कृतम् । विसयहं जेण वियाणियउ विषयेभ्यो येन विज्ञातः । कोऽसौ विज्ञातः । भिण्णउ अप्पसहाउ आत्मस्वभावः । कथंभूतो भिन्न इति । तथा च । द्रव्येन्द्रियाणि भावेन्द्रियाणि द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियग्राह्यान् विषयांश्च दृष्ट-
श्रुतानुभूतान् जगन्नये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमैश्च त्यक्त्वा निजशुद्धात्म-
भावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दैकरूपसुखामृतरसास्वादेन तृप्तो भूत्वा यो विषयेभ्यो भिन्नं
शुद्धात्मानमनुभवति स मुनिः पञ्चेन्द्रियविषयेषु रागद्वेषौ न करोति । अत्र यः पञ्चेन्द्रियविषय-
सुखान्वित्यै स्वशुद्धात्मसुखे तृप्तो भवति तस्यैवेदं व्याख्यानं शोभते न च विषयासक्तस्येति
भावार्थः ॥ ५० ॥

अथ—

देहहं उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।

देहहं जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥ ५१ ॥

देहस्य उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।

देहाद् येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥ ५१ ॥

देहहं इत्यादि । देहहं उप्परि देहस्योपरि परममुणि परममुनिः देसु वि करइ ण
राउ द्वेषमपि न करोति न रागमपि । येन किं कृतम् । देहहं जेण वियाणियउ देहात्सका-
पाँच इन्द्रियोंके स्पर्शादि विषयोंपर [रागमपि द्वेषं] राग और द्वेष [न करोति] नहीं करता,
अर्थात् मनोज्ञ विषयोंपर राग नहीं करता और अनिष्ट विषयोंपर द्वेष नहीं करता, क्योंकि [येन]
जिनसे [आत्मस्वभावः] अपना स्वभाव [विषयेभ्यः] विषयोंसे [भिन्नः विज्ञातः] जुदा समझ
लिया है । इसलिये वीतराग दशा धारण कर ली है ॥ भावार्थ—द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय और इन
दोनोंसे ग्रहण करने योग्य देखे सुने अनुभव किये जो रूपादि विषय हैं, उनको मन, वचन, काय,
कृत कारित अनुमोदनासे छोड़कर और निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परमानंदरूप
अतीन्द्रियसुखके रसके आस्वादानेसे तृप्त होकर विषयोंसे भिन्न अपने आत्माको जो मुनि अनुभवता
है, वो ही विषयोंमें राग द्वेष नहीं करता । यहाँपर तात्पर्य यह है, कि जो पंचेन्द्रियोंके विषयसुखसे
निवृत्त होकर निज शुद्ध आत्मसुखमें तृप्त होता है, उसीको यह व्याख्यान शोभा देता है, और
विषयाभिलाषीको नहीं शोभता ॥५०॥

आगे साधु देहके ऊपर भी रागद्वेष नहीं करता—[परममुनिः] महामुनि [देहस्य उपरि]
मनुष्यादि शरीरके ऊपर भी [रागमपि द्वेषं] राग और द्वेषको [न करोति] नहीं करता अर्थात्
शुभ शरीरसे राग नहीं करता, अशुभ शरीरसे द्वेष नहीं करता, [येन] जिसने [आत्मस्वभावः]
निजस्वभाव [देहात्] देहसे [भिन्नः विज्ञातः] भिन्न जान लिया है । देह तो जड है, आत्मा चैतन्य
है, जड चैतन्यका क्या संबंध ? ॥ भावार्थ—इन इंद्रियोंसे जो सुख उत्पन्न हुआ है, वह दुःखरूप

शाधेन विज्ञातः । कोऽसौ । भिण्णउ अप्पसहाउ आत्मस्वभावः । कथंभूतो विज्ञातः । तस्मा-
देहाद्भिन्न इति । तथाहि—“ सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं । जं इंदियेहिं लद्धं
तं सुखं दुखमेव तहा ॥ ” इति गाथाकथितलक्षणं दृष्टश्रुतानुभूतं यदेहजनितसुखं तज्जगत्रये
कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबलेन पारमा-
र्थिकानाकुलत्वलक्षणसुखपरिणते निजपरमात्मानि स्थित्वा च य एव देहाद्भिन्नं स्वशुद्धात्मानं
जानाति स एव देहस्योपरि रागद्वेषौ न करोति । अत्र य एव सर्वमकारेण देहममत्वं त्यक्त्वा
देहसुखं नानुभवति तस्यैवेदं व्याख्यानं शोभते नापरस्येति तात्पर्यार्थः ॥ ५१ ॥

अथ—

वित्तिणिवित्तिहिं परममुणि देसु वि करइ ण राउ ।

बंधहं हेउ वियाणियउ एयहं जेण सहाउ ॥ ५२ ॥

वृत्तिनिवृत्त्योः परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।

बन्धस्य हेतुः विज्ञातः एतयोः येन स्वभावः ॥ ५२ ॥

वित्तिणिवित्तिहिं इत्यादि । वित्तिणिवित्तिहिं वृत्तिनिवृत्तिविषये व्रताव्रतविषये परम-
मुणि परममुनिः देसु वि करइ ण राउ द्वेषमपि न करोति न च रागम् । येन किं कृतम् ।
बंधहं हेउ वियाणियउ बन्धस्य हेतुर्विज्ञातः । कोऽसौ । एयहं जेण सहाउ एतयोर्व्रता-
व्रतयोः स्वभावो येन विज्ञात इति । अथवा पाठान्तरम् । “ भिण्णउ जेण वियाणियउ एयहं

ही है । ऐसा कथन श्रीप्रवचनसारमें कहा है—‘सपरम्’ इत्यादि । इसका तात्पर्य ऐसा है, कि जो
इन्द्रियोसे सुख प्राप्त होता है, वह सुख दुःखरूप ही है, क्योंकि वह सुख परवस्तु है, निजवस्तु नहीं
है, बाधा सहित हैं, निराबाध नहीं है, नाशको लिए हुए है, जिसका नाश हो जाता है, बन्धका
कारण है, और विषम है । इसलिये इन्द्रियसुख दुःखरूप ही है, ऐसा इस गाथामें जिसका लक्षण
कहा गया है, ऐसे देहजनित सुखको मन, वचन, काय, कृत कारित अनुमोदनासे छोड़े ।
वीतरागनिर्विकल्प-समाधिके बलसे आकुलता रहित परमसुखरूप निज परमात्मानमें स्थित होकर जो
महामुनि देहसे भिन्न अपने शुद्धात्माको जानता है, वही देहके ऊपर रागद्वेष नहीं करता । जो सब
तरह देहसे निर्ममत्व होकर देहके सुखको नहीं अनुभवता, उसीके लिए यह व्याख्यान शोभा देता
है, और देहबुद्धिवालोंको नहीं शोभता ऐसा अभिप्राय जानना ॥५१॥

आगे प्रवृत्ति और निवृत्तिमें भी महामुनि रागद्वेष नहीं करता, ऐसा कहते हैं—[परममुनिः]
महामुनि [वृत्तिनिवृत्त्योः] प्रवृत्ति और निवृत्तिमें [रागं अपि द्वेषं] राग और द्वेषको [न
करोति] नहीं करता, [येन] जिसने [एतयोः] इन दोनोंका [स्वभावः] स्वभाव [बंधस्य हेतुः]
कर्मबंधका कारण [विज्ञातः] जान लिया है । भावार्थ—व्रत अव्रतमें परममुनि राग द्वेष नहीं करता,
जिसने इन दोनोंका स्वभाव बंधका कारण जान लिया है । अथवा पाठांतर होनेसे ऐसा अर्थ होता
है, कि जिसने आत्माका स्वभाव भिन्न जान लिया है । अपना स्वभाव प्रवृत्ति निवृत्तिसे रहित है ।

अप्यसहाउ ” भिन्नो येन विज्ञातः । कोऽसौ । आत्मस्वभावः । काभ्याम् । एताभ्यां व्रताव्रत-
विकल्पाभ्यां सकाशादिति । तथाहि । येन व्रताव्रतविकल्पो पुण्यपापबन्धकारणभूतौ विज्ञातौ
स शुद्धात्मनि स्थितः सन् व्रतविषये रागं न करोति तथा चाव्रतविषये द्वेषं न करोतीति । अत्राह-
प्रभाकरभट्टः । हे भगवन् यदि व्रतस्योपरि रागतात्पर्यं नास्ति तर्हि व्रतं निषिद्धमिति । भगवा-
नाह । व्रतं कोऽर्थः । सर्वनिवृत्तिपरिणामः । तथा चोक्तम्—‘हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो
विरतिर्व्रतम्’ अथवा । “रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम् । तौ च बाह्यार्थसंबन्धौ
तस्मात्तांस्तु परित्यजेत् ॥ ” प्रसिद्धं पुनरहिंसादिव्रतं एकदेशेन व्यवहारेणेति । कथमेकदेशव्रत-
मिति चेत् । तथाहि । जीवघाते निवृत्तिर्जीवदयाविषये प्रवृत्तिः, असत्यवचनविषये निवृत्तिः सत्य-
वचनविषये प्रवृत्तिः, अदत्तादानविषये निवृत्तिः दत्तादानविषये प्रवृत्तिरित्यादिरूपेणैकदेशं व्रतम् ।
रागद्वेषरूपसंकल्पविकल्पकल्लोलमालारहिते त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधौ पुनः शुभाशुभत्यागात्परिपूर्णं

जहाँ व्रत अव्रतका विकल्प नहीं है । ये व्रत अव्रत पुण्य पापरूप बंधके कारण हैं । ऐसा जिसने
जान लिया, वह आत्मामें तल्लीन हुआ व्रत अव्रतमें रागद्वेष नहीं करता । ऐसा कथन सुनकर
प्रभाकरभट्टने पूछा—हे भगवन्, यदि व्रतपर राग नहीं करे, तो व्रत क्यों धारण करे ? ऐसे कथनमें
व्रतका निषेध होता है । तब योगीन्द्राचार्य कहते हैं, कि व्रतका अर्थ यह है, कि सब शुभ अशुभ
भावोंसे निवृत्ति परिणाम होना । ऐसा ही अन्य ग्रंथोंमें भी ‘रागद्वेषौ’ इत्यादिसे कहा है । अर्थ यह
है कि राग और द्वेष दोनों प्रवृत्तियाँ हैं, तथा इनका निषेध वह निवृत्ति है । ये दोनों अपने नहीं
हैं । अन्य पदार्थके संबंधसे हैं । इसलिये इन दोनोंको छोड़े । अथवा ‘हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो
विरतिर्व्रतम्’ ऐसा कहा गया है । इसका अर्थ यह है, कि प्राणियोंको पीडा देना, झूठ वचन बोलना,
परधन हरना, कुशीलका सेवन और परिग्रह इनसे जो विरक्त होना, वही व्रत है । ये अहिंसादि
व्रत प्रसिद्ध हैं, वे व्यवहारनयकर एकोदेशरूप व्रत हैं । यही दिखलते हैं—जीवघातमें निवृत्ति, जीव
दयामें प्रवृत्ति, असत्य वचनमें निवृत्ति, सत्य वचनमें प्रवृत्ति, अदत्तादान (चोरी) से निवृत्ति,
अचौर्यमें प्रवृत्ति इत्यादि स्वरूपसे एकोदेशव्रत कहा जाता है, और रागद्वेषरूप संकल्प विकल्पोंकी
कल्लोलोंसे रहित तीन गुप्तिसे गुप्त समाधिमें शुभाशुभके त्यागसे परिपूर्ण व्रत होता है । अर्थात्
अशुभकी निवृत्ति और शुभकी प्रवृत्तिरूप एकोदेशव्रत और शुभ अशुभ दोनोंका ही त्याग होना वह
पूर्ण व्रत है । इसलिये प्रथम अवस्थामें व्रतका निषेध नहीं है एकोदेशव्रत है, और पूर्ण अवस्थामें
सर्वदेश व्रत है । यहाँपर कोई यदि प्रश्न करे, कि व्रतसे क्या प्रयोजन ? आत्मभावनासे ही मोक्ष
होता है । भरतजी महाराजने क्या व्रत धारण किया था ? वे तो दो घडीमें ही केवलज्ञान पाकर
मोक्ष गये । इसका समाधान ऐसा है, कि भरतेश्वरने पहले जिनदीक्षा धारण की, शिरके केशलुञ्चन
किये, हिंसादि पापोंकी निवृत्तिरूप पाँच महाव्रत आदरे । फिर एक अंतर्मुहूर्तमें समस्त विकल्प
रहित मन, वचन, काय रोकनेरूप निज शुद्धात्मध्यान उसमें ठहरकर निर्विकल्प हुए । वे
शुद्धात्माका ध्यान, देखे सुने और भोगे हुए भोगोंकी वांछारूप निदान बन्धादि विकल्पोंसे रहित ऐसे

व्रतं भवतीति । कश्चिदाह । व्रतेन किं प्रयोजनमात्मभावनया मोक्षो भविष्यति । भरतेश्वरेण किं व्रतं कृतम्, घटिकाद्वयेन मोक्षं गतः इति । अथ परिहारमाह । भरतेश्वरोऽपि पूर्वं जिनदीक्षा-प्रस्तावे लोचानन्तरं हिंसादिनिवृत्तिरूपं महाव्रतविकल्पं कृतवान्तर्मुहूर्ते गते सति दृष्टश्रुतानुभूत-भोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिविकल्परहिते मनोवचनकायनिरोधलक्षणे निजशुद्धात्मध्याने स्थित्वा पश्चान्निर्विकल्पो जातः । परं किंतु तस्य स्तोककालत्वान्महाव्रतप्रसिद्धिर्नास्ति । अथेदं मतं वयमपि तथा कुर्मोऽवसानकाले । नैवं वक्तव्यम् । यद्येकस्यान्धस्य कथंचिन्निधानलाभो जातस्तर्हि किं सर्वेषां भवतीति भावार्थः । तथा चोक्तम्—“पुण्यमभाविदजोगो मरणे आराहओ जदि वि कोई । खन्नगनिधिदिद्वंतं तं खु पमाणं ण सव्वत्थ ॥ ” ॥ ५२ ॥

एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादकमहाधिकारमध्ये परमोपशमभावव्याख्यानोपलक्षणत्वेन चतुर्दशसूत्रैः स्थलं समाप्तम् । अथानन्तरं निश्चयनयेन पुण्यपापे द्वे समाने इत्याद्युपलक्षणत्वेन चतुर्दश-सूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—योऽसौ विभावस्वभावपरिणामौ निश्चयनयेन बन्धमोक्षहेतु-भूतौ न जानाति स एव पुण्यपापद्वयं करोति न चान्य इति मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

बंधहँ मोक्खहँ हेउ णिउ जो णवि जाणइ कोइ ।

सो पर मोहिँ करइ जिय पुण्णु वि पाउ वि दोइ ॥ ५३ ॥

बन्धस्य मोक्षस्य हेतुः निजः यः नैव जानाति कश्चित् ।

स परं मोहेन करोति जीव पुण्यमपि पापमपि द्वे अपि ॥ ५३ ॥

बंधहं इत्यादि । बंधहं बन्धस्य मोक्खहं मोक्षस्य हेउ हेतुः कारणम् । कथंभूतम् । णिउ

ध्यानमें तल्लीन होकर केवली हुए । जब राज छोड़ा, और मुनि हुए तभी केवली हुए, तब भरतेश्वरने अंतर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त किया । इसलिए महाव्रतकी प्रसिद्धि नहीं हुई । इसपर कोई मूर्ख ऐसा विचार लेवे, कि जैसा उनको हुआ वैसे हमको भी होवेगा । ऐसा विचार ठीक नहीं है । यदि किसी एक अंधेको किसी तरहसे निधिका लाभ हुआ, तो क्या सभीको ऐसा हो सकता है ? सबको नहीं होता । भरत सरीखे भरत ही हुये । इसलिए अन्य भव्यजीवोंको यही योग्य है, कि तप संयमका साधन करना ही श्रेष्ठ है । ऐसा ही ‘पुण्य’ इत्यादि गाथासे दूसरी जगह भी कहा है । अर्थ ऐसा है, कि जिसने पहले तो योगका अभ्यास नहीं किया, और मरणके समय जो कभी आराधक हो जावे, तो यह बात ऐसी जानना, कि जैसे किसी अंधे पुरुषको निधिका लाभ हुआ हो । ऐसी बात सब जगह प्रमाण नहीं हो सकती । कभी कहींपर होवे तो होवे ॥५२॥

इस तरह मोक्ष, मोक्षका फल और मोक्षके मार्गके कहनेवाले दूसरे महाधिकारमें परम उपशांतभावके व्याख्यानकी मुख्यतासे अंतरस्थलमें चौदह दोहे पूर्ण हुए ।

आगे निश्चयनयकर पुण्य पाप दोनों ही समान हैं, ऐसा चौदह दोहोंमें कहते हैं । जो कोई स्वभावपरिणामको मोक्षका कारण और विभावपरिणामको बंधका कारण निश्चयसे ऐसा भेद नहीं जानता है, वही पुण्य पापका कर्ता होता है, अन्य नहीं, ऐसा मनमें धारणकर यह गाथा-सूत्र कहते

निजविभावस्वभावहेतुस्वरूपम् । जो णवि जाणइ कोइ यो नैव जानाति कश्चित् । सो पर स एव मोहिं मोहेन करइ करोति जिय हे जीव पुण्णु वि पाउ वि पुण्यमपि पापमपि । कतिसंख्योपेते अपि । दोइ द्वे अपीति । तथाहि । निजशुद्धात्मानुभूतिरुचिविपरीतं मिथ्यादर्शनं स्वशुद्धात्मप्रतीतिविपरीतं मिथ्याज्ञानं निजशुद्धात्मद्रव्यनिश्चलस्थितिविपरीतं मिथ्याचारित्रमित्येतन्नयं कारणं, तस्मात्त्रयाद्विपरीतं भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूपं मोक्षस्य कारणमिति योऽसौ न जानाति स एव पुण्यपापद्वयं निश्चयनयेन हेयमपि मोहवशात्पुण्यमुपादेयं करोति पापं हेयं करोतीति भावार्थः ॥ ५३ ॥

अथ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतमात्मानं योऽसौ मुक्तिकारणं न जानाति स पुण्यपापद्वयं करोतीति दर्शयति—

दंसणणाणचरित्तमउ जो णवि अप्पु मुणेइ ।

मोक्खहँ कारणु भणिवि जिय सो पर ताइँ करेइ ॥ ५४ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रमयं यः नैवात्मानं मनुते ।

मोक्षस्य कारणं भणित्वा जीव स परं ते करोति ॥ ५४ ॥

दंसणणाणचरित्त इत्यादि । दंसणणाणचरित्तमउ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमयं जो णवि अप्पु मुणेइ यः कर्ता नैवात्मानं मनुते जानाति । किं कृत्वा न जानाति । मोक्खहँ कारणु भणिवि मोक्षस्य कारणं भणित्वा मत्वा जिय हे जीव सो पर ताइँ करेइ स एव पुरुषस्ते पुण्यपापे द्वे करोतीति । तथाहि—निजशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसहजानन्दैकरूपसुखरसास्वाद-
हैं—[यः कश्चित्] जो कोई जीव [बंधस्य मोक्षस्य हेतुः] बंध और मोक्षका कारण [निजः] अपना विभाव और स्वभाव परिणाम है, ऐसा भेद [नैव जानाति] नहीं जानता है, [स एव] वही [पुण्यमपि पापमपि] पुण्य और पाप [द्वे अपि] दोनोंको ही [मोहेन] मोहसे [करोति] करता है ॥ भावार्थ— निज शुद्धात्माकी अनुभूतिकी रुचिसे विपरीत जो मिथ्यादर्शन, निज शुद्धात्माके ज्ञानसे विपरीत मिथ्याज्ञान, और निज शुद्धात्मद्रव्यमें निश्चल स्थिरतासे उलटा जो मिथ्याचारित्र इन तीनोंको बंधका कारण और इन तीनोंसे रहित भेदाभेद रत्नत्रयस्वरूप मोक्षका कारण ऐसा जो नहीं जानता है, वही मोहके वशसे पुण्य पापका कर्ता होता है । पुण्यको उपादेय जानकर करता है, पापको हेय समझता है ॥५३॥

आगे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप परिणमता जो आत्मा वह ही मुक्तिका कारण है, जो ऐसा भेद नहीं जानता है, वही पुण्य पाप दोनोंका कर्ता है, ऐसा दिखलते हैं—[यः] जो [दर्शन-ज्ञानचारित्रमयं] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी [आत्मानं] आत्माको [नैव मनुते] नहीं जानता, [स एव] वही [जीव] हे जीव; [ते] उन पुण्य पाप दोनोंको [मोक्षस्य कारणं] मोक्षके कारण [भणित्वा] जानकर [करोति] करता है । भावार्थ—निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न जो वीतराग सहजानन्द एकरूप सुखरसका आस्वाद उसकी रुचिरूप सम्यग्दर्शन, उसी शुद्धात्मामें वीतराग

रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तत्रैव स्वशुद्धात्मनि वीतरागसहजानन्दैकस्वसंवेदनपरिच्छित्तिरूपं सम्यग्ज्ञानं, वीतरागसहजानन्दैकपरमसमरसीभावेन तत्रैव निश्चलस्थिरत्वं सम्यक्चारित्रं, इत्येतैस्त्रिभिः परिणतमात्मानं योऽसौ मोक्षकारणं न जानाति स एव पुण्यमुपादेयं करोति पापं हेयं च करोतीति । यस्तु पूर्वोक्तत्रयपरिणतमात्मानमेव मोक्षमार्गं जानाति तस्य तु सम्यग्दृष्ट्येवपि संसारस्थितिच्छेदकारणेन सम्यक्त्वादिगुणेन परंपरया मुक्तिकारणं तीर्थकरनामकर्मप्रकृत्यादिकमनीहितवृत्त्या विशिष्टपुण्यमाप्नोति तथाप्यसौ तदुपादेयं न करोतीति भावार्थः ॥ ५४ ॥

अथ योऽसौ निश्चयेन पुण्यपापद्वयं समानं न मन्यते स मोहेन मोहितः सन् संसारं परिभ्रमतीति कथयति—

जो णवि मण्णइ जीउ ससु पुण्णु वि पाउ वि दोइ ।

सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ ॥ ५५ ॥

यः नैव मन्यते जीवः समाने पुण्यमपि पापमपि द्वे ।

स चिरं दुःखं सहमानः जीव मोहेन हिण्डते लोके ॥ ५५ ॥

जो इत्यादि । जो णवि मण्णइ यः कर्ता नैव मन्यते जीउ जीवः । किं न मन्यते । ससु समाने । के । पुण्णु वि पाउ वि दोइ पुण्यमपि पापमपि द्वे सो स जीवः चिरु दुक्खु सहंतु चिरं बहुतरं कालं दुःखं सहमानः सन् जिय हे जीव मोहिं हिंडइ लोइ मोहेन मोहितः सन् हिण्डते भ्रमति । क । लोके संसारे इति । तथा च । यद्यप्यसद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापे

नित्यानन्द स्वसंवेदनरूप सम्यग्ज्ञान और वीतरागपरमानन्द परम समरसीभावकर उर्सीमें निश्चय स्थिरतारूप सम्यक्चारित्र—इन तीनों स्वरूप परिणत हुआ जो आत्मा उसको जो जीव मोक्षका कारण नहीं जानता, वह ही पुण्यको आदरने योग्य जानता है और पापको त्यागने योग्य जानता है । तथा जो सम्यग्दृष्टि जीव रत्नत्रयस्वरूप परिणत हुए आत्माको ही मोक्षका मार्ग जानता है, वह यद्यपि संसारकी स्थितिके छेदनका कारण, और सम्यक्त्वादि गुणसे परम्पराय मुक्तिका कारण ऐसी तीर्थकरनामप्रकृति आदि शुभ (पुण्य) प्रकृतियोंको (कर्मोंको) अवांछितवृत्तिसे ग्रहण करता है, तो भी उपादेय नहीं मानता है । कर्मप्रकृतियोंको त्यागने योग्य ही समझता है ॥५४॥

आगे जो निश्चयनयसे पुण्य पाप दोनोंको समान नहीं मानता, वह मोहसे मोहित हुआ संसारमें भटकता है, ऐसा कहते हैं—[यः] जो [जीवः] जीव [पुण्यमपि पापमपि द्वे] पुण्य और पाप दोनोंको [समाने] समान [नैव मन्यते] नहीं मानता, [सः] वह जीव [मोहेन] मोहसे मोहित हुआ [चिरं] बहुत कालतक [दुःखं सहमानः] दुःख सहता हुआ [लोके] संसारमें [हिंडते] भटकता है ॥ भावार्थ—यद्यपि असद्भूत (असत्य) व्यवहारनयसे द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप ये दोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं, और अशुद्धनिश्चयनयसे भावपुण्य और भावपाप ये दोनों भी आपसमें भिन्न हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनयकर पुण्य पाप रहित शुद्धात्मासे दोनों ही भिन्न हुए बंधरूप होनेसे दोनों समान ही हैं ।

परस्परभिन्ने भवतस्तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावपुण्यपापे भिन्ने भवतस्तथापि शुद्धनिश्चयनयेन पुण्यपाप-
रहितशुद्धात्मनः सकाशाद्विलक्षणे सुवर्णलोहनिगलवद्वन्धं प्रति समाने एव भवतः । एवं नय-
विभागेन योऽसौ पुण्यपापद्वयं समानं न मन्यते स निर्मोहशुद्धात्मनो विपरीतेन मोहेन मोहितः
सन् संसारे परिभ्रमति इति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा
तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह । यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं
त्रिगुप्तिगुप्तवीतरागनिर्विकल्पपरमसमार्धिं लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा संमतमेव । यदि पुनस्तथाविधा-
मवस्थामलभमाना अपि सन्तो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडा-
वश्यकदिकं च त्यक्तवोभयभ्रष्टाः सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम् ॥ ५५ ॥

अथ येन पापफलेन जीवो दुःखं प्राप्य दुःखविनाशार्थं धर्माभिमुखो भवति तत्पापमपि
समीचीनमिति दर्शयति—

वर जिय पावई सुंदरई णाणिय ताई भणंति ।

जीवहँ दुक्खहँ जणिवि लहु सिवमई जाई कुणंति ॥ ५६ ॥

वरं जीव पापानि सुन्दराणि ज्ञानिनः तानि भणन्ति ।

जीवानां दुःखानि जनिन्वा लघु शिवमतिं यानि कुर्वन्ति ॥ ५६ ॥

वर जिय इत्यादि । वर जिय वरं किंतु हे जीव पावई सुंदरई पापानि सुन्दराणि
समीचीनानि भणंति कथयन्ति । के । णाणिय ज्ञानिनः तत्त्ववेदिनः । कानि । ताई तानि

जैसे सोनेकी बेडी और लोहेकी बेडी ये दोनों ही बंधके कारण हैं—इससे समान हैं । इस तरह
नयविभागसे जो पुण्य पापको समान नहीं मानता, वह निर्मोही शुद्धात्मासे विपरीत जो मोहकर्म
उससे मोहित हुआ संसारमें भ्रमण करता है । ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्ट बोला, यदि ऐसा
ही है, तो कितने ही परमतवादी पुण्य पापको समान मानकर स्वच्छंदी हुए रहते हैं, उनको तुम दोष
क्यों देते हो ? तब योगीन्द्रदेवने कहा—जब शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप तीन गुप्तिसे गुप्त वीतराग-
निर्विकल्पसमाधिको पाकर ध्यानमें मग्न हुए ज्ञानी पुण्य पापको समान जानते हैं, तब तो जानना
योग्य है । परन्तु जो मूढ परमसमाधिको न पाकर भी गृहस्थ-अवस्थामें दान पूजा आदि शुभ
क्रियाओंको छोड़ देते हैं, और मुनि पदमें छह आवश्यक कर्मोंको छोड़ते हैं, वे दोनों बातोंसे भ्रष्ट
हैं । न तो यति हैं, न श्रावक हैं । वे निंदा योग्य ही हैं । तब उनको दोष ही है, ऐसा जानना ॥ ५५ ॥

आगे जिस पापके फलसे यह जीव नरकादिमें दुःख पाकर उस दुःखके दूर करनेके लिये धर्मके
सम्मुख होता है, उस पापका फल भी श्रेष्ठ (प्रशंसा योग्य) है, ऐसा दिखलाते हैं—[जीव] हे जीव,
[यानि] जो पापके उदय [जीवानां] जीवोंको [दुःखानि जनिन्वा] दुःख देकर [लघु] शीघ्र ही
[शिवमतिं] मोक्षके जाने योग्य उपायोंमें बुद्धि [कुर्वन्ति] कर देवे, तो [तानि पापानि] वे पाप
भी [वरं सुंदराणि] बहुत अच्छे हैं, ऐसा [ज्ञानिनः] ज्ञानी [भणंति] कहते हैं ॥ भावार्थ—कोई

पूर्वोक्तानि पापानि । कथंभूतानि । जीवहं दुःखइं जणिवि लहु सिवमइं जाइं कुणंति
जीवानां दुःखानि जनित्वा लघु शीघ्रं शिवमर्ति मुक्तियोग्यमर्ति यानि कुर्वन्ति । अयमत्राभि-
प्रायः । यत्र भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं श्रीधर्मं लभते जीवस्तत्पापजनितदुःखमपि श्रेष्ठमिति कस्मादिति
चेत् । ‘आर्ता नरा धर्मपरा भवन्ति’ इति वचनात् ॥ ५६ ॥

अथ निदानबन्धोपार्जितानि पुण्यानि जीवस्य राज्यादिविभूतिं दत्त्वा नारकादिदुःखं जन-
यन्तीति हेतोः समीचीनानि न भवन्तीति कथयति—

मं पुणु पुण्णइँ भल्लाई णाणिय ताई भणंति ।

जीवहँ रज्जइँ देवि लहु दुःखइं जाइं जणंति ॥ ५७ ॥

जीव पाप करके नरकमें गया, वहाँ पर महान दुःख भोगे, उससे कोई समय किसी जीवके
सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है । क्योंकि उस जगह सम्यक्त्वकी प्राप्तिके तीन कारण हैं । पहला
तो यह है, कि तीसरे नरकतक देवता उसे संबोधनेको (चेतावनेको) जाते हैं, सो कभी कोई
जीवके धर्म सुननेसे सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे, दूसरा कारण—पूर्वभवका स्मरण और तीसरा
नरककी पीडासे दुःखी हुआ नरकको महान् दुःखका स्थान जान नरकके कारण जो हिंसा, झूठ,
चोरी, कुशील, परिग्रह और आरंभादिक है, उनको खराब जानकर पापसे उदास होवे । तीसरे
नरकतक ये तीन कारण हैं । आगेके चौथे, पाँचवें, छठें, सातवें नरकमें देवोंका गमन न होनेसे
धर्म-श्रवण तो है नहीं, लेकिन जातिस्मरण है, तथा वेदनासे दुःखी होकर पापसे भयभीत होना—ये
दो ही कारण हैं । इन कारणोंको पाकर किसी जीवके सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है । इस नयसे
कोई भव्यजीव पापके उदयसे खोटी गतिमें गया, और वहाँ जाकर यदि सुलट जावे, तथा सम्यक्त्व
पावे, तो वह कुगति भी बहुत श्रेष्ठ है । यही श्रीयोगीन्द्राचार्यने मूलमें कहा है—जो पाप जीवोंको
दुःख प्राप्त कराकर फिर शीघ्र ही मोक्षमार्गमें बुद्धिको लगावे, तो वे अशुभ भी अच्छे हैं । तथा जो
अज्ञानी जीव किसी समय अज्ञान तपसे देव भी हुआ और देवसे मरकर एकेंद्रिय हुआ तो वह
देव-पर्याय पाना किस कामका ? अज्ञानीके देव-पद पाना भी वृथा है । यदि कभी ज्ञानके प्रसादसे
उत्कृष्ट देव होकर बहुत कालतक सुख भोगकर देवसे मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण करके मोक्षको
पावे, तो उसके समान दूसरा क्या होगा ? यदि नरकसे भी निकलकर कोई भव्यजीव मनुष्य होकर
महाव्रत धारण करके मुक्ति पावे, तो वह भी अच्छा है । ज्ञानी पुरुष उन पापियोंको भी श्रेष्ठ कहते
हैं, जो पापके प्रभावसे दुःख भोगकर उस दुःखसे डरके दुःखके मूलकारण पापको जानके उस
पापसे उदास होवें, वे प्रशंसा करने योग्य हैं, और पापी जीव प्रशंसाके योग्य नहीं हैं, क्योंकि पाप-
क्रिया हमेशा निंदनीय है । भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूप श्रीवीतरागदेवके धर्मको जो धारण करते हैं वे
श्रेष्ठ हैं । यदि सुखी धारण करे तो भी ठीक, और दुःखी धारण करे तब भी ठीक । क्योंकि
शास्त्रका वचन है, कि कोई महाभाग दुःखी हुए ही धर्ममें लवलीन होते हैं ॥५६॥

आगे निदानबंधसे उपार्जन किये हुए पुण्यकर्म जीवको राज्यादि विभूति देकर नरकादि दुःख

मा पुनः पुण्यानि भद्राणि ज्ञानिनः तानि भणन्ति ।

जीवस्य राज्यानि दत्त्वा लघु दुःखानि यानि जनयन्ति ॥ ५७ ॥

मं पुणु इत्यादि । मं पुणु मा पुनः न पुनः पुण्णइं भल्लाइं पुण्यानि भद्राणि भवन्तीति णाणिय ताइं भणंति ज्ञानिनः पुरुषास्त्वानि पुण्यानि कर्मतापन्नानि भणन्ति । यानि किं कुर्वन्ति । जीवहं रज्जइं देवि लहु दुक्खइं जाइं जणंति यानि पुण्यकर्माणि जीवस्य राज्यानि दत्त्वा लघु शीघ्रं दुःखानि जनयन्ति । तद्यथा । निजशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दैकरूप-सुखानुभवविपरीतेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धपूर्वकज्ञानतपोदानादिना यान्युपा-र्जितानि पुण्यकर्माणि तानि हेयानि । कस्मादिति चेत् । निदानबन्धोपार्जितपुण्येन भवान्तरे राज्यादिविभूतौ लब्धायां तु भोगान् त्यक्तुं न शक्नोति तेन पुण्येन नरकादिदुःखं लभते । रावणादिवत् । तेन कारणेन पुण्यानि हेयानीति । ये पुनर्निदानरहितपुण्यसहिताः पुरुषास्ते भवान्तरे राज्यादिभोगे लब्धेऽपि भोगास्त्यक्त्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा चोर्ध्वगतिगामिनो भवन्ति बलदेवादिवदिति भावार्थः । तथा चोक्तम्—‘ऊर्ध्वगा बलदेवाः स्युर्निर्निदाना भवान्तरे’ । इत्यादिवचनात् ॥ ५७ ॥

अथ निर्मलसम्यक्त्वाभिमुखानां मरणमपि भद्रं, तेन विना पुण्यमपि समीचीनं न भवतीति प्रतिपादयति—

वर णिय-दंसण-अहिमुहउ मरणु वि जीव लहेसि ।

मा णिय-दंसण-विम्मुहउ पुण्णु वि जीव करेसि ॥ ५८ ॥

उत्पन्न कराते हैं, इसलिये अच्छे नहीं हैं—[पुनः] फिर [तानि पुण्यानि] वे पुण्य भी [मा भद्राणि] अच्छे नहीं हैं, [यानि] जो [जीवस्य] जीवको [राज्यानि दत्त्वा] राज देकर [लघु] शीघ्र ही [दुःखानि] नरकादि दुःखोंको [जनयन्ति] उपजाते हैं, [ज्ञानिनः] ऐसा ज्ञानीपुरुष [भणंति] कहते हैं ॥ भावार्थ—निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न जो वीतराग परमानन्द अतीन्द्रियसुखका अनुभव उससे विपरीत जो देखे सुने भोगे इन्द्रियोंके भोग उनकी वांछारूप निदानबंधपूर्वक दान तप आदिकसे उपार्जन किये जो पुण्यकर्म हैं, वे हेय हैं । क्योंकि वे निदानबंधसे उपार्जन किये पुण्यकर्म जीवको दूसरे भवमें राजसम्पदा देते हैं । उस राज्यविभूतिको अज्ञानी जीव पाकर विषय भोगोंको छोड़ नहीं सकता, उससे नरकादिकके दुःख पाता है, रावणकी तरह । इसलिये अज्ञानियोंके पुण्य-कर्म भी होता है, और जो निदानबंध रहित ज्ञानी पुरुष हैं, वे दूसरे भवमें राज्यादि भोगोंको पाते हैं, तो भी भोगोंको छोड़कर जिनराजकी दीक्षा धारण करते हैं । धर्मको सेवनकर ऊर्ध्वगतिगामी बलदेव आदिककी तरह होते हैं । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि भवान्तरमें निदानबंध नहीं करते हुए जो महामुनि हैं, वे महान् तपकर स्वर्गलोक जाते हैं । वहाँसे चयकर बलभद्र होते हैं । वे देवोंसे अधिक सुख भोगकर राज्यका त्याग करके मुनिव्रतको धारणकर या तो केवलज्ञान पाकर मोक्षको ही पधारते हैं, या बड़ी ऋद्धिके धारी देव होते हैं, फिर मनुष्य होकर मोक्षको पाते हैं ॥ ५८ ॥

वरं निजदर्शनाभिमुखः मरणमपि जीव लभस्व ।

मा निजदर्शनविमुखः पुण्यमपि जीव करिष्यसि ॥ ५८ ॥

वर इत्यादि । वर गियदंसणअहिमुहउ वरं किंतु निजदर्शनाभिमुखः सन् मरणं वि जीव लहेसि मरणमपि हे जीव ! लभस्व भज । मा गियदंसणविम्मुहउ मा पुनर्निजदर्शन-विमुखः सन् पुण्यं वि जीव करेसि पुण्यमपि हे जीव करिष्यसि । तथा च स्वकीयनिर्दोषिपर-मात्मानुभूतिरुचिरूपं त्रिगुप्तिगुप्तलक्षणनिश्चयचारित्राविनाभूतं वीतरागसंज्ञं निश्चयसम्यक्तत्वं भण्यते तदभिमुखः सन् हे जीव मरणमपि लभस्व दोषो नास्ति तेन विना पुण्यं मा कार्षीरिति । अत्र सम्यक्त्वरहिता जीवाः पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते । सम्यक्त्वसहिताः पुनः पूर्वभवान्तरों-पार्जितपापफलं श्रुज्जाना अपि पुण्यजीवा भण्यन्ते येन कारणेन, तेन कारणेन सम्यक्त्वसहितानां मरणमपि भद्रम् । सम्यक्त्वरहितानां च पुण्यमपि भद्रं न भवति । कस्मात् । तेन निदानबद्धपुण्येन भवान्तरे भोगान् लब्ध्वा पश्चात्तरकादिकं गच्छन्तीति भावार्थः । तथा चोक्तम्—“वरं नरक-वासोऽपि सम्यक्त्वेन हि संयुतः । न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते ॥ ” ॥ ५८ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि निर्मल सम्यक्त्वधारी जीवोंको मरण भी सुखकारी है, उनका मरना अच्छा है, और सम्यक्त्वके बिना पुण्यका उदय भी अच्छा नहीं है—[जीव] हे जीव, [निजदर्शना-भिमुखः] जो अपने सम्यग्दर्शनके सन्मुख होकर [मरणमपि] मरणको भी [लभस्व वरं] पावे, तो अच्छा है, परन्तु [जीव] हे जीव, [निजदर्शनविमुखः] अपने सम्यग्दर्शनसे विमुख हुआ [पुण्यमपि] पुण्य भी [करिष्यसि] करे [मा वरं] तो अच्छा नहीं ॥ भावार्थ—निर्दोष निज परमात्माकी अनुभूतिकी रुचिरूप तीन गुप्तिमयी जो निश्चयचारित्र उससे अविनाभावी (तन्मयी) जो वीतरागनिश्चयसम्यक्त्व उसके सन्मुख हुआ हे जीव, यदि तू मरण भी पावे तो दोष नहीं, और उस सम्यक्त्वके बिना मिथ्यात्व अवस्थामें पुण्य भी करे तो अच्छा नहीं है । जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य सहित है, तो भी पापी ही कहे हैं । तथा जो सम्यक्त्व सहित हैं, वे पहले भवमें उपार्जन किये हुए पापके फलसे दुःख दारिद्र्य भोगते हैं, तो भी पुण्याधिकारी ही कहे हैं । इसलिये यदि सम्यक्त्व सहित हैं, उनका मरना भी अच्छा, मरकर ऊपरको जावेंगे । और जो सम्यक्त्व रहित हैं, उनका पुण्य-कर्म भी प्रशंसा योग्य नहीं है । वे पुण्यके उदयसे क्षुद्र (नीच) देव तथा क्षुद्रमनुष्य होकर संसार-वनमें भटकेंगे । यदि पूर्वके पुण्यको यहाँ भोगते हैं, तो तुच्छ फल भोगके नरक-निगोदमें पड़ेंगे । इसलिए मिथ्यादृष्टियोंका पुण्य भी भल नहीं है । निदानबंध पुण्यसे भवान्तरमें भोगोंको पाकर पीछे नरकमें जावेंगे । सम्यग्दृष्टि प्रथम मिथ्यात्व अवस्थामें किये हुए पापोंके फलसे दुःख भोगते हैं, लेकिन अब सम्यक्त्व मिला है, इसलिये सदा सुखी ही होवेंगे । आयुके अन्तमें नरकसे निकलकर मनुष्य होकर ऊर्ध्वगति ही पावेंगे, और मिथ्यादृष्टि यदि पुण्यके उदयसे देव भी हुए हैं, तो भी देवलोकसे आकर एकेंद्रिय होवेंगे । ऐसा दूसरी जगह भी ‘वरं’ इत्यादि श्लोकसे कहा है, कि सम्यक्त्व सहित नरकमें रहना भी अच्छा, और सम्यक्त्व रहितका स्वर्गमें निवास भी नहीं शोभा देता ॥५८॥

अथ तमेवार्थं पुनरपि द्रढयति—

जे णिय-दंसण-अहिमुहा सोक्खु अणंतु लहंति ।

तिं विणु पुण्णु करंता वि दुक्खु अणंतु सहंति ॥ ५९ ॥

ये निजदर्शनाभिमुखाः सौख्यमनन्तं लभन्ते ।

तेन विना पुण्यं कुर्वाणा अपि दुःखमनन्तं सहन्ते ॥ ५९ ॥

जे णिय इत्यादि । जे ये केचन णियदंसणअहिमुहा निजदर्शनाभिमुखास्ते पुरुषाः । सोक्खु अणंतु लहंति सौख्यमनन्तं लभन्ते । अपरे केचन तिं विणु पुण्णु करंता वि तेन सम्यक्त्वेन विना पुण्यं कुर्वाणा अपि । दुक्खु अणंतु सहंति दुःखमनन्तं सहन्त इति । तथाहि । निजशुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वाभिमुखा ये ते केचनास्मिन्नेव भवे धर्म-पुत्रभीमार्जुनादिवदक्षयसुखं लभन्ते, ये केचन पुनर्नकुलसहदेवादिवत् स्वर्गसुखं लभन्ते । ये तु सम्यक्त्वरहितास्ते पुण्यं कुर्वाणा अपि दुःखमनन्तमनुभवन्तीति तात्पर्यम् ॥ ५९ ॥

अथ निश्चयेन पुण्यं निराकरोति—

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो ।

मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥ ६० ॥

पुण्येन भवति विभवो विभवेन मदो मदेन मतिमोहः ।

मतिमोहेन च पापं तस्मात् पुण्यं अस्माकं मा भवतु ॥ ६० ॥

पुण्णेण इत्यादि । पुण्णेण होइ विहवो पुण्येन विभवो विभूतिर्भवति, विहवेण मओ विभवेन मदोऽहंकारो गर्वो भवति, मएण मइमोहो विज्ञानाद्यष्टविधमदेन मतिमोहो मतिभ्रंशो विवेकमूढत्वं भवति । मइमोहेण य पावं मतिमूढत्वेन पापं भवति, ता पुण्णं अम्ह मा

अब इसी बातको फिर भी दृढ करते हैं—[ये] जो [निजदर्शनाभिमुखाः] सम्यग्दर्शनके सन्मुख हैं, वे [अनन्तं सुखं] अनन्त सुखको [लभन्ते] पाते हैं, [तेन विना] और जो जीव सम्यक्त्व रहित हैं, वे [पुण्यं कुर्वाणा अपि] पुण्य भी करते हैं, तो भी पुण्यके फलसे अल्प सुख पाकर संसारमें [अनंतं दुःखं] अनन्त दुःख [सहंते] भोगते हैं ॥ भावार्थ—निज शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप निश्चयसम्यक्त्वके सन्मुख हुए जो सत्पुरुष हैं, वे इसी भवमें युधिष्ठिर, भीम, अर्जुनकी तरह अविनाशी सुखको पाते हैं, और कितने ही नकुल सहदेवकी तरह अहमिन्द्र-पदके सुख पाते हैं । तथा यदि सम्यक्त्वसे रहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य भी करते हैं, तो भी मोक्षके अधिकारी नहीं हैं, संसारीजीव ही हैं, यह तात्पर्य जानना ॥५९॥

आगे निश्चयसे मिथ्यादृष्टियोंके पुण्यका निषेध करते हैं—[पुण्येन] पुण्यसे घरमें [विभवः] धन [भवति] होता है, और [विभवेन] धनसे [मदः] अभिमान, [मदेन] मानसे [मतिमोहः] बुद्धिभ्रम होता है, [मतिमोहेन] बुद्धिके भ्रम होनेसे (अविवेकसे) [पापं] पाप होता है, [तस्मात्] इसलिये [पुण्यं] ऐसा पुण्य [अस्माकं] हमारे [मा भवतु] न होवे ॥ भावार्थ—

होउ तस्मादित्थंभूतं पुण्यं अस्माकं मा भूदिति । तथा च । इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेदरत्न-
त्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धपरिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जितं
पूर्वभवे तदेव मदमहंकारं जनयति बुद्धिविनाशं च करोति । न च पुनः सम्यक्त्वादिगुणसहितं
भरतसगररामपाण्डवादिपुण्यबन्धवत् । यदि पुनः सर्वेषां मदं जनयति तर्हि ते कथं पुण्य-
भाजनाः सन्तो मदाहंकारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्षं गताः इति भावार्थः ॥ तथा चोक्तं चिरन्त-
नानां निरहंकारस्तम्—“सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे लक्ष्मीर्दानमनून-
मर्थिनिचये मार्गे गतिर्निर्वृतेः । येषां प्रागजनीह तेऽपि निरहंकाराः श्रुतेर्गोचराश्वित्रं संप्रति
लेशतोऽपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः ॥ ” ॥ ६० ॥

अथ देवशास्त्रगुरुभक्त्या मुख्यवृत्त्या पुण्यं भवति न च मोक्ष इति प्रतिपादयति—

देवहं सत्थहं सुणिवरहं भक्तिए पुण्णु हवेइ ।

कम्म-क्खउ पुणु होइ णचि अज्जउ संति भणेइ ॥ ६१ ॥

देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां भक्त्या पुण्यं भवति ।

कर्मक्षयः पुनः भवति नैव आर्यः शान्तिः भणति ॥ ६१ ॥

देवहं इत्यादि । देवहं सत्थहं सुणिवरहं भक्तिए पुण्णु हवेइ देवशास्त्रमुनीनां भक्त्या
पुण्यं भवति कम्मक्खउ पुणु होइ णचि कर्मक्षयः पुनर्मुख्यवृत्त्या नैव भवति । एवं कोऽसौ
भेदाभेदरत्नत्रयकी आराधनासे रहित, देखे सुने अनुभव किये भोगोंकी वांछारूप निदानबंधके
परिणामों सहित जो मिथ्यादृष्टि संसारी अज्ञानी जीव हैं, उसने पहले उपार्जन किये भोगोंकी
वांछारूप पुण्य उसके फलसे प्राप्त हुई घरमें सम्पदा होनेसे अभिमान (घमंड) होता है, अभिमानसे
बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्टकर पाप कमाता है, और पापसे भव भवमें अनंत दुःख पाता है ।
इसलिये मिथ्यादृष्टियोंका पुण्य पापका ही कारण है । जो सम्यक्त्वादि गुण सहित भरत, सगर,
राम, पांडवादिक विवेकी जीव हैं, उनको पुण्यबंध अभिमान नहीं उत्पन्न करता, परम्पराय मोक्षका
कारण हैं । जैसे अज्ञानियोंके पुण्यका फल विभूति गर्वका कारण है, वैसे सम्यग्दृष्टियोंके नहीं है । वे
सम्यग्दृष्टि पुण्यके पात्र हुए चक्रवर्ती आदिकी विभूति पाकर मद अहंकारादि विकल्पोंको छोड़कर
मोक्षको गये अर्थात् सम्यग्दृष्टिजीव चक्रवर्ती बलभद्र-पदमें भी निरहंकार रहे । ऐसा ही कथन
आत्मानुशासन ग्रंथमें श्रीगुणभद्राचार्यने किया है, कि पहले समयमें ऐसे सत्पुरुष हो गये हैं, कि
जिनके वचनमें सत्य, बुद्धिमें शास्त्र, मनमें दया, पराक्रमरूप भुजाओंमें शूरवीरता, याचकोंमें पूर्ण
लक्ष्मीका दान, और मोक्षमार्गमें गमन है, वे निरभिमानी हुए, जिनके किसी गुणका अहंकार नहीं
हुआ । उनके नाम शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है, परंतु अब बड़ा अचंभा है, कि इस पंचमकालमें लेशमात्र
भी गुण नहीं हैं, तो भी उनके उद्धतपना है, यानि गुण तो रंचमात्र भी नहीं, और अभिमानमें बुद्धि
रहती है ॥६०॥

आगे देव गुरु शास्त्रकी भक्तिसे मुख्यतासे तो पुण्यबंध होता है, उससे परम्पराय मोक्ष होता है,
साक्षात् मोक्ष नहीं, ऐसा कहते हैं—[देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां] श्रीवीतरागदेव, द्वादशांग शास्त्र

भणति । अज्जउ आर्यः । किं नामा । सन्ति शान्तिः नामा भणेइ भणति कथयति इति । तथाहि । सम्यक्त्वपूर्वकदेवशास्त्रगुरुभक्त्या मुख्यवृत्त्या पुण्यमेव भवति न च मोक्षः । अत्राह प्रभाकरभट्टः । यदि पुण्यं मुख्यवृत्त्या मोक्षकारणं न भवत्युपादेयं च न भवति तर्हि भरतसगर-रामपाण्डवादयोऽपि निरन्तरं पञ्चपरमेष्ठिगुणस्मरणदानपूजादिना निर्भरभक्ताः सन्तः किमर्थं पुण्योपार्जनं कुर्युरिति । भगवानाह । यथा कोऽपि रामदेवादिपुरुषविशेषो देशान्तरस्थितसीतादि-स्त्रीसमीपागतानां पुरुषाणां तदर्थं संभाषणदानसन्मानादिकं करोति तथा तेऽपि महापुरुषाः वीतरागपरमानन्दैकरूपमोक्षलक्ष्मीसुखसुधारसपिपासिताः सन्तः संसारस्थितिविच्छेदकारणं विषय-कषायोत्पन्नदुर्ध्यानविनाशहेतुभूतं च परमेष्ठिसंबन्धिगुणस्मरणदानपूजादिकं कुर्युरिति । अयमत्र भावार्थः । तेषां पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादिपरिणतानां कुटुम्बिनां पलालवदनीहितं पुण्यमाप्सवतीति ॥६१॥

अथ देवशास्त्रमुनीनां योऽसौ निन्दां करोति तस्य पापबन्धो भवतीति कथयति—

देवहँ सत्थहँ सुणिवरहँ जो विदेसु करेइ ।

णियमे पाउ हवेइ तसु जे संसार भमेइ ॥ ६२ ॥

और दिगम्बर साधुओंकी [भक्त्या] भक्ति करनेसे [पुण्यं भवति] मुख्यतासे पुण्य होता है, [पुनः] लेकिन [कर्मक्षयः] तत्काल कर्मोंका क्षय [नैव भवति] नहीं होता, ऐसा [आर्यः शान्तिः] शान्ति नाम आर्य अथवा कपट रहित संत पुरुष [भणति] कहते हैं ॥ भावार्थ—सम्यक्त्वपूर्वक जो देव गुरु शास्त्रकी भक्ति करता है, उसके मुख्य तो पुण्य ही होता है, और परम्पराय मोक्ष होता है । जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि हैं, उनके भाव-भक्ति तो नहीं है, लौकिक बाहिरी भक्ति होती है, उससे पुण्यका ही बंध है, कर्मका क्षय नहीं है । ऐसा कथन सुनकर श्रीयोगीन्द्रदेवसे प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया—हे प्रभो, जो पुण्य मुख्यतासे मोक्षका कारण नहीं है, तो त्यागने योग्य ही है, ग्रहण योग्य नहीं है । जो ग्रहण योग्य नहीं हैं, तो भरत, सगर, राम, पांडवादिक महान् पुरुषोंने निरन्तर पंचपरमेष्ठीके गुणस्मरण क्यों किये ? और दान पूजादि शुभ क्रियाओंसे पूर्ण होकर क्यों पुण्यका उपार्जन किया ? तब श्रीगुरुने उत्तर दिया—कि जैसे परदेशमें स्थित कोई रामादिक पुरुष अपनी प्यारी सीता आदि स्त्रीके पाससे आये हुए किसी मनुष्यसे बातें करता है—उसका सन्मान करता है, और दान करता है, ये सब कारण अपनी प्रियाके हैं, कुछ उसके प्रसादके कारण नहीं है । उसी तरह वे भरत, सगर, राम, पांडवादि महान् पुरुष वीतराग परमानंदरूप मोक्षसे लक्ष्मीके सुख अमृत-रसके प्यासे हुए संसारकी स्थितिके छेदनेके लिये विषय कषायकर उत्पन्न हुए आर्त रौद्र खोटे ध्यानोंके नाशका कारण श्रीपंचपरमेष्ठीके गुणोंका स्मरण करते हैं, और दान पूजादिक करते हैं, परंतु उनकी दृष्टि केवल निज परिणतिपर है, परवस्तुपर नहीं है । पंचपरमेष्ठीकी भक्ति आदि शुभ क्रियाको परिणत हुए जो भरत आदिक हैं, उनके बिना चाहे पुण्यप्रकृतिका आस्रव होता है । जैसे किसानकी दृष्टि अन्नपर है, तृण भूसादिपर नहीं है । विना चाहा पुण्यका बंध सहजमें ही हो जाता है । वह उनको संसारमें नहीं भटका सकता है । वे तो शिवपुरीके ही पात्र हैं ॥६१॥

देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां यो विद्वेषं करोति ।

नियमेन पापं भवति तस्य येन संसारं भ्रमति ॥ ६२ ॥

देवहं इत्यादि । देवहं सत्त्वहं मुनिवरहं जो विद्वेसु करेइ देवशास्त्रमुनीनां साक्षात्पुण्य-
बन्धहेतुभूतानां परंपरया मुक्तिकारणभूतानां च योऽसौ विद्वेषं करोति । तस्य किं भवति ।
णियमें पाउ हवेइ तसु नियमेन पापं भवति तस्य । येन पापबन्धेन किं भवति । जें संसार
भमेइ येन पापेन संसारं भ्रमतीति । तद्यथा । निजपरमात्मपदार्थोपलम्भरुचिरूपं निश्चयसम्य-
त्त्वकारणस्य तत्त्वार्थश्रद्धानरूपव्यवहारसम्यक्त्वस्य विषयभूतानां देवशास्त्रयतीनां योऽसौ निन्दां
करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवति । मिथ्यात्वेन पापं बध्नाति, पापेन चतुर्गतिसंसारं भ्रमतीति
भावार्थः ॥ ६२ ॥

अथ पूर्वसूत्रद्वयोक्तं पुण्यपापफलं दर्शयति—

पावे^१ णारउ तिरिउ जिउ पुण्णे^२ अमरु वियाणु ।

मिस्से^३ माणुस-गइ लहइ दोहि वि खइ णिब्वाणु ॥ ६३ ॥

पापेन नारकः तिर्यग् जीवः पुण्येनामरो विजानीहि ।

मिश्रेण मनुष्यगतिं लभते द्वयोरपि क्षये निर्वाणम् ॥ ६३ ॥

पावे^१ इत्यादि । पावे पापेन णारउ तिरिउ नारको भवति तिर्यग्भवति । कोऽसौ । जिउ
जीवः पुण्णे अमरु वियाणु पुण्येनामरो देवो भवतीति जानीहि । मिस्से माणुसगइ लहइ
मिश्रेण पुण्यपापद्वयेन मनुष्यगतिं लभते । दोहि वि खइ णिब्वाणु द्वयोरपि कर्मक्षयेऽपि

आगे देव शास्त्र गुरुकी जो निंदा करता है, उसके महान् पापका बंध होता है, वह पापी पापके
प्रभावसे नरक निगोदादि खोटी गतिमें अनंतकाल तक भटकता है—[देवानां शास्त्राणां
मुनिवराणां] बीतरागदेव, जिनसूत्र, और निर्ग्रन्थमुनियोंसे [यः] जो जीव [विद्वेषं] द्वेष
[करोति] करता है, [तस्य] उसके [नियमेन] निश्चयसे [पापं] पाप [भवति] होता है, [येन]
जिस पापके कारणसे वह जीव [संसारं] संसारमें [भ्रमति] भ्रमण करता है । अर्थात् परम्पराय
मोक्षके कारण और साक्षात् पुण्यबंधके कारण जो देव शास्त्र गुरु हैं, इनकी जो निंदा करता है,
उसके नियमसे पाप होता है, पापसे दुर्गतिमें भटकता है ॥ भावार्थ—निज परमात्मद्रव्यकी प्राप्तिकी
रुचि वही निश्चयसम्यक्त्व, उसका कारण तत्त्वार्थश्रद्धानरूप व्यवहारसम्यक्त्व, उसके मूल अरहंत
देव, निर्ग्रन्थ गुरु, और दयामयी धर्म, इन तीनोंकी जो निन्दा करता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है । वह
मिथ्यात्वका महान् पाप बाँधता है । उस पापसे चतुर्गति संसारमें भ्रमता है ॥ ६२ ॥

आगे पहले दो सूत्रोंमें कहे गये पुण्य और पाप फल हैं, उनको दिखाते हैं—[जीवः] यह जीव
[पापेन] पापके उदयसे [नारकः तिर्यग्] नरकगति और तिर्यचगति पाता है, [पुण्येन] पुण्यसे
[अमरः] देव होता है, [मिश्रेण] पुण्य और पाप दोनोंके मेलसे [मनुष्यगतिं] मनुष्यगतिको [लभते]
पाता है, और [द्वयोरपि क्षये] पुण्य पाप दोनोंके ही नाश होनेसे [निर्वाणं] मोक्षको पाता है, ऐसा

निर्वाणमिति । तद्यथा । सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावात्परमात्मनः सकाशाद्विपरीतेन छेदनादि-
नारकतिर्यग्गतिदुःस्वदानसमर्थेन पापकर्मोदयेन नारकतिर्यग्गतिभाजनो भवति जीवः । तस्मादेव
शुद्धात्मनो विलक्षणेन पुण्योदयेन देवो भवति । तस्मादेव शुद्धात्मनो विपरीतेन पुण्यपापद्वयेन
मनुष्यो भवति । तस्यैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठान-
रूपेण शुद्धोपयोगेन मुक्तो भवतीति तात्पर्यार्थः । तथा चोक्तम्—“पावेण णरयतिरियं गम्मइ
धम्मणे देवलोयम्मि । मिस्सेण माणुसत्तं दोण्हं पि खण्ण णिव्वाणं ॥” ॥ ६३ ॥

अथ निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनस्वरूपे स्थित्वा व्यवहारप्रतिक्रमणप्रत्याख्यान-
लोचनां त्यजन्तीति त्रिकलेन कथयति—

वंदणु णिंदणु पडिकमणु पुण्णहं कारणु जेण ।

करइ करावइ अणुमणइ एक्कु वि णाणि ण तेण ॥ ६४ ॥

वन्दनं निन्दनं प्रतिक्रमणं पुण्यस्य कारणं येन ।

करोति कारयति अनुमन्यते एकमपि ज्ञानी न तेन ॥ ६४ ॥

वंदणु इत्यादि । वंदणु णिंदणु पडिकमणु वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणत्रयम् । किंविशिष्टम् ।
पुण्णहं कारणु पुण्यस्य कारणं जेण येन कारणेन करइ करावइ अणुमणइ करोति
कारयति अनुमोदयति, एक्कु वि एकमपि, णाणि ण तेण ज्ञानी पुरुषो न तेन कारणेनेति ।

[विजानीहि] जानो ॥ भावार्थ—सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव जो परमात्मा है, उससे विपरीत जो
पापकर्म उसके उदयसे नरक तिर्यचगतिका पात्र होता है, आत्मस्वरूपसे विपरीत शुभ कर्मोंके
उदयसे देव होता है, दोनोंके मेलसे मनुष्य होता है, और शुद्धात्मस्वरूपसे विपरीत इन दोनों पुण्य
पापोंके क्षयसे निर्वाण (मोक्ष) मिलता है । मोक्षका कारण एक शुद्धोपयोग है, वह शुद्धोपयोग निज
शुद्धात्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप है । इसलिये इस शुद्धोपयोगके बिना किसी तरह
भी मुक्ति नहीं हो सकती, यह सारांश जानो । ऐसा ही सिद्धांत-ग्रन्थोंमें भी हरएक जगह कहा गया
है । जैसे-यह जीव पापसे नरक तिर्यचगतिको जाता है, और धर्म (पुण्य) से देवलोकमें जाता है,
पुण्य पाप दोनोंके मेलसे मनुष्यदेहको पाता है और दोनोंके क्षयसे मोक्ष पाता है ॥६३॥

आगे निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, और निश्चयआलोचनारूप जो शुद्धोपयोग उसमें
ठहरकर व्यवहारप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रत्याख्यान, और व्यवहार आलोचनारूप शुभोपयोगको छोड़े,
ऐसा कहते हैं—[वंदनं] पंचपरमेष्ठीकी वंदना, [निंदनं] अपने अशुभ कर्मकी निंदा, और
[प्रतिक्रमणं] अपराधोंकी प्रायश्चित्तादि विधिसे निवृत्ति, ये सब [येन पुण्यस्य कारणं] जो
पुण्यके कारण हैं, मोक्षके कारण नहीं हैं, [तेन] इसलिये पहली अवस्थामें पापके दूर करनेके
लिये ज्ञानी पुरुष इनको करता है, कराता है, और करते हुएको भला जानता है तो भी निर्विकल्प
शुद्धोपयोग अवस्थामें [ज्ञानी] ज्ञानी जीव [एकमपि] इन तीनोंमेंसे एक भी [न करोति] न तो
करता है, [कारयति] न कराता है, और न [अनुमन्यते] करते हुएको भला जानता है ॥

तथाहि । शुद्धनिर्विकल्पपरमात्मतत्त्वभावनावलेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षास्मरणरूपाणामतीत-
रागादिदोषाणां निराकरणं निश्चयप्रतिक्रमणं भवति, वीतरागचिदानन्दैकानुभूतिभावनावलेन
भाविभोगाकांक्षारूपाणां रागादीनां त्यजनं निश्चयप्रत्याख्यानं भण्यते, निजशुद्धात्मोपलम्भबलेन
वर्तमानोदयागतशुभाशुभनिमित्तानां हर्षविषादादिपरिणामानां निजशुद्धात्मद्रव्यात् पृथकरणं निश्च-
यालोचनमिति । इत्थंभूते निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानलोचनत्रये स्थित्वा योऽसौ व्यवहारप्रति-
क्रमणप्रत्याख्यानलोचनत्रयं तत्रयानुकूलं वन्दननिन्दनादिशुभोपयोगं च त्यजन् स ज्ञानी भण्यते
न चान्य इति भावार्थः ॥ ६४ ॥

अथ—

वन्दणु णिंदणु पडिकमणु णाणिहिँ एहु ण जुत्तु ।

एक्कु जि मेल्लिवि णाणमउ सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ ६५ ॥

वन्दनं निन्दनं प्रतिक्रमणं ज्ञानिनां इदं न युक्तम् ।

एकमेव मुक्त्वा ज्ञानमयं शुद्धं भावं पवित्रम् ॥ ६५ ॥

वन्दणु णिंदणु पडिकमणु वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणत्रयम् । णाणिहु एहु ण जुत्तु
ज्ञानिनामिदं न युक्तम् । किं कृत्वा । एक्कु जि मेल्लिवि एकमेव मुक्त्वा । एकं कम् । णाणमउ

भावार्थ—केवल शुद्ध स्वरूपमें जिसका चित्त लगा हुआ है, ऐसा निर्विकल्प परमात्मतत्त्वकी
भावनाके बलसे देखे सुने और अनुभव किये भोगोंकी वांछारूप जो भूतकालके रागादि दोष उनका
दूर करना वह निश्चयप्रतिक्रमण; वीतराग चिदानन्द शुद्धात्माकी अनुभूतिकी भावनाके बलसे
होनेवाले भोगोंकी वांछारूप रागादिकका त्याग वह निश्चयप्रत्याख्यान; और निज शुद्धात्माकी प्राप्तिके
बलसे वर्तमान उदयमें आये जो शुभ अशुभके कारण हर्ष विषादादि अशुद्ध परिणाम उनको निज
शुद्धात्मद्रव्यसे जुदा करना वह निश्चयआलोचना । इस तरह निश्चयप्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और
आलोचनामें ठहरकर जो कोई व्यवहारप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रत्याख्यान, व्यवहार-आलोचना, इन
तीनोंके अनुकूल वन्दना निंदा आदि शुभोपयोग है, उनको छोड़ता है वही ज्ञानी कहा जाता है,
अन्य नहीं । सारांश यह है कि ज्ञानी जीव पहले तो अशुभको त्यागकर शुभमें प्रवृत्त होता है, बाद
शुभको भी छोड़कर शुद्धमें लग जाता है । पहले किये हुए अशुभ कर्मोंकी निवृत्ति वह
व्यवहारप्रतिक्रमण, अशुभ-परिणाम होनेवाले हैं उनका रोकना वह व्यवहारप्रत्याख्यान, और
वर्तमानकालमें शुभकी प्रवृत्ति अशुभकी निवृत्ति वह व्यवहारआलोचना है । व्यवहारमें तो अशुभका
त्याग और शुभका अंगीकार होता है, और निश्चयमें शुभ अशुभ दोनोंका ही त्याग होता है ॥६४॥

आगे इसी कथनको दृढ़ करते हैं—[वन्दनं निन्दनं प्रतिक्रमणं] वन्दन, निंदा, और प्रतिक्रमण
[इदं] ये तीनों [ज्ञानिनां] पूर्ण ज्ञानियोंको [युक्तं न] ठीक नहीं हैं, [एकमेव] एक [ज्ञानमयं]
ज्ञानमय [शुद्धं पवित्रं भावं] पवित्र शुद्ध भावको [मुक्त्वा] छोड़कर अर्थात् इसके सिवाय

सुद्धउ भाउ पविच्छु ज्ञानमयं शुद्धभावं पवित्रमिति । तथाहि । पञ्चेन्द्रियभोगाकांक्षाप्रभृति-
समस्तविभावरहितः शून्यः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिर्वि-
कल्पसमाधिसमुत्पन्नसहजानन्दपरमसमरसीभावलक्षणसुखामृतरसास्वादेन भरितावस्थो योऽसौ
ज्ञानमयो भावः तं भावं मुक्त्वाऽन्यद्व्यवहारप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनत्रयं तदनुकूलं वन्दन-
निन्दनादिशुभोपयोगविकल्पजालं च ज्ञानिनां युक्तं न भवतीति तात्पर्यम् ॥ ६५ ॥

अथ—

वंदउ णिंदउ पडिकमउ भाउ असुद्धउ जासु ।

पर तसु संजसु अत्थि णवि जं मण-सुद्धि ण तासु ॥ ६६ ॥

वन्दतां निन्दतु प्रतिक्रामतु भावः अशुद्धो यस्य ।

परं तस्य संयमोऽस्ति नैव यस्मात् मनःशुद्धिर्न तस्य ॥ ६६ ॥

वंदउ इत्यादि । वंदउ णिंदउ पडिकमउ वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणं करोतु । भाउ
असुद्धउ जासु भावः परिणामः न शुद्धो यस्य, पर परं नियमेन तसु तस्य पुरुषस्य संजसु
अत्थि णवि संयमोऽस्ति नैव । कस्मान्नास्ति । जं यस्मात् कारणात् मणसुद्धि ण तासु
मनःशुद्धिर्न तस्येति । तथा । नित्यानन्दैकरूपस्वशुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षैर्विषयकषायाधीनैः
ख्यातिपूजालाभादिमनोरथशतसहस्रविकल्पजालमालाप्रपञ्चोत्पन्नैरपध्यानैर्यस्य चित्तं रञ्जितं
वासितं तिष्ठति तस्य द्रव्यरूपं वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणादिकं कुर्वाणस्यापि भावसंयमो नास्ति
ज्ञानीको कोई कार्य करना योग्य नहीं है ॥ भावार्थ—पाँच इन्द्रियोके भोगोंकी वांछाको आदि लेकर
संपूर्ण विभावोंसे रहित जो केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप परमात्मतत्त्व उसके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान
आचरणरूप निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न जो परमानन्द परमसमरसीभाव वही हुआ अमृत-रस उसके
आस्वादसे पूर्ण जो ज्ञानमयीभाव उसे छोड़कर अन्य व्यवहारप्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचनाके
अनुकूल वंदन निन्दनादि शुभोपयोग विकल्प-जाल हैं, वे पूर्ण ज्ञानीको करने योग्य नहीं है । प्रथम
अवस्थामें ही हैं, आगे नहीं है ॥६५॥

आगे इसी बातको दृढ़ करते हैं—[वन्दतु निन्दतु प्रतिक्रामतु] निःशंक वंदना करो, निंदा करो,
प्रतिक्रमणादि करो लेकिन [यस्य] जिसके [अशुद्धो भावः] जब तक अशुद्ध परिणाम है,
[तस्य] उसके [परं] नियमसे [संयमः] संयम [नैव अस्ति] नहीं हो सकता, [यस्मात्] क्योंकि
[तस्य] उसके [मनः शुद्धिः न] मनकी शुद्धता नहीं है । जिसका मन शुद्ध नहीं, उसके संयम
कहाँसे हो सकता है ? भावार्थ—नित्यानन्द एकरूप निज शुद्धात्माकी अनुभूतिके प्रतिपक्षी (उलटे)
जो विषय कषाय उनके आधीन आर्त रौद्र खोटे ध्यानोंकर जिसका चित्त रँगा हुआ है, उसके
द्रव्यरूप व्यवहार-वंदना निदान प्रतिक्रमणादि क्या कर सकते हैं ? जो वह बाह्य-क्रिया करता है,
तो भी उसके भावसंयम नहीं है । सिद्धान्तमें उसे असंयमी कहते हैं । कैसे हैं वो आर्त रौद्र स्वरूप
खोटे ध्यान ? अपनी बड़ाई प्रतिष्ठा और लाभादि मैकडों मनोरथोंके विकल्पोंकी मालाके (पंक्ति)के

इत्यभिप्रायः ॥ ६६ ॥ एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निश्चयनयेन पुण्यपापद्वयं समानमित्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्दशसूत्रस्थलं समाप्तम् । अथानन्तरं शुद्धोपयोगादिप्रतिपादनमुख्यत्वेनैकाधिकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तत्रान्तरस्थलचतुष्टयं भवति । तद्यथा । प्रथमसूत्रपञ्चकेन शुद्धोपयोगव्याख्यानं करोति, तदनन्तरं पञ्चदशसूत्रपर्यन्तं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यानम्, अत ऊर्ध्वं सूत्राष्टकपर्यन्तं परिग्रहत्यागमुख्यत्वेन व्याख्यानं, तदनन्तरं त्रयोदशसूत्रपर्यन्तं केवलज्ञानादिगुणस्वरूपेण सर्वे जीवाः समाना इति मुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । तद्यथा ।

रागादिविकल्पनिवृत्तिस्वरूपशुद्धोपयोगे संयमादयः सर्वे गुणास्तिष्ठन्तीति प्रतिपादयति—

सुद्धहं संजमु सीलु तउ सुद्धहं दंसणु णाणु ।

सुद्धहं कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु ॥ ६७ ॥

शुद्धानां संयमः शीलं तपः शुद्धानां दर्शनं ज्ञानम् ।

शुद्धानां कर्मक्षयो भवति शुद्धो तेन प्रधानः ॥ ६७ ॥

सुद्धहं इत्यादि । सुद्धहं शुद्धोपयोगिनां संजमु इन्द्रियसुखाभिलाषनिवृत्तिबलेन षड्जीव-निकायहिंसानिवृत्तिबलेनात्मना आत्मनि संयमनं नियमनं संयमः स पूर्वोक्तः शुद्धोपयोगिनामेव । अथवोपेक्षासंयमापहृतसंयमौ वीतरागसरागापरनामानौ तावपि तेषामेव संभवतः । अथवा सामा-
प्रपंचसे उत्पन्न हुए हैं । जब तक ये चित्तमें हैं, तब तक बाह्य-क्रिया क्या कर सकती है ? कुछ नहीं कर सकती ॥६६॥

इस तरह मोक्ष, मोक्षफल, मोक्षमार्गादिका कथन करनेवाले दूसरे महा अधिकारमें निश्चयनयसे पुण्य पाप दोनों समान हैं, इस व्याख्यानकी मुख्यतासे चौदह दोहे कहे । आगे शुद्धोपयोगके कथनकी मुख्यतासे इकतालीस दोहोंमें व्याख्यान करते हैं, और आठ दोहोंमें परिग्रहत्यागके व्याख्यानकी मुख्यतासे कहते हैं, तथा तेरह दोहोंमें केवलज्ञानादि गुणस्वरूपकर सब जीव समान हैं, ऐसा व्याख्यान है ।

अब प्रथम ही रागादि विकल्पकी निवृत्तिरूप शुद्धोपयोगमें संयमादि सब गुण रहते हैं, ऐसा वर्णन करते हैं—[शुद्धानां] शुद्धोपयोगियोंके ही [संयमः शीलं तपः] पाँच इन्द्रिय छुट्टे मनको रोकनेरूप संयम शील और तप [भवति] होते हैं, [शुद्धानां] शुद्धोंके ही [दर्शनं ज्ञानं] सम्यग्दर्शन और वीतरागस्वसंवेदनज्ञान और [शुद्धानां] शुद्धोपयोगियोंके ही [कर्मक्षयः] कर्मोंका नाश होता है, [तेन] इसलिये [शुद्धः] शुद्धोपयोग ही [प्रधानः] जगतमें मुख्य है ॥ भावार्थ— शुद्धोपयोगियोंके पाँच इन्द्रिय छुट्टे मनका रोकना, विषयाभिलाषाकी निवृत्ति, और छह कायके जीवोंकी हिंसासे निवृत्ति, उसके बलसे आत्मामें निश्चल रहना, उसका नाम संयम है, वह होता है, अथवा उपेक्षासंयम अर्थात् तीन गुप्तिमें आरूढ और उपहृतसंयम अर्थात् पाँच समितिका पालना, अथवा सरागसंयम अर्थात् शुद्धोपयोगरूप संयम और वीतरागसंयम अर्थात् शुद्धोपयोगरूप परमसंयम वह

यिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिस्वप्नसंपराययथाख्यातभेदेन पञ्चधा संयमः सोऽपि लभ्यते तेषामेव । सीलु स्वात्मना कृत्वा स्वात्मनिवृत्तिर्वर्तनं इति निश्चयव्रतं, व्रतस्य रागादिपरिहारेण परिरक्षणं निश्चयशीलं तदपि तेषामेव । तउ द्वादशविधतपश्चरणबलेन परद्रव्येच्छानिरोधं कृत्वा शुद्धात्मनि प्रतपनं विजयनं तप इति । तदपि तेषामेव । सुद्धहं शुद्धोपयोगिनां दंसणु लब्धस्था-
वस्थायां स्वशुद्धात्मनि रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं केवलज्ञानोत्पत्तौ सत्यां तस्यैव फलभूतं अनीहितविप-
रीताभिनिवेशरहितं परिणामलक्षणं क्षायिकसम्यक्तत्वं केवलदर्शनं वा तेषामेव । णाणु वीतरागस्व-
संवेदनज्ञानं तस्यैव फलभूतं केवलज्ञानं वा सुद्धहं शुद्धोपयोगिनामेव । कम्मक्खउ परमात्म-
स्वरूपोपलब्धिलक्षणो द्रव्यभावकर्मक्षयः हवह तेषामेव भवति । सुद्धउ शुद्धोपयोगपरिणाम-
स्तदाधारपुरुषो वा तेण पहाणु येन कारणेन पूर्वोक्ताः संयमादयो गुणाः शुद्धोपयोगे लभ्यन्ते
तेन कारणेन स एव प्रधान उपादेयः इति तात्पर्यम् । तथा चोक्तं शुद्धोपयोगफलम्—“सुद्धस्स
य सामणं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं । सुद्धस्स य णिव्वाणं सो चिय सुद्धो णमो तस्स ॥” ॥६७॥

अथ निश्चयेन स्वकीयशुद्धभाव एव धर्म इति कथयति—

भाउ विसुद्धउ अप्पणउ धम्मु भणेविणु लेहु ।

चउ-गइ-दुक्खहँ जो धरइ जीउ पडंतउ एहु ॥ ६८ ॥

उन शुद्ध चेतनोपयोगियोंके ही होता है । शील अर्थात् अपनेसे अपने आत्मामें प्रवृत्ति करना यह निश्चयशील, रागादिके त्यागनेसे शुद्ध भावकी रक्षा करना वह भी निश्चयशील है, और देवांगना, मनुष्यनी, तिर्यचनी, तथा काठ पत्थर चित्रामादिकी अचेतन स्त्री-ऐसे चार प्रकारकी स्त्रियोंका मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग करना, वह व्यवहारशील है, ये दोनों शील शुद्ध चित्तवालोंके ही होते हैं । तप अर्थात् बारह तरहका तप उसके बलसे भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्मरूप सब वस्तुओंमें इच्छा छोड़कर शुद्धात्मामें मग्न रहना, काम क्रोधादि शत्रुओंके वशमें न होना, प्रतापरूप विजयरूप जितेंद्रिय रहना । यह तप शुद्ध चित्तवालोंके ही होता है । दर्शन अर्थात् साधक अवस्थामें तो शुद्धात्मामें रुचिरूप सम्यग्दर्शन और केवली अवस्थामें उस सम्यग्दर्शनका फलरूप संशय, विमोह, विभ्रम रहित निज परिणामरूप क्षायिकसम्यक्तत्वं केवलदर्शन यह भी शुद्धोंके ही होता है । ज्ञान अर्थात् वीतराग स्वसंवेदनज्ञान और उसका फल केवलज्ञान वह भी शुद्धोपयोगियोंके ही होता है, और कर्मक्षय अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्मका नाश तथा परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति वह भी शुद्धोपयोगियोंके ही होती है । इसलिये शुद्धोपयोग-परिणाम और उन परिणामोंका धारण करनेवाला पुरुष ही जगतमें प्रधान हैं । क्योंकि संयमादि सर्व गुण शुद्धोपयोगमें ही पाये जाते हैं । इसलिये शुद्धोपयोगके समान अन्य नहीं है, ऐसा तात्पर्य जानना । ऐसा ही अन्य ग्रन्थोंमें हरएक जगह ‘शुद्धस्य’ इत्यादिसे कहा गया है । उसका भावार्थ यह है, कि शुद्धोपयोगीके ही मुनि-पद कहा है, और उसीके दर्शन ज्ञान कहे हैं । उसीके निर्वाण है, और वही शुद्ध अर्थात् रागादि रहित है । उसीको हमारा नमस्कार है ॥६७॥

आगे यह कहते हैं कि निश्चयसे अपना शुद्ध भाव ही धर्म है—[विशुद्धः भावः] मिथ्यात्व

भावो विशुद्धः आत्मीयः धर्मं भणित्वा लाहि ।

चतुर्गतिदुःखेभ्यः यो धरति जीवं पतन्तमिमम् ॥ ६८ ॥

भाउ इत्यादि । भाउ भावः परिणामः । कथंभूतः । विसुद्ध उ विशेषेण शुद्धो मिथ्यात्न-
रागादिरहितः अप्पणउ आत्मीयः धम्मो भणेविणु लेहु धर्मं भणित्वा मत्वा प्रगृहीथाः । यो
धर्मः किं करोति । चउगइदुक्खहं जो धरइ चतुर्गतिदुःखेभ्यः सकाशात् उद्धृत्य यः कर्ता
धरति । कं धरति । जीउ पडंतउ एहु जीवमिमं प्रत्यक्षीभूतं संसारे पतन्तमिति । तद्यथा । धर्म-
शब्दस्य व्युत्पत्तिः क्रियते । संसारे पतन्तं प्राणिनमुद्धृत्य नरेन्द्रनागेन्द्रदेवेन्द्रवन्द्ये मोक्षपदे धरतीति
धर्मं इति धर्मशब्देनात्र निश्चयेन जीवस्य शुद्धपरिणाम एव ग्राह्यः । तस्य तु मध्ये वीतरागसर्वज्ञ-
प्रणीतनयविभागेन सर्वे धर्मा अन्तर्भूता लभ्यन्ते । तथा अहिंसालक्षणो धर्मः, सोऽपि जीवशुद्ध-
भावं विना न संभवति । सागारानगारलक्षणो धर्मः सोऽपि तथैव उत्तमक्षमादिदशविधो धर्मः
सोऽपि जीवशुद्धभावमपेक्षते । ‘सदृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेष्टरा विदुः’ इत्युक्तं यद्धर्मलक्षणं तदपि
तथैव । रागद्वेषमोहरहितः परिणामो धर्मः सोऽपि जीवशुद्धस्वभाव एव । वस्तुस्वभावो धर्मः
सोऽपि तथैव । तथा चोक्तम्—“धम्मो वत्थुसहावो” इत्यादि । एवंगुणविशिष्टो धर्मश्चतुर्गति-
दुःखेषु पतन्तं धरतीति धर्मः । अत्राह शिष्यः । पूर्वसूत्रे भणितं शुद्धोपयोगमध्ये संयमादयः सर्वे

रागादिसे रहित जो शुद्ध परिणाम है, वही [आत्मीयः] अपना है और अशुद्ध परिणाम अपने नहीं
हैं, सो शुद्ध भावको ही [धर्मं भणित्वा] धर्म समझकर [गृहीथाः] अंगीकार करो । [यः] जो
आत्मधर्म [चतुर्गतिदुःखेभ्यः] चारों गतियोंके दुःखोंसे [पतंतं] संसारमें पड़े हुए [इमं जीवं] इस
जीवको निकालकर [धरति] आनन्द-स्थानमें रखता है ॥ भावार्थ—धर्म शब्दका शब्दार्थ ऐसा है,
कि संसारमें पड़ते हुए प्राणियोंको निकालकर मोक्षपदमें रखे, वह धर्म है, वह मोक्षपद देवेन्द्र
नागेन्द्र नरेन्द्रोंकर वंदने योग्य है । जो आत्माका निज स्वभाव है वही धर्म है, उसीमें जिनभाषित
सब धर्म पाये जाते हैं । जो दयास्वरूप धर्म है, वह भी जीवके शुद्ध भावोंके बिना नहीं होता, यति
श्रावकका धर्म भी शुद्ध भावोंके बिना नहीं होता, उत्तम क्षमादि दशलक्षणधर्म भी शुद्ध भाव बिना
नहीं हो सकता, और रत्नत्रयधर्म भी शुद्ध भावोंके बिना नहीं हो सकता । ऐसा ही कथन जगह
जगह ग्रंथोंमें है, “सदृष्टि” इत्यादि श्लोकसे—उसका अर्थ यह है, कि धर्मके ईश्वर भगवानने
सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनोंको धर्म कहा है । जिस धर्मके ये ऊपर कहे गये लक्षण हैं,
वह राग, द्वेष, मोह रहित परिणाम-धर्म है, वह जीवका स्वभाव ही है, क्योंकि वस्तुका स्वभाव
ही धर्म है । ऐसा दूसरी जगह भी “धम्मो” इत्यादि गाथासे कहा है, कि जो आत्मवस्तुका स्वभाव
है, वह धर्म है, उत्तम क्षमादि भावरूप दस प्रकारका धर्म है, रत्नत्रय धर्म है, और जीवोंकी रक्षा
यह धर्म है । यह जिनभाषित धर्म चतुर्गतिके दुःखोंमें पड़ते हुए जीवोंको उद्धारता है । यहाँ शिष्यने
प्रश्न किया, कि जो पहले दोहेमें तो तुमने शुद्धोपयोगमें संयमादि सब गुण कहे, और यहाँ आत्माका
शुद्ध परिणाम ही धर्म कहा है, उसमें धर्म पाये जाते हैं, तो पहले दोहेमें और इसमें क्या भेद है ?

गुणा लभ्यन्ते । अत्र तु भणितमात्मनः शुद्धपरिणाम एव धर्मः, तत्र सर्वे धर्माश्च लभ्यन्ते । को विशेषः । परिहारमाह । तत्र शुद्धोपयोगसंज्ञा मुख्या, अत्र तु धर्मसंज्ञा मुख्या एतावान् विशेषः । तात्पर्यं तदेव । तेन कारणेन सर्वप्रकारेण शुद्धपरिणाम एव कर्तव्य इति भावार्थः ॥ ६८ ॥

अथ विशुद्धभाव एव मोक्षमार्ग इति दर्शयति—

सिद्धिहिँ केरा पंथडा भाउ विसुद्धउ एक्कु।

जो तसु भावहँ मुणि चलइ सो किम होइ विमुक्कु ॥ ६९ ॥

सिद्धेः संबन्धी पन्थाः भावो विशुद्ध एकः ।

यः तस्माद्भावात् मुनिश्चलति स कथं भवति विमुक्तः ॥ ६९ ॥

सिद्धिहिँ इत्यादि । सिद्धिहिँ केरा सिद्धेर्मुक्तेः संबन्धी पंथडा पन्था मार्गः । कोऽसौ । भाउ भावः परिणामः कथंभूतः । विसुद्धउ विशुद्धः एक्कु एक एवाद्वितीयः । जो तसु भावहँ मुणि चलइ यस्तस्माद्भावान्मुनिश्चलति । सो किम होइ विमुक्कु स मुनिः कथं मुक्तो भवति न कथमपीति । तद्यथा । योऽसौ समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितो जीवस्य शुद्धभावः स एव निश्चयरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्गः । यस्तस्मात् शुद्धात्मपरिणामान्मुनिश्च्युतो भवति स कथं मोक्षं लभते किंतु नैव । अत्र येन कारणेन निजशुद्धात्मानुभूतिपरिणाम एव मोक्षमार्गस्तेन कारणेन मोक्षार्थिना स एव निरन्तरं कर्तव्य इति तात्पर्यार्थः ॥ ६९ ॥

अथ कापि देशे गच्छ किमप्यनुष्ठानं कुरु तथापि चित्तशुद्धिं विना मोक्षो नास्तीति प्रकटयति—

जहिँ भावइ तहिँ जाहिँ जिय जं भावइ करि तं जि ।

केम्बइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तहँ सुद्धि ण जं जि ॥ ७० ॥

उसका समाधान—पहले दोहेमें तो शुद्धोपयोग मुख्य कहा था, और इस दोहेमें धर्म मुख्य कहा है । शुद्धोपयोगका ही नाम धर्म है, तथा धर्मका ही नाम शुद्धोपयोग है । शब्दका भेद है, अर्थका भेद नहीं है । दोनोंका तात्पर्य एक है । इसलिए सब तरह शुद्ध परिणाम ही कर्तव्य है, वही धर्म है ॥ ६८ ॥

आगे शुद्ध भाव ही मोक्षका मार्ग है, ऐसा दिखलाते हैं—[सिद्धेः संबन्धी] मुक्तिका [पन्थाः] मार्ग [एकः विशुद्धः भावः] एक शुद्ध भाव ही है । [यः मुनिः] जो मुनि [तस्मात् भावात्] उस शुद्ध भावसे [चलति] चलायमान हो जावे, तो [सः] वह [कथं] कैसे [विमुक्तः] मुक्त [भवति] हो सकता है ? किसी प्रकार नहीं हो सकता ॥ भावार्थ—जो समस्त शुभाशुभ संकल्प विकल्पोसे रहित जीवका शुद्ध भाव है, वही निश्चयरत्नत्रयस्वरूप मोक्षका मार्ग है । जो मुनि शुद्धात्म परिणामसे च्युत हो जावे, वह किस तरह मोक्षको पा सकता है ? नहीं पा सकता । मोक्षका मार्ग एक शुद्ध भाव ही है, इसलिये मोक्षके इच्छुकको वही भाव हमेशा करना चाहिए ॥ ६९ ॥

आगे यह प्रकट करते हैं, कि किसी देशमें जाओ, चाहे जो तप करो, तो भी चित्तकी शुद्धिके बिना मोक्ष नहीं है—[जीव] हे जीव, [यत्र] जहाँ [भाति] तेरी इच्छा हो [तत्र] उसी देशमें [याहिँ]

यत्र भाति तत्र याहि जीव यद् भाति कुरु तदेव ।

कथमपि मोक्षः नास्ति परं चित्तस्य शुद्धिर्न यदेव ॥ ७० ॥

जहिं भावइ इत्यादि । जहिं भावइ तहिं यत्र देशे प्रतिभाति तत्र जाहि गच्छ जिय हे जीव । जं भावइ करि तं जि यदनुष्ठानं प्रतिभाति कुरु तदेव । केम्बइ मोक्खु ण अत्थि कथमपि केनापि प्रकारेण मोक्षो नास्ति परं परं नियमेन । कस्मात् । चित्तहं सुद्धि ण चित्तस्य शुद्धिर्न जं जि यस्मादेव कारणात् इति । तथाहि । ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानु-भूतभोगाकांक्षारूपदुर्ध्यानैः शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतैर्यावत्कालं चित्तं रञ्जितं मूर्च्छितं तन्मयं तिष्ठति तावत्कालं हे जीव कापि देशान्तरं गच्छ किमप्यनुष्ठानं कुरु तथापि मोक्षो नास्तीति । अत्र कामक्रोधादिभिरपध्यानैर्जीवो भोगानुभवं विनापि शुद्धात्मभावनाच्युतः सन् भावेन कर्माणि बध्नाति तेन कारणेन निरन्तरं चित्तशुद्धिः कर्तव्येति भावार्थः ॥ तथा चोक्तम्—“कंखिदकलु-सिदभूदो हु कामभोगेहिं मुच्छिदो जीवो । णवि शुंजंतो भोगे बंधदि भावेण कम्मणि ॥” ॥७०॥

अथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयं कथयति—

सुह-परिणामेँ धम्मू पर असुहेँ होइ अहम्मू ।

दोहिँ वि एहिँ विवज्जियउ सुद्धु ण बंधइ कम्मू ॥ ७१ ॥

शुभपरिणामेन धर्मः परं अशुभेन भवति अधर्मः ।

द्राभ्यामपि एताभ्यां विवर्जितः शुद्धो न बध्नाति कर्म ॥ ७१ ॥

सुह इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । सुहपरिणामेँ धम्मू पर शुभपरिणामेन

जा, और [यत्] जो [भाति] अच्छा लगे, [तदेव] वही [कुरु] कर, [परं] लेकिन [यदेव] जब तक [चित्तस्य शुद्धिः न] मनकी शुद्धि नहीं है, तब तक [कथमपि] किसी तरह [मोक्षो नास्ति] मोक्ष नहीं हो सकता ॥ भावार्थ—बड़ाई, प्रतिष्ठा, परवस्तुका लाभ, और देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछारूप खोटे ध्यान, (जो कि शुद्धात्मज्ञानके शत्रु हैं) इनसे जब तक यह चित्त रँगा हुआ है, अर्थात् विषय-कषायोंसे तन्मयी है, तब तक हे जीव; किसी देशमें जा, तीर्थादिकोंमें भ्रमण कर, अथवा चाहे जैसा आचरण कर, किसी प्रकार मोक्ष नहीं है । सारांश यह है, कि काम-क्रोधादि खोटे ध्यानसे यह जीव भोगोंके सेवनके बिना भी शुद्धात्मभावनासे च्युत हुआ, अशुद्ध भावोंसे कर्मोंको बाँधता है । इसलिए हमेशा चित्तकी शुद्धता रखनी चाहिये । ऐसा ही कथन दूसरी जगह भी ‘कंखिद’ इत्यादि गाथासे कहा है, इस लोक और परलोकके भोगोंका अभिलाषी और कषायोंसे कालिमारूप हुआ अवर्तमान विषयोंका वांछक और वर्तमान विषयोंमें अत्यन्त आसक्त हुआ अति मोहित होनेसे भोगोंको नहीं भोगता हुआ भी अशुद्ध भावोंसे कर्मोंको बाँधता है ॥७०॥

आगे शुभ अशुभ और शुद्ध इन तीन उपयोगोंको कहते हैं—[शुभपरिणामेन] दान पूजादि शुभ परिणामोंसे [धर्मः] पुण्यरूप व्यवहारधर्म [परं] मुख्यतासे [भवति] होता है, [अशुभेन] विषय

धर्मः पुण्यं भवति मुख्यवृत्त्या । असुहृद् होइ अहम्मु अशुभपरिणामेन भवत्यधर्मः पापम् ।
 दोहिं वि एहिं विवज्जियउ द्वाभ्यां एताभ्यां शुभाशुभपरिणामाभ्यां विवर्जितः । कोऽसौ ।
 सुद्धु शुद्धो मिथ्यात्वरगादिरहितपरिणामस्तत्परिणतपुरुषो वा । किं करोति । ण बंधइ न
 बध्नाति । किम् । कम्मु ज्ञानावरणादिकर्मेति । तद्यथा । कृष्णोपाधिपीतोपाधिस्फटिकवदयमात्मा
 क्रमेण शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण परिणामत्रयं परिणमति । तेन तु मिथ्यात्वविषयकषायाद्यव-
 लम्बनेन पापं बध्नाति । अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुगुणस्मरणदानपूजादिना संसारस्थितिच्छेद-
 पूर्वकं तीर्थकरनामकर्मोदिविशिष्टगुणपुण्यमनीहितवृत्त्या बध्नाति । शुद्धात्मावलम्बनेन शुद्धोपयोगेन
 तु केवलज्ञानाद्यनन्तगुणरूपं मोक्षं च लभते इति । अत्रोपयोगत्रयमध्ये मुख्यवृत्त्या शुद्धोपयोग
 एवोपादेय इत्यभिप्रायः ॥ ७१ ॥ एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये सूत्रपञ्चकेन शुद्धो-
 पयोगव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमान्तरस्थलं गतम् ॥

अत ऊर्ध्वं तस्मिन्नेव महास्थलमध्ये पञ्चदशसूत्रपर्यन्तं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन
 व्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—

दाणिं लब्भइ भोउ पर इंदत्तणु वि तवेण ।

जम्मण-मरण-विवज्जियउ पउ लब्भइ णाणेण ॥ ७२ ॥

कषायादि अशुभ परिणामोंसे [अधर्मः] पाप होता है, [अपि] और [एताभ्यां] इन [द्वाभ्यां] दोनोंसे
 [विवर्जितः] रहित [शुद्धः] मिथ्यात्व रागादि रहित शुद्ध परिणाम अथवा परिणामधारी पुरुष [कर्म]
 ज्ञानावरणादि कर्मको [न] नहीं [बध्नाति] बाँधता ॥ भावार्थ—जैसे स्फटिकमणि शुद्ध उज्ज्वल है,
 उसके यदि काला डंक लगावें, तो काला मालूम होता है, और पीला डंक लगावें तो पीला भासता
 है, और यदि कुछ भी न लगावें, तो शुद्ध स्फटिक ही है, उसी तरह यह आत्मा क्रमसे अशुभ शुभ
 शुद्ध इन परिणामोंसे परिणत होता है । उनमेंसे मिथ्यात्व और विषय कषायादि अशुभके
 अवलम्बन (सहायता) से तो पापको ही बाँधता है, उसके फलसे नरक निगोदादिके दुःखोंको
 भोगता है और अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पाँच परमेष्ठियोंके गुणस्मरण और
 दानपूजादि शुभ क्रियाओंसे संसारकी स्थितिका छेदनेवाला जो तीर्थकरनामकर्म उसको आदि ले
 विशिष्ट गुणरूप पुण्यप्रकृतियोंको अवाँछीक वृत्तिसे बाँधता है । तथा केवल शुद्धात्माके अवलम्बन-
 रूप शुद्धोपयोगसे उसी भवमें केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप मोक्षको पाता है । इन तीन प्रकारके
 उपयोगोंमेंसे सर्वथा उपादेय तो शुद्धोपयोग ही है, अन्य नहीं है । और शुभ अशुभ इन दोनोंमेंसे
 अशुभ तो सब प्रकारसे निषिद्ध है, नरक निगोदका कारण है, किसी तरह उपादेय नहीं है—हेय
 है, तथा शुभोपयोग प्रथम अवस्थामें उपादेय है, और परम अवस्थामें उपादेय नहीं है, हेय है ॥ ७१ ॥

इस प्रकार इकतालीस दोहोंके महास्थलमें पाँच दोहोंमें शुद्धोपयोगका व्याख्यान किया । आगे
 पन्द्रह दोहोंमें वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं—[दानेन] दानसे [परं]

दानेन लभ्यते भोगः परं इन्द्रत्वमपि तपसा ।

जन्ममरणविवर्जितं पदं लभ्यते ज्ञानेन ॥ ७२ ॥

दार्णि इत्यादि । दार्णि लब्ध भोऽ पर दानेन लभ्यते पञ्चेन्द्रियभोगः परं नियमेन । इन्द्रत्वेण वि तवेण इन्द्रत्वमपि तपसा लभ्यते । जन्ममरणविवर्जितं पदं पदं स्थानं लब्ध लभ्यते प्राप्यते । केन । णाणेण वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेनेति । तथाहि । आहाराभयभैषज्यशास्त्रदानेन सम्यक्त्वरहितेन भोगो लभ्यते । सम्यक्त्वसहितेन तु यद्यपि परंपरया निर्वाणं लभ्यते तथापि विविधाभ्युदयरूपः पञ्चेन्द्रियभोग एव । सम्यक्त्वसहितेन तपसा तु यद्यपि निर्वाणं लभ्यते तथापि देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिपूर्वकेणैव । वीतरागस्वसंवेदन-सम्यग्ज्ञानेन सविकल्पेन यद्यपि देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषो भवति तथापि निर्विकल्पेन मोक्ष एवेति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । हे भगवन् यदि विज्ञानमात्रेण मोक्षो भवति तर्हि सांख्यादयो वदन्ति ज्ञानमात्रादेव मोक्षः तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह । अत्र वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनसम्यग्ज्ञानमिति भणितं तिष्ठति तेन वीतरागविशेषणेन चारित्रं लभ्यते सम्यग्विशेषणेन सम्यक्त्वमपि लभ्यते पानकवदेकस्यापि मध्ये त्रयमस्ति । तेषां मते तु वीतरागविशेषणं नास्ति सम्यग्विशेषणं च नास्ति ज्ञानमात्रमेव । तेन दूषणं भवतीति भावार्थः ॥ ७२ ॥

अथ तमेवार्थं विपक्षदूषणद्वारेण द्रढयति—

नियम करके [भोगः] पाँच इन्द्रियोंके भोग [लभ्यते] प्राप्त होते हैं, [अपि] और [तपसा] तपसे [इन्द्रत्वं] इन्द्र-पद मिलता है, तथा [ज्ञानेन] वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसे [जन्ममरणविवर्जितं] जन्म जरा मरणसे रहित [पदं] जो मोक्ष-पद वह [लभ्यते] मिलता है ॥ भावार्थ—आहार अभय औषध और शास्त्र इन चार तरहके दानोंको यदि सम्यक्त्व रहित करे, तो भोगभूमिके सुख पाता है, तथा सम्यक्त्व सहित दान करे, तो परम्पराय मोक्ष पाता है । यद्यपि प्रथम अवस्थामें देवेन्द्र चक्रवर्ती आदिकी विभूति भी पाता है, तो भी निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानकर मोक्ष ही है । यहाँ प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया, कि हे भगवन्, जो ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष होता है, तो सांख्यादिक भी ऐसा ही कहते हैं, कि ज्ञानसे ही मोक्ष है, उनको क्यों दूषण देते हो ? तब श्रीगुरुने कहा—इस जिनशासनमें वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान कहा गया है, सो वीतराग कहनेसे वीतरागचारित्र भी आ जाता है, और सम्यक् पदके कहनेसे सम्यक्त्व भी आ जाता है । जैसे एक चूर्णमें अथवा पाकमें अनेक औषधियाँ आ जाती हैं, परन्तु वस्तु एक ही कहलाती है, उसी तरह वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके कहनेसे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ये तीनों आ जाते हैं । सांख्यादिकके मतमें वीतराग विशेषण नहीं है, और सम्यक् विशेषण नहीं है, केवल ज्ञानमात्र ही कहते हैं, सो वह मिथ्याज्ञान है, इसलिये दूषण देते हैं, यह जानना ॥७२॥

देउ गिरंजणु इउँ भणइ णाणि मुक्खु ण भंति ।

णाण-विहीणा जीवडा चिरु संसार भमंति ॥ ७३ ॥

देवः निरञ्जन एवं भणति ज्ञानेन मोक्षो न भ्रान्तिः ।

ज्ञानविहीना जीवाः चिरं संसारं भ्रमन्ति ॥ ७३ ॥

देउ इत्यादि देउ देवः किंविशिष्टः । गिरंजणु निरञ्जनः अनन्तज्ञानादिगुणसहितोऽष्टा-
दशदोषरहितश्च इउँ भणइ एवं भणति । एवं किम् । णाणि मुक्खु वीतरागनिर्विकल्पस्व-
संवेदनरूपेण सम्यग्ज्ञानेन मोक्षो भवति । ण भंति न भ्रान्तिः संदेहो नास्ति । णाणविहीणा
जीवडा पूर्वोक्तस्वसंवेदनज्ञानेन विहीना जीवाः चिरु संसारु भ्रमन्ति चिरं बहुतरं कालं
संसारं परिभ्रमन्ति इति । अत्र वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमध्ये यद्यपि सम्यक्त्वादित्रयमस्ति तथापि
सम्यग्ज्ञानस्यैव मुख्यता । विवक्षितो मुख्य इति वचनादिति भावार्थः ॥ ७३ ॥

अथ पुनरपि तमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकाभ्यां निश्चिनोति—

णाण-विहीणहँ मोक्ख-पउ जीव म कासु वि जोइ ।

बहुँ सलिल-विरोलियहँ करु चोप्पडउ ण होइ ॥ ७४ ॥

ज्ञानविहीनस्य मोक्षपदं जीव मा कस्यापि अद्राक्षीः ।

बहुना सलिलविलोडितेन करः चिक्रणो न भवति ॥ ७४ ॥

णाण इत्यादि । णाणविहीणहँ ख्यातिपूजालाभादिदुष्टभावपरिणतचित्तं मम कोऽपि
न जानातीति मत्वा वीतरागपरमानन्दैकसुखरसानुभवरूपं चित्तशुद्धिमकुर्वाणस्य बहिरङ्गवकवेषेण
लोकरञ्जनं मायास्थानं तदेव शल्यं तत्प्रभृतिसमस्तविकल्पकलोलमालात्यागेन निजशुद्धात्म-

आगे इसी अर्थको विपक्षीको दूषण देकर दृढ करते हैं—[निरंजनः] अनन्त ज्ञानादि गुण
सहित, और अठारह दोष रहित, जो [देवः] सर्वज्ञ वीतरागदेव हैं, वे [एवं] ऐसा [भणति]
कहते हैं, कि [ज्ञानेन] वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनरूप सम्यग्ज्ञानसे ही [मोक्षः] मोक्ष हैं, [न
भ्रान्तिः] इसमें संदेह नहीं है । और [ज्ञानविहीनाः] स्वसंवेदनज्ञानकर रहित जो [जीवाः] जीव
हैं, वे [चिरं] बहुत कालतक [संसारं] संसारमें [भ्रमंति] भटकते हैं ॥ भावार्थ—यहाँ
वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमें यद्यपि सम्यक्त्वादि तीनों हैं, तो भी मुख्यता सम्यग्ज्ञानकी ही है । क्योंकि
श्रीजिनवचनमें ऐसा कथन किया है, कि जिसका कथन किया जावे, वह मुख्य होता है, अन्य
गौण होता है, ऐसा जानना ॥७३॥

आगे फिर भी इसी कथनको दृष्टान्त और दार्ष्टान्तसे निश्चित करते हैं—[ज्ञानविहीनस्य] जो
सम्यग्ज्ञानकर रहित मलिन चित्त है, अर्थात् अपनी बड़ाई प्रतिष्ठा लाभादि दुष्ट भावोंसे जिसका
चित्त परिणत हुआ है, और मनमें ऐसा जानता है, कि हमारी दुष्टताको कोई नहीं जान सकता,
ऐसा समझकर वीतराग परमानंद सुखरसके अनुभवरूप चित्तकी शुद्धिको नहीं करता, तथा
बाहरसे बगुलाकासा भेष मायाचाररूप लोकरंजनके लिये धारण किया है, यही सत्य है, इसी

संवित्तिनिश्चयेन संज्ञानेन सम्यग्ज्ञानेन विना मोक्षपदं स्वरूपं जीव हे जीव म
कास्तु वि जोइ मा कस्याप्यद्राक्षीः । दृष्टान्तमाह । बहुएँ सलिलविरोलियइँ बहुनापि
सलिलेन मथितेन करु करो हस्तः चोप्पडउ ण होइ चिकणः स्निग्धो न भवतीति । अत्र
यथा बहुतरमपि सलिले मथितेऽपि हस्तः स्निग्धो न भवति, तथा वीतरागशुद्धात्मानुभूति-
लक्षणेन ज्ञानेन विना बहुनापि तपसा मोक्षो न भवतीति तात्पर्यम् ॥ ७४ ॥

अथ निश्चयनयेन यन्निजात्मबोधज्ञानबाह्यं ज्ञानं तेन प्रयोजनं नास्तीत्यभिप्रायं मनसि
संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

जं णिय-बोहहँ बाहिरउ णाणु वि कज्जु ण तेण ।

दुक्खहँ कारणु जेण तउ जीवहँ होइ खणेण ॥ ७५ ॥

यत् निजबोधाद्बाह्यं ज्ञानमपि कार्यं न तेन ।

दुःखस्य कारणं येन तपः जीवस्य भवति क्षणेन ॥ ७५ ॥

जं इत्यादि । जं यत् णियबोहहँ बाहिरउ दानपूजातपश्चरणादिकं कृत्वापि दृष्टश्रुतानु-
भूतभोगाकांक्षावासितचित्तेन रूपलावण्यसौभाग्यबलदेववासुदेवकामदेवेन्द्रादिपदप्राप्तिरूपभावि-
भोगाशाकरणं यन्निदानबन्धस्तदेव शल्यं तत्प्रभृतिसमस्तमनोरथविकल्पज्वालावलीरहितत्वेन
विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मावबोधो निजबोधः तस्मान्निजबोधाद्बाह्यम् । णाणु वि कज्जु ण

भेषसे हमारा कल्याण होगा, इत्यादि अनेक विकल्पोंकी कल्लोलोंसे अपवित्र है, ऐसे [कस्यापि]
किसी अज्ञानीके [मोक्षपदं] मोक्ष-पदवी [जीव] हे जीव, [मा द्राक्षीः] मत देख अर्थात् विना
सम्यग्ज्ञानके मोक्ष नहीं होता । उसका दृष्टान्त कहते हैं । [बहुना] बहुत [सलिलविलोडितेन] पानीके
मथनेसे भी [करः] हाथ [चिकणो] चीकना [न भवति] नहीं होता । क्योंकि जलमें चिकनापन
है ही नहीं । जैसे जलमें चिकनाई नहीं है, वैसे बाहिरी भेषमें सम्यग्ज्ञान नहीं है । सम्यग्ज्ञानके विना
महान् तप करो, तो भी मोक्ष नहीं होता । क्योंकि सम्यग्ज्ञानका लक्षण वीतराग शुद्धात्माकी अनुभूति
है, वही मोक्षका मूल है । वह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनादिसे भिन्न नहीं है, तीनों एक हैं ॥ ७४ ॥

आगे निश्चयकर आत्मज्ञानसे बहिर्मुख बाह्य पदार्थोंका ज्ञान है, उससे प्रयोजन नहीं सधता,
ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर कहते हैं—[यत्] जो [निजबोधात्] आत्मज्ञानसे [बाह्यं] बाहर
(रहित) [ज्ञानमपि] शास्त्र वगैरहका ज्ञान भी है, [तेन] उस ज्ञानसे [कार्यं न] कुछ काम नहीं
[येन] क्योंकि [तपः] वीतरागस्वसंवेदनज्ञान रहित तप [क्षणेन] शीघ्र ही [जीवस्य] जीवको
[दुःखस्य कारणं] दुःखका कारण [भवति] होता है ॥ भावार्थ—निदानबंध आदि तीन शल्योंको
आदि ले समस्त विषयाभिलाषरूप मनोरथोंके विकल्पजालरूपी अग्निकी ज्वालाओंसे रहित जो
निज सम्यग्ज्ञान है, उससे रहित बाह्य पदार्थोंका शास्त्रद्वारा ज्ञान है, उससे कुछ काम नहीं । कार्य
तो एक निज आत्माके जाननेसे है । यहाँ शिष्यने प्रश्न किया, कि निदानबंध रहित आत्मज्ञान तुमने
बतलाया, उसमें निदानबंध किसे कहते हैं ? उसका समाधान—जो देखे सुने और भोगे हुए

तेण शास्त्रादिजनितं ज्ञानमपि यत्तेन कार्यं नास्ति । कस्मादिति चेत् । दुःखस्वहं कारणं दुःखस्य कारणं जेण येन कारणेन तउ वीतरागस्वसंवेदनरहितं तपः जीवहं जीवस्य होइ भवति स्वणेण क्षणमात्रेण कालेनेति । अत्र यद्यपि शास्त्रजनितं ज्ञानं स्वशुद्धात्मपरिज्ञानरहितं तपश्चरणं च मुख्यवृत्त्या पुण्यकारणं भवति तथापि मुक्तिकारणं न भवतीत्यभिप्रायः ॥ ७५ ॥

अथ येन मिथ्यात्तरागादिवृद्धिर्भवति तदात्मज्ञानं न भवतीति निरूपयति—

तं णिय-णाणु जि होइ ण वि जेण पवड्ढइ राउ ।

दिणयर-किरणहँ पुरउ जिय किं विलसइ तम-राउ ॥ ७६ ॥

तत् निजज्ञानमेव भवति नापि येन प्रवर्धते रागः ।

दिनकरकिरणानां पुरतः जीव किं विलसति तमोरागः ॥ ७६ ॥

तं इत्यादि । तं तत् णियणाणु जि होइ ण वि निजज्ञानमेव न भवति वीतरागनित्या-
नन्दैकस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वपरिज्ञानमेव न भवति । येन ज्ञानेन किं भवति । जेण पवड्ढइ
येन प्रवर्धते । कोऽसौ । राउ शुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दप्रतिबन्धकपञ्चेन्द्रियविषया-
भिलाषरागः । अत्र दृष्टान्तमाह । दिणयरकिरणहं पुरउ जिय दिनकरकिरणानां पुरतो हे
जीव किं विलसइ किं विलसति किं शोभते अपि तु नैव । कोऽसौ । तमराउ तमोरागस्तमो-

इन्द्रियोके भोगोसे जिसका चित्त रंग रहा है, ऐसा अज्ञानी जीव रूप-लावण्य सौभाग्यका अभिलाषी
वासुदेव चक्रवर्ती-पदके भोगोंकी बांछा करे, दान पूजा तपश्चरणादिकर भोगोंकी अभिलाषा करे,
वह निदानबन्ध है, सो यह बड़ा शल्य (काँटा) है । इस शल्यसे रहित जो आत्मज्ञान उसके बिना
शब्द-शास्त्रादिका ज्ञान मोक्षका कारण नहीं है । क्योंकि वीतरागस्वसंवेदनज्ञान रहित तप भी
दुःखका कारण है । ज्ञान रहित तपसे जो संसारकी सम्पदायें मिलती हैं, वे क्षणभंगुर हैं । इसलिये
यह निश्चय हुआ, कि आत्मज्ञानसे रहित जो शास्त्रका ज्ञान और तपश्चरणादि हैं, उनसे मुख्यताकर
पुण्यका बन्ध होता है । उस पुण्यके प्रभावसे जगतकी विभूति पाता है, वह क्षणभंगुर है । इसलिये
अज्ञानियोंका तप और श्रुत यद्यपि पुण्यका कारण है, तो भी मोक्षका कारण नहीं है ॥७५॥

आगे जिससे मिथ्यात्व रागादिककी वृद्धि हो, वह आत्मज्ञान नहीं है, ऐसा निरूपण करते हैं—
[जीव] हे जीव, [तत्] वह [निजज्ञानं एव] वीतराग नित्यानन्द अखण्डस्वभाव परमात्मतत्त्वका
परिज्ञान ही [नापि] नहीं [भवति] है, [येन] जिससे [रागः] परद्रव्यमें प्रीति [प्रवर्धते] बढ़े,
[दिनकरकिरणानां पुरतः] सूर्यकी किरणोंके आगे [तमोरागः] अन्धकारक फैलाव [किं विलसति]
कैसे शोभायमान हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥ भावार्थ—शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न जो
वीतराग परम आनन्द उसके शत्रु पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषा जिसमें हो, वह निज (आत्म)
ज्ञान नहीं है, अज्ञान ही है । जिस जगह वीतरागभाव है, वही सम्यग्ज्ञान है । इसी बातको दृष्टान्त
देकर दृढ करते हैं, सो सुनो । हे जीव, जैसे सूर्यके प्रकाशके आगे अन्धेरा नहीं शोभा देता, वैसे
ही आत्मज्ञानमें विषयोंकी अभिलाषा (इच्छा) नहीं शोभती । यह निश्चयसे जानना । शास्त्रका ज्ञान

व्याप्तिरिति । अत्रेदं तात्पर्यम् । यस्मिन् शास्त्राभ्यासज्ञाने जातेऽप्यनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिक-
सुखप्रतिपक्षभूता आकुलत्वोत्पादका रागादयो वृद्धिं गच्छन्ति तन्निश्चयेन ज्ञानं न भवति ।
कस्मात् । विशिष्टमोक्षफलाभावादिति ॥ ७६ ॥

अथ ज्ञानिनां निजशुद्धात्मस्वरूपं विहाय नान्यत्किमप्युपादेयमिति दर्शयति—

अप्पा मिल्लिवि णाणियहँ अण्णु ण सुंदरु वत्थु ।

तेण ण विसयहँ मणु रमइ जाणंतहँ परमत्थु ॥ ७७ ॥

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानिनां अन्यन्न सुन्दरं वस्तु ।

तेन न विषयेषु मनो रमते जानतां परमार्थम् ॥ ७७ ॥

अप्पा इत्यादि । अप्पा मिल्लिवि शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मपदार्थं मुक्त्वा णाणियहँ
ज्ञानिनां मिथ्यात्तरागादिपरिहारेण निजशुद्धात्मद्रव्यपरिज्ञानपरिणतानां अण्णु ण सुंदरु वत्थु
अन्यन्न सुन्दरं समीचीनं वस्तु प्रतिभाति येन कारणेन तेण ण विसयहँ मणु रमइ तेन
कारणेन शुद्धात्मोपलब्धिप्रतिपक्षभूतेषु पञ्चेन्द्रियविषयरूपकामभोगेषु मनो न रमते । किं
कुर्वताम् । जाणंतहँ जानतां परमत्थु वीतरागसहजानन्दैकपारमार्थिकसुखाविनाभूतं परमात्मान-
मेवेति तात्पर्यम् ॥ ७७ ॥

अथ तमेवार्थं दृष्टान्तेन समर्थयति—

होनेपर भी यदि निराकुलता न हो, और आकुलताके उपजानेवाले आत्मिक-सुखके वैरी रागादिक
जो बुद्धिको प्राप्त हों, तो वह ज्ञान किस कामका ? ज्ञान तो वह है, जिससे आकुलता मिट जावे ।
इससे यह निश्चय हुआ, कि बाह्य पदार्थोंका ज्ञान मोक्षफलके अभावसे कार्यकारी नहीं है ॥७६॥

आगे ज्ञानी जीवोंके निज शुद्धात्मभावके बिना अन्य कुछ भी आदरने योग्य नहीं है, ऐसा
दिखलाते हैं—[आत्मानं] आत्माको [मुक्त्वा] छोड़कर [ज्ञानिनां] ज्ञानियोंको [अन्यद् वस्तु]
अन्य वस्तु [सुंदरं न] अच्छी नहीं लगती, [तेन] इसलिये [परमार्थं जानतां] परमात्म-पदार्थको
जाननेवालोंका [मनः] मन [विषयाणां] विषयोंमें [न रमते] नहीं लगता ॥ भावार्थ—मिथ्यात्व
रागादिकके छोड़नेसे निज शुद्धात्म द्रव्यके यथार्थ ज्ञानकर जिनका चित्त परिणत हो गया है, ऐसे
ज्ञानियोंको शुद्ध बुद्ध परम स्वभाव परमात्माको छोड़कर दूसरी कोई भी वस्तु सुन्दर नहीं भासती ।
इसीलिये उनका मन कभी विषय-वासनामें नहीं रमता । ये विषय कैसे हैं ? शुद्धात्माकी प्राप्तिके
शत्रु हैं । ऐसे ये भव-भ्रमणके कारण हैं, काम-भोगरूप पाँच इंद्रियोंके विषय उनमें मूढ जीवोंका ही
मन रमता है, सम्यग्दृष्टिका मन नहीं रमता । कैसे हैं सम्यग्दृष्टि, जिन्होंने वीतराग सहजानन्द
अखंड सुखमें तन्मय परमात्मतत्त्वको जान लिया है । इसलिये यह निश्चय हुआ, कि जो विषय-
वासनाके अनुरागी हैं, वे अज्ञानी हैं, और जो ज्ञानीजन हैं, वे विषय-विकारसे सदा विरक्त ही हैं ॥७७॥

आगे इसी कथनको दृष्टान्तसे दृढ करते हैं—[ज्ञानमयं आत्मानं] केवलज्ञानादि अनंतगुणमयी
आत्माको [मुक्त्वा] छोड़कर [अन्यत्] दूसरी वस्तु [चित्ते] ज्ञानियोंके मनमें [न लगति] नहीं

अप्या मिल्लिवि णाणमउ चित्ति ण लग्गइ अण्णु ।

मरगउ जेँ परियाणियउ तहुँ कचेँ कउ गण्णु ॥ ७८ ॥

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं चित्ते न लगति अन्यत् ।

मरकतः येन परिज्ञातः तस्य काचेन कुतो गणना ॥ ७८ ॥

अप्या इत्यादि । अप्या मिल्लिवि आत्मानं मुक्त्वा । कथंभूतम् । णाणमउ ज्ञानमयं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणमयं चित्ति मनसि ण लग्गइ न लगति न रोचते न प्रतिभाति । किम् । अण्णु निजपरमात्मस्वरूपादन्यत् । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह । मरगउ जेँ परियाणियउ मरकतरत्नविशेषो येन परिज्ञातः । तहुँ तस्य स्वपरीक्षापरिज्ञानसहितस्य पुरुषस्य कचेँ कउ गण्णु काचेन किं गणनं किमपेक्षा तस्येत्यभिप्रायः ॥ ७८ ॥

अथ कर्मफलं भुञ्जानः सन् योऽसौ रागद्वेषं करोति स कर्म बध्नातीति कथयति—

भुंजंतु वि णिय-कम्म-फलु मोहइँ जो जि करेइ ।

भाउ असुंदरु सुंदरु वि सो पर कम्म जणेइ ॥ ७९ ॥

भुञ्जानोऽपि निजकर्मफलं मोहेन य एव करोति ।

भावं असुन्दरं सुन्दरमपि स परं कर्म जनयति ॥ ७९ ॥

भुंजंतु वि इत्यादि । भुंजंतु वि भुञ्जानोऽपि । किम् । णियकम्मफलु वीतरागपरमाह्लाद-रूपशुद्धात्मानुभूतिविपरीतं निजोपार्जितं शुभाशुभकर्मफलं मोहइँ निर्मोहशुद्धात्मप्रतिकूलमोहो-दयेन जो जि करेइ य एव पुरुषः करोति । कम् । भाउ भावं परिणामम् । किंविशिष्टम् । असुंदरु सुंदरु वि अशुभं शुभमपि सो पर स एव भावः कम्म जणेइ शुभाशुभं कर्म जनयति । अयमत्र भावार्थः । उदयागते कर्मणि योऽसौ स्वस्वभावच्युतः सन् रागद्वेषौ करोति

रुचती । उसका दृष्टान्त यह है, कि [येन] जिसने [मरकतः] मरकतमणि (रत्न) [परिज्ञातः] जान लिया, [तस्य] उसको [काचेन] काँचसे [किं गहनं] क्या प्रयोजन है ? भावार्थ—जिसने रत्न पा लिया, उसको काचके टुकड़ोंकी क्या जरूरत है ? उसी तरह जिसका चित्त आत्मामें लग गया, उसके दूसरे पदार्थोंकी बाँछा नहीं रहती ॥७८॥

आगे कर्म-फलको भोगता हुआ जो राग द्वेष करता है, वह कर्मोंको बाँधता है—[य एव] जो जीव [निजकर्मफलं] अपने कर्मोंके फलको [भुञ्जानोऽपि] भोगता हुआ भी [मोहेन] मोहसे [असुंदरं सुंदरं अपि] भले और बुरे [भावं] परिणामोंको [करोति] करता है, [सः] वह [परं] केवल [कर्म जनयति] कर्मको उपजाता (बाँधता) है ॥ भावार्थ—वीतराग परम आह्लादरूप शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत जो अशुद्ध रागादिक विभाव उनसे उपार्जन किये गये शुभ अशुभ कर्म उनके फलको भोगता हुआ जो अज्ञानी जीव मोहके उदयसे हर्ष विषाद भाव करता है, वह नये कर्मोंका बंध करता है । सारांश यह है, कि जो निज स्वभावसे च्युत हुआ उदयमें आये हुए कर्मोंमें राग द्वेष करता है, वही कर्मोंको बाँधता है ॥७९॥

स एव कर्म बध्नाति ॥ ७९ ॥

अथ उदयागते कर्मानुभवे योऽसौ रागद्वेषौ न करोति स कर्म न बध्नातीति कथयति—

भुंजंतु वि णिय-कम्म-फलु जो तहिँ राउ ण जाइ ।

सो णवि बंधइ कम्मु पुणु संचिउ जेण विलाइ ॥ ८० ॥

भुञ्जानोऽपि निजकर्मफलं यः तत्र रागं न याति ।

स नैव बध्नाति कर्म पुनः संचितं येन विलीयते ॥ ८० ॥

भुंजंतु वि इत्यादि । भुंजंतु वि भुञ्जानोऽपि ! दिम् । णियकम्मफलु निजकर्मफलं निज-
शुद्धात्मोपलम्भाभावेनोपार्जितं पूर्वं यत् शुभाशुभं कर्म तस्य फलं जो यो जीवः तहिँ तत्र
कर्मानुभवप्रस्तावे राउ ण जाइ रागं न गच्छति वीतरागचिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वभावनो-
त्पन्नसुखामृततृप्तः सन् रागद्वेषौ न करोति सो स जीवः णवि बंधइ नैव बध्नाति । किं न
बध्नाति । कम्मु ज्ञानावरणादि कर्म पुणु पुनरपि । येन कर्मबन्धाभावपरिणामेन किं भवति ।
संचिउ जेण विलाइ पूर्वसंचितं कर्म येन वीतरागपरिणामेन विलयं विनाशं गच्छतीति । अत्राह
प्रभाकरभट्टः । कर्मोदयफलं भुञ्जानोऽपि ज्ञानी कर्मणापि न बध्यते इति सांख्यादयोऽपि
वदन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह । ते निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं
वीतरागचारित्रनिरपेक्षा वदन्ति तेन कारणेन तेषां दूषणमिति तात्पर्यम् ॥ ८० ॥

आगे जो उदयप्राप्त कर्मोंमें राग द्वेष नहीं करता, वह कर्मोंको भी नहीं बाँधता, ऐसा कहते
हैं—[निज कर्मफलं] अपने बाँधे हुए कर्मोंके फलको [भुंजानोऽपि] भोगता हुआ भी [तत्र] उस
फलके भोगनेमें [यः] जो जीव [रागं] राग द्वेषको [न याति] नहीं प्राप्त होता [सः] वह [पुनः
कर्म] फिर कर्मको [नैव] नहीं [बध्नाति] बाँधता, [येन] जिस कर्मबन्धाभाव परिणामसे
[संचितं] पहले बाँधे हुये कर्म भी [विलीयते] नाश हो जाते हैं ॥ भावार्थ—निज शुद्धात्माके
ज्ञानके अभावसे उपार्जन किये जो शुभ अशुभ कर्म उनके फलको भोगता हुआ भी वीतराग
चिदानन्द परमस्वभावरूप शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न अतीन्द्रियसुखरूप अमृतसे तृप्त हुआ जो
रागी द्वेषी नहीं होता, वह जीव फिर ज्ञानावरणादि कर्मोंको नहीं बाँधता है, और नये कर्मोंका
बंधका अभाव होनेसे प्राचीन कर्मोंकी निर्जरा ही होती है । यह संवरपूर्वक निर्जरा ही मोक्षका मूल
है । ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया कि हे प्रभो, 'कर्मके फलको भोगता हुआ भी
ज्ञानसे नहीं बाँधता' ऐसा सांख्य आदिक भी कहते हैं, उनको तुम दोष क्यों देते हो ? उसका
समाधान श्रीगुरु करते हैं—हम तो आत्मज्ञान संयुक्त ज्ञानी जीवोंकी अपेक्षासे कहते हैं, वे ज्ञानके
प्रभावसे कर्मफल भोगते हुए भी राग द्वेष भाव नहीं करते । इसलिये उनके नये बंधका अभाव है,
और जो मिथ्यादृष्टि ज्ञानभावसे बाह्य पूर्वोपार्जित कर्मफलको भोगते हुए रागी द्वेषी होते हैं, उनके
अवश्य बंध होता है । इस तरह सांख्य नहीं कहता, वह वीतरागचारित्रसे रहित कथन करता है ।
इसलिए उन सांख्यादिकोंको दूषण दिया जाता है । यह तात्पर्य जानना ॥८०॥

अथ यावत्कालमणुमात्रमपि रागं न मुञ्चति तावत्कालं कर्मणा न मुच्यते इति प्रतिपादयति—

जो अणु-मेत्तु वि राउ मणि जाम ण मिल्लइ एत्थु ।

सो णवि मुच्चइ ताम जिय जाणंतु वि परमत्थु ॥ ८१ ॥

यः अणुमात्रमपि रागं मनसि यावत् न मुञ्चति अत्र ।

स नैव मुच्यते तावत् जीव जानन्नपि परमार्थम् ॥ ८१ ॥

जो इत्यादि । जो यः कर्ता अणुमेत्तु वि अणुमात्रमपि सूक्ष्ममपि राउ रागं वीतराग-
सदानन्दैकशुद्धात्मनो विलक्षणं पञ्चेन्द्रियविषयसुखाभिलाषरागं मणि मनसि जाम ण मिल्लइ
यावन्तं कालं न मुञ्चति एत्थु अत्र जगति सो णवि मुच्चइ स जीवो नैव मुच्यते ज्ञानावरणादि-
कर्मणा ताव तावन्तं कालं जिय हे जीव । किं कुर्वन्नपि । जाणंतु वि वीतरागानुष्ठानरहितः
सन् शब्दमात्रेण जानन्नपि । कं जानन् । परमत्थु परमार्थशब्दवाच्यनिजशुद्धात्मतत्त्वमिति ।
अयमत्र भावार्थः । निजशुद्धात्मस्वभावज्ञानेऽपि शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणवीतरागचारित्रभावनां
विना मोक्षं न लभत इति ॥ ८१ ॥

अथ निर्विकल्पात्मभावनाशून्यः शास्त्रं पठन्नपि तपश्चरणं कुर्वन्नपि परमार्थं न वेत्तीति
कथयति—

बुज्झइ सत्थइँ तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ ।

ताव ण मुंचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ ॥ ८२ ॥

बुध्यते शास्त्राणि तपः चरति परं परमार्थं न वेत्ति ।

तावत् न मुच्यते यावत् नैव एनं परमार्थं मनुते ॥ ८२ ॥

बुज्झइ इत्यादि । बुज्झइ बुध्यते । कानि । सत्थइँ शास्त्राणि न केवलं शास्त्राणि बुध्यते
तउ चरइ तपश्चरति पर परं किंतु परमत्थु ण वेइ परमार्थं न वेत्ति न जानाति । कस्मान्न

आगे जब तक परमाणुमात्र भी रागको नहीं छोड़ता—धारण करता है, तब तक कर्मोंसे नहीं
छूटता, ऐसा कथन करते हैं—[यः] जो जीव [अणुमात्रं अपि] थोड़ा भी [रागं] राग [मनसि]
मनमेंसे [यावत्] जब तक [अत्र] इस संसारमें [न मुंचति] नहीं छोड़ देता है, [तावत्] तब
तक [जीव] हे जीव, [परमार्थं] निज शुद्धात्मतत्त्वको [जानन्नपि] शब्दसे केवल जानता हुआ
भी [नैव] नहीं [मुच्यते] मुक्त होता ॥ भावार्थ—जो वीतराग सदा आनंदरूप शुद्धात्मभावसे
रहित पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी इच्छा रखता है, मनमें थोड़ासा भी राग रखता है, वह आगमज्ञानसे
आत्माको शब्दमात्र जानता हुआ भी वीतरागचारित्रकी भावनाके बिना मोक्षको नहीं पाता ॥८१॥

आगे जो निर्विकल्प आत्मभावनासे शून्य है, वह शास्त्रको पढ़ता हुआ भी तथा तपश्चरण
करता हुआ भी परमार्थको नहीं जानता है, ऐसा कहते हैं—[शास्त्राणि] शास्त्रोंको [बुध्यते] जानता
है, [तपः चरति] और तपस्या करता है, [परं] लेकिन [परमार्थं] परमात्माको [न वेत्ति] नहीं

वेत्ति । यद्यपि व्यवहारेण परमात्मप्रतिपादकशास्त्रेण ज्ञायते तथापि निश्चयेन वीतरागस्वसंवेदन-
ज्ञानेन परिच्छिद्यते । यद्यप्यनशनादिद्वादशविधतपश्चरणेन बहिरङ्गसहकारिकारणभूतेन साध्यते
तथापि निश्चयेन निर्विकल्पशुद्धात्मविश्रान्तिलक्षणवीतरागचारित्रसाध्यो योऽसौ परमार्थशब्द-
वाच्यो निजशुद्धात्मा तत्र निरन्तरानुष्ठानाभावात् ताव ण मुंचइ तावन्तं कालं न मुच्यते ।
केन । कर्मणा जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ यावन्तं कालं नैवैनं पूर्वोक्तलक्षणं परमार्थं मनुते
जानाति श्रद्धते सम्यगनुभवतीति । इदमत्र तात्पर्यम् । यथा प्रदीपेन विवक्षितं वस्तु निरीक्ष्य
गृहीत्वा च प्रदीपस्त्यज्यते तथा शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादकशास्त्रेण शुद्धात्मतत्त्वं ज्ञात्वा गृहीत्वा च
प्रदीपस्थानीयः शास्त्रविकल्पस्त्यज्यत इति ॥ ८२ ॥

अथ योऽसौ शास्त्रं पठन्नपि विकल्पं न मुञ्चति निश्चयेन देहस्थं शुद्धात्मानं न मन्यते स
जडो भवतीति प्रतिपादयति—

सत्थु पढंतु वि होइ जडु जो ण हणेइ विचप्पु ।

देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु ॥ ८३ ॥

शास्त्रं पठन्नपि भवति जडः यः न हन्ति विकल्पम् ।

देहे वसन्तमपि निर्मलं नैव मन्यते परमात्मानम् ॥ ८३ ॥

सत्थु इत्यादि । सत्थु पढंतु वि शास्त्रं पठन्नपि होइ जडु स जडो भवति यः किं करोति ।

जानता है, [यावत्] और जब तक [एवं] पूर्व कहे हुए [परमार्थ] परमात्माको [नैव मनुते]
नहीं जानता, या अच्छी तरह अनुभव नहीं करता है, [तावत्] तब तक [न मुच्यते] नहीं छूटता ।
भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे आत्मा अध्यात्मशास्त्रोंसे जाना जाता है, तो भी निश्चयनयसे
वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसे ही जानने योग्य है, यद्यपि बाह्य सहकारीकारण अनशनादि बारह
प्रकारके तपसे साधा जाता है, तो भी निश्चयनयसे निर्विकल्पवीतरागचारित्रसे ही आत्माकी सिद्धि
है । जिस वीतरागचारित्रका शुद्धात्मामें विश्राम होना ही लक्षण है । सो वीतरागचारित्रके
आगमज्ञानसे तथा बाह्य तपसे आत्मज्ञानकी सिद्धि नहीं है । जब तक निज शुद्धात्मतत्त्वके
स्वरूपका आचरण नहीं है, तब तक कर्मोंसे नहीं छूट सकता । यह निःसंदेह जानना कि जब तक
परमतत्त्वको न जाने, न श्रद्धा करे, न अनुभवे, तब तक कर्मबंधसे नहीं छूटता । इससे यह निश्चय
हुआ, कि कर्मबंधसे छूटनेका कारण एक आत्मज्ञान ही है, और शास्त्रका ज्ञान भी आत्मज्ञानके
लिए ही किया जाता है, जैसे दीपकसे वस्तुको देखकर वस्तुको उठा लेते हैं, और दीपकको छोड़
देते हैं, उसी तरह शुद्धात्मतत्त्वके उपदेश करनेवाले जो अध्यात्मशास्त्र उनसे शुद्धात्मतत्त्वको
जानकर उस शुद्धात्मतत्त्वका अनुभव करना चाहिए, और शास्त्रका विकल्प छोड़ना चाहिये ।
शास्त्र तो दीपकके समान हैं, तथा आत्मवस्तु रत्नके समान है ॥८२॥

आगे जो शास्त्रको पढ़ करके भी विकल्पको नहीं छोड़ता, और निश्चयसे शुद्धात्माको नहीं
मानता जो कि शुद्धात्मदेव देहरूपी देवालयमें मौजूद है, उसे न ध्यावता है, वह मूर्ख है, ऐसा कहते

जो ण हणेइ वियण्णु यः कर्ता शास्त्राभ्यासफलभूतस्य रागादिविकल्परहितस्य निजशुद्धात्म-
स्वभावस्य प्रतिपक्षभूतं मिथ्यातरागादिविकल्पं न हन्ति । न केवलं विकल्पं न हन्ति । देहि
वसंतु वि देहे वसन्तमपि णिम्मल्ल उ निर्मलं कर्ममलरहितं णवि मण्णइ नैव मन्यते न
श्रद्धते । कम् । परमण्णु निजपरमात्मानमिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा त्रिगुणसमाधिं कृत्वा
च स्वयं भावनीयम् । यदा तु त्रिगुणित्तसमाधिं कर्तुं नायाति तदा विषयकषायवञ्चनार्थं शुद्धात्म-
भावनास्मरणदृढीकरणार्थं च बहिर्विषये व्यवहारज्ञानवृद्धयर्थं च परेषां कथनीयं किंतु तथापि
परमतिपादनव्याजेन मुख्यवृत्त्या स्वकीयजीव एव संबोधनीयः । कथमिति चेत् । इदमनुपपन्नमिदं
व्याख्यानं न भवति मदीयमनसि यदि समीचीनं न प्रतिभाति तर्हि तमेव स्वयं किं न भावय-
सीति तात्पर्यम् ॥ ८३ ॥

अथ बोधार्थं शास्त्रं पठन्नपि यस्य विशुद्धात्मप्रतीतिलक्षणो बोधो नास्ति स मूढो भवतीति
प्रतिपादयति—

बोह-णिमित्ते सत्थु किल लोइ पढिज्जइ इत्थु ।

तेण वि बोहु ण जासु वरु सो किं मूढु ण तत्थु ॥ ८४ ॥

बोधनिमित्तेन शास्त्रं किल लोके पठ्यते अत्र ।

तेनापि बोधो न यस्य वरः स किं मूढो न तथ्यम् ॥ ८४ ॥

बोह इत्यादि । बोधनिमित्तेन किल शास्त्रं लोके पठ्यते अत्र तेनैव कारणेन बोधो न यस्य ।

हैं—[यः] जो जीव [शास्त्रं] शास्त्रको [पठन्नपि] पढ़ता हुआ भी [विकल्पं] विकल्पको [न
हन्ति] नहीं दूर करता (मेटता), वह [जडो भवति] मूर्ख है, जो विकल्प नहीं मेटता, वह [देहे]
शरीरमें [वसन्तमपि] रहते हुए भी [निर्मलं परमात्मानं] निर्मल परमात्माको [नैव मन्यते] नहीं
श्रद्धानमें लाता ॥ भावार्थ—शास्त्रके अभ्यासका तो फल यह है, कि रागादि विकल्पोंको दूर करना,
और निज शुद्धात्माको ध्यावना । इसलिए इस व्याख्यानको जानकर तीन गुप्तिमें अचल हो
परमसमाधिमें आरूढ होकर निजस्वरूपका ध्यान करना । लेकिन जब तक तीन गुप्तियाँ न हों,
परमसमाधि न आवे (हो सके), तब तक विषय कषायोंके हटानेके लिये परजीवोंको धर्मोपदेश
देना, उसमें भी परके उपदेशके बहानेसे मुख्यताकर अपने जीवको ही संबोधना । वह इस तरह
है, कि परको उपदेश देते अपनेको समझावे । जो मार्ग दूसरोंको छुड़ावे, वह आप कैसे करे ?
इससे मुख्य संबोधन अपना ही है । परजीवोंको ऐसा ही उपदेश है, कि यह बात मेरे मनमें अच्छी
नहीं लगती, तो तुमको भी भली नहीं लगती होगी, तुम भी अपने मनमें विचार करो ॥८३॥

आगे ज्ञानके लिए शास्त्रको पढ़ते हुए भी जिसके आत्मज्ञान नहीं, वह मूर्ख है, ऐसा कथन करते
हैं—[अत्र लोके] इस लोकमें [किल] नियमसे [बोधनिमित्तेन] ज्ञानके निमित्त [शास्त्रं] शास्त्र
[पठ्यते] पढ़े जाते हैं, [तेनापि] परंतु शास्त्रके पढ़नेसे भी [यस्य] जिसको [वरः बोधः न]

कथंभूतः । वरो विशिष्टः । स किं मूढो न भवति किंतु भवत्येव तथ्यमिति । तद्यथा । अत्र यद्यपि लोकव्यवहारेण कविगमकवादिवाग्मितादिलक्षणशास्त्रजनितो बोधो भण्यते तथापि निश्चयेन परमात्मप्रकाशकाध्यात्मशास्त्रोत्पन्नो वीतरागस्वसंवेदनरूपः स एव बोधो ग्राह्यो न चान्यः । तेनानुबोधेन विना शास्त्रे पठितेऽपि मूढो भवतीति । अत्र यः कोऽपि परमात्मबोधजनकमल्प-शास्त्रं ज्ञात्वापि वीतरागभावनां करोति स सिद्धयतीति । तथा चोक्तम्—“वीरा वेरगपरा थोवं पि हु सिक्खिऊण सिज्झंति । ण हु सिज्झति विरागेण विणा पढिदेसु वि सच्चसत्थेसु ॥ ” । परं किंतु—“अक्खरडा जोयंतु ठिउ अप्पि ण दिण्णउ चित्तु । कणविरहियउ पलालु जिम्मु पर संगहिउ बहुत्तु ॥ ” इत्यादि पाठमात्रं गृहीत्वा परेषां बहुशास्त्रज्ञानिनां दूषणा न कर्तव्या । तैर्बहुश्रुतैरप्यन्येषामल्पश्रुततपोधनानां दूषणा न कर्तव्या । कस्मादिति चेत् । दूषणे कृते सति परस्परं रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति तेन ज्ञानतपश्चरणादिकं नश्यतीति भावार्थः ॥ ८४ ॥

अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरहितानां तीर्थभ्रमणेन मोक्षो न भवतीति कथयति—

तित्थइं तित्थु भमंताहं मूढहं मोक्खु ण होइ ।

णाण-विबज्जिउ जेण जिय मुणिवरु होइ ण सोइ ॥ ८५ ॥

उत्तम ज्ञान नहीं हुआ, [स] वह [किं] क्या [मूढः न] मूर्ख नहीं है ? [तथ्यं] मूर्ख ही है इसमें संदेह नहीं ॥ भावार्थ—इस लोकमें यद्यपि लोक व्यवहारसे नवीन कविताका कर्ता कवि, प्राचीन काव्योंकी टीकाके कर्ताको गमक, जिससे वादमें कोई न जीत सके ऐसा वादित्व, और श्रोताओंके मनको अनुरागी करनेवाला शास्त्रका वक्ता होनेरूप वाग्मित्व, इत्यादि लक्षणोंवाला शास्त्रजनित ज्ञान होता है, तो भी निश्चयनयसे वीतरागस्वसंवेदनरूप ज्ञानकी ही अध्यात्मशास्त्रोंमें प्रशंसा की गयी है । इसलिये स्वसंवेदन ज्ञानके बिना शास्त्रोंके पढे हुए भी मूर्ख हैं । और जो कोई परमात्मज्ञानके उत्पन्न करनेवाला छोटे थोड़े शास्त्रोंको भी जानकर वीतराग स्वसंवेदनज्ञानकी भावना करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं । ऐसा ही कथन ग्रन्थोंमें हरएक जगह कहा है, कि वैराग्यमें लगे हुए जो मोहशत्रुको जीतनेवाले हैं, वे थोड़े शास्त्रोंको ही पढकर सुधर जाते हैं—मुक्त हो जाते हैं, और वैराग्यके बिना सब शास्त्रोंको पढते हुए भी मुक्त नहीं होते, यह निश्चय जानना । परंतु यह कथन अपेक्षासे है । इस बहानेसे शास्त्र पढनेका अभ्यास नहीं छोड़ना, और जो विशेष शास्त्रके पाठी हैं, उनको दूषण न देना । जो शास्त्रके अक्षर बता रहा है, और आत्मामें धित्त नहीं लगाया वह ऐसे जानना कि जैसे किसीने कण रहित बहुत भूसेका ढेर कर लिया हो, वह किसी कामका नहीं है । इत्यादि पीठिकामात्र सुनकर जो विशेष शास्त्रज्ञ हैं, उनकी निंदा नहीं करनी, और जो बहुश्रुत हैं, उनको भी अल्प शास्त्रज्ञोंकी निंदा नहीं करनी चाहिए । क्योंकि परके दोष ग्रहण करनेसे राग द्वेषकी उत्पत्ति होती है, उससे ज्ञान और तपका नाश होता है, यह निश्चयसे जानना ॥८४॥

आगे वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसे रहित जीवोंको तीर्थभ्रमण करनेसे भी मोक्ष नहीं है, ऐसा कहते हैं—

[तीर्थ तीर्थ] तीर्थ तीर्थ प्रति [भ्रमतां] भ्रमण करनेवाले [मूढानां] मूर्खोंको [मोक्षः] मुक्ति [न

तीर्थ तीर्थ भ्रमतां मूढानां मोक्षो न भवति ।

ज्ञानविवर्जितो येन जीव मुनिवरो भवति न स एव ॥ ८५ ॥

तीर्थ तीर्थ प्रति भ्रमतां मूढात्मनां मोक्षो न भवति । कस्मादिति चेत् । ज्ञानविवर्जितो येन कारणेन हे जीव मुनिवरो न भवति स एवेति । तथाहि । निर्दोषिपरमात्मभावनोत्पन्न-वीतरागपरमाह्लादस्यन्दिसुन्दरानन्दरूपनिर्मलनीरपूरप्रवाहनिर्झरज्ञानदर्शनादिगुणसमूहचन्दनादिद्रु-मवनराजितं देवेन्द्रचक्रवर्तिगणधरादिभव्यजीवतीर्थयात्रिकसमूहश्रवणसुखकरदिव्यध्वनिरूपराज-हंसप्रभृतिविविधपक्षिकोलाहलमनोहरं यदर्हद्वीतरागसर्वज्ञस्वरूपं तदेव निश्चयेन गङ्गादितीर्थं न लोकव्यवहारप्रसिद्धं गङ्गादिकम् । परमनिश्चयेन तु जिनेश्वरपरमतीर्थसदृशं संसारतरणोपायकारण-भूतत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिरतानां निजशुद्धात्मतत्त्वस्मरणमेव तीर्थं, व्यवहारेण तु तीर्थकरपरमदेवादिगुणस्मरणहेतुभूतं मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धकारणं तन्निर्वाणस्थानादिकं च तीर्थ-मिति । अयमत्र भावार्थः । पूर्वोक्तं निश्चयतीर्थं श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरहितानामज्ञानिनां शेषतीर्थं मुक्तिकारणं न भवतीति ॥ ८५ ॥

अथ ज्ञानिनां तथैवाज्ञानिनां च यतीनामन्तरं दर्शयति—

णाणिहँ मूढहँ मुणिवरहँ अंतरु होइ महंतु ।

देहु वि मिल्लइ णाणियउ जीवहँ भिण्णु मुणंतु ॥ ८६ ॥

ज्ञानिनां मूढानां मुनिवराणां अन्तरं भवति महत् ।

देहमपि मुञ्चति ज्ञानी जीवाद्धिन्नं मन्यमानः ॥ ८६ ॥

भवति] नहीं होती, [जीव] हे जीव, [येन] क्योंकि जो [ज्ञानविवर्जितः] ज्ञानरहित हैं, [स एव] वह [मुनिवरः न भवति] मुनीश्वर नहीं है, संसारी हैं । मुनीश्वर तो वे ही हैं, जो समस्त विकल्प-जालोंसे रहित होकर अपने स्वरूपमें रमें, वे ही मोक्ष पाते हैं । भावार्थ—निर्दोष परमात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परम आनंदरूप निर्मल जल उसके धारण करनेवाले और ज्ञान दर्शनादि गुणोंके समूहरूपी चंदनादि वृक्षोंके वनोंसे शोभित तथा देवेन्द्र चक्रवर्ती गणधरादि भव्यजीवरूपी तीर्थ-यात्रियोंके कानोंको सुखकारी ऐसी दिव्यध्वनिसे शोभायमान और अनेक मुनिजनरूपी राजहंसोंको आदि लेकर नाना तरहके पक्षियोंके शब्दोंसे महामनोहर जो अरहंत वीतराग सर्वज्ञ वे ही निश्चयसे महातीर्थ हैं, उनके समान अन्य तीर्थ नहीं हैं । वे ही संसारके तरनेके कारण परमतीर्थ हैं । जो परम समाधिमें लीन महामुनि हैं, उनके वे ही तीर्थ हैं, निश्चयनयसे निज शुद्धात्मतत्त्वके ध्यानके समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं है, और व्यवहारनयसे तीर्थकर परमदेवादिकके गुणस्मरणके कारण मुख्यतासे शुभ बंधके कारण ऐसे जो कैलास, सम्मेदशिखर आदि निर्वाणस्थान हैं, वे भी व्यवहारमात्र तीर्थ कहे हैं । जो तीर्थ-तीर्थ प्रति भ्रमण करे, और निज तीर्थका जिसके श्रद्धान परिज्ञान आचरण नहीं हो वह अज्ञानी है । उसके तीर्थ भ्रमनेसे मोक्ष नहीं हो सकता ॥ ८५ ॥

आगे ज्ञानी और अज्ञानी यतियोंमें बहुत बड़ा भेद दिखलाते हैं—[ज्ञानिनां] सम्यग्दृष्टि

ज्ञानिनां मूढानां च मुनिवराणां अन्तरं विशेषो भवति । कथंभूतम् । महत् । कस्मादिति चेत् । देहमपि मुञ्चति । कोऽसौ । ज्ञानी । किं कुर्वन् सन् । जीवात्सकाशाद्भिन्नं मन्यमानो जानन् इति । तथा च । वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी पुत्रकलत्रादिबहिर्द्रव्यं तावदूरे तिष्ठतु शुद्धबुद्धैक-स्वभावात् स्वशुद्धात्मस्वरूपात्सकाशात् पृथग्भूतं जानन् स्वकीयदेहमपि त्यजति । मूढात्मा पुनः स्वीकरोति इति तात्पर्यम् ॥ ८६ ॥ एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये पञ्चदशसूत्रैर्वीतराग-स्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन द्वितीयमन्तरस्थलं समाप्तम् । तदनन्तरं तत्रैव महास्थलमध्ये सूत्राष्टक-पर्यन्तं परिग्रहत्यागव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयमन्तरस्थलं प्रारभ्यते ।

तद्यथा—

लेणहँ इच्छह मूढु पर भुवणु वि एहु असेसु ।

बहु-विह-धम्म-मिसेण जिय दोहिँ वि एहु विसेसु ॥ ८७ ॥

लातुं इच्छति मूढः परं भुवनमपि एतद् अशेषम् ।

बहुविधधर्ममिषेण जीव द्वयोः अपि एष विशेषः ॥ ८७ ॥

लातुं ग्रहीतुं इच्छति । कोऽसौ । मूढो बहिरात्मा । परं कोऽर्थः, नियमेन । किम् । भुवनमप्येतत् अशेषं समस्तम् । केन कृत्वा । बहुविधधर्ममिषेण व्याजेन । हे जीव द्वयोरप्येष विशेषः । कयोर्द्वयोः । पूर्वोक्तसूत्रकथितज्ञानिजीवस्यात्र सूत्रोक्तपुनरज्ञानिजीवस्य च । तथाहि । वीतरागसहजानन्दैक-

भावलिङ्गी [मूढानां] मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी [मुनिवराणां] मुनियोंमें [महत् अंतरं] बड़ा भारी भेद [भवति] है । [ज्ञानी] क्योंकि ज्ञानी मुनि तो [देहं अपि] शरीरको भी [जीवाद्भिन्नं] जीवसे जुदा [मन्यमानः] जानकर [मुञ्चति] छोड़ देते हैं, अर्थात् शरीरका भी ममत्व छोड़ देते हैं, तो फिर पुत्र स्त्री आदिका क्या कहना है ? ये तो प्रत्यक्षसे जुदे हैं, और द्रव्यलिङ्गी मुनि लिङ्ग (भेष) में आत्मबुद्धिको रखता है ॥ भावार्थ—वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी महामुनि मन वचन काय इन तीनोंसे अपनेको भिन्न जानता है, द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मादिकसे जिसको ममता नहीं है, पिता माता पुत्र कलत्रादिकी तो बात अलग रहे जो अपने आत्म-स्वभावसे निज देहको ही जुदा जानता है । जिसके परवस्तुमें आत्मभाव नहीं है और मूढात्मा परभावोंको अपने जानता है । यही ज्ञानी और अज्ञानीमें अन्तर है । परको अपना मानें वह बँधता है, और न मानें वह मुक्त होता है । यह निश्चयसे जानना ॥ ८६ ॥ इस प्रकार एकतालीस दोहोंके महास्थलके मध्यमें पन्द्रह दोहोंमें वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकी मुख्यतासे दूसरा अंतरस्थल समाप्त हुआ ।

अब परिग्रहत्यागके व्याख्यानको आठ दोहोंमें कहते हैं—[द्वयोः अपि] ज्ञानी और अज्ञानी इन दोनोंमें [एष विशेषः] इतना ही भेद है, कि [मूढः] अज्ञानीजन [बहुविधधर्ममिषेण] अनेक तरहके धर्मके बहानेसे [एतद् अशेषं] इस समस्त [भुवनं अपि] जगतको ही [परं] नियमसे [लातुं इच्छति] लेनेकी इच्छा करता है, अर्थात् सब संसारके भोगोंकी इच्छा करता है, तपश्चरणादि कायक्लेशसे स्वर्गादिके सुखोंको चाहता है, और ज्ञानीजन कर्मोंके क्षयके लिये

सुखास्वादरूपः स्वशुद्धात्मैव उपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तस्यैव परमात्मनः समस्त-
मिथ्यास्वादागाद्यास्रवेभ्यः पृथग्रूपेण परिच्छित्तिरूपं सम्यग्ज्ञानं, तत्रैव रागादिपरिहाररूपेण निश्चल-
चित्तवृत्तिः सम्यक्चारित्र्यम् इत्येवं निश्चयरत्नत्रयस्वरूपं तत्रयात्मकमात्मानमरोचमानस्तथैवा-
जानन्नभावयंश्च मूढात्मा । किं करोति । समस्तं जगद्धर्मव्याजेन ग्रहीतुमिच्छति, पूर्वोक्तज्ञानी तु
त्यक्तुमिच्छतीति भावार्थः ॥ ८७ ॥

अथ शिष्यकरणाद्यनुष्ठानेन पुस्तकाद्युपकरणेनाज्ञानी तुष्यति, ज्ञानी पुनर्बन्धहेतुं जानन् सन्
लज्जां करोतीति प्रकटयति—

चेल्ला-चेल्ली-पुत्थियहिँ तूसइ मूढ णिभंतु ।

एयहिँ लज्जइ णाणियउ बंधहँ हेउ मुणंतु ॥ ८८ ॥

शिष्यार्जिकापुस्तकैः तुष्यति मूढो निर्भ्रान्तः ।

एतैः लज्जते ज्ञानी बन्धस्य हेतुं जानन् ॥ ८८ ॥

शिष्यार्जिकादीक्षादानेन पुस्तकप्रभृत्युपकरणैश्च तुष्यति संतोषं करोति । कोऽसौ । मूढः ।
कथंभूतः । निर्भ्रान्तः एतैर्वहिर्द्रव्यैर्लज्जां करोति । कोऽसौ । ज्ञानी । किं कुर्वन्नपि । पुण्यबन्धहेतुं
जानन्नपि । तथा च । पूर्वोक्तसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यलक्षणं निजशुद्धात्मस्वभावमश्रद्धानो
विशिष्टभेदज्ञानेनाजानंश्च तथैव वीतरागचारित्र्येणाभावयंश्च मूढात्मा । किं करोति । पुण्यबन्ध-
कारणमपि जिनदीक्षादानादिशुभानुष्ठानं पुस्तकाद्युपकरणं वा मुक्तिकारणं मन्यते । ज्ञानी तु

तपश्चरणादि करता है, भोगोंका अभिलाषी नहीं है ॥ भावार्थ—वीतराग सहजानंद अखंडसुखके
आस्वादरूप जो शुद्धात्मा वही आराधने योग्य है, ऐसी जो रुचि वह सम्यग्दर्शन, समस्त मिथ्यात्व
रागादि आस्रवसे भिन्नरूप उसी परमात्माका जो ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान और उसीमें निश्चल चित्तकी
वृत्ति वह सम्यक्चारित्र्य, यह निश्चयरत्नत्रयरूप जो शुद्धात्माकी रुचि जिसके नहीं, ऐसा मूढजन
आत्माको नहीं जानता हुआ, और नहीं अनुभवता हुआ जगतके समस्त भोगोंको धर्मके बहानेसे
लेना चाहता है, तथा ज्ञानीजन समस्त भोगोंसे उदास है, जो विद्यमान भोग थे, वे सब छोड़ दिये
और आगामी वांछा नहीं है ऐसा जानना ॥८७॥

आगे शिष्योंका करना, पुस्तकादिका संग्रह करना, इन बातोंसे अज्ञानी प्रसन्न होता है, और
ज्ञानीजन इनको बंधके कारण जानता हुआ इनसे रागभाव नहीं करता, इनके संग्रहमें लज्जावान
होता है—[मूढः] अज्ञानीजन [शिष्यार्जिकापुस्तकैः] चेला चेली पुस्तकादिकसे [तुष्यति] हर्षित होता
है, [निर्भ्रान्तः] इसमें कुछ संदेह नहीं है, [ज्ञानी] और ज्ञानीजन [एतः] इन बाह्य पदार्थोंसे [लज्जते]
शरमाता है, क्योंकि इन सबोंको [बंधस्य हेतुं] बंधका कारण [जानन्] जानता है ॥ भावार्थ—
सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्यरूप जो निज शुद्धात्मा उसको न श्रद्धान करता, न जानता
और न अनुभव करता जो मूढात्मा वह पुण्यबंधके कारण जिनदीक्षा दानादि शुभ आचरण और
पुस्तकादि उपकरण उनको मुक्तिके कारण मानता है, और ज्ञानीजन इनको साक्षात् पुण्यबंधके

यद्यपि साक्षात्पुण्यबन्धकारणं मन्यते परंपरया मुक्तिकारणं च तथापि निश्चयेन मुक्तिकारणं न मन्यते इति तात्पर्यम् ॥ ८८ ॥

अथ चट्टपट्टकुण्डिकाद्युपकरणैर्मोहमुत्पाद्य मुनिवराणां उत्पत्ते पात्यते [?] इति प्रतिपादयति—

चट्टहि पट्टहि कुंडियहि चेला-चेल्लियएहि ।

मोहु जणेविणु मुणिवरहँ उप्पहि पाडिय तेहि ॥ ८९ ॥

चट्टैः पट्टैः कुण्डिकाभिः शिष्यार्जिकाभिः ।

मोहं जनयित्वा मुनिवराणां उत्पत्ते पातितास्तैः ॥ ८९ ॥

चट्टपट्टकुण्डिकाद्युपकरणैः शिष्यार्जिकादिपरिवारैश्च कर्तृभूतैर्मोहं जनयित्वा । केषाम् । मुनिवराणां, पश्चादुन्मार्गे पातितास्ते तु तैः । तथाहि । यथा कश्चिदजीर्णभयेन विशिष्टाहारं त्यक्त्वा लङ्घनं कुर्वन्नास्ते पश्चादजीर्णप्रतिपक्षभूतं किमपि मिष्टौषधं गृहीत्वा जिह्वालाभ्यटचेनौषधेनापि अजीर्णं करोत्यज्ञानी इति, न च ज्ञानीति, तथा कोऽपि तपोधनो विनीतवनितादिकं मोहभयेन त्यक्त्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा च शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानुष्ठानरूप-नीरोगत्वप्रतिपक्षभूतमजीर्णरोगस्थानीयं मोहमुत्पाद्यात्मनः । किं कृत्वा । किमप्यौषधस्थानीयमुप-

कारण जानता है, परम्पराय मुक्तिके कारण मानता है । यद्यपि व्यवहारनयकर बाह्य सामग्रीको धर्मका साधन जानता है, तो भी ऐसा मानता है, कि निश्चयनयसे ये मुक्तिके कारण नहीं है ॥८८॥

आगे कमंडलु पीछी पुस्तकादि उपकरण और शिष्यादिका संघ ये मुनियोंको मोह उत्पन्न कराकर खोटे मार्गमें पटक देते हैं—[चट्टैः पट्टैः कुंडिकाभिः] पीछी कमंडलु पुस्तक और [शिष्यार्जिकाभिः] मुनि श्रावकरूप चेला, आर्जिका, श्राविका इत्यादि चेली—ये संघ [मुनिवराणां] मुनिवरोंको [मोहं जनयित्वा] मोह उत्पन्न कराकर [तैः] वे [उत्पत्ते] उन्मार्गमें (खोटे मार्गमें) [पातिताः] डाल देते हैं ॥ भावार्थ—जैसे कोई अजीर्णके भयसे मनोज्ञ आहारको छोड़कर लंघन करता है, पीछे अजीर्णको दूर करनेवाली कोई मीठी औषधिको लेकर जिह्वाका लंपटी होकर मात्रासे अधिक लेकर औषधिका ही अजीर्ण करता है, उसी तरह अज्ञानी कोई द्रव्यलिंगी यति विनयवान् पतिव्रता स्त्री आदिको मोहके डरसे छोड़कर जिनदीक्षा लेकर अजीर्ण समान मोहके दूर करनेके लिये वैराग्य धारण करके औषधि समान जो उपकरणादि उनको ही ग्रहण करके उन्हींका अनुरागी (प्रेमी) होता है, उनकी वृद्धिसे सुख मानता है, वह औषधिका ही अजीर्ण करता है । मात्राप्रमाण औषधि लेवे, तो वह रोगको हर सके । यदि औषधिका ही अजीर्ण करे-मात्रासे अधिक लेवे, तो रोग नहीं जाता, उलटी रोगकी वृद्धि ही होती है । यह निःसंदेह जानना । इससे यह निश्चय हुआ जो परमोपेक्षा संयम अर्थात् निर्विकल्प परमसमाधिरूप तीन गुप्तिमयी परम शुद्धोपयोगरूप संयमके धारक है, उनके शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत सब ही परिग्रह त्यागने योग्य हैं । शुद्धोपयोगी मुनियोंके कुछ भी परिग्रह नहीं है, और जिनके परमोपेक्षा संयम नहीं लेकिन व्यवहार संयम है, उनके भावसंयमकी रक्षाके निमित्त हीन संहननके होनेपर उत्कृष्ट शक्तिके अभावसे यद्यपि

करणादिकं गृहीत्वा । कोऽसावज्ञानी न तु ज्ञानीति । इदमत्र तात्पर्यम् । परमोपेक्षासंयमधरेण शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतः सर्वोऽपि तावत्परिग्रहस्त्याज्यः । परमोपेक्षासंयमाभावे तु वीतराग-शुद्धात्मानुभूतिभावसंयमरक्षणार्थं विशिष्टसंहननादिशक्त्यभावे सति यद्यपि तपःपर्यायशरीरसह-कारिभूतमन्नपानसंयमशौचज्ञानोपकरणतृणमयप्रावरणादिकं किमपि गृह्णाति तथापि ममत्वं न करोतीति । तथा चोक्तम्—“रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो मुह्येद् वृथा किमिति संयमसाध-नेषु । धीमान् किमामयभयात्परिहृत्य श्रुक्तिं पीतौषधं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम् ॥ ” ॥ ८९ ॥

अथ केनापि जिनदीक्षां गृहीत्वा शिरोलुञ्चनं कृत्वापि सर्वसंगपरित्यागमकुर्वतात्मा वञ्चित इति निरूपयति—

केन वि अप्पउ वञ्चियउ सिरु लुञ्चिवि छारेण ।

सयल वि संग ण परिहरिय जिणवर-लिंगधरेण ॥ ९० ॥

केनापि आत्मा वञ्चितः शिरो लुञ्चित्वा क्षारेण ।

सकला अपि संगो न परिहृता जिनवरलिङ्गधरेण ॥ ९० ॥

केनाप्यात्मा वञ्चितः । किं कृत्वा । शिरोलुञ्चनं कृत्वा । केन । भस्मना । कस्मादिति चेत् । यतः सर्वेऽपि संगो न परिहृताः । कथंभूतेन भूत्वा । जिनवरलिङ्गधारकेणेति । तद्यथा । वीतरागनिर्विकल्पनिजानन्दैकरूपसुखरसास्वादपरिणतपरमात्मभावनास्वभावेन तीक्ष्णशस्त्रोपकर-

तपका साधन शरीरकी रक्षाके निमित्त अन्न जलका ग्रहण होता है, उस अन्न जलके लेनेसे मल-मूत्रादिकी बाधा भी होती है, इसलिये शौचका उपकरण कमंडलु, और संयमोपकरण पीछी, और ज्ञानोपकरण पुस्तक इनको ग्रहण करते हैं, तो भी इनमें ममता नहीं है, प्रयोजनमात्र प्रथम अवस्थामें धारते हैं । ऐसा दूसरी जगह “रम्येषु” इत्यादिसे कहा है, कि मनोज्ञ स्त्री आदिक वस्तुओंमें जिसने मोह छोड़ दिया है, ऐसा महामुनि संयमके साधन पुस्तक पीछी कमंडलु आदि उपकरणोंमें वृथा मोहको कैसे कर सकता है ? कभी नहीं कर सकता । जैसे कोई बुद्धिमान पुरुष रोगके भयसे अजीर्णको दूर करना चाहे और अजीर्णके दूर करनेके लिये औषधिका सेवन करे, तो क्या मात्रासे अधिक ले सकता है ? ऐसा कभी नहीं करेगा, मात्राप्रमाण ही लेगा ॥ ८९ ॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि जिसने जिनदीक्षा धरके केशोंका लोच किया, और सकल परिग्रहका त्याग नहीं किया, उसने अपने आत्माको ही वञ्चित किया—[केनापि] जिस किसीने [जिनवर-लिंगधरेण] जिनवरका भेष धारण करके [क्षारेण] भस्मसे [शिरः] शिरके केश [लुञ्चित्वा] लोच किये, (उखाड़े) लेकिन [सकला अपि संगोः] सब परिग्रह [न परिहृताः] नहीं छोड़े, उसने [आत्मा] अपने आत्माको ही [वञ्चितः] ठग लिया ॥ भावार्थ—वीतराग निर्विकल्पनिजानन्द अखंडरूप सुखरसका जो आस्वाद उसरूप परिणामी जो परमात्माकी भावना वही हुआ तीक्ष्ण शस्त्र उससे बाहिरके और अंतरके परिग्रहोंकी वाञ्छा आदि ले समस्त मनोरथ उनकी कल्लोल मालाओंका त्यागरूप मनका मुंडन वह तो नहीं किया, और जिनदीक्षारूप शिरोमुंडन कर भेष रखा, सब

णेन बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहकांक्षारूपमभृतिसमस्तमनोरथकल्लोलमालात्यागरूपं मनोमुण्डनं पूर्वम-
कृत्वा जिनदीक्षारूपं शिरोमुण्डनं कृत्वापि केनाप्यात्मा वञ्चितः । कस्मात् ? सर्वसंगपरित्यागा-
भावादिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा स्वशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दपरिग्रहं कृत्वा तु
जगज्जये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमत्तैश्च दृष्टश्रुतानुभूतनिःपरिग्रहशुद्धात्मानु-
भूतिविपरीतपरिग्रहकाङ्क्षास्त्वं त्यजेत्यभिप्रायः ॥ ९० ॥

अथ ये सर्वसंगपरित्यागरूपं जिनलिङ्गं गृहीत्वापीष्टपरिग्रहान् गृह्णन्ति ते छर्दिं कृत्वा पुनरपि
गिलन्ति तामिति प्रतिपादयति—

जे जिण-लिङ्गु घरेवि मुणि इष्ट-परिग्रह लेंति ।

छर्दि करेविणु ते जि जिय सा पुणु छर्दि गिलंति ॥ ९१ ॥

ये जिनलिङ्गं धृत्वापि मुनय इष्टपरिग्रहान् लान्ति ।

छर्दिं कृत्वा ते एव जीव तां पुनः छर्दिं गिलन्ति ॥ ९१ ॥

ये केचन जिनलिङ्गं गृहीत्वापि मुनयस्तपोधना इष्टपरिग्रहान् लान्ति गृह्णन्ति । ते किं कुर्वन्ति ।
छर्दिं कृत्वा त एव हे जीव तां पुनश्छर्दिं गिलन्तीति । तथापि गृहस्थापेक्षया चेतनपरिग्रहः
पुत्रकलत्रादिः, सुवर्णादिः पुनरचेतनः, साभरणवनितादि पुनर्मिश्रः । तपोधनापेक्षया छात्रादिः
सचित्तः, पिच्छकमण्डल्वादिः पुनरचित्तः, उपकरणसहितश्छात्रादिस्तु मिश्रः । अथवा मिथ्यात्व-
परिग्रहका त्याग नहीं किया, उसने अपने आत्माको ठगा ऐसा कथन समझकर निज शुद्धात्माकी
भावनासे उत्पन्न, वीतराग परम आनन्दस्वरूपको अंगीकार करके तीनों काल तीनों लोकमें मन,
वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनाकर देखे सुने अनुभवे जो परिग्रह उनकी वाँछा सर्वथा
त्यागनी चाहिये । ये परिग्रह शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत हैं ॥९०॥

आगे जो सर्वसंगके त्यागरूप जिनमुद्राको ग्रहण कर फिर परिग्रहको धारण करता है, वह
वमन करके पीछे निगलता है, ऐसा कथन करते हैं—[ये] जो [मुनयः] मुनि [जिनलिङ्गं] जिन
लिङ्गको [धृत्वापि] ग्रहणकर [इष्टपरिग्रहान्] फिर भी इच्छित परिग्रहोंको [लान्ति] ग्रहण करते
हैं, [जीव] हे जीव, [ते एव] वे ही [छर्दिं कृत्वा] वमन करके [पुनः] फिर [तां छर्दिं] उस
वमनको पीछे [गिलंति] निगलते हैं ॥ भावार्थ—परिग्रहके तीन भेदोंमें गृहस्थकी अपेक्षा चेतन
परिग्रह पुत्र कलत्रादि, अचेतन परिग्रह आभरणादि, और मिश्र परिग्रह आभरण सहित स्त्री
पुत्रादि, साधुकी अपेक्षा सचित्त परिग्रह शिष्यादि, अचित्त परिग्रह पीछी कमंडलु पुस्तकादि, और
मिश्र परिग्रह पीछी कमंडलु पुस्तकादि सहित शिष्यादि अथवा साधुके भावोंकी अपेक्षा सचित्त
परिग्रह मिथ्यात्व रागादि, अचित्त परिग्रह द्रव्यकर्म नोकर्म, और मिश्र परिग्रह द्रव्यकर्म भावकर्म
दोनों मिले हुए । अथवा वीतराग त्रिगुप्तिमें लीन ध्यानी पुरुषकी अपेक्षा सचित्त परिग्रह सिद्ध
परमेष्ठीका ध्यान, अचित्त परिग्रह पुद्गलादि पाँच द्रव्यका विचार, और मिश्र परिग्रह गुणस्थान
मार्गणास्थान जीवसमासादिरूप संसारीजीवका विचार । इस तरह बाहिरके और अंतरके परिग्रहसे

रागादिरूपः सचित्तः, द्रव्यकर्मनोकर्मरूपः, पुनरचित्तः द्रव्यकर्मभावकर्मरूपस्तु मिश्रः । वीतरागत्रि-
गुप्तसमाधिस्थपुरुषापेक्षया सिद्धरूपः सचित्तः पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपः पुनरचित्तः गुणस्थानमार्गणा-
स्थानजीवस्थानादिपरिणतः संसारीजीवस्तु मिश्रश्चेति । एवंविधबाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितं जिनलिङ्गं
गृहीत्वापि ये शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणमिष्टपरिग्रहं गृह्णन्ति ते छर्दिताहारग्राहकपुरुषसदृशा भवन्तीति
भावार्थः । तथा चोक्तम्—“ त्यक्त्वा स्वकीयपितृमित्रकलत्रपुत्रान् सक्तोऽन्यगेहवनितादिषु निर्मु-
मुक्षुः । दोर्भ्यां पयोनिधिसमुद्रतनक्रचक्रं प्रोत्तीर्य गोष्पदजलेषु निमग्नवान् सः ॥ ” ॥ ९१ ॥

अथ ये ख्यातिपूजालाभनिमित्तं शुद्धात्मानं त्यजन्ति ते लोहकीलनिमित्तं देवं देवकुलं च
दहन्तीति कथयति—

लाहहँ कित्तिहि कारणिण जे सिव-संगु चयंति ।

खीला-लग्गिचि ते वि मुणि देउलु देउ डहंति ॥ ९२ ॥

लाभस्य कीर्तेः कारणेन ये शिवसंगं त्यजन्ति ।

कीलानिमित्तं तेऽपि मुनयः देवकुलं देवं दहन्ति ॥ ९२ ॥

लाभकीर्तिकारणेन ये केचन शिवसंगं शिवशब्दवाच्यं निजपरमात्मध्यानं त्यजन्ति ते
मुनयस्तपोधनाः । किं कुर्वन्ति । लोहकीलिकाप्रायं निःसारेन्द्रियसुखनिमित्तं देवशब्दवाच्यं

रहित जो जिनलिङ्ग उसे ग्रहण कर जो अज्ञानी शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत परिग्रहको ग्रहण
करते हैं, वे वमन करके पीछे आहार करनेवालोंके समान निंदाके योग्य होते हैं । ऐसा दूसरी जगह
भी कहा है, कि जो जीव अपने माता, पिता, पुत्र, मित्र, कलत्र इनको छोड़कर परके घर और
पुत्रादिकमें मोह करते हैं, अर्थात् अपना परिवार छोड़कर शिष्य-शाखाओंमें राग करते हैं, वे
भुजाओंसे समुद्रको तैरकर गायके खुरसे बने हुए गढेके जलमें डूबते हैं । कैसा है समुद्र, जिसमें
जलचरोंके समूह प्रगट हैं, ऐसे अथाह समुद्रको तो बाहोंसे तिर जाता है लेकिन गायके खुरके जलमें
डूबता है । यह बड़ा अचंभा है । घरका ही संबंध छोड़ दिया तो पराये पुत्रोंसे क्या राग करना ?
नहीं करना चाहिये ॥ ९१ ॥

आगे जो अपनी प्रसिद्धि (बड़ाई) प्रतिष्ठा और परवस्तुका लाभ इन तीनोंके लिए
आत्मध्यानको छोड़ते हैं, वे लोहेके कीलेके लिए देव तथा देवालयको जलते हैं—[ये] जो कोई
[लाभस्य] लाभ [कीर्तेः कारणेन] और कीर्तिके कारण [शिवसंगं] परमात्माके ध्यानको
[त्यजंति] छोड़ देते हैं, [ते अपि मुनयः] वे ही मुनि [कीलानिमित्तं] लोहेके कीलेके लिए अर्थात्
कीलेके समान असार इन्द्रिय-सुखके निमित्त [देवकुलं] मुनिपद योग्य शरीररूपी देवस्थानको तथा
[देवं] आत्मदेवको [दहंति] भवके आतापसे भस्म कर देते हैं ॥ भावार्थ—जिस समय ख्याति
पूजा लाभके अर्थ शुद्धात्माकी भावनाको छोड़कर अज्ञान भावोंमें प्रवृत्त होते हैं, उस समय
ज्ञानावरणादि कर्मोंका बंध होता है । उस ज्ञानावरणादिके बंधसे ज्ञानादि गुणका आवरण होता है ।
केवलज्ञानावरणसे केवलज्ञान ढँक जाता है, मोहके उदयसे अनंतसुख, वीर्यांतरायके उदयसे

निजपरमात्मपदार्थं दहन्ति देवकुलशब्दवाच्यं दिव्यपरमौदारिकशरीरं च दहन्तीति । कथमिति चेत् । यदा ख्यातिपूजालाभार्थं शुद्धात्मभावनां त्यक्त्वा वर्तन्ते तदा ज्ञानावरणादिकर्मबन्धो भवति तेन ज्ञानावरणकर्मणा केवलज्ञानं प्रच्छाद्यते केवलदर्शनावरणेन केवलदर्शनं प्रच्छाद्यते वीर्यान्तरायेण केवलवीर्यं प्रच्छाद्यते मोहोदयेनानन्तसुखं च प्रच्छाद्यत इति । एवंविधानन्तचतुष्टयस्यालाभे परमौदारिकशरीरं च न लभन्त इति । यदि पुनरनेकभवे परिच्छेद्यं कृत्वा शुद्धात्मभावनां करोति तदा संसारस्थितिं छित्त्वाऽद्यकालेऽपि स्वर्गं गत्वागत्य शीघ्रं शाश्वतसुखं प्राप्नोतीति तात्पर्यम् । तथा चोक्तम्—“सगो तवेण सच्चो वि पावए किं तु ज्ञाणजोएण । जो पावइ सो पावइ परभवे सासयं सोक्खं ॥” ॥ ९२ ॥

अथ यो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहेणात्मानं महान्तं मन्यते स परमार्थं न जानातीति दर्शयति—

अप्पड मण्णइ जो जि मुणि गरुयड गंथहि तत्थु ।

सो परमत्थे जिणु भणइ णवि बुज्झइ परमत्थु ॥ ९३ ॥

आत्मानं मन्यते य एव मुनिः गुरुकं ग्रन्थैः तथ्यम् ।

स परमार्थेन जिनो भणति नैव बुध्यते परमार्थम् ॥ ९३ ॥

आत्मानं मन्यते य एव मुनिः । कथंभूतं मन्यते । गुरुकं महान्तम् । कैः । ग्रन्थैर्बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहैस्तथ्यं सत्यं स पुरुषः परमार्थेन वस्तुवृत्त्या नैव बुध्यते परमार्थमिति जिनो वदति । तथाहि । निर्दोषपरमात्मविलक्षणैः पूर्वसूत्रोक्तसचित्ताचित्तमिश्रपरिग्रहैर्ग्रन्थरचनारूपशब्दशालैर्वा

अनंतबल, और केवलदर्शनावरणसे केवलदर्शन आच्छादित होता है । इस प्रकार अनंतचतुष्टयका आवरण हो रहा है । उस अनंतचतुष्टयके अलाभमें परमौदारिक शरीरको नहीं पाता, क्योंकि जो उसी भवमें मोक्ष जाता है, उसीके परमौदारिक शरीर होता है । इसलिये यदि कोई समभावमें शुद्धात्माकी भावना करे, तो अभी स्वर्गमें जाकर पीछे विदेहोमें मनुष्य होकर मोक्ष पाता है । ऐसा ही कथन दूसरी जगह शास्त्रोंमें लिखा है, कि तपसे स्वर्ग तो सभी पाते हैं, परन्तु जो कोई ध्यानके योगसे स्वर्ग पाता है, वह परभवमें शाश्वत (अविनाशी) सुखको (मोक्षको) पाता है । अर्थात् स्वर्गसे आकर मनुष्य होकर मोक्ष पाता है, उसीका स्वर्ग पाना सफल है, और जो कोरे (अकेले) तपसे स्वर्ग पाकर फिर संसारमें भ्रमता है, उसका स्वर्ग पाना वृथा है ॥९२॥

आगे जो बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहसे अपनेको महंत मानता है, वह परमार्थको नहीं जानता, ऐसा दिखलाते हैं—[य एव] जो [मुनिः] मुनि [ग्रन्थैः] बाह्य परिग्रहसे [आत्मानं] अपनेको [गुरुकं] महंत (बड़ा) [मन्यते] मानता है, अर्थात् परिग्रहसे ही गौरव जानता है, [तथ्यं] निश्चयसे [सः] वही पुरुष [परमार्थेन] वास्तवमें [परमार्थं] परमार्थको [नैव बुध्यते] नहीं जानता, [जिनः भणति] ऐसा जिनेश्वरदेव कहते हैं ॥ भावार्थ—निर्दोष परमात्मासे पराङ्मुख जो पूर्वसूत्रमें कहे गए सचित्त अचित्त मिश्र परिग्रह हैं, उनसे अपनेको महंत मानता है । जो मैं बहुत पढ़ा हूँ, ऐसा जिसके अभिमान है, वह परमार्थ यानि वीतराग परमानन्दस्वभाव निज आत्माको नहीं जानता ।

आत्मानं महान्तं मन्यते यः स परमार्थशब्दवाच्यं वीतरागपरमानन्दैकस्वभावं परमात्मानं न जानातीति तात्पर्यम् ॥ ९३ ॥

ग्रन्थेनात्मानं महान्तं मन्यमानः सन् परमार्थं कस्मान्न जानातीति चेत्—

बुज्झंतहं परमत्थुं जिय गुरु लहु अत्थि ण कोइ ।

जीवा सयल वि बंभु परु जेण वियाणइ सोइ ॥ ९४ ॥

बुध्यमानानां परमार्थं जीव गुरुः लघुः अस्ति न कोऽपि ।

जीवाः सकला अपि ब्रह्म परं येन विजानाति सोऽपि ॥ ९४ ॥

बुध्यमानानाम् । कम् । परमार्थम्, हे जीव गुरुत्वं लघुत्वं वा नास्ति । कस्मान्नास्ति । जीवाः सर्वेऽपि परमब्रह्मस्वरूपाः । तदपि कस्मात् । येन कारणेन ब्रह्मशब्दवाच्यो मुक्तात्मा केवलज्ञानेन सर्वं जानाति यथा तथा निश्चयनयेन सोऽप्येको विवक्षितो जीवः संसारी सर्वं जानातीत्यभिप्रायः ॥ ९४ ॥ एवमेकवर्तारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परिग्रहपरित्यागव्याख्यान-मुख्यतया सूत्राष्टकेन तृतीयमन्तरस्थलं समाप्तम् ॥ अत ऊर्ध्वं त्रयोदशसूत्रपर्यन्तं शुद्धनिश्चयेन सर्वे जीवाः केवलज्ञानादिगुणैः समानास्तेन कारणेन षोडशवर्णिकासुवर्णवद्भेदो नास्तीति प्रतिपादयति ।

तद्यथा—

आत्मज्ञानसे रहित है, यह निःसंदेह जानो ॥ ९३ ॥

आगे शिष्य प्रश्न करता है, कि जो ग्रंथसे अपनेको महंत मानता है, वह परमार्थको क्यों नहीं जानता ? इसका समाधान आचार्य करते हैं—[जीव] हे जीव, [परमार्थ] परमार्थको [बुध्यमानानां] समझनेवालोंके [कोऽपि] कोई जीव [गुरुः लघुः] बड़ा छोटा [न अस्ति] नहीं है, [सकला अपि] सभी [जीवाः] जीव [परब्रह्म] परमब्रह्मस्वरूप हैं, [येन] क्योंकि निश्चयनयसे [सोऽपि] वह सम्यग्दृष्टि एक भी जीव [विजानाति] सबको जानता है ॥ भावार्थ—जो परमार्थको नहीं जानता, वह परिग्रहसे तो गुरुता समझता है, और परिग्रहके न होनेसे लघुपना जानता है, यही भूल है । यद्यपि गुरुता लघुता कर्मके आवरणसे जीवोंमें पायी जाती है, तो भी शुद्धनयसे सब समान हैं, तथा ब्रह्म अर्थात् सिद्धपरमेष्ठी केवलज्ञानसे सबको जानते हैं, सबको देखते हैं, उसी प्रकार निश्चयनयसे सम्यग्दृष्टि सब जीवोंको शुद्धरूप ही देखता है ॥ ९४ ॥ इस तरह इकतालीस दोहोंके महास्थलमें परिग्रह त्यागके व्याख्यानकी मुख्यतासे आठ दोहोंका तीसरा अंतरस्थल पूर्ण हुआ ।

आगे तेरह दोहोंतक शुद्ध निश्चयसे सब जीव केवलज्ञानादिगुणसे समान हैं, इसलिये सोलहवान (ताव) के सुवर्णकी तरह भेद नहीं है, सब जीव समान हैं, ऐसा निश्चय करते हैं । वह ऐसे हैं—[यः] जो मुनि [रत्नत्रयस्य] रत्नत्रयकी [भक्तः] आराधना (सेवा) करनेवाला है, [तस्य] उसके [इदं लक्षणं] यह लक्षण [मन्यस्व] जानना कि [कस्यामपि कुड्यां] किसी शरीरमें जीव [तिष्ठतु] रहे, [सः] वह ज्ञानी [तस्य भेदं] उस जीवका भेद [न करोति] नहीं करता, अर्थात्

जो भत्तउ रयण-त्तयह तसु मुणि लक्खणु एउ ।

अच्छउ कहिँ वि कुडिल्लियइ सो तसु करइ ण भेउ ॥ ९५ ॥

यः भक्तः रत्नत्रयस्य तस्य मन्यस्व लक्षणं इदम् ।

तिष्ठतु कस्यामपि कुड्यां स तस्य करोति न भेदम् ॥ ९५ ॥

जो इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । जो यः भत्तउ भक्तः । कस्य । रयणत्तयहं रत्नत्रयस्य तसु तस्य पुरुषस्य मुणि मन्यस्व जानीहि । किम् । लक्खणु एउ लक्षणं इदं प्रत्यक्षीभूतम् । इदं किम् । अच्छउ कहिँ वि कुडिल्लियइ तिष्ठतु कस्यामपि कुड्यां शरीरे सो तसु करइ ण भेउ स ज्ञानी तस्य जीवस्य देहभेदेन भेदं न करोति । तथाहि । योऽसौ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी निश्चयस्य निश्चयरत्नत्रयलक्षणपरमात्मनो वा भक्तः तस्येदं लक्षणं जानीहि । हे प्रभाकरभट्ट । कापि देहे तिष्ठतु जीवस्तथापि शुद्धनिश्चयेन षोडशवर्णिका-सुवर्णवत्केवलज्ञानादिगुणैर्भेदं न करोतीति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । हे भगवन् जीवानां यदि देहभेदेन भेदो नास्ति तर्हि यथा केचन वदन्त्येक एव जीवस्तन्मतमायातम् । भगवानाह । शुद्धसंग्रहनयेन सेनावनादिवज्जात्यपेक्षया भेदो नास्ति व्यवहारनयेन पुनर्व्यक्त्यपेक्षया वने भिन्नभिन्नवृक्षवत् सेनायां भिन्नभिन्नहस्त्यश्वादिवद्भेदोऽस्तीति भावार्थः ॥ ९५ ॥

अथ त्रिभुवनस्थजीवानां मूढा भेदं कुर्वन्ति, ज्ञानिनस्तु भिन्नभिन्नसुवर्णानां षोडशवर्णिकैक-लवत्केवलज्ञानलक्षणेनैकत्वं जानन्तीति दर्शयति—

जीवहँ तिहुयण-संठियहँ मूढा भेउ करंति ।

केवल-णार्णि णाणि फुडु सयलु वि एक्कु मुणंति ॥ ९६ ॥

देहके भेदसे गुरुता लघुताका भेद करता है, परंतु ज्ञानदृष्टिसे सबको समान देखता है ॥ भावार्थ—वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी निश्चयरत्नत्रयके आराधकके ये लक्षण हे प्रभाकरभट्ट, तू निःसंदेह जान, जो किसी शरीरमें कर्मके उदयसे जीव रहे, परंतु निश्चयसे शुद्ध बुद्ध (ज्ञानी) ही है । जैसे सोनेमें वान-भेद है, वैसे जीवोंमें वान-भेद नहीं है, केवलज्ञानादि अनंत गुणोंसे सब जीव समान हैं । ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया, हे भगवन्, जो जीवोंमें देहके भेदसे भेद नहीं है, सब समान हैं, तब जो वेदान्ती एक ही आत्मा मानते हैं, उनको क्यों दोष देते हो ? तब श्रीगुरु उसका समाधान करते हैं,—कि शुद्धसंग्रहनयसे सेना एक ही कही जाती है, लेकिन सेनामें अनेक हैं, तो भी ऐसे कहते हैं, कि सेना आयी, सेना गयी, उसी प्रकार जातिकी अपेक्षासे जीवोंमें भेद नहीं हैं, सब एक जाति हैं, और व्यवहारनयसे व्यक्तिकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं, अनंत जीव हैं, एक नहीं है । जैसे वन एक कहा जाता है, और वृक्ष जुदे जुदे हैं, उसी तरह जातिसे जीवोंमें एकता है, लेकिन द्रव्य जुदे जुदे हैं, तथा जैसे सेना एक है, परन्तु हाथी घोड़े रथ सुभट अनेक हैं, उसी तरह जीवोंमें जानना ॥९५॥

आगे तीन लोकमें रहनेवाले जीवोंका अज्ञानी भेद करते हैं । जीवपनेसे कोई कम बढ नहीं हैं,

जीवानां त्रिभुवनसंस्थितानां मूढा भेदं कुर्वन्ति ।

केवलज्ञानेन ज्ञानिनः स्फुटं सकलमपि एकं मन्यन्ते ॥ ९६ ॥

जीवहं इत्यादि । जीवहं तिहुयणसंठियहं श्वेतकृष्णरक्तादिभिन्नभिन्नवस्त्रैर्वेष्टितानां षोडशवर्णिकानां भिन्नभिन्नसुवर्णानां यथा व्यवहारेण वस्त्रवेष्टनभेदेन भेदः तथा त्रिभुवनसंस्थितानां जीवानां व्यवहारेण भेदं दृष्ट्वा निश्चयनयेनापि मूढा भेदं करन्ति मूढात्मानो भेदं कुर्वन्ति । केवलज्ञानि वीतरागसदानन्दैकसुखाविनाभूतकेवलज्ञानेन वीतरागस्वसंवेदेन ज्ञानि ज्ञानिनः फुड् स्फुटं निश्चितं सयलु वि समस्तमपि जीवराशिं एक्कु मुणंति संग्रहनयेन समुदायं मत्त्येकं मन्यन्त इति अभिप्रायः ॥ ९६ ॥

अथ केवलज्ञानादिलक्षणेन शुद्धसंग्रहनयेन सर्वे जीवाः समाना इति कथयति—

जीवा सयल वि णाणमय जम्मणमरणविमुक्क ।

जीवपएसहि सयल सम सयल वि सगुणहि एक्क ॥ ९७ ॥

जीवाः सकला अपि ज्ञानमया जन्ममरणविमुक्ताः ।

जीवप्रदेशैः सकलाः समाः सकला अपि स्वगुणैरेके ॥ ९७ ॥

जीवा इत्यादि । जीवा सयल वि णाणमय व्यवहारेण लोकालोकप्रकाशकं निश्चयेन स्वशुद्धात्मग्राहकं यत्केवलज्ञानं तज्ज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण केवलज्ञानावरणेन श्लेषितं तिष्ठति तथापि कर्मके उदयसे शरीर-भेद हैं, परंतु द्रव्यकर सब समान हैं । जैसे सोनेमें वान-भेद है, वैसे ही परके संयोगसे भेद मालूम होता है, तो भी सुवर्णपनेसे सब समान हैं, ऐसा दिखलाते हैं—[त्रिभुवन-संस्थितानां] तीन भुवनमें रहनेवाले [जीवानां] जीवोंका [मूढाः] मूर्ख ही [भेदं] भेद [कुर्वन्ति] करते हैं, और [ज्ञानिनः] ज्ञानी जीव [केवलज्ञानेन] केवलज्ञानसे [स्फुटं] प्रगट [सकलमपि] सब जीवोंको [एकं मन्यन्ते] समान जानते हैं ॥ भावार्थ—व्यवहारनयकर सोलहवानके सुवर्ण भिन्न भिन्न वस्त्रोंमें लपेटें तो वस्त्रके भेदसे भेद है, परंतु सुवर्णपनेसे भेद नहीं है, उसी प्रकार तीन लोकमें तिष्ठे हुए जीवोंका व्यवहारनयसे शरीरके भेदसे भेद है, परंतु जीवपनेसे भेद नहीं है । देहका भेद देखकर मूढ जीव भेद मानते हैं, और वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी जीवपनेसे सब जीवोंको समान मानता है । सभी जीव केवलज्ञानवेलिके कंद सुख-पंक्ति है, कोई कम बढ नहीं है ॥९६॥

आगे केवलज्ञानादि लक्षणसे शुद्धसंग्रहनयकर सब जीव एक हैं, ऐसा कहते हैं—[सकला अपि] सभी [जीवाः] जीव [ज्ञानमयाः] ज्ञानमयी हैं, और [जन्ममरणविमुक्ताः] जन्ममरणसे मुक्त हैं [जीवप्रदेशैः] अपने अपने प्रदेशोंसे [सकलाः समाः] सब समान हैं, [अपि] और [सकलाः] सब जीव [स्वगुणैः एके] अपने केवलज्ञानादि गुणोंसे समान हैं ॥ भावार्थ—व्यवहारसे लोक अलोकका प्रकाशक और निश्चयनयसे निज शुद्धात्मद्रव्यका ग्रहण करनेवाला जो केवलज्ञान वह यद्यपि व्यवहारनयसे केवलज्ञानावरणकर्मसे ढँका हुआ है, तो भी शुद्ध निश्चयनयसे केवलज्ञानावरणका अभाव होनेसे केवलज्ञानस्वभावसे सभी जीव केवलज्ञानमयी हैं । यद्यपि

शुद्धनिश्चयेन तदावरणाभावात् पूर्वोक्तलक्षणकेवलज्ञानेन निवृत्तत्वात्सर्वेऽपि जीवा ज्ञानमयाः जन्ममरणविमुक्त व्यवहारनयेन यद्यपि जन्ममरणसहितास्तथापि निश्चयेन वीतरागनिजानन्दैकरूपसुखामृतमयत्वादनाद्यनिधनत्वाच्च शुद्धात्मस्वरूपाद्विलक्षणस्य जन्ममरणनिर्वर्तकस्य कर्मण उदयाभावाज्जन्ममरणविमुक्ताः । जीवपण्यसहिं सयल सम यद्यपि संसारावस्थायां व्यवहारेणोपसंहारविस्तारयुक्तत्वाद्देहमात्रा मुक्तावस्थायां तु किञ्चिदनचरमशरीरप्रमाणास्तथापि निश्चयनयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशतहानिवृद्धयभावात् स्वकीयस्वकीयजीवप्रदेशैः सर्वे समानाः । सयल चि सगुणहिं एव यद्यपि व्यवहारेणाव्याबाधानन्तसुखादिगुणाः संसारावस्थायां कर्मशोषितास्तिष्ठन्ति, तथापि निश्चयेन कर्माभावात् सर्वेऽपि स्वगुणैरेकप्रमाणा इति । अत्र यदुक्तं शुद्धात्मनः स्वरूपं तदेवोपादेयमिति तात्पर्यम् ॥ ९७ ॥

अथ जीवानां ज्ञानदर्शनलक्षणं प्रतिपादयति—

जीवहं लक्खणु जिणवरहिं भासिउ दंसणणाणु ।

तेण ण किज्जइ भेउ तहं जइ मणि जाउ विहाणु ॥ ९८ ॥

जीवानां लक्षणं जिनवरैः भाषितं दर्शनं ज्ञानम् ।

तेन न क्रियते भेदः तेषां यदि मनसि जातो विभातः ॥ ९८ ॥

जीवहं इत्यादि । जीवहं लक्खणु जिणवरहिं भासिउ दंसणणाणु यद्यपि व्यवहारेण संसारावस्थायां मत्यादिज्ञानं चक्षुरादिदर्शनं जीवानां लक्षणं भवति तथापि निश्चयेन केवलदर्शनं

व्यवहारनयकर सब संसारी जीव जन्म मरण सहित हैं, तो भी निश्चयनयकर वीतराग निजानन्दरूप अतीन्द्रिय सुखमयी हैं, जिसकी आदि भी नहीं और अंत भी नहीं ऐसे हैं, शुद्धात्मस्वरूपसे विपरीत जन्म मरणके उत्पन्न करनेवाले जो कर्म उनके उदयके अभावसे जन्म मरण रहित हैं । यद्यपि संसारअवस्थामें व्यवहारनयकर प्रदेशोंका संकोच विस्तारको धारण करते हुए देहप्रमाण हैं, और मुक्त-अवस्थामें चरम (अंतिम) शरीरसे कुछ कम देहप्रमाण हैं, तो भी निश्चयनयकर लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी हैं, हानि-वृद्धि न होनेसे अपने प्रदेशोंकर सब समान हैं, और यद्यपि व्यवहारनयसे संसार-अवस्थामें इन जीवोंके अव्याबाध अनंत सुखादिगुण कर्मोंसे ढँके हुए हैं, तो भी निश्चयनयकर कर्मके अभावसे सभी जीव गुणोंकर समान हैं । ऐसा जो शुद्ध आत्माका स्वरूप है, वही ध्यान करने योग्य है ॥९७॥

आगे जीवोंका ज्ञान-दर्शन लक्षण कहते हैं—[जीवानां लक्षणं] जीवोंका लक्षण [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेवने [दर्शनं ज्ञानं] दर्शन और ज्ञान [भाषितं] कहा है, [तेन] इसलिए [तेषां] उन जीवोंमें [भेदः] भेद [न क्रियते] मत कर, [यदि] अगर [मनसि] तेरे मनमें [विभातः जातः] ज्ञानरूपी सूर्यका उदय हो गया है, अर्थात् हे शिष्य, तू सबको समान जान ॥ भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे संसारीअवस्थामें मत्यादि ज्ञान, और चक्षुरादि दर्शन जीवके लक्षण कहे हैं, तो भी निश्चयनयकर

केवलज्ञानं च लक्षणं भाषितम् । कैः जिनवरैः । तेण ण किज्जइ भेउ तहं तेन कारणेन व्यवहारेण देहभेदेऽपि केवलज्ञानदर्शनरूपनिश्चयलक्षणेन तेषां न क्रियते भेदः । यदि किम् । जइ मणि जाउ बिहाणु यदि चेन्मनसि वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानादित्योदयेन जातः । कोऽसौ । प्रभातसमय इति । अत्र यद्यपि षोडशवर्णिकालक्षणं बहूनां सुवर्णानां मध्ये समानं तथाप्येकस्मिन् सुवर्णे गृहीते शेषसुवर्णानि सहैव नायान्ति । कस्मात् । भिन्नभिन्नप्रदेशत्वात् । तथा यद्यपि केवलज्ञानदर्शनलक्षणं समानं सर्वजीवानां तथाप्येकस्मिन् विवक्षितजीवे पृथक्कृते शेषजीवाः सहैव नायान्ति । कस्मात् । भिन्नप्रदेशत्वात् । तेन कारणेन ज्ञायते यद्यपि केवलज्ञानदर्शनं समानं तथापि प्रदेशभेदोऽस्तीति भावार्थः ॥ ९८ ॥

अथ शुद्धात्मनां जीवजातिरूपेणैकत्वं दर्शयति—

बंभहं सुवणि वसंताहं जे णवि भेउ करंति ।

ते परमप्प-पयासयर जोइय विमलु मुणंति ॥ ९९ ॥

ब्रह्मणां भुवने वसतां ये नैव भेदं कुर्वन्ति ।

ते परमात्मप्रकाशकराः योगिन् विमलं जानन्ति ॥ ९९ ॥

बंभहं इत्यादि । बंभहं ब्रह्मणः शुद्धात्मनः । किं कुर्वतः । सुवणि वसंताहं भुवने त्रिभुवने वसतः तिष्ठतः जे णवि भेउ करंति ये नैव भेदं कुर्वन्ति । केन । शुद्धसंग्रहनेन ते परमप्पपयासयर ते ज्ञानिनः परमात्मस्वरूपस्य प्रकाशकाः सन्तः जोइय हे योगिन् अथवा

केवलदर्शन केवलज्ञान ये ही लक्षण हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेवने वर्णन किया है । इसलिये व्यवहारनयकर देह-भेदसे भी भेद नहीं है, केवलज्ञानदर्शनरूप निजलक्षणकर सब समान हैं, कोई भी बड़ा छोटा नहीं है । तेरे मनमें वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूप सूर्यका उदय हुआ है, और मोह-निद्राके अभावसे आत्म-बोधरूप प्रभात हुआ है, तो तू सबोंको समान देख । जैसे यद्यपि सोलहवानीके सोने सब समान वृत्त हैं, तो भी उन सुवर्ण-राशियोंमेंसे एक सुवर्णको ग्रहण किया, तो उसके ग्रहण करनेसे सब सुवर्ण साथ नहीं आते, क्योंकि सबके प्रदेश भिन्न हैं, उसी प्रकार यद्यपि केवलज्ञान दर्शन लक्षण सब जीव समान हैं, तो भी एक जीवका ग्रहण करनेसे सबका ग्रहण नहीं होता । क्योंकि प्रदेश सबके भिन्न भिन्न हैं, इससे यह निश्चय हुआ, कि यद्यपि केवलज्ञान दर्शन लक्षणसे सब जीव समान हैं, तो भी प्रदेश सबके जुदे जुदे हैं, यह तात्पर्य जानना ॥९८॥

आगे जातिके कथनसे सब जीवोंकी एक जाति है, परंतु द्रव्य अनन्त हैं, ऐसा दिखलते हैं—[भुवने] इस लोकमें [वसतः] रहनेवाले [ब्रह्मणः] जीवोंका [भेद] भेद [ये] जो [नैव] नहीं [कुर्वन्ति] करते हैं, [ते] वे [परमात्मप्रकाशकराः] परमात्माके प्रकाश करनेवाले [योगिन्] हे योगी, [विमलं] अपने निर्मल आत्माको [जानंति] जानते हैं । इसमें संदेह नहीं है ॥ भावार्थ—यद्यपि जीव-राशिकी अपेक्षा जीवोंकी एकता है, तो भी प्रदेशभेदसे प्रगटरूप सब जुदे जुदे

बहुवचनेन हे योगिनः । किं कुर्वन्ति । विमलं मुणंति विमलं संशयादिरहितं शुद्धात्मस्वरूपं मन्यन्ते जानन्तीति । तद्यथा । यद्यपि जीवराश्यपेक्षया तेषामेकत्वं भण्यते तथापि व्यक्त्यपेक्षया प्रदेशभेदेन भिन्नत्वं नगरस्य गृहादिपुरुषादिभेदवत् । कश्चिदाह । यथैकोऽपि चन्द्रमा बहुजलघटेषु भिन्नभिन्नरूपेण दृश्यते तथैकोऽपि जीवो बहुशरीरेषु भिन्नभिन्नरूपेण दृश्यत इति । परिहारमाह । बहुषु जलघटेषु चन्द्रकिरणोपाधिवशेन जलपुद्गला एव चन्द्राकारेण परिणता न चाकाशस्थ-¹⁵ चन्द्रमाः । अत्र दृष्टान्तमाह । यथा देवदत्तमुखोपाधिवशेन नानादर्पणानां पुद्गला एव नानामुखाकारेण परिणमन्ति न च देवदत्तमुखं नानारूपेण परिणमति । यदि परिणमति तदा दर्पणस्थं मुख-प्रतिबिम्बं चेतनत्वं प्राप्नोति, न च तथा, तथैकचन्द्रमा अपि नानारूपेण न परिणमतीति । किं च न चैको ब्रह्मनामा कोऽपि दृश्यते प्रत्यक्षेण यश्चन्द्रब्रह्मनारूपेण भविष्यति इत्यभिप्रायः ॥९९॥

अथ सर्वजीवविषये समदर्शित्वं मुक्तिकारणमिति प्रकटयति—

राय-दोस बे परिहरिवि जे सम जीव णियंति ।

ते सम-भावि परिद्विया लहु णिन्वाण लहंति ॥ १०० ॥

हैं । जैसे वृक्ष जातिकर वृक्षोंका एकपना हैं, तो भी सब वृक्ष जुदे जुदे हैं, और पहाड़-जातिसे सब पहाड़ोंका एकत्व है, तो भी सब जुदे जुदे हैं, तथा रत्न-जातिसे रत्नोंका एकत्व हैं, परन्तु सब रत्न पृथक् पृथक् हैं, घट-जातिकी अपेक्षा सब घटोंका एकपना है, परन्तु सब जुदे जुदे हैं, और पुरुष-जातिकर सबकी एकता है, परन्तु सब अलग अलग हैं । उसी प्रकार जीव-जातिकी अपेक्षासे सब जीवोंका एकपना है, तो भी प्रदेशोंके भेदसे सब ही जीव जुदे जुदे हैं । इस पर कोई परवादी प्रश्न करता है, कि जैसे एक ही चन्द्रमा जलके भरे बहुत घडोंमें जुदा जुदा भासता है, उसी प्रकार एक ही जीव बहुत शरीरोंमें भिन्न भिन्न भास रहा है । उसका श्रीगुरु समाधान करते हैं—जो बहुत जलके घडोंमें चन्द्रमाकी किरणोंकी उपाधिसे जल-जातिके पुद्गल ही चन्द्रमाके आकारमें परिणत हो गये हैं, लेकिन आकाशमें स्थित चन्द्रमा तो एक ही है, चन्द्रमा तो बहुत स्वरूप नहीं हो गया । उनका दृष्टान्त देते हैं । जैसे कोई देवदत्तनामा पुरुष उसके मुखकी उपाधि (निमित्त) से अनेक प्रकारके दर्पणोंसे शोभायमान काँचका महल उसमें वे काँचरूप पुद्गल ही अनेक मुखके आकारमें परिणत हुए हैं, कुछ देवदत्तका मुख अनेकरूप नहीं परिणत हुआ है, मुख एक ही है । यदि कदाचित् देवदत्तका मुख अनेकरूप परिणमन करे, तो दर्पणमें तिष्ठते हुए मुखोंके प्रतिबिम्ब चेतन हो जावें । परन्तु चेतन नहीं होते, जड ही रहते हैं, उसी प्रकार एक चन्द्रमा भी अनेकरूप नहीं परिणमता । वे जलरूप पुद्गल ही चन्द्रमाके आकारमें परिणत हो जाते हैं । इसलिए ऐसा निश्चय समझना, कि जो कोई ऐसा कहते हैं, कि एक ही ब्रह्मके नानारूप दीखते हैं । यह कहना ठीक नहीं है । जीव जुदे जुदे हैं ॥९९॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि सब ही जीव द्रव्यसे तो जुदे जुदे हैं, परन्तु जातिसे एक हैं, और गुणों कर समान हैं, ऐसी धारणा करना मुक्तिका कारण है—[ये] जो [रागद्वेषौ] राग और द्वेषको

रागद्वेषौ द्वौ परिहृत्य ये समान् जीवान् पश्यन्ति ।

ते समभावे प्रतिष्ठिताः लघु निर्वाणं लभन्ते ॥ १०० ॥

राग इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । रागदोष वे परिहरिवि वीतराग-
निजानन्दैकस्वरूपस्वशुद्धात्मद्रव्यभावनाविलक्षणौ रागद्वेषौ परिहृत्य जे ये केचन सम जीव
णियंति सर्वसाधारणकेवलज्ञानदर्शनलक्षणेन समानान् सदृशान् जीवान् निर्गच्छन्ति जानन्ति ते
ते पुरुषाः । कथंभूताः । समभावि परिद्विया जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखादिसमता-
भावनारूपे समभावे प्रतिष्ठिताः सन्तः लघु णिव्वाणु लहंति लघु शीघ्रं आत्यन्तिकस्वभावै-
काचिन्त्याद्भुतकेवलज्ञानादिगुणास्पदं निर्वाणं लभन्त इति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा रागद्वेषौ
त्यक्त्वा च शुद्धात्मानुभूतिरूपा समभावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ १०० ॥

अथ सर्वजीवसाधारणं केवलज्ञानदर्शनलक्षणं प्रकाशयति—

जीवहं दंसणु णाणु जिय लक्खणु जाणइ जो जि ।

देह-विभेएँ भेउ तहँ णाणि कि मण्णइ सो जि ॥ १०१ ॥

जीवानां दर्शनं ज्ञानं जीव लक्षणं जानाति य एव ।

देहविभेदेन भेदं तेषां ज्ञानी किं मन्यते तमेव ॥ १०१ ॥

जीवहं इत्यादि । जीवहं जीवानां दंसणु णाणु जगत्रयकालत्रयवर्तिसमस्तद्रव्यगुणपर्या-
याणां क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन परिच्छित्तिसमर्थं विशुद्धदर्शनं ज्ञानं च । जिय हे जीव लक्खणु

[परिहृत्य] दूर करके [जीवाः समाः] सब जीवोंको समान [निर्गच्छन्ति] जानते हैं, [ते] वे
साधु [समभावे] समभावमें [प्रतिष्ठिताः] विराजमान [लघु] शीघ्र ही [निर्वाणं] मोक्षको
[लभन्ते] पाते हैं ॥ भावार्थ—वीतराग निजानन्दस्वरूप जो निज आत्मद्रव्य उसकी भावनासे विमुख
जो राग द्वेष उनको छोड़कर जो महान् पुरुष केवलज्ञान दर्शन लक्षणकर सब ही जीवोंको समान
गिनते हैं, वे पुरुष समभावमें स्थित शीघ्र ही शिवपुरको पाते हैं । समभावका लक्षण ऐसा है, कि
जीवित, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःखादि सबको समान जानें । जो अनन्त सिद्ध हुए और
होवेंगे, यह सब समभावका प्रभाव है । समभावसे मोक्ष मिलता है । कैसा है वह मोक्षस्थान, जो
अत्यंत अद्भुत अचिन्त्य केवलज्ञानादि अनन्त गुणोंका स्थान है । यहाँ यह व्याख्यान जानकर राग
द्वेषको छोड़कर शुद्धात्माके अनुभवरूप जो समभाव उसका सेवन सदा करना चाहिये । यही इस
ग्रंथका अभिप्राय है ॥१००॥

आगे सब जीवोंमें केवलज्ञान और केवलदर्शन साधारण लक्षण हैं, इनके बिना कोई जीव नहीं
है । ये गुण शक्तिरूप सब जीवोंमें पाये जाते हैं, ऐसा कहते हैं—[जीवानां] जीवोंके [दर्शनं ज्ञानं]
दर्शन और ज्ञान [लक्षणं] निज लक्षणको [य एव] जो कोई [जानाति] जानता हैं, [जीव] हे
जीव, [स एव ज्ञानी] वही ज्ञानी [देहविभेदेन] देहके भेदसे [तेषां भेदं] उन जीवोंके भेदको
[किं मन्यते] क्या मान सकता है ? नहीं मान सकता ॥ भावार्थ—तीन लोक और तीन कालवर्त्ती

जाणइ जो जि लक्षणं जानाति य एव देहविभेदं भेद तहं देहविभेदेन भेदं तेषां जीवानां, देहोद्भवविषयसुखरसास्वादविलक्षणशुद्धात्मभावनारहितेन जीवेन यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयेनोत्पन्नेन देहभेदेन जीवानां भेदं णाणि किं मण्णइ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी किं मन्यते । नैव । कम् । सो जि तमेव पूर्वोक्तं देहभेदमिति । अत्र ये केचन ब्रह्माद्वैतवादिनो नानाजीवान् मन्यन्ते तन्मतेन विवक्षितैकजीवस्य जीवितमरणसुखदुःखादिके जाते सर्वजीवानां तस्मिन्नेव क्षणे जीवितमरणसुखदुःखादिकं प्राप्नोति । कस्मादिति चेत् । एकजीवत्वादिति । न च तथा दृश्यते इति भावार्थः ॥ १०१ ॥

अथ जीवानां निश्चयनयेन योऽसौ देहभेदेन भेदं करोति स जीवानां दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं न जानातीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं कथयति—

देह-विभेयइं जो कुणइ जीवहँ भेउ विचिन्तु ।

सो णवि लक्खणु मुणइ तहँ दंसणु णाणु चरिन्तु ॥ १०२ ॥

देहविभेदेन यः करोति जीवानां भेदं विचित्रम् ।

स नैव लक्षणं मनुते तेषां दर्शनं ज्ञानं चारित्रम् ॥ १०२ ॥

देह इत्यादि । देहविभेयइं देहममलमूलभूतानां ख्यातिपूजालाभस्वरूपादीनां अपध्यानानां विपरीतस्य स्वशुद्धात्मध्यानस्याभावे यानि कृतानि कर्माणि तदुदयजनितेन देहभेदेन जो कुणइ

समस्त द्रव्य गुण पर्यायोंको एक ही समयमें जाननेमें समर्थ जो केवलदर्शन केवलज्ञान है, उसे निज लक्षणोंसे जो कोई जानता है, वही सिद्धपद पाता है । जो ज्ञानी अच्छी तरह इन निज लक्षणोंको जान लेवे वह देहके भेदसे जीवोंका भेद नहीं मान सकता । अर्थात् देहसे उत्पन्न जो विषयसुख उनके रसके आस्वादसे विमुख शुद्धात्माकी भावनासे रहित जो जीव उसने उपार्जन किये जो ज्ञानावरणादिकर्म, उनके उदयसे उत्पन्न हुए देहादिकके भेदसे जीवोंका भेद, वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी कदापि नहीं मान सकता । देहमें भेद हुआ तो क्या, गुणसे सब समान हैं, और जीव-जातिकर एक हैं । यहाँ पर जो कोई ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती नाना जीवोंको नहीं मानते हैं, और वे एक ही जीव मानते हैं, उनकी यह बात अप्रमाण है । उनके मतमें एक ही जीवके माननेसे बड़ा भारी दोष होता है । वह इस तरह है, कि एक जीवके जीने मरने सुख दुःखादिके होनेपर सब जीवोंके उसी समय जीना, मरना, सुख, दुःखादि होना चाहिये, क्योंकि उनके मतमें वस्तु एक है । परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता । इसलिये उनका वस्तु एक मानना वृथा है, ऐसा जानो ॥१०१॥

आगे जीवको ही जानते हैं, परन्तु उसके लक्षण नहीं जानते, यह अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं—[यः] जो [देहविभेदेन] शरीरोके भेदसे [जीवानां] जीवोंका [विचित्रं] नानारूप [भेदं] भेद [करोति] करता है, [स] वह [तेषां] उन जीवोंका [दर्शनं ज्ञानं चारित्रं] दर्शन ज्ञान चारित्र [लक्षणं] लक्षण [नैव मनुते] नहीं जानता, अर्थात् उसको गुणोंकी परीक्षा (पहचान) नहीं

यः करोति । कम् । जीवहं भेद विचिन्तु जीवानां भेदं विचित्रं नरनारकादिदेहरूपं, सो णवि लक्खणु मुणइ तहं स नैव लक्षणं मनुते तेषां जीवानाम् । किंलक्षणम् । दंसणु णाणु चरिन्तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमिति । अत्र निश्चयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणानां जीवानां ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यचाण्डालादिदेहभेदं दृष्ट्वा रागद्वेषौ न कर्तव्याविति तात्पर्यम् ॥ १०२ ॥

अथ शरीराणि बादरसूक्ष्माणि विधिवशेन भवन्ति न च जीवा इति दर्शयति—

अंगइं सुहुमइं बादरइं विहि-वसिं होति जे बाल ।

जिय पुणु सयल वि तित्ताडा सव्वत्थ वि सय-काल ॥ १०३ ॥

अङ्गानि सूक्ष्माणि बादराणि विधिवशेन भवन्ति ये बालाः ।

जीवाः पुनः सकला अपि तावन्तः सर्वत्रापि सदाकाले ॥ १०३ ॥

अंगइं इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । अंगइं सुहुमइं बादरइं अङ्गानि सूक्ष्मबादराणि जीवानां विहिवसिं होति विधिवशाद्भवन्ति अङ्गोद्भवपञ्चेन्द्रियविषयकांक्षा-मूलभूतानि दृष्टश्रुतानुभूतभोगवाठळारूपनिदानबन्धादीनि यान्यपध्यानानि, तद्विलक्षणा यासौ स्वशुद्धात्मभावना तद्रहितेन जीवेन यदुपार्जितं विधिसंज्ञं कर्म तद्वशेन भवन्त्येव । न केवल-

है ॥ भावार्थ—देहके ममत्वके मूल कारण ख्याति (अपनी बड़ाई) पूजा और लाभरूप जो आर्त रौद्रस्वरूप खोटे ध्यान उनसे रहित निज शुद्धात्माका ध्यान उसके अभावसे इस जीवने उपार्जन किये जो शुभ अशुभ कर्म उनके उदयसे उत्पन्न जो शरीर है, उसके भेदसे भेद मानता है, उसको दर्शनादि गुणोंकी गम्य नहीं है । यद्यपि पापके उदयसे नरक-योनि, पुण्यके उदयसे देवोंका शरीर और शुभाशुभ मिश्रसे नर-देह तथा मायाचारसे पशुका शरीर मिलता है, अर्थात् इन शरीरोंके भेदोंसे जीवोंकी अनेक चेष्टायें देखी जाती हैं, परंतु दर्शन ज्ञान लक्षणसे सब तुल्य हैं । उपयोग लक्षणके बिना कोई जीव नहीं है । इसलिये ज्ञानीजन सबको समान जानते हैं । निश्चयनयसे दर्शन ज्ञान चारित्र जीवोंके लक्षण हैं, ऐसा जानकर ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र चाण्डालादि देहके भेद देखकर राग द्वेष नहीं करना चाहिये । सब जीवोंसे मैत्रीभाव करना यही तात्पर्य है ॥१०२॥

आगे सूक्ष्म बादर शरीर जीवोंके कर्मके सम्बंधसे होते हैं, सो सूक्ष्म बादर स्थावर जंगम ये सब शरीरके भेद हैं, जीव तो चिद्रूप है, सब भेदोंसे रहित है, ऐसा दिखलाते हैं—[सूक्ष्माणि] सूक्ष्म [बादराणि] और बादर [अंगानि] शरीर [ये] तथा जो [बालाः] बाल वृद्ध तरुणादि अवस्थायें [विधिवशेन] कर्मोंसे [भवन्ति] होती हैं, [पुनः] और [जीवाः] जीव तो [सकला अपि] सभी [सर्वत्र] सब जगह [सर्वकाले अपि] और सब कालमें [तावन्तः] उतने प्रमाण ही अर्थात् असंख्यात-प्रदेशी ही है । भावार्थ—जीवोंके शरीर व बाल वृद्धादि अवस्थायें कर्मोंके उदयसे होती हैं । अर्थात् अंगोंसे उत्पन्न हुए जो पंचेंद्रियोंके विषय उनकी वांछा जिनका मूल कारण है, ऐसे देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछारूप निदान बंधादि खोटे ध्यान उनसे विमुख जो शुद्धात्माकी भावना उससे रहित

मङ्गानि भवन्ति जे बाल ये बालवृद्धादिपर्यायाः तेऽपि विधिवशेनैव । अथवा संबोधनं हे बाल अज्ञान । जिय पुणु सयल वि तित्तडा जीवाः पुनः सर्वेऽपि तत्प्रमाणा द्रव्यप्रमाणं प्रत्यनन्ताः, क्षेत्रापेक्षयापि पुनरेककोऽपि जीवो यद्यपि व्यवहारेण स्वदेहमात्रस्तथापि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितसंख्येयप्रदेशप्रमाणः । क । सच्चत्थ वि सर्वत्र लोके । न केवलं लोके सयकाल सर्वत्र कालत्रये तु । अत्र जीवानां बादरसूक्ष्मादिकं व्यवहारेण कर्मकृतभेदं दृष्ट्वा विशुद्धदर्शनज्ञानलक्षणापेक्षया निश्चयनयेन भेदो न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ १०३ ॥

अथ जीवानां शत्रुमित्रादिभेदं यः न करोति स निश्चयनयेन जीवलक्षणं जानातीति प्रतिपादयति—

सत्तु वि मित्तु वि अप्पु परु जीव असेसु वि एइ ।

एक्कु करेविणु जो मुणइ सो अप्पा जाणेइ ॥ १०४ ॥

शत्रुरपि मित्रमपि आत्मा परः जीवा अशेषा अपि एते ।

एकत्वं कृत्वा यो मनुते स आत्मानं जानाति ॥ १०४ ॥

सत्तु वि इत्यादि । सत्तु वि शत्रुरपि मित्तु वि मित्रमपि जीव असेसु वि जीवा अशेषा अपि एइ एते प्रत्यक्षीभूताः एक्कु करेविणु जो मुणइ एकत्वं कृत्वा यो मनुते शत्रुमित्रजीवित-मरणलाभादिसमताभावनारूपवीतरागपरमसामायिकं कृत्वा योऽसौ जीवानां शुद्धसंग्रहनयेनैकत्वं

इस जीवने उपार्जन किये शुभाशुभ कर्मोंके योगसे ये चतुर्गतिके शरीर होते हैं, और बाल वृद्धादि अवस्थायें होती हैं । ये अवस्थायें कर्मजनित हैं, जीवकी नहीं है । हे अज्ञानी जीव, यह बात तू निःसंदेह जान । ये सभी जीव द्रव्य-प्रमाणसे अनन्त हैं, क्षेत्रकी अपेक्षा एक एक जीव यद्यपि व्यवहारनयकर अपने मिले हुए देहके प्रमाण हैं, तो भी निश्चयनयकर लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी हैं । सब लोकमें सब कालमें जीवोंका यही स्वरूप जानना । बादर सूक्ष्मादि भेद कर्मजनित होना समझकर (देखकर) जीवोंमें भेद मत जानो । विशुद्ध ज्ञान दर्शनकी अपेक्षा सब ही जीव समान हैं, कोई भी जीव दर्शन ज्ञान रहित नहीं है, ऐसा जानना ॥१०३॥

आगे जो जीवोंके शत्रु मित्रादि भेद नहीं करता है, वह निश्चयकर जीवका लक्षण जानता है, ऐसा कहते हैं—[एते अशेषा अपि] ये सभी [जीवाः] जीव हैं, उनमेंसे [शत्रुरपि] कोई एक किसीका शत्रु भी है, [मित्रं अपि] मित्र भी है, [आत्मा] अपना है, और [परः] दूसरा है । ऐसा व्यवहारसे जानकर [यः] जो ज्ञानी [एकत्वं कृत्वा] निश्चयसे एकपना करके अर्थात् सबमें समदृष्टि रखकर [मनुते] समान मानता है, [सः] वही [आत्मानं] आत्माके स्वरूपको [जानाति] जानता है ॥ भावार्थ—इन संसारी जीवोंमें शत्रु आदि अनेक भेद दीखते हैं, परंतु जो ज्ञानी सबको एक दृष्टिसे देखता है—समान जानता है; शत्रु, मित्र, जीवित, मरण, लाभ, अलाभ आदि सबोंमें समभावरूप जो वीतराग परमसामायिकचारित्र उसके प्रभावसे जो जीवोंको शुद्ध संग्रहनयकर जानता है, सबको समान मानता है, वही अपने निज स्वरूपको जानता है । जो

मन्यते सो अप्पा जाणेइ स वीतरागसहजानन्दैकस्वभावं शत्रुमित्रादिविकल्पकलोलमालारहित-
मात्मानं जानातीति भावार्थः ॥ १०४ ॥

अथ योऽसौ सर्वजीवान् समानान्न मन्यते तस्य समभावो नास्तीत्यावेदयति—

जो णवि मण्णइ जीव जिय सयल चि एक-सहाव ।

तासु ण थक्कइ भाउ समु भव-सायरि जो णाव ॥ १०५ ॥

यो नैव मन्यते जीवान् जीव सकलानपि एकस्वभावान् ।

तस्य न तिष्ठति भावः समः भवसागरे यः नौः ॥ १०५ ॥

जो णवि इत्यादि । जो णवि मण्णइ यो नैव मन्यते । कान् । जीव जीवान् जिय हे जीव । कतिसंख्योपेतान् । सयल चि समस्तानपि । कथंभूतान्न मन्यते । एकसहाव वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा सकलविमलकेवलज्ञानादिगुणैर्निश्चयेनैकस्वभावान् । तासु ण थक्कइ भाउ समु तस्य न तिष्ठति समभावः । कथंभूतः । भवसायरि जो णाव संसारसमुद्रे यो नावस्तरणोपायभूता नौरिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा रागद्वेषमोहान् मुक्त्वा च परमोपशम-भावरूपे शुद्धात्मनि स्थातव्यमित्यभिप्रायः ॥ १०५ ॥

अथ जीवानां योऽसौ भेदः स कर्मकृत इति प्रकाशयति—

जीवहँ भेउ जि कम्म-किउ कम्मु चि जीउ ण होइ ।

जेण विभिण्णउ होइ तहँ कालु लहेविणु कोइ ॥ १०६ ॥

जीवानां भेद एव कर्मकृतः कर्म अपि जीवो न भवति ।

येन विभिन्नः भवति तेभ्यः कालं लब्ध्वा कमपि ॥ १०६ ॥

निजस्वरूप, वीतराग सहजानन्द एक स्वभाव तथा शत्रु मित्र आदि विकल्प-जालसे रहित है, ऐसे निजस्वरूपको समताभावके विना नहीं जान सकता ॥१०४॥

आगे जो सब जीवोंको समान नहीं मानता, उसके समभाव नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—
[जीव] हे जीव, [यः] जो [सकलानपि] सभी [जीवान्] जीवोंको [एकस्वभावान्] एक स्वभाववाले [नैव मन्यते] नहीं जानता, [तस्य] उस अज्ञानीके [समः भावः] समभाव [न तिष्ठति] नहीं रहता, [यः] जो समभाव [भवसागरे] संसार-समुद्रके तैरनेको [नौः] नावके समान है ॥
भावार्थ—जो अज्ञानी सब जीवोंको समान नहीं मानता, अर्थात् वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें स्थित होकर सबको समान दृष्टिसे नहीं देखता, सकल ज्ञायक परम निर्मल केवलज्ञानादि गुणोंकर निश्चयनयसे सब जीव एकसे हैं, ऐसी जिसके श्रद्धा नहीं है, उसके समभाव नहीं उत्पन्न हो सकता ऐसा निःसंदेह जानो । कैसा है समभाव ? जो संसारसमुद्रसे तारनेके लिये जहाजके समान है । यहाँ ऐसा व्याख्यान जानकर राग द्वेष मोहको तजकर परमशांतभावरूप शुद्धात्मामें लीन होना योग्य है ॥१०५॥

आगे जीवोंमें जो भेद हैं, वह सब कर्मजनित हैं, ऐसा प्रगट करते हैं—[जीवानां] जीवोंमें [भेदः] नर नारकादि भेद [कर्मकृत एव] कर्मोंसे ही किया गया है, और [कर्म अपि] कर्म भी

जीवहं इत्यादि । जीवहं जीवानां भेद जि भेद एव कम्मकिउ निर्भेदशुद्धात्मविलक्षणेन कर्मणा कृतः, कम्मू वि जीउ ण होइ ज्ञानावरणादिकर्मैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं जीवस्वरूपं न भवति । कस्मान्न भवतीति चेत् । जेण विभिण्णउ होइ तहं येन कारणेन विभिन्नो भवति तेभ्यः कर्मभ्यः । किं कृत्वा । कालु लहेविणु कोइ वीतरागपरमात्मानुभूतिसहकारि-कारणभूतं कमपि कालं लब्ध्वेति । अयमत्र भावार्थः । टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकशुद्धजीवस्वभावाद्वि-लक्षणं मनोज्ञामनोज्ञस्त्रीपुरुषादिजीवभेदं दृष्ट्वा रागाद्यपध्यानं न कर्तव्यमिति ॥ १०६ ॥

अतः कारणात् शुद्धसंग्रहेण भेदं मा कार्षीरिति निरूपयति—

एक्कु करे मण बिण्णि करि मं करि वण्ण-विसेसु ।

इक्कहँ देवहँ जे वसइ तिहुयणु एक्कु असेसु ॥ १०७ ॥

एकं कुरु मा द्वौ कुरु मा कुरु वर्णविशेषम् ।

एकेन देवेन येन वसति त्रिभुवनं एतद् अशेषम् ॥ १०७ ॥

एकु करे इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । एक्कु करे सेनावनादिवज्जीव-जात्यपेक्षया सर्वमेकं कुरु । मण बिण्णि करि मा द्वौ कार्षीः । मं करि वण्णविसेसु

[जीवः] जीव [न भवति] नहीं हो सकता । [येन] क्योंकि वह जीव [कमपि] किसी [कालं] समयको [लब्ध्वा] पाकर [तेभ्यः] उन कर्मोंसे [विभिन्नः] जुदा [भवति] हो जाता है । भावार्थ—कर्म शुद्धात्मासे जुदे हैं, शुद्धात्मा भेद कल्पनासे रहित है । ये शुभाशुभ कर्म जीवका स्वरूप नहीं है, जीवका स्वरूप तो निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव है । अनादिकालसे यह जीव अपने स्वरूपको भूल रहा है, इसलिये रागादि अशुद्धोपयोगसे कर्मको बाँधता है । सो कर्मका बंध अनादिकालका है । इस कर्मबंधसे कोई एक जीव वीतराग परमात्माकी अनुभूतिके सहकारी कारणरूप जो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका समय उसको पाकर उन कर्मोंसे जुदा हो जाता है । कर्मोंसे छूटनेका यही उपाय है । जब जीवके भवस्थिति समीप (थोड़ी) रही हो तभी सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, और जब सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे, तभी कर्म कलंकसे छूट सकता है । तात्पर्य यह है कि जो टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक एक शुद्ध स्वभाव उससे विलक्षण जो स्त्री पुरुषादि शरीरके भेद उनको देखकर रागादि छोटे ध्यान नहीं करने चाहिए ॥१०६॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि तू शुद्ध संग्रहनयकर जीवोंमें भेद मत कर—[एकं कुरु] हे आत्मन्, तू जातिकी अपेक्षा सब जीवोंको एक जान, [मा द्वौ कार्षीः] इसलिये राग और द्वेष मत कर, [वर्णविशेषं] मनुष्य जातिकी अपेक्षा ब्राह्मणादि वर्णभेदको भी [मा कार्षीः] मत कर, [येन] क्योंकि [एकेन देवेन] अभेदनयसे शुद्ध आत्माके समान [एतद् अशेषं] ये सब [त्रिभुवनं] तीनलोकमें रहनेवाली जीवराशि [वसति] ठहरी हुई है, अर्थात् जीवपनेसे सब एक है । भावार्थ—सब जीवोंकी एक जाति है । जैसे सेना और वन एक है, वैसे जातिकी अपेक्षा सब जीव एक है । नर नारकादि भेद और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि वर्ण भेद सब कर्मजनित हैं, अभेदनयसे सब जीवोंको एक

मनुष्यजात्यपेक्षया ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिवर्णभेदं मा कार्षीः, यतः कारणात् इकङ्कं देवइं एकेन देवेन अभेदनयापेक्षया शुद्धैकजीवद्रव्येण जे येन कारणेन बसइ बसति । किं कर्तु । तिहुयणु त्रिभुवनं त्रिभुवनस्थो जीवराशिः एहु एषः प्रत्यक्षीभूतः । कतिसंख्योपेतः । असेसु अशेषं समस्त इति । त्रिभुवनग्रहणेन इह त्रिभुवनस्थो जीवराशिर्गृह्यते इति तात्पर्यम् । तथाहि । लोकस्तावदयं सूक्ष्मजीवैर्निरन्तरं भूतस्तिष्ठति । बादरैश्चाधारवशेन कचिदेव त्रसैः कचिदपि । तथा ते जीवाः शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शक्त्यपेक्षया केवलज्ञानादिगुण-रूपास्तेन कारणेन स एव जीवराशिः यद्यपि व्यवहारेण कर्मकृतस्तिष्ठति तथापि निश्चयनयेन शक्तिरूपेण परमब्रह्मस्वरूपमिति भण्यते, परमविष्णुरिति भण्यते, परमशिव इति च । तेनैव कारणेन स एव जीवराशिः केचन परमब्रह्ममयं जगद्वदन्ति, केचन परमविष्णुमयं वदन्ति, केचन पुनः परमशिवमयमिति च । अत्राह शिष्यः । यद्येवंभूतं जगत्संमतं भवतां तर्हि परेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिः । परिहारमाह । यदि पूर्वोक्तनयविभागेन केवलज्ञानादिगुणापेक्षया वीतराग-सर्वज्ञप्रणीतमार्गेण मन्यन्ते तदा तेषां दूषणं नास्ति, यदि पुनरेकः पुरुषविशेषो व्यापी जगत्कर्ता

जानो । अनंत जीवोंकर यह लोक भरा हुआ हैं । उस जीव राशिमें भेद ऐसे हैं—जो पृथ्वीकायसूक्ष्म, जलकायसूक्ष्म, अग्निकायसूक्ष्म, वायुकायसूक्ष्म, नित्यनिगोदसूक्ष्म, इतरनिगोदसूक्ष्म इन छह तरहके सूक्ष्म जीवोंकर तो यह लोक निरंतर भरा हुआ है, सब जगह इस लोकमें सूक्ष्म जीव हैं । और पृथ्वीकायबादर, जलकायबादर, अग्निकायबादर, वायुकायबादर, नित्यनिगोदबादर, इतरनिगोद-बादर, और प्रत्येकवनस्पति ये जहाँ आधार हैं वहाँ हैं । सो कहीं पाये जाते हैं, कहीं नहीं पाये जाते, परंतु ये भी बहुत जगह हैं । इस प्रकार स्थावर तो तीनों लोकमें पाये जाते हैं, और दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यच ये मध्यलोकमें ही पाये जाते हैं, अधोलोक ऊर्ध्वलोकमें नहीं । उनमेंसे दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय जीव कर्मभूमिमें ही पाये जाते हैं, भोगभूमिमें नहीं । भोगभूमिमें गर्भज पंचेन्द्रिय सेनी थलचर या नभचर ये दोनों जाति-तिर्यच हैं । मनुष्य मध्यलोकमें ढाई द्वीपमें पाये जाते हैं, अन्य जगह नहीं । देवलोकमें स्वर्गवासी देव देवी पाये जाते हैं, अन्य पंचेन्द्रिय नहीं । पाताललोकमें ऊपरके भागमें भवनवासीदेव तथा व्यंतरदेव और नीचेके भागमें सात नरकोके नारकी पंचेन्द्रिय हैं, अन्य कोई नहीं और मध्यलोकमें भवनवासी व्यंतरदेव तथा ज्योतिषीदेव ये तीन जातिके देव और तिर्यच पाये जाते हैं । इस प्रकार त्रसजीव किसी जगह है, किसी जगह नहीं है । इस तरह यह लोक जीवोंसे भरा हुआ है । सूक्ष्मस्थावरके बिना तो लोकका कोई भाग खाली नहीं है, सब जगह सूक्ष्मस्थावर भरे हुए हैं । ये सभी जीव शुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर शक्तिकी अपेक्षा केवलज्ञानादि गुणरूप हैं । इसलिए यद्यपि यह जीव राशि व्यवहारनयकर कर्माधीन है, तो भी निश्चयनयकर शक्तिरूप परब्रह्मस्वरूप है । इन जीवोंको ही परमविष्णु कहना, परमशिव कहना चाहिये । यही अभिप्राय लेकर कोई एक ब्रह्ममयी जगत कहते हैं, कोई एक विष्णुमयी कहते हैं, कोई एक शिवमयी कहते हैं । यहाँपर शिष्यने प्रश्न किया, कि

ब्रह्मादिनामास्तीति मन्यन्ते तदा तेषां दूषणम् । कस्माद् दूषणमिति चेत् । प्रत्यक्षादिप्रमाण-
बाधितत्वात् साधकप्रमाणप्रमेयचिन्ता तर्के विचारिता तिष्ठत्यत्र तु नोच्यते अध्यात्मशास्त्रादि-
त्यभिप्रायः ॥ १०७ ॥ इति षोडशवर्णिकासुवर्णदृष्टान्तेन केवलज्ञानादिलक्षणेन सर्वे जीवाः
समाना भवन्तीति व्याख्यानमुख्यतया त्रयोदशसूत्रैरन्तरस्थलं गतम् । एवं मोक्षमोक्षफलमोक्ष-
मार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये चतुर्भिरन्तरस्थलैः शुद्धोपयोगवीतरागस्वसंवेदनज्ञान-
परिग्रहत्यागसर्वजीवसमानताप्रतिपादनमुख्यत्वेनैकचत्वारिंशत्सूत्रैर्महास्थलं समाप्तम् ।

अत ऊर्ध्वं 'पर जाणंतु वि' इत्यादि सप्ताधिकशतसूत्रपर्यन्ते स्थलसंख्याबहिर्भूतान् प्रक्षेप-
कान् विहाय चूलिकाव्याख्यानं करोति इति—

पर जाणंतु वि परम-मुणि पर-संसर्गु चर्यन्ति ।

पर-संगइँ परमप्पयइँ लक्खइँ जेण चलन्ति ॥ १०८ ॥

परं जानन्तोऽपि परममुनयः परसंसर्गं त्यजन्ति ।

परसंगेन परमात्मनः लक्ष्यस्य येन चलन्ति ॥ १०८ ॥

पर जाणंतु वि इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । पर जाणंतु वि परद्रव्यं

तुम भी जीवोंको परब्रह्म मानते हो, तथा परमविष्णु परमशिव मानते हो, तो अन्यमतवालोंको क्यों
दूषण देते हो ? उसका समाधान—हम तो पूर्वोक्त नयविभागकर केवलज्ञानादि गुणकी अपेक्षा
वीतराग सर्वज्ञप्रणीत मार्गसे जीवोंको ऐसा मानते हैं, तो दूषण नहीं है । इस तरह वे नहीं मानते
हैं । वे एक कोई पुरुष जगतका कर्ता हर्ता मानते हैं । इसलिये उनको दूषण दिया जाता है, क्योंकि
जो कोई एक शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्त है, उस शुद्ध बुद्धको कर्ता हर्तापना हो ही नहीं सकता, और
इच्छा है वह मोहकी प्रकृति है । भगवान मोहसे रहित हैं, इसलिये कर्ताहर्ता नहीं हो सकते । कर्ता
हर्ता मानना प्रत्यक्ष विरोध है । हम तो जीव-राशिको परमब्रह्म मानते हैं, उसी जीवराशिसे लोक
भरा हुआ है । अन्यमती ऐसा मानते हैं, कि एक ही ब्रह्म अनंतरूप हो रहा है । जो वही एक
सबरूप हो रहा होवे, तो नरक निगोद स्थानको कौन भोगे ? इसलिये जीव अनंत हैं । इन जीवोंको
ही परमब्रह्म परमशिव कहते हैं, ऐसा तू निश्चयसे जान ॥१०७॥ इस प्रकार सोलहवानीके सोनेके
दृष्टान्तद्वारा केवलज्ञानादि लक्षणसे सब जीव समान हैं, इस व्याख्यानकी मुख्यतासे तेरह दोहा-सूत्र
कहे । इस तरह मोक्षमार्ग, मोक्षफल, और मोक्ष इन तीनोंको कहनेवाले दूसरे महाधिकारमें चार
अन्तरस्थलोंका इकतालीस दोहोंका महास्थल समाप्त हुआ । इनमें शुद्धोपयोग, वीतराग
स्वसंवेदनज्ञान, परिग्रह त्याग, और सब जीव समान हैं, ये कथन किया ।

आगे 'पर जाणंतु वि' इत्यादि एकसौ सात दोहा पर्यंत तीसरा महाधिकार कहते हैं, उसीमें
ग्रंथको समाप्त करते हैं—[परममुनयः] परममुनि [परं जानन्तोऽपि] उत्कृष्ट आत्मद्रव्यको जानते
हुए भी [परसंसर्गं] परद्रव्य जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म उसके सम्बंधको [त्यजन्ति] छोड़ देते
हैं [येन] क्योंकि [परसंसर्गेण] परद्रव्यके सम्बन्धसे [लक्ष्यस्य] ध्यान करने योग्य जो

जानन्तोऽपि । के ते । परममुणि वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरताः परममुनयः । किं कुर्वन्ति । परसंसर्गं चरन्ति परसंसर्गं त्यजन्ति निश्चयेनाभ्यन्तरे रागादिभावकर्म-ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्म-शरीरादिनोकर्म च बहिर्विषये मिथ्यात्तरागादिपरिणतासंवृतजनोऽपि परद्रव्यं भण्यते । तत्संसर्गं परिहरन्ति । यतः कारणात् परसंसर्गं [?] पूर्वोक्तबाह्याभ्यन्तरपरद्रव्यसंसर्गेण परमप्यहं वीतरागनित्यानन्दैकस्वभावपरमसमरसीभावपरिणतपरमात्मतत्त्वस्य । कथंभूतस्य । लक्ष्यहं लक्ष्यस्य ध्येयभूतस्य धनुर्विद्याभ्यासप्रस्तावे लक्ष्यरूपस्यैव जेण चलन्ति येन कारणेन चलन्ति त्रिगुप्तिसमाधेः सकाशात् च्युता भवन्तीति । अत्र परमध्यानविधातकत्वान्मिथ्यात्तरागादिपरिणामस्तत्परिणतः पुरुषरूपो वा परसंसर्गस्त्यजनीय इति भावार्थः ॥ १०८ ॥

अथ तमेव परद्रव्यसंसर्गत्यागं कथयति—

जो सम-भावहँ बाहिरउ तिँ सहु मं करि संगु ।

चिंता-सागरि पडहि पर अण्णु वि डज्झइ अंगु ॥ १०९ ॥

यः समभावाद् बाह्यः तेन सह मा कुरु संगम् ।

चिन्तासागरे पतसि परं अन्यदपि दह्यते अङ्गः ॥ १०९ ॥

जो इत्यादि । जो यः कोऽपि समभावहं बाहिरउ जीवितमरणलाभालाभादिसमभावानुकूलविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपसमभावबाह्यः । तिँ सहु मं करि संगु तेन सह संसर्गं मा कुरु हे आत्मन् । यतः किम् । चिन्तासागरि पडहि राग-

[परमात्मनः] परमपद उससे [चलन्ति] चलायमान हो जाते हैं ॥ भावार्थ—शुद्धोपयोगी मुनि वीतराग स्वसंवेदनज्ञानमें लीन हुए परद्रव्योंके साथ सम्बन्ध छोड़ देते हैं । अन्दरके विकार रागादि भावकर्म और बाहरके शरीरादि ये सब परद्रव्य कहे जाते हैं । वे मुनिराज एक आत्मभावके सिवाय सब परद्रव्यका संसर्ग (सम्बन्ध) छोड़ देते हैं । तथा रागी, द्वेषी, मिथ्यात्वी, असंयमी जीवोंका सम्बन्ध छोड़ देते हैं । इनके संसर्गसे परमपद जो वीतरागनित्यानन्द अमूर्तस्वभाव परमसमरसी-भावरूप जो परमात्मतत्त्व ध्यावने योग्य है, उससे चलायमान हो जाते हैं, अर्थात् तीन गुप्तिरूप परमसमाधिसे रहित हो जाते हैं । यहाँपर परमध्यानके घातक जो मिथ्यात्व रागादि अशुद्ध परिणाम तथा रागी द्वेषी पुरुषोंका संसर्ग सर्वथा त्याग करना चाहिये यह सारांश है ॥१०८॥

आगे उन्हीं परद्रव्योंके संबंधको फिर छुड़ानेका कथन करते हैं—[यः] जो कोई [समभावात्] समभाव अर्थात् निजभावसे [बाह्यः] बाह्य पदार्थ हैं [तेन सह] उनके साथ [संगं] संग [मा कुरु] मत कर । क्योंकि उनके साथ संग करनेसे [चिन्तासागरे] चिन्तारूपी समुद्रमें [पतसि] पड़ेगा, [परं] केवल [अन्यदपि] और भी [अंगः] शरीर [दह्यते] दाहको प्राप्त होगा, अर्थात् अन्दरसे जलता रहेगा ॥ भावार्थ—जो कोई जीवित, मरण, लाभ अलाभादिमें तुल्यभावं उसके सम्मुख जो निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्म द्रव्य उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निजभाव उसरूप समभावसे जो जुड़े पदार्थ हैं, उनका संग छोड़ दे । क्योंकि उनके संगसे चिन्तारूपी

द्वेषादिकलोलरूपे चिन्तासमुद्रे पतसि । परं परं नियमेन । अणुं चि अन्यदपि दूषणं भवति । किम् । डङ्गइ दहते व्याकुलं भवति । किं दहते । अंगु शरीरं इति । अयमत्र भावार्थः । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिभावनाप्रतिपक्षभूतरागादिस्वकीयपरिणाम एव निश्चयेन पर इत्युच्यते । व्यवहारेण तु मिथ्यातरागादिपरिणतपुरुषः सोऽपि कथंचित्, नियमो नास्तीति ॥ १०९ ॥

अथैतदेव परसंसर्गदूषणं दृष्टान्तेन समर्थयति—

भल्लाहँ वि णासंति गुण जहँ संसग्ग खलेहिँ ।

वइसाणरु लोहहँ मिलिउ तेँ पिट्टियइ घणेहिँ ॥ ११० ॥

भद्राणामपि नश्यन्ति गुणाः येषां संसर्गः खलैः ।

वैश्वानरो लोहेन मिलितः तेन पिट्टयते घनैः ॥ ११० ॥

भल्लाहँ वि इत्यादि । भल्लाहँ वि भद्राणामपि स्वस्वभावसहितानामपि णासंति गुण नश्यन्ति परमात्मोपलब्धिलक्षणगुणाः । येषां किम् । जहँ संसग्गु येषां संसर्गः । कैः सह । खलेहिँ परमात्मपदार्थप्रतिपक्षभूतैर्निश्चयनयेन स्वकीयबुद्धिदोषरूपैः रागद्वेषादिपरिणामैः खलैर्दुष्टैर्व्यवहारेण तु मिथ्यातरागादिपरिणतपुरुषैः । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह । वइसाणरु लोहहँ मिलिउ वैश्वानरो लोहमिलितः । ते तेन कारणेन पिट्टियइ घणेहिँ पिट्टनक्रियां लभते । कैः घनैरिति । अत्रानाकुलत्वसौख्यविघातको येन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धाद्यप-
ध्यानपरिणाम एव परसंसर्गस्त्याज्यः । व्यवहारेण तु परपरिणतपुरुष इत्यभिप्रायः ॥ ११० ॥

समुद्रमें गिर पड़ेगा । जो समुद्र राग द्वेषरूपी कल्लोलोंसे व्याकुल है । उनके संगसे मनमें चिन्ता उत्पन्न होगी, और शरीरमें दाह होगा । यहाँ तात्पर्य यह है, कि वीतराग निर्विकल्प परमसमाधिकी भावनासे विपरीत जो रागादि अशुद्ध परिणाम वे ही परद्रव्य कहे जाते हैं, और व्यवहारनयकर मिथ्यात्वी रागी-द्वेषी पुरुष पर कहे गये हैं । इन सबकी संगति सर्वदा दुःख देनेवाली है, किसी प्रकार सुखदायी नहीं है, ऐसा निश्चय है ॥१०९॥

आगे परद्रव्यका प्रसंग महान् दुःखरूप है, यह कथन दृष्टान्तसे दृढ करते हैं—[खलैः सह] दुष्टोंके साथ [येषां] जिनका [संसर्गः] संबंध है, वह [भद्राणां अपि] उन विवेकी जीवोंके भी [गुणाः] सत्य शीलादि गुण [नश्यन्ति] नष्ट हो जाते हैं, जैसे [वैश्वानरः] आग [लोहेन] लोहेसे [मिलितः] मिल जाती है, [तेन] तभी [घनैः] घनोंसे [पिट्टयते] पीटी-कूटी जाती है ॥ भावार्थ—विवेकी जीवोंके शीलादि गुण मिथ्यादृष्टि रागी द्वेषी अविवेकी जीवोंकी संगतिसे नाश हो जाते हैं । अथवा आत्माके निजगुण मिथ्यात्व रागादि अशुद्ध भावोंके संबंधसे मलिन हो जाते हैं । जैसे अग्नि लोहेके संगसे पीटी-कूटी जाती है । यद्यपि आगको घन कूट नहीं सकता, परंतु लोहेकी संगतिसे अग्नि भी कूटनेमें आती है, उसी तरह दोषोंके संगसे गुण भी मलिन हो जाते हैं । यह कथन जानकर आकुलता रहित सुखके घातक जो देखे सुने अनुभव किये भोगोंकी वांछारूप निदानबंध आदि खोटे परिणामरूपी दुष्टोंकी संगति नहीं करना, अथवा अनेक दोषोंकर सहित

अथ मोहपरित्यागं दर्शयति—

जोइय मोहु परिचयहि मोहु ण भल्लउ होइ ।

मोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥ १११ ॥

योगिन् मोहं परित्यज मोहो न भद्रो भवति ।

मोहासक्तं सकलं जगद् दुःखं सहमानं पश्य ॥ १११ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् मोहु परिचयहि निर्मोहपरमात्मस्वरूपभावनाप्रति-
पक्षभूतं मोहं त्यज । कस्मात् । मोहु ण भल्लउ होइ मोहो भद्रः समीचीनो न भवति ।
तदपि कस्मात् । मोहासत्तउ सयलु जगु मोहासक्तं समस्तं जगत् निर्मोहशुद्धात्मभावनारहितं
दुक्खु सहंतउ जोइ अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविलक्षणमाकुलत्वोत्पादकं दुःखं सहमानं
पश्येति । अत्रास्तां तावद्बहिरङ्गपुत्रकलत्रादौ पूर्वं परित्यक्तेन पुनर्वासनावशेन स्मरणरूपो मोहो
न कर्तव्यः । शुद्धात्मभावनास्वरूपं तपश्चरणं तत्साधकभूतशरीरं तस्यापि स्थित्यर्थमशनपानादिकं
यद्गृह्यमाणं तत्रापि मोहो न कर्तव्य इति भावार्थः ॥ १११ ॥

अथ स्थलसंख्याबहिर्भूतमाहारमोहविषयनिराकरणसमर्थनार्थं प्रक्षेपकत्रयमाह तद्यथा—

काऊण णग्गरूवं बीभस्सं दड्ढमडयसारिच्छं ।

अहिलससि किं ण लज्जसि भिक्खाए भोयणं मिट्ठं ॥ १११*२ ॥

कृत्वा नग्नरूपं बीभत्सं दग्धमृतकसदृशम् ।

अभिलषसि किं न लज्जसे भिक्षायां भोजनं मिष्टम् ॥ १११*२ ॥

काऊण इत्यादि । काऊण कृत्वा । किम् णग्गरूवं नग्नरूपं निर्ग्रन्थं जिनरूपम् । कथंभूतम्

रागी द्वेषी जीवोंकी भी संगति कभी नहीं करना, यह तात्पर्य है ॥११०॥

आगे मोहका त्याग करना दिखलाते हैं—[योगिन्] हे योगी, तू [मोहं] मोहको [परित्यज]
बिलकुल छोड़ दे, क्योंकि [मोहः] मोह [भद्रः न भवति] अच्छा नहीं होता है, [मोहासक्तः]
मोहसे आसक्त [सकलं जगत्] सब जगत जीवोंको [दुःखं सहमानं] क्लेश भोगते हुए [पश्य]
देख ॥ भावार्थ—जो आकुलता रहित है, वह दुःखका मूल मोह है । मोही जीवोंको दुःख सहित
देखो । वह मोह परमात्मस्वरूपकी भावनाका प्रतिपक्षी दर्शनमोह चारित्र्यमोहरूप है । इसलिये तू
उसको छोड़ । पुत्र स्त्री आदिकमें तो मोहकी बात दूर रहे, यह तो प्रत्यक्षमें त्यागने योग्य ही है,
और विषय-वासनाके वश देह आदिक परवस्तुओंका रागरूप मोह-जाल है, वह भी सर्वथा त्यागना
चाहिये । अंतर बाह्य मोहका त्यागकर सम्यक् स्वभाव अंगीकार करना । शुद्धात्माकी भावनारूप
जो तपश्चरण उसका साधक जो शरीर उसकी स्थितिके लिये अन्न जलदिक लिये जाते हैं, तो भी
विशेष राग न करना, राग रहित नीरस आहार लेना चाहिये ॥१११॥

आगे स्थलसंख्याके सिवाय जो प्रक्षेपक दोहे हैं, उनके द्वारा आहारका मोह निवारण करते
हैं—[बीभत्सं] भयानक देहके मैलसे युक्त [दग्धमृतकसदृशं] जले हुए मुरदेके समान रूपरहित

बीभत्थं (च्छं ?) भयानकम् । पुनरपि कथंभूतम् । दड्ढमडयसारिच्छं दग्धमृतकसदृशम् । एवंविधं रूपं धृत्वा हे तपोधन अहिलससि अभिलाषं करोषि किं न लज्जसि लज्जां किं न करोषि । किं कुर्वाणः सन् । भिक्ष्वाए भोयणं मिष्टं भिक्षायां भोजनं मृष्टं इति मन्यमानः सन्निति । श्रावकेण तावदहाराभयभैषज्यशास्त्रदानं तात्पर्येण दातव्यम् । आहारदानं येन दत्तं तेन शुद्धात्मानुभूतिसाधकं बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नं द्वादशविधं तपश्चरणं दत्तं भवति । शुद्धात्मभावना-लक्षणसंयमसाधकस्य देहस्यापि स्थितिः कृता भवति । शुद्धात्मोपलंभप्राप्तिरूपा भवान्तरगतिरपि दत्ता भवति । यद्यप्येवमादिगुणविशिष्टं चतुर्विधदानं श्रावकाः प्रयच्छन्ति तथापि निश्चयव्यवहार-रत्नत्रयाराधकतपोधनेन बहिरङ्गसाधनीभूतमाहारादिकं किमपि गृह्यतापि स्वस्वभावप्रतिपक्षभूतो मोहो न कर्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ १११*२ ॥

अथ—

जह इच्छसि भो साहू बारह-विह-तवहलं महा-विउलं ।

तो मण-वयणे काए भोयण-गिद्धी विवज्जेसु ॥ १११*३ ॥

ऐसे [नग्नरूपं] वस्त्र रहित नग्नरूपको [कृत्वा] धारण करके हे साधु, तू [भिक्षायां] परके घर भिक्षाको भ्रमता हुआ उस भिक्षामें [मिष्टं] स्वादयुक्त [भोजनं] आहारकी [अभिलषसि] इच्छा करता हैं, तो तू [किं न लज्जसे] क्यों नहीं शरमाता ? यह बड़ा आश्चर्य है ॥ भावार्थ—पराये घर भिक्षाको जाते मिष्ट आहारकी इच्छा धारण करता है, सो तुझे लाज नहीं आती ? इसलिये आहारका राग छोड़ अल्प और नीरस आहार उत्तमकुली श्रावकके घर साधुको लेना योग्य है । मुनिको राग-भाव रहित आहार लेना चाहिये । स्वादिष्ट सुन्दर आहारका राग करना योग्य नहीं है । और श्रावकको भी यही उचित है, कि भक्ति-भावसे मुनिको निर्दोष आहार देवे, जिसमें शुभका दोष न लगे । और आहारके समय ही आहारमें मिली हुई निर्दोष औषधि दे, शास्त्र दान करे, मुनियोंका भय दूर करे, उपसर्ग निवारण करे । यही गृहस्थको योग्य है । जिस गृहस्थने यतिको आहार दिया, उसने तपश्चरण दिया, क्योंकि संयमका साधन शरीर है, और शरीरकी स्थिति अन्न जलसे है । आहारके ग्रहण करनेसे तपस्याकी बढवारी होती है । इसलिये आहारका दान तपका दान है । यह तप संयम शुद्धात्माकी भावनारूप है, और ये अंतर बाह्य बारह प्रकारका तप शुद्धात्माकी अनुभूतिका साधक है । तप संयमका साधन दिगम्बरका शरीर है । इसलिये आहारके देनेवालेने यतिके देहकी रक्षा की, और आहारके देनेवालेने शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष दिया । क्योंकि मोक्षका साधन मुनिव्रत है, और मुनिव्रतका साधन शरीर है, तथा शरीरका साधन आहार है । इस प्रकार अनेक गुणोंको उत्पन्न करनेवाला आहारादि चार प्रकारका दान उसको श्रावक भक्तिसे देता है, तो भी निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके आराधक योगीश्वर महातपोधन आहारको ग्रहण करते हुए भी राग करते हैं । राग द्वेष मोहादि परिणाम निजभावके शत्रु हैं, यह सारांश हुआ ॥१११*२॥

यदि इच्छसि भो साधो द्वादशविधतपःफलं महद्विपुलम् ।

ततः मनोवचनयोः काये भोजनगृद्धिं विवर्जयस्व ॥ १११*३ ॥

जइ इच्छसि यदि इच्छसि भो साधो द्वादशविधतपःफलम् । कथंभूतम् । महद्विपुलं स्वर्गपवर्गख्यं ततः कारणात् वीतरागनिजानन्दैकसुखरसास्वादानुभवेन तप्तो भूत्वा मनोवचनकायेषु भोजनगृद्धिं वर्जय इति तात्पर्यम् ॥ १११*३ ॥

उक्तं च—

जे सरसि संतुष्टमण विरसि कसाउ वहंति ।

ते मुणि भोयण-घार गणि णवि परमत्थु मुणंति ॥ १११*४ ॥

ये सरसेन संतुष्टमनसः विरसे कषायं वहन्ति ।

ते मुनयः भोजनगृद्धाः गणय नैव परमार्थं मन्यन्ते ॥ १११*४ ॥

जे इत्यादि । जे सरसि संतुष्टमण ये केचन सरसेन सरसाहारेण संतुष्टमनसः विरसि कसाउ वहंति विरसे विरसाहारे सति कषायं वहन्ति कुर्वन्ति ते ते पूर्वोक्ताः मुणि मुनयस्तपोधनाः भोयणघार गणि भोजनविषये गृद्धसदृशान् गणय मन्यस्व जानीहि । इत्थंभूताः सन्तः णवि परमत्थु मुणंति नैव परमार्थं मन्यन्ते जानन्तीति । अयमत्र भावार्थः । गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मस्तेनैव सम्यक्त्वपूर्वेण परंपरया मोक्षं लभन्ते । कस्मात् स एव

आगे फिर भी भोजनकी लालसाको त्याग कराते है—[भो साधो] हे योगी, [यदि] यदि तू [द्वादशविधतपःफलं] बारह प्रकार तपका फल [महद्विपुलं] बड़ा भारी स्वर्ग मोक्ष [इच्छसि] चाहता है, [ततः] तो वीतराग निजानन्द एक सुखरसका आस्वाद उसके अनुभवसे तृप्त हुआ [मनोवचनयोः] मन वचन और [काये] कायसे [भोजनगृद्धिं] भोजनकी लोलुपताको [विवर्जयस्व] त्याग कर दे । यह सारांश है ॥१११*३॥

और भी कहा है—[ये] जो योगी [सरसेन] स्वादिष्ट आहारसे [संतुष्टमनसः] हर्षित होते हैं, और [विरसे] नीरस आहारमें [कषायं] क्रोधादि कषाय [वहंति] करते हैं, [ते मुनयः] वे मुनि [भोजने गृद्धाः] भोजनके विषयमें गृद्धपक्षीके समान है, ऐसा तू [गणय] समझ । वे [परमार्थं] परमतत्त्वको [नैव मन्यन्ते] नहीं समझते हैं ॥ भावार्थ—जो कोई वीतरागके मार्गसे विमुख हुए योगी रस सहित स्वादिष्ट आहारसे खुश होते हैं, कभी किसीके घर छह रसयुक्त आहार पावें तो मनमें हर्ष करें, आहारके देनेवालेसे प्रसन्न होते हैं, यदि किसीके घर रसरहित भोजन मिले तो कषाय करते हैं, उस गृहस्थको बुरा समझते हैं, वे तपोधन नहीं हैं, भोजनके लोलुपी हैं । गृद्धपक्षीके समान है । ऐसे लोलुपी यति देहमें अनुरागी होते हैं, परमात्म-पदार्थको नहीं जानते । गृहस्थोंके तो दानादिक ही बड़े धर्म है । यदि सम्यक्त्व सहित दानादि करे, तो परम्परासे मोक्ष पावे । क्योंकि श्रावकका दानादिक ही परमधर्म है । वह ऐसे है, कि ये गृहस्थ लोग हमेशा विषय कषायके आधीन हैं, इससे इनके आर्त रौद्र ध्यान उत्पन्न होते रहते हैं, इस कारण निश्चय

परमो धर्म इति चेत्, निरन्तरविषयकषायाधीनतया आर्तरीन्द्रध्यानरतानां निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति । शुद्धोपयोगपरमधर्मरतैस्तपोधनैस्त्वन्नपानादिविषये मानापमानसमतां कृत्वा यथालाभेन संतोषः कर्तव्य इति ॥ १११*४ ॥

अथ शुद्धात्मोपलम्भाभावे सति पञ्चेन्द्रियविषयासक्तजीवानां विनाशं दर्शयति—

रुचि पयंगा सहि मय गय फासहि णासंति ।

अलिउल गंधई मच्छ रसि किम अणुराउ करंति ॥ ११२ ॥

रूपे पतङ्गाः शब्दे मृगाः गजाः स्पर्शैः नश्यन्ति ।

अलिकुलानि गन्धेन मत्स्याः रसे किं अनुरागं कुर्वन्ति ॥ ११२ ॥

रुचि इत्यादि । रूपे समासक्ताः पतङ्गाः शब्दे मृगा गजाः स्पर्शैः गन्धेनालिकुलानि मत्स्या रसासक्ता नश्यन्ति यतः कारणात् ततः कारणात्कथं तेषु विषयेष्वनुरागं कुर्वन्तीति । तथाहि । पञ्चेन्द्रियविषयाकांक्षामभृतिसमस्तापध्यानविकल्पै रहितः शून्यः स्पर्शनादीन्द्रियकषायातीत-निर्दोषपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन पूर्णकलशवद्भरितावस्थः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकः

रत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग परमधर्मका तो इनके ठिकाना ही नहीं है, अर्थात् गृहस्थोंके शुद्धोपयोगकी ही मुख्यता है । और शुद्धोपयोगी मुनि इनके घर आहार लेवें तो इसके समान अन्य क्या ? श्रावकका तो यही बड़ा धर्म है, कि यति, आर्जिका, श्रावक, श्राविका, इन सबको विनयपूर्वक आहार दे । और यतिका यही धर्म है, कि अन्न जलादिमें राग न करे, और मान अपमानमें समताभाव रखे । गृहस्थके घर जो निर्दोष आहारादिक जैसा मिले वैसा लेवे, चाहे चावल मिले, चाहे अन्य कुछ मिले । जो मिले उसमें हर्ष विषाद न करे । दूध, दही, घी, मिष्ठान्न, इनमें इच्छा न करे । यही जिनमार्गमें यतिकी रीति है ॥१११*४॥

आगे शुद्धात्माकी प्राप्तिके अभावमें जो विषयी जीव पाँच इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्त हैं, उनका अकाज (विनाश) होता है, ऐसा दिखलतें है—[रूपे] रूपमें लीन हुए [पतंगाः] पतंग जीव दीपकमें जलकर मर जाते हैं, [शब्दे] शब्द विषयमें लीन [मृगाः] हिरण व्याधके बाणोंसे मारे जाते हैं, [गजाः] हाथी [स्पर्शैः] स्पर्श विषयके कारण गड्ढेमें पडकर बाँधे जाते हैं, [गन्धेन] सुगंधकी लोलुपतासे [अलिकुलानि] भौरों काँटोंमें या कमलमें दबकर प्राण छोड़ देते हैं और [रसे] रसके लोभी [मत्स्याः] मछ [नश्यंति] धीवरके जालमें पडकर मारे जाते हैं । एक एक विषय कषायमें आसक्त हुए जीव नाशको प्राप्त होते हैं, तो पंचेन्द्रियका कहना ही क्या है ? ऐसा जानकर विवेकी जीव विषयोंमें [किं] क्या [अनुरागं] प्रीति [कुर्वन्ति] करते हैं ? कभी नहीं करते । भावार्थ—पंचेन्द्रियके विषयोंकी इच्छा आदि जो सब छोटे ध्यान वे ही हुए विकल्प उनसे रहित विषय कषाय रहित जो निर्दोष परमात्मा उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप जो निर्विकल्प समाधि, उससे उत्पन्न वीतराग परम आह्लादरूप सुख-अमृत, उसके रसके स्वादकर पूर्ण कलशकी

शुद्धोपयोगस्वभावो योऽसावेवंभूतः कारणसमयसारः तद्भावनारहिता जीवाः पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषवशीकृता नश्यन्तीति ज्ञात्वा कथं तत्रासक्तिं गच्छन्ति ते विवेकिन इति । अत्र पतञ्जादय एकैकविषयासक्ता नष्टाः, ये तु पञ्चेन्द्रियविषयमोदितास्ते विशेषेण नश्यन्तीति भावार्थः ॥११२॥

अथ लोभकषायदोषं दर्शयति—

जोइय लोहू परिचयहि लोहू ण भल्लउ होइ ।

लोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥ ११३ ॥

योगिन् लोभं परित्यज लोभो न भद्रः भवति ।

लोभासक्तं सकलं जगद् दुःखं सहमानं पश्य ॥ ११३ ॥

हे योगिन् लोभं परित्यज । कस्मात् । लोभो भद्रः समीचीनो न भवति । लोभासक्तं समस्तं जगद् दुःखं सहमानं पश्येति । तथाहि—लोभकषायविपरीतात् परमात्मस्वभावाद्विपरीतं लोभं त्यज हे प्रभाकरभट्ट । यतः कारणात् निर्लोभपरमात्मभावनारहिता जीवा दुःखमुपभुञ्जानास्तिष्ठन्तीति तात्पर्यम् ॥ ११३ ॥

अथामुमेव लोभकषायदोषं दृष्टान्तेन समर्थयति—

तलि अहिरणि वरि घणवडणु संडस्सय-लुंचोडु ।

लोहहँ लग्गिवि हुयवहहँ पिकखु पडंतउ तोडु ॥ ११४ ॥

तरह भरे हुए जो केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप कार्यसमयसार, उसका उत्पन्न करनेवाला जो शुद्धोपयोग-रूप कारण समयसार, उसकी भावनासे रहित संसारीजीव विषयोके अनुरागी पाँच इन्द्रियोके लोलुपी भव भवमें नाश पाते हैं । ऐसा जानकर इन विषयोंमें विवेकी कैसे रागको प्राप्त हों ? कभी विषयाभिलाषी नहीं होते । पतंगादिक एक एक विषयमें लीन हुए नष्ट हो जाते हैं, लेकिन जो पाँच इन्द्रियोके विषयोंमें मोहित हैं, वे वीतराग चिदानन्दस्वभाव परमात्मतत्त्व उसको न सेवते हुए, न जानते हुए, और न भावते हुए, अज्ञानी जीव मिथ्या मार्गको वांछते, कुमार्गकी रुचि रखते हुए नरकादि गतिमें घानीमें पिलना, करोतसे विदरना, और शूलीपर चढना इत्यादि अनेक दुःखोंको देहादिककी प्रीतिसे भोगते हैं । ये अज्ञानी जीव वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधिसे पराङ्मुख हैं, जिनके चित्त चंचल है, कभी निश्चल चित्तकर निजरूपको नहीं ध्यावते हैं । और जो पुरुष स्नेहसे रहित हैं, वीतरागनिर्विकल्प समाधिमें लीन हैं, वे ही लीलामात्रमें संसारको तैर जाते हैं ॥११२॥

आगे लोभकषायका दोष कहते हैं—[योगिन्] हे योगी, तू [लोभं] लोभको [परित्यज] छोड़, [लोभः] यह लोभ [भद्रो न भवति] अच्छा नहीं है, क्योंकि [लोभासक्तं] लोभमें फँसे हुए [सकलं जगत्] सम्पूर्ण जगतको [दुःखं सहमानं] दुःख सहते हुए [पश्य] देख ॥ भावार्थ—लोभकषायसे रहित जो परमात्मस्वभाव उससे विपरीत जो इसभव परभवका लोभ, धन धान्यादिका लोभ उसे तू छोड़ । क्योंकि लोभी जीव भव भवमें दुःख भोगते हैं, ऐसा तू देख रहा है ॥११३॥

आगे लोभकषायके दोषको दृष्टान्तसे पुष्ट करते हैं—[लोहं लगित्वा] जैसे लोहेका संबंध पाकर

तले अधिकरणं उपरि घनपातनं संदशकलुञ्चनम् ।

लोहं लगित्वा हुतवहस्य पश्य पतत् त्रोटनम् ॥ ११४ ॥

तले अधस्तनभागेऽधिकरणसंज्ञोपकरणं उपरितनभागे घनघातपातनं तथैव संदसकसंज्ञेनोपकरणेन लुञ्चनमाकर्षणम् । केन । लोहपिण्डनिमित्तेन । कस्य । हुतश्रुजोऽग्नेः त्रोटनं खण्डनं पश्येति । अयमत्र भावार्थः । यथा लोहपिण्डसंसर्गादग्निरज्ञानिलोकपूज्या प्रसिद्धा देवता पिष्टनक्रियां लभते तथा लोभादिकषायपरिणतिकारणभूतेन पञ्चेन्द्रियशरीरसंबन्धेन निर्लोभपरमात्मतत्त्वभावनारहितो जीवो घनघातस्थानीयानि नारकादिदुःखानि बहुकालं सहत इति ॥ ११४ ॥

अथ स्नेहपरित्यागं कथयति—

जोइय णेहु परिचयहि णेहु ण भल्लउ होइ ।

णेहासतउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥ ११५ ॥

योगिन् स्नेहं परित्यज स्नेहो न भद्रो भवति ।

स्नेहासक्तं सकलं जगद् दुःखं सहमानं पश्य ॥ ११५ ॥

रागादिस्नेहप्रतिपक्षभूते वीतरागपरमात्मपदार्थध्याने स्थित्वा शुद्धात्मतत्त्वाद्विपरीतं हे योगिन् स्नेहं परित्यज । कस्मात् । स्नेहो भद्रः समीचीनो न भवति । तेन स्नेहेनासक्तं सकलं जगन्निःस्नेहशुद्धात्मभावनारहितं विविधशारीरमानसरूपबहुदुःखं सहमानं पश्येति । अत्र भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गं मुक्त्वा तत्प्रतिपक्षभूते मिथ्यात्तरागादौ स्नेहो न कर्तव्य इति तात्पर्यम् ।

[हुतवहं] अग्नि [तले] नीचे रक्खे हुए [अधिकरणे उपरि] अहरन (निहाई) के ऊपर [घनपातनं] घनकी चोट, [संदशकलुञ्चनं] संडासीसे खेंचना, [पततं त्रोटनं] चोट लगनेसे टूटना, इत्यादि दुःखोंको सहती है, ऐसा [पश्य] देख ॥ भावार्थ—लोहेकी संगतिसे लोकप्रसिद्ध देवता अग्नि दुःख भोगती है, यदि लोहेका संबंध न करे तो इतने दुःख क्यों भोगे ? अर्थात् जैसे अग्नि लोहपिंडके सम्बन्धसे दुःख भोगती है, उसी तरह लोह अर्थात् लोभके कारणसे परमात्मतत्त्वकी भावनासे रहित मिथ्यादृष्टि जीव घनघातके समान नरकादि दुःखोंको बहुत काल तक भोगता है ॥११४॥

आगे स्नेहका त्याग दिखलाते हैं—[योगिन्] हे योगी, रागादि रहित वीतराग परमात्मपदार्थके ध्यानमें ठहरकर ज्ञानका वैरी [स्नेहं] स्नेह (प्रेम) को [परित्यज] छोड़, [स्नेहः] क्योंकि स्नेह [भद्रः न भवति] अच्छा नहीं है, [स्नेहासक्तं] स्नेहमें लगा हुआ [सकलं जगत्] समस्त संसारीजीव [दुःखं सहमानं] अनेक प्रकार शरीर और मनके दुःख सह रहे हैं, उनको तू [पश्य] देख । ये संसारीजीव स्नेह रहित शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे रहित हैं, इसलिए नाना प्रकारके दुःख भोगते हैं । दुःखका मूल एक देहादिकका स्नेह ही है ॥ भावार्थ—यहाँ भेदाभेदरत्नत्रयरूप मोक्षके मार्गसे विमुख होकर मिथ्यात्व रागादिमें स्नेह नहीं करना, यह सारांश है । क्योंकि ऐसा कहा भी है, कि जब तक यह जीव जगतसे स्नेह न करे, तब तक सुखी है, और जो स्नेह सहित है, जिनका मन स्नेहसे बंध रहा है, उनको हर जगह दुःख ही है ॥११५॥

उक्तं च—“तावदेव सुखो जीवो यावन्न स्निह्यते कचित् । स्नेहानुविद्धहृदयं दुःखमेव पदे पदे ॥” ॥ ११५ ॥

अथ स्नेहदोषं दृष्टान्तेन द्रव्यति—

जल-सिंचणु पय-णिदलणु पुणु पुणु पीलण-दुक्खु ।

णेहहं लग्गि वि तिल-णियरु जंति सहंतउ पिक्खु ॥ ११६ ॥

जलसिञ्चनं पादनिर्दलनं पुनः पुनः पीडनदुःखम् ।

स्नेहं लगित्वा तिलनिकरं यन्त्रेण सहमानं पश्य ॥ ११६ ॥

जलसिञ्चनं पादनिर्दलनं पुनः पुनः पीडनदुःखं स्नेहनिमित्तं तिलनिकरं यन्त्रेण सहमानं पश्येति । अत्र वीतरागचिदानन्दैकस्वभावं परमात्मतत्त्वमसेवमाना अजानन्तो वीतरागनिर्विकल्प-समाधिबलेन निश्चलचित्तेनाभावयन्तश्च जीवा मिथ्यामार्गं रोचमानाः पञ्चेन्द्रियविषयासक्ताः सन्तो नरनारकादिगतिषु यन्त्रपीडनक्रकचविदारणशूलारोहणादि नानादुःखं सहन्त इति भावार्थः ॥ ११६ ॥

उक्तं च—

ते चिय धण्णा ते चिय सप्पुरिसा ते जियंतु जिय-लोए ।

वोदह-दहम्मि पडिया तरंति जे चैव लीलाए ॥ ११७ ॥

ते चैव धन्याः ते चैव सत्पुरुषाः ते जीवन्तु जीवलोके ।

यौवनद्रहे पतिताः तरन्ति ये चैव लीलया ॥ ११७ ॥

ते चैव धन्यास्ते चैव सत्पुरुषास्ते जीवन्तु जीवलोके । ते के । वोदहशब्देन यौवनं स एव द्रष्टो महाद्वदस्तत्र पतिताः सन्तस्तरन्ति ये चैव । कया । लीलयेति । अत्र विषयाकांक्षारूपस्नेह-

आगे स्नेहका दोष दृष्टान्तसे दृढ करते हैं—[तिलनिकरं] जैसे तिलोंका समूह [स्नेहं लगित्वा] स्नेह (चिकनाई) के सम्बन्धसे [जलसिंचनं] जलसे भीगना, [पादनिर्दलनं] पैरोंसे खुंदना, [यन्त्रेण] घानीमें [पुनः पुनः] बार बार [पीडनदुःखं] पिलनेका दुख [सहमानं] सहता है, उसे [पश्य] देखो । भावार्थ—जैसे स्नेह (चीकनाई तेल) के सम्बन्ध होनेसे तिल घानीमें पेरे जाते हैं, उसी तरह जो पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें आसक्त हैं—मोहित हैं वे नाशको प्राप्त होते हैं, इसमें कुछ संदेह नहीं है । ११६ ।

इस विषयमें कहा भी है—[ते चैव धन्याः] वे ही धन्य हैं, [ते चैव सत्पुरुषाः] वे ही सज्जन हैं, और [ते] वे ही जीव [जीवलोके] इस जीवलोकमें [जीवन्तु] जीवते हैं, [ये चैव] जो [यौवनद्रहे] जवान अवस्थारूपी बड़े भारी तालाबमें [पतिताः] पड़े हुए विषय-रसमें नहीं डूबते, [लीलया] लीला (खेल) मात्रमें ही [तरंति] तैर जाते हैं । वे ही प्रशंसा योग्य हैं ॥ भावार्थ—यहाँ विषय वांछारूप जो स्नेह-जल उसके प्रवेशसे रहित जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी रत्नोंसे भरा निज शुद्धात्मभावनारूपी जहाज उससे यौवन अवस्थारूपी महान तालाबको तैर जाते हैं वे ही

जलप्रवेशरहितेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यामूल्यरत्नभाण्डपूर्णेन निजशुद्धात्मभावनापोतेन यौवन-
महाहृदं ये तरन्ति त एव धन्यास्त एव सत्पुरुषा इति तात्पर्यम् ॥ ११७ ॥

किं बहुना विस्तरेण—

मोक्खु जि साहिउ जिणवरहिं छंडिवि बहु-विहु रज्जु ।

भिक्षव-भरोडा जीव तुहुं करहि ण अप्पउ कज्जु ॥ ११८ ॥

मोक्षः एव साधितः जिनवरैः त्यक्त्वा बहुविधं राज्यम् ।

भिक्षाभोजन जीव त्वं करोषि न आत्मीयं कार्यम् ॥ ११८ ॥

मोक्खु जि इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । मोक्खु जि साहिउ मोक्ष एव
साधितः निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्यात्मन आत्यन्तिकस्वाभाविकज्ञानादिगुणास्पदमवस्था-
न्तरं मोक्षः स साधितः । कैः । जिणवरहिं जिनवरैः । किं कृत्वा । छंडिवि त्यक्त्वा । किम् ।
बहुविहु रज्जु सप्ताङ्गं राज्यम् । केन । भेदाभेदरत्नत्रयभावनावलेन । एवं ज्ञात्वा भिक्षवभरोडा
जीव भिक्षाभोजन हे जीव तुहुं त्वं करहि ण अप्पउ कज्जु किं न करोषि आत्मीयं कार्यमिति ।
अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च विशिष्ट-
तपश्चरणं कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ११८ ॥

अथ हे जीव त्वमपि जिनभट्टारकवदष्टकर्मनिर्मूलनं कृत्वा मोक्षं गच्छेति संबोधयति—

सत्पुरुष हैं, वे ही धन्य हैं यह सारांश जानना । बहुत विस्तारसे क्या लाभ है ? ॥११७॥

आगे मोक्षका कारण वैराग्यको दृढ करते हैं—[जिनवरैः] जिनेश्वरदेवने [बहुविधं] अनेक
प्रकारका [राज्यं] राज्यका विभव [त्यक्त्वा] छोड़कर [मोक्ष एव] मोक्षको ही [साधितः]
साधन किया, परन्तु [जीव] हे जीव, [भिक्षाभोजन] भिक्षासे भोजन करनेवाला [त्वं] तू
[आत्मीयं कार्यं] अपने आत्माका कल्याण भी [न करोषि] नहीं करता ॥ भावार्थ—समस्त
कर्ममल-कलंकसे रहित जो आत्मा उसके स्वाभाविक ज्ञानादि गुणोंका स्थान तथा संसार-अवस्थासे
अन्य अवस्थाका होना, वह मोक्ष कहा जाता है, उसी मोक्षको वीतरागदेवने राज्यविभूति छोड़कर
सिद्ध किया । राज्यके सात अंग हैं, राजा, मंत्री, सेना वगैरह । ये जहाँ पूर्ण हों, वह उत्कृष्ट राज्य
कहलाता है, वह राज्य तीर्थकरदेवका है, उसको छोड़नेमें वे तीर्थकर देरी नहीं करते । लेकिन तू
निर्धन होकर भी आत्म-कल्याण नहीं करता । तू माया-जालको छोड़कर महान पुरुषोंकी तरह
आत्मकार्य कर । उन महान पुरुषोंने भेदाभेदरत्नत्रयकी भावनाके बलसे निजस्वरूपको जानकर
विनाशीक राज्य छोड़ा, और अविनाशी राज्यके लिये उद्यमी हुए । यहाँ पर ऐसा व्याख्यान
समझकर बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग करना, तथा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें ठहरकर दुर्धर तप
करना यह सारांश हुआ ॥११८॥

आगे हे जीव, तू भी श्री जिनराजकी तरह आठ कर्मोंका नाशकर मोक्षको जा, ऐसा समझाते हैं—
[जीव] हे जीव, [त्वं] तू [संसारे] संसार-बन्धनमें [भ्रमन्] भटकता हुआ [महद् दुःखं] महान दुःख

पावहि दुःखु महंतु तुहुँ जिय संसारि भमंतु ।

अट्ट वि कम्मइँ णिइलिवि वच्चहि सुखु महंतु ॥ ११९ ॥

प्राप्नोषि दुःखं महत् त्वं जीव संसारे भ्रमन् ।

अष्टापि कर्माणि निर्दल्य व्रज मोक्षं महान्तम् ॥ ११९ ॥

पावहि इत्यादि । पावहि दुःखु महंतु प्राप्नोषि दुःखं महद्रूपं तुहुँ त्वं जिय हे जीव । किं कुर्वन् । संसारि भमंतु निश्चयेन संसारे विपरीतशुद्धात्मविलक्षणं द्रव्यक्षेत्रकालभवभाव-पञ्चभेदभिन्नं संसारं भ्रमन् । तस्मात्किं कुरु । अट्ट वि कम्मइँ णिइलिवि शुद्धात्मोपलम्भ-बलेनाष्टापि कर्माणि निर्मूल्य वच्चहि व्रज । कम् । सुखु स्वात्मोपलब्धिलक्षणं मोक्षम् । तथा चोक्तम्—‘सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः’ । कथंभूतं मोक्षम् । महंतु केवलज्ञानादिमहागुण-युक्तत्वान्महान्तमित्यभिप्रायः ॥ ११९ ॥

अथ यद्यप्यल्पमपि दुःखं सोढुमसमर्थस्तथापि कर्माणि किमिति करोषीति शिक्षां प्रयच्छति—

जिय अणु-मित्तु वि दुःखवडा सहण ण सक्कहि जोइ ।

चउ-गइ-दुःखवहँ कारणइँ कम्मइँ कुणहि किं तोइ ॥ १२० ॥

जीव अणुमात्राण्यपि दुःखानि सोढुं न शक्नोषि पश्य ।

चतुर्गतिदुःखानां कारणानि कर्माणि करोषि किं तथापि ॥ १२० ॥

जिय इत्यादि । जिय हे मूढजीव अणुमित्तु वि अणुमात्राण्यपि । कानि । दुःखवडा दुःखानि सहण ण सक्कहि सोढुं न शक्नोषि जोइ पश्य । यद्यपि चउगइदुःखवहँ कारणइँ परमात्मभावनोत्पन्नतात्त्विकवीतरागनित्यानन्दैकविलक्षणानां नारकादिदुःखानां कारणभूतानि [प्राप्नोषि] पावेगा, इसलिए [अष्टापि कर्माणि] ज्ञानावरणादि आठों ही कर्मोंको [निर्दल्य] नाश कर [महान्तं मोक्षं] सबमें श्रेष्ठ मोक्षको [व्रज] जा ॥ भावार्थ—निश्चयकर संसारसे रहित जो शुद्धात्मा उससे जुदा जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच तरहके परावर्तनस्वरूप संसार उसमें भटकता हुआ चारों गतियोंके दुःख पावेगा, निगोद राशिमें अनन्तकाल तक रुलेगा । इसलिए आठ कर्मोंका क्षय करके शुद्धात्माकी प्राप्तिके बलसे रागादिकका नाश कर, निर्वाणको जा । कैसा है वह निर्वाण, जो निजस्वरूपकी प्राप्ति वही जिसका स्वरूप है, और जो सबमें श्रेष्ठ है । केवलज्ञानादि महान गुणोंकर सहित हैं । जिसके समान दूसरा कोई नहीं ॥११९॥

आगे जो थोड़े दुःख भी सहनेको असमर्थ है, तो ऐसे काम क्यों करता है, कि जन्मोंसे अनन्त कालतक दुःख तू भोगे, ऐसी शिक्षा देते हैं—[जीव] हे मूढजीव, तू [अणुमात्राण्यपि] परमाणुमात्र (थोड़े) भी [दुःखानि] दुःख [सोढुं] सहनेको [न शक्नोषि] नहीं समर्थ है, [पश्य] देख [तथापि] तो फिर [चतुर्गतिदुःखानां] चार गतियोंके दुःखके [कारणानि कर्माणि] कारण जो कर्म है, [किं करोषि] उनको क्यों करता है ? भावार्थ—परमात्माकी भावनासे उत्पन्न तत्त्वरूप वीतराग नित्यानन्द परम स्वभाव उससे भिन्न जो नरकादिकके दुःख उनके कारण कर्म ही है । जो दुःख तुझे

कम्मइं कुणहि किं कर्माणि करोषि किमर्थं तोइ यद्यपि दुःखानीष्टानि न भवन्ति तथापि इति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा कर्मास्रवप्रतिपक्षभूतरागादिविकल्परहिता निजशुद्धात्मभावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १२० ॥

अथ बहिर्व्यासंगासक्तं जगत् क्षणमप्यात्मानं न चिन्तयतीति प्रतिपादयति—

धंधइ पडियउ सयलु जगु कम्मइं करइ अयाणु ।

मोक्खहँ कारणु एक्कु खणु णवि चिंतइ अप्पाणु ॥ १२१ ॥

धान्धे (?) पतितं सकलं जगत् कर्माणि करोति अज्ञानि ।

मोक्षस्य कारणं एकं क्षणं नव चिन्तयति आत्मानम् ॥ १२१ ॥

धंधइ इत्यादि । धंधइ धान्धे मिथ्यात्वविषयकषायनिमित्तोत्पन्ने दुर्ध्यानार्तरौद्रव्यासंगे पडियउ पतितं व्यासक्तम् । किम् । सयलु जगु समस्तं जगत्, शुद्धात्मभावनापराङ्मुखो मूढप्राणिगणः कम्मइं करइ कर्माणि करोति । कथंभूतं जगत् । अयाणु विशिष्टभेदज्ञानरहितं मोक्खहँ कारणु अनन्तज्ञानादिस्वरूपमोक्षकारणं एक्कु खणु एकक्षणमपि णवि चिंतइ नैव ध्यायति । कम् । अप्पाणु वीतरागपरमाह्लादरसास्वादपरिणतं स्वशुद्धात्मानमिति भावार्थः ॥ १२१ ॥

अथ तमेवार्थं द्रव्यति—

जोणि-लक्खइं परिभमइ अप्पा दुक्खु सहंतु ।

पुत्त-कलत्तहिँ मोहियउ जाव ण णाणु महंतु ॥ १२२ ॥

योनिलक्षाणि परिभ्रमति आत्मा दुःखं सहमानः ।

पुत्रकलत्रैः मोहितः यावन्न ज्ञानं महत् ॥ १२२ ॥

अच्छे नहीं लगते, दुःखोंको अनिष्ट जानता है, तो दुःखके कारण कर्मोंको क्यों उपार्जन करता है ? मत कर । यहाँ पर ऐसा व्याख्यान जानकर कर्मोंके आस्रवसे रहित तथा रागादि विकल्प-जालोंसे रहित जो निज शुद्धात्माकी भावना वही करनी चाहिए, ऐसा तात्पर्य जानना ॥१२०॥

आगे बाहरके परिग्रहमें लीन हुए जगतके प्राणी क्षणमात्र भी आत्माका चिंतवन नहीं करते, ऐसा कहते हैं—[धांधे पतितं] जगतके धंधेमें पड़ा हुआ [सकलं जगत्] सब जगत [अज्ञानि] अज्ञानी हुआ [कर्माणि] ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंको [करोति] करता है, परन्तु [मोक्षस्य कारणं] मोक्षके कारण [आत्मानं] शुद्ध आत्माको [एकं क्षणं] एक क्षण भी [नैव चिन्तयति] नहीं चिन्तवन करता ॥ भावार्थ—भेदविज्ञानसे रहित ये मूढ प्राणी शुद्धात्माकी भावनासे पराङ्मुख है, इसलिए शुभाशुभ कर्मोंका ही बंध करता है, और अनन्तज्ञानादिस्वरूप मोक्षका कारण जो वीतराग परमानन्दरूप निजशुद्धात्मा उसका एक क्षण भी विचार नहीं करता । सदा ही आर्त रौद्र ध्यानमें लग रहा है ऐसा सारांश है ॥१२१॥

आगे उसी बातको दृढ़ करते हैं—[यावत्] जब तक [महत् ज्ञानं न] सबसे श्रेष्ठ ज्ञान नहीं है,

जोणि इत्यादि । जोणिलक्ष्णं परिभ्रमइ चतुरशीतियोनिलक्षाणि परिभ्रमति । कोऽसौ । अप्पा बहिरात्मा । किं कुर्वन् । दुक्खु सहंतु निजपरमात्मतत्त्वध्यानोत्पन्नवीतरागसदानन्दैकरूपाव्याकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखाद्विलक्षणं शारीरमानसदुःखं सहमानः । कथंभूतः सन् । पुत्तकलत्तहिं मोहियउ निजपरमात्मभावनाप्रतिपक्षभूतैः पुत्रकलत्रैः मोहितः । किंपर्यन्तम् । जाव ण यावत्कालं न । किम् । णाणु ज्ञानम् । किं विशिष्टम् । महंतु महतो मोक्षलक्षणस्यार्थस्य साधकत्वाद्बीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं महदित्युच्यते । तेन कारणेन तदेव निरन्तरं भावनीयमित्यभिप्रायः ॥ १२२ ॥

अथ हे जीव गृहपरिजनशरीरादिममत्वं मा कुर्विति संबोधयति—

जीव म जाणहि अप्पणउं घरु परियणु तणु इट्ठु ।

कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोइहिं दिट्ठु ॥ १२३ ॥

जीव मा जानीहि आत्मीयं गृहं परिजनं तनुः इष्टम् ।

कर्मायत्तं कृत्रिमं आगमे योगिभिः दृष्टम् ॥ १२३ ॥

जीव इत्यादि । जीव म जाणहि हे जीव मा जानीहि अप्पणउं आत्मीयम् । किम् । घरु परियणु तणु इट्ठु गृहं परिजनं शरीरमिष्टमित्रादिकम् । कथंभूतमेतत् । कम्मायत्तउ शुद्धचेतनास्वभावादमूर्तात्परमात्मनः सकाशाद्विलक्षणं यत्कर्म तदुदयेन निर्मितत्वात् कर्मायत्तम् । पुनरपि कथंभूतम् । कारिमउ अकृत्रिमात् टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावात् शुद्धात्मद्रव्याद्विपरीत-
तब तक [आत्मा] यह जीव [पुत्रकलत्रैः मोहितः] पुत्र स्त्री आदिकोसे मोहित हुआ [दुःखं सहमानः] अनेक दुःखोंको सहता हुआ [योनि लक्षाणि] चौरासी लाख योनियोंमें [परिभ्रमति] भटकता फिरता है । भावार्थ—यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें अनेक तरहके ताप सहता हुआ भटक रहा है, निज परमात्मतत्त्वके ध्यानसे उत्पन्न वीतराग परम आनन्दरूप निर्व्याकुल अतीन्द्रिय सुखसे विमुख जो शरीरके तथा मनके नाना तरहके सुख दुःखोंको सहता हुआ भ्रमण करता है । निज परमात्माकी भावनाके शत्रु जो देहसम्बन्धी माता, पिता, भ्राता, मित्र, पुत्र-कलत्रादि उनसे मोहित है, तबतक अज्ञानी है, वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानसे रहित है, वह ज्ञान मोक्षका साधन है, ज्ञानसे ही मोक्षकी सिद्धि होती है । इसलिये हमेशा ज्ञानकी ही भावना करनी चाहिये ॥१२२॥

आगे हे जीव, तू घर परिवार और शरीरादिका ममत्व मत कर ऐसा समझाते हैं—[जीव] हे जीव, तू [गृहं] घर [परिजनं] परिवार [तनुः] शरीर [इष्टं] और मित्रादिकोंको [आत्मीयं मा जानीहि] अपने मत जान, क्योंकि [आगमे] परमागममें [योगिभिः] योगियोंने [दृष्टं] ऐसा दिखलाया है, कि ये [कर्मायत्तं] कर्मोंके आधीन हैं, और [कृत्रिमं] विनाशीक है ॥ भावार्थ—ये घर वगैरह शुद्ध चेतनस्वभाव अमूर्तिक निज आत्मासे भिन्न जो शुभाशुभ कर्म उसके उदयसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये कर्माधीन हैं, और विनश्वर होनेसे शुद्धात्मद्रव्यसे विपरीत हैं । शुद्धात्मद्रव्य किसीका बनाया हुआ नहीं है, इसलिये अकृत्रिम है, अनादि सिद्ध है, टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव

त्वात् कृत्रिमं विनश्वरम् । इत्थंभूतं दिद्दु दृष्टम् । कैः । जोइहिं परमज्ञानसंपन्नदिव्ययोगिभिः ।
क दृष्टम् । आगमि वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमे इति । अत्रेदमध्रुवव्याख्यानं ज्ञात्वा ध्रुवे स्व-
शुद्धात्मस्वभावे स्थित्वा गृहादिपरद्रव्ये ममत्वं न कर्तव्यमिति भावार्थः ॥ १२३ ॥

अथ गृहपरिवारादिचिन्तया मोक्षो न लभ्यत इति निश्चिनोति—

मुक्खु ण पावहि जीव तुहं घरु परियणु चिंतंतु ।

तो वरि चिंतहि तउ जि तउ पावहि मोक्खु महंतु ॥ १२४ ॥

मोक्षं न प्राप्नोषि जीव त्वं गृहं परिजनं चिन्तयन् ।

ततः वरं चिन्तय तपः एव तपः प्राप्नोषि मोक्षं महान्तम् ॥ १२४ ॥

मुक्खु इत्यादि । मुक्खु कर्ममलकलङ्कारहितकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितं मोक्षं ण पावहि
न प्राप्नोषि न केवलं मोक्षं निश्चयव्यवहाररत्नत्रयात्मकं मोक्षमार्गं च जीव हे मूढ जीव तुहं
तम् । किं कुर्वन् सन् । घरु परियणु चिंतंतु गृहपरिवारादिकं परद्रव्यं चिन्तयन् सन् तो
ततः कारणात् वरि वरं किंतु चिंतहि चिन्तय ध्याय । किम् । तउ जि तउ तपस्तप एव
विचिन्तय नान्यत् । तपश्चरणाचिन्तनात् किं फलं भवति । पावहि प्राप्नोषि । कम् । मोक्खु
पूर्वोक्तलक्षणं मोक्षम् । कथंभूतम् । महंतु तीर्थंकरपरमदेवादिमहापुरुषैराश्रितत्वान्महान्तमिति ।
अत्र बहिर्द्रव्येच्छानिरोधेन वीतरागतात्त्विकानन्दपरमात्मरूपे निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा गृहादि-
है । जो टाँकीसे गढा हुआ न हो बिना ही गढी पुरुषाकार अमूर्तिकमूर्ति है । ऐसे आत्मस्वरूपसे ये
देहादिक भिन्न हैं, ऐसा सर्वज्ञकथित परमागममें परमज्ञानके धारी योगीश्वरोंने देखा हैं । यहाँपर
पुत्र, मित्र, स्त्री, शरीर आदि सबको अनित्य जानकर नित्यानंदरूप निज शुद्धात्म स्वभावमें
ठहरकर गृहादिक परद्रव्यमें ममता नहीं करना ॥१२३॥

आगे घर परिवारादिककी चिन्तासे मोक्ष नहीं मिलता, ऐसा निश्चय करते हैं—[जीव] हे जीव,
[त्वं] तू [गृहं परिजनं] घर परिवार वगैरहकी [चिन्तयन्] चिन्ता करता हुआ [मोक्षं] मोक्ष
[न प्राप्नोति] कभी नहीं पा सकता, [ततः] इसलिये [वरं] उत्तम [तपः एव तपः] तपका ही
बारबार [चिन्तय] चिंतवन कर, क्योंकि तपसे ही [महान्तं मोक्षं] श्रेष्ठ मोक्षसुखको [प्राप्नोषि]
पा सकेगा ॥ भावार्थ—तू गृहादि परवस्तुओंका चिंतवन करता हुआ कर्मकलंक रहित केवलज्ञानादि
अनन्तगुण सहित मोक्षको नहीं पावेगा, और मोक्षका मार्ग जो निश्चयव्यवहार-रत्नत्रय उसको भी
नहीं पावेगा । इन गृहादिके चिंतवनसे भव-वनमें भ्रमण करेगा । इसलिये इनका चिंतवन तू मत
कर, लेकिन बारह प्रकारके तपका चिंतवन कर । इसीसे मोक्ष पायेगा । वह मोक्ष तीर्थंकर
परमदेवाधिदेव महापुरुषोंसे आश्रित है, इसलिये सबसे उत्कृष्ट हैं । मोक्षके समान अन्य पदार्थ नहीं ।
यहाँ परमद्रव्यकी इच्छाको रोककर वीतराग परम आनन्दरूप जो परमात्मस्वरूप उसके ध्यानमें
ठहरकर घर परिवारादिकका ममत्व छोड़कर, एक केवल निजस्वरूपकी भावना करना यह
तात्पर्य है । आत्मभावनाके सिवाय अन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है ॥१२४॥

ममत्वं त्यक्त्वा च भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १२४ ॥

अथ जीवहिंसादोषं दर्शयति—

मारिवि जीवहं लक्खडा जं जिय पाउ करीसि ।

पुत्त-कलत्तहं कारणहं तं तुहं एक्कु सहीसि ॥ १२५ ॥

मारयित्वा जीवानां लक्षाणि यत् जीव पापं करिष्यसि ।

पुत्रकलत्राणां कारणेन तत् त्वं एकः सहिष्यसे ॥ १२५ ॥

मारिवि इत्यादि । मारिवि जीवहं लक्खडा रागादिविकल्परहितस्य स्वस्वभावना-
लक्षणस्य शुद्धचैतन्यप्राणस्य निश्चयेनाभ्यन्तरं बधं कृत्वा बहिर्भागे चानेकजीवलक्षणानाम् । केन
हिंसोपकरणेन । पुत्तकलत्तहं कारणहं पुत्रकलत्रममलनिमित्तोत्पन्नदृष्टुतानुभूतभोगाकांक्षा-
स्वरूपतीक्ष्णशस्त्रेण । जं जिय पाउ करीसि हे जीव यत्पापं करिष्यसि तं तुहं एक्कु सहीसि
तत्पापफलं त्वं कर्ता नरकादिगतिष्वेकाकी सन् सहिष्यसे हि । अत्र रागाद्यभावो निश्चयेनाहिंसा
भण्यते । कस्मात् । निश्चयशुद्धचैतन्यप्राणस्य रक्षाकारणत्वात्, रागाद्युत्पत्तिस्तु निश्चयहिंसा ।
तदपि कस्मात् । निश्चयशुद्धप्राणस्य हिंसाकारणात् । इति ज्ञात्वा रागादिपरिणामरूपा निश्चयहिंसा

आगे जीवहिंसाका दोष दिखलाते हैं—[जीवानां लक्षाणि] लाखों जीवोंको [मारयित्वा] मारकर
[जीव] हे जीव, [यत्] जो तू [पापं करिष्यसि] पाप करता है, [पुत्रकलत्राणां] पुत्र स्त्री वगैरहके
[कारणेन] कारण [तत् त्वं] उसके फलको तू [एक] अकेला [सहिष्यसे] सहेगा ॥ भावार्थ—हे
जीव, तू पुत्रादि कुटुम्बके लिये हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहादि अनेक प्रकारके पाप करता
है, तथा अंतरंगमें रागादि विकल्परहित ज्ञानादि शुद्ध चैतन्य प्राणोंका घात करता है, अपने प्राण
रागादिक मैलसे मैले करता है, और बाह्यमें अनेक जीवोंकी हिंसा करके अशुभ कर्मोंको उपार्जन
करता है, उनका फल तू नरकादि गतिमें अकेला सहेगा । कुटुम्बके लोग कोई भी तेरे दुःखके
बटानेवाले नहीं हैं, तू ही सहेगा । श्रीजिनशासनमें हिंसा दो तरहकी है—एक आत्मघात, दूसरी
परघात । उनमेंसे जो मिथ्यात्व रागादिकके निमित्तसे देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछारूप जो
तीक्ष्ण शस्त्र उससे अपने ज्ञानादि प्राणोंको हनना, वह निश्चयहिंसा है, रागादिककी उत्पत्ति वह
निश्चय हिंसा है । क्योंकि इन विभावोंसे निज भाव घाते जाते हैं । ऐसा जानकर रागादि
परिणामरूप निश्चयहिंसा त्यागना । यही निश्चयहिंसा आत्मघात है । और प्रमादके योगसे अविवेकी
होकर एकेंद्रिय दोइद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय पंचेंद्रिय जीवोंका घात करना वह परघात है । जब इसने
परजीवका घात विचारा, तब इसके परिणाम मलिन हुए, और भावोंकी मलिनता ही निश्चयहिंसा
है, इसलिये परघातरूप हिंसा आत्मघातका कारण है । जो हिंसक जीव है, वह परजीवोंका
घातकर अपना घात करता है । यह स्वदया परदयाका स्वरूप जानकर हिंसा सर्वथा त्यागना ।
हिंसाके समान अन्य पाप नहीं है । निश्चयहिंसाका स्वरूप सिद्धांतमें दूसरी जगह ऐसा कहा है—जो
रागादिकका अभाव वही शास्त्रमें अहिंसा कही है, और रागादिककी उत्पत्ति वही हिंसा है, ऐसा

त्याज्येति भावार्थः । तथा चोक्तं निश्चयहिंसालक्षणम्—“ रागादीणमणुष्या अहिंसगतेति देसिदं समम् । तेसिं चेषुप्पत्ती हिंसेति जिणेहिं णिदिट्ठं ॥ ” ॥ १२५ ॥

अथ तमेव हिंसादोषं द्रढयति—

मारिवि चूरिवि जीवडा जं तुहुं दुक्खु करीसि ।

तं तह पासि अणंत-गुणु अवसइं जीव लहीसि ॥ १२६ ॥

मारयित्वा चूर्णयित्वा जीवान् यत् त्वं दुःखं करिष्यसि ।

तत्तदपेक्षया अनन्तगुणं अवश्यमेव जीव लभसे ॥ १२६ ॥

मारिवि इत्यादि । मारिवि बहिर्विषये अन्यजीवान् प्राणिप्राणवियोगलक्षणेन मारयित्वा चूरिवि हस्तपादाद्येकदेशच्छेदरूपेण चूरयित्वा । कान् । जीवडा जीवान् निश्चयेनाभ्यन्तरे तु मिथ्यात्तरागादिरूपतीक्ष्णशस्त्रेण शुद्धात्मानुभूतिरूपनिश्चयप्राणांश्च जं तुहुं दुक्खु करीसि यद्दुःखं त्वं कर्ता करिष्यसि तेषु पूर्वोक्तस्वपरजीवेषु तं तह पासि अणंतगुणु तद्दुःखं तदपेक्षया अनन्तगुणं अवसइं अवश्यमेव जीव हे मूढजीव लहीसि प्राप्नोषीति । अत्रायं जीवो मिथ्यात्तरागादिपरिणतः पूर्वं स्वयमेव निजशुद्धात्मप्राणं हिनस्ति बहिर्विषये अन्यजीवानां प्राणघातो

कथनं जिनशासनमें जिनेश्वरदेवने दिखलाया है । अर्थात् जो रागादिकका अभाव वह स्वदया और जो प्रमादरहित विवेकरूप करुणाभाव वह परदया है । यह स्वदया परदया धर्मका मूलकारण है । जो पापी हिंसक होगा उसके परिणाम निर्मल नहीं हो सकते, ऐसा निश्चय है, परजीव घात तो उसकी आयुके अनुसार है, परन्तु इसने जब परघात विचारा, तब आत्मघाती हो चुका ॥१२५॥

आगे उसी हिंसाके दोषको फिर निंदते हैं, और दयाधर्मको दृढ करते हैं—[जीव] हे जीव, [यत् त्वं] जो तू [जीवान्] परजीवोंको [मारयित्वा] मारकर [चूरयित्वा] चूरकर [दुःखं करिष्यसि] दुःखी करता है, [तत्] उसका फल [तदपेक्षया] उसकी अपेक्षा [अनंतगुणं] अनंतगुणा [अवश्यमेव] निश्चयसे [लभसे] पावेगा ॥ भावार्थ—निर्दयी होकर अन्य जीवोंके प्राण हरना, परजीवोंका शस्त्रादिकसे घात करना, वह मारना है, और हाथ पैर आदिकसे, तथा लाठी आदिसे परजीवोंको काटना, एकदेश मारना वह चूरना है, यह हिंसा ही महा पापका मूल है । निश्चयनयसे अभ्यन्तरमें मिथ्यात्व रागादिरूप तीक्ष्ण शस्त्रोंसे शुद्धात्मानुभूतिरूप अपने निश्चय प्राणोंको हत रहा है, क्लेशरूप करता है, उसका फल अनंत दुःख अवश्य सहेगा । इसलिये हे मूढ जीव, परजीवोंको मत मार, और मत चूर, तथा अपने भाव हिंसारूप मत कर, उज्ज्वल भाव रख । यदि तू जीवोंको दुःख देगा, तो निश्चयसे अनंतगुणा दुःख पावेगा । यहाँ सारांश यह है कि यह जीव मिथ्यात्व रागादिरूप परिणत हुआ पहले तो अपने भावप्राणोंका नाश करता है, परजीवका घात तो हो या न हो, परजीवका घात तो उसकी आयु पूर्ण हो गई हो, तब होता है, अन्यथा नहीं; परन्तु इसने जब परका घात विचारा, तब यह आत्मघाती हो चुका । जैसे गरम लोहेका गोला पकड़नेसे अपने हाथ तो निस्संदेह जल जाते हैं । इससे यह निश्चय हुआ, कि जो परजीवोंपर खोटे भाव

भवतु मा भवतु नियमो नास्ति । परघातार्थं तप्तायःपिण्डग्रहणेन स्थहस्तदाहवत् इति भावार्थः ।
तथा चोक्तम्—“स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा कषायवान् । पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चा-
त्स्याद्वा न वा वधः ॥” ॥ १२६ ॥

अथ जीववधेन नरकगतिस्तद्रक्षणे स्वर्गो भवतीति निश्चिनोति—

जीव बहंतहं णरय-गइ अभय-पदाणे सग्गु ।

बे पह जबला दरिसिया जहि रुवइ तहि लग्गु ॥ १२७ ॥

जीवं घृतां नरकगतिः अभयप्रदानेन स्वर्गः ।

द्वौ पन्थानौ समीपौ दर्शितौ यत्र रोचते तत्र लग्गु ॥ १२७ ॥

जीव बहंतहं इत्यादि । जीव बहंतहं निश्चयेन मिथ्यात्वविषयकषायपरिणामरूपं वधं
स्वकीयजीवस्य व्यवहारेणेन्द्रियबलायुःप्राणापानविनाशरूपमन्यजीवानां च वधं कुर्वतां णरयगइ
नरकगतिर्भवति अभयपदाणे निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनपरिणामरूपमभयप्रदानं स्व-
कीयजीवस्य व्यवहारेण प्राणरक्षारूपमभयप्रदानं परजीवानां च कुर्वतां सग्गु स्वस्याभयप्रदानेन
मोक्षो भवत्यन्यजीवानामभयप्रदानेन स्वर्गश्चेति बे पह जबला दरिसिया एवं द्वौ पन्थानौ

करता है, वह आत्मघाती है । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि जो आत्मा कषायवाला है, निर्दयी
है, वह पहले तो आप ही अपने से अपना घात करता है, इसलिये आत्मघाती है, पीछे परजीवका
घात होवे, या न होवे । जीवकी आयु बाकी रही हो, तो यह नहीं मार सकता, परंतु इसने मारनेके
भाव किये, इस कारण निस्संदेह हिंसक हो चुका और जब हिंसाके भाव हुए, तब यह कषायवान्
हुआ । कषायवान् होना ही आत्मघात है ॥१२६॥

आगे जीवहिंसाका फल नरकगति है, और रक्षा करनेसे स्वर्ग होता है, ऐसा निश्चय करते
हैं—[जीवं घृतां] जीवोंको मारनेवालोंकी [नरकगतिः] नरकगति होती है, [अभयप्रदानेन]
अभयदान देनेसे [स्वर्गः] स्वर्ग होता है, [द्वौ पन्थानौ] ये दोनों मार्ग [समीपे] अपने पास
[दर्शितौ] दिखलाये हैं, [यत्र] जिसमें [रोचते] तेरी रुचि हो, [तत्र] उसीमें [लग्गु] तू लग जा ॥
भावार्थ—निश्चयकर मिथ्यात्व विषय कषाय परिणामरूप निजघात और व्यवहारनयकर परजीवोंके
इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वासरूप प्राणोंका विनाश उसरूप परप्राणघात सो प्राणघातियोंके
नरकगति होती है । हिंसक जीव नरकके ही पात्र हैं । निश्चयनयकर वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन
परिणामरूप जो निजभावोंका अभयदान निज जीवकी रक्षा और व्यवहारनयकर परप्राणियोंके
प्राणोंकी रक्षारूप अभयदान यह स्वदया परदयास्वरूप अभयदान है, उसके करनेवालोंके स्वर्ग
मोक्ष होता है, इसमें संदेह नहीं है । इनमेंसे जो अच्छा मालूम पड़े उसे करो । ऐसी श्रीगुरुने आज्ञा
की । ऐसा कथन सुनकर कोई अज्ञानी जीव तर्क करता है, कि ये प्राण जीवसे जुदे हैं, कि नहीं ?
यदि जीवसे जुदे नहीं हैं, तो जैसे जीवका नाश नहीं है, वैसे प्राणोंका भी नाश नहीं हो सकता ?
अगर जुदे हैं, अर्थात् जीवसे सर्वथा भिन्न हैं, तो इन प्राणोंका नाश नहीं हो सकता । इस प्रकारसे

समीपे दर्शितौ । जहिं रुचइ तहिं लग्यु हे जीव यत्र रोचते तत्र लग्नो भव तमिति । कश्चिद-
ज्ञानी प्राह । प्राणा जीवादभिन्ना भिन्ना वा, यद्यभिन्नाः तर्हि जीववत्प्राणानां विनाशो नास्ति,
अथ भिन्नास्तर्हि प्राणवधेऽपि जीवस्य वधो नास्त्यनेन प्रकारेण जीवहिंसैव नास्ति कथं जीववधे
पापबन्धो भविष्यतीति । परिहारमाह । कथंचिद्भेदाभेदः । तथाहि—स्वकीयप्राणे हृते सति
दुःखोत्पत्तिदर्शनाद्व्यवहारेणाभेदः सैव दुःखोत्पत्तिस्तु हिंसा भण्यते ततश्च पापबन्धः । यदि
पुनरेकान्तेन देहात्मनोर्भेद एव तर्हि परकीयदेहघाते दुःखं न स्यान्न च तथा । निश्चयेन
पुनर्जीवे गतेऽपि देहो न गच्छतीति हेतोर्भेद एव । ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता पाप-
बन्धोऽपि न च निश्चयेन इति । सत्यमुक्तं तया, व्यवहारेण पापं तथैव नारकादिदुःखमपि
व्यवहारेणेति । तदिष्टं भवतां चेत्तर्हि हिंसां कुरुत यूयमिति ॥ १२७ ॥

अथ मोक्षमार्गे रतिं कुर्विति शिक्षां ददाति—

मूढा सयलु वि कारिमउ भुल्लउ मं तुस कंडि ।

सिव-पहि णिम्मलिं करहि रइ घरु परियणु लहु छंडि ॥ १२८ ॥

मूढ सकलमपि कृत्रिमं भ्रान्तः मा तुषं कण्डय ।

शिवपथे निर्मले कुरु रतिं गृहं परिजनं लघु त्यज ॥ १२८ ॥

जीवहिंसा है ही नहीं, तुम जीवहिंसामें पाप क्यों मानते हो ? इसका समाधान—ये इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास और प्राण जीवसे किसी नयकर अभिन्न हैं, भिन्न नहीं है, किसी नयसे भिन्न हैं । ये दोनों नय प्रामाणिक हैं । अब अभेद कहते हैं, सो सुनो । अपने प्राणोंके होनेपर जो व्यवहारनयकर दुःखकी उत्पत्ति वह हिंसा है, उसीसे पापका बंध होता है । और यदि इन प्राणोंको सर्वथा जुदे ही मानें, देह और आत्माका सर्वथा भेद ही जानें, तो जैसे परके शरीरका घात होनेपर दुःख नहीं होता है, वैसे अपने देहके घातमें भी दुःख न होना चाहिये, इसलिये व्यवहारनयकर जीवका और देहका एकत्व दीखता है, परन्तु निश्चयसे एकत्व नहीं है । यदि निश्चयसे एकपना होवे, तो देहके विनाश होनेसे जीवका विनाश हो जावे, सो जीव अविनाशी है । जीव इस देहको छोड़कर परभवको जाता है, तब देह नहीं जाती हैं । इसलिये जीव और देहमें भेद भी है । यद्यपि निश्चयनयकर भेद है, तो भी व्यवहारनयकर प्राणोंके चले जानेसे जीव दुःखी होता है, सो जीवको दुःखी करना यही हिंसा है, और हिंसासे पापका बंध होता है । निश्चयनयकर जीवका घात नहीं होता, यह तूने कहा, वह सत्य है, परन्तु व्यवहारनयकर प्राणवियोगरूप हिंसा है ही, और व्यवहारनयकर ही पाप है, और पापका फल नरकादिकके दुःख है, वे भी व्यवहारनयकर ही हैं, यदि तुझे नरकके दुःख अच्छे लगते हैं तो हिंसा कर, और नरकका भय है, तो हिंसा मत कर । ऐसे व्याख्यानसे अज्ञानी जीवोंका संशय मेटा ॥१२७॥

आगे श्रीगुरु यह शिक्षा देते हैं, कि तू मोक्षमार्गमें प्रीति कर—[मूढ] हे मूढ जीव, [सकलमपि] शुद्धात्माके सिवाय अन्य सब विषयादिक [कृत्रिमं] विनाशवाले हैं, तू [भ्रान्तः]

मूढा इत्यादि । मूढा सयलु वि कारिमउ हे मूढजीव शुद्धात्मानं विहायान्यत् पञ्चेन्द्रिय-विषयरूपं समस्तमपि कृत्रिमं विनश्वरं भुल्लुउ मं तुस कंडि भ्रान्तो भूला तुषकण्डनं मा कुरु । एवं विनश्वरं ज्ञाता शिवपहि णिम्मलि शिवशब्दवाच्यविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो मुक्तात्मा तस्य प्राप्त्युपायः पन्था निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपः स च रागादिरहितत्वेन निर्मलः करहि रइ इत्थंभूते मोक्षे मोक्षमार्गे च रतिं प्रीतिं कुरु घरु परियणु लहु छंडि पूर्वोक्तमोक्षमार्गप्रतिपक्षभूतं गृहं परिजनादिकं शीघ्रं त्यजेति तात्पर्यम् ॥ १२८ ॥

अथ पुनरप्यधुवानुप्रेक्षां प्रतिपादयति—

जोइय सयलु वि कारिमउ णिक्कारिमउ ण कोइ ।

जीविं जंतिं कुडि ण गय इहु पडिछंदा जोइ ॥ १२९ ॥

योगिन् सकलमपि कृत्रिमं निःकृत्रिमं न किमपि ।

जीवेन यातेन देहो न गतः इमं दृष्टान्तं पश्य ॥ १२९ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् सयलु वि कारिमउ टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावाद-कृत्रिमाद्वीतरागनित्यानन्दैकस्वरूपात् परमात्मनः सकाशाद् यदन्यन्मनोवाकायव्यापाररूपं तत्समस्तमपि कृत्रिमं विनश्वरं णिक्कारिमउ ण कोइ अकृत्रिमं नित्यं पूर्वोक्तपरमात्मसदृशं संसारे किमपि नास्ति । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह । जीविं जंतिं कुडि ण गय शुद्धात्मतत्त्व-भावनारहितेन मिथ्यात्वविषयकषायासक्तेन यान्युपार्जितानि कर्माणि तत्कर्मसहितेन जीवेन

भ्रम(भूल)से [तुषं मा कंडय] भूसेका खंडन मत कर । तू [निर्मले] परमपवित्र [शिवपथे] मोक्षमार्गमें [रतिं] प्रीति [कुरु] कर, [गृहं परिजनं] और मोक्षमार्गका उद्यमी होकर घर परिवार आदिको [लघु] शीघ्र ही [त्यज] छोड ॥ भावार्थ—हे मूढ, शुद्धात्मस्वरूपके सिवाय अन्य सब पंचेन्द्रिय विषयरूप पदार्थ नाशवान हैं, तू भ्रमसे भूला हुआ असार भूसेके कूटनेकी तरह कार्य न कर, इस सामग्रीको विनाशीक जानकर शीघ्र ही मोक्षमार्गके घातक घर परिवार आदिको छोडकर, मोक्षमार्गका उद्यमी होकर, ज्ञानदर्शनस्वभावको रखनेवाले शुद्धात्माकी प्राप्ति का उपाय जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षका मार्ग उसमें प्रीति कर । जो मोक्षमार्ग रागादिकसे रहित होनेसे महा निर्मल है ॥१२८॥

आगे फिर भी अनित्यानुप्रेक्षाका व्याख्यान करते हैं—[योगिन्] हे योगी, [सकलमपि] सभी [कृत्रिमं] विनश्वर हैं, [निःकृत्रिमं] अकृत्रिम [किमपि] कोई भी वस्तु [न] नहीं है, [जीवेन याता] जीवके जानेपर उसके साथ [देहो न गतः] शरीर भी नहीं जाता, [इमं दृष्टान्तं] इस दृष्टान्तको [पश्य] प्रत्यक्ष देखो । भावार्थ—हे योगी, टंकोत्कीर्ण (अघटित घाट-बिना टाँकीका गढा) अमूर्तिक पुरुषाकार आत्मा केवल ज्ञायक स्वभाव अकृत्रिम वीतराग परमानन्दस्वरूप, उससे जुदे जो मन वचन कायके व्यापार उनको आदि ले सभी कार्य पदार्थ विनश्वर हैं । इस संसारमें देहादि समस्त सामग्री अविनाशी नहीं है, जैसा शुद्ध बुद्ध परमात्मा अकृत्रिम है, वैसा देहादिमेंसे कोई भी नहीं है,

भवान्तरं प्रति गच्छतापि कुडिशब्दवाच्यो देहः सहैव न गत इति हे जीव इह पडिछंदा जोइ
इमं दृष्टान्तं पश्येति । अत्रेदमध्रुवं ज्ञात्वा देहममलप्रभृतिविभावरहितनिजशुद्धात्मपदार्थभावना
कर्तव्या इत्यभिप्रायः ॥ १२९ ॥

अथ तपोधनं मत्त्वध्रुवानुपेक्षां प्रतिपादयति—

देउलु देउ बि सत्थु गुरु तित्थु बि वेउ बि कब्बु ।

वच्छु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सब्बु ॥ १३० ॥

देवकुलं देवोऽपि शास्त्रं गुरुः तीर्थमपि वेदोऽपि काव्यम् ।

वृक्षः यद् दृश्यते कुसुमितं इन्धनं भविष्यति सर्वम् ॥ १३० ॥

देउलु इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । देउलु निर्दोषपरमात्मस्थापनाप्रति-
माया रक्षणार्थं देवकुलं मिथ्यात्वदेवकुलं वा, देउ बि तस्यैव परमात्मनोऽनन्तज्ञानादिगुणस्मर-
णार्थं धर्मप्रभावनार्थं वा प्रतिमास्थापनारूपो देवो रागादिपरिणतदेवताप्रतिमा रूपो वा, सत्थु
वीतरागनिर्विकल्पात्मतत्त्वप्रभृतिपदार्थप्रतिपादकं शास्त्रं मिथ्याशास्त्रं वा, गुरु लोकालोकप्रकाशक-
केवलज्ञानादिगुणसमृद्धस्य परमात्मनः प्रच्छादको मिथ्यात्तरागादिपरिणतिरूपो महाऽज्ञानान्धका-

सब क्षणभंगुर है । शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे रहित जो मिथ्यात्व विषयकषाय हैं उनसे आसक्त
होकर जीवने जो कर्म उपार्जन किये हैं, उन कर्मोंसे जब यह जीव परभवमें गमन करता है, तब
शरीर भी साथ नहीं जाता । इसलिये इस लोकमें इन देहादिक सबको विनश्वर जानकर देहादिकी
ममता छोड़ना चाहिए और सकल विभावरहित निज शुद्धात्म पदार्थकी भावना करनी चाहिये ॥ १२९ ॥

आगे मुनिराजोंको देवल आदि सभी सामग्री अनित्य दिखलाते हुये अध्रुवानुप्रेक्षाको कहते हैं—
[देवकुलं] अरहंतदेवकी प्रतिमाका स्थान जिनालय [देवोऽपि] श्रीजिनेन्द्रदेव [शास्त्रं] जैनशास्त्र
[गुरुः] दीक्षा देनेवाले गुरु [तीर्थमपि] संसार-सागरसे तैरनेके कारण परमतपस्वियोंके स्थान
सम्मेशिखर आदि [वेदोऽपि] द्वादशांगरूप सिद्धांत [काव्यं] गद्य पद्यरूप रचना इत्यादि [यद् वस्तु
कुसुमितं] जो वस्तु अच्छी या बुरी देखनेमें आती है, वे [सर्वं] सब [इंधनं] कालरूपी अग्निका
इंधन [भविष्यति] हो जायेगी ॥ भावार्थ—निर्दोष परमात्मा श्रीअरहंतदेव उनकी प्रतिमाके पधरानेके
लिये जो गृहस्थोंने देवालय (जैनमंदिर) बनाया है, वह विनाशीक है, अनंत ज्ञानादिगुणरूप
श्रीजिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा धर्मकी प्रभावनाके अर्थ भव्यजीवोंने देवालयमें स्थापन की है, उसे देव
कहते हैं, वह भी विनश्वर है । यह तो जिनमन्दिर और जिनप्रतिमाका निरूपण किया, इसके
सिवाय अन्य देवोंके मन्दिर और अन्यदेवकी प्रतिमायें सब ही विनश्वर है, वीतराग-निर्विकल्प जो
आत्मतत्त्व उसको आदि ले जीव-अजीवादि सकल पदार्थ उनका निरूपण करनेवाला जो जैनशास्त्र
वह भी यद्यपि अनादि प्रवृत्तिकी अपेक्षा नित्य है, तो भी वक्ता श्रोता पुस्तकादिककी अपेक्षा
विनश्वर ही है, और जैन सिवाय जो सांख्य पातंजल आदि परशास्त्र है, वे भी सब विनाशीक हैं ।
जिनदीक्षाके देनेवाले लोकालोकके प्रकाशक केवलज्ञानादि गुणोंकर पूर्ण परमात्माके रोकनेवाला जो

रदर्पः तद्व्यापियद्वचनदिनकरकिरणविदारितः सन् क्षणमात्रेण च विलयं गतः स च जिनदीक्षा-
दायकः श्रीगुरुः तद्विपरीतो मिथ्यागुरुर्वा, तित्थु वि संसारतरणोपायभूतनिजशुद्धात्मतत्त्व-
भावनारूपनिश्चयतीर्थं तत्स्वरूपरतः परमतपोधनानां आवासभूतं तीर्थकदम्बकमपि मिथ्यातीर्थ-
समूहो वा, वेउ वि निर्दोषिपरमात्मोपदिष्टवेदशब्दवाच्यः सिद्धान्तोऽपि परकल्पितवेदो वा,
कच्चु शुद्धजीवपदार्थादीनां गद्यपद्याकारेण वर्णकं काव्यं लोकप्रसिद्धविचित्रकथाकाव्यं वा,
वच्छु परमात्मभावनारहितेन जीवेन यदुपार्जितं वनस्पतिनामकर्म तदुदयजनितं वृक्षकदम्बकं
जो दीसइ कुसुमियउ यद् दृश्यते कुसुमितं पुष्पितं इंधणु होसइ सच्चु तत्सर्वं कालाग्ने-
रिन्धनं भविष्यति विनाशं यास्यतीत्यर्थः । अत्र तथा तावत् पञ्चेन्द्रियविषये मोहो न कर्तव्यः,
प्राथमिकानां यानि धर्मतीर्थवर्तनादिनिमित्तानि देवकुलदेवप्रतिमादीनि तत्रापि शुद्धात्मभावना
कालेन कर्तव्येति संबन्धः ॥ १३० ॥

मिथ्यात्व रागादि परिणत महा अज्ञानरूप अंधकार उसके दूर करनेके लिये सूर्यकि समान जिनके
वचनरूपी किरणोंसे मोहांधकार दूर हो गया है, ऐसे महामुनि गुरु हैं, वे भी विनश्वर है, और उनके
आचरणसे विपरीत जो अज्ञान तापस मिथ्यागुरु वे भी क्षणभंगुर हैं । संसारसमुद्रके तरनेका
कारण जो निज शुद्धात्मतत्त्व उसकी भावनारूप जो निश्चय तीर्थ उसमें लीन परम तपोधनका
निवासस्थान सम्पेदशिखर गिरनार आदिक तीर्थ वे भी विनश्वर है, और जिनतीर्थके सिवाय जो
पर यतियोंका निवास वे परतीर्थ वे भी विनाशीक है । निर्दोष परमात्मा जो सर्वज्ञ वीतरागदेव
उनकर उपदेश किया गया जो द्वादशांग सिद्धांत वह वेद है, वह यद्यपि सदा सनातन है, तो भी
क्षेत्रकी अपेक्षा विनश्वर है, किसी समय किसी क्षेत्रमें पाया जाता है, किसी समय नहीं पाया
जाता, भरतक्षेत्र ऐरावत क्षेत्रमें कभी प्रगट हो जाता है, कभी विलय हो जाता है, और
महाविदेहक्षेत्रमें यद्यपि प्रवाहकर सदा शाश्वत है, तो भी वक्ता श्रोताव्याख्यानकी अपेक्षा विनश्वर
है, वे ही वक्ता श्रोता हमेशा नहीं पाये जाते, इसलिए विनश्वर है, और पर मतियोंकर कहा गया
जो हिंसारूप वेद वह भी विनश्वर है । शुद्ध जीवादि पदार्थोंका वर्णन करनेवाली संस्कृत प्राकृत
छटारूप गद्य व छंदबंधरूप पद्य उस स्वरूप और जिसमें विचित्र कथायें हैं, ऐसे सुन्दर काव्य कहे
जाते हैं, वे भी विनश्वर हैं । इत्यादि जो-जो वस्तु सुन्दर और छोटे कवियोंकर प्रकाशित छोटे
काव्य कहे जाते हैं, वे भी विनश्वर हैं । इत्यादि जो-जो वस्तु सुन्दर और असुन्दर दीखती हैं, वे
सब कालरूपी अग्निका इंधन हो जायेगी । तात्पर्य यह है कि सब भस्म हो जावेगी और
परमात्माकी भावनासे रहित जो जीव उसने उपार्जन किया जो वनस्पतिनामकर्म उसके उदयसे वृक्ष
हुआ, सो वृक्षोंके समूह जो फूले-फले दीखते हैं वे सब इंधन हो जावेंगे । संसारका सब ठाठ
क्षणभंगुर है, ऐसा जानकर पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें मोह नहीं करना । विषयका राग सर्वथा त्यागने
योग्य है । प्रथम अवस्थामें यद्यपि धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिका निमित्त जिनमंदिर, जिनप्रतिमा, जिनधर्म
तथा जैन धर्मी इनमें प्रेम करना योग्य है, तो भी शुद्धात्माकी भावनाके समय यह धर्मानुराग भी

अथ शुद्धात्मद्रव्यादन्यत्सर्वमधुवमिति प्रकटयति—

एकु जि मेल्लिवि बंभु परु भुवणु वि एहु असेसु ।

पुहविहिं गिम्मिउ भंगुरउ एहउ बुज्झि विसेसु ॥ १३१ ॥

एकमेव मुक्त्वा ब्रह्म परं भुवनमपि एतद् अशेषम् ।

पृथिव्यां निर्मापितं भङ्गुरं एतद् बुध्यस्व विशेषम् ॥ १३१ ॥

एकु जि इत्यादि । एकु जि एकमेव मेल्लिवि मुक्त्वा । किम् । बंभु परु परमब्रह्मशब्द-
वाच्यं नानावृक्षभेदभिन्नवनमिव नानाजीवजातिभेदभिन्नं शुद्धसंग्रहनयेन शुद्धजीवद्रव्यं भुवणु वि
भुवनमपि एहु इदं प्रत्यक्षीभूतम् । कतिसंख्योपेतम् । असेसु अशेषं समस्तमपि । कथंभूतमिदं
सर्वं पुहविहिं गिम्मिउ पृथिव्यां लोके निर्मापितं भंगुरउ विनश्वरं एहउ बुज्झि विसेसु
इमं विशेषं बुध्यस्व जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट । अयमत्र भावार्थः । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं
परमब्रह्मशब्दवाच्यं शुद्धजीवतत्त्वं मुक्त्वान्यत्पञ्चेन्द्रियविषयभूतं विनश्वरमिति ॥ १३१ ॥

अथ पूर्वोक्तमधुवत्वं ज्ञात्वा धनयौवनयोस्तृष्णा न कर्तव्येति कथयति—

जे दिट्ठा सूरुग्गमणि ते अत्थवणि ण दिट्ठ ।

तें कारणि वढ धम्मु करि धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ ॥ १३२ ॥

ये दृष्टाः सूर्योद्गमने ते अस्तमने न दृष्टाः ।

तेन कारणेन वत्स धर्मं कुरु धने यौवने का तृष्णा ॥ १३२ ॥

जे दिट्ठा इत्यादि । जे दिट्ठा ये केचन दृष्टाः । क । सूरुग्गमणि सूर्योदये ते अत्थ-

नीचे दरजेका गिना जाता है, वहाँपर केवल वीतरागभाव ही है ॥१३०॥

आगे शुद्धात्मस्वरूपसे अन्य जो सामग्री है, वह सभी विनश्वर हैं, ऐसा व्याख्यान करते
हैं—[एक परं ब्रह्म एवं] एक शुद्ध जीवद्रव्यरूप परब्रह्मको [मुक्त्वा] छोड़कर [पृथिव्यां] इस
लोकमें [इदं अशेषं भुवनमपि निर्मापितं] इस समस्त लोकके पदार्थोंकी रचना है, वह सब
[भंगुरं] विनाशीक है, [एतद् विशेषं] इस विशेष बातकी तू [बुध्यस्व] जान ॥
भावार्थ—शुद्धसंग्रहनयकर समस्त जीव-राशि एक है । जैसे नाना प्रकारके वृक्षोंकर भरा हुआ वन
एक कहा जाता है, उसी तरह नाना प्रकारके जीव जाति करके एक कहे जाते हैं । वे सब जीव
अविनाशी हैं, और सब देहादिकी रचना विनाशीक दीखती है । शुभ-अशुभ कर्मकर जो देहादिक
इस जगत्में रचे गये हैं वे सब विनाशीक हैं, हे प्रभाकरभट्ट, ऐसा विशेष तू जान, देहादिको
अनित्य जान और जीवोंको नित्य जान । निर्मल ज्ञान दर्शनस्वभाव परब्रह्म (शुद्ध जीवतत्त्व) उससे
भिन्न जो पाँच इंद्रियोंका विषयवन वह क्षणभंगुर जानो ॥१३१॥

आगे पूर्वोक्त विषय-सामग्रीको अनित्य जानकर धन यौवन और विषयोंमें तृष्णा नहीं करनी
चाहिए, ऐसा कहते हैं—[वत्स] हे शिष्य, [ये] जो कुछ पदार्थ [सूर्योद्गमने] सूर्यके उदय होने पर
[दृष्टाः] देखे थे, [ते] वे [अस्तमने] सूर्यके अस्त होनेके समय [न दृष्टाः] नहीं देखे जाते, नष्ट हो

धणि ण दिट्ठ ते पुरुषा गृहधनधान्यादिपदार्थां वा अस्तमने न दृष्टाः, एवमधुवत्तं ज्ञात्वा । ते कारणं बह धम्मं करि तेन कारणेन वत्स पुत्र सागारानगारधर्मं कुरु । धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ धने यौवने वा का तृष्णा न कापीति । तद्यथा । गृहस्थेन धने तृष्णा न कर्तव्या तर्हि किं कर्तव्यम् । भेदाभेदरत्नत्रयाराधकानां सर्वतात्पर्येणाहारादिचतुर्विधं दानं दातव्यम् । नो चेत् सर्वसंगपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्पपरमसमाधौ स्थातव्यम् । यौवनेऽपि तृष्णा न कर्तव्या, यौवनावस्थायां यौवनोद्रेकजनितविषयरागं त्यक्त्वा विषयप्रतिपक्षभूते वीतरागचिदानन्दैक-स्वभावे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येति भावार्थः ॥ १३२ ॥

अथ धर्मतपश्चरणरहितानां मनुष्यजन्म वृथेति प्रतिपादयति—

धम्मं ण संचिउ तउ ण किउ रुक्खे चम्ममएण ।

खज्जिवि जर-उद्देहियए णरइ पडिब्वउ तेण ॥ १३३ ॥

धर्मो न संचितः तपो न कृतं वृक्षेण चर्ममयेन ।

स्वादयित्वा जरोद्देहिकया नरके पतितव्यं तेन ॥ १३३ ॥

धम्म इत्यादि । धम्मं ण संचिउ धर्मसंचयो न कृतः गृहस्थावस्थायां दानशीलपूजोपवासादिरूपसम्यक्त्वपूर्वको गृहिधर्मो न कृतः, दर्शनिकव्रतिकाद्येकादशविधश्रावकधर्मरूपो वा । तउ

जाते हैं, [तेन कारणेन] इस कारण तू [धर्म] धर्मको [कुरु] पालन कर, [धने यौवने] धन और यौवन अवस्थामें [का तृष्णा] क्या तृष्णा कर रहा है ? भावार्थ—धन, धान्य, घर, मनुष्य, पशु आदिक पदार्थ जो सबेरेके समय देखे थे, वे सांझके समयमें नहीं दीखते, नष्ट हो जाते हैं ऐसा जगतका ठाठ विनाशीक जानकर इन पदार्थोंकी तृष्णा छोड़, और श्रावकका तथा यतिका धर्म स्वीकार कर । धन यौवनमें क्या तृष्णा कर रहा है ? ये तो जलके बबूलेके समान क्षणभंगुर हैं । यहाँ कोई प्रश्न करे, कि गृहस्थी धनकी तृष्णा न करे तो क्या करे ? उसका उत्तर—निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके आराधक जो यति उनकी सब तरह गृहस्थको सेवा करनी चाहिए, चार प्रकारका दान देना, धर्मकी इच्छा रखनी, धनकी इच्छा नहीं करनी । यदि किसी दिन प्रत्याख्यानकी चौकडीके उदयसे श्रावकके व्रतमें भी रहे, तो देव पूजा, गुरुकी सेवा, स्वाध्याय, दान, शील, उपवासादि अणुव्रतरूप धर्म करे, और यदि बड़ी शक्ति होवे, तो सब परिग्रहका त्यागकर यतिके व्रत धारण करके निर्विकल्प परमसमाधिमें रहे । यतिको तो सर्वथा धनका त्याग और गृहस्थको धनका प्रमाण करना योग्य है । विवेकी गृहस्थ धनकी तृष्णा न करें । धन यौवन असार है, यौवन अवस्थामें विषय तृष्णा न करे, विषयका राग छोड़कर, विषयोंसे पराङ्मुख जो वीतराग निजानन्द एक अखंड स्वभावरूप शुद्धात्मा उसमें लीन होकर हमेशा भावना करनी चाहिये ॥१३२॥

आगे जो धर्मसे रहित हैं, और तपश्चरण भी नहीं करते हैं, उनका मनुष्य-जन्म वृथा है, ऐसा कहते हैं—[येन] जिसने [चर्ममयेन वृक्षेण] मनुष्य शरीररूपी चर्ममयी वृक्षको पाकर उससे [धर्मः न कृतः] धर्म नहीं किया, [तपो न कृतं] और तप भी नहीं किया, उसका शरीर [जरोद्देहिकया

ण किउ तपश्चरणं न कृतं तपोधनेन तु समस्तबहिर्द्रव्येच्छानिरोधं कृत्वा अनशनादिद्वादशविध-
तपश्चरणबलेन निजशुद्धात्मध्याने स्थित्वा निरन्तरं भावना न कृता । केन कृता । रुक्खे
चम्ममण्ण वृक्षेण मनुष्यशरीरचर्मनिर्वृत्तेन । येनैवं न कृतं गृहस्थेन तपोधनेन वा णरइ
पडिब्बउ तेण नरके पतितव्यं तेन । किं कृता । खज्जिबि भक्षयित्वा । कया कर्तभूतया ।
जरउहेहियए जरोद्रेहिकया । इदमत्र तात्पर्यम् । गृहस्थेनाभेदरत्नत्रयस्वरूपमुपादेयं कृत्वा भेद-
रत्नत्रयात्मकः श्रावकधर्मः कर्तव्यः, यतिना तु निश्चयरत्नत्रये स्थित्वा व्यावहारिकरत्नत्रयबलेन
विशिष्टतपश्चरणं कर्तव्यं नो चेत् दुर्लभपरंपरया प्राप्तं मनुष्यजन्म निष्फलमिति ॥ १३३ ॥

अथ हे जीव जिनेश्वरपदे परमभक्तिं कुर्विति शिक्षां ददाति—

अरि जिय जिण-पइ भक्ति करि सुहि सज्जणु अवहेरि ।

तिं बप्पेण वि कज्जु णवि जो पाइइ संसारि ॥ १३४ ॥

अरे जीव जिनपदे भक्तिं कुरु सुखं स्वजनं अपहर ।

तेन पित्रापि कार्यं नैव यः पातयति संसारे ॥ १३४ ॥

अरि जिय इत्यादि । अरि जिय अहो भव्यजीव जिणपइ भक्ति करि जिनपदे भक्तिं
कुरु गुणानुरागवचननिमित्तं जिनश्वरेण प्रणीतश्रीधर्मे रतिं कुरु, सुहि सज्जणु अवहेरि संसार-
सुखसहकारिकारणभूतं स्वजनं सुखं गोत्रमप्यपहर त्यज । कस्मात् । तिं बप्पेण वि तेन स्नेहित-
पित्रापि कज्जु णवि कार्यं नैव । यः किं करोति । जो पाइइ यः पातयति । क । संसारि

खादयित्वा] बुढापारूपी दीमकके कीडेकर खाया जायगा, फिर [तेन] उसको मरणकर [नरके]
नरकमें [पतितव्यं] पडना पडेगा ॥ भावार्थ—गृहस्थ अवस्थामें जिसने सम्यक्त्वपूर्वक दान, शील,
पूजा, उपवासादिरूप गृहस्थका धर्म नहीं किया, दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमाके
भेदरूप श्रावकका धर्म नहीं धारण किया, तथा मुनि होकर सब पदार्थोंकी इच्छाका निरोध कर
अनशन वगैरह बारह प्रकारका तप नहीं किया, तपश्चरणके बलसे शुद्धात्माके ध्यानमें ठहरकर
निरन्तर भावना नहीं की, मनुष्यके शरीररूप चर्ममयी वृक्षको पाकर यतिका व श्रावकका धर्म नहीं
किया, उनका शरीर वृद्धावस्थारूपी दीमकके कीडे खावेंगे, फिर वह नरकमें जावेगा । इसलिये
गृहस्थको तो यह योग्य है, कि निश्चयरत्नत्रयकी श्रद्धाकर निजस्वरूप उपादेय जान, व्यवहार
रत्नत्रयरूप श्रावकका धर्म पालना । और यतिको यह योग्य है, कि निश्चयरत्नत्रयमें ठहरकर
व्यवहाररत्नत्रयके बलसे महातप करना । अगर यतिका व श्रावकका धर्म नहीं बना, अणुव्रत नहीं
पाले, तो महा दुर्लभ मनुष्य-देहका पाना निष्फल है, उससे कुछ फायदा नहीं ॥१३३॥

आगे श्रीगुरु शिष्यको यह शिक्षा देते हैं, कि तू मुनिराजके चरणारविंदोंकी परमभक्ति कर,
[अरे जीव] हे भव्य जीव, तू [जिनपदे] जिनपदमें [भक्तिं कुरु] भक्ति कर, और जिनेश्वरके कहे
हुए जिनधर्ममें प्रीति कर, [सुखे] संसार सुखके निमित्तकारण [स्वजनं] जो अपने कुटुम्बके जन उनको
[अपहर] त्याग, अन्यकी तो बात क्या है ? [तेन पित्रापि नैव कार्यं] उस महास्नेहरूप पितासे

संसारसमुद्रे । तथाच । हे आत्मन्, अनादिकाले दुर्लभे वीतरागसर्वज्ञप्रणीते रागद्वेषमोहरहिते जीवपरिणामलक्षणे शुद्धोपयोगरूपे निश्चयधर्मे व्यवहारधर्मे च पुनः षडावश्यकदिलक्षणे गृहस्था-पेक्षया दानपूजादिलक्षणे वा शुभोपयोगस्वरूपे रतिं कुरु । इत्थंभूते धर्मे प्रतिकूलो यः तं मनुष्यं स्वगोत्रजमपि त्यज तदनुकूलं परगोत्रजमपि स्वीकुर्विति । अत्रायं भावार्थः । विषयसुखनिमित्तं यथानुरागं करोति जीवस्तथा जिनधर्मं करोति तर्हि संसारे न पततीति । तथा चोक्तम्—
“ विसयहं कारणि सव्वु जणु जिम अणुराउ करेइ । तिम जिणभासिए धम्मि जइ ण उ संसारि पडेइ ॥ ” ॥ १३४ ॥

अथ येन चित्तशुद्धिं कृत्वा तपश्चरणं न कृतं तेनात्मा वञ्चित इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

जेण ण चिण्णउ तव-यरणु णिम्मलु चित्तु करेवि ।

अप्पा वंचित तेण पर माणुस-जम्मु लहेवि ॥ १३५ ॥

येन न चीर्णं तपश्चरणं निर्मलं चित्तं कृत्वा ।

आत्मा वञ्चितः तेन परं मनुष्यजन्म लब्ध्वा ॥ १३५ ॥

जेण इत्यादि । जेण येन जीवने ण चिण्णउ न चरितं न कृतम् । किम् । तवयरणु बाह्याभ्यन्तरतपश्चरणम् । किं कृत्वा । णिम्मलु चित्तु करेवि कामक्रोधादिरहितं वीतराग-

भी कुछ काम नहीं है, [यः] जो [संसारे] संसारसमुद्रमें इस जीवको [पातयति] पटक देवे ॥ भावार्थ—हे आत्माराम, अनादिकालसे दुर्लभ जो वीतराग सर्वज्ञका कहा हुआ राग द्वेष मोहरहित शुद्धोपयोग-रूप निश्चयधर्म और शुभोपयोगरूप व्यवहारधर्म, उनमें भी छह आवश्यकरूप यतिका धर्म, तथा दान पूजादि श्रावकका धर्म, यह शुभाचाररूप दो प्रकार धर्म उसमें प्रीति कर । इस धर्मसे विमुख जो अपने कुलका मनुष्य उसे छोड़, और इस धर्मके सन्मुख जो परकुटुंबका भी मनुष्य हो उससे प्रीति कर । तात्पर्य यह है कि यह जीव जैसे विषय-सुखसे प्रीति करता है, वैसे यदि जिनधर्मसे करे तो संसारमें नहीं भटके । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि जैसे विषयोंके कारणोंमें यह जीव बारबार प्रेम करता है, वैसे यदि जिनधर्ममें करे, तो संसारमें भ्रमण न करे ॥१३४॥

आगे जिसने चित्तकी शुद्धता करके तपश्चरण नहीं किया, उसने अपना आत्मा ठग लिया, यह अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं—[येन] जिस जीवने [तपश्चरणं] बाह्याभ्यन्तर तप [न चीर्णं] नहीं किया, [निर्मलं चित्तं] महा निर्मल चित्त [कृत्वा] करके [तेन] उसने [मनुष्यजन्म] मनुष्यजन्मको [लब्ध्वा] पाकर [परं] केवल [आत्मा वंचितः] अपना आत्मा ठग लिया ॥ भावार्थ—महान दुर्लभ इस मनुष्यदेहको पाकर जिसने विषयकषाय सेवन किये और क्रोधादि रहित वीतराग चिदानंद सुखरूपी अमृतकर प्राप्त अपना निर्मल चित्त करके अनशनादि तप न किया, वह आत्मघाती है, अपने आत्माको ठगनेवाला है । एर्कोद्रिय पर्यायसे विकलत्रय होना दुर्लभ है, विकलत्रयसे असेनी पंचेद्रिय होना, असेनी पंचेद्रियसे सेनी होना, सेनी तिर्यचसे मनुष्य

चिदानन्दैकसुखामृतवृक्षं निर्मलं चित्तं कृत्वा । अप्या बन्धित तेण आत्मा बन्धितः तेन नियमेन । किं कृत्वा । लहेवि लब्ध्वा । किम् । माणुसजम्मु मनुष्यजन्मेति । तथाहि । दुर्लभपरंपरारूपेण मनुष्यभवे लब्धे तपश्चरणेऽपि च निर्विकल्पसमाधिबलेन रागादिपरिहारेण चित्तशुद्धिः कर्तव्येति । येन चित्तशुद्धिर्न कृता स आत्मवञ्चक इति भावार्थः । तथा चोक्तम्—“चित्ते बद्धे बद्धो मुक्ते मुक्तो ति गत्थि संदेहो । अप्या विमलसहावो मइलिज्जइ मइलिप्प चित्ते ॥” ॥ १३५ ॥

अत्र पञ्चेन्द्रियविजयं दर्शयति—

ए पंचिदिय-करहडा जिय मोक्कला म चारि ।

चरिचि असेसु वि विसय-वणु पुणु पाडहिँ संसारि ॥ १३६ ॥

एते पञ्चेन्द्रियकरभकाः जीव मुक्तान् मा चारय ।

चरित्वा अशेषं अपि विषयवनं पुनः पातयन्ति संसारे ॥ १३६ ॥

ए इत्यादि । ए एते प्रत्यक्षीभूताः पंचिदियकरहडा अतीन्द्रियसुखास्वादरूपात्परमात्मनः सकाशात् प्रतिपक्षभूताः पञ्चेन्द्रियकरहडा उष्ट्राः जिय हे मूढजीव मोक्कला म चारि स्वशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दैकरूपसुखपराङ्मुखो भूत्वा स्वेच्छया मा चारय व्याघुट्टय । यतः किं कुर्वन्ति । पाडहिँ पातयन्ति । कम् । जीवम् । क । संसारे निःसंसारशुद्धात्मप्रतिपक्षभूते पञ्चप्रकारसंसारे पुणु पश्चात् । किं कृत्वा पूर्वम् । चरिचि चरित्वा भक्षणं कृत्वा । किम् ।

होना दुर्लभ है । मनुष्यमें भी आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, दीर्घ आयु, सत्संग, धर्मश्रवण, धर्मका धारण और उसे जन्मपर्यंत निबाहना ये सब बातें दुर्लभ हैं, सबसे दुर्लभ (कठिन) आत्मज्ञान है, जिससे कि चित्त शुद्ध होता है । ऐसी महादुर्लभ मनुष्यदेह पाकर तपश्चरण अंगीकार करके निर्विकल्प समाधिके बलसे रागादिको त्यागकर परिणाम निर्मल करने चाहिये; जिन्होंने चित्तको निर्मल नहीं किया, वे आत्माको ठगनेवाले हैं । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि चित्तके बंधनेसे यह जीव कर्मोंसे बँधता है । जिनका चित्त परिग्रहसे, धन धान्यादिकसे आसक्त हुआ, वे ही कर्मबंधनसे बंधते हैं, और जिनका चित्त परिग्रहसे छूटा, आशा (तृष्णा) से अलग हुआ, वे ही मुक्त हुए । इसमें संदेह नहीं है । यह आत्मा निर्मल स्वभाव है, सो चित्तके मैले होनेसे मैला होता है ॥१३५॥

आगे पाँच इंद्रियोंका जीतना दिखलाते हैं—[एते] ये प्रत्यक्ष [पंचेन्द्रियकरभकाः] पाँच इंद्रियरूपी ऊँट हैं, उनको [स्वेच्छया] अपनी इच्छासे [मा चारय] मत चरने दे, क्योंकि [अशेषं] सम्पूर्ण [विषयवनं] विषय-वनको [चरित्वा] चरके [पुनः] फिर ये [संसारे] संसारमें ही [पातयन्ति] पटक देंगे । भावार्थ—ये पाँचों इंद्रिय अतीन्द्रियसुखके आस्वादनरूप परमात्मामें पराङ्मुख हैं, उनको हे मूढजीव, तू शुद्धात्माकी भावनासे पराङ्मुख होकर इनको स्वच्छंदी मत कर, अपने वशमें रख; ये तुझे संसारमें पटक देंगे, इसलिए इनको विषयोंसे पीछे लौटा । संसारसे रहित जो शुद्ध आत्मा उससे उलटा जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच प्रकारका संसार उसमें ये पंचेन्द्रियरूपी ऊँट स्वच्छंदी हुए विषय-वनको चरके जगतके जीवोंको जगतमें ही पटक देंगे, यह तात्पर्य जानना ॥१३६॥

विसयवणु पञ्चेन्द्रियविषयवनमित्यभिप्रायः ॥ १३६ ॥

अथ ध्यानवैषम्यं कथयति—

जोइय विसमी जोय-गइ मणु संठवण ण जाइ ।

इंदिय-विसय जि सुक्खडा तित्थु जि बलि बलि जाइ ॥ १३७ ॥

योगिन् विषमा योगगतिः मनः संस्थापयितुं न याति ।

इन्द्रियविषयेषु एव सुखानि तत्र एव पुनः पुनः याति ॥ १३७ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् विसमी जोयगइ विषमा योगगतिः । कस्मात् । मणु संठवण ण जाइ निजशुद्धात्मन्यतिचपलं मर्कटप्रायं मनो धर्तुं न याति । तदपि कस्मात् । इंदियविसय जि सुक्खडा इन्द्रियविषयेषु यानि सुखानि बलि बलि तित्थु जि जाइ वीतरागपरमाह्लादसमरसीभावपरमसुखरहितानां अनादिवासनावासितपञ्चेन्द्रियविषयसुखास्वादासक्तानां जीवानां पुनः पुनः तत्रैव गच्छतीति भावार्थः ॥ १३७ ॥

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

सो जोइउ जो जोगवइ दंसणु णाणु चरित्तु ।

होयवि पंचहैं बाहिरउ क्षायंतउ परमत्थु ॥ १३७*५ ॥

स योगी यः पालयति (?) दर्शनं ज्ञानं चारित्रम् ।

भूत्वा पञ्चभ्यः बाह्यं ध्यायन् परमार्थम् ॥ १३७*५ ॥

सो इत्यादि । सो जोइउ स योगी ध्यानी भण्यते । यः किं करोति । जो जोगवइ यः कर्ता प्रतिपालयति रक्षति । किम् । दंसणु णाणु चरित्तु निजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानु-

आगे ध्यानकी कठिनता दिखलाते हैं—[योगिन्] हे योगी, [योगगतिः] ध्यानकी गति [विषमा] महाविषम है, क्योंकि [मनः] चित्तरूपी बन्दर चपल होनेसे [संस्थापयितुं न याति] निज शुद्धात्मामें स्थिरताको नहीं प्राप्त होता । क्योंकि [इन्द्रियविषयेषु एव] इन्द्रियके विषयोंमें ही [सुखानि] सुख मान रहा है, इसलिये [तत्र एव] उन्हीं विषयोंमें [पुनः पुनः] फिर फिर अर्थात् बार बार [याति] जाता है ॥ भावार्थ—वीतराग परम आनन्द समरसी भावरूप अतीन्द्रिय सुखसे रहित जो यह संसारी जीव है, उसका मन अनादिकालकी अविद्याकी वासनामें बस रहा है, इसलिये पंचेन्द्रियोंके विषय-सुखोंमें आसक्त है, इन जगतके जीवोंका मन बारबार विषय-सुखोंमें जाता है, और निजस्वरूपमें नहीं लगता है, इसलिये ध्यानकी गति विषम (कठिन) है ॥१३७॥

आगे स्थल-संख्याके बाह्य जो प्रक्षेपक दोहे हैं, उनको कहते हैं—[स योगी] वही ध्यानी है, [यः] जो [पंचभ्यः बाह्यः] पंचेन्द्रियोंसे बाहर (अलग) [भूत्वा] होकर [परमार्थं] निज परमात्माका [ध्यायन्] ध्यान करता हुआ [दर्शनं ज्ञानं चारित्रं] दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी रत्नत्रयको [पालयति] पालता है, रक्षा करता है ॥ भावार्थ—जिसके परिणाम निज शुद्धात्मद्रव्यके सम्यक्श्रद्धान

चरणरूपं निश्चयरत्नत्रयम् । किं कृता । होयवि भूता । कथंभूतम् । बाहिरउ बाह्यः । केभ्यः । पंचहं पञ्चपरमेष्ठिभावनाप्रतिपक्षभूतेभ्यः पञ्चमगतिसुखविनाशकेभ्यः पञ्चेन्द्रियेभ्यः । किंकुर्वाणः । ज्ञायंतउ ध्यायन् सन् । कम् । परमत्थु परमार्थशब्दवाच्यं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं परमात्मानमिति तात्पर्यम् । योगशब्दस्यार्थः कथ्यते—‘युज्’ समायौ इति धातुनिष्पन्नेन योगशब्देन वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरुच्यते । अथवानन्तज्ञानादिरूपे स्वशुद्धात्मनि योजनं परिणमनं योगः, स इत्थंभूतो योगो यस्यास्तीति स तु योगी ध्यानी तपोधन इत्यर्थः ॥ १३७*५ ॥

अथ पञ्चेन्द्रियसुखस्यानित्यत्वं दर्शयति—

विसय-सुहई बे दिवहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि ।

भुल्लउ जीव म वाहि तुहुं अप्पण खंधि कुहाडि ॥ १३८ ॥

विषयसुखानि द्वे दिवसके पुनः दुःखानां परिपाटी ।

भ्रान्त जीव मा वाहय त्वं आत्मनः स्कन्धे कुठारम् ॥ १३८ ॥

विसय इत्यादि । विसयसुहई निर्विषयान्नित्याद्वीतरागपरमानन्दैकस्वभावात् परमात्मसुखात्मतिकूलानि विषयसुखानि द्वे दिवहडा दिनद्वयस्थायीनि भवन्ति । पुणु पुनः पश्चाद्दिनद्वयानन्तरं दुक्खहं परिवाडि आत्मसुखबहिर्मुखेन विषयासक्तेन जीवेन यान्युपाजितानि पापानि तदुदयजनितानां नारकादिदुःखानां परिपाटी प्रस्तावः एवं ज्ञात्वा भुल्लउ जीव हे भ्रान्त जीव म वाहि तुहुं मा निक्षिप तम् । कम् । कुहाडि कुठारम् । क । अप्पण खंधि आत्मीयस्कन्धे । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा विषयसुखं त्यक्त्वा वीतरागपरमात्मसुखे च स्थित्वा निरन्तरं भावना कर्तव्येति भावार्थः ॥ १३८ ॥

ज्ञान आचरणरूप निश्चयरत्नत्रयमें ही लीन है, जो पंचमगतिरूपी मोक्षके सुखको विनाश करनेवाली और पंचपरमेष्ठीकी भावनासे रहित ऐसी पंचेन्द्रियोंसे जुदा हो गया है, वही योगी है । योग शब्दका अर्थ ऐसा है, कि अपना मन चेतनमें लगाना । वह योग जिसके हो, वही योगी है, वही ध्यानी है, वही तपोधन है, यह निःसंदेह जानना ॥१३७*५॥

आगे पंचेन्द्रियोंके सुखको विनाशीक बतलाते हैं—[विषयसुखानि] विषयोंके सुख [द्वे दिवसे] दो दिनके हैं, [पुनः] फिर बादमें [दुःखानां परिपाटी] ये विषय दुःखकी परिपाटी हैं, ऐसा जानकर [भ्रान्त जीव] हे भोले जीव, [त्वं] तू [आत्मनः स्कन्धे] अपने कंधेपर [कुठारं] आप ही कुल्हाडीको [मा वाहय] मत चला ॥ भावार्थ—ये विषय क्षणभंगुर हैं, बारबार दुर्गतिके दुःखके देनेवाले हैं, इसलिये विषयोंका सेवन अपने कंधेपर कुल्हाडीका मारना है, अर्थात् नरकमें अपनेको डुबोना है, ऐसा व्याख्यान जानकर विषय-सुखोंको छोड़, वीतराग परमात्मसुखमें ठहरकर निरन्तर शुद्धोपयोगकी भावना करनी चाहिये ॥१३८॥

आगे आत्मभावनाके लिये जो विद्यमान विषयोंको छोड़ता है, उसकी प्रशंसा करते हैं—[यः] जो

अथात्मभावनार्थं योऽसौ विद्यमानविषयान् त्यजति तस्य प्रशंसां करोति—

संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउं हउं तासु ।

सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खड्डिल्लउ जासु ॥ १३९ ॥

सतः विषयान् यः परिहरति बलिं करोमि अहं तस्य ।

स दैवेन एव मुण्डितः शीर्षं खल्वाटं यस्य ॥ १३९ ॥

संता इत्यादि । संता विसय कटुकविषयप्रख्यान किंवाकफलोपमानलब्धपूर्वनिरुपराग-
शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भरूपनिश्चयधर्मचौरान् विद्यमानविषयान् जो परिहरइ यः परिहरति बलि
किज्जउं हउं तासु बलिं पूजां करोमि तस्याहमिति । श्रीयोगीन्द्रदेवाः स्वकीयगुणानुरागं
प्रकटयन्ति । विद्यमानविषयत्यागे दृष्टान्तमाह । सो दइवेण जि मुंडियउ स दैवेन मुण्डितः ।
स कः । सीसु खड्डिल्लउ जासु शिरः खल्वाटं यस्येति । अत्र पूर्वकाले देवागमनं दृष्ट्वा
समर्पितरूपं धर्मातिशयं दृष्ट्वा अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानोत्पत्तिं दृष्ट्वा भरतसगरारामपाण्डवादिकम-
नेकराजाधिराजमणिमुकुटकिरणकलापचुम्बितपादारविन्दजिनधर्मरतं दृष्ट्वा च परमात्मभावनार्थं

कोई ज्ञानी [सतः विषयान्] विद्यमान विषयोंको [परिहरति] छोड़ देता है, [तस्य] उसकी
[अहं] मैं [बलिं] पूजा [करोमि] करता हूँ, क्योंकि [यस्य शीर्षं] जिसका शिर [खल्वाटं]
गंजा है, [सः] वह तो [दैवेन एव] दैवकर ही [मुंडितः] मूँड़ा हुआ है, वह मुंडित नहीं कहा जा
सकता ॥ भावार्थ—जो देखनेमें मनोज्ञ ऐसा इन्द्रायनिका विष-फल उसके समान ये मौजूद विषय
हैं, ये वीतराग शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप निश्चयधर्मस्वरूप रत्नके चोर हैं, उनको जो ज्ञानी छोड़ते
हैं उनकी बलिहारी श्रीयोगीन्द्रदेव करते हैं, अर्थात् अपना गुणानुराग प्रगट करते हैं । जो वर्तमान
विषयोंके प्राप्त होने पर भी उनको छोड़ते हैं, वे महापुरुषोंकर प्रशंसा योग्य हैं, अर्थात् जिनके
सम्पदा मौजूद हैं, वे सब त्यागकर वीतरागके मार्गको आराधें, वे तो सत्पुरुषोंसे सदा ही प्रशंसाके
योग्य हैं, और जिसके कुछ भी तो सामग्री नहीं है, परंतु तृष्णासे दुःखी हो रहा है; अर्थात् जिसके
विषय तो विद्यमान नहीं है तो भी उनका अभिलाषी है, वह महानिष्ठ है । चतुर्थकालमें तो इस क्षेत्रमें
देवोंका आगमन था, उनको देखकर धर्मकी रुचि होती थी, और नानाप्रकारकी ऋद्धियोंके धारी
महामुनियोंका अतिशय देखकर ज्ञानकी प्राप्ति होती थी, तथा अन्य जीवोंको अवधि मनःपर्यय
केवलज्ञानकी उत्पत्ति देखकर सम्यक्त्वकी सिद्धि होती थी । जिनके चरणारविन्दोंको बड़े बड़े
मुकुटधारी राजा नमस्कार करते थे, ऐसे बड़े-बड़े राजाओंकर सेवनीक भरत सगर राम पाण्डवादि
अनेक चक्रवर्ती बलभद्र नारायण तथा मंडलीक राजाओंको जिनधर्ममें लीन देखकर भव्यजीवोंको
जिनधर्मकी रुचि उपजती थी, तब परमात्म-भावनाके लिए विद्यमान विषयोंका त्याग करते थे ।
और जब तक गृहस्थपनेमें रहते थे, तब तक दान-पूजादि शुभ क्रियायें करते थे, चार प्रकारके
संघकी सेवा करते थे । इसलिये पहले समयमें तो ज्ञानोत्पत्तिके अनेक कारण थे, ज्ञान उत्पन्न
होनेका अचंभा नहीं था । लेकिन अब इस पंचमकालमें इतनी सामग्री नहीं है । ऐसा कहा भी है,

केचन विद्यमानविषयत्यागं कुर्वन्ति तद्भावनातरानां दानपूजादिकं च कुर्वन्ति तत्राश्चर्यं नास्ति
इदानीं पुनर् “ देवागमपरिहीणे कालेऽतिशयवर्जिते । केवलोत्पत्तिहीने तु हलचक्रधरोज्जिते ॥ ”
इति श्लोककथितलक्षणे दुष्कर्मकाले यत्कुर्वन्ति तदाश्चर्यमिति भावार्थः ॥ १३९ ॥

अथ मनोजये कृते सतीन्द्रियजयः कृतो भवतीति प्रकटयति—

पंचहं गायकु वसिकरहु जेण होंति वसि अण्ण ।

मूल विणटुइ तरुवरहं अवसइ सुक्कहि पण्ण ॥ १४० ॥

पञ्चानां नायकं वशीकुरुत येन भवन्ति वशे अन्यानि ।

मूले विनष्टे तरुवरस्य अवश्यं शुष्यन्ति पर्णानि ॥ १४० ॥

पंचहं इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । पंचहं पञ्चज्ञानप्रतिपक्षभूतानां पञ्चेन्द्रियाणां गायकु रागादिविकल्परहितपरमात्मभावनाप्रतिकूलं दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूप-प्रभृतिसमस्तापध्यानजनितविकल्पजालरूपं मनोनायकं हे भव्याः वसिकरहु विशिष्टभेदभावना-कुशबलेन स्वाधीनं कुरुत । येन स्वाधीनेन किं भवति । जेण होंति वसि अण्ण येन वशीकृतेनान्यानीन्द्रियाणि वशीभवन्ति । दृष्टान्तमाह । मूल विणटुइ तरुवरहं मूले विनष्टे तरुवरस्य अवसइ सुक्कहि पण्ण अवश्यं नियमेन शुष्यन्ति पर्णानि इति । अयमत्र भावार्थः । निजशुद्धात्मतत्त्वभावनायै येन केनचित्प्रकारेण मनोजयः कर्तव्यः तस्मिन् कृते जितेन्द्रियो

कि इस पंचमकालमें देवोंका आगमन तो बन्द हो गया है, और कोई अतिशय नहीं देखा जाता । यह काल धर्मके अतिशयसे रहित है, और केवलज्ञानकी उत्पत्तिसे रहित है, तथा हलधर, चक्रवर्ती आदि शलाकापुरुषोंसे रहित हैं । ऐसे दुष्कर्मकालमें जो भव्यजीव धर्मको धारण करते हैं यति श्रावकके व्रत आचरते हैं, यह अचंभा है । वे पुरुष धन्य हैं, सदा प्रशंसा योग्य हैं ॥१३९॥

आगे मनके जीतनेसे इन्द्रियोंका जय होता है; जिसने मनको जीता, उसने सब इन्द्रियोंको जीत लिया, ऐसा व्याख्यान करते हैं—[पंचानां नायकं] पाँच इन्द्रियोंके स्वामी मनको [वशीकुरुत] तुम वशमें करो [येन] जिस मनके वश होनेसे [अन्यानि वशे भवन्ति] अन्य पाँच इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं । जैसे कि [तरुवरस्य] वृक्षकी [मूले विनष्टे] जड़के नाश हो जानेसे [पर्णानि] पत्ते [अवश्यं शुष्यन्ति] निश्चयसे सूख जाते हैं ॥ भावार्थ—पाँचवाँ ज्ञान जो केवलज्ञान उससे पराङ्मुख स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, इन पाँच इन्द्रियोंका स्वामी मन है, जो कि रागादि विकल्प रहित परमात्माकी भावनासे विमुख और देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछरूप आर्त रौद्र खोटे ध्यानोंको आदि लेकर अनेक विकल्पजालमयी मन है । यह चंचलमनरूपी हस्ती उसको भेदविज्ञानकी भावनारूप अंकुशके बलसे वशमें करो, अपने आधीन करो । जिसके वश करनेसे सब इन्द्रियाँ वशमें हो सकती है, जैसे जड़के टूट जानेसे वृक्षके पत्ते आप ही सूख जाते हैं । इसलिये निज शुद्धात्माकी भावनाके लिये जिस तिस तरह मनको जीतना चाहिए । ऐसा ही अन्य जगह भी कहा है, कि उस उपायसे उदास नहीं होना । जगतसे उदास होकर मन जीतनेका उपाय करना ॥१४०॥

भवति । तथा चोक्तम्—“ येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं चलं मनः । स एवोपासनीयोऽत्र न चैव विरमेत्ततः ॥ ” ॥ १४० ॥

अथ हे जीव विषयासक्तः सन् कियन्तं कालं गमिष्यसीति संबोधयति—

बिसयासत्तउ जीव तुहुं कित्तिउ कालु गमीसि ।

सिव-संगमु करि णिच्चलउ अबसई सुखु लहीसि ॥ १४१ ॥

विषयासक्तः जीव त्वं कियन्तं कालं गमिष्यसि ।

शिवसंगमं कुरु निश्चलं अवश्यं मोक्षं लभसे ॥ १४१ ॥

विसय इत्यादि । बिसयासत्तउ शुद्धात्मभावोत्पन्नवीतरागपरमानन्दस्यन्दिपारमार्थिक-सुखानुभवरहितत्वेन विषयासक्तो भूत्वा जीव हे अज्ञानीजीव तुहुं त्वं कित्तिउ कालु गमीसि कियन्तं कालं गमिष्यसि बहिर्मुखभावेन नयसि । तर्हि किं करोमीत्यस्य प्रत्युत्तरमाह । सिव-संगमु करि शिवशब्दवाच्यो योऽसौ केवलज्ञानदर्शनस्वभावस्वकीयशुद्धात्मा तत्र संगमं संसर्गं कुरु । कथंभूतम् । णिच्चलउ घोरोपसर्गपरीषहप्रस्तावेऽपि मेरुबन्धिश्रलं तेन निश्चलात्मध्यानेन अबसई सुखु लहीसि नियमेनानन्तज्ञानादिगुणास्पदं मोक्षं लभसे त्वमिति तात्पर्यम् ॥ १४१ ॥

अथ शिवशब्दवाच्यस्वशुद्धात्मसंसर्गत्यागं मा कार्षींस्त्वमिति पुनरपि संबोधयति—

आगे जीवको उपदेश देते हैं, कि हे जीव, तू विषयोंमें लीन होकर अनंतकाल तक भटका, और अब भी विषयासक्त है, सो विषयासक्त हुआ कितने काल तक भटकेगा ? अब तो मोक्षका साधन कर, ऐसा संबोधन करते हैं—[जीव] हे अज्ञानी जीव, [त्वं] तू [विषयासक्तः] विषयोंमें आसक्त होकर [कियन्तं कालं] कितना काल [गमिष्यसि] बितायेगा ? [शिवसंगमं] अब तो शुद्धात्माका अनुभव [निश्चलं] निश्चलरूप [कुरु] कर, जिससे कि [अवश्यं] अवश्य [मोक्षं] मोक्षको [लभसे] पावेगा ॥ भावार्थ—हे अज्ञानी जीव, तू शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परम आनन्दरूप अविनाशी सुखके अनुभवसे रहित हुआ विषयोंमें लीन होकर कितने काल तक भटकेगा ? पहले तो अनंतकाल भ्रमा, अब भी भ्रमणसे नहीं थका तो बहिर्मुख परिणाम करके कब तक भटकेगा ? अब तो केवलज्ञान दर्शनरूप अपने शुद्धात्माका अनुभव कर, निज भावोंका संबंध कर । घोर उपसर्ग और बाईस परिषहकी उत्पत्तिमें भी सुमेरुके समान निश्चल जो आत्मध्यान उसको धारण कर, उसके प्रभावसे निःसंशय मोक्ष पावेगा । जो मोक्ष-पदार्थ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, और अनन्तवीर्यादि अनन्तगुणोंका ठिकाना है, सो विषयके त्यागसे अवश्य मोक्ष पावेगा ॥ १४१ ॥

आगे निजस्वरूपका संसर्ग तू मत छोड़, निजस्वरूप ही उपादेय है, ऐसा ही बारबार उपदेश करते हैं—[गुरुवर] हे तपोधन, [शिवसंगमं] आत्मकल्याणको [परिहृत्य] छोड़कर [क्वापि] तू कहीं भी [मा गच्छ] मत जा । [ये] जो कोई अज्ञानी जीव [शिवसंगमे] निज भावमें [नैव लीनाः] नहीं

इहु सिव-संगसु परिहरिवि गुरुबड कहिँ वि म जाहि ।

जे सिव-संगमि लीण णवि दुखसु सहंता वाहि ॥ १४२ ॥

इमं शिवसंगमं परिहृत्य गुरुवर कापि मा गच्छ ।

ये शिवसंगमे लीना नैव दुःखं सहमानाः पश्य ॥ १४२ ॥

इहु इत्यादि । इहु इमं प्रत्यक्षीभूतं शिवसंगमं शिवसंसर्गं शिवशब्दवाच्योऽनन्तज्ञानादि-
स्वभावः स्वशुद्धात्मा तस्य रागादिरहितं संबन्धं परिहरिवि परिहृत्य त्यक्त्वा गुरुबड हे तपोधन
कहिँ वि म जाहि शुद्धात्मभावनाप्रतिपक्षभूते मिथ्यात्वरगादौ कापि गमनं मा कार्षीः । जे
सिवसंगमि लीण णवि ये केचन विषयकषायाधीनतया शिवशब्दवाच्ये स्वशुद्धात्मनि
लीनास्तन्मया न भवन्ति दुखसु सहंता वाहि व्याकुलत्वलक्षणं दुःखं सहमानास्सन्तः पश्येति ।
अत्र स्वकीयदेहे निश्चयनयेन तिष्ठति योऽसौ केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितः परमात्मा स एव
शिवशब्दत्वेन सर्वत्र ज्ञातव्यो नान्यः कोऽपि शिवनामा व्याप्येको जगत्कर्तेति भावार्थः ॥१४२॥

अथ सम्यक्त्वदुर्लभत्वं दर्शयति—

कालु अणाइ अणाइ जिउ भव-सायरु वि अणंतु ।

जीविं बिणिण ण पत्ताइँ जिणु सामिउ सम्मत्तु ॥ १४३ ॥

कालः अनादिः अनादिः जीवः भवसागरोऽपि अनन्तः ।

जीवेन द्वे न प्राप्ते जिनः स्वामी सम्यक्त्वम् ॥ १४३ ॥

कालु इत्यादि । कालु अणाइ गतकालो अनादिः अणाइ जिउ जीवोऽप्यनादिः

लीन होते हैं वे सब [दुःखं] दुःखको [सहमानाः] सहते हैं, ऐसा तू [पश्य] देख ॥ भावार्थ—यह
आत्मकल्याण प्रत्यक्षमें संसार-सागरके तैरनेका उपाय है, उसको छोड़कर हे तपोधन, तू
शुद्धात्माकी भावनाके शत्रु, जो मिथ्यात्व रागादि हैं उनमें कभी गमन मत कर, केवल
आत्मस्वरूपमें मग्न रह । जो कोई अज्ञानी विषय-कषायके वश होकर शिवसंगम (निजभाव) में
लीन नहीं रहते, उनको व्याकुलत्वरूप दुःख भव-वनमें सहता देख । संसारी जीव सभी व्याकुल हैं,
दुःखरूप हैं, कोई सुखी नहीं है, एक शिवपद ही परम आनन्दका धाम है । जो अपने स्वभावमें
निश्चयनयकर ठहरनेवाला केवलज्ञानादि अनन्तगुण सहित परमात्मा उसीका नाम शिव है, ऐसा सब
जगह जानना । अथवा निर्वाणका नाम शिव है, अन्य कोई शिव नामका पदार्थ नहीं हैं, जैसा कि
नैयायिक वैशेषिकोंने जगतका कर्ता हर्ता कोई शिव माना है, ऐसा तू मत मान । तू अपने स्वरूपको
अथवा केवलज्ञानियोंको अथवा मोक्षपदको शिव समझ । यही श्रीवीतरागदेवकी आज्ञा है ॥१४२॥

आगे सम्यग्दर्शनको दुर्लभ दिखलाते हैं—[कालः अनादिः] काल भी अनादि है, [जीवो
अनादिः] जीव भी अनादि है, और [भवसागरोऽपि] संसार-समुद्र भी [अनन्तः] अनादि अनन्त
है । लेकिन [जीवेन] इस जीवने [जिनः स्वामी सम्यक्त्वं] जिनराजस्वामी और सम्यक्त्व [द्वे]

भवसायक वि अणंतु भवः संसारस्य एव समुद्रः सोऽप्यनादिरनन्तश्च । जीविं विणिण ण पत्ताइं एवमनादिकाले मिथ्यात्तरागाद्यधीनतया निजशुद्धात्मभावनाच्युतेन जीवेन इयं न लब्धम् । इयं किम् । जिणु सामिउ सम्मत्तु अनन्तज्ञानादिवतुष्टयसहितः क्षुधाद्यष्टादशदोष-रहितो जिनस्वामी परमाराध्यः । ‘सिवसंगमु सम्मत्तु’ इति पाठान्तरे स एव शिवशब्दवाच्यो न चान्यः पुरुषविशेषः, सम्पत्त्वशब्देन तु निश्चयेन शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागसम्यक्त्वम्, व्यवहारेण तु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतसद्द्रव्यादिश्रद्धानरूपं सरागसम्यक्त्वं चेति भावार्थः ॥१४३॥

अथ शुद्धात्मसंवित्तिसाधकतपश्चरणप्रतिपक्षभूतं गृहवासं दूषयति—

ये दो [न प्राप्ते] नहीं पाये ॥ भावार्थ—काल, जीव और संसार ये तीनों अनादि हैं, उसमें अनादिकालसे भटकते हुए इस जीवने मिथ्यात्व-रागादिकके वश होकर अपना शुद्धात्मस्वरूप न देखा, न जाना । यह संसारी जीव अनादिकालसे आत्मज्ञानकी भावनासे रहित है; इस जीवने स्वर्ग नरक राज्यादि सब पाये, परन्तु ये दो वस्तुयें न मिलीं, एक तो सम्यग्दर्शन न पाया, दूसरे श्रीजिनराजस्वामी न पाये । यह जीव अनादिका मिथ्यादृष्टि है, और क्षुद्र देवोंका उपासक है । श्रीजिनराज भगवानकी भक्ति इसके कभी नहीं हुई, अन्य देवोंका उपासक हुआ सम्यग्दर्शन नहीं हुआ । यहाँ कोई प्रश्न करे, कि अनादिका मिथ्यादृष्टि होनेसे सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हुआ, यह तो ठीक है, परन्तु जिनराजस्वामी न पाये, ऐसा नहीं हो सकता ? क्योंकि “भवि भवि जिण पुज्जिउ वंदिउ” ऐसा शास्त्रका वचन है, अर्थात् भव भवमें इस जीवने जिनवर पूजे और गुरु वन्दे । परन्तु तुम कहते हो, कि इस जीवने भव-वनमें भ्रमते जिनराजस्वामी नहीं पाये, उसका समाधान—जो भाव-भक्ति इसके कभी न हुई, भाव-भक्ति तो सम्यग्दृष्टिके ही होती है और बाह्यलौकिक भक्ति इसके संसारके प्रयोजनके लिये हुई वह गिनतीमें नहीं । ऊपरकी सब बातें निःसार (थोथी) है, भाव ही कारण होते हैं, सो भाव-भक्ति मिथ्यादृष्टिके नहीं होती । ज्ञानी जीव ही जिनराजके दास है, सो सम्यक्त्व विना भाव-भक्तिके अभावसे जिनस्वामी नहीं पाये, इसमें सन्देह नहीं है । यदि जिनवरस्वामीको पाते, तो उसीके समान होते, ऊपरी लोग-दिखावारूप भक्ति हुई, तो किस कामकी ? यह जानना । अब श्रीजिनदेवका और सम्यग्दर्शनका स्वरूप सुनो । अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय सहित और क्षुधादि अठारह दोष रहित है वे जिनस्वामी है, वे ही परम आराधने योग्य हैं, तथा शुद्धात्मज्ञानरूप निश्चयसम्यक्त्व (वीतराग सम्यक्त्व) अथवा वीतराग सर्वज्ञदेवके उपदेशे हुए षट् द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, और पाँच अस्त्रिकाय उनका श्रद्धानरूप सराग सम्यक्त्व यह निश्चय व्यवहार दो प्रकारका सम्यक्त्व है । निश्चयका नाम वीतराग है, व्यवहारका नाम सराग है । एक तो चौथे पदका यह अर्थ है, और दूसरे ऐसा “सिवसंगमु सम्मत्तु” । इसका अर्थ ऐसा है, कि शिव जो जिनेन्द्रदेव उनका संगम अर्थात् भाव-सेवन इस जीवको नहीं हुआ, और सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हुआ । सम्यक्त्व होवे तो परमात्माका भी परिचय होवे ॥१४३॥

आगे शुद्धात्मज्ञानका साधक जो तपश्चरण उसके शत्रुरूप गृहवासको दोष देते हैं—[जीव] हे

घर-वासउ मा जाणि जिय दुक्किय-वासउ एहु ।

पासु कयंते मंडियउ अविचलु णिस्संदेहु ॥ १४४ ॥

गृहवासं मा जानीहि जीव दुष्कृतवास एषः ।

पाशः कृतान्तेन मण्डितः अविचलः निस्सन्देहम् ॥ १४४ ॥

घरवासउ इत्यादि । घरवासउ गृहवासम् अत्र गृहशब्देन वासमुख्यभूता स्त्री ग्राह्या । तथा चोक्तम्—“न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते” । मा जाणि जिय हे जीव त्वमात्महितं मा जानीहि । कथंभूतो गृहवासः । दुक्कियवासउ एहु समस्तदुष्कृतानां पापानां वासः स्थानमेषः, पासु कयंते मंडियउ अज्ञानजीवबन्धनार्थं पाशो मण्डितः । केन । कृतान्तनान्ना कर्मणा । कथंभूतः । अविचलु शुद्धात्मतत्त्वभावनाप्रतिपक्षभूतेन मोहबन्धनेनावद्धत्वादविचलः णिस्संदेहु संदेहो न कर्तव्य इति । अयमत्र भावार्थः । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मपदार्थ-भावनाप्रतिपक्षभूतैः कषायेन्द्रियैः व्याकुलीक्रियते मनः, मनःशुद्ध्यभावे गृहस्थानां तपोधनवत् शुद्धात्मभावना कर्तुं नायातीति । तथा चोक्तम्—“कषायैरिन्द्रियैर्दुष्टैर्व्याकुलीक्रियते मनः । यतः कर्तुं न शक्येत भावना गृहमेधिभिः ॥ ” ॥ १४४ ॥

अथ गृहममत्त्यागानन्तरं देहममत्त्यागं दर्शयति—

देहु वि जित्थु ण अप्पणउ तहिँ अप्पणउ किं अण्णु ।

पर-कारणि मण गुरुव तुहुँ सिव-संगसु अवगण्णु ॥ १४५ ॥

देहोऽपि यत्र नात्मीयः तत्रात्मीयं किमन्यत् ।

परकारणे मा मुह्य (?) त्वं शिवसंगमं अवगण्य ॥ १४५ ॥

जीव, तू इसको [गृहवासं] घर वास [मा जानीहि] मत जान, [एषः] यह [दुष्कृतवासः] पापका निवासस्थान है, [कृतान्तेन] यमराजने (कालने) अज्ञानी जीवोंके बाँधनेके लिये यह [पाशः मंडितः] अनेक फाँसोंसे मंडित [अविचलः] बहुत मजबूत बंदीखाना बनाया है, इसमें [निस्संदेहं] सन्देह नहीं है ॥ भावार्थ—यहाँ घर शब्दसे मुख्यरूप स्त्री जानना, स्त्री ही घरका मूल है, स्त्री बिना गृहवास नहीं कहलाता । ऐसा दूसरे शास्त्रोंमें भी कहा है, कि घरको घर मत जानों, स्त्री ही घर है, जिन पुरुषोंने स्त्रीका त्याग किया, उन्होंने घरका त्याग किया । यह घर मोहके बंधनसे अति दृढ़ बँधा हुआ है, इसमें संदेह नहीं है । यहाँ तात्पर्य ऐसा है, कि शुद्धात्मज्ञान दर्शन शुद्ध भावरूप जो परमात्मपदार्थ उसकी भावनासे विमुख जो विषय कषाय है, उनसे यह मन व्याकुल होता है । इसलिये मनकी शुद्धिके बिना गृहस्थको यतिकी तरह शुद्धात्माका ध्यान नहीं होता । इस कारण घरका त्याग करना योग्य है, घरके विना त्यागे मन शुद्ध नहीं होता । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि कषायोंसे और इन दुष्ट इन्द्रियोंसे मन व्याकुल होता है, इसलिये गृहस्थ लोग आत्मभावना कर नहीं सकते ॥१४४॥

आगे घरकी ममता छुड़ाकर शरीरका ममत्व छुड़ाते हैं—[यत्र] जिस संसारमें [देहोऽपि]

देहु वि इत्यादि । देहु वि जित्थु ण अप्पणउ देहोऽपि यत्र नात्मीयः तर्हि अप्पणउ किं अण्णु तत्रात्मीयाः किमन्ये पदार्था भवन्ति, किं तु नैव । एवं ज्ञात्वा परकारणि परस्य देहस्य बहिर्भूतस्य स्त्रीवस्त्राभरणोपकरणादिग्रहनिमित्तेन मण गुरुव तुहुं सिवसंगमु अवगण्णु हे तपोधन शिवशब्दवाच्यशुद्धात्मभावनात्यागं मा कार्षीरिति । तथाहि । अमूर्तेन वीतरागस्वभावेन निजशुद्धात्मना सह व्यवहारेण क्षीरनीरवदेकीभूत्वा तिष्ठति योऽसौ देहः सोऽपि जीवस्वरूपं न भवति इति ज्ञात्वा बहिःपदार्थे ममत्वं त्यक्त्वा शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ १४५ ॥

अथ तमेवार्थं पुनरपि प्रकारान्तरेण व्यक्तीकरोति—

करि सिव-संगमु एक्कु पर जहिँ पाविज्जइ सुक्खु ।

जोइय अण्णु म चिंति तुहुँ जेण ण लब्भइ सुक्खु ॥ १४६ ॥

कुरु शिवसंगमं एकं परं यत्र प्राप्यते सुखम् ।

योगिन् अन्यं मा चिन्तय त्वं येन न लभ्यते मोक्षः ॥ १४६ ॥

करि इत्यादि । करि कुरु । कम् । सिवसंगमु शिवशब्दवाच्यशुद्धबुद्धैकस्वभावनियज-शुद्धात्मभावनासंसर्गं एक्कु पर तमेवैकं जहिँ पाविज्जइ सुक्खु यत्र स्वशुद्धात्मसंसर्गं प्राप्यते । किम् । अक्षयानन्तसुखम् । जोइय अण्णु म चिंति तुहुँ हे योगिन् स्वभावत्वादन्यचिन्तां मा कार्षीस्त्वं जेण ण लब्भइ येन कारणेन बहिश्चिन्तया न लभ्यते । कोऽसौ । सुक्खु

शरीर भी [आत्मीयः न] अपना नहीं है, [तत्र] उसमें [अन्यत्] अन्य [आत्मीयं किं] क्या अपना हो सकता है ? [त्वं] इस कारण तू [शिवसंगमं] मोक्षका संगम [अवगण्य] छोड़कर [परकारणे] पुत्र स्त्री वस्त्र आभूषण आदि उपकरणोंमें [मा मुह्य] ममत्व मत कर ॥ भावार्थ—अमूर्त वीतराग भावरूप जो निज शुद्धात्मा उससे व्यवहारनयकर दूध पानीकी तरह यह देह एकमेक हो रही है, ऐसी देह, जीवका स्वरूप नहीं है, तो पुत्र कलत्रादि धन-धान्यादि अपने किस तरह हो सकेंगे ? ऐसा जानकर बाह्य पदार्थोंमें ममता छोड़कर शुद्धात्माकी अनुभूतिरूप जो वीतराग निर्विकल्पसमाधि उसमें ठहरकर सब प्रकारसे शुद्धोपयोगकी भावना करनी चाहिए ॥१४५॥

आगे इसी अर्थको फिर भी दूसरी तरह प्रगट करते हैं—[योगिन्] हे योगी हंस, [त्वं] तू [एकं शिवसंगमं] एक निज शुद्धात्माकी ही भावना [परं] केवल [कुरु] कर, [यत्र] जिसमें कि [सुखं प्राप्यते] अतीन्द्रिय सुख पावे, [अन्यं मा] अन्य कुछ भी मत [चिन्तय] चिन्तन कर, [येन] जिससे कि [मोक्षः न लभ्यते] मोक्ष न मिले ॥ भावार्थ—हे जीव, तू शुद्ध बुद्ध अखंड स्वभाव निज शुद्धात्माका चिन्तन कर, यदि तू शिवसंग करेगा तो अतीन्द्रिय सुख पावेगा । जो अनन्त सुखको प्राप्त हुए वे केवल आत्मज्ञानसे ही प्राप्त हुए, दूसरा कोई उपाय नहीं है । इसलिए हे योगी, तू अन्य कुछ भी चिन्तन मत कर, परके चिन्तनसे अव्याबाध अनन्त सुखरूप मोक्षको नहीं पावेगा । इसलिये निजस्वरूपका ही चिन्तन कर ॥१४६॥

अव्याबाधसुखादिलक्षणो मोक्ष इति तात्पर्यम् ॥ १४६ ॥

अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनारहितं मनुष्यजन्म निस्सारमिति निश्चिनोति—

बलि किउ माणुस-जम्मडा देवखंतहँ पर सारु ।

जइ उट्ठभइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥ १४७ ॥

बलि: क्रियते मनुष्यजन्म पश्यतां परं सारम् ।

यदि अवष्टभ्यते ततः कथति अथ दह्यते तर्हि क्षारः ॥ १४७ ॥

बलि किउ इत्यादि । बलि किउ बलि: क्रियते मस्तकस्योपरितनभागेनावतारणं क्रियते । किम् । माणुसजम्मडा मनुष्यजन्म । किंविशिष्टम् । देवखंतहँ पर सारु बहिर्भागे व्यवहारेण पश्यतामेव सारभूतम् । कस्मात् । जइ उट्ठभइ तो कुहइ यद्यवष्टभ्यते भूमौ निक्षिप्यते ततः कुत्सितरूपेण परिणमति । अह डज्झइ तो छारु अथवा दह्यते तर्हि भस्म भवति । तद्यथा । हस्तिशरीरे दन्ताश्चमरीशरीरे केशा इत्यादि सारत्वं तिर्यक्शरीरे दृश्यते, मनुष्यशरीरे किमपि सारत्वं नास्तीति ज्ञात्वा घुणभक्षितेष्टुदण्डवत्परलोकबीजं कृत्वा निस्सारमपि सारं क्रियते । कथमिति चेत् । यथा घुणभक्षितेष्टुदण्डे बीजे कृते सति विशिष्टेष्टूणां लाभो भवति तथा निःसारशरीराधारेण वीतरागसहजानन्दैकस्वशुद्धात्मस्वभावसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयभावनाबलेन तत्साधकव्यवहाररत्नत्रयभावनाबलेन च स्वर्गापवर्गफलं गृह्यत इति तात्पर्यम् ॥ १४७ ॥

आगे भेदाभेदरत्नत्रयकी भावनासे रहित जीवका मनुष्य-जन्म निष्फल है, ऐसा कहते हैं— [मनुष्यजन्म] इस मनुष्य-जन्मको [बलि: क्रियते] मस्तकके ऊपर वार डालो, जो कि [पश्यतां परं सारं] देखनेमें केवल सार दीखता है, [यदि अवष्टभ्यते] यदि इस मनुष्य-देहको भूमिमें गाड़ दिया जावे, [ततः] तो [कथति] सड़कर दुर्गन्धरूप परिणमे, [अथ] और यदि [दह्यते] जलाये [तर्हि] तो [क्षारः] राख हो जाता है ॥ भावार्थ—इस मनुष्य-देहको व्यवहारनयसे बाहरसे देखो तो सार मालूम होता है, यदि विचार करो तो कुछ भी सार नहीं है । तिर्यञ्चोंके शरीरमें तो कुछ सार भी दीखता है, जैसे हाथीके शरीरमें दांत सार है, सुरह गौके शरीरमें बाल सार हैं इत्यादि । परन्तु मनुष्य-देहमें सार नहीं है, घुनके खाये हुये गन्नेकी तरह मनुष्य-देहको असार जानकर परलोकका बीज करके सार करना चाहिए । जैसे घुनोंका खाया हुआ ईख किसी कामका नहीं है, एक बीजके कामका है, सो उसको बोकर असारसे सार किया जाता है, उसी प्रकार मनुष्य-देह किसी कामका नहीं, परन्तु परलोकका बीजकर असारसे सार करना चाहिये । इस देहसे परलोक सुधारना ही श्रेष्ठ है । जैसे घुनके खाये गये ईखको बोनेसे अनेक ईखोंका लाभ होता है, वैसे ही इस असार शरीरके आधारसे वीतराग परमानन्द शुद्धात्मस्वभावका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय उसकी भावनाके बलसे मोक्ष प्राप्त किया जाता है, और निश्चयरत्नत्रयका साधक जो व्यवहाररत्नत्रय उसकी भावनाके बलसे स्वर्ग मिलता है, तथा परम्परासे मोक्ष होता है । यह मनुष्य-शरीर परलोक सुधारनेके लिये होवे तभी सार है, नहीं तो सर्वथा असार है ॥१४७॥

अथ देहस्याशुचित्वानित्यत्वादिप्रतिपादनरूपेण व्याख्यानं करोति षट्कलेन तथाहि—

उब्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सु-मिट्ठाहार ।

देहहँ सयल गिरत्थ गय जिमु दुज्जणि उबयार ॥ १४८ ॥

उद्वर्तय प्रक्षय चेष्टां कुरु देहि सुमृष्टाहारान् ।

देहस्य सकलं निरर्थं गतं यथा दुर्जने उपकाराः ॥ १४८ ॥

उब्वलि इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । उब्वलि उद्वर्तनं कुरु चोप्पडि तलादिप्रक्षणं कुरु, चिट्ठ करि मण्डनरूपां चेष्टां कुरु, देहि सुमिट्ठाहार देहि सुमृष्टाहारान् । कस्य । देहहं देहस्य । सयल गिरत्थ गय सकला अपि विशिष्टाहारादयो निरर्थका गताः । केन दृष्टान्तेन । जिमु दुज्जणि उबयार दुर्जने यथोपकारा इति । तथा । यद्यप्ययं कायः स्वल्स्तथापि किमपि ग्रासादिकं दत्त्वा अस्थिरेणापि स्थिरं मोक्षसौख्यं गृह्यते । सप्तधातुमयत्वेनाशुचिभूः तेनापि शुचिभूतं शुद्धात्मस्वरूपं गृह्यते निर्गुणेनापि केवलज्ञानादिगुणसमूहः साध्यत इति भावार्थः । तथा चोक्तम्—“अथिरेण थिरा मलिणेण णिम्मला णिग्गुणेण गुणसारं । काएण जा विट्ठप्पइ सा किरिया किं ण कायव्वा ॥” ॥ १४८ ॥

अथ—

आगे देहको अशुचि अनित्य आदि दिखानेका छह दोहोंमें व्याख्यान करते हैं—[देहस्य] इस देहका [उद्वर्तय] उबटना करो, [प्रक्षय] तैलादिकका मर्दन करो, [चेष्टां कुरु] शृंगार आदिसे अनेक प्रकार सजाओ, [सुमृष्टाहारान्] अच्छे अच्छे मिष्ट आहार [देहि] देओ, लेकिन [सकलं] ये सब [निरर्थं गतं] यत्न व्यर्थ है, [यथा] जैसे [दुर्जने] दुर्जनोंका [उपकाराः] उपकार करना वृथा है ॥ भावार्थ—जैसे दुर्जनपर अनेक उपकार करो वे सब वृथा जाते हैं, दुर्जनसे कुछ फायदा नहीं, उसी तरह शरीरके अनेक यत्न करो, इसको अनेक तरहसे पोषण करो परन्तु यह अपना नहीं हो सकता । इसलिए सार यही है कि इसको अधिक पुष्ट नहीं करना । कुछ थोडासा ग्रासादि देकर स्थिर करके मोक्ष साधन करना; सात धातुमयी यह अशुचि शरीर है, इससे पवित्र शुद्धात्मस्वरूपकी आराधना करना । इस महा निर्गुण शरीरसे केवलज्ञानादि गुणोंका समूह साधना चाहिये । यह शरीर भोगके लिये नहीं हैं । इससे योगका साधनकर अविनाशी पदकी सिद्धि करनी । ऐसा कहा भी है, कि इस क्षणभंगुर शरीरसे स्थिरपद मोक्षकी सिद्धि करनी चाहिए, यह शरीर मलिन है, इससे निर्मल वीतरागकी सिद्धि करना, और यह शरीर ज्ञानादि गुणोंसे रहित है, इसके निमित्तसे सारभूत ज्ञानादि गुण सिद्ध करने योग्य है । इस शरीरसे तप संयमादिका साधन होता है, और तप संयमादि क्रियासे सारभूत गुणोंकी सिद्धि होती है । जिस क्रियासे ऐसे गुण सिद्ध हों वह क्रिया क्यों नहीं करनी ? अर्थात् अवश्य करनी चाहिए ॥१४८॥

आगे शरीरको अशुचि दिखलाकर ममत्व छुडाते हैं—[योगिन्] हे योगी, [यथा] जैसा [जर्जरं] सैकड़ों छेदोंवाला [नरकगृहं] नरक घर है, [तथा] वैसा यह [कायः] शरीर

जेहउ जज्जरु णरय-घरु तेहउ जोइय काउ ।

णरइ णिरंतरु पूरियउ किम किज्जइ अणुराउ ॥ १४९ ॥

यथा जर्जरं नरकगृहं तथा योगिन् कायः ।

नरके निरन्तरं पूरितं किं क्रियते अनुरागः ॥ १४९ ॥

जेहउ इत्यादि । जेहउ जज्जरु यथा जर्जरं शतजीर्णं णरयघरु नरकगृहं तेहउ जोइउ काउ तथा हे योगिन् कायः । यतः किम् । णरइ णिरंतरु पूरियउ नरके निरन्तरं पूरितम् । एवं ज्ञात्वा किम किज्जइ अणुराउ कथं क्रियते अनुरागो न कथमपीति । तद्यथा—यथा नरकगृहं शतजीर्णं तथा कायगृहमपि नवद्वारछिद्रितत्वात् शतजीर्णं, परमात्मा तु जन्मजरामरणादिच्छिद्र-दोषरहितः । कायस्तु गृथमूत्रादिनरकपूरितः, भगवान् शुद्धात्मा तु भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममल-रहित इति । अयमत्र भावार्थः । एवं देहात्मनोः भेदं ज्ञात्वा देहममलं त्यक्त्वा वीतरागनिर्वि-कल्पसमाधौ स्थित्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येति ॥ १४९ ॥

अथ—

दुक्खइँ पावइँ असुचियइँ तिहुयणि सयलइँ लेवि ।

एयहिँ देहु विणिम्मियउ विहिणा वइरु मुणेवि ॥ १५० ॥

दुःखानि पापानि अशुचीनि त्रिभुवने सकलानि लात्वा ।

एतैः देहः विनिर्मितः विधिना वैरं मत्वा ॥ १५० ॥

दुक्खइँ इत्यादि । दुक्खइँ दुःखानि पावइँ पापानि असुचियइँ अशुचिद्रव्याणि तिहु-यणि सयलइँ लेवि भुवनत्रयमध्ये समस्तानि गृहीत्वा एयहिँ देहु विणिम्मियउ एतैर्देहो विनिर्मितः । केन कर्तृभूतेन । विहिणा विधिशब्दवाच्येन कर्मणा । कस्मादेवंभूतो देहः कृतः ।

[नरके] मल-मूत्रादिसे [निरंतरं] हमेशा [पूरितं] भरा हुआ है । ऐसे शरीरसे [अनुरागः] प्रीति [किं क्रियते] कैसे की जावे ? किसी तरह भी यह प्रीतिके योग्य नहीं है ॥ भावार्थ—जैसे नरकका घर अति जीर्ण जिसके सैकड़ों छिद्र हैं, वैसे यह कायरूपी घर साक्षात् नरकका मन्दिर है, नव द्वारोंसे अशुचि वस्तु झरती है । और आत्माराम जन्म-मरणादि छिद्र आदि दोष रहित है, भगवान् शुद्धात्मा भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्ममलसे रहित है, यह शरीर मल-मूत्रादि नरकसे भरा हुआ है । ऐसा शरीरका और जीवका भेद जानकर देहसे ममता छोड़कर वीतराग निर्विकल्प समाधिमें ठहरकर निरन्तर भावना करनी चाहिये ॥ १४९ ॥

आगे फिर भी देहकी मलिनता दिखलाते हैं—[त्रिभुवने] तीन लोकमें [दुःखानि पापानि अशुचीनि] जितने दुःख हैं, पाप हैं, और अशुचि वस्तुयें हैं, [सकलानि] उन सबको [लात्वा] लेकर [एतैः] इन मिले हुआंसे [विधिना] विधाताने [वैरं] वैर [मत्वा] मानकर [देहः] शरीर [निर्मितः] बनाया है ॥ भावार्थ—तीन लोकमें जितने दुःख हैं, उनसे यह देह रचा गया है, इससे दुःखरूप है, और आत्मद्रव्य व्यवहारनयकर देहमें स्थित है, तो भी निश्चयनयकर देहसे भिन्न

बह्वि सुणेचि वैरं मत्तेति । तथाहि । त्रिभुवनस्थदुःखैर्निर्मितत्वात् दुःखरूपोऽयं देहः, परमात्मा तु व्यवहारेण देहस्थोऽपि निश्चयेन देहाद्भिन्नत्वादनाकुलखलक्षणसुखस्वभावः । त्रिभुवनस्थपापैर्निर्मितत्वात् पापरूपोऽयं देहः, शुद्धात्मा तु व्यवहारेण देहस्थोऽपि निश्चयेन पापरूपदेहाद्भिन्नत्वादत्यन्तपवित्रः । त्रिभुवनस्थाशुचिद्रव्यैर्निर्मितत्वादशुचिरूपोऽयं देहः, शुद्धात्मा तु व्यवहारेण देहस्थोऽपि निश्चयेन देहात्पृथग्भूतत्वादत्यन्तनिर्मल इति । अत्रैवं देहेन सह शुद्धात्मनो भेदं ज्ञात्वा निरन्तरं भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १५० ॥

अथ—

जोइय देहु घिणावणउ लज्जहि किं ण रमंतु ।

णाणिय धम्मं रइ करहि अप्पा विमलु करंतु ॥ १५१ ॥

योगिन् देहः घृणास्पदः लज्जसे किं न रममाणः ।

ज्ञानिन् धर्मेण रतिं कुरु आत्मानं विमलं कुर्वन् ॥ १५१ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् देहु घिणावणउ देहो घृणया दुगुच्छया सहितः । लज्जहि किं ण रमंतु दुगुच्छारहितं परमात्मानं मुक्त्वा देहं रममाणो लज्जां किं न करोषि । तर्हि किं करोमीति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति । णाणिय हे विशिष्टभेदज्ञानिन् धम्मि निश्चयधर्म-शब्दवाच्येन वीतरागचारित्रेण कृत्वा रइ करहि रतिं प्रीतिं कुरु । किं कुर्वन् सन् । अप्पा वीतरागसदानन्दैकस्वभावपरमात्मानं विमलु करंतु आर्तरौद्रादिसमस्तविकल्पत्यागेन विमलं निर्मलं कुर्वन्निति तात्पर्यम् ॥ १५१ ॥

निराकुलस्वरूप सुखरूप है, तीन लोकमें जितने पाप है, उन पापोंसे यह शरीर बनाया गया है, इसलिये यह देह पापरूप ही है, इससे पाप ही उत्पन्न होता है, और चिदानन्द चिद्रूप जीव पदार्थ व्यवहारनयसे देहमें स्थित है, तो भी देहसे भिन्न अत्यंत पवित्र है, तीन जगत्में जितने अशुचि पदार्थ हैं, उनको इकट्ठे कर यह शरीर निर्माण किया है, इसलिये महा अशुचिरूप है, और आत्मा व्यवहारनयकर देहमें विराजमान है, तो भी देहसे जुदा परम पवित्र है । इस प्रकार देहका और जीवका अत्यंत भेद जानकर निरन्तर आत्माकी भावना करनी चाहिये ॥१५०॥

आगे फिर भी देहको अपवित्र दिखलाते हैं—[योगिन्] हे योगी, [देहः] यह शरीर [घृणास्पदः] घिनावना है, [रममाणः] इस देहसे रमता हुआ तू [किं न लज्जसे] क्यों नहीं शरमाता ? [ज्ञानिन्] हे ज्ञानी, तू [आत्मानं] आत्माको [विमलं कुर्वन्] निर्मल करता हुआ [धर्मेण] धर्मसे [रतिं] प्रीति [कुरु] कर ॥ भावार्थ—हे जीव, तू सब विकल्प छोड़कर वीतरागचारित्ररूप निश्चयधर्ममें प्रीति कर । आर्त रौद्र आदि समस्त विकल्पोंको छोड़कर आत्माको निर्मल करता हुआ वीतराग भावोंसे प्रीति कर ॥१५१॥

आगे देहके स्नेहसे छुड़ाते हैं—[योगिन्] हे योगी, [देहं] इस शरीरसे [परित्यज] प्रीति छोड़, क्योंकि [देहः] यह देह [भद्रः न भवति] अच्छा नहीं है, इसलिये [देहविभिन्नं] देहसे भिन्न

अथ—

जोइय देहु परिचयहि देहु ण भल्लउ होइ ।

देह-विभिण्णउ णाणमउ सो तुहुँ अप्पा जोइ ॥ १५२ ॥

योगिन् देहं परित्यज देहो न भद्रः भवति ।

देहविभिन्नं ज्ञानमयं तं त्वं आत्मानं पश्य ॥ १५२ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् देहु परिचयहि शुचिदेहान्नित्यानन्दैकस्वभावात् शुद्धात्मद्रव्याद्विलक्षणं देहं परित्यज । कस्मात् । देहु ण भल्लउ होइ देहो भद्रः समीचीनो न भवति । तर्हि किं करोमीति प्रश्ने कृते प्रत्युत्तरं ददाति । देहविभिण्णउ देहविभिन्नं णाणमउ ज्ञानेन निर्वृत्तं केवलज्ञानाविनाभूतानन्तगुणमयं सो तुहुँ अप्पा जोइ तं पूर्वोक्तलक्षणमात्मानं त्वं कर्ता पश्येति । अयमत्र भावार्थः । “चंडो ण मुयइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ । दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स ॥” इति गाथाकथितलक्षणा कृष्णलेश्या, धनधान्यादितीव्र-मूर्च्छाविषयाकांक्षादिरूपा नीललेश्या, रणे मरणं प्रार्थयति स्तूयमानः संतोषं करोतीत्यादिलक्षणा कापोतलेश्या च, एवं लेश्यात्रयप्रभृतिसमस्तविभावत्यागेन देहाद्भिन्नमात्मानं भावयति ॥१५२॥

अथ—

दुखहँ कारणु मुणिवि मणि देहु वि एहु चयंति ।

जित्थु ण पावहिँ परमसुहु तित्थु कि संत वसंति ॥ १५३ ॥

[ज्ञानमयं] ज्ञानादि गुणमय [तं आत्मानं] ऐसे आत्माको [त्वं] तू [पश्य] देख ॥ भावार्थ—नित्यानन्द अखंड स्वभाव जो शुद्धात्मा उससे जुदा और दुःखका मूल तथा महान अशुद्ध जो शरीर उससे भिन्न आत्माको पहचान, और कृष्ण नील कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओंको आदि लेकर सब विभावभावोंको त्यागकर निजस्वरूपका ध्यान कर । ऐसा कथन सुनकर शिष्यने पूछा, कि हे प्रभो, इन छोटी लेश्याओंका क्या स्वरूप है? तब श्रीगुरु कहते हैं—कृष्णलेश्याका धारक वह है जो अधिक क्रोधी होवे, कभी बैर न छोड़े, उसका बैर पत्थरकी लकीरकी तरह हो, महा विषयी हो, परजीवोंकी हँसी उड़ानेमें जिसके शंका न हो, अपनी हँसी होनेका जिसको भय न हो, जिसका स्वभाव लज्जा रहित हो, दया-धर्मसे रहित हो, और अपनेसे बलवानके वशमें हो, गरीबको सतानेवाला हो, ऐसा कृष्णलेश्यावालेका लक्षण कहा । नीललेश्यावालेके लक्षण कहते हैं, सो सुनो—जिसके धन-धान्यादिककी अति ममता हो, और महा विषयाभिलाषी हो, इन्द्रियोंके विषय सेवता हुआ तृप्त न हो । कापोतलेश्याका धारक रणमें मरना चाहता है, स्तुति करनेसे अति प्रसन्न होता है । ये तीनों कुलेश्याके लक्षण कहे गये हैं, इनको छोड़कर पवित्र भावोंसे देहसे जुदे जीवको जानकर अपने स्वरूपका ध्यान कर । यही कल्याणका करण है ॥१५२॥

आगे फिर भी देहको दुखका कारण दिखलाते हैं—[दुःखस्य कारणं] नरकादि दुःखका कारण [इमं देहमपि] इस देहको [मनसि] मनमें [मत्वा] जानकर ज्ञानीजीव [त्यजंति] इसका

दुःखस्य कारणं मत्वा मनसि देहमपि एनं त्यजन्ति ।

यत्र न प्राप्नुवन्ति परमसुखं तत्र किं सन्तः वसन्ति ॥ १५३ ॥

दुःखहं इत्यादि । दुःखहं कारणं वीतरागतात्त्विकानन्दरूपात् शुद्धात्मसुखाद्विलक्षणस्य नारकादिदुःखस्य कारणं मुणिवि मत्वा । क । मणि मनसि । कम् । देह वि देहमपि एह इमं प्रत्यक्षीभूतं चर्यन्ति देहममत्वं शुद्धात्मनि स्थित्वा त्यजन्ति जित्थु ण पावहिं यत्र देहे न प्राप्नुवन्ति । किम् । परमसुह पञ्चेन्द्रियविषयातीतं शुद्धात्मानुभूतिसंपन्नं परमसुखं तित्थु कि संत वसन्ति तत्र देहे सन्तः सत्पुरुषाः किं वसन्ति शुद्धात्मसुखसंतोषं मुक्त्वा तत्र किं रतिं कुर्वन्ति इति भावार्थः ॥ १५३ ॥

अथात्मायत्तसुखे रतिं कुर्विति दर्शयति—

अप्पायत्तउ जं जि सुहु तेण जि करि संतोसु ।

पर सुहु वढ चिंतताहं हियइ ण फिट्ठइ सोसु ॥ १५४ ॥

आत्मायत्तं यदेव सुखं तेनैव कुरु संतोषम् ।

परं सुखं वत्स चिन्तयतां हृदये न नश्यति शोषः ॥ १५४ ॥

अप्पायत्तउ इत्यादि । अप्पायत्तउ अन्यद्रव्यनिरपेक्षत्वेनात्माधीनं जं जि सुहु यदेव शुद्धात्मसंविचित्समुत्पन्नं सुखं तेण जि करि संतोसु तेनैव तदनुभवेनैव संतोषं कुरु पर सुहु वढ चिंतताहं इन्द्रियाधीनं परसुखं चिन्तयतां वत्स मित्र हियइ ण फिट्ठइ सोसु हृदये न ममत्व छोड देते हैं, क्योंकि [यत्र] जिस देहमें [परमसुखं] उत्तम सुख [न प्राप्नुवन्ति] नहीं पाते, [तत्र] उसमें [संतः] सत्पुरुष [किं वसन्ति] कैसे रह सकते हैं ? भावार्थ—वीतराग परमानन्दरूप जो आत्मसुख उससे विपरीत नरकादिके दुःख, उनका कारण यह शरीर, उसको बुरा समझकर ज्ञानी जीव देहकी ममता छोड देते हैं, और शुद्धात्मस्वरूपका सेवन करते हैं, निजस्वरूपमें ठहरकर देहादि पदार्थोंमें प्रीति छोड देते हैं । इस देहमें कभी सुख नहीं पाते, सदा आधि-व्याधिसे पीडित ही रहते हैं । पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे रहित जो शुद्धात्मानुभूतिरूप परमसुख वह देहके ममत्व करनेसे कभी नहीं मिल सकता । महा दुःखके कारण इस शरीरमें सत्पुरुष कभी नहीं रह सकते । देहसे उदास होकर संसारकी आशा छोड सुखका निवास जो सिद्धपद उसको प्राप्त होते हैं । और जो आत्मभावनाको छोडकर संतोषसे रहित होकर देहादिकमें राग करते हैं, वे अनन्त भव धारण करते हैं, संसारमें भटकते फिरते हैं ॥१५३॥

आगे यह उपदेश करते हैं, कि तू आत्मसुखमें प्रीति कर-[वत्स] हे शिष्य, [यदेव] जो [आत्मायत्तं सुखं] परद्रव्यसे रहित आत्माधीन सुख है, [तेनैव] उसीमें [संतोषं] संतोष [कुरु] कर, [परं सुखं] इन्द्रियाधीन सुखको [चिंतयतां] चिन्तवन करनेवालोंके [हृदये] चित्तका [शोषः] दाह [न नश्यति] नहीं मिटता ॥ भावार्थ—आत्माधीन सुख आत्माके जाननेसे उत्पन्न होता है, इसलिये तू आत्माके अनुभवसे संतोष कर, भोगोंकी वाँछ करनेसे चित्त शान्त नहीं होता । जो

नश्यति शोषोऽन्तर्दाह इति । अत्राध्यात्मरतिः स्वाधीना विच्छेदविघ्नौघरहिता च, भोगरतिस्तु पराधीना बहोरिन्धनैरिव समुद्रस्य नदीसहस्रैस्त्रिातृभिरा च । एवं ज्ञात्वा भोगसुखं त्यक्त्वा “एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होदि णिच्चमेदम्हि । एदेण होदि तित्तो तो होहदि उत्तमं सुखं ॥” इति गाथाकथितलक्षणे अध्यात्मसुखे स्थित्वा च भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् । तथा चोक्तम्— “तिणकट्टेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं । ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥” । अध्यात्मशब्दस्य व्युत्पत्तिः क्रियते—मिथ्यात्वविषयकषायादिबहिर्द्रव्ये निरालम्बनत्वेनात्मन्य-
नुष्ठानमध्यात्मम् ॥ १५४ ॥

अथात्मनो ज्ञानस्वभावं दर्शयति—

अप्पहं णाणु परिच्चयवि अण्णु ण अत्थि सहाउ ।

इउ जाणेविणु जोइयहु परहं म बंधउ राउ ॥ १५५ ॥

आत्मनः ज्ञानं परित्यज्य अन्यो न अस्ति स्वभावः ।

इदं ज्ञात्वा योगिन् परस्मिन् मा बधान रागम् ॥ १५५ ॥

अप्पहं इत्यादि । अप्पहं शुद्धात्मनः णाणु परिच्चयवि वीतरागस्वसंवेदनज्ञानं त्यक्त्वा अण्णु ण अत्थि सहाउ अन्यो ज्ञानादिभिन्नः स्वभावो नास्ति इउ जाणेविणु इदमात्मनः शुद्धात्मज्ञानं स्वभावं ज्ञात्वा जोइयहु योगिन् परहं म बंधउ राउ परस्मिन् शुद्धात्मनो विलक्षणे देहे रागादिकं मा कुरु तस्मात् । अत्रात्मनः शुद्धात्मज्ञानस्वरूपं ज्ञात्वा रागादिकं त्यक्त्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ १५५ ॥

अध्यात्मकी प्रीति हैं, वह स्वाधीनता है, इसमें कोई विघ्न नहीं है, और भोगोंका अनुराग वह पराधीनता है । भोगोंको भोगते कभी तृप्ति नहीं होती, जैसे अग्नि ईंधनसे तृप्त नहीं होती और सैकड़ों नदियोंसे समुद्र तृप्त नहीं होता है । ऐसा ही समयसारमें कहा है, कि हंस (जीव), तू इस आत्मस्वरूपमें ही सदा लीन हो, और सदा इसीमें संतुष्ट हो । इसीसे तू तृप्त होगा और इसीसे ही तुझे उत्तम सुखकी प्राप्ति होगी । इस कथनसे अध्यात्म-सुखमें ठहरकर निजस्वरूपकी भावना करनी चाहिये, और कामभोगोंसे कभी तृप्ति नहीं हो सकती । ऐसा कहा भी है, कि जैसे तृण, काठ आदि ईंधनसे अग्नि तृप्त नहीं होती, और हजारों नदियोंसे लवणसमुद्र तृप्त नहीं होता, उसी तरह यह जीव काम भोगोंसे तृप्त नहीं होता । इसलिये विषय-सुखोंको छोड़कर अध्यात्म-सुखका सेवन करना चाहिये । अध्यात्मसुखका शब्दार्थ करते हैं—मिथ्यात्व विषय कषाय आदि बाह्य पदार्थोंका अवलम्बन (सहारा) छोड़ना और आत्मामें तल्लीन होना वह अध्यात्म है ॥१५४॥

आगे आत्माका ज्ञानस्वभाव दिखलाते हैं—[आत्मनः] आत्माका निजस्वभाव [ज्ञानं परित्यज्य] वीतराग स्वसंवेदनज्ञानके सिवाय [अन्यः स्वभावः] दूसरा स्वभाव [न अस्ति] नहीं है, आत्मा केवलज्ञानस्वभाव है, [इति ज्ञात्वा] ऐसा जानकर [योगिन्] हे योगी, [परस्मिन्] परवस्तुसे [रागं] प्रीति [मा बधान] मत बाँध ॥ भावार्थ—पर जो शुद्धात्मासे भिन्न देहादिक उनमें राग मत कर,

अथ स्वात्मोपलम्भनिमित्तं चित्तस्थिरीकरणरूपेण परमोपदेशं पञ्चकलेन दर्शयति—

विसय-कसायहिँ मण-सलिलु णवि डहुलिज्जइ जासु ।

अप्पा णिम्मलु होइ लहु वढ पच्चक्खु वि तासु ॥ १५६ ॥

विषयकषायैः मनःसलिलं नैव क्षुभ्यति यस्य ।

आत्मा निर्मलो भवति लघु वत्स प्रत्यक्षोऽपि तस्य ॥ १५६ ॥

विसय इत्यादि । विसयकसायहिँ मणसलिलु ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मजलचराकीर्णसंसार-सागरे निर्विषयकषायरूपात् शुद्धात्मतत्त्वात् प्रतिपक्षभूतैर्विषयकषायमहावातैर्मनःप्रचुरसलिलं णवि डहुलिज्जइ नैव क्षुभ्यति जासु यस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य अप्पा णिम्मलु होइ लहु आत्मा रत्नविशेषोऽनादिकालरूपमहापाताले पतितः सन् रागादिमलपरिहारेण लघु शीघ्रं निर्मलो भवति । वढ वत्स । न केवलं निर्मलो भवति पच्चक्खु वि शुद्धात्मा परम इत्युच्यते तस्य परमस्य कला अनुभूतिः परमकला एव दृष्टिः परमकलादृष्टिः तथा परमकलादृष्ट्या यावद-वलोकनं सूक्ष्मनिरीक्षणं तेन प्रत्यक्षोऽपि स्वसंवेदनग्राहोऽपि भवति । कस्य । तासु यस्य पूर्वोक्तप्रकारेण निर्मलं मनस्तस्येति भावार्थः ॥ १५६ ॥

अथ—

अप्पा परहँ ण मेलविउ मणु मारिवि सहस ति ।

सो वढ जोएँ किं करइ जासु ण एही सत्ति ॥ १५७ ॥

आत्मा परस्य न मेलितः मनो मारयित्वा सहसेति ।

स वत्स योगेन किं करोति यस्य न ईदृशी शक्तिः ॥ १५७ ॥

आत्माका ज्ञानस्वरूप जानकर रागादिक छोडकर निरन्तर आत्माकी भावना करनी चाहिये ॥ १५५ ॥

आगे आत्माकी प्राप्तिके लिये चित्तको स्थिर करना, ऐसा परम उपदेश श्रीगुरु दिखलाते हैं—[यस्य] जिसका [मनःसलिलं] मनरूपी जल [विषयकषायैः] विषयकषायरूप प्रचंड पवनसे [नैव क्षुभ्यते] नहीं चलायमान होता है, [तस्य] उसी भव्य जीवका [आत्मा] आत्मा [वत्स] हे बच्चे, [निर्मलो भवति] निर्मल होता है, और [लघु] शीघ्र ही [प्रत्यक्षोऽपि] प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ भावार्थ—ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मरूपी जलचर मगर-मच्छादि जलके जीव उनसे भरा जो संसार-सागर उसमें विषयकषायरूप प्रचंड पवन जो कि शुद्धात्मतत्त्वसे सदा पराङ्मुख हैं, उसी प्रचंड पवनसे जिसका चित्त चलायमान नहीं हुआ, उसीका आत्मा निर्मल होता है । आत्मा रत्नके समान हैं, अनादिकालके अज्ञानरूपी पातालमें पड़ा है, सो रागादि मलके छोडनेसे शीघ्र ही निर्मल हो जाता है । हे बच्चे, उन भव्य जीवोंका आत्मा निर्मल होता है, और प्रत्यक्ष उनको आत्माका दर्शन होता है । परमकला जो आत्माकी अनुभूति वही हुई निश्चयदृष्टि उससे आत्मस्वरूपका अवलोकन होता है । आत्मा स्वसंवेदनज्ञान करके ही ग्रहण करने योग्य है । जिसका मन विषयसे घंचल न हो, उसीको आत्माका दर्शन होता है ॥ १५६ ॥

अप्पा इत्यादि । अप्पा अयं प्रत्यक्षीभूतः सविकल्प आत्मा परहं ख्यातिपूजालाभप्रभृति-
समस्तमनोरथरूपविकल्पजालरहितस्य विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य परमात्मनः न मेलविड न
योजितः । किं कृत्वा । मणु मारिवि मिथ्यात्वविषयकषायादिविकल्पसमूहपरिणतं मनो वीत-
रागनिर्विकल्पसमाधिशब्देन मारयित्वा सहस्रं त्ति झटिति सो बढ जोएं किं करइ स पुरुषः
वत्स योगेन किं करोति । स कः । जासु न एही सत्ति यस्येदशी मनोमारणशक्तिर्नास्तीति
तात्पर्यम् ॥ १५७ ॥

अथ—

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु जे झायहिं झाणु ।

बढ अण्णाण-वियंभियहं कउ तहं केवल-णाणु ॥ १५८ ॥

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं अन्यद् ये ध्यायन्ति ध्यानम् ।

वत्स अज्ञानविजृम्भितानां कुतः तेषां केवलज्ञानम् ॥ १५८ ॥

अप्पा इत्यादि । अप्पा स्वशुद्धात्मानं मेल्लिवि मुक्त्वा । कथंभूतमात्मानम् । णाणमउ
सकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणनिर्वृत्तं अण्णु अन्यद्बहिर्द्रव्यालम्बनं जे ये केचन झायहिं ध्याय-
न्ति । किम् । झाणु ध्यानं बढ वत्स मित्र अण्णाणवियंभियहं शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणाज्ञान-

आगे यह कहते हैं, कि जिसने शीघ्र ही मनको वशकर आत्माको परमात्मासे नहीं मिलाया,
जिसमें ऐसी शक्ति नहीं है, वह योगसे क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं कर सकता—[सहसा मनः
मारयित्वा] जिससे शीघ्र ही मनको वशमें करके [आत्मा] यह आत्मा [परस्य न मेलितः] परमात्मामें
नहीं मिलाया, [वत्स] हे शिष्य, [यस्य] जिसकी [ईदृशी] ऐसी [शक्तिः] शक्ति [न] नहीं है,
[सः] वह [योगेन] योगसे [किं करोति] क्या कर सकता है ? भावार्थ—यह प्रत्यक्षरूप
संसारी जीव विकल्प सहित हैं दशा जिसकी, उसको समस्त विकल्प-जाल रहित निर्मल ज्ञान दर्शन
स्वभाव परमात्मासे नहीं मिलाया । मिथ्यात्व विषय कषायादि विकल्पोंके समूहकर परिणत हुआ
जो मन उसको वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप शस्त्रसे शीघ्र ही मारकर आत्माको परमात्मासे नहीं
मिलाया, वह योगी योगसे क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं कर सकता । जिसमें मन मारनेकी
शक्ति नहीं है, वह योगी कैसा ? योगी तो उसे कहते हैं, कि जो बड़ाई पूजा (अपनी महिमा) और
लाभ आदि सब मनोरथरूप विकल्प-जालोंसे रहित निर्मल ज्ञान दर्शनमयी परमात्माको देखे जाने
अनुभव करे । सो ऐसा मनके मारे बिना नहीं हो सकता, यह निश्चय जानना ॥१५७॥

आगे ज्ञानमयी आत्माको छोड़कर जो अन्य पदार्थका ध्यान करते हैं, वे अज्ञानी है, उनको
केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है, ऐसा निरूपण करते हैं—[ज्ञानमयं] जो महा निर्मल
केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप [आत्मानं] आत्मद्रव्यको [मुक्त्वा] छोड़कर [अन्यद्] जड पदार्थ
परद्रव्य उनका [ये ध्यानं ध्यायन्ति] ध्यान लगाते हैं, [वत्स] हे वत्स, वे अज्ञानी हैं, [तेषां
अज्ञान-विजृम्भितानां] उन शुद्धात्माके ज्ञानसे विमुख कुमति कुश्रुत कुअवधिरूप अज्ञानसे परिणत

विजृम्भितानां परिणतानां कउ तहं केवलणाणु कथं तेषां केवलज्ञानं किंतु नैवेति । अत्र यद्यपि प्राथमिकानां सविकल्पावस्थायां चित्तस्थितिकरणार्थं विषयकषायरूपदुर्ध्यानवञ्चनार्थं च जिन-प्रतिमाक्षरादिकं ध्येयं भवतीति तथापि निश्चयध्यानकाले स्वशुद्धात्मैव इति भावार्थः ॥१५८॥

अथ—

सुण्णउं पउं झायंताहँ वलि वलि जोइयडाहँ ।

समरसि-भाउ परेण सह पुण्णु वि पाउ ण जाहँ ॥ १५९ ॥

शून्यं पदं ध्यायतां पुनः पुनः (?) योगिनाम् ।

समरसीभावं परेण सह पुण्यमपि पापं न येषाम् ॥ १५९ ॥

सुण्णउं पउं इत्यादि । सुण्णउं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैः शून्यं पउं वीतरागपरमानन्दैकसुखामृत-रसास्वादरूपा स्वसंवित्तिमयी या सा परमकला तथा भरितावस्थापदं निजशुद्धात्म-स्वरूपं झायंताहँ वीतरागत्रिगुणसमाधिबलेन ध्यायतां वलि वलि जोइयडाहँ श्रीयोगीन्द्र-देवाः स्वकीयान्धन्तरागानुरागं प्रकटयन्ति, बलिं क्रियेऽहमिति परमयोगिनां प्रशंसां कुर्वन्ति । येषां किम् । समरसि-भाउ वीतरागपरमाह्लादसुखेन परमसमरसीभावम् । केन सह । परेण

हुए जीवोंको [केवलज्ञानं कुतः] केवलज्ञानकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? कभी नहीं हो सकती ॥ भावार्थ—यद्यपि विकल्प सहित अवस्थामें शुभोपयोगियोंको चित्तकी स्थिरताके लिये और विषय कषायरूप खोटे ध्यानके रोकनेके लिये जिनप्रतिमा तथा नमोकारमंत्र अक्षर ध्यावने योग्य है, तो भी निश्चय ध्यानके समय शुद्ध आत्मा ही ध्यावने योग्य है, अन्य नहीं ॥१५८॥

आगे शुभाशुभ विकल्पसे रहित जो निर्विकल्प (शून्य) ध्यान उसको जो ध्याते हैं, उन योगियोंकी मैं बलिहारी करता हूँ, ऐसा कहते हैं—[शून्यं पदं ध्यायतां] विकल्प रहित ब्रह्मपदको ध्यावनेवाले [योगिनां] योगियोंकी मैं [बलिं बलिं] बार बार मस्तक नमस्कर पूजा करता हूँ, [येषां] जिन योगियोंके [परेण सह] अन्य पदार्थोंके साथ [समरसीभावं] समरसीभाव है, और [पुण्यं पापं अपि न] जिनके पुण्य और पाप दोनों ही उपादेय नहीं हैं ॥ भावार्थ—शुभ-अशुभ मन, वचन, कायके व्यापार रहित जो वीतराग परमआनन्दमयी सुखामृत-रसका आस्वाद वही उसका स्वरूप है, ऐसी आत्मज्ञानमयी परमकलाकर भरपूर जो ब्रह्मपद-शून्यपद-निज शुद्धात्म-स्वरूप उसको ध्यानी राग रहित तीन गुप्तिरूप समाधिके बलसे ध्यावते हैं, उन ध्यानी योगियोंकी मैं बार बार बलिहारी करता हूँ, ऐसे श्रीयोगीन्द्रदेव अपना अन्तरंगका धर्मानुराग प्रगट करते हैं, और परम योगीश्वरोंके परम स्वसंवेदनज्ञान सहित महा समरसीभाव है । समरसीभावका लक्षण ऐसा है, कि जिनके इन्द्र और कीट दोनों समान, चिंतामणिरत्न और कंकड दोनों समान हों । अथवा ज्ञानादि गुण और गुणी निज शुद्धात्मद्रव्य इन दोनोंका एकीभावरूप परिणमन वह समरसीभाव है, उस कर सहित है, जिनके पुण्य पाप दोनों ही नहीं हैं । ये दोनों शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वभाव परमात्मासे भिन्न हैं, सो जिन मुनियोंने दोनोंको हेय समझ लिया है, परमध्यानमें आरुढ हैं, उनकी मैं बार बार बलिहारी जाता हूँ ॥१५९॥

सह स्वसंवेद्यमानपरमात्मना सह । पुनरपि किं येषाम् । पुण्णु वि पाउ ण जाहं शुद्धबुद्धैक-
स्वभावपरमात्मनो विलक्षणं पुण्यपापद्वयमिति न येषामित्यभिप्रायः ॥ १५९ ॥

अथ—

उब्बस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु ।

बलि किज्जउं तसु जोइयहिं जासु ण पाउ ण पुण्णु ॥ १६० ॥

उद्बसान् वसितान् यः करोति वसितान् करोति यः शून्यान् ।

बलिं कुर्वेऽहं तस्य योगिनः यस्य न पापं न पुण्यम् ॥ १६० ॥

उब्बस इत्यादि । उब्बस उद्बसान् शून्यान् । कान् । वीतरागताच्चिकचिदानन्दोच्छलन-
निर्भरानन्दशुद्धात्मानुभूतिपरिणामान् परमानन्दनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानबलेनेदानीं विशिष्टज्ञान-
काले वसिया करइ तेनैव स्वसंवेदनज्ञानेन वसितान् भरितावस्थान् करोति जो यः परमयोगी
सुण्णु निश्चयनयेन शुद्धचैतन्यनिश्चयप्राणस्य हिंसकत्वान्मिथ्यालविकल्पजालमेव निश्चयहिंसा
तत्प्रभृतिसमस्तविभावपरिणामान् स्वसंवेदनज्ञानलाभात्पूर्वं वसितानिदानीं शून्यान् करोतीति
बलि किज्जउं तसु जोइयहिं बलिर्मस्तकस्योपरितनभागेनावतारणं क्रियेऽहमिति तस्य
योगिनः । एवं श्रीयोगीन्द्रदेवाः गुणप्रशंसां कुर्वन्ति । पुनरपि किं यस्य योगिनः । जासु ण यस्य
न । किम् । पाउ ण पुण्णु वीतरागशुद्धात्मतत्त्वाद्विपरीतं न पुण्यपापद्वयमिति तात्पर्यम् ॥ १६० ॥

अथैकसूत्रेण प्रश्नं कृत्वा सूत्रचतुष्टयेनोत्तरं दत्त्वा च तमेव पूर्वसूत्रपञ्चकेनोक्तं निर्विकल्प-

आगे फिर भी योगीश्वरोंकी प्रशंसा करते हैं—[यः] जो [उद्बसान्] ऊजड़ है, अर्थात् पहले
कभी नहीं हुए ऐसे शुद्धोपयोगरूप परिणामोंको [वसितान्] स्वसंवेदनज्ञानके बलसे बसाता है,
अर्थात् अपने हृदयमें स्थापन करता है, और [यः] जो [वसितान्] पहलेके बसे हुए मिथ्यात्वादि
परिणाम हैं, उनको [शून्यान्] ऊजड़ करता है, उनको निकाल देता है, [तस्य योगिनः] उस
योगीकी [अहं] मैं [बलिं] पूजा [कुर्वे] करता हूँ, [यस्य] जिसके [न पापं न पुण्यं] न तो पाप
है और न पुण्य है ॥ भावार्थ—जो प्रगटरूप नहीं बसते हैं अनादिकालके वीतराग चिदानन्दस्वरूप
शुद्धात्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोग परिणाम उनको अब निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके बलसे बसाता है,
निज स्वादनरूप स्वाभाविक ज्ञानकर शुद्ध परिणामोंकी बस्ती निज घटरूपी नगरमें भरपूर करता
है । और अनादिकालके जो शुद्ध चैतन्यरूप निश्चयप्राणोंके घातक ऐसे मिथ्यात्व रागादिरूप
विकल्पजाल है, उनको निज स्वरूप नगरसे निकाल देता है, उनको ऊजड़ कर देता है, ऐसे
परमयोगीकी मैं बलिहारी हूँ, अर्थात् उसके मस्तकपर मैं अपनेको वारता हूँ । इस प्रकार
श्रीयोगीन्द्रदेव परमयोगियोंकी प्रशंसा करते हैं । जिन योगियोंके वीतराग शुद्धात्मतत्त्वसे विपरीत पुण्य-
पाप दोनों ही नहीं हैं ॥ १६० ॥

आगे एक दोहेमें शिष्यका प्रश्न और चार दोहोंमें प्रश्नका उत्तर देकर निर्विकल्पसमाधिरूप परम
उपदेशको फिर भी विस्तारसे कहते हैं—[स्वामिन्] हे स्वामी, मुझे [तं उपदेशं] उस उपदेशको

समाधिरूपं परमोपदेशं पुनरपि विवृणोति पञ्चकलेन—

तुष्टइ मोहु तडित्ति जहिँ मणु अत्थवणहँ जाइ ।

सो सामइ उवएसु कहि अण्णेँ देविँ काइँ ॥ १६१ ॥

ब्रुवति मोहः झटिति यत्र मनः अस्तमनं याति ।

तं स्वामिन् उपदेशं कथय अन्येन देवेन किम् ॥ १६१ ॥

तुष्टइ इत्यादि । तुष्टइ नश्यति । कोऽसौ । मोहु निर्मोहशुद्धात्मद्रव्यप्रतिपक्षभूतो मोहः तडित्ति झटिति जहिँ मोहोदयोत्पन्नसमस्तविकल्परहिते यत्र परमात्मपदार्थे । पुनरपि किं यत्र । मणु अत्थवणहँ जाइ निर्विकल्पात् शुद्धात्मस्वभावाद्विपरीतं नानाविकल्पजालरूपं मनो वास्तं गच्छति सो सामिय उवएसु कहि हे स्वामिन् तदुपदेशं कथयेति प्रभाकरभट्टः श्रीयोगीन्द्र-देवान् पृच्छति । अण्णेँ देविँ काइँ निर्दोषपरमात्मनः परमाराध्यात्सकाशादन्येन देवेन किं प्रयोजनमित्यर्थः ॥ १६१ ॥ इति प्रभाकरभट्टप्रश्नसूत्रमेकं गतम् ।

अथोत्तरम्—

णास-विणिग्गउ सासडा अंबरि जेत्यु विलाइ ।

तुष्टइ मोहु तड त्ति तहिँ मणु अत्थवणहँ जाइ ॥ १६२ ॥

नासाविनिर्गतः श्वासः अम्बरे यत्र विलीयते ।

ब्रुवति मोहः झटिति तत्र मनः अस्तं याति ॥ १६२ ॥

णासविणिग्गउ इत्यादि । णासविणिग्गउ नासिकाविनिर्गतः सासडा उच्छ्वासः अंबरि मिथ्यावरागादिविकल्पजालरहिते शून्ये अम्बरशब्दवाच्ये जित्यु यत्र तात्त्विकपरमा-

[कथय] कहो [यत्र] जिससे [मोहः] मोह [झटिति] शीघ्र [ब्रुवति] छूट जावे, [मनः] और चंचल मन [अस्तमनं] स्थिरताको [याति] प्राप्त हो जावे, [अन्येन देवेन किं] दूसरे देवोंसे क्या प्रयोजन है ? भावार्थ—प्रभाकरभट्ट श्रीयोगीन्द्रदेवसे प्रश्न करते हैं, कि हे स्वामी, वह उपदेश कहो कि जिससे निर्मोह शुद्धात्मद्रव्यसे पराङ्मुख मोह शीघ्र जुदा हो जावे, अर्थात् मोहके उदयसे उत्पन्न समस्त विकल्प-जालोंसे रहित जो परमात्मा पदार्थ उसमें मोह-जालका लेश भी न रहे, और निर्विकल्प शुद्धात्मभावनासे विपरीत नाना विकल्पजालरूपी चंचल मन वह अस्त हो जावे । हे स्वामी, निर्दोष परमाराध्य जो परमात्मा उससे अन्य जो मिथ्यात्मी देव उनसे मेरा क्या मतलब है ? ऐसा शिष्यने श्रीगुरुसे प्रश्न किया उसका एक दोहा-सूत्र कहा ॥१६१॥

आगे श्रीगुरु उत्तर देते हैं—[नासाविनिर्गतः श्वासः] नाकसे निकला जो श्वास वह [यत्र] जिस [अंबरे] निर्विकल्पसमाधिमें [विलीयते] मिल जावे, [तत्र] उसी जगह [मोहः] मोह [झटिति] शीघ्र [ब्रुवति] नष्ट हो जाता है, [मनः] और मन [अस्तं याति] स्थिर हो जाता है ॥ भावार्थ— नासिकासे निकले जो श्वासोच्छ्वास हैं, वे अम्बर अर्थात् आकाशके समान निर्मल

नन्दभरितावस्थे निर्विकल्पसमाधौ विलाह पूर्वोक्तः श्वासो विलयं गच्छति नासिकाद्वारं विहाय तालुरन्ध्रेण गच्छतीत्यर्थः । तुष्टइ नुटयति नश्यति । कोऽसौ । मोहो मोहोदयेनोत्पन्नरागादिविकल्पजालः तड ति झटिति तर्हि तत्र बहिर्बोधशून्ये निर्विकल्पसमाधौ मणु मनः पूर्वोक्त-रागादिविकल्पाधारभूतं तन्मयं वा अन्तर्बोधं जाइ अस्तं विनाशं गच्छति स्वस्वभावेन तिष्ठति इति । अत्र यदायं जीवो रागादिपरभावशून्यनिर्विकल्पसमाधौ तिष्ठति तदायमुच्छ्वासरूपो वायुर्नासिकाछिद्रद्वयं वर्जयित्वा स्वयमेवानीहितवृत्त्या तालुप्रदेशे यत् केशात् शेषाष्टमभागप्रमाणं छिद्रं तिष्ठति तेन क्षणमात्रं दशमद्वारेण तदनन्तरं क्षणमात्रं नासिकया तदनन्तरं रन्ध्रेण कृत्वा निर्गच्छतीति । न च परकल्पितवायुधारणारूपेण श्वासनाशो ग्राह्यः । कस्मादिति चेत् वायुधारणा तावदीहापूर्विका, ईहा च मोहकार्यरूपो विकल्पः । स च मोहकारणं न भवतीति न परकल्पित-वायुः । किं च । कुम्भकपूरकरेचकादिसंज्ञा वायुधारणा क्षणमात्रं भवत्येवात्र किंतु अभ्यासवशेन

मिथ्यात्व विकल्प-जाल रहित शुद्ध भावोंमें विलीन हो जाते हैं, अर्थात् तत्त्वस्वरूप परमानन्दकर पूर्ण निर्विकल्पसमाधिमें स्थिर चित्त हो जाता है, तब श्वासोच्छ्वासरूप पवन रुक जाता है, नासिकाके द्वारको छोड़कर तालुवा रन्ध्ररूपी दशवें द्वारमें होकर निकले, तब मोह टूटता है, उसी समय मोहके उदयकर उत्पन्न हुए रागादि विकल्प-जाल नाश हो जाते हैं, बाह्य ज्ञानसे शून्य निर्विकल्पसमाधिमें विकल्पोका आधारभूत जो मन वह अस्त हो जाता है, अर्थात् निजस्वभावमें मनकी चंचलता नहीं रहती । जब यह जीव रागादि परभावोंसे शून्य निर्विकल्पसमाधिमें होता है, तब यह श्वासोच्छ्वास-रूप पवन नासिकाके दोनों छिद्रोंको छोड़कर स्वयंमेव अवांछीक वृत्तिसे तालुवाके बालकी अनीके आठवें भाग प्रमाण अति सूक्ष्म छिद्रमें (दशवें द्वारमें) होकर बारीक निकलता है, नासाके छेदको छोड़कर तालुरन्ध्रमें (छेदमें) होकर निकलता है । और पातंजलिमतवाले वायुधारणारूप श्वासोच्छ्वास मानते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि वायुधारणा वांछापूर्वक होती है, और वांछा है, वह मोहसे उत्पन्न विकल्परूप है, वांछाका कारण मोह है । संयमीके वायुका निरोध वांछापूर्वक नहीं होता है, स्वाभाविक ही होता है । जिनशासनमें ऐसा कहा है, कि कुम्भक (पवनको खेंचना), पूरक (पवनको थामना), रेचक (पवनको निकालना) ये तीन भेद प्राणायामके हैं, इसीको वायुधारणा कहते हैं । यह क्षणमात्र होती है, परन्तु अभ्यासके वशसे घड़ी प्रहर दिवस आदितक भी होती है । उस वायुधारणाका फल ऐसा कहा है, कि देह आरोग्य होती है, देहके सब रोग मिट जाते हैं, शरीर हलका हो जाता है, परन्तु मुक्ति इस वायुधारणासे नहीं होती, क्योंकि वायुधारणा शरीरका धर्म है, आत्माका स्वभाव नहीं है । शुद्धोपयोगियोंके सहज ही विना यत्नके मन भी रुक जाता है, और श्वास भी स्थिर हो जाते हैं । शुभोपयोगियोंके मनके रोकनेके लिये प्राणायामका अभ्यास है, मनके अचल होनेपर कुछ प्रयोजन नहीं हैं । जो आत्मस्वरूप है, वह केवल चेतनामयी ज्ञान दर्शनस्वरूप है, सो शुद्धोपयोगी तो स्वरूपमें अतिलीन हैं, और शुभोपयोगी कुछ एक मनकी चपलतासे आनन्दधनमें अडोल अवस्थाको नहीं पाते, तब तक मनके वश करनेके

घटिकाप्रहरदिवसादिष्वपि भवति तस्य वायुधारणस्य च कार्यं देहारोगत्वलघुत्वादिकं न च मुक्तिरिति । यदि मुक्तिरपि भवति तर्हि वायुधारणाकारकाणामिदानीन्तनपुरुषाणां मोक्षो किं न भवतीति भावार्थः ॥ १६२ ॥

अथ—

मोहो विलिज्जइ मणु मरइ तुट्ठइ सासु-णिसासु ।

केवल-णाणु चि परिणमइ अंबरि जाहँ णिवासु ॥ १६३ ॥

मोहो विलीयते मनो म्रियते त्रुट्यति श्वासोच्छ्वासः ।

केवलज्ञानमपि परिणमति अम्बरे येषां निवासः ॥ १६३ ॥

मोहो विलिज्जइ इत्यादि । मोहो मोहो ममत्वादिविकल्पजालं विलिज्जइ विलयं गच्छति मणु मरइ इहलोकपरलोकाशमभृतविकल्पजालरूपं मनो म्रियते । तुट्ठइ नश्यति । कोऽसौ । सासुणिसासु अनीहितवृत्त्या नासिकाद्वारं विहाय क्षणमात्रं तालुरन्ध्रेण गच्छति पुनरप्यन्तरं नासिकया कृत्वा निर्गच्छति पुनरपि रन्ध्रेणेत्युच्छ्वासनिःश्वासलक्षणो वायुः । पुनरपि किं भवति । केवलणाणु चि परिणमइ केवलज्ञानमपि परिणमति समुत्पद्यते । येषां किम् । अंबरि जाहँ णिवासु रागद्वेषमोहरूपविकल्पजालशून्यं अम्बरे अम्बरशब्दवाच्ये शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपे निर्विकल्पत्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधौ येषां निवास इति । अयमत्र भावार्थः । अम्बरशब्देन लिए श्रीपंचपरमेष्ठीका ध्यान स्मरण करते हैं, ओंकारादि मंत्रोंका ध्यान करते हैं और प्राणायामका अभ्यासकर मनको रोककर चिद्रूपमें लगाते हैं, जब वह लग गया तब मन और पवन सब स्थिर हो जाते हैं । शुभोपयोगियोंकी दृष्टि एक शुद्धोपयोगपर है, पातंजलिमतकी तरह थोड़ी वायुधारणा नहीं है । यदि वायुधारणासे ही शक्ति होवे तो वायुधारणाके करनेवालोंको इस दुःषमकालमें मोक्ष क्यों न होवे ? कभी नहीं होता । मोक्ष तो केवल स्वभावमयी हैं ॥ १६२ ॥

आगे फिर भी परमसमाधिका कथन करते हैं—[येषां] जिन मुनीश्वरोंका [अंबरे] परम समाधिमें [निवासः] निवास है, उनका [मोहः] मोह [विलीयते] नाशको प्राप्त हो जाता है, [मनः] मन [म्रियते] मर जाता है, [श्वासोच्छ्वासः] श्वासोच्छ्वास [त्रुट्यति] रुक जाता है, [अपि] और [केवलज्ञानं] केवलज्ञान [परिणमति] उत्पन्न होता है ॥ भावार्थ—दर्शनमोह और चारित्रमोह आदि कल्पना-जाल सब विलय हो जाते हैं, इस लोक परलोक आदिकी वांछा आदि विकल्प जालरूप मन स्थिर हो जाता है, और श्वासोच्छ्वासरूप वायु रुक जाती है, श्वासोच्छ्वास अवांछीकपनेसे नासिकाके द्वारको छोड़कर तालुछिद्रमें होकर निकलते हैं, तथा कुछ देरके बाद नासिकासे निकलते हैं । इस प्रकार श्वासोच्छ्वास रूप पवन वश हो जाता है । चाहे जिस द्वारसे निकाले । केवलज्ञान भी शीघ्र ही उन ध्यानी मुनियोंके उत्पन्न होता है, कि जिन मुनियोंका राग द्वेष मोहरूप विकल्प-जालसे रहित शुद्धात्माका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निर्विकल्प त्रिगुप्तिमयी परमसमाधिमें निवास है । यहाँ अम्बर नाम आकाशका अर्थ नहीं समझना, किन्तु

शुद्धाकाशं न ग्राह्यं किंतु विषयकषायविकल्पशून्यः परमसमाधिग्राह्यः, वायुशब्देन च कुम्भक-
रेचकपूरकादिरूपो वायुनिरोधो न ग्राह्यः किंतु स्वयमनीहितवृत्त्या निर्विकल्पसमाधिवलेन दशम-
द्वारसंज्ञेन ब्रह्मरन्ध्रसंज्ञेन सूक्ष्माभिधानरूपेण च तालुरन्ध्रेण योऽसौ गच्छति स एव ग्राह्यः तत्र ।
यदुक्तं केनापि—“ मणु मरइ पवणु जहिं खयइ जाइ । सव्वंगइ तिहुवणु तहिं जि ठाइ । मूढा
अंतरालु परियाणहि । तुइइ मोहजालु जइ जाणहि ॥ ” । अत्र पूर्वोक्तलक्षणमेव मनोमरणं ग्राह्यं
पवनक्षयोऽपि पूर्वोक्तलक्षण एव त्रिभुवनप्रकाशक आत्मा तत्रैव निर्विकल्पसमाधौ तिष्ठतीत्यर्थः ।
अन्तरालशब्देन तु रागादिपरभावशून्यत्वं ग्राह्यं न चाकाशे ज्ञाते सति मोहजालं नश्यति न
चान्यादृशं परकल्पितं ग्राह्यमित्यभिप्रायः ॥ १६३ ॥

अथ—

जो आयासइ मणु धरइ लोयालोय-पमाणु ।

तुइइ मोहु तड ति तसु पावइ परहँ पवाणु ॥ १६४ ॥

यः आकाशे मनो धरति लोकालोकप्रमाणम् ।

बुध्यति मोहो ऽदिति तस्य प्राप्नोति परस्थ प्रमाणम् ॥ १६४ ॥

जो इत्यादि । जो यो ध्याता पुरुषः आयासइ मणु धरइ यथा परद्रव्यसंबन्धरहितले-

समस्त विषय कषायरूप विकल्प-जालोंसे शून्य परमसमाधि लेना । और यहाँ वायु शब्दसे कुम्भक
पूरक रेचकादिरूप वांछापूर्वक वायुनिरोध न लेना, किन्तु स्वयमेव अवांछीक वृत्तिपर
निर्विकल्पसमाधिके बलसे ब्रह्मद्वार नामा सूक्ष्म छिद्र जिसको तालुवेका रंध्र कहते हैं, उसके द्वारा
अवांछीक वृत्तिसे पवन निकलता है, वह लेना । ध्यानी मुनियोंके पवन रोकनेका यत्न नहीं होता
है, बिना ही यत्नके सहज ही पवन रुक जाता है, और मन भी अचल हो जाता है, ऐसा
समाधिका प्रभाव है । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि जो मूढ है, वे तो अम्बरका अर्थ
आकाशको जानते हैं, और जो ज्ञानीजन हैं, वे अम्बरका अर्थ परमसमाधिरूप निर्विकल्प जानते
हैं । सो निर्विकल्प ध्यानमें मन मर जाता है, पवनका सहज ही निरोध होता है और सब अंग तीन
भुवनके समान हो जाता है । यदि परमसमाधिको जाने, तो मोह टूट जावे । मनके विकल्पोंका
मिटना वही मनका मरना है, और वही श्वासका रुकना है, जो कि सब द्वारोंसे रुककर दशवें
द्वारमेंसे होकर निकले । तीन लोकका प्रकाशक आत्माको निर्विकल्पसमाधिमें स्थापित करता है ।
अंतराल शब्दका अर्थ रागादि भावोंसे शून्यदशा लेना, आकाशका अर्थ न लेना । आकाशके
जाननेसे मोह-जाल नहीं मिटता, आत्मस्वरूपके जाननेसे मोह-जाल मिटता है । जो पातञ्जलि आदि
परसमयमें शून्यरूप समाधि कही है, वह अभिप्राय नहीं लेना, क्योंकि जब विभावोंकी शून्यता हो
जावेगी तब वस्तुका ही अभाव हो जायगा ॥१६३॥

आगे फिर भी निर्विकल्पसमाधिका कथन करते हैं—[यः] जो ध्यानी पुरुष [आकाशे]
निर्विकल्पसमाधिपे [मनः] मन [धरति] स्थिर करता है, [तस्य] उसीका [मोहः] मोह

नाकाशमम्बरशब्दवाच्यं शून्यमित्युच्यते तथा वीतरागचिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थोऽपि मिथ्यात्तरागादिपरभावरहितत्वान्निर्विकल्पसमाधिराकाशमम्बरशब्दवाच्यं शून्यमित्युच्यते । तत्राकाशसंज्ञे निर्विकल्पसमाधौ मनो धरति स्थिरं करोति । कथंभूतं मनः । लोयालोयप्रमाणं लोकालोकप्रमाणं लोकालोकव्याप्तिरूपं अथवा प्रसिद्धलोकालोकाकाशे व्यवहारेण ज्ञानापेक्षया न च प्रदेशापेक्षया लोकालोकप्रमाणं मनो मानसं धरति तुष्टइ मोहु तड त्ति तसु व्रुट्यति नश्यति । कोऽसौ । मोहु मोहः । कथम् । झटिति तस्य ध्यानात् । न केवलं मोहो नश्यति । पावइ प्राप्नोति । किम् । परहं पवाणु परस्य परमात्मस्वरूपस्य प्रमाणम् । कीदृशं तत्प्रमाणमिति चेत् । व्यवहारेण रूपग्रहणविषये चक्षुरिव सर्वगतः । यदि पुनर्निश्चयेन सर्वगतो भवति तर्हि चक्षुषो अभिस्पर्शदाहः प्राप्नोति न च तथा । तथात्मनोऽपि परकीयसुखदुःखविषये तन्मयपरिणामत्वेन परकीयसुखदुःखानुभवं प्राप्नोति न च तथा । निश्चयेन पुनर्लोकमात्रासंख्येयप्रदेशोऽपि सन् व्यवहारेण पुनः शरीरकृतोपसंहारविस्तारवशाद्विवक्षितभाजनस्थप्रदीपवत् देहमात्र इति भावार्थः ॥ १६४ ॥

[झटिति] शीघ्र [व्रुट्यति] टूट जाता है, और ज्ञान करके [परस्य प्रमाणं] लोकालोकप्रमाण आत्माको [प्राप्नोति] प्राप्त हो जाता है ॥ भावार्थ—आकाश अर्थात् वीतराग चिदानन्द स्वभाव अनन्त गुणरूप और मिथ्यात्व रागादि परभाव रहित स्वरूप निर्विकल्पसमाधि यहाँ समझना । जैसे आकाशद्रव्य सब द्रव्योंसे भरा हुआ है, परन्तु सबसे शून्य अपने स्वरूप है, उसी प्रकार चिद्रूप आत्मा रागादि सब उपाधियोंसे रहित है, शून्यरूप है, इसलिये आकाश शब्दका अर्थ यहाँ शुद्धात्मस्वरूप लेना । व्यवहारनयकर ज्ञान लोकालोकका प्रकाशक है, और निश्चयनयकर अपने स्वरूपका प्रकाशक है । आत्माका केवलज्ञान लोकालोकको जानता है, इस कारण ज्ञानकी अपेक्षा लोकालोकप्रमाण कहा जाता है, प्रदेशोंकी अपेक्षा लोकालोकप्रमाण नहीं है । ज्ञानगुण लोकालोकमें व्याप्त है, परन्तु परद्रव्योंसे भिन्न है, परवस्तुसे यदि तन्मयी हो जावे, तो वस्तुका अभाव हो जावे । इसलिये यह निश्चय हुआ, कि ज्ञान गुणकर लोकालोकप्रमाण जो आत्मा उसे आकाश भी कहते हैं, उसमें यदि मन लगावे, तब जगतसे मोह दूर हो और परमात्माको पावे । व्यवहारनयकर आत्मा ज्ञानकर सबको जानता है, इसलिये सब जगतमें हैं । जैसे व्यवहारनयकर नेत्र रूपी पदार्थको जानता है, परन्तु उन पदार्थोंसे भिन्न है । यदि निश्चयकर सर्वगत होवे, तो परपदार्थोंसे तन्मयी हो जावे, यदि उससे तन्मयी होवे तो नेत्रोंको अग्निका दाह होना चाहिये, इस कारण तन्मयी नहीं है । उसी प्रकार आत्मा यदि पदार्थोंको तन्मयी होकर जाने, तो परके सुख दुःखसे तन्मयी होनेसे इसको भी दूसरेका सुख दुःख मालूम होना चाहिये, पर ऐसा होता नहीं है । इसलिये निश्चयसे आत्मा असर्वगत है, और व्यवहारनयसे सर्वगत है, प्रदेशोंकी अपेक्षा निश्चयसे लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है, और व्यवहारनयकर पात्रमें रखे हुए दीपककी तरह देहप्रमाण है, जैसा शरीर धारण करे, वैसा प्रदेशोंका संकोच विस्तार हो जाता है ॥१६४॥

अथ—

देहि वसंतु वि णवि मुणिउ अप्पा देउ अणंतु ।

अंबरि समरसि मणु धरिवि सामिय णट्टु णिभंतु ॥ १६५ ॥

देहे वसन्नपि नैव मतः आत्मा देवः अनन्तः ।

अम्बरे समरसे मनः धृत्वा स्वामिन् नष्टः निर्भ्रान्तः ॥ १६५ ॥

देहि वसंतु वि इत्यादि । देहि वसंतु वि व्यवहारेण देहे वसन्नपि णवि मुणिउ नैव ज्ञातः । कोऽसौ । अप्पा निजशुद्धात्मा । किंविशिष्टः । देउ आराधनायोग्यः केवलज्ञानाद्यनन्त-
गुणाधारत्वेन देवः परमाराध्यः । पुनरपि किंविशिष्टः । अणंतु अनन्तपदार्थपरिच्छित्तिकारणत्वाद्-
विनश्वरत्वादनन्तः । किं कृत्वा । मणु धरिवि मनो धृत्वा । क । अंबरि अम्बरशब्दवाच्ये पूर्वोक्त-
लक्षणे रागादिशून्ये निर्विकल्पसमाधौ । कथंभूते । समरसि वीतरागतात्त्विकमनोहरानन्दस्य-
न्दिनि समरसीभावे साध्ये । सामिय हे स्वामिन् । प्रभाकरभट्टः पश्चात्तापमनुशयं कुर्वन्नाह ।
किं ब्रूते । णट्टु णिभंतु इयन्तं कालमित्थंभूतं परमात्मोपदेशमलभमानः सन् निर्भ्रान्तो
नष्टोऽहमित्यभिप्रायः ॥ १६५ ॥ एवं परमोपदेशकथनमुख्यत्वेन सूत्रदशकं गतम् ।

अथ परमोपशमभावसहितेन सर्वसंगपरित्यागेन संसारविच्छेदं भवतीति युग्मेन निश्चिनोति—

सयल वि संग ण मिल्लिया णवि किउ उवसम-भाउ ।

सिव-पय-मग्गु वि मुणिउ णवि जहिँ जोइहिँ अणुराउ ॥ १६६ ॥

घोरु ण चिण्णउ तव-चरणु जं णिय-बोहँ सारु ।

पुण्णु वि पाउ वि दइहु णवि किमु छिज्जइ संसारु ॥ १६७ ॥

आगे फिर भी शिष्य प्रश्न करता है—[स्वामिन्] हे स्वामी, [देहे वसन्नपि] व्यवहारनयकर देहमें रहता हुआ भी [आत्मा देवः] आराधने योग्य आत्मा [अनन्तः] अनन्त गुणोंका आधार [नैव मतः] मैंने अज्ञानतासे नहीं जाना । क्या करके [समरसे] समान भावरूप [अंबरे] निर्विकल्पसमाधिमें [मनः धृत्वा] मन लगा कर । इसलिये अब तक [नष्टो निर्भ्रान्तः] निस्संदेह नष्ट हुआ ॥ भावार्थ—प्रभाकरभट्ट पछताता हुआ श्रीयोगीन्द्रदेवसे विनती करता है, कि हे स्वामिन्; मैंने अबतक रागादि विभाव रहित निर्विकल्पसमाधिमें मन लगाकर आत्म-देव नहीं जाना, इसलिये इतने काल तक संसारमें भटका, निजस्वरूपकी प्राप्तिके बिना मैं नष्ट हुआ । अब ऐसा उपदेश करें कि जिससे भ्रम मिट जावे । १६५। इस प्रकार परमोपदेशके कथनकी मुख्यतासे दस दोहे कहे हैं ।

आगे परमोपदेश भाव सहित सब परिग्रहका त्याग करनेसे संसारका विच्छेद होता है, ऐसा दो दोहोंमें निश्चय करते हैं—[सकल अपि संगः] सब परिग्रह भी [न मुक्ताः] नहीं छोड़े, [उपशमभावः नैव कृतः] समभाव भी नहीं किया [यत्र योगिनां अनुरागः] और जहाँ योगीश्वरोंका प्रेम है, ऐसा [शिवमार्गोऽपि] मोक्षपद भी [नैव मतः] नहीं जाना, [घोरं तपश्चरणं] महा दुर्धर तप [न चीर्णं] नहीं किया, [यत्] जो कि [निजबोधेन सारं] आत्मज्ञानकर शोभायमान है, [पुण्यमपि पापमपि] और

सकला अपि संग्ता न मुक्ताः नैव कृत उपशमभावः ।

शिवपदमार्गोऽपि मतो नैव यत्र योगिनां अनुरागः ॥ १६६ ॥

घोरं न चीर्णं तपश्चरणं यत् निजबोधस्य सारम् ।

पुण्यमपि पापमपि दग्धं नैव किं छिद्यते संसारः ॥ १६७ ॥

सयल वि इत्यादि । सयल वि समस्ता अपि संग मिथ्यात्वादितुर्दशभेदभिन्ना अभ्यन्तराः क्षेत्रवास्तादिवहुभेदभिन्ना बाह्या अपि संग्ताः परिग्रहाः न मिह्रिया न मुक्ताः । पुनरपि किं न कृतम् । णवि किउ उवसमभाउ जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखादिसमताभावलक्षणो नैव कृतः उपशमभावः । पुनश्च किं न कृतम् । सिवपयमग्गु वि मुणिउ णवि “शिवं परम-कल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयम् । प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः ॥” इति वचनात् शिवशब्दवाच्यो योऽसौ मोक्षस्तस्य मार्गोऽपि न ज्ञातः । कथंभूतो मार्गः । स्वशुद्धात्मसम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपः । यत्र मार्गे किम् । जहिं जोइहिं अणुराउ यत्र निश्चयमोक्षमार्गे परम-योगिनामनुरागस्तात्पर्यम् । न केवलं मोक्षमार्गोऽपि न ज्ञातः । घोरु ण चिण्णउ तवचरणु घोरं दुर्धरं परीषहोपसर्गजयरूपं नैव चीर्णं न कृतम् । किं तत् । अनशनादिद्वादशविधं तपश्चरणम् । यत्कथंभूतम् । जं णियबोहहं सारु यत्तपश्चरणं वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनलक्षणेन निजबोधेन सारभूतम् । पुनश्च किं न कृतम् । पुण्णु वि पाउ वि निश्चयनयेन शुभाशुभनिगल-द्वयरहितस्य संसारिजीवस्य व्यवहारेण सुवर्णलोहनिगलद्वयसदृशं पुण्यपापद्वयमपि दड्हु णवि

पुण्य तथा पाप ये दोनों [नैव दग्धं] नहीं भस्म किये, तो [संसारः] संसार [किं छिद्यते] कैसे छूट सकता है ? ॥ भावार्थ—मिथ्यात्व (अतत्त्व श्रद्धान) राग (प्रीतिभाव) दोष (वैरभाव) वेद (स्त्री पुरुष नपुंसक) क्रोध मान माया लोभरूप चार कषाय, और हास्य रति अरति शोक भय ग्लानि—ये चौदह अंतरंग परिग्रह, क्षेत्र (ग्रामादिक) वास्तु (गृहादिक) हिरण्य (रुपया पैसा मुहर आदि) सुवर्ण (गहने आदि) धन (हाथी घोडा आदि) धान्य (अन्नादि) दासी, दास, कुप्य (वस्त्र तथा सुगंधादिक), भांड (बर्तन आदि) ये दस तरहके बाह्य परिग्रह, इस प्रकार बाह्य अभ्यंतर परिग्रहके चौबीस भेद हुए, इनको नहीं छोडा । जीवित, मरण, सुख, दुःख, लाभ, अलाभादिमें समान भाव कभी नहीं किया, कल्याणरूप मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र भी नहीं जाने । निजस्वरूपका श्रद्धान, निजस्वरूपका ज्ञान, और निजस्वरूपका आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय तथा नव पदार्थोंका श्रद्धान, नव पदार्थोंका ज्ञान, और अशुभ क्रियाका त्यागरूप व्यवहाररत्नत्रय—ये दोनों ही मोक्षके मार्ग है, इन दोनोंमेंसे निश्चयरत्नत्रय तो साक्षात् मोक्षका मार्ग है और व्यवहाररत्नत्रय परम्पराय मोक्षका मार्ग है । ये दोनों मैंने कभी नहीं जाने, संसारका ही मार्ग जाना । अनशनादि बारह प्रकारका तप नहीं किया, बाईस परीषह नहीं सहन की । तथा पुण्य सुवर्णकी बेडी, पाप लोहेकी बेडी, ये दोनों बंधन निर्मल आत्मध्यानरूपी अग्निसे भस्म नहीं किये । इन बातोंके विना किये संसारका विच्छेद नहीं होता, संसारसे मुक्त होनेके ये ही कारण हैं । ऐसा

शुद्धात्मद्रव्यानुभवरूपेण ध्यानाग्निना दग्धं नैव । किमु छिज्जइ संसारु कथं छिद्यते संसार इति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा निरन्तरं शुद्धात्मद्रव्यभावा कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १६६-६७ ॥

अथ दानपूजापञ्चपरमेष्ठिवन्दनादिरूपं परंपरया मुक्तिकारणं श्रावकधर्मे कथयति—

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहं ण वि पुज्जिउ जिण-णाहु ।

पंच ण वंदिय परम-गुरु किमु होसइ सिव-लाहु ॥ १६८ ॥

दानं न दत्तं मुनिवरेभ्यः नापि पूजितः जिननाथः ।

पञ्च न वन्दिताः परमगुरुः किं भविष्यति शिवलाभः ॥ १६८ ॥

दाणु इत्यादि । दाणु ण दिण्णउ आहाराभयभैषज्यशास्त्रभेदेन चतुर्विधदानं भक्तिपूर्वकं न दत्तम् । केषाम् । मुणिवरहं निश्चयव्यवहाररत्नत्रयाराधकानां मुनिवरादिचतुर्विधसंघस्थितानां पात्राणां ण वि पुज्जिउ जलधारया सह गन्धाक्षतपुष्पाद्यष्टविधपूजया न पूजितः । कोऽसौ । जिणणाहु देवेन्द्रधरणेन्द्रनरेन्द्रपूजितः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणपरिपूर्णः पूज्यपदस्थितो जिननाथः पंच ण वंदिय पञ्च न वन्दिताः । के ते । परमगुरु त्रिभुवनाधीशवन्द्यपदस्थिता अर्हत्सिद्धाः त्रिभुवनेशवन्द्यमोक्षपदाराधकाः आचार्योपाध्यायसाधवश्चेति पञ्च गुरुवः, किमु होसइ सिव-लाहु शिवशब्दवाच्यमोक्षपदस्थितानां तदाराधकानामाचार्यादीनां च यथायोग्यं दानपूजावन्दनादिकं न कृतम्, कथं शिवशब्दवाच्यमोक्षसुखस्य लाभो भविष्यति न कथमपीति । अत्रेदं

व्याख्यान जानकर सदैव शुद्धात्मस्वरूपकी भावना करनी चाहिये ॥१६६-१६७॥

आगे दान पूजा और पंचपरमेष्ठीकी वंदना आदि परम्परा मुक्तिका कारण जो श्रावकधर्म उसे कहते हैं—[दानं] आहारादि दान [मुनिवराणां] मुनीश्वर आदि पात्रोंको [न दत्तं] नहीं दिया, [जिननाथः] जिनेन्द्रभगवानको भी [नापि पूजितः] नहीं पूजा, [पंच परमगुरुवः] अरहंत आदिक पाँचपरमेष्ठी [न वन्दिताः] भी नहीं पूजे, तब [शिवलाभः] मोक्षकी प्राप्ति [किं भविष्यति] कैसे हो सकती है ? भावार्थ—आहार, औषध, शास्त्र और अभयदान—ये चार प्रकारके दान भक्तिपूर्वक पात्रोंको नहीं दिये, अर्थात् निश्चय व्यवहाररत्नत्रयके आराधक जो यति आदिक चार प्रकार संघ उनको चार प्रकारका दान भक्तिकर नहीं दिया, और भूखे जीवोंको करुणाभावसे दान नहीं दिया । इंद्र, नागेंद्र, नरेन्द्र आदिकर पूज्य केवलज्ञानादि अनन्तगुणोंकर पूर्ण जिननाथकी पूजा नहीं की, जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फलसे पूजा नहीं की, और तीन लोककर वंदने योग्य ऐसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पाँचपरमेष्ठियोंकी आराधना नहीं की । सो हे जीव, इन कार्योके बिना तुझे मुक्तिका लाभ कैसे होगा ? क्योंकि मोक्षकी प्राप्तिके ये ही उपाय है । जिनपूजा, पंचपरमेष्ठीकी वंदना और चार संघको चार प्रकार दान, इनके बिना मुक्ति नहीं हो सकती । ऐसा व्याख्यान जानकर सातवें उपासकाध्ययन अंगमें कही गई जो दान पूजा वंदनादिककी विधि वही करने योग्य है । शुभ विधिसे न्यायकर उपार्जन किया अच्छा द्रव्य वह दातारके अच्छे गुणोंको धारणकर विधिसे पात्रको देना, जिनराजकी पूजा करना,

व्याख्यानं ज्ञात्वा उपासकाभ्ययनशास्त्रकथितमार्गेण विधिद्रव्यदातृपात्रलक्षणविधानेन दानं दातव्यं पूजावन्दनादिकं च कर्तव्यमिति भावार्थः ॥१६८॥

अथ निश्चयेन चिन्तारहितध्यानमेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति चतुष्कलेन—

अद्भुम्मीलिय-लोयणिहिँ जोउ कि झंपियएहिँ ।

एमुइ लब्भइ परम-गइ णिच्चित्तिं ठियएहिँ ॥ १६९ ॥

अर्धोन्मीलितलोचनाभ्यां योगः किं आच्छादिताभ्याम् ।

एवमेव लभ्यते परमगतिः निश्चिन्तं स्थितैः ॥ १६९ ॥

अद्भुम्मीलियलोयणिहिँ अर्धोन्मीलितलोचनपुटाभ्यां जोउ किं योगो ध्यानं किं भवति अपि तु नैव । न केवलमर्धोन्मीलिताभ्याम् । झंपियएहिँ झंपिताभ्यामपि लोचनाभ्यां नैवेति । तर्हि कथं लभ्यते । एमुइ लब्भइ एवमेव लभ्यते लोचनपुटनिमीलनोन्मीलननिरपेक्षैः । का लभ्यते । परमगइ केवलज्ञानादिपरमगुणयोगात्परमगतिर्मोक्षगतिः । कैः लभ्यते । णिच्चित्तिं ठियएहिँ ख्यातिपूजालाभप्रभृतिसमस्तचिन्ताजालरहितैः पुरुषैश्चिन्तारहितैः स्वशुद्धात्मरूप-स्थितैश्चेत्यभिप्रायः ॥ १६९ ॥

अथ—

जोइय मिल्लहि चिन्त जइ तो तुटइ संसार ।

चिंतासत्तउ जिणवरु वि लहइ ण हंसाचारु ॥ १७० ॥

योगिन् मुञ्चसि चिन्तां यदि ततः त्रुट्यति संसारः ।

चिन्तासक्तो जिनवरोऽपि लभते न हंसचारम् ॥ १७० ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् मिल्लहि मुञ्चसि । काम् । चिन्तारहिताद्विशुद्ध-

और पंचपरमेष्ठीकी वंदना करना, ये ही व्यवहारनयकर कल्याणके उपाय हैं ॥१६८॥

आगे निश्चयसे चिन्ता रहित ध्यान ही मुक्तिका करण है, ऐसा कहते हैं—[अर्धोन्मीलितलोचनाभ्यां] आधे उघड़े हुए नेत्रोंसे अथवा [झंपिताभ्यां] बन्द हुए नेत्रोंसे [किं] क्या [योगः] ध्यानकी सिद्धि होती है ? कभी नहीं । [निश्चिन्तं स्थितैः] जो चिन्ता रहित एकाग्रमें स्थित हैं, उनको [एवमेव] इसी तरह [लभ्यते परमगतिः] स्वयमेव परमगति (मोक्ष) मिलती है ॥ भावार्थ—ख्याति (बडाई) पूजा (अपनी प्रतिष्ठा) और लाभ इनको आदि लेकर समस्त चिन्ताओंसे रहित जो निश्चित पुरुष हैं, वे ही शुद्धात्मस्वरूपमें स्थिरता पाते हैं, उन्हींके ध्यानकी सिद्धि है, और वे ही परमगतिके पात्र हैं ॥१६९॥

आगे फिर भी चिन्ताका ही त्याग बतलाते हैं—[योगिन्] हे योगी, [यदि] यदि तू [चिंतां मुंचसि] चिन्ताओंको छोड़ेगा [ततः] तो [संसारः] संसारका भ्रमण [त्रुट्यति] छूट जायगा क्योंकि [चिंतासक्तः] चिन्तामें लगे हुए [जिनवरोऽपि] छद्मस्थ अवस्थावाले तीर्थंकरदेव भी

ज्ञानदर्शनस्वभावात्परमात्मपदार्थाद्विलक्षणां चिन्तां जइ यदि चेत् तो ततश्चिन्ताभावात् । किं भवति । तुष्टइ नश्यति । स कः । संसार निःसंसारत् शुद्धात्मद्रव्याद् विलक्षणो द्रव्यक्षेत्र-कालादिभेदभिन्नः पञ्चप्रकारः संसारः । यतः कारणात् । चिन्तासत्तत् जिणवरु वि छन्नस्था-वस्थायां शुभाशुभचिन्तासक्तो जिनवरोऽपि लहइ ण लभते न । कम् । हंसाचारु संशयविभ्रम-विमोहरहितानन्तज्ञानादिनिर्मलगुणयोगेन हंस इव हंसः परमात्मा तस्य आचारं रागादिरहितं शुद्धात्मपरिणाममिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षाप्रभृतिसमस्तचिन्ताजालं त्यक्त्वापि चिन्तारहिते शुद्धात्मतत्त्वे सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १७० ॥

अथ—

जोइय दुम्मइ कवुण तुहँ भव-कारणि ववहारि ।

बंशु पवंचहिँ जो रहिउ सो जाणिवि मणु मारि ॥ १७१ ॥

योगिन् दुर्मतिः का तव भवकारणे व्यवहारे ।

ब्रह्म प्रपञ्चैर्यद् रहितं तत् ज्ञात्वा मनो मारय ॥ १७१ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् दुम्मइ कवुण तुहँ दुर्मतिः का तवेयं भवकारणि ववहारि भवरहितात् शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपव्यवहारविलक्षणाच्च स्वशुद्धात्मद्रव्या-त्यतिपक्षभूते पञ्चप्रकारसंसारकारणे व्यवहारे । तर्हि किं करोमीति चेत् । बंशु ब्रह्मशब्दवाच्यं स्वशुद्धात्मानं ज्ञात्वा । कथंभूतं यत् । पवंचहिँ जो रहिउ प्रपञ्चैर्मायापाखण्डैः यद्रहितम् ।

[हंसाचारं न लभते] परमात्माका आचरणरूप शुद्ध भावोंको नहीं पाते ॥ भावार्थ—हे योगी, निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्मपदार्थसे पराङ्मुख जो चिन्ता जाल उसे छोड़ेगा, तभी चिन्ताके अभावसे संसार भ्रमण टूटेगा । शुद्धात्मद्रव्यसे विमुख द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूप पाँच प्रकारके संसारसे तू मुक्त होगा । जब तक चिन्तावान् है, तब तक निर्विकल्प ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती, दूसरोंकी तो क्या बात है ? जो तीर्थंकरदेव भी केवल अवस्थाके पहले जब तक कुछ शुभाशुभ चिन्ताकर सहित हैं, तब तक वे भी रागादि रहित शुद्धोपयोग परिणामोंको नहीं पा सकते । संशय विमोह विभ्रम रहित अनंत ज्ञानादि निर्मलगुण सहित हंसके समान उज्ज्वल परमात्माके शुद्ध भाव हैं, वे चिन्ताको छोड़े बिना नहीं होते । तीर्थंकरदेव भी मुनि होकर निश्चित व्रत धारण करते हैं, तभी परमहंस दशा पाते हैं, ऐसा व्याख्यान जानकर देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछा आदि समस्त चिन्ता-जालको छोड़कर परम निश्चित हो, शुद्धात्माकी भावना करना योग्य है ॥१७०॥

आगे श्रीगुरु मुनियोंको उपदेश देते हैं, कि मनको मारकर परब्रह्मका ध्यान करो—[योगिन्] हे योगी, [तव का दुर्मतिः] तेरी क्या खोटी बुद्धि है, जो तू [भवकारणे व्यवहारे] संसारके कारण उद्यमरूप व्यवहार करता है । अब तू [प्रपंचैः रहितं] मायाजालरूप पाखंडोंसे रहित [यत् ब्रह्म] जो शुद्धात्मा है, [तत् ज्ञात्वा] उसको जानकर [मनो मारय] विकल्प-जालरूप मनको मार ॥ भावार्थ—वीतराग स्वसंवेदनज्ञानसे शुद्धात्माको जानकर शुभाशुभ विकल्प-जालरूप मनको

सो जाणिवि तं निजशुद्धात्मानं वीतरागस्संवेदनज्ञानेन ज्ञात्वा । पश्चात्किं कुरु । मणु मारि
अनेकमानसविकल्पजालरहिते परमात्मनि स्थित्वा शुभाशुभविकल्पजालरूपं मनो मारय
विनाशयेति भावार्थः ॥ १७१ ॥

अथ—

सव्वहिं रायहिं छहिं रसहिं पंचहिं रूवहिं जंतु ।

चित्तु णिवारिवि झाहि तुहुं अप्पा देउ अणंतु ॥ १७२ ॥

सर्वैः रागैः षड्भिः रसैः पञ्चभिः रूपैः गच्छत् ।

चित्तं निवार्य ध्याय त्वं आत्मानं देवमनन्तम् ॥ १७२ ॥

सव्वहिं इत्यादि । झाहि ध्याय चिन्तय तुहुं त्वं हे प्रभाकरभट्ट । कम् । अप्पा स्वशुद्धा-
त्मानम् । कथंभूतम् । देउ वीतरागपरमानन्दसुखेन दीव्यति क्रीडति इति देवस्तं देवम् ।
पुनरपि कथंभूतम् । अणंतु केवलज्ञानाद्यन्तगुणाधारत्वादनन्तसुखास्पदत्वादविनश्वरत्वाच्चानन्त-
स्तमनन्तम् । किं कृत्वा पूर्वम् । चित्तु णिवारिवि चित्तं निवार्य व्यावृत्त्य । किं कुर्वन् सन् ।
जंतु गच्छत्परिणममानं सत् । कैः करणभूतैः सव्वहिं रायहिं वीतरागात्स्वशुद्धात्मद्रव्याद्वि-
लक्षणैः सर्वशुभाशुभरागैः । न केवलं रागैः । छहिं रसहिं रसरहिताद्वीतरागसदानन्दैकरस-
परिणतादात्मनो विपरीतैः गुडलवणदधिदुग्धतैलघृतषड्रसैः । पुनरपि कैः । पंचहिं रूवहिं
अरूपात् शुद्धात्मतत्त्वात्मतिपक्षभूतैः कृष्णनीलरक्तधेतपीतपञ्चरूपैरिति तात्पर्यम् ॥ १७२ ॥

अथ येन स्वरूपेण चिन्त्यते परमात्मा तेनैव परिणमतीति निश्चिनोति—

मारो । मनके वश किये विना निर्विकल्पध्यानकी सिद्धि नहीं होती । मनके अनेक विकल्प-जालोंसे
जो शुद्ध आत्मा उसमें निश्चलता तभी होती है, जब कि मनको मारकर निर्विकल्प दशाकी प्राप्ति
होवे । इसलिये सकल शुभाशुभ व्यवहारको छोड़कर शुद्धात्माको जानो ॥१७१॥

आगे यही कहते हैं, कि सब विषयोंको छोड़कर आत्मदेवको ध्यावो—हे प्रभाकर भट्ट, [त्वं] तू
[सर्वैः रागैः] सब शुभाशुभ रागोंसे [षड्भिः रसैः] छहों रसोंसे [पंचभिः रसैः] पाँच रसोंसे [गच्छत्
चित्तं] चलायमान चित्तको [निवार्य] रोककर [अनंतं] अनंतगुणवाले [आत्मानं देवं] आत्मदेवका
[ध्याय] चिंतन कर ॥ भावार्थ—वीतराग परम आनन्द सुखमें क्रीडा करनेवाले केवलज्ञानादि
अनंतगुणवाले अविनाशी शुद्ध आत्माका एकाग्रचित्त होकर ध्यान कर । क्या करके ? वीतराग
शुद्धात्मद्रव्यसे विमुख जो समस्त शुभाशुभ राग, निजरससे विपरीत जो दधि, दुग्ध, तेल, घी,
नॉन, मिस्री ये छह रस और जो अरूप शुद्धात्मद्रव्यसे भिन्न काले, सफेद, हरे, पीले, लाल, पाँच
तरहके रूप इनमें निरन्तर चित्त जाता है, उसको रोककर आत्मदेवकी आराधना कर ॥१७२॥

आगे आत्माको जिस रूपसे ध्यावो, उसीरूप परिणमता है, जैसे स्फटिकमणिके नीचे जैसा
डंक दिया जाये, वैसा ही रंग भासता है, ऐसा कहते हैं—[एषः] यह प्रत्यक्षरूप [अनंतः] अविनाशी

जेण सरूविं झाइयइ अप्पा एहु अणंतु ।

तेण सरूविं परिणवइ जह फलिहउ-मणि मंतु ॥ १७३ ॥

येन स्वरूपेण ध्यायते आत्मा एषः अनन्तः ।

तेन स्वरूपेण परिणमति यथा स्फटिकमणिः मन्त्रः ॥ १७३ ॥

जेण इत्यादि । तेण सरूविं परिणवइ तेन स्वरूपेण परिणमति । कोऽसौ कर्ता । अप्पा आत्मा एहु एष प्रत्यक्षीभूतः । पुनरपि किंविशिष्टः । अणंतु वीतरागानाकुलखलक्षणानन्त-सुखाद्यनन्तशक्तिपरिणतत्वादनन्तः । तेन केन । जेण सरूविं झाइयइ येन शुभाशुभशुद्धो-पयोगरूपेण ध्यायते चिन्त्यते । दृष्टान्तमाह । जह फलिहउमणि मंतु यथा स्फटिकमणिः जपापुष्पाद्युपाधिपरिणतः गारुडादिमन्त्रो वेति । अत्र विशेषव्याख्यानं तु—“ येन येन स्वरूपेण युज्यते यन्त्रवाहकः । तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥ ” इति श्लोकार्थकथितदृष्टान्तेन ध्यातव्यः । इदमत्र तात्पर्यम् । अयमात्मा येन येन स्वरूपेण चिन्त्यते तेन तेन परिणमतीति ज्ञात्वा शुद्धात्मपदमाप्त्यर्थिभिः समस्तरागादिविकल्पसमूहं त्यक्त्वा शुद्धरूपेणैव ध्यातव्य इति ॥ १७३ ॥

अथ चतुष्पादिकां कथयति—

एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्म-विसेसें जायउ जप्पा ।

जामइ जाणइ अप्पे अप्पा तामइ सो जि देउ परमप्पा ॥ १७४ ॥

एष यः आत्मा स परमात्मा कर्मविशेषेण जातः जायः ।

यदा जानाति आत्मना आत्मानं तदा स एव देवः परमात्मा ॥ १७४ ॥

[आत्मा] आत्मा [येन स्वरूपेण] जिस स्वरूपसे [ध्यायते] ध्याया जाता है, [तेन स्वरूपेण] उसी स्वरूप [परिणमति] परिणमता है, [यथा स्फटिकमणिः मन्त्रः] जैसे स्फटिकमणि और गारुडी आदि मन्त्र है ॥ भावार्थ—यह आत्मा शुभ, अशुभ, शुद्ध इन तीन उपयोगरूप परिणमता है । यदि अशुभोपयोगका ध्यान करे तो पापरूप परिणमे, शुभोपयोगका ध्यान करे तो पुण्यरूप परिणमे, और यदि शुद्धोपयोगको ध्यावे तो परमशुद्धरूप परिणमन करता है । जैसे स्फटिकमणिके नीचे जैसा डंक लगाओ, अर्थात् श्याम हरा पीला लालमेंसे जैसा लगाओ, उसी रूप स्फटिकमणि परिणमता है, हरे डंकसे हरा और लालसे लाल भासता है । उसी तरह जीवद्रव्य जिस उपयोगरूप परिणमता है, उसीरूप भासता है । और गारुडी आदि मन्त्रोंमेंसे गारुडीमन्त्र गरुडरूप भासता है, जिससे कि सर्प डर जाता है । ऐसा ही कथन अन्य ग्रंथोंमें भी कहा है, कि जिस जिस रूपसे आत्मा परिणमता है, उस उस रूपसे आत्मा तन्मयी हो जाता है, जैसे स्फटिकमणि उज्ज्वल है, उसके नीचे जैसा डंक लगाओ वैसा ही भासता है । ऐसा जानकर आत्माका स्वरूप जानना चाहिए । जो शुद्धात्मपदकी प्राप्तिके चाहनेवाले हैं, उनको यही योग्य है, कि समस्त रागादिक विकल्पोंके समूहको छोड़कर आत्माके शुद्ध रूपको ध्यावे और विकारोंपर दृष्टि न रक्खें ॥ १७३ ॥

आगे चतुष्पदछंदमें आत्माके शुद्ध स्वरूपको कहते हैं—[एष य आत्मा] यह प्रत्यक्षीभूत

एहु इत्यादि । एहु जु एष यः प्रत्यक्षीभूतः अप्पा स्वसंवेदनप्रत्यक्ष आत्मा । स कथं-
भूतः । सो परमप्पा शुद्धनिश्चयेनानन्तचतुष्टयस्वरूपः क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितः स निर्दोषिपर-
मात्मा कम्मविसेसे जायउ जप्पा व्यवहारनयेनानादिकर्मबन्धनविशेषेण स्वकीयबुद्धिदोषेण
जात उत्पन्नः कथंभूतो जातः जाप्यः पराधीनः जामहं जाणइ यदा काले जानाति । केन
कम् । अप्पे अप्पा वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानपरिणतेनात्मना निजशुद्धात्मानं तामहं
तस्मिन् स्वशुद्धात्मानुभूतिकाले सो जि स एवात्मा देउ निजशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखा-
नुभवेन दीव्यति क्रीडतीति देवः परमाराध्यः । किंविशिष्टो देवः । परमप्पा शुद्धनिश्चयेन
मुक्तिगतपरमात्मसमानः । अयमत्र भावार्थः । यद्येवंभूतः परमात्मा शक्तिरूपेण देहमध्ये नास्ति
तर्हि केवलज्ञानोत्पत्तिकाले कथं व्यक्तीभविष्यतीति ॥ १७४ ॥

अथ तमेवार्थं व्यक्तीकरोति—

जो परमप्पा णाणमउ सो हउं देउ अणंतु ।

जो हउं सो परमप्पु पर एहउ भावि णिभंतु ॥ १७५ ॥

यः परमात्मा ज्ञानमयः स अहं देवः अनन्तः ॥

यः अहं स परमात्मा परः इत्थं भावय निर्भ्रान्तः ॥ १७५ ॥

जो परमप्पा इत्यादि । जो परमप्पा यः कश्चित् प्रसिद्धः परमात्मा सर्वोत्कृष्टानन्तज्ञाना-
दिरूपा मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परमश्वासावात्मा च परमात्मा णाणमउ ज्ञानेन निर्वृत्तः
ज्ञानमयः सो हउं यद्यपि व्यवहारेण कर्मावृतस्तिष्ठामि तथापि निश्चयेन स एवाहं पूर्वोक्तः

स्वसंवेदनज्ञानकर प्रत्यक्ष जो आत्मा [स परमात्मा] वही शुद्धनिश्चयनयकर अनन्त चतुष्टयस्वरूप
क्षुधादि अठारह दोषरहित निर्दोष परमात्मा है, वह व्यवहारनयकर [कर्मविशेषेण] अनादि कर्मबंधके
विशेषसे [जाप्यः जातः] पराधीन हुआ दूसरेका जाप करता है, परन्तु [यदा] जिस समय
[आत्मना] वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानकर [आत्मानं] अपनेको [जानाति] जानता है, [तदा]
उस समय [स एव] यह आत्मा ही [परमात्मा] परमात्मा देव है ॥ भावार्थ—निज शुद्धात्माकी
भावनासे उत्पन्न हुआ जो परम आनन्द उसके अनुभवमें क्रीडा करनेसे देव कहा जाता है, यही
आराधने योग है । जो आत्मदेव शुद्ध निश्चयनयकर भगवान् केवलीके समान है । ऐसा परमात्मदेव
शक्तिरूपसे देहमें है, यदि देहमें न होवे तो केवलज्ञानके समय कैसे प्रगट होवे ? ॥१७४॥

आगे इसी अर्थको प्रगटपनेसे दृढ करते हैं—[यः परमात्मा] जो परमात्मा [ज्ञानमयः]
ज्ञानस्वरूप है, [स अहं] वह मैं ही हूँ, जो कि [अनन्तः देवः] अविनाशी देवस्वरूप हूँ, [य अहं]
जो मैं हूँ [सपरः परमात्मा] वही उत्कृष्ट परमात्मा है । [इत्थं] इस प्रकार [निर्भ्रान्तः] निस्संदेह
[भावय] तू भावना कर । भावार्थ—जो कोई एक परमात्मा परम प्रसिद्ध सर्वोत्कृष्ट अनन्तज्ञानादि-
रूप लक्ष्मीका निवास है, ज्ञानमयी है, वैसा ही मैं हूँ । यद्यपि व्यवहारनयकर मैं कर्मोंसे बंधा हुआ

परमात्मा । कथंभूतः । देउ परमाराध्यः । पुनरपि कथंभूतः । अणंतु अनन्तसुखादिगुणास्पद-
त्वादनन्तः । जो हउं सो परमप्पु योऽहं स्वदेहस्थो निश्चयेन परमात्मा स एव तत्सदृश एव मुक्ति-
गतपरमात्मा । कथंभूतः । पर परमगुणयोगात् पर उत्कृष्टः एहउ भावि इत्थंभूतं परमात्मानं
भावय । हे प्रभाकरभट्ट । कथंभूतः सन् । णिभंतु भ्रान्तिरहितः संशयरहितः सन्निति । अत्र
स्वदेहेऽपि शुद्धात्मास्तीति निश्चयं कृत्वा मिथ्यात्वाद्युपशमवशेन केवलज्ञानाद्युत्पत्तिबीजभूतां
कारणसमयसाराख्यामागमभाषया वीतरागसम्यक्त्वादिरूपां शुद्धात्मैकदेशव्यक्तिं लब्ध्वा सर्व-
तात्पर्येण भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ १७५ ॥

अथामुमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

णिम्मल-फलिहहं जेम जिय भिण्णउ परकिय-भाउ ।

अप्प-सहावहं तेम मुणि सयलु वि कम्म-सहाउ ॥ १७६ ॥

निर्मलस्फटिकाद् यथा जीव भिन्नः परकृतभावः ।

आत्मस्वभावात् तथा मन्यस्व सकलमपि कर्मस्वभावम् ॥ १७६ ॥

भिण्णउ भिन्नो भवति जिय हे जीव जेम यथा । कोऽसौ कर्ता । परकियभाउ जपा-
पुष्पाद्युपाधिरूपः परकृतभावः । कस्मात्सकाशात् । णिम्मलफलिहहं निर्मलस्फटिकात् तेम
तथा भिन्नं मुणि मन्यस्व जानीहि । कम् । सयलु वि कम्मसहाउ समस्तमपि भावकर्मद्रव्य-
कर्मनोकर्मस्वभावम् कस्मात् । सकाशात् । अप्पसहावहं अनन्तज्ञानादिगुणस्वभावात् परमात्मन
इति भावार्थः ॥ १७६ ॥

हूँ, तो भी निश्चयनयकर मेरे बंध मोक्ष नहीं है, जैसा भगवान्का स्वरूप है, वैसा ही मेरा स्वरूप
है । जो आत्मदेव महामुनियोंकर परम आराधने योग्य है, और अनंत सुख आदि गुणोंका निवास
है । इससे यह निश्चय हुआ कि जैसा परमात्मा वैसा यह आत्मा और जैसा यह आत्मा है, वैसा
ही परमात्मा है । जो परमात्मा हैं वह मैं हूँ, और जो मैं हूँ वही परमात्मा है । अहं यह शब्द देहमें
स्थित आत्माको कहता है । और सः यह शब्द मुक्तिप्राप्त परमात्मामें लगाना । जो परमात्मा है वह
मैं हूँ और मैं हूँ सो परमात्मा—यह ध्यान हमेशा करना । वह परमात्मा परमगुणके संबंधसे उत्कृष्ट
है । श्रीयोगीन्द्राचार्य प्रभाकरभट्टसे कहते हैं, कि हे प्रभाकरभट्ट, तू सब विकल्पोंको छोड़कर केवल
परमात्माका ध्यान कर । निस्संदेह होकर इस देहमें शुद्धात्मा है, ऐसा निश्चय कर । मिथ्यात्वादि
सब विभावोंकी उपशमताके वशसे केवलज्ञानादि उत्पत्तिका जो कारण समयसार (निज आत्मा)
उसीकी निरन्तर भावना करनी चाहिये । वीतराग सम्यक्त्वादिरूप शुद्ध आत्माके एकदेश
प्रगटपनेको पाकर सब तरहसे ज्ञानकी भावना योग्य है ॥१७५॥

आगे इसी अर्थको दृष्टान्त-दार्ष्टान्तसे पुष्ट करते हैं—[जीव] हे जीव; [यथा] जैसे [परकृतभावः]
नीचेके सब डंक [निर्मलस्फटिकात्] महा निर्मल स्फटिकमणिसे [भिन्नः] जुदे हैं, [तथा] उसी
तरह [आत्मस्वभावात्] आत्मस्वभावसे [सकलमपि] सब [कर्मस्वभावं] शुभाशुभ कर्म [मन्यस्व]

अथ तामेव देहात्मनोर्भेदभावनां द्रवयति—

जेम सहाविं णिम्मलउ फलिहउ तेम सहाउ ।

भंतिए मइलु म मण्णि जिय मइलउ देक्खवि काउ ॥ १७७ ॥

यथा स्वभावेन निर्मलः स्फटिकः तथा स्वभावः ।

भ्रान्त्या मलिनं मा मन्यस्व जीव मलिनं दृष्ट्वा कायम् ॥ १७७ ॥

जेम इत्यादि । जेम सहाविं णिम्मलउ यथा स्वभावेन निर्मलो भवति । कोऽसौ । फलिहउ स्फटिकमणिः तेम तथा निर्मलो भवति । कोऽसौ कर्ता । सहाउ विशुद्धज्ञानरूपस्य परमात्मनः स्वभावः भंतिए मइलु म मण्णि पूर्वोक्तमात्मस्वभावं कर्मतापन्नं भ्रान्त्या मलिनं मा मन्यस्व जिय हे जीव । किं कृत्वा । मइलउ देक्खवि मलिनं दृष्ट्वा । कम् काउ निर्मल-शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मपदार्थाद्विलक्षणं कायमित्यभिप्रायः ॥ १७७ ॥

अथ पूर्वोक्तभेदभावनां रक्तादिवस्त्रदृष्टान्तेन व्यक्तीकरोति चतुष्कलेन—

रक्ते वत्थे जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु ।

देहिं रत्तिं णाणि तहं अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥ १७८ ॥

जिणिं वत्थि जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु ।

देहिं जिणिं णाणि तहं अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ॥ १७९ ॥

रक्तेन वस्त्रेण यथा बुधः देहं न मन्यते रक्तम् ।

देहेन रक्तेन ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते रक्तम् ॥ १७८ ॥

जीर्णेन वस्त्रेण यथा बुधः देहं न मन्यते जीर्णम् ।

देहेन जीर्णेन ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते जीर्णम् ॥ १७९ ॥

भिन्न जानो । भावार्थ—आत्मस्वभाव महानिर्मल है, भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म ये सब जड हैं, आत्मा चिद्रूप है । अनंत ज्ञानादि गुणरूप जो चिदानंद उससे तू सकल प्रपंच भिन्न मान ॥१७६॥

आगे देह और आत्मा जुड़े-जुड़े हैं, यह भेद-भावना दृढ़ करते हैं—[यथा] जैसे [स्फटिकः] स्फटिकमणि [स्वभावेन] स्वभावसे [निर्मलः] निर्मल है, [तथा] उसी तरह [स्वभावः] आत्मा ज्ञान दर्शनरूप निर्मल है । ऐसे आत्मस्वभावको [जीव] हे जीव, [कायं मलिनं] शरीरकी मलिनता [दृष्ट्वा] देखकर [भ्रान्त्या] भ्रमसे [मलिनं] मैला [मा मन्यस्व] मत मान ॥ भावार्थ—यह काय शुद्ध बुद्ध परमात्मपदार्थसे भिन्न है, काय मैली है, आत्मा निर्मल है ॥१७७॥

आगे पूर्वकथित भेदविज्ञानकी भावना रक्त पीतादि वस्त्रके दृष्टान्तसे चार दोहोंमें प्रगट करते हैं—[यथा] जैसे [बुधः] कोई बुद्धिमान पुरुष [रक्ते वस्त्रे] लाल वस्त्रसे [देहं रक्तं] शरीरको लाल [न मन्यते] नहीं मानता, [तथा] उसी तरह [ज्ञानी] वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानी [देहे रक्ते] शरीरके लाल होनेसे [आत्मानं] आत्माको [रक्तं न मन्यते] लाल नहीं मानता ।

वत्थु पण्डइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठु ।

णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ॥ १८० ॥

भिण्णउ वत्थु जि जेम जिय देहहँ मण्णइ णाणि ।

देहु वि भिण्णउँ णाणि तहँ अप्पहँ मण्णइ जाणि ॥ १८१ ॥

वस्त्रे प्रणष्टे यथा बुधः देहं न मन्यते नष्टम् ।

नष्टे देहे ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते नष्टम् ॥ १८० ॥

भिन्नं वस्त्रमेव यथा जीव देहात् मन्यते ज्ञानी ।

देहमपि भिन्नं ज्ञानी तथा आत्मनः मन्यते जानीहि ॥ १८१ ॥

यथा कोऽपि व्यवहारज्ञानी रक्ते वस्त्रे जीर्णे वस्त्रे नष्टेऽपि स्वकीयवस्त्रे स्वकीयं देहं रक्तं जीर्णं नष्टं न मन्यते तथा वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानी देहे रक्ते जीर्णे नष्टेऽपि सति व्यवहारेण देहस्थमपि वीतरागचिदानन्दैकपरमात्मानं शुद्धनिश्चयनयेन देहाद्भिन्नं रक्तं जीर्णं नष्टं न मन्यते इति भावार्थः । अथ मण्णइ मन्यते । कोऽसौ । णाणि देहवस्त्रविषये भेदज्ञानी । किं मन्यते । भिण्णउ भिन्नम् । किम् । वत्थु जि वस्त्रमेव जेम यथा जिय हे जीव । कस्माद्भिन्नं मन्यते । देहहं स्वकीयदेहात् । दृष्टान्तमाह । मण्णइ मन्यते । कोऽसौ । णाणि देहात्मनो-भेदज्ञानी तहं तथा भिन्नं मन्यते । कमपि । देहु वि देहमपि । कस्मात् । अप्पहं निश्चयेन देहविलक्षणाद् व्यवहारेण देहस्थात्सहजशुद्धपरमानन्दैकस्वभावान्निजपरमात्मनः जाणि जानी-हीति भावार्थः ॥ १७८-८१ ॥

[यथा बुधः] जैसे कोई बुद्धिमान [वस्त्रे जीर्णे] कपड़ेके जीर्ण (पुराने) होनेपर [देहं जीर्ण] शरीरको जीर्ण [न मन्यते] नहीं मानता, [तथा ज्ञानी] उसी तरह ज्ञानी [देहे जीर्णे] शरीरके जीर्ण होनेसे [आत्मानं जीर्णं न मन्यते] आत्माको जीर्ण नहीं मानता । [यथा बुधः] जैसे कोई बुद्धिमान [वस्त्रे प्रणष्टे] वस्त्रके नाश होनेसे [देहं नष्टं] देहका नाश [न मन्यते] नहीं मानता, [तथा ज्ञानी] उसी तरह ज्ञानी [देहे नष्टे] देहका नाश होनेसे [आत्मानं] आत्माका [नष्टं न मन्यते] नाश नहीं मानता । [जीव] हे जीव, [यथा ज्ञानी] जैसे ज्ञानी [देहाद् भिन्नं एव] देहसे भिन्न ही [वस्त्र मन्यते] कपड़ेको मानता है, [तथा ज्ञानी] उसी तरह ज्ञानी [देहमपि] शरीरको भी [आत्मनः भिन्नं] आत्मासे जुदा [मन्यते] मानता है, ऐसा [जानीहि] तुम जानो ॥ भावार्थ—जैसे वस्त्र और शरीर मिले हुए भासते हैं, परंतु शरीरसे वस्त्र जुदा है, उसी तरह आत्मा और शरीर मिले हुए दीखते हैं, परंतु जुदा हैं । शरीरकी रक्ततासे, जीर्णतासे और विनाशसे आत्माकी रक्तता जीर्णता और विनाश नहीं होता यह निःसंदेह जानो । यह आत्मा व्यवहारनयकर देहमें स्थित हैं, तो भी सहज शुद्ध परमानन्दरूप निजस्वभावकर जुदा ही है, देहके सुख-दुःख जीवमें नहीं हैं ॥१७८-८१॥

अथ दुःखजनकदेहघातकंशत्रुमपि मित्रं जानीहीति दर्शयति—

इहु तणु जीवड तुज्झ रिउ दुक्खइ जेण जणेइ ।

सो परु जाणहि मित्तु तुहुं जो तणु एहु हणेइ ॥ १८२ ॥

इयं तनुः जीव तव रिपुः दुःखानि येन जनयति ।

तं परं जानीहि मित्रं त्वं यः तनुमेतां हन्ति ॥ १८२ ॥

रिउ रिपुर्भवति । का । इहु तणु इयं तनुः कर्त्री जीवड हे जीव तुज्झ तव । कस्मात् । दुक्खइ जेण जणेइ येन कारणेन दुःखानि जनयति सो परु तं परजनं जाणहि जानीहि । किम् । मित्तु परममित्रं तुहुं त्वं कर्ता । यः परः किं करोति । जो तणु एहु हणेइ यः कर्ता तनुमिमां मृत्यक्षीभूतां हन्तीति । अत्र यदा वैरी देहविनाशं करोति तदा वीतरागचिदानन्दैक-स्वभावपरमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखाभृतसमरसीभावे स्थित्वा शरीरघातकस्योपरि यथा पाण्डवैः कौरवकुमारस्योपरि द्वेषो न कृतस्तथान्यतपोधनैरपि न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ १८२ ॥

अथ उदयागते पापकर्मणि स्वस्वभावो न त्याज्य इति मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं कथयति—

उदयहं आणिवि कम्म मइ जं भुंजेवउ होइ ।

तं सइ आविउ खविउ मइ सो पर लाहु जि कोइ ॥ १८३ ॥

उदयमानीय कर्म मया यद् भोक्तव्यं भवति ।

तत् स्वयमागतं क्षपितं मया स परं लाभ एव कश्चित् ॥ १८३ ॥

जं यत् भुंजेवउ होइ भोक्तव्यं भवति । किं कृत्वा । उदयहं आणिवि विशिष्टात्म-भावनाबलेनोदयमानीय । किम् । कम्म चिरसंचितं कर्म । केन । मइ मया तं तत् पूर्वोक्तं

आगे दुःख उत्पन्न करनेवाला शत्रुरूप यह देह है, उसको तू मित्र मत समझ, ऐसा कहते हैं—[जीव] हे जीव, [इयं तनुः] यह शरीर [तव रिपुः] तेरा शत्रु है, [येन] क्योंकि [दुःखानि] दुःखोंको [जनयति] उत्पन्न करता है । [यः] जो [इमां तनुं] इस शरीरका [हन्ति] घात करे, [तं] उसको [त्वं] तुम [परं मित्रं] परममित्र [जानीहि] जानो ॥ भावार्थ—यह शरीर तेरा शत्रु होनेसे दुःख उत्पन्न करता है, इससे तू अनुराग मत कर और जो तेरे शरीरकी सेवा करता है, उससे भी राग मत कर, तथा जो तेरे शरीरका घात कर देवे, उसको शत्रु मत जान । जब कोई तेरे शरीरका विनाश करे, तब वीतराग चिदानन्द ज्ञानस्वभाव परमात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न जो परम समरसीभाव, उसमें लीन होकर शरीरके घातकपर द्वेष मत कर । जैसे महा धर्मस्वरूप युधिष्ठिर पांडव आदि पाँचों भाइयोंने दुर्योधनादिपर द्वेष नहीं किया । उसी तरह सभी साधुओंका यही स्वभाव है, कि अपने शरीरका जो घात करे, उससे द्वेष नहीं करते, सबके मित्र ही रहते हैं ॥१८२॥

आगे पूर्वोपार्जित पापके उदयसे दुःख अवस्था आ जावे उसमें अपना धीरपना आदि स्वभाव न छोड़े, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं—[यत्] जो [मया] मैं [कर्म] कर्मको

कर्म सह आविड दुर्धरपरीषहोपसर्गवशेन स्वयमुदयमागतं सत् खविड महं निजपरमात्म-
तत्त्वभावनोत्पन्नवीतरागसहजानन्दैकसुखरसास्वादद्वीभूतेन परिणतेन मनसा क्षपितं मया सो
स परं नियमेन लह्यु जि लाभ एव कोइ कश्चिदपूर्व इति । अत्र केचन महापुरुषा दुर्धरानुष्ठानं
कृत्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थिता च कर्मोदयमानीय तमनुभवन्ति, अस्माकं पुनः स्वय-
मेवोदयागतमिति मत्वा संतोषः कर्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ १८३ ॥

अथ इदानीं परुषवचनं सोढुं न याति तदा निर्विकल्पात्मतत्त्वभावना कर्तव्येति प्रतिपादयति—

णिद्रदुर-वयणु सुणेवि जिय जइ मणि सहण ण जाइ ।

तो लह्यु भावहि बंभु परु जि मणु झत्ति विलाइ ॥ १८४ ॥

निष्ठुरवचनं श्रुत्वा जीव यदि मनसि सोढुं न याति ।

ततो लघु भावय ब्रह्म परं येन मनो झटिति विलीयते ॥ १८४ ॥

जइ यदि चेत् सहण ण जाइ सोढुं न याति । क मणि मनसि जिय हे मूढ जीव ।
किं कृत्वा । सुणेवि श्रुत्वा । किम् णिद्रदुरवयणु निष्ठुरं हृदयकर्णशूलवचनं तो तद्वचनश्रव-
णानन्तरं लह्यु शीघ्रं भावहि वीतरागपरमानन्दैकलक्षणनिर्विकल्पसमाधौ स्थिता भावय कम् ।
बंभु ब्रह्मशब्दवाच्यनिजदेहस्थपरमात्मानम् । कथंभूतम् । परु परमानन्तज्ञानादिगुणाधारत्वात्
परमुत्कृष्टं जि येन परमात्मध्यानेन । किं भवति । मणु झत्ति विलाइ वीतरागनिर्विकल्प-

[उदयं आनीय] उदयमें लाकर [भोक्तव्यं भवति] भोगना चाहता था, [तत्] वह कर्म [स्वयं
आगतं] आप ही आ गया, [मया क्षपितं] इससे मैं शांत चित्तसे फल सहनकर क्षय करूँ, [स
कश्चित्] यह कोई [परं लाभः] महान ही लाभ हुआ ॥ भावार्थ—जो महामुनि मुक्तिके अधिकारी
हैं, वे उदयमें नहीं आये हुए कर्मोंको परम आत्मज्ञानकी भावनाके बलसे उदयमें लाकर उसका फल
भोगकर शीघ्र निर्जरा कर देते हैं । और यदि वे पूर्वकर्म बिना उपायके सहज ही बाईस परीषह
तथा उपसर्गके वशसे उदयमें आये हों, तो विषाद न करना किन्तु बहुत लाभ समझना । मनमें यह
मानना कि हम तो उदीरणासे इन कर्मोंको उदयमें लाकर क्षय करते, परन्तु ये सहज ही उदयमें
आये, यह तो बड़ा ही लाभ है । जैसे कोई बड़ा व्यापारी अपने ऊपरका कर्ज लोगोंका बुला
बुलाकर देता है, यदि कोई बिना बुलाये सहज ही लेने आया हो, तो बड़ा ही लाभ है । उसी तरह
कोई महापुरुष महान दुर्धर तप करके कर्मोंको उदयमें लाकर क्षय करते हैं, लेकिन वे कर्म अपने
स्वयमेव उदयमें आये हैं, तो इसके समान दूसरा क्या है, ऐसा संतोष धारणकर ज्ञानीजन उदय
आये हुए कर्मोंको भोगते हैं, परन्तु राग द्वेष नहीं करते ॥१८३॥

आगे यह कहते हैं कि यदि कोई कर्कश (कठोर) वचन कहे, और यह न कह सकता हो तो
अपने कषायभाव रोकनेके लिये निर्विकल्प आत्मतत्त्वकी भावना करनी चाहिए—[जीव] हे जीव,
[निष्ठुरवचनं श्रुत्वा] यदि कोई अविवेकी किसीको कठोर वचन कहे, उसको सुनकर [यदि]
यदि [न सोढुं याति] न सह सके, [ततः] तो कषाय दूर करनेके लिये [परं ब्रह्म]

समाधिसमुत्पन्नपरमानन्दैकरूपसुखामृतास्वादेन मनो झटिति शीघ्रं विलयं याति द्रवीभूतं भवतीति भावार्थः ॥ १८४ ॥

अथ जीवः कर्मवशेन जातिभेदभिन्नो भवतीति निश्चिनोति—

लोउ विलक्खणु कम्म-वसु इत्थु भवंतरि एइ ।

चुज्जु कि जइ इहु अप्पि ठिउ इत्थु जि भवि ण पडेइ ॥ १८५ ॥

लोकः विलक्षणः कर्मवशः अत्र भवान्तरे आयाति ।

आश्चर्यं किं यदि अयं आत्मनि स्थितः अत्रैव भवे न पतति ॥ १८५ ॥

लोउ इत्यादि । विलक्खणु षोडशवर्णिकासुवर्णवत्केवलज्ञानादिगुणसदृशो न सर्वजीव-राशिसदृशात् परमात्मतत्त्वाद्विलक्षणो विसदृशो भवति । केन । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिजाति-भेदेन । कोऽसौ । लोउ लोको जनः । कथंभूतः सन् । कम्मवसु कर्मरहितशुद्धात्मानुभूति-भावनारहितेन यदुपार्जितं कर्म तस्य कर्मण अधीनः कर्मवशः । इत्थंभूतः सन् किं करोति । इत्थु भवंतरि एइ पञ्चप्रकारभवरहिताद्वीतरागपरमानन्दैकस्वभावात् शुद्धात्मद्रव्याद्विसदृशे अस्मिन् भवान्तरे संसारे समायाति चुज्जु कि इदं किमाश्चर्यं किंतु नैव, जइ इहु अप्पि ठिउ यदि चेदयं जीवः स्वशुद्धात्मनि स्थितो भवति तर्हि इत्थु जि भवि ण पडेइ अत्रैव भवे न पततीति इदमप्याश्चर्यं न भवतीति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा संसारभयभीतेन भव्येन भवकारणमिध्यात्मादिपञ्चास्रवान् मुक्त्वा द्रव्यभावास्वरहिते परमात्मभावे स्थित्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १८५ ॥

परमानन्दस्वरूप इस देहमें विराजमान परमब्रह्मका [मनसि] मनमें [लघु] शीघ्र [भावय] ध्यान करो, जो ब्रह्म अनंत ज्ञानादि गुणोंका आधार है, सर्वोत्कृष्ट हैं, [येन] जिसके ध्यान करनेसे [मनः] मनका विकार [झटिति] शीघ्र ही [विलीयते] विलीन हो जाता है ॥१८४॥

आगे जीवके कर्मके वशसे भिन्न-भिन्न स्वरूप जाति-भेदसे होते हैं, ऐसा निश्चय करते हैं—[विलक्षणः] सोलहवानीके सुवर्णकी तरह केवलज्ञानादि गुणकर समान जो परमात्मतत्त्व उससे भिन्न जो [लोकः] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जाति-भेदरूप जीव-राशि वह [कर्मवशः] कर्मसे उत्पन्न है, अर्थात् जाति-भेद कर्मके निमित्तसे हुआ है, और वे कर्म आत्मज्ञानकी भावनासे रहित अज्ञानी जीवने उपार्जन किये हैं, उन कर्मोंके अधीन जातिभेद हैं । जब तक कर्मोंका उपार्जन है तब तक [अत्र भवान्तरे आयाति] इस संसारमें अनेक जाति धारण करता है, [अयं यदि] यदि यह जीव [आत्मनि स्थितः] आत्मस्वरूपमें लगे, तो [अत्रैव भवे] इसी भवमें [न पतति] नहीं पड़े-भ्रमण नहीं करे, [किं आश्चर्य] इसमें क्या आश्चर्य है ? कुछ भी नहीं ॥ भावार्थ—जब तक आत्मामें चित्त नहीं लगता, तब तक संसारमें भ्रमण करता है, अनेक भव धारण करता है, लेकिन जब यह आत्मदर्शी हुआ तब कर्मोंको भी उपार्जन नहीं करता, और भवमें भी नहीं भटकता । इसमें आश्चर्य नहीं है । संसार शरीर भोगोंसे उदास और जिसको भव-भ्रमणका भय

अथ परेण दोषग्रहणे कृते कोपो न कर्तव्य इत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं मति-
पादयति—

अवगुण-ग्रहणं मद्भुतणं जह जीवहं संतोसु ।

तो तहं सोक्खहं हेउ हउं इउ मण्णिवि चइ रोसु ॥ १८६ ॥

अवगुणग्रहणेन मदीयेन यदि जीवानां संतोषः ।

ततः तेषां सुखस्य हेतुरहं इति मत्वा त्यज रोषम् ॥ १८६ ॥

जह जीवहं संतोसु यदि चेदज्ञानिजीवानां संतोषो भवति । केन । अवगुणग्रहणं निर्दोषपरमात्मनो विलक्षणा ये दोषा अवगुणास्तेषां ग्रहणेन । कथंभूतेन । मद्भुतणं मदीयेन तो तहं सोक्खहं हेउ हउं यतः कारणान्मदीयदोषग्रहणेन तेषां सुखं जातं ततस्तेषामहं सुखस्य हेतुर्जातः इउ मण्णिवि चइ रोसु केचन परोपकारनिरताः परेषां द्रव्यादिकं दत्त्वा सुखं कुर्वन्ति मया पुनर्द्रव्यादिकं मुक्त्वापि तेषां सुखं कृतमिति मत्वा रोषं त्यज । अथवा मदीया अनन्तज्ञानादिगुणा न गृहीतास्तैः किंतु दोषा एव गृहीता इति मत्वा च कोपं त्यज, अथवा ममैते दोषाः सन्ति सत्यमिदमस्य वचनं तथापि रोषं त्यज, अथवा ममैते दोषा न सन्ति तस्य वचनेन किमहं दोषी जातस्तथापि क्षमितव्यम्, अथवा परोक्षे दोषग्रहणं करोति न च उत्पन्न हो गया है, ऐसा भव्य जीव उसको मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद, योग, इन पाँचों आस्रवोंको छोड़कर परमात्मतत्त्वमें सदैव भावना करनी चाहिये । यदि इसके आत्मभावना होवे तो भव-भ्रमण नहीं हो सकता ॥१८५॥

आगे यदि कोई अपने दोष ग्रहण करे तो उसपर क्रोध नहीं करना, क्षमा करना, यह अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं—[मदीयेन अवगुणग्रहणेन] अज्ञानी जीवोंको परके दोष ग्रहण करनेसे हर्ष होता है, मेरे दोष ग्रहण करके [यदि जीवानां संतोषः] यदि जीवोंको हर्ष होता है; [ततः] तो मुझे यही लाभ है, कि [अहं] मैं [तेषां सुखस्य हेतुः] उनको सुखका कारण हुआ, [इति मत्वा] ऐसा मनमें विचारकर [रोषं त्यज] गुस्सा छोड़ो ॥ भावार्थ—ज्ञानी गुस्सा नहीं करते, किंतु ऐसा विचारते हैं, कि यदि कोई परका उपकार करनेवाले परजीवोंको द्रव्यादि देकर सुखी करते हैं, मैंने कुछ द्रव्य नहीं दिया, उपकार नहीं किया, मेरे अवगुणसे ही सुखी हो गये, तो इसके समान दूसरी क्या बात है ? ऐसा जानकर हे भव्य, तू रोष छोड़ । अथवा ऐसा विचारे, कि मेरे अनंत ज्ञानादि गुण तो उसने नहीं लिये, दोष लिये वो निःशंक लो । जैसे घरमें कोई चोर आया, और उसने रत्न सुवर्णादि नहीं लिये, माटी पत्थर लिये तो लो, तुच्छ वस्तुके लेनेवालेपर क्या क्रोध करना, ऐसा जान रोष छोड़ना । अथवा ऐसा विचारे, कि जो यह दोष कहता है, वे सच कहता है, तो सत्यवादसे क्या द्वेष करना ? अथवा ये दोष मुझमें नहीं हुआ वह वृथा कहता है, तो उसके वृथा कहनेसे क्या मैं दोषी हो गया ? बिल्कुल नहीं हुआ । ऐसा जानकर क्रोध छोड़ क्षमाभाव धारण करना चाहिये । अथवा यह विचारो कि वह मेरे मुँहके आगे नहीं

प्रत्यक्षे समीचीनोऽसौ तथापि क्षमितव्यम्, अथवा वचनमात्रेणैव दोषग्रहणं करोति न च शरीरबाधां करोति तथापि क्षमितव्यम्, अथवा शरीरबाधामेव करोति न च प्राणविनाशं तथापि क्षमितव्यम्, अथवा प्राणविनाशमेव करोति न च भेदाभेदरत्नत्रयभावनाविनाशं चेति मत्वा सर्वतात्पर्येण क्षमा कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ १८६ ॥

अथ सर्वचिन्तां निषेधयति युग्मेन—

जोइय चिंति म किं पि तुहुं जइ बीहउ दुःखस्स ।

तिल-तुस-मिच्छु वि सल्लडा वेयण करइ अवस्स ॥ १८७ ॥

योगिन् चिन्तय मा किमपि त्वं यदि भीतः दुःखस्य ।

तिलतुषमात्रमपि शल्यं वेदनां करोत्यवश्यम् ॥ १८७ ॥

चिंति म चिन्तां मा कार्पीः किं पि तुहुं कामपि तं जोइय हे योगिन् । यदि किम् । जइ बीहउ यदि विभेषि । कस्य । दुःखस्स वीतरागतात्त्विकानन्दैकरूपात् पारमार्थिक-सुखात्मतिपक्षभूतस्य नारकादिदुःखस्य । यतः कारणात् तिलतुसमिच्छु वि सल्लडा तिलतुष-मात्रमपि शल्यं वेयण करइ अवस्स वेदनां बाधां करोत्यवश्यं नियमेन । अत्र चिन्तारहिता-त्परमात्मनः सकाशाद्विलक्षणा या विषयकषायादिचिन्ता सा न कर्तव्या । काण्डादिशल्यमिव दुःखकारणत्वादिति भावार्थः ॥ १८७ ॥

कहता, लेकिन पीठ पीछे कहता है, सो पीठ पीछे तो राजाओंको भी बुरा कहते हैं, ऐसा जानकर उसे क्षमा करना कि प्रत्यक्ष तो मेरा मानभंग नहीं करता है, परोक्षकी बात क्या है । अथवा कदाचित् कोई प्रत्यक्ष मुँह आगे दोष कहे, तो तू यह विचार कि वचनमात्रसे मेरे दोष ग्रहण करता है, शरीरको तो बाधा नहीं करता, यह गुण हैं, ऐसा जान क्षमा ही कर । अथवा यदि कोई शरीरको भी बाधा करे, तो तू ऐसा विचार, कि मेरे प्राण तो नहीं हरता, यह गुण है । यदि कभी कोई पापी प्राण ही हर ले, तो यह विचार कि ये प्राण तो विनाशीक हैं, विनाशीक वस्तुके चले जानेकी क्या बात है । मेरा ज्ञानभाव अविनश्वर है, उसको तो कोई हर नहीं सकता, इसने तो मेरे बाह्य प्राण हर लिये हैं, परन्तु भेदाभेदरत्नत्रयकी भावनाका विनाश नहीं किया । ऐसा जानकर सर्वथा क्षमा ही करना चाहिये ॥१८६॥

आगे सब चिन्ताओंका निषेध करते हैं—[योगिन्] हे योगी, [त्वं] तू [यदि] यदि [दुःखस्य] वीतराग परम आनन्दके शत्रु जो नरकादि चारों गतियोंके दुःख उनसे [भीतः] डर गया है, तो तू निश्चित होकर परलोकका साधन कर, इस लोककी [किमपि मा चिंतय] कुछ भी चिन्ता मत कर । क्योंकि [तिलतुषमात्रमपि शल्यं] तिलके भूसे मात्र भी शल्य [वेदनां] मनको वेदना [अवश्यं करोति] निश्चयसे करता हैं ॥ भावार्थ—चिन्तारहित आत्मज्ञानसे उल्टे जो विषय कषाय आदि विकल्पजाल उनकी चिन्ता कुछ भी नहीं करना । यह चिन्ता दुःखका ही कारण है, जैसे बाण आदिकी तृणप्रमाण भी सलाई महा दुःखका कारण है, जब वह शल्य निकले, तभी सुख होता है ॥१८७॥

किंच—

मोक्खु म चिंतहि जोइया मोक्खु ण चिंतिउ होइ ।

जेण णिबद्धउ जीवद्धउ मोक्खु करेसइ सोइ ॥ १८८ ॥

मोक्ष मा चिन्तय योगिन् मोक्षो न चिन्तितो भवति ।

येन निबद्धो जीवः मोक्षं करिष्यति तदेव ॥ १८८ ॥

मोक्खु इत्यादि । मोक्खु म चिंतहि मोक्षचिन्तां मा कार्षीस्त्वं जोइया हे योगिन् । यतः कारणात् मोक्खु ण चिंतिउ होइ रागादिचिन्ताजालरहितः केवलज्ञानाद्यनन्तगुण-व्यक्तिसहितो मोक्षः चिन्तितो न भवति । तर्हि कथं भवति । जेण णिबद्धउ जीवद्धउ येन मिथ्यात्वरगादिचिन्ताजालोपार्जितेन कर्मणा बद्धो जीवः सोइ तदेव कर्म शुभाशुभविकल्प-समूहरहिते शुद्धात्मतत्त्वस्वरूपे स्थितानां परमयोगिनां मोक्खु करेसइ अनन्तज्ञानादिगुणो-पलम्भरूपं मोक्षं करिष्यतीति । अत्र यद्यपि सविकल्पावस्थायां विषयकषायाद्यध्यानवञ्चनायं मोक्षमार्गे भावनादृढीकरणार्थं च “दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिंलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ती होउ मज्झं” इत्यादि भावना कर्तव्या तथापि वीतरागानिर्विकल्पपरमसमाधि-काले न कर्तव्येति भावार्थः ॥ १८८ ॥

अथ चतुर्विंशतिस्त्रयममितमहास्थलमध्ये परमसमाधिव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्कमन्तरस्थलं कथ्यते । तद्यथा—

आगे मोक्षकी भी चिन्ता नहीं करना, ऐसा कहते हैं—[योगिन्] हे योगी, अन्य चिन्ताकी तो बात ही क्या ? [मोक्षं मा चिन्तय] मोक्षकी भी चिन्ता मत कर, [मोक्षः] क्योंकि मोक्ष [चिन्तितो न भवति] चिन्ता करनेसे नहीं होता, वांछके त्यागसे ही होता है, रागादि चिन्ताजालसे रहित केवलज्ञानादि अनन्तगुणोंकी प्रगटता सहित जो मोक्ष है, वह चिन्ताके त्यागसे होता है । यही कहते हैं—[येन] जिन मिथ्यात्व-रागादि चिन्ता-जालोंसे उपार्जन किये कर्मोंसे [जीवः] यह जीव [निबद्धः] बँधा हुआ है, [तदेव] वे कर्म ही [मोक्षं] शुभाशुभ विकल्पके समूहसे रहित जो शुद्धात्मतत्त्वका स्वरूप उसमें लीन हुए परमयोगियोंका मोक्ष [करिष्यति] करेंगे ॥ भावार्थ—वह चिन्ताका त्याग ही तुझको निस्संदेह मोक्ष देगा । अनन्त ज्ञानादि गुणोंकी प्रगटता वह मोक्ष है । यद्यपि विकल्प सहित जो प्रथम अवस्था उसमें विषय कषायादि छोटे ध्यानके निवारण करनेके लिये और मोक्षमार्गमें परिणाम दृढ़ करनेके लिये ज्ञानीजन ऐसी भावना करते हैं, कि चतुर्गतिके दुःखोंका क्षय हो, अष्ट कर्मोंका क्षय हो, ज्ञानका लाभ हो, पंचमगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो, और जिनराजके गुणोंकी सम्पत्ति मुझको हो । यह भावना चौथे पाँचवें छठे गुणस्थानमें करने योग्य है, तो भी ऊपरके गुणस्थानोंमें वीतराग निर्विकल्पसमाधिके समय नहीं होती ॥१८८॥

आगे चौबीस दोहोंके स्थलमें परमसमाधिके व्याख्यानकी मुख्यतासे छह दोहा-सूत्र कहते हैं—[ये] जो कोई महान पुरुष [परमसमाधिमहासरसि] परमसमाधिरूप सरोवरमें [प्रविश्य]

परम-समाहि-महा-सरहिं जे बुडुहिं पइसेवि ।

अप्पा थक्कइ विमलु तहँ भव-मल जंति वहेवि ॥ १८९ ॥

परमसमाधिमाहासरसि ये मज्जन्ति प्रविश्य ।

आत्मा तिष्ठति विमलः तेषां भवमलानि यान्ति ऊढ्वा ॥ १८९ ॥

जे बुडुहिं ये केचना पुरुषा मग्ना भवन्ति । क । परमसमाहिमाहासरहिं परमसमाधि-
महासरोवरे । किं कृत्वा मग्ना भवन्ति । पइसेवि प्रविश्य सर्वात्मप्रदेशैरवगाह्य अप्पा थक्कइ
चिदानन्दैकस्वभावः परमात्मा तिष्ठति । कथंभूतः । विमलु द्रव्यकर्मनोकर्ममतिज्ञानादिविभाव-
गुणनरनारकादिविभावपर्यायमलरहितः तहँ तेषां परमसमाधिरतपुरुषाणां भवमल जंति
भवराहितात् शुद्धात्मद्रव्यादिलक्षणानि यानि कर्माणि भवमलकारणभूतानि गच्छन्ति । किं कृत्वा ।
वहेवि शुद्धपरिणामनीरप्रवाहेण ऊढ्वेति भावार्थः ॥ १८९ ॥

अथ—

सयल-वियप्पहँ जो विलउ परम-समाहि भणंति ।

तेण सुहासुह-भावडा मुणि सयलवि मेहँति ॥ १९० ॥

सकलविकल्पानां यः विलयः (तं) परमसमाधिं भणन्ति ।

तेन शुभाशुभभावान् मुनयः सकलानपि मुञ्चन्ति ॥ १९० ॥

भणंति कथयन्ति । के ते । वीतरागसर्वज्ञाः । कं भणन्ति । परमसमाहि वीतरागपरम-
सामायिकरूपं परमसमाधिकं जो विलउ यं विलयं विनाशम् । केषाम् । सयलवियप्पहँ
निर्विकल्पात्परमात्मस्वरूपात्प्रतिकूलानां समस्तविकल्पानां तेण तेन कारणेन मेहँति मुञ्चन्ति ।
के कर्तारः । मुणि परमाराध्यध्यानरतास्तपोधनाः । कान् मुञ्चन्ति । सुहासुहभावडा

घुसकर [मज्जन्ति] मग्न होते हैं, उनके सब प्रदेश समाधिरसमें भीग जाते हैं, [आत्मा तिष्ठति]
उन्हींकेचिदानन्द अखंड स्वभाव आत्माका ध्यान स्थिर होता है । जो कि आत्मा [विमलः] द्रव्यकर्म
भावकर्म नोकर्मसे रहित महा निर्मल है, [तेषां] जो योगी परमसमाधिमें रत है, उन्हीं पुरुषोंके
[भवमलानि] शुद्धात्मद्रव्यसे विपरीत अशुद्ध भावके कारण जो कर्म हैं, वे सब [वहित्वा यांति]
शुद्धात्म परिणामरूप जो जलका प्रवाह उसमें बह जाते हैं ॥ भावार्थ—जहाँ जलका प्रवाह आवे,
वहाँ मल कैसे रह सकता है ? कभी नहीं रहता ॥१८९॥

आगे परमसमाधिका लक्षण कहते हैं—[यः] जो [सकलविकल्पानां] निर्विकल्पपरमात्म-
स्वरूपसे विपरीत रागादि समस्त विकल्पोंका [विलयः] नाश होना, उसको [परमसमाधिं
भणंति] परमसमाधि कहते हैं, [तेन] इस परमसमाधिसे [मुनयः] मुनिराज [सकलानपि] सभी
[शुभाशुभ-विकल्पान्] शुभ अशुभ भावोंको [मुञ्चंति] छोड़ देते हैं ॥ भावार्थ—परम आराध्य
जो आत्मस्वरूप उसके ध्यानमें लीन जो तपोधन वे शुभ अशुभ मन वचन कायके व्यापारसे रहित

शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररहितान् शुद्धात्मद्रव्याद्विपरीतान् शुभाशुभभावान् परिणामान् ।
कतिसंख्योपेतान् । सयल वि समस्तानपि । अयं भावार्थः । समस्तपरद्रव्याशारहितात्
स्वशुद्धात्मस्वभावाद्विपरीता या आशापीडलोकपरलोकाशा यावत्तिष्ठति मनसि तावद् दुःखी जीव
इति ज्ञात्वा सर्वपरद्रव्याशारहितशुद्धात्मद्रव्यभावना कर्तव्येति । तथा चोक्तम्—“ आसापिसाय-
गहिओ जीवो पावेइ दारुणं दुक्खं । आसा जाहं णियत्ता ताहं णियत्ताइं सयलदुक्खाइं ॥ ” ॥१९०॥

अथ—

घोरु करंतु वि तव-चरणु सयल वि सत्थ मुणंतु ।

परम-समाहि-विवज्जियउ णवि देक्खइ सिउ संतु ॥ १९१ ॥

घोरं कुर्वन् अपि तपश्चरणं सकलान्यपि शास्त्राणि जानन् ।

परमसमाधिविवर्जितः नैव पश्यति शिवं शान्तम् ॥ १९१ ॥

करंतु वि कुर्वाणोऽपि । किम् । तवचरणु समस्तपरद्रव्येच्छावर्जितं शुद्धात्मानुभूतिरहितं
तपश्चरणम् । कथंभूतम् । घोरु घोरं दुर्धरं वृक्षमूलातापनादिरूपम् । न केवलं तपश्चरणं कुर्वन् । सयल
वि सत्थ मुणंतु शास्त्रजनितविकल्पतात्पर्यरहितात् परमात्मस्वरूपात् प्रतिपक्षभूतानि सर्वशास्त्रा-
न्यपि जानन् । इत्थंभूतोऽपि सन् परमसमाधिविवर्जियउ यदि चेद्रागादिविकल्परहितपरम-
समाधिविवर्जितो भवति तर्हि णवि देक्खइ न पश्यति । कम् । सिउ शिवं शिवशब्दवाच्यं
विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं स्वदेहस्थमपि च परमात्मानम् । कथंभूतम् । संतु रागद्वेषमोहरहितत्वेन

जो शुद्धात्मद्रव्य उससे विपरीत जो अच्छे बुरे भाव उन सबको छोड़ देते हैं, समस्त परद्रव्यकी
आशासे रहित जो निज शुद्धात्म स्वभाव उससे विपरीत जो इस लोक परलोककी आशा, वह जब
तक मनमें स्थित है, तब तक यह जीव दुःखी है । ऐसा जानकर सब परद्रव्यकी आशासे रहित
जो शुद्धात्मद्रव्य उसकी भावना करनी चाहिये । ऐसा ही कथन अन्य जगह भी है—आशास्वरूप
पिशाचसे घिरा हुआ यह जीव महान भयंकर दुःख पाता है, जिन मुनियोंने आशा छोड़ी, उन्होंने
सब दुःख दूर किये, क्योंकि दुःखका मूल आशा ही है ॥१९०॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि परमसमाधिके बिना शुद्ध आत्माको नहीं देख सकता—[घोरं
तपश्चरणं कुर्वन् अपि] जो मुनि महा दुर्धर तपश्चरण करता हुआ भी और [सकलानि
शास्त्राणि] सब शास्त्रोंको [जानन्] जानता हुआ भी [परमसमाधिविवर्जितः] जो परमसमाधिसे
रहित है, वह [शान्तं शिवं] शान्तरूप शुद्धात्माको [नैव पश्यति] नहीं देख सकता ॥
भावार्थ—तप उसे कहते हैं, कि जिसमें किसी वस्तुकी इच्छा न हो । सो इच्छा का अभाव तो हुआ
नहीं परन्तु कायक्लेश करता है, शीतकालमें नदीके तीर पर, ग्रीष्मकालमें पर्वतके शिखरपर,
वर्षाकालमें वृक्षके मूलमें महान दुर्धर तप करता है । केवल तप ही नहीं करता, शास्त्र भी पढता
है, सकल शास्त्रोंके प्रबंधसे रहित जो निर्विकल्प परमात्मस्वरूप उससे रहित हुआ सीखता है,
शास्त्रोंका रहस्य जानता है, परन्तु परमसमाधिसे रहित है, अर्थात् रागादि विकल्पसे रहित समाधि

शान्तं परमोपशमरूपमिति । इदमत्र तात्पर्यम् । यदि निजशुद्धात्मैवोपादेय इति मत्वा तत्साधकत्वेन तदनुकूलं तपश्चरणं करोति तत्परिज्ञानसाधकं च पठति तदा परंपरया मोक्षसाधकं भवति, नो चेत् पुण्यबन्धकारणं तमेवेति । निर्विकल्पसमाधिरहिताः सन्तः आत्मरूपं न पश्यन्ति । तथा चोक्तम्—“आनन्दं ब्रह्मणो रूपं निजदेहे व्यवस्थितम् । ध्यानहीना न पश्यन्ति जात्यन्धा इव भास्करम् ॥” ॥ १९१ ॥

अथ—

विसय-कसाय वि णिहलिवि जे ण समाहि करंति ।

ते परमप्पहं जोइया णवि आराहय होंति ॥ १९२ ॥

विषयकषायानपि निर्दल्य ये न समाधिं कुर्वन्ति ।

ते परमात्मनः योगिन् नैव आराधका भवन्ति ॥ १९२ ॥

जे ये केचन ण करंति न कुर्वन्ति । कम् । समाहि त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिम् । किं कृत्वा पूर्वम् । णिहलिवि निर्मूल्य । कानपि विसयकसाय वि निर्विषयकषायात् शुद्धात्मतत्त्वात् प्रतिपक्षभूतान् विषयकषायानपि ते णवि आराहय होंति ते नैव आराधका भवन्ति जोइया हे योगिन् । कस्याराधका न भवन्ति । परमप्पहं निर्दोषिपरमात्मन इति । तथाहि । विषय-

जिसके प्रगट न हुई, तो वह परमसमाधिके बिना तप करता हुआ और श्रुत पढता हुआ भी निर्मल ज्ञान दर्शनरूप तथा इस देहमें विराजमान ऐसे निज परमात्माको नहीं देख सकता, जो आत्मस्वरूप राग द्वेष मोह रहित परमशांत है । परमसमाधिके बिना तप और श्रुतसे भी शुद्धात्माको नहीं देख सकता । जो निज शुद्धात्माको उपादेय जानकर ज्ञानका साधक तप करता है, और ज्ञानकी प्राप्ति का उपाय जो जैनशास्त्र उनको पढाता है, तो परम्परा मोक्षका साधक है । और जो आत्माके श्रद्धान बिना कायक्लेशरूप तप ही करे, तथा शब्दरूप ही श्रुत पढे तो मोक्षका कारण नहीं है, पुण्यबंधके कारण होते हैं । ऐसा ही परमानंदस्तोत्रमें कहा है, कि जो निर्विकल्प समाधि रहित जीव हैं, वे आत्मस्वरूपको नहीं देख सकते । ब्रह्मका रूप आनंद है, वह ब्रह्म निज देहमें मौजूद है; परंतु ध्यानसे रहित जीव ब्रह्मको नहीं देख सकते, जैसे जन्मका अन्धा सूर्यको नहीं देख सकता है ॥१९१॥

आगे विषय कषायोंका निषेध करते हैं—[ये] जो [विषयकषायानपि] समाधिको धारणकर विषय कषायोंको [निर्दल्य] मूलसे उखाड़कर [समाधिं] तीन गुप्तिरूप परमसमाधिको [न कुर्वन्ति] नहीं धारण करते, [ते] वे [योगिन्] हे योगी, [परमात्माआराधकः] परमात्माके आराधक [नैव भवन्ति] नहीं हैं । भावार्थ—ये विषयकषाय शुद्धात्मतत्त्वके शत्रु हैं, जो इनका नाश न करे, वह स्वरूपका आराधक कैसा ? स्वरूपको वही आराधता है, जिसके विषय कषायका प्रसंग न हो, सब दोषोंसे रहित जो निज परमात्मा उसकी आराधनाके घातक विषय कषायके सिवाय दूसरा कोई भी नहीं है । विषय कषायकी निवृत्तिरूप शुद्धात्माकी अनुभूति वह वैराग्यसे ही देखी जाती है । इसलिये

कषायनिवृत्तिरूपं शुद्धात्मानुभूतिस्वभावं वैराग्यं, शुद्धात्मोपलब्धिरूपं तत्त्वविज्ञानं, बाह्याभ्यन्तर-परिग्रहपरित्यागरूपं नैर्ग्रन्थ्यं, निश्चिन्तात्मानुभूतिरूपा वशचित्तता, वीतरागनिर्विकल्पसमाधि-बहिरङ्गसहकारिभूतं जितपरीषहत्वं चेति पञ्चैतान् ध्यानहेतून् ज्ञात्वा भावयित्वा च ध्यानं कर्तव्यमिति भावार्थः । तथा चोक्तम्—“वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं वशचित्तता । जितपरीषहत्वं च पञ्चैते ध्यानहेतवः ॥ ” ॥ १९२ ॥

अथ—

परम-समाहि धरेवि मुणि जे परबंभु ण जंति ।

ते भव-दुक्खइं बहुविहइं कालु अणंतु सहंति ॥ १९३ ॥

परमसमाधिं धृत्वापि मुनयः ये परब्रह्म न यांति ।

ते भवदुःखानि बहुविधानि कालं अनन्तं सहन्ते ॥ १९३ ॥

जे ये केचन मुणि मुनयः ण जंति न गच्छन्ति । कं कर्मतापन्नम् । परबंभु परमब्रह्म परब्रह्मशब्दवाच्यं निजदेहस्थं केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावं परमात्मस्वरूपम् । किं कृत्वा पूर्वम् । परमसमाहि धरेवि वीतरागतात्त्विकचिदानन्दैकानुभूतिरूपं परमसमाधिं धृत्वा ते पूर्वोक्त-शुद्धात्मभावनारहिताः पुरुषाः सहन्ति सहन्ते । कानि कर्मतापन्नानि । भवदुक्खइं वीतराग-परमाह्लादरूपात् पारमार्थिकसुखात् प्रतिपक्षभूतानि नरनारकादिभवदुःखानि । कतिसंख्योपेतानि । बहुविहइं शरीरमानसादिभेदेन बहुविधानि । कियन्तं कालम् । कालु अणंतु अनन्तकाल-ध्यानका मुख्य कारण वैराग्य है । जब वैराग्य हो तब तत्त्वज्ञान निर्मल हो, सो वैराग्य और तत्त्वज्ञान ये दोनों परस्परमें मित्र हैं । ये ही ध्यानके कारण हैं, और बाह्याभ्यन्तर परिग्रहके त्यागरूप निग्रहपना वह ध्यानका कारण है । निश्चित आत्मानुभूति ही है स्वरूप जिसका ऐसे जो मनका वश होना, वह वीतराग निर्विकल्पसमाधिका सहकारी है, और बाईस परीषहोंका जीतना, वह भी ध्यानका कारण है । ये पाँच ध्यानके कारण जानकर ध्यान करना चाहिये । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि संसार शरीरभोगोंसे विरक्तता, तत्त्वविज्ञान, सकल परिग्रहका त्याग, मनका वश करना, और बाईस परीषहोंका जीतना—ये पाँच आत्मध्यानके कारण हैं ॥१९२॥

आगे परमसमाधिकी महिमा कहते हैं—[ये मुनयः] जो कोई मुनि [परमसमाधिं] परमसमाधिको [धृत्वापि] धारण करके भी [परब्रह्म] निज देहमें ठहरे हुए केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप निज आत्माको [न यांति] नहीं जानते हैं, [ते] वे शुद्धात्मभावनासे रहित पुरुष [बहुविधानि] अनेक प्रकारके [भवदुःखानि] नारकादि भवदुःख आधि व्याधिरूप [अनंतं कालं] अनन्तकालतक [सहन्ते] भोगते हैं ॥ भावार्थ—मनके दुःखको आधि कहते हैं, और तनसंबंधी दुःखोंको व्याधि कहते हैं, नाना प्रकारके दुःखोंको अज्ञानी जीव भोगता है । ये दुःख वीतराग परम आह्लादरूप जो पारमार्थिक-सुख उससे विमुख है । यह जीव अनन्तकाल तक निजस्वरूपके ज्ञान बिना चारों गतियोंमें नाना प्रकारके दुःख भोग रहा है । ऐसा व्याख्यान जानकर निज शुद्धात्मामें स्थिर होकर

पर्यन्तमिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा निजशुद्धात्मनि स्थित्वा रागद्वेषादिसमस्तविभावत्यागेन भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १९३ ॥

अथ—

जामु सुहासुह-भावडा णवि सयल वि तुहंति ।

परम-समाहि ण तामु मणि केवुलि एमु भणंति ॥ १९४ ॥

यावत् शुभाशुभभावाः नैव सकला अपि नुट्यन्ति ।

परमसमाधिर्न तावत् मनसि केवलिन एवं भणन्ति ॥ १९४ ॥

जामु इत्यादि । जामु यावत्कालं णवि तुहंति नैव नश्यन्ति । के कर्तारः । सुहासुह-भावडा शुभाशुभविकल्पजालरहितात् परमात्मद्रव्यादिपरीताः शुभाशुभभावाः । परिणामा कतिसंख्योपेता अपि । सयल वि समस्ता अपि तामु ण तावत्कालं न । कोऽसौ । परम-समाहि शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानुज्ञानानुचरणरूपः शुद्धोपयोगलक्षणः परमसमाधिः । क । मणि रागादिविकल्परहितत्वेन शुद्धचेतसि केवुलि एमु भणंति केवलिनो वीतरागसर्वज्ञा एवं कथयन्तीति भावार्थः ॥ १९४ ॥ इति चतुर्विंशतिस्त्रयमिति महास्थलमध्ये परमसमाधिप्रतिपादक-सूत्रषट्केन प्रथममन्तरस्थलं गतम् ।

तदनन्तरमर्हत्पदमिति भावमोक्ष इति जीवन्मोक्ष इति केवलज्ञानोत्पत्तिरित्येकोऽर्थः तस्य चतुर्विधनामाभिधेयस्यार्हत्पदस्य प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

सयल-विचयप्पहं तुहाहं सिव-पय-मग्गि वसंतु ।

कम्म-चउक्कइ विलउ गइ अप्पा हुइ अरहंतु ॥ १९५ ॥

राग द्वेषादि समस्त विभावोंका त्यागकर निज स्वरूपकी ही भावना करनी चाहिये ॥१९३॥

आगे यह कहते हैं, कि जब तक इस जीवके शुभाशुभ भाव सब दूर न हों, तब तक परमसमाधि नहीं हो सकती—[यावत्] जब तक [सकला अपि] समस्त [शुभाशुभभावाः] सकल विकल्प-जालसे रहित जो परमात्मा उससे विपरीत शुभाशुभ परिणाम [नैव नुट्यन्ति] दूर न हो—मिटें नहीं, [तावत्] तब तक [मनसि] रागादि विकल्प रहित शुद्ध चित्तमें [परमसमाधिः न] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्यरूप शुद्धोपयोग जिसका लक्षण है, ऐसी परमसमाधि इस जीवके नहीं हो सकती [एवं] ऐसा [केवलिनः] केवलीभगवंत [भणंति] कहते हैं ॥ भावार्थ—शुभाशुभ विकल्प जब मिटें, तभी परमसमाधि होवे, ऐसी जिनेश्वरदेवकी आज्ञा है ॥१९४॥ इस प्रकार चौबीस दोहोंके महास्थलमें परमसमाधिके कथनरूप छह दोहोंका अंतरस्थल हुआ ।

आगे तीन दोहोंमें अरहंतपदका व्याख्यान करते हैं, अरहंतपद कहो या भावमोक्ष कहो, अथवा जीवन्मोक्ष कहो, या केवलज्ञानकी उत्पत्ति कहो—ये चारों अर्थ एकको ही सूचित करते हैं, अर्थात् चारों शब्दोंका अर्थ एक ही है—[कर्मचतुष्के विलयं गते] ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय

सकलविकल्पानां त्रुट्यतां शिवपदमार्गे वसन् ।

कर्मचतुष्के विलयं गते आत्मा भवति अर्हन् ॥ १९५ ॥

हुइ भवति । कोऽसौ । अप्पा आत्मा । कथंभूतो भवति । अरहंतु अरिमोहनीयं कर्म तस्य इननाद् रजसी ज्ञानदृशावरणे तयोरपि इननाद् रहस्यशब्देनान्तरायस्तदभावाच्च देवेन्द्रादिविनिर्मितामतिशयवतीं पूजामर्हतीत्यर्हन् । कस्मिन् सति । कम्मचउक्कइ विलउ गइ घातिकर्मचतुष्के विलयं गते सति । किं कुर्वन् सन् पूर्वम् । शिवपयमग्गि वसंतु शिवशब्दवाच्यं यन्मोक्षपदं तस्य योऽसौ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रितयैकलक्षणो मार्गस्तस्मिन् वसन् सन् । केषां सताम् । सयलवियप्पहं तुट्टाहं समस्तविकल्पानां नष्टानां समस्तरागादिविकल्पविनाशादनन्तरं भवतीति भावार्थः ॥

अथ—

केवल-णार्णि अणवरउ लोयालोउ मुणंतु ।

णियमे परमाणंदमउ अप्पा हुइ अरहंतु ॥ १९६ ॥

केवलज्ञानेनानवरतं लोकालोकं जानन् ।

नियमेन परमानन्दमयः आत्मा भवति अर्हन् ॥ १९६ ॥

हुइ भवति । कोऽसौ । अप्पा आत्मा । कथंभूतो भवति । अरहंतु पूर्वोक्तलक्षणो अर्हन् । किं कुर्वन् । लोयालोउ मुणंतु क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन कालत्रयविषयं लोकालोकं वस्तु वस्तुस्वरूपेण युगपत् जानन् सन् । केन । केवलणार्णि लोकालोकप्रकाशकसकलविमलकेवल-

और अन्तराय इन चार घातियाकर्मोंके नाश होनेसे [आत्मा] यह जीव [अर्हन् भवति] अर्हंत होता है, अर्थात् जब घातियाकर्म विलय हो जाते हैं, तब अरहंतपद पाता है, देवेन्द्रादिकर पूजाके योग्य हो वह अरहंत है, क्योंकि पूजायोग्यको ही अर्हंत कहते हैं । पहले तो महामुनि हुआ [शिवपदमार्गे वसन्] मोक्षपदके मार्गरूप सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमें ठहरता हुआ [सकलविकल्पानां] समस्त रागादि विकल्पोंका [त्रुट्यतां] नाश करता है, अर्थात् जब समस्त रागादि विकल्पोंका नाश हो जावे, तब निर्विकल्प ध्यानके प्रसादसे केवलज्ञान होता है । केवलज्ञानीका नाम अर्हंत है, चाहे उसे जीवन्मुक्त कहो । जब अरहंत हुआ, तब भावमोक्ष हुआ, पीछे चार अघातियाकर्मोंको नाशकर सिद्ध हो जाता है । सिद्धको विदेहमोक्ष कहते हैं । यही मोक्ष होनेका उपाय है ॥१९५॥

अब केवलज्ञानकी ही महिमा कहते हैं—[केवलज्ञानेन] केवलज्ञानसे [लोकालोकं] लोक अलोकको [अनवरतं] निरन्तर [जानन्] जानता हुआ [नियमेन] निश्चयसे [परमानंदमयः] परम आनंदमयी [आत्मा] यह आत्माही रत्नत्रयके प्रसादसे [अर्हन्] अरहंत [भवति] होता है । भावार्थ—समस्त लोकालोकको एक ही समयमें केवलज्ञानसे जानता हुआ अरहंत कहलाता है । जिसका ज्ञान जाननेके क्रमसे रहित है, एक ही समयमें समस्त लोकालोकको प्रत्यक्ष जानता है,

ज्ञानेन । कथम् । अणवरु निरन्तरम् । किंविशिष्टो भवति भगवान् । परमाणंदमउ वीतराग-
परमसमरसीभावलक्षणतात्त्विकपरमानन्दमयः । केन । णियमे निश्चयेन अत्र संदेहो न कर्तव्य
इत्यभिप्रायः ॥ १९६ ॥

अथ—

जो जिणु केवल-णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।

सो परमप्पउ परम-परु सो जिय अप्प-सहाउ ॥ १९७ ॥

यः जिनः केवलज्ञानमयः परमानन्दस्वभावः ।

सः परमात्मा परमपरः स जीव आत्मस्वभावः ॥ १९७ ॥

जो इत्यादि । जो यः जिणु अनेकभवगहनव्यसनप्रापणहेतून् कर्मांरातीन् जयतीति
जिनः । कथंभूतः । केवलणाणमउ केवलज्ञानाविनाभूतानन्तगुणमयः । पुनरपि कथंभूतः ।
परमाणंदसहाउ इन्द्रियविषयातीतः स्वात्मोत्थः रागादिविकल्परहितः परमानन्दस्वभावः
सो परमप्पउ स पूर्वोक्तोऽर्हन्नेव परमात्मा परमपरु प्रकृष्टानन्तज्ञानादिगुणरूपा मा लक्ष्मीर्यस्य
स भवति परमः संसारिभ्यः पर उत्कृष्टः इत्युच्यते परमश्चासौ परश्च परमपरः सो स पूर्वोक्तो
वीतरागः सर्वज्ञः जिय हे जीव अप्पसहाउ आत्मस्वभाव इति । अत्र योऽसौ पूर्वोक्तभणितो
भगवान् स एव संसारावस्थायां निश्चयनयेन शक्तिरूपेण जिन इत्युच्यते । केवलज्ञानावस्थायां
व्यक्तिरूपेण च । तथैव च परमब्रह्मादिशब्दवाच्यः स एव तदग्रे स्वयमेव कथयति । निश्चयनयेन
आगे पीछे नहीं जानता । सब क्षेत्र, सब काल, सब भावको निरंतर प्रत्यक्ष जानता है । जो
केवलीभगवान् परम आनंदमयी हैं । वीतराग परमसमरसीभावरूप जो परम आनंद अतीन्द्रिय
अविनाशी सुख वही जिसका लक्षण है । निश्चयसे ज्ञानानंदस्वरूप है, इसमें संदेह नहीं है ॥१९६॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि केवलज्ञान ही आत्माका निजस्वभाव है, और केवलीको ही परमात्मा
कहते हैं—[यः जिनः] जो अनंत संसाररूपी वनके भ्रमणके कारण ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूपी वैरी
उनका जीतनेवाला वह [केवलज्ञानमयः] केवलज्ञानादि अनंत गुणमयी है [परमानंदस्वभावः] और
इन्द्रिय विषयसे रहित आत्मिक रागादि विकल्पोसे रहित परमानंद ही जिसका स्वभाव है, ऐसा
जिनेश्वर केवलज्ञानमयी अरहंतदेव [सः] वही [परमात्मा] उत्कृष्ट अनंत ज्ञानादि गुणरूप
लक्ष्मीवाला आत्मा परमात्मा है । उसीको वीतराग सर्वज्ञ कहते हैं । [जीव] हे जीव, वही [परमपरः]
संसारियोंसे उत्कृष्ट है, ऐसा जो भगवान् वह तो व्यक्तिरूप है, और [स आत्मस्वभावः] वह
आत्माका ही स्वभाव है ॥ भावार्थ—संसार अवस्थामें निश्चयनयकर शक्तिरूप विराजमान है,
इसलिये संसारीको शक्तिरूप जिन कहते हैं, और केवलीको व्यक्तिरूप जिन कहते हैं ।
द्रव्यार्थिकनयकर जैसे भगवान् हैं, वैसे ही सब जीव हैं, इस तरह निश्चयनयकर जीवको परब्रह्म
कहो, परमशिव कहो, जितने भगवान् के नाम हैं, उतने ही निश्चयनयकर विचारो तो सब जीवोंके

सर्वे जीवा जिनस्वरूपाः जिनोऽपि सर्वजीवस्वरूप इति भावार्थः । तथा चोक्तम्—“जीवा जिणवर जो मुणइ जिणवर जीव मुणेइ । सो समभावि परिट्टियउ लहु णिव्वाणु लहेइ ॥ ” ॥१९७॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये अर्हदवस्थाकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण द्वितीयमन्तरस्थलं गतम् ।

अत ऊर्ध्वं परमात्मप्रकाशशब्दस्यार्थकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति ।
तद्यथा—

सयलहँ कम्महँ दोसहँ वि जो जिणु देउ विभिणु ।

सो परमप्प-पयासु तुहँ जोइय णियमेँ मण्णु ॥ १९८ ॥

सकलेभ्यः कर्मभ्यः दोषेभ्यः अपि यो जिनः देवः विभिन्नः ।

तं परमात्मप्रकाशं त्वं योगिन् नियमेन मन्यस्व ॥ १९८ ॥

सो तं परमप्पपयासु परमात्मप्रकाशसंज्ञं तुहँ त्वं कर्ता मण्णु मन्यस्व जानीहि जोइय हे योगिन् णियमे निश्चयेन । स कः । जो जिणु देउ यो जिनदेवः । किंविशिष्टः । विभिणु विशेषेण भिन्नः । केभ्यः । सयलहँ कम्महँ रागादिरहितचिदानन्दैकस्वभावपरमात्मनो यानि भिन्नानि सर्वकर्माणि तेभ्यः । न केवलं कर्मभ्यो भिन्नः । दोसहँ वि टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावस्य परमात्मनो येऽनन्तज्ञानसुखादिगुणास्तत्प्रच्छादका ये दोषास्तेभ्योऽपि भिन्न इत्यभिप्रायः ॥ १९८ ॥

हैं, सभी जीव जिनसमान हैं, और जिनराज भी जीवोंके समान हैं, ऐसा जानना । ऐसा दूसरी जगह भी कहा—हैं जो सम्यग्दृष्टि जीवोंको जिनवर जाने, और जिनवरको जीव जाने, जो जीवोंकी जाति है, वही जिनवरकी जाति है, और जो जिनवरकी जाति है, वही जीवोंकी जाति है, ऐसे महामुनि द्रव्यार्थिकनयकर जीव और जिनवरमें जातिभेद नहीं मानते, वे मोक्ष पाते हैं ॥१९७॥ इस प्रकार चौबीस दोहोंके महास्थलमें अरहंतदेवके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहोंमें दूसरा अंतरस्थल कहा ।

आगे परमात्मप्रकाश शब्दके अर्थके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहा कहते हैं—[सकलेभ्यः कर्मभ्यः] ज्ञानावरणादि अष्टकर्मोंसे [दोषेभ्यः अपि] और सब क्षुधादि अठारह दोषोंसे [विभिन्नः] रहित [सः जिनदेवः] जो जिनेश्वरदेव है, [तं] उसको [योगिन् त्वं] हे योगी, तू [परमात्मप्रकाशं] परमात्मप्रकाश [नियमेन] निश्चयसे [मन्यस्व] मान । अर्थात् जो निर्दोष जिनेश्वरदेव हैं, वही परमात्मप्रकाश हैं ॥ भावार्थ—रागादि रहित चिदानन्दस्वभाव परमात्मासे भिन्न जो सब कर्म वे ही संसारके मूल हैं । जगतके जीव तो कर्मोंकर सहित हैं, और भगवान् जिनराज इनसे मुक्त हैं, और सब दोषोंसे रहित हैं । वे दोष सब संसारी जीवोंके लग रहे हैं, ज्ञायकस्वभाव आत्माके अनन्तज्ञान सुखादि गुणोंके आच्छादक हैं । उन दोषोंसे रहित जो सर्वज्ञ वही परमात्मप्रकाश हैं, योगीश्वरोंके मनमें ऐसा ही निश्चय है । श्रीगुरु शिष्यसे कहते हैं कि हे योगिन् ! तू निश्चयसे ऐसा ही मान, यही सत्पुरुषोंका अभिप्राय है ॥१९८॥

अथ—

केवल-दंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि अणंतु ।

सो जिण-देउ वि परम-मुणि परम-पयासु मुणंतु ॥ १९९ ॥

केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यं य एव अनन्तम् ।

स जिनदेवोऽपि परममुनिः परमप्रकाशं जानन् ॥ १९९ ॥

सो जिणदेउ वि स जिनदेवोऽपि एवं भवति । न केवलं जिनदेवो भवति । परममुणि परम उत्कृष्टो मुनिः प्रत्यक्षज्ञानी । किं कुर्वन् सन् । मुणंतु मन्यमानो जानन् सन् । कम् परम-पयासु परममुत्कृष्टं लोकालोकप्रकाशकं केवलज्ञानं यस्य स भवति परमप्रकाशस्तं परमप्रकाशम् । स कः । केवलदंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि केवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपं य एव । कथंभूतं तत् केवलज्ञानादिचतुष्टयम् । अणंतु युगपदनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावपरिच्छेदकत्वादविन-श्वरत्वाच्चानन्तमिति भावार्थः ॥ १९९ ॥

जो परमप्पउ परम-पउ हरि हरु बंभु वि बुद्धु ।

परम पयासु भणंति मुणि सो जिण-देउ विमुद्धु ॥ २०० ॥

यः परमात्मा परमपदः हरिः हरः ब्रह्मापि बुद्धः ।

परमप्रकाशः भणन्ति मुनयः स जिनदेवो विशुद्धः ॥ २०० ॥

भणंति कथयन्ति । के ते मुणि मुनयः प्रत्यक्षज्ञानिनः । कथंभूतं भणन्ति परमपयासु परमप्रकाशः । यः कथंभूतः । जो परमप्पउ यः परमात्मा । पुनरपि कथंभूतः । परमपउ परमानन्तज्ञानादिगुणाधारत्वेन परमपदस्यभावः । किंविशिष्टः । हरि हरिसंज्ञः हरु महेश्वराभिधानः बंभु वि परमब्रह्माभिधानोऽपि बुद्धु बुद्धः सुगतसंज्ञः सो जिणदेउ स एव पूर्वोक्तः परमात्मा

फिर भी इसी कथनको दृढ़ करते हैं—[केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यं] केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य [यदेव अनंतं] ये अनंतचतुष्टय जिसके हों [स जिनदेवः] वही जिनदेव है, [परममुनिः] वही परममुनि अर्थात् प्रत्यक्षज्ञानी है । क्या करता हुआ ? [परमप्रकाशं जानन्] उत्कृष्ट लोकालोकका प्रकाशक जो केवलज्ञान वही जिसके परमप्रकाश है, उससे सकल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावको जानता हुआ परमप्रकाशक है । ये केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टय एक ही समयमें अनंतद्रव्य, अनंतक्षेत्र, अनंतकाल और अनंतभावोंको जानते हैं, इसलिये अनंत हैं, अविनश्चर हैं, इनका अंत नहीं है, ऐसा जानना ॥१९९॥

आगे जिनदेवके ही अनेक नाम हैं, ऐसा निश्चय करते हैं—[यः] जिस [परमात्मा] परमात्माको [मुनयः] मुनि [परमपदः] परमपद [हरिः हरः ब्रह्मा अपि] हरि महादेव ब्रह्मा [बुद्धः परमप्रकाशः भणंति] बुद्ध और परमप्रकाश नामसे भी कहते हैं, [सः] वह [विशुद्धः जिनदेवः] रागादि रहित शुद्ध जिनदेव ही है, उसीके ये सब नाम हैं ॥ भावार्थ—प्रत्यक्षज्ञानी उसे

जिनदेवः । किंविशिष्टः । विशुद्ध समस्तरागादिदोषपरिहारेण शुद्ध इति । अत्र य एव परमात्म-
प्रकाशसंज्ञो निर्दोषिपरमात्मा व्याख्यातः स एव परमात्मा, स एव परमपदः, स एव विष्णु-
संज्ञः, स एवेश्वराभिधानः, स एव ब्रह्मशब्दवाच्यः, स एव सुगतशब्दाभिधेयः, स एव जिने-
श्वरः, स एव विशुद्ध इत्याद्यष्टाधिकसहस्रनामाभिधेयो भवति । नानारुचीनां जनानां तु कस्यापि
केनापि विवक्षितेन नाम्नाराध्यः स्यादिति भावार्थः । तथा चोक्तम्—“नामाष्टकसहस्रेण युक्तं
मोक्षपुरेश्वरम्” इत्यादि ॥ २०० ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमात्मप्रकाश-
शब्दार्थकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण तृतीयमन्तरस्थलं गतम् ।

तदनन्तरं सिद्धस्वरूपकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति तद्यथा—

ज्ञाणे कम्म-क्खउ करिवि मुक्कउ होइ अणंतु ।

जिणवरदेवइं सो जि जिय पभणिउ सिद्ध महंतु ॥ २०१ ॥

ध्यानेन कर्मक्षयं कृत्वा मुक्तो भवति अनन्तः ।

जिनवरदेवेन स एव जीव प्रभणितः सिद्धो महान् ॥ २०१ ॥

पभणिउ प्रभणितः कथितः । केन कर्तृभूतेन । जिणवरदेवइं जिनवरदेवेन । कोऽसौ
भणितः । सिद्धु सिद्धः । कथंभूतः । महंतु महापुरुषाराधितत्वात् केवलज्ञानादिमहागुणा-
धारत्वाच्च महान् । क एव । सो जि स एव । स कः योऽसौ मुक्कउ होइ ज्ञानावरणादिभिः
कर्मभिर्मुक्तो रहितः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणसहितश्च जिय हे जीव । कथंभूतः । अणंतु न विद्यते-

परमानंद ज्ञानादि गुणोंका आधार होनेसे परमपद कहते हैं । वही विष्णु है, वही महादेव है, उसीका
नाम परब्रह्म है, सबका ज्ञायक होनेसे बुद्ध है, सबमें व्यापक ऐसा जिनदेव देवाधिदेव परमात्मा
अनेक नामोंसे गाया जाता है । समस्त रागादिक दोषके न होनेसे निर्मल है, ऐसा जो अरहंतदेव
वही परमात्मा परमपद, वही विष्णु, वही ईश्वर, वही ब्रह्म, वही शिव, वही सुगत, वही जिनेश्वर,
और वही विशुद्ध इत्यादि एक हजार आठ नामोंसे गाया जाता है । नाना रुचिके धारक ये संसारी
जीव इन नाना प्रकारके नामोंसे जिनराजको आराधते हैं । ये नाम जिनराजके सिवाय दूसरेके नहीं
हैं । ऐसा ही दूसरे ग्रन्थोंमें भी कहा है—एक हजार आठ नामों सहित वह मोक्षपुरका स्वामी उसकी
आराधना सब करते हैं । उसके अनंत नाम और अनंतरूप हैं । वास्तवमें नामसे रहित, रूपसे
रहित ऐसे भगवान् देवको हे प्राणियों, तुम आराधो ॥२००॥ इस प्रकार चौबीस दोहोंके महास्थलमें
परमात्मप्रकाश शब्दके अर्थकी मुख्यतासे तीन दोहोंमें तीसरा अन्तरस्थल कहा ।

आगे सिद्धस्वरूपके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहोंमें व्याख्यान करते हैं—[ध्यानेन]
शुक्लध्यानसे [कर्मक्षयं] कर्मोंका क्षय [कृत्वा] करके [मुक्तः भवति] जो मुक्त होता है,
[अनंतः] और अविनाशी है, [जीव] हे जीव, [स एव] उसे ही [जिनवरदेवेन] जिनवरदेवेन
[महान् सिद्धः प्रभणितः] सबसे महान सिद्ध भगवान् कहा है ॥ भावार्थ—अरहंतपरमेष्ठी सकल
सिद्धान्तोंके प्रकाशक हैं, वे सिद्ध परमात्माको सिद्धपरमेष्ठी कहते हैं, जिसे सब संत पुरुष

ऽन्तो विनाशो यस्य स भवत्यनन्तः । किं कृत्वा पूर्वं मुक्तो भवति । कम्मक्खउ करिवि विशुद्ध-
ज्ञानदर्शनस्वभावादात्मद्रव्याद्विलक्षणं यदार्तरौद्रध्यानद्वयं तेनोपार्जितं यत्कर्म तस्य क्षयः कर्मक्षयस्तं
कृत्वा । केन । ज्ञाणे रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानलक्षणेन ध्यानेनेति तात्पर्यम् ॥ २०१ ॥

अथ—

अण्णु वि बंधु वि तिहुयणहं सासय-सुक्ख-सहाउ ।

तित्थु जि सयलु वि कालु जिय णिवसइ लद्ध-सहाउ ॥ २०२ ॥

अन्यदपि बन्धुरपि त्रिभुवनस्य शाश्वतसौख्यस्वभावः ।

तत्रैव सकलमपि कालं जीव निवसति लब्धस्वभावः ॥ २०२ ॥

अण्णु वि इत्यादि । अण्णु वि अन्यदपि पुनरपि स पूर्वोक्तः सिद्धः । कथंभूतः । बंधु
वि बन्धुरेव । कस्य । तिहुयणहं त्रिभुवनस्थभव्यजनस्य । पुनरपि किं विशिष्टः । सासय-
सुक्खसहाउ रागादिरहिताव्याबाधशाश्वतसुखस्वभावः । एवंगुणविशिष्टः सन् किं करोति स
भगवान् । तित्थु जि तत्रैव मोक्षपदे णिवसइ निवसति । कथंभूतः सन् । लद्धसहाउ लब्ध-
शुद्धात्मस्वभावः कियत्कालं निवसति । सयलु वि समस्तमप्यनन्तानन्तकालपर्यन्तं जिय हे
जीव इति । अत्रानेन समस्तकालग्रहणेन किमुक्तं भवति । ये केचन वदन्ति मुक्तानां पुनरपि
संसारे पतनं भवति तन्मतं निरस्तमिति भावार्थः ॥ २०२ ॥

आराधते हैं । केवलज्ञानादि महान अनंतगुणोंके धारण करनेसे वह महान अर्थात् सबमें बड़े हैं ।
जो सिद्धभगवान् ज्ञानावरणादि आठों ही कर्मोंसे रहित है, और सम्यक्त्वादि आठ गुण सहित है ।
क्षायकसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतवीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु, अव्याबाध—इन
आठ गुणोंसे मंडित हैं, और जिसका अन्त नहीं ऐसा निरंजनदेव विशुद्धज्ञान दर्शन स्वभाव जो
आत्मद्रव्य उससे विपरीत जो आर्त रौद्र खोटे ध्यान उनसे उत्पन्न हुए जो शुभ अशुभ कर्म उनका
स्वसंवेदनज्ञानरूप शुक्लध्यानसे क्षय करके अक्षय पद पा लिया है । कैसा है शुक्लध्यान ? रागादि
समस्त विकल्पोंसे रहित परम निराकुलत्वरूप है । यही ध्यान मोक्षका मूल है, इसीसे अनन्त सिद्ध
हुए और होंगे ॥२०१॥

आगे फिर भी सिद्धोंकी महिमा कहते हैं—[अन्यदपि] फिर वे सिद्धभगवान् [त्रिभुवनस्य] तीन
लोकके प्राणियोंका [बंधुरपि] हित करने वाले हैं, [शाश्वतसुखस्वभावः] और जिनका स्वभाव
अविनाशी सुख है, और [तत्रैव] उसी शुद्ध क्षेत्रमें [लब्धस्वभावः] निजस्वभावको पाकर [जीव]
हे जीव, [सकलमपि कालं] सदा काल [निवसति] निवास करते हैं, फिर चतुर्गतिमें नहीं आवेंगे ।
भावार्थ—सिद्धपरमेष्ठी तीनलोकके नाथ है, और जिनका भव्यजीव ध्यान करके भवसागरसे पार
होते हैं, इसलिये भव्योंके बंधु है, हितकारी है । जिनका रागादि रहित अव्याबाध अविनाशी सुख
स्वभाव है । ऐसे अनन्त गुणरूप वे भगवान् उस मोक्ष पदमें सदा काल विराजते हैं । जिन्होंने शुद्ध
आत्मस्वभाव पा लिया है । अनन्तकाल बीत गये, और अनन्तकाल आवेंगे, परंतु वे प्रभु सदाकाल

अथ—

जन्मण-मरण-विवर्जियउ चउ-गइ-दुखख विमुक्कु ।

केवल-दंसण-णाणमउ णंदइ तित्थु जि मुक्कु ॥ २०३ ॥

जन्ममरणविवर्जितः चतुर्गतिदुःखविमुक्तः ।

केवलदर्शनज्ञानमयः नन्दति तत्रैव मुक्तः ॥ २०३ ॥

पुनरपि कथंभूतः स भगवान् । जन्मणमरणविवर्जियउ जन्ममरणविवर्जितः । पुनरपि किंविशिष्टः । चउगइदुखखविमुक्कु सहजशुद्धपरमानन्दैकस्वभावं यदात्मसुखं तस्माद्विपरीतं यच्चतुर्गतिदुःखं तेन विमुक्तो रहितः । पुनरपि किंस्वरूपः । केवलदंसणणाणमउ क्रमकरण-व्यवधानरहितत्वेन जगन्नयकालत्रयवर्तिपदार्थानां प्रकाशककेवलदर्शनज्ञानाभ्यां निर्वृत्तः केवलदर्शनज्ञानमयः । एवंगुणविशिष्टः सन् किं करोति । णंदइ स्वकीयस्वाभाविकानन्तज्ञानादिगुणैः सह नन्दति वृद्धिं गच्छति । क । तित्थु जि तत्रैव मोक्षपदे । पुनरपि किंविशिष्टः सन् । मुक्कु ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मनिर्मुक्तो रहितः अव्यावाधाद्यनन्तगुणैः सहितश्चेति भावार्थः ॥ २०३ ॥ एवं चतुर्विंशतिस्त्रयममितमहास्थलमध्ये सिद्धपरमेष्ठिन्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण चतुर्थमन्तरस्थलं गतम् ।

सिद्धक्षेत्रमें बस रहे हैं । समस्त काल रहते हैं, इसके कहनेका प्रयोजन यह है, कि यदि कोई ऐसा कहते हैं, कि मुक्त-जीवोंका भी संसारमें पतन होता है, सो उनका कहना खंडित किया गया ॥२०२॥

आगे फिर भी सिद्धोंका ही वर्णन करते हैं—[जन्ममरणविवर्जितः] वे भगवान् सिद्धपरमेष्ठी जन्म और मरणकर रहित हैं, [चतुर्गतिदुःखविमुक्तः] चारों गतियोंके दुःखोंसे रहित हैं, [केवलदर्शनज्ञानमयः] और केवलदर्शन केवलज्ञानमयी हैं, ऐसे [मुक्तः] कर्म रहित हुए [तत्रैव] अनंतकालतक उसी सिद्धक्षेत्रमें [नन्दति] अपने स्वभावमें आनंदरूप विराजते हैं ॥ भावार्थ—सहज शुद्ध परमानंद एक अखंड स्वभावरूप जो आत्मसुख उससे विपरीत जो चतुर्गतिके दुःख उनसे रहित हैं, जन्म-मरणरूप रोगोंसे रहित हैं, अविनश्वरपुरमें सदा काल रहते हैं । जिनका ज्ञान संसारी जीवोंकी तरह विचाररूप नहीं है, कि किसीको पहले जानें, किसीको पीछे जाने, उनका केवलज्ञान और केवलदर्शन एक ही समयमें सब द्रव्य, सब क्षेत्र, सब काल, और सब भावोंको जानता है । लोकालोक प्रकाशी आत्मा निज भाव अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, और अनंतवीर्यमयी है । ऐसे अनंत गुणोंके सागर भगवान् सिद्धपरमेष्ठी स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभावरूप चतुष्टयमें निवास करते हुए सदा आनंदरूप लोकके शिखरपर विराज रहे हैं, जिसका कभी अन्त नहीं, उसी सिद्धपदमें सदा काल विराजते हैं, केवलज्ञान दर्शन कर घट-घटमें व्यापक हैं । सकल कर्मोपाधि रहित महा निरुपाधि निराबाधपना आदि अनंतगुणों सहित मोक्षमें आनंद विलास करते हैं ॥२०३॥ इस तरह चौबीस दोहोंवाले महास्थलमें सिद्धपरमेष्ठीके व्याख्यानकी मुख्यताकर तीन दोहोंमें चौथा अन्तरस्थल कहा ।

अथानन्तरं परमात्मप्रकाशभावनारतपुरुषाणां फलं दर्शयन् सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तथाहि—

जे परमप्प-पयासु मुणि भाविं भावहिं सत्थु ।

मोहं जिणेविणु सयलु जिय ते बुज्झहिं परमत्थु ॥ २०४ ॥

ये परमात्मप्रकाशं मुनयः भावेन भावयन्ति शास्त्रम् ।

मोहं जित्वा सकलं जीव ते बुध्यन्ति परमार्थम् ॥ २०४ ॥

भावहिं भावयन्ति ध्यायन्ति । के मुणि मुनयः जे ये केचन । किं भावयन्ति । सत्थु शास्त्रम् । परमप्पपयासु परमात्मस्वभावप्रकाशत्वात्परमात्मप्रकाशसंज्ञम् । केन भावयन्ति । भाविं समस्तरागाद्यपध्यानरहितशुद्धभावेन । किं कृत्या पूर्वम् । जिणेविणु जित्वा । कम् । मोहं निर्मोहपरमात्मतत्त्वाद्विलक्षणं मोहम् । कतिसंख्योपेतम् । सयलु समस्तं निरवशेषं जिय हे जीवेति ते त एवंगुणविशिष्टास्तपोधनाः बुज्झहिं बुध्यन्ति । कम् । परमत्थु परमार्थशब्द-वाच्यं चिदानन्दैकस्वभावं परमात्मानमिति भावार्थः ॥ २०४ ॥

अथ—

अण्णु वि भत्तिए जे मुणहिं इहु परमप्प-पयासु ।

लोयालोय-पयासयरु पावहिं ते वि पयासु ॥ २०५ ॥

अन्यदपि भक्त्या ये जानन्ति इमं परमात्मप्रकाशम् ।

लोकालोकप्रकाशकरं प्राप्नुवन्ति तेऽपि प्रकाशम् ॥ २०५ ॥

अण्णु वि इत्यादि । अण्णु वि अन्यदपि विशेषफलं कथ्यते । भत्तिए जे मुणहिं भक्त्या ये मन्यन्ते जानन्ति । कम् । परमप्पपयासु इमं प्रत्यक्षीभूतं परमात्मप्रकाशग्रन्थमर्थतस्तु पर-

आगे तीन दोहोंमें परमात्मप्रकाशकी भावनामें लीन पुरुषोंके फलको दिखाते हुए व्याख्यान करते हैं—[ये मुनयः] जो मुनि [भावेन] भावोंसे [परमात्मप्रकाशं शास्त्रं] इस परमात्मप्रकाश नामा शास्त्रका [भावयन्ति] चिंतवन करते हैं, सदैव इसीका अभ्यास करते हैं, [जीव] हे जीव, [ते] वे [सकलं मोहं] समस्त मोहको [जित्वा] जीतकर [परमार्थं बुध्यन्ति] परमतत्त्वको जानते हैं ॥ भावार्थ—जो कोई सब परिग्रहके त्यागी साधु परमात्मस्वभावका प्रकाशक इस परमात्मप्रकाशनामा ग्रंथको समस्त रागादि छोटे ध्यानरहित जो शुद्धभाव उससे निरंतर विचारते हैं, वे निर्मोह परमात्मतत्त्वसे विपरीत जो मोहनामा कर्म उसकी समस्त प्रकृतियोंको मूलसे उखाड़ देते हैं, मिथ्यात्व रागादिकोंको जीतकर निर्मोह निराकुल चिदानन्द स्वभाव जो परमात्मा उसको अच्छी तरह जानते हैं ॥२०४॥

आगे फिर भी परमात्मप्रकाशके अभ्यासका फल कहते हैं—[अन्यदपि] और भी कहते हैं, [ये] जो कोई भव्यजीव [भक्त्या] भक्तिसे [इमं परमात्मप्रकाशं] इस परमात्मप्रकाश शास्त्रको [जानन्ति] पढ़े, सुनें, इसका अर्थ जानें, [तेऽपि] वे भी [लोकालोकप्रकाशकरं] लोकालोकको

मात्मप्रकाशशब्दवाच्यं परमात्मतत्त्वं पावर्हि प्राप्नुवन्ति ते वि तेऽपि । कम् । पयासु प्रकाश-
शब्दवाच्यं केवलज्ञानं तदाधारपरमात्मानं वा । कथंभूतं परमात्मप्रकाशम् । लोचालोचपया-
सयह अनन्तगुणपर्यायसहितत्रिकालविषयलोकालोकप्रकाशकमिति तात्पर्यम् ॥ २०५ ॥

अथ—

जे परमप्प-पयासयहं अणुदिणु णाउ लयंति ।

तुट्ठह मोहु तडत्ति तहँ तिहुयण-णाह हवंति ॥ २०६ ॥

ये परमात्मप्रकाशस्य अनुदिनं नाम गृह्णन्ति ।

व्रुट्यति मोहः झटिति तेषां त्रिभुवननाथा भवन्ति ॥ २०६ ॥

लयंति गृह्णन्ति जे ये विवेकिनः णाउ नाम । कस्य । परमप्पयासयहं व्यवहारेण
परमात्मप्रकाशाभिधानग्रन्थस्य निश्चयेन तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यस्य केवलज्ञानाधनन्तगुण-
स्वरूपस्य परमात्मपदार्थस्य । कथम् । अणुदिणु अनवरतम् । तेषां किं फलं भवति । तुट्ठह
नश्यति । कोऽसौ । मोहु निर्मोहात्मद्रव्याद्विलक्षणो मोहः तडत्ति झटिति तहं तेषाम् । न
केवलं मोहो नश्यति तिहुयणणाह हवंति तेन पूर्वोक्तेन निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वभावनाफलेन पूर्व
देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषं लब्ध्वा पश्चाज्जिनदीक्षां गृहीत्वा च केवलज्ञानमुत्पाद्य त्रिभु-
वननाथा भवन्तीति भावार्थः ॥२०६॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमात्मप्रकाश-
भावनाफलकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण पञ्चमं स्थलं गतम् ।

अथ परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यो योऽसौ परमात्मा तदाराधकपुरुषलक्षणज्ञापनार्थं सूत्रत्रयेण
प्रकाशनेवाले [प्रकाशं] केवलज्ञान तथा उसके आधारभूत परमात्मतत्त्वको शीघ्र ही [प्राप्नुवन्ति]
पा लेंगे । अर्थात् परमात्मप्रकाश नाम परमात्मतत्त्वका भी है, और इस ग्रन्थका भी है, सो
परमात्मप्रकाश ग्रन्थके पढनेवाले दोनोंको ही पावेंगे । प्रकाश ऐसा केवलज्ञानका नाम है, उसका
आधार जो शुद्ध परमात्मा अनन्त गुण पर्याय सहित तीनकालका जाननेवाला लोकालोकका
प्रकाशक ऐसा आत्मद्रव्य उसे तुरन्त ही पावेंगे ॥२०५॥

आगे फिर भी परमात्मप्रकाशके पढनेका फल कहते हैं—[ये] जो कोई भव्यजीव
[परमात्मप्रकाशस्य] व्यवहारनयसे परमात्माके प्रकाश करनेवाले इस ग्रन्थका तथा निश्चयनयसे
केवलज्ञानादि अनन्तगुण सहित परमात्मपदार्थका [अनुदिनं] सदैव [नाम गृह्णन्ति] नाम लेते हैं,
सदा उसीका स्मरण करते हैं, [तेषां] उनका [मोहः] निर्मोह आत्मद्रव्यसे विलक्षण जो मोहनामा
कर्म [झटिति व्रुट्यति] शीघ्र ही टूट जाता है, और वे [त्रिभुवननाथा भवंति] शुद्धात्म तत्त्वकी
भावनाके फलसे पूर्व देवेन्द्र चक्रवर्त्यादिकी महान विभूति पाकर चक्रवर्तीपदको छोडकर जिनदीक्षा
ग्रहण करके केवलज्ञानको उत्पन्न करके तीन भुवनके नाथ होते हैं, यह सारांश है ॥२०६॥ इस
प्रकार चौबीस दोहोंके महास्थलमें परमात्मप्रकाशकी भावनाके फलके कथनकी मुख्यतासे तीन
दोहोंमें पाँचवाँ अंतरस्थल कहा ।

व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

जे भव-दुक्खहँ बीहिया पउ इच्छहिँ णिब्बाणु ।

इह परमप्प-पयासयहँ ते पर जोग्ग वियाणु ॥ २०७ ॥

ये भवदुःखेभ्यः भीताः पदं इच्छन्ति निर्वाणम् ।

इह परमात्मप्रकाशकस्य ते परं योग्या विजानीहि ॥ २०७ ॥

ते पर त एव जोग्ग वियाणु योग्या भवन्तीति विजानीहि । कस्य इह परमप्प-पयासयहँ व्यवहारेणास्य परमात्मप्रकाशविधानग्रन्थस्य, परमार्थेन तु परमात्मप्रकाशशब्द-वाच्यस्य निर्दोषपरमात्मनः । ते के । जे बीहिया ये भीताः । केषाम् । भवदुक्खहँ रागादि-विकल्परहितपरमात्मादरूपशुद्धात्मभावनोत्थपरमार्थिकसुखविलक्षणानां नारकादिभवदुःखानाम् । पुनरपि किं कुर्वन्ति । जे इच्छहिँ ये इच्छन्ति । किम् । पउ पदं स्थानम् । णिब्बाणु निर्वृतिगतपरमात्माधारभूतं निर्वाणशब्दवाच्यं मुक्तिस्थानमित्यभिप्रायः ॥ २०७ ॥

अथ—

जे परमप्पहँ भत्तियर विसय ण जे वि रमंति ।

ते परमप्प-पयासयहँ मुणिवर जोग्ग हवन्ति ॥ २०८ ॥

ये परमात्मनो भक्तिपराः विषयान् न येऽपि रमन्ते ।

ते परमात्मप्रकाशकस्य मुनिवरा योग्या भवन्ति ॥ २०८ ॥

हवन्ति भवन्ति जोग्ग योग्याः । के ते मुणिवर मुनिप्रधानाः । के । ते ते पूर्वोक्ताः । कस्य योग्या भवन्ति । परमप्पपयासयहँ व्यवहारेण परमात्मप्रकाशसंग्रन्थस्य परमार्थेन तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यस्य शुद्धात्मस्वभावस्य । कथंभूता ये । जे परमप्पहँ भत्तियर ये

आगे परमात्मप्रकाश शब्दसे कहा गया जो प्रकाशरूप शुद्ध परमात्मा उसकी आराधनाके करनेवाले महापुरुषोंके लक्षण जाननेके लिये तीन दोहोंमें व्याख्यान करते हैं—[ते परं] वे ही महापुरुष [अस्य परमात्मप्रकाशकस्य] इस परमात्मप्रकाश ग्रन्थके अभ्यास करनेके [योग्याः विजानीहि] योग्य जानो, [ये] जो [भवदुःखेभ्यः] चतुर्गतिरूप संसारके दुःखोंसे [भीताः] डर गये हैं, और [निर्वाणं पदं] मोक्षपदको [इच्छन्ति] चाहते हैं । भावार्थ—व्यवहारनयकर परमात्मप्रकाशनामा ग्रन्थकी और निश्चयनयकर निर्दोष परमात्मतत्त्वकी भावनाके योग्य वे ही हैं, जो रागादि विकल्प रहित परम आनंदरूप शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय अविनश्वर सुखसे विपरीत जो नरकादि संसारके दुःख उनसे डर गये हैं, जिनको चतुर्गतिके भ्रमणका डर है, और जो सिद्धपरमेष्ठीके निवास मोक्षपदको चाहते हैं ॥२०७॥

आगे फिर भी उन्हीं पुरुषोंकी महिमा कहते हैं—[ये] जो [परमात्मनः भक्तिपराः] परमात्माकी भक्ति करनेवाले [ये] जो मुनि [विषयान् न अपि रमन्ते] विषयकषायोंमें नहीं रमते हैं, [ते मुनिवराः] वे ही मुनीश्वर [परमात्मप्रकाशस्य योग्याः] परमात्मप्रकाशके अभ्यासके योग्य [भवन्ति] हैं ॥

परमात्मनो भक्तिपराः । पुनरपि किं कुर्वन्ति ये । विसय ण जे वि रमन्ति निर्विषयपरमात्म-
तत्त्वानुभूतिसमुत्पन्नातीन्द्रियपरमानन्दसुखरसास्वादतृप्ताः सन्तः सुलभान्मनोहरानपि विषयान्न
रमन्त इत्यभिप्रायः ॥ २०८ ॥

अथ—

णाण-वियक्खणु सुद्ध-मणु जो जणु एहउ कोइ ।

सो परमप्प-पयासयहँ जोगु भणंति जि जोइ ॥ २०९ ॥

ज्ञानविचक्षणः शुद्धमना यो जन ईदृशः कश्चिदपि ।

तं परमात्मप्रकाशकस्य योग्यं भणन्ति ये योगिनः ॥ २०९ ॥

भणन्ति कथयन्ति जि जोइ ये परमयोगिनः । कं भणन्ति । जोगु योग्यम् । कस्य ।
परमप्पपयासयहँ व्यवहारनयेन परमात्मप्रकाशभिधानशास्त्रस्य निश्चयेन तु परमात्मप्रकाशशब्द-
वाच्यस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य । कं पुरुषं योग्यं भणन्ति । सो तम् । तं कम् । जो जणु एहउ
कोइ यो जनः इत्थंभूतः कश्चित् । कथंभूतः । णाणवियक्खणु स्वसंवेदनज्ञानविचक्षणः ।
पुनरपि कथंभूतः । सुद्धमणु परमात्मानुभूतिविलक्षणरागद्वेषमोहस्वरूपसमस्तविकल्पजालपरि-
हारेण शुद्धात्मा इत्यभिप्रायः ॥ २०९ ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमाराधक-
पुरुषलक्षणकथनरूपेण सूत्रत्रयेण षष्ठमन्तरस्थलं गतम् ।

अथ शास्त्रफलकथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकं तदनन्तरमौद्धत्यपरिहारेण च सूत्रद्वयपर्यन्तं व्याख्यानं

भावार्थ—व्यवहारनयकर परमात्मप्रकाश नामका ग्रन्थ और निश्चयनयकर निजशुद्धात्मस्वरूप
परमात्मा उसकी भक्तिमें जो तत्पर हैं, वे विषय रहित जो परमात्मतत्त्वकी अनुभूति उससे उपार्जन
किया जो अतीन्द्रिय परमानन्दसुख उसके रसके आस्वादसे तृप्त हुए विषयोंमें नहीं रमते हैं ।
जिनको मनोहर विषय सुलभतासे प्राप्त हुए हैं, तो भी वे उनमें नहीं रमते ॥२०८॥

आगे फिर भी यही कथन करते हैं—[यः जनः] जो प्राणी [ज्ञानविचक्षणः]
स्वसंवेदनज्ञानकर विचक्षण (बुद्धिमान) हैं, और [शुद्धमनाः] जिसका मन परमात्माकी अनुभूतिसे
विपरीत जो राग द्वेष मोहरूप समस्त विकल्प-जाल उनके त्यागसे शुद्ध है, [कश्चिदपि ईदृशः]
ऐसा कोई भी सत्पुरुष हो, [तं] उसे [ये योगिनः] जो योगीश्वर हैं, वे [परमात्मप्रकाशस्य
योग्यं] परमात्मप्रकाशके आराधने योग्य [भणन्ति] कहते हैं ॥ **भावार्थ—**व्यवहारनयकर यह
परमात्मप्रकाशनामा द्रव्यसूत्र और निश्चयनयकर शुद्धात्मस्वभावसूत्रके आराधनेको वे ही पुरुष
योग्य हैं, जो कि आत्मज्ञानके प्रभावसे महा प्रवीण हैं, और जिनके मिथ्यात्व राग द्वेषादि मलकर
रहित शुद्ध भाव हैं, ऐसे पुरुषोंके सिवाय दूसरा कोई भी परमात्मप्रकाशके आराधने योग्य नहीं है
॥२०९॥ इस प्रकार चौबीस दोहोंके महास्थलमें आराधक पुरुषके लक्षण तीन दोहोंमें कहकर छद्मा
न्तरस्थल समाप्त हुआ ।

करोति । तथा—

लक्षण-छंद-विवर्जित एव परमप-पयासु ।

कुण्ड सुहावई भावियउ चउ-गइ-दुख-विनासु ॥ २१० ॥

लक्षणछन्दोविवर्जितः एष परमात्मप्रकाशः ।

करोति सुभावेन भावितः चतुर्गतिदुःखविनाशम् ॥ २१० ॥

लक्षण इत्यादि । लक्षणछंदविवर्जित एव परमप-पयासु । अयं कः । एव परमप-पयासु एष परमात्मप्रकाशः । एवंगुणविशिष्टोऽयं किं करोति । कुण्ड करोति । कम् । चउगइदुखविनासु चतुर्गतिदुःखविनाशम् । कथंभूतः सन् । भावियउ भावितः । केन । सुहावई शुद्धभावेनेति । तथाहि । यद्यप्ययं परमात्मप्रकाशग्रन्थः शास्त्रक्रमव्यवहारेण दोहकच्छन्दसा प्राकृतलक्षणेन च युक्तः, तथापि निश्चयेन परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यशुद्धात्मस्वरूपपेक्षया लक्षणछन्दोविवर्जितः । एवम्भूतः सन्नयं किं करोति । शुद्धभावनया भावितः सन् शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नरागादिविकल्परहितपरमानन्दैकलक्षणसुखविपरीतानां चतुर्गतिदुःखानां विनाशं करोतीति भावार्थः ॥ २१० ॥

अथ श्रीयोगीन्द्रदेव औद्धत्यं परिहरति—

इत्थु ण लेखउ पंडियहिं गुण-दोसु वि पुणरुत्तु ।

भट्ट-पभायर-कारणइं मई पुण पुण वि पउत्तु ॥ २११ ॥

आगे शास्त्रके फलके कथनकी मुख्यताकर एक दोहा और उद्धतपनेके त्यागकी मुख्यताकर दो दोहे इस तरह तीन दोहोंमें व्याख्यान करते हैं—[एष परमात्मप्रकाशः] यह परमात्मप्रकाश [सुभावेन भावितः] शुद्ध भावोंकर भाया हुआ [चतुर्गतिदुःखविनाशं] चारों गतिके दुःखोंका विनाश [करोति] करता है । जो परमात्मप्रकाश [लक्षणछंदोविवर्जितः] यद्यपि व्यवहारनयकर प्राकृतरूप दोहा छंदोंकर सहित है, और अनेक लक्षणोंकर सहित है, तो भी निश्चयनयकर परमात्मप्रकाश जो शुद्धात्मस्वरूप वह लक्षण और छंदोंकर रहित है । भावार्थ—शुभ लक्षण और प्रबंध ये दोनों परमात्मामें नहीं हैं । परमात्मा शुभाशुभ लक्षणोंकर रहित है, और जिसके कोई प्रबंध नहीं, अनंतरूप है, उपयोगलक्षणमय परमानंद लक्षणस्वरूप है, सो भावोंसे उसको आराधो, वही चतुर्गतिके दुःखोंका नाश करनेवाला है । शुद्ध परमात्मा तो व्यवहार लक्षण और श्रुतरूप छंदोंसे रहित है, इनसे भिन्न निज लक्षणमयी है, और यह परमात्मप्रकाशनामा अध्यात्म-ग्रंथ यद्यपि दोहेके छंदरूप है, और प्राकृत लक्षणरूप है, परंतु इसमें स्वसंवेदनज्ञानकी मुख्यता है, छंद अलंकारादिकी मुख्यता नहीं है ॥२१०॥

आगे श्रीयोगीन्द्रदेव उद्धतपनेका त्याग दिखलाते हैं—[अत्र] श्रीयोगीन्द्रदेव कहते हैं, अहो भव्यजीवों, इस ग्रन्थमें [पुनरुक्तः] पुनरुक्तिका [दोषोऽपि] दोष भी [पंडितैः] आप पंडितजन [न ग्राह्यः] ग्रहण नहीं करें, और कवि-कलाकर [गुणो] गुण भी न लें, क्योंकि [मया] मैंने [भट्टप्रभाकर

अत्र न ग्राह्यः पण्डितैः गुणो दोषोऽपि पुनरुक्तः ।

भट्टप्रभाकरकारणेन मया पुनः पुनरपि प्रोक्तम् ॥ २११ ॥

इत्थु इत्यादि । इत्थु अत्र ग्रन्थे न लेख्य न ग्राह्यः । कैः । पण्डितैर्विवेकिभिः । कोऽसौ । गुणदोस्तु वि गुणो दोषोऽपि । कथंभूतः । पुनरुक्तु पुनरुक्तः । कस्मान्न ग्राह्यः । यतः मइं पुणु पुणु वि पठतु मया पुनः पुनः प्रोक्तम् । किं तत् । वीतरागपरमात्मतत्त्वम् । किमर्थम् । भट्टप्रभाकरकारणं प्रभाकरभट्टनिमित्तेनेति । अत्र भावनाग्रन्थे समाधिशा-
तकादिवत् पुनरुक्तदूषणं नास्ति इति । तदपि कस्मादिति चेत् । अर्थं पुनःपुनश्चिन्तनलक्षणमिति वचनादिति मत्वा प्रभाकरभट्टव्याजेन समस्तजनानां सुखबोधार्थं बहिरन्तःपरमात्मभेदेन तु त्रिविधात्मतत्त्वं बहुधाप्युक्तमिति भावार्थः ॥ २११ ॥

अथ—

जं मइं किं पि विजंपियउ जुत्ताजुत्तु वि इत्थु ।

तं वर-णाणि खमंतु महु जे बुद्धहि परमत्थु ॥ २१२ ॥

यन्मया किमपि विजल्पितं युक्तायुक्तमपि अत्र ।

तद् वरज्ञानिनः क्षाम्यन्तु मम ये बुध्यन्ते परमार्थम् ॥ २१२ ॥

जं इत्यादि । जं मइं किं पि विजंपियउ यन्मया किमपि जल्पितम् । किं जल्पितम् । जुत्ताजुत्तु वि शब्दविषये अर्थविषये वा युक्तायुक्तमपि इत्थु अत्र परमात्मप्रकाशभिधानग्रन्थे खमंतु क्षमां कुर्वन्तु । किं तत् । पूर्वोक्तदूषणम् । के । वरणाणि वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदन-
ज्ञानयुक्ता विशिष्टज्ञानिनः । कस्य । महु मम योगीन्द्रदेवाभिधानस्य । कथंभूता ये ज्ञानिनः ।

कारणेन] प्रभाकरभट्टके संबोधनेके लिये [पुनः पुनरपि प्रोक्तं] वीतराग परमानंदरूप परमात्मतत्त्वका कथन बार-बार किया है ॥ भावार्थ—इस शुद्धात्म-भावनाके ग्रन्थमें पुनरुक्तिका दोष नहीं लगता । समाधितंत्र ग्रन्थकी तरह इस ग्रन्थमें भी बार बार शुद्ध स्वरूपका ही कथन किया है, बारबार उसी अर्थका चिंतवन है, ऐसा जानकर इसका रहस्य (अभिप्राय) बार बार चिंतवना । प्रभाकरभट्टकी मुख्यताकर समस्त जीवोंको सुखसे प्रतिबोध होनेके लिये इस ग्रन्थमें बार-बार बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्माका कथन किया है, ऐसा जानना ॥२११॥

आगे श्रीयोगीन्द्राचार्य ज्ञानीजनोंसे प्रार्थना करते हैं, कि मैंने यदि किसी जगह छंद अलंकारादिमें युक्त अयुक्त कहा है, तो उसे पंडितजन परमार्थके जाननेवाले मुझपर क्षमा करें—[अत्र] इस ग्रन्थमें [यत्] जो [मया] मैंने [किमपि] कुछ भी [युक्तायुक्तमपि जल्पितं] युक्त अथवा अयुक्त शब्द कहा होवे, तो [तत्] उसे [ये वरज्ञानिनः] जो महान ज्ञानके धारक [परमार्थं] परम अर्थको [बुध्यन्ते] जानते हैं, वे पंडितजन [मम क्षाम्यन्तु] मेरे ऊपर क्षमा करें ॥ भावार्थ—मेरी छद्मस्थकी बुद्धि है, जो कदाचित् मैंने शब्दमें, अर्थमें तथा छंद अलंकारमें अयुक्त कहा हो, वह मेरा दोष क्षमा करो, सुधार लो । जो विवेकी परम अर्थको अच्छी तरह जानते हैं,

जे बुजझहिं ये केचन बुध्यन्ते जानन्ति । कम् । परमत्थु रागादिदोषरहितमनन्तज्ञानदर्शन-
सुखवीर्यसहितं च परमार्थशब्दवाच्यं शुद्धात्मानमिति भावार्थः ॥ २१२ ॥ इति सूत्रत्रयेण सप्तम-
मन्तरस्थलं गतम् । एवं सप्तभिरन्तरस्थलैश्चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितं महास्थलं समाप्तम् ।

अथैकवृत्तेन प्रोत्साहनार्थं पुनरपि फलं दर्शयति—

जं तत्तं णाण-रूवं परम-मुणि-गणा णिच्च ज्ञायंति चित्ते

जं तत्तं देह-चत्तं णिवसइ भुवणे सन्व-देहीण देहे ।

जं तत्तं दिव्व-देहं तिहुवण-गुरुगं सिज्झए संत-जीवे

तं तत्तं जस्स सुद्धं फुरइ णिय-मणे पावए सो हि सिद्धिं ॥ २१३ ॥

यत् तत्त्वं ज्ञानरूपं परममुनिगणा नित्यं ध्यायन्ति चित्ते

यत् तत्त्वं देहत्यक्तं निवसति भुवने सर्वदेहिनां देहे ।

यत् तत्त्वं दिव्यदेहं त्रिभुवनगुरुकं सिध्यति शान्तजीवे

तत् तत्त्वं यस्य शुद्धं स्फुरति निजमनसि प्राप्नोति स हि सिद्धिम् ॥ २१३ ॥

पावए सो प्राप्नोति स हि स्फुटम् । काम् । सिद्धिं मुक्तिम् । यस्य किम् । जस्स
णियमणे फुरइ यस्य निजमनसि स्फुरति प्रतिभाति । किं कर्मतापन्नम् । तं तत्तं तत्तत्त्वम् ।
कथंभूतम् । सुद्धं रागादिरहितम् । पुनरपि कथंभूतं यत् । जं तत्तं णाणरूवं यदात्मतत्त्वं ज्ञानरूपम् ।
पुनरपि किंविशिष्टं यत् । णिच्च ज्ञायंति नित्यं ध्यायन्ति । क । चित्ते मनसि । के ध्यायन्ति ।
परममुनिगणा परममुनिसमूहाः । पुनरपि किंविशिष्टं यत् । जं तत्तं देहचत्तं यत्परमात्मतत्त्वं
देहत्यक्तं देहाद्भिन्नम् । पुनरपि कथंभूतं यत् । णिवसइ निवसति । क । भुवणे सन्वदेहीण

वे मुझपर कृपा करो, मेरा दोष न लो । यह प्रार्थना योगीन्द्राचार्यने महामुनियोंसे की हैं । जो
महामुनि अपने शुद्ध स्वरूपको अच्छी तरह अपनेमें जानते हैं, जो निजस्वरूप रागादि दोष रहित
अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्यकर सहित हैं, ऐसे अपने स्वरूपको अपनेमें ही देखते हैं, जानते
हैं, और अनुभवते हैं, वे ही इस ग्रन्थके सुननेके योग्य हैं, और सुधारनेके योग्य हैं ॥२१२॥ इस
प्रकार तीन दोहोंमें सातवाँ अंतरस्थल कहा । इस तरह चौबीस दोहोंका महास्थल पूर्ण हुआ ।

आगे एक स्रग्धरा नामके छंदमें फिर भी इस ग्रन्थके पढ़नेका फल कहते हैं—[तत्] वह
[तत्त्वं] निज आत्मतत्त्व [यस्य निजमनसि] जिसके मनमें [स्फुरति] प्रकाशमान हो जाता है,
[स हि] वह ही साधु [सिद्धिं प्राप्नोति] सिद्धिको पाता है । कैसा है वह तत्त्व ? जो कि [शुद्धं]
रागादि मल रहित है, [ज्ञानरूपं] और ज्ञानरूप है, जिसको [परममुनिगणाः] परममुनीश्वर
[नित्यं] सदा [चित्ते ध्यायंति] अपने चित्तमें ध्याते हैं, [यत् तत्त्वं] जो तत्त्व [भुवने] इस
लोकमें [सर्वदेहिनां देहे] सब प्राणियोंके शरीरमें [निवसति] मौजूद है, [देहत्यक्तं] और आप
देहसे रहित है, [यत् तत्त्वं] जो तत्त्व [दिव्यदेहं] केवलज्ञान और आनंदरूप अनुपम देहको

देहे त्रिभुवने सर्वदेहिनां संसारिणां देहे । पुनरपि कीदृशं यत् । जं तत्तं दिव्यदेहं यत् शुद्धा-
त्मतत्त्वं दिव्यदेहं दिव्यं केवलज्ञानादिशरीरम् । शरीरमिति कोऽर्थः । स्वरूपम् । पुनश्च कीदृशं
यत् । तिद्गुणगुरुगं अव्याबाधानन्तसुखादिगुणेन त्रिभुवनादपि गुरुं पूज्यमिति त्रिभुवन-
गुरुकम् । पुनरपि किंरूपं यत् । सिद्ध्यति सिद्धयति निष्पत्तिं याति । क । संतजीवे ख्याति-
पूजालाभादिसमस्तमनोरथविकल्पजालरहितत्वेन परमोपशान्तजीवस्वरूपे इत्यभिप्रायः ॥२१३॥

अथ ग्रन्थस्यावसाने मङ्गलार्थमाशीर्वादरूपेण नमस्कारं करोति—

परम-पय-गयाणं भासओ दिव्य-काओ

मणसि मुनिवराणं मुक्खदो दिव्य-जोओ ।

विसय-सुह-रयाणं दुल्लहो जो हु लोए

जयउ सिव-सरूवो केवलो को वि बोहो ॥ २१४ ॥

परमपदगतानां भासको दिव्यकायः

मनसि मुनिवराणां मोक्षदो दिव्ययोगः ।

विषयसुखरतानां दुर्लभो यो हि लोके

जयतु शिवस्वरूपः केवलः कोऽपि बोधः ॥ २१४ ॥

जयउ सर्वोत्कर्षेण वृद्धिं गच्छतु । कोऽसौ । दिव्यकाओ परमौदारिकशरीराभिधान-
दिव्यकायस्तदाधारो भगवान् कथंभूतः । भासओ दिवाकरसहस्रादप्यधिकतेजस्त्वाद्भासकः
प्रकाशकः । केषां कायः । परमपयगयाणं परमानन्तज्ञानादिगुणास्पदं यदर्हत्पदं तत्र गता-
नाम् । न केवलं दिव्यकायो जयतु । दिव्यजोओ द्वितीयशुक्लध्यानाभिधानो वीतरागनिर्वि-
कल्पसमाधिरूपो दिव्ययोगः । कथंभूतः । मोक्खदो मोक्षप्रदायकः । क जयतु । मणसि

धारण करता है, [त्रिभुवनगुरुकं] तीन भुवनमें श्रेष्ठ है, [शांतजीवे सिध्यति] जिसको
आराधकर शांतपरिणामी संतपुरुष सिद्धपद पाते हैं । भावार्थ—ऐसा वह चैतन्यतत्त्व जिसके
चित्तमें प्रगट हुआ है, वही साधु सिद्धिको पाता है । अव्याबाध अनंतसुख आदि गुणोंकर वह तत्त्व
तीन लोकका गुरु है, संतपुरुषोंके ही हृदयमें वह तत्त्व सिद्ध होता है । कैसे हैं संत ? जो अपनी
बड़ाई, अपनी प्रतिष्ठा और लाभादि समस्त मनोरथों और विकल्पजालों से रहित है, जिन्होंने
अपना स्वरूप परमशांतभावरूप पा लिया है ॥२१३॥

आगे ग्रंथके अन्तमंगलके लिये आशीर्वादरूप नमस्कार करते हैं—[दिव्यकायः] जिसका ज्ञान
आनंदरूप शरीर है, अथवा [परमपदगतानां भासकः] अरहंतपदको प्राप्त हुए जीवोंका
प्रकाशमान परमौदारिक शरीर है, ऐसा परमात्मतत्त्व [जयतु] सर्वोत्कर्षपनेसे वृद्धिको प्राप्त होवे । वह
परमौदारिक शरीर ऐसा है, कि जिसका तेज हजारों सूर्योंसे अधिक है, अर्थात् सकल प्रकाशी है ।
जो परमपदको प्राप्त हुए केवली है, उनको तो साक्षात् दिव्यकाय पुरुषाकार भासता है,
[मुनिवराणां] और जो महामुनि हैं, उनके [मनसि] मनमें [दिव्ययोगः] द्वितीय शुक्लध्यानरूप

मनसि । केषाम् । मुणिवराणं मुनिपुङ्गवानाम् । न केवलं योगो जयतु । केवलो को वि
बोहो केवलज्ञानाभिधानः कोऽप्यपूर्वो बोधः । कथंभूतः । सिवस्वरूपो शिवशब्दवाच्यं यद-
नन्तसुखं तत्स्वरूपः । पुनरपि कथंभूतः । दुल्लहो जो हु लोए दुर्लभो दुष्प्राप्यः यः स्फुटम् ।
क । लोके । केषां दुर्लभः । विसयसुहरयाणं विषयसुखातीतपरमात्मभावानोत्पन्नपरमानन्दै-
करूपसुखास्वादादरहितत्वेन पञ्चेन्द्रियविषयासक्तानामिति भावार्थः ॥ २१४ ॥

इति 'परु जाणंतु वि परममुणि परसंसग्गु चयंति' इत्याद्येकाशीतिसूत्रपर्यन्तं सामान्य-
भेदभावना, तदनन्तरं 'परमसमाहि' इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रपर्यन्तं महास्थलं, तदनन्तरं वृत्तद्वयं
चेति सर्वसमुदायेन सप्ताधिकसूत्रशतेन द्वितीयमहाधिकारे चूलिका गतेति ॥ एवमत्र परमा-
त्मप्रकाशाभिधानग्रन्थेन प्रथमस्तावत् 'जे जाया ज्ञाणगियए' इत्यादि त्रयोविंशत्यधिकसूत्र-
शतेन प्रक्षेपकत्रयसहितेन प्रथममहाधिकारो गतः । तदनन्तरं चतुर्दशाधिकशतद्वयेन प्रक्षेपक-
पञ्चकसहितेन द्वितीयोऽपि महाधिकारो गतः । एवं पञ्चाधिकचत्वारिंशत्सहितशतत्रयप्रमित-
श्रीयोगीन्द्रदेवविरचितदोहकसूत्राणां विवरणभूता परमात्मप्रकाशवृत्तिः समाप्ता ॥

वीतराग निर्विकल्पसमाधिरूप भास रहा है, [मोक्षदः] और मोक्षका देनेवाला है । [केवलः
कोऽपि बोधः] जिसका केवलज्ञान स्वभाव है, ऐसी अपूर्व ज्ञानज्योति [शिवस्वरूपः] सदा
कल्याणरूप है । [लोके] लोकमें [विषयसुखरतानां] शिवस्वरूप अनन्त परमात्माकी भावनासे
उत्पन्न जो परमानन्द अतीन्द्रियसुख उससे विपरीत जो पाँच इन्द्रियोंके विषय उनमें जो आसक्त हैं,
उनको [यः हि] जो परमात्मतत्त्व है वह [दुर्लभः] महा दुर्लभ है ॥ भावार्थ-इस लोकमें विषयी
जीव जिसको नहीं पा सकते, ऐसा वह परमात्मतत्त्व जयवंत होवे ॥२१४॥

इस प्रकार परमात्मप्रकाश ग्रन्थमें पहले 'जे जाया ज्ञाणगियए' इत्यादि एकसौ तेईस दोहे तीन
प्रक्षेपकों सहित ऐसे १२६ दोहोंमें पहला अधिकार समाप्त हुआ । एकसौ चौदह दोहे तथा ५
प्रक्षेपक सहित ११९ दोहोंमें दूसरा महाधिकार कहा । और 'परु जाणंतु वि' इत्यादि एकसौ सात
दोहोंमें तीसरा महाधिकार कहा । प्रक्षेपक और अंतके दो छंद उन सहित तीनसौ पैंतालीस दोहोंमें
परमात्मप्रकाशका व्याख्यान ब्रह्मदेवकृत टीका सहित समाप्त हुआ ।



टीकाकारस्यान्तिमकथनम्

अत्र ग्रन्थे प्रचुरणे पदानां सन्धिर्न कृतः, वाक्यानि च भिन्नभिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थम् । किं च परिभाषासूत्रं पदयोः संधिर्विवक्षितो न समासान्तरं तयोः तेन कारणेन लिङ्गवचनक्रियाकारकसंधिसमासविशेष्यविशेषणवाक्यसमाप्त्यादिकं दूषणमत्र न ग्राह्यं विद्वद्भिरिति ।

इदं परमात्मप्रकाशवृत्तेर्व्याख्यानं ज्ञात्वा किं कर्तव्यं भव्यजनैः । सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं, निजनिरञ्जनशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चय-रत्नत्रयात्मनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानन्दरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन स्वसंवेद्यो गम्यः प्राप्यो भरितावस्थोऽहं, रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभपञ्चेन्द्रियविषयव्यापार-

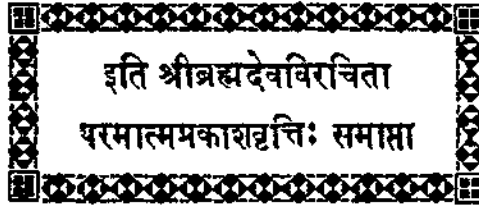
टीकाकारका अन्तिम कथन

इस ग्रन्थमें बहुधा पदोंकी संधि नहीं की, और वचन भी जुदे जुदे सुखसे समझनेके लिये रक्खे गये हैं, समझनेके लिये कठिन संस्कृत नहीं रक्खी, इसलिये यहाँ लिंग, वचन, क्रिया, कारक, संधि, समास, विशेष्य, विशेषणके दोष न लेना । जो पंडितजन विशेषज्ञ हैं, वे ऐसा समझें कि यह ग्रंथ बालबुद्धियोंके समझनेके लिये सुगम किया है । इस परमात्मप्रकाशकी टीकाका व्याख्यान जानकर भव्यजीवोंको ऐसा विचार करना चाहिये, कि मैं सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ, निजानन्द निरंजन शुद्धात्म सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रयमयी निर्विकल्पसमाधिसे उत्पन्न वीतराग सहजानन्दरूप आनंदानुभूतिमात्र जो स्वसंवेदनज्ञान उससे गम्य हूँ, अन्य उपायोंसे गम्य नहीं हूँ । निर्विकल्प निजानन्द ज्ञानकर ही मेरी प्राप्ति है, पूर्ण हूँ । राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पाँचों इन्द्रियोंके विषय व्यापार, मन, वचन, काय, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म, ख्याति पूजा लाभ, देखे सुने और अनुभवे भोगोंकी वांछारूप निदानबंध, माया, मिथ्या ये तीन शल्य इत्यादि विभाव परिणामोंसे रहित सब प्रपंचोंसे रहित मैं हूँ । तीन लोक, तीन कालमें, मन वचन कायकर कृत कारित अनुमोदनाकर, शुद्ध निश्चयनयसे मैं आत्माराम ऐसा हूँ । तथा सभी जीव ऐसे हैं । ऐसी सदैव भावना करनी चाहिये।

अब टीकाकारके अंतके श्लोकका अर्थ कहते हैं—युधिष्ठिर राजाको आदि लेकर पाँच भाई पांडव और श्रीरामचंद्र तथा अन्य भी विवेकी राजा हैं, उनसे अत्यन्त भक्तिकर यह जिनशासन पूजनीक है, जिसको सुर नाग भी पूजते हैं, ऐसा श्रीजिनभाषित शासन सैंकड़ों सुखोंकी वृद्धिको प्राप्त होवे । यह परमात्मप्रकाश ग्रन्थका व्याख्यान प्रभाकरभट्टके सम्बोधनके लिये श्रीयोगीन्द्रदेवने

मनोवचनकायव्यापारभावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदान-
मायामिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितशून्योऽहं, जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः
कृतकारितानुमतैश्च श्रुद्धनिश्चयनयेन । तथा सर्वेऽपि जीवाः, इति निरन्तरं भावना कर्तव्येति ॥
ग्रन्थसंख्या ॥ ४००० ॥

पण्डवरामहिं णरवरहिं पुज्जिउ भत्तिभरेण ।
सिरिसासणु जिणभासियउ णंदउ सुखसपहिं ॥ १ ॥
[पाण्डवरामैः नरवरैः पूजितं भक्तिभरेण ।
श्रीशासनं जिनभाषितं नन्दतु सुखशतैः ॥ १ ॥]



किया, उसपर श्रीब्रह्मदेवने संस्कृतटीका की । श्रीयोगीन्द्रदेवने प्रभाकरभट्टको समझानेके लिये
तीनसौ पैंतालीस दोहे रचे, उसपर श्री ब्रह्मदेवने संस्कृतटीका पाँच हजार चार श्लोक प्रमाण की ।
और उस पर दौलतरामने भाषावचनिकाके श्लोक अडसठिसौ नब्बे संख्याप्रमाण बनाये ।

इस प्रकार श्री योगीन्द्राचार्यविरचित परमात्मप्रकाशकी
पं० दौलतरामकृत भाषाटीका समाप्त हुई ।



“जिसमें शांतरसकी मुख्यता है, शांतरसके हेतुसे जिसका समस्त उपदेश है, और जिसमें सभी शांतरसोंका शांतरसगर्भित वर्णन किया गया है, ऐसे शास्त्रोंका परिचय सत्श्रुतका परिचय है ।”
(पत्रांक ८२५)

♦ ♦ ♦

“जीवको सत्श्रुतका परिचय अवश्य ही कर्तव्य है । मल, विक्षेप और प्रमाद उसमें वारंवार अन्तराय करते हैं, क्योंकि दीर्घकालसे परिचित है; परंतु यदि निश्चय करके उन्हें अपरिचित करनेकी प्रवृत्ति की जायें तो ऐसे हो सकता है । यदि मुख्य अन्तराय हो तो वह जीवका अनिश्चय है ।” (पत्रांक ८२६)

♦ ♦ ♦

“जिज्ञासाबल, विचारबल, वैराग्यबल, ध्यानबल, और ज्ञानबल वर्धमान होनेके लिये आत्मार्षी जीवको तथारूप ज्ञानीपुरुषके समागमकी उपासना विशेषतः करनी योग्य है । उसमें भी वर्तमान कालके जीवोंको उस बलकी दृढ छाप पड़ जानेके लिये बहुत अन्तराय देखनेमें आते हैं, जिससे तथारूप शुद्ध जिज्ञासुवृत्तिसे दीर्घकाल पर्यंत सत्समागमकी उपासना करनेकी आवश्यकता रहती है । सत्समागमके अभावमें वीतरागश्रुत-परम शांतरस प्रतिपादक वीतरागवचनोंकी अनुप्रेक्षा वारंवार कर्तव्य है । चित्तस्थैर्यके लिये वह परम औषध है ।”
(पत्रांक ८५६)

♦ ♦ ♦

“इन्द्रियोंके निग्रहपूर्वक सत्समागम और सत्श्रुत उपासनीय है ।”
(पत्रांक ८९३)

♦ ♦ ♦

“शास्त्रको जाल समझनेवाले भूल करते हैं । शास्त्र अर्थात् शास्ता पुरुषके वचन । इन वचनोंको समझनेके लिये दृष्टि सम्यक् चाहिये ।”
(उपदेशनोंध ४)

—श्रीमद् राजचंद्र



जोइन्दु-विरइउ

परमप्प-पयासु



- 1) जे जाया ज्ञाणगियएँ कम्म-कलंक डहेवि ।
णिच्च-णिरंजण-गाण-मय ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥
- 2) ते वंदउँ सिरि-सिद्ध-गण होसहिँ जे वि अणंत ।
सिचमय-णिरुवम-गाणमय परम-समाहि भजंत ॥ २ ॥
- 3) ते हउँ वंदउँ सिद्ध-गण अच्छहिँ जे वि हवंत ।
परम-समाहि-महगियएँ कम्मिधणई हुणंत ॥ ३ ॥
- 4) ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे णिच्चाणि वसंति ।
णार्णि तिहुयणि गरुया वि भव-सायरि ण पडंति ॥ ४ ॥
- 5) ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे अप्पाणि वसंत ।
लोयालोउ वि सयलु इहु अच्छहिँ विमलु णियंत ॥ ५ ॥
- 6) केवल-दंसण-गाणमय केवल-सुक्ख-सहाव ।
जिणवर वंदउँ भत्तियए जेहिँ पयासिय भाव ॥ ६ ॥
- 7) जे परमप्पु णियंति मुणि परम-समाहि धरेवि ।
परमाणंदह कारणिण तिण्णि वि ते वि णवेवि ॥ ७ ॥
- 8) भाविँ पणविवि पंच-गुरु सिरि-जोइन्दु-जिणाउ ।
भट्टपहायरि विण्णाविउ विमलु करेविणु भाउ ॥ ८ ॥
- 9) गउ संसारि वसंताहँ सामिय कालु अणंतु ।
पर मई किं पि ण पचु सुहु दुक्खु जि पचु महंतु ॥ ९ ॥

1) TKM ज्ञाणगिये; ATKM °णाणमया; B misses this dohā and gives in its place the opening maṅgala verse चिदानन्दैक etc. which is numbered as 1; C numbers the same maṅgala verse as 1 and this dohā as 2. 2) This dohā is wanting in TKM; A ते हउँ वंदउँ, होसहि, °णाणमया. 3) Wanting in TKM; AB °महगियइँ for महगियएँ. 4) Wanting in TKM; AC गाणे. 5) Wanting in TKM; A लोयालोय, while in the Com. °लोउ; C वसंति; AC णियंति, while in the Com. of A णियंता. 6) Wanting in TKM; A वंदउ; B भत्तियइँ. 7) Wanting in TKM; C परमाणंदह. 8) Wanting in TKM. 9) Wanting in TKM.

- 10) चउ-गइ-दुक्खहँ तत्ताहँ जो परमण्णउ कोइ ।
चउ-गइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएँ सो वि ॥ १० ॥
- 11) पुणु पुणु पणविवि पंच-गुरु भावेँ चित्ति धरेवि ।
भट्टपहायर णिसुणि तुहुँ अप्पा तिविहु कहेवि (वि ?) ॥ ११ ॥
- 12) अप्पा ति-विहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ ।
मुणि सण्णाणेँ णाणमउ जो परमण्ण-सहाउ ॥ १२ ॥
- 13) मूढु वियक्खणु बंछु परु अप्पा ति-विहु हवेइ ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ ॥ १३ ॥
- 14) देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमण्णु णिएइ ।
परम-समाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ॥ १४ ॥
- 15) अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्केँ जेण ।
मेल्लिवि सयलु वि दब्बु परु सो परु मुणहि मणेण ॥ १५ ॥
- 16) तिहुयण-वंदिउ सिद्धि-गउ हरि-हर ज्ञायहिँ जो जि ।
लक्खु अलक्खेँ धरिवि थिरु मुणि परमण्णउ सो जि ॥ १६ ॥
- 17) णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ॥ १७ ॥
- 18) जो णिय-भाउ ण परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ ।
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ ॥ १८ ॥
- 19) जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सहु ण फासु ।
जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरंजणु तासु ॥ १९ ॥
- 20) जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु ।
जासु ण ठाणु ण ज्ञाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ॥ २० ॥
- 21) अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ ।
अत्थि ण एकु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ॥ २१ ॥ तियलं ।

10) Wanting in TKM. 11) Wanting in TKM; AB भावि. 12) TKM लहु; A मिल्हहि, TKM मेल्लवि; B सण्णाणि, TKM सण्णाणे; KM णाणमओ 13) C मूढ; TKM मूढविलक्खणु बम्हु. 14) A 'विभिण्णउ', C देहहु भिण्णउ; B णाणमउ, KM णाणमओ; TKM णिएहि, but in the commentary of K it is repeated as णिएइ; T पंडिय; TKM सोजि. 15) M णाणमओ; B 'विमुक्किं, TKM विमुक्के; A मिल्हिवि; C दब्बु तुहुं, TKM दब्बु. 16) Wanting in TKM. 17) TKM संतु, मुणिज्जसु; M भाओ. 18) TKM परु; C सिव for सिउ. 19) C वण्ण; AC गंध; B जंमणु; TK पासु for फासु. 20) Wanting in TKM. 21) K misses the text of this dohā, but it is, however, explained in the commentary; TM हसु; M विसाओ; A इक्क वि, C इक्कु वि; TM सोजि and भावि for भाउ.

- 22) जासु ण धारणु घेउ ण वि जासु ण जंतु ण मंतु ।
जासु ण मंडलु मुह ण वि सो मुणि देउं अणंतु ॥ २२ ॥
- 23) वेयहिं सत्थहिं इंदियहिं जो जिय मुणहु ण जाइ ।
णिम्मल-ज्ञाणहं जो विसउ सो परमप्पु अणाइ ॥ २३ ॥
- 24) केवल-दंसण-णाणमउ केवल-सुक्ख-सहाउ ।
केवल-वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरु भाउ ॥ २४ ॥
- 25) एयहिं जुत्तउ लक्खणहिं जो परु णिक्कलु देउ ।
सो तहिं णिवसइ परम-पइ जो तइलोयहं सेउ ॥ २५ ॥
- 26) जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिवसइ देउ ।
तेहउ णिवसइ बंधु परु देहहं मं करि भेउ ॥ २६ ॥
- 27) जे दिट्ठे तुट्ठंति लहु कम्मइ पुण्व-कियाइ ।
सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइ ॥ २७ ॥
- 28) जित्थु ण इंदिय-सुह-दुहइं जित्थु ण मण-वाचारु ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं अण्णु परिं अवहारु ॥ २८ ॥
- 29) देहादेहहिं जो वसइ भेयाभेय-णण्ण ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं किं अण्णे बहुण्ण ॥ २९ ॥
- 30) जीवाजीव म एक्कु करि लक्खण-भेएँ भेउ ।
जो परु सो परु भणमि मुणि अप्पा अण्णु अमेउ ॥ ३० ॥
- 31) अमणु अणिदिउ णाणमउ मुत्ति-विरहिउ चिमित्तु ।
अप्पा इंदिय-विसउ णवि लक्खणु एहु णिरुत्तु ॥ ३१ ॥
- 32) भव-तणु-भोय-विरत्त-मणु जो अप्पा झाएइ ।
तासु गुरुकी वेल्लडी संसारिणि तुट्ठेइ ॥ ३२ ॥

22) Wanting in TKM; c देउ for देउं. 23) c वियहि, TKM वेयहि; c alone मुणहिं for मुणहु which is accepted by all other Mss. 24) TKM सोक्ख (written as 'ख), 'वीरिय जो; TKM सोज्जि for जो जि. 25) BC लक्खणिहिं; c णिवसहिं; TK परमपये, m 'पए; B 'लोयहो, c जो तिहिं लोयह; with AB I have corrected the old reading सेउ to सेउ, c reads उउ but is corrected as सेउ, TK छेउ (the Kannaḍa gloss translates it as शिखरायं), m has something like देउ which may stand for घेउ. 26) AB सिद्धिहिं; T तेह मुणिवसइ; TKB बन्हु; BC म for मं. 27) AB जि दिट्ठि, TKM जे दिट्ठे...लहुं; AC जाणहिं. 28) Wanting in TKM; B परि for परिं. 29) Wanting in TKM; A देहादेहहि, वसइ. 30) Wanting in TKM; BC भावि for भणमि. 31) Wanting in TKM; c मोत्तिरहिउ चिमोत्तु. 32) Wanting in TKM; c वेल्लडी, संसारिण.

- 33) देहादेवलि जो वसइ देउ अणाइ-अणंतु ।
केवल-गाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिमंतु ॥ ३३ ॥
- 34) देहे वसंतु वि णवि छिवइ णियमे^३ देहु वि जो जि ।
देहे^३ छिप्पइ जो वि णवि मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३४ ॥
- 35) जो सम-भाव-परिद्वियहँ जोइहँ कोइ फुरेइ ।
परमाणंदु जणंतु फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥ ३५ ॥
- 36) कम्म-णिबद्धु वि जोइया देहि वसंतु वि जो जि ।
होइ ण सयलु कया वि फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३६ ॥
- 37) जो परमत्थे^३ णिकलु वि कम्म-विभिण्णउ जो जि ।
मूढा सयलु भणंति फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३७ ॥
- 38) गयणि अणंति वि एक उडु जेहउ भुयणु विहाइ ।
मुक्कहँ जसु पए विविउ सो परमप्पु अणाइ ॥ ३८ ॥
- 39) जोइय-विंदहि^३ णाणमउ जो झाइज्जइ स्रेउ ।
मोक्खहँ कारणि अणवरउ सो परमप्पउ देउ ॥ ३९ ॥
- 40) जो जिउ हेउ लहेवि विहि जगु बहु-विहउ जणेइ ।
लिंगत्तय-परिमंडियउ सो परमप्पु हवेइ ॥ ४० ॥
- 41) जसु अब्भंतरि जगु वसइ जग-अब्भंतरि जो जि ।
जमि जि वसंतु वि जगु जि ण वि मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ४१ ॥
- 42) देहि वसंतु वि हरि-हर वि जं अज्ज वि ण मुणंति ।
परम-समाहितवेण विणु सो परमप्पु भणंति ॥ ४२ ॥
- 43) भावाभावहि^३ संजुवउ भावाभावहि^३ जो जि ।
देहि जि दिट्ठउ जिणवरहि^३ मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ४३ ॥

33) TKM देहादेउळे जो वसयि, B देउलि; A देउं अणाइ. 34) A णियमि, TKM णियमे; TKM जोजि for जो जि; ABC देहि; TKM जोजि for जो वि, and सोजि for सो जि. 35) TKM समभावे; BC जोइहि, TKM जोइह. 36) TKM देहे, जोजि and सोजि for जो जि and सो जि; C confuses the first pāda of 36 and 37, and loses dōhā No. 37. 37) TKM जोजि and सोजि; in the Mss. TKM जो जि and सो जि are uniformly written as जोजि and सोजि, so hereafter these variants will not be noted. 38) Wanting in TKM; BC एकु; AB भुवणि, C भुवणु; AC पइविबियउ, B पय^३; AB अणाइ. 39) A जोइयविंदहं, B विंदहि, TKM विंदहि; BC कारणु. 40) TM विहि, K विहि; C लिंगत्तइ^३; TK 'परिमंडियउ. 41) Wanting in TKM; C अब्भंतर, AC जगु अब्भंतरि; hereafter many pages in B are rubbed and the letters cannot be read. 42) TKM देहे, जो for जं; C तवेणु विण सो परमप्प. 43) Wanting in TKM; C संजुवहि.

- 44) देहि वसंते^५ जेण पर इंदिय-गामु वसेइ ।
उच्चसु होइ गणण फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥ ४४ ॥
- 45) जो गिय-करणाहि^५ पंचहि^५ वि पंच वि विसय मुणेइ ।
मुणित ण पंचहि^५ पंचहि^५ वि सो परमप्पु हवेइ ॥ ४५ ॥
- 46) जसु परमत्थे^५ बंधु णवि जोइय ण वि संसार ।
सो परमप्पउ जाणि तुहुं मणि मिल्लिवि ववहार ॥ ४६ ॥
- 47) जो जाणइ सो जाणि जिय जो पेक्खइ सो पेक्खु ।
अंतुबहुंतु वि जंपु चइ होउण तुहुं णिरवेक्खु ॥ ४६*१ ॥
- 48) जेयाभावे विळि जिम थक्कइ णाणु वलेवि ।
मुक्कहें जसु पय बिंबियउ परम-सहाउ भणेवि ॥ ४७ ॥
- 49) कम्महि^५ जासु जणंतहि^५ वि णिउ णिउ कज्जु सया वि ।
किं पि ण जणियउ हरिउ णवि सो परमप्पउ भावि ॥ ४८ ॥
- 50) कम्म-णिबद्ध वि होइ णवि जो फुडु कम्म कया वि ।
कम्म वि जो ण कया वि फुडु सो परमप्पउ भावि ॥ ४९ ॥
- 51) कि वि भणंति जिउ सव्वगउ जिउ जडु के वि भणंति ।
कि वि भणंति जिउ देह-समु सुणु वि के वि भणंति ॥ ५० ॥
- 52) अप्पा जोइय सव्व-गउ अप्पा जडु वि वियाणि ।
अप्पा देह-पमाणु मुणि अप्पा सुणु वियाणि ॥ ५१ ॥
- 53) अप्पा कम्म-विवज्जियउ केवल-णाणे^५ जेण ।
लोयालोउ वि मुणइ जिय सव्वगु वुच्चइ तेण ॥ ५२ ॥
- 54) जे^५ गिय-बोह-परिद्वियहें जीवहें तुइइ णाणु ।
इंदिय-जणियउ जोइया तिं जिउ जडु वि वियाणु ॥ ५३ ॥

44) Wanting in TKM; A देह, C देहे; C इंदियगाउ. 45) A पंचहं for the last पंचहिं. 46) TKM परमत्थे, मुणइ तुहुं for जाणि तुहुं, मणे; A मिल्लहिं, TKM मेळवि, in the commentary of Brahmadēva and in A as well मिल्लहिं, so it is retained there. 47) Only in TKM. Kannāḍa gloss reads पेक्खइ for पेक्खइ; in T जंपु appears like जप्पु and 'बहुंतु like बहुतु; वि and जंपु I have read separate following the Kannāḍa gloss, which takes अंतुबहुंतु वि and translates as *amītarāṅga-bāhīrāṅga rūpamappa*. K reads होउण तुहु. 48) Wanting in TKM; AC जेयाभाविं; C जिम्ब for जिम, णाणवलेवि. 49) C कम्मइ, T जणित्तिहिं; TKM ण...हरिउ हि for हरिउ णवि. 50) TKM read second line, first pāda, thus : कम्मु णिजो (or is it कम्मुणि जो ?) ण कया वि पुणु; C कम्मु ण जो वि कया etc. 51) TKM केइ for कि वि and के वि; C सव्वु गउ. 52) C जडु वि वियाणु; C सुणु वि जाण, TKM विजाणि. 53) TKM कम्मविवज्जिउ केवलणाणे; AC लोयालोय वि; TKM सव्वगु वुच्चइ तेण. 54) T जे...परिद्वियहं; C ते for तिं, T तें...वियाणि, but K वियाणु.

- 55) कारण-विरहिउ सुद्ध-जिउ वड्डइ खिरइ ण जेण ।
चरम-सरीर-पमाणु जिउ जिणवर बोळहि तेण ॥ ५४ ॥
- 56) अट्ट वि कम्मइ बहुविहइ णवणव दोस वि जेण ।
सुद्धइ एक्कु वि अत्थि णवि सुण्णु वि बुच्चइ तेण ॥ ५५ ॥
- 57) अप्पा जणियउ केण ण वि अप्पे जणिउ ण कोइ ।
दब्ब-सहावे णिच्चु मुणि पज्जउ विणसइ होइ ॥ ५६ ॥
- 58) तं परियाणहि दब्बु तुहुं जं गुण-पज्जय-जुत्तु ।
सह-भुव जाणहि ताहं गुण कम-भुव पज्जउ बुत्तु ॥ ५७ ॥
- 59) अप्पा बुज्झहि दब्बु तुहुं गुण पुणु दंसणु णाणु ।
पज्जय चउ-गइ-भाव तणु कम्म-विणिम्मिय जाणु ॥ ५८ ॥
- 60) जीवहं कम्म अणाइ जिय जणियउ कम्म ण तेण ।
कम्मे जीउ वि जणिउ णवि दोहि वि आइ ण जेण ॥ ५९ ॥
- 61) एहु ववहारे जीवडउ हेउ लहेविणु कम्म ।
बहुविह-भावे परिणवइ तेण जि धम्म अहम्म ॥ ६० ॥
- 62) ते पुणु जीवहं जोइया अट्ट वि कम्म हवन्ति ।
जेहि जि झंपिय जीव णवि अप्प-सहाउ लहन्ति ॥ ६१ ॥
- 63) विसय-कसायहि रंगियहं जे अणुया लग्गन्ति ।
जीव-यएसहं मोहियहं ते जिण कम्म भणन्ति ॥ ६२ ॥
- 64) पंच वि इंदिय अणु मणु अणु वि सयल-विभाव ।
जीवहं कम्मइ जणिय जिय अणु वि चउगइ-ताव ॥ ६३ ॥
- 65) दुक्खु वि सुक्खु वि बहु-विहउ जीवहं कम्म जणेइ ।
अप्पा देखवइ मुणइ पर णिच्छउ एउं भणेइ ॥ ६४ ॥

55) C सुद्ध जिउ ; K खिणइ, M खिणइ for खिरइ ; C पमाण ; C बुळहि TKM बोळहि. 56) TKM कम्मइ बहुविहइ, बुज्झइ for बुच्चइ. 57) ACTKM अप्पि ; AC दब्बसहावि, TKM दब्बसहावे ; TKM पज्जइ for पज्जउ ; C कोई, M सोइ for होइ. 58) AC परियाणहि ; TKM दब्ब ; C पज्जइजुत्तु ; C सहभुव ; TKM गुणं, पज्जय बुत्तु. 59) TKM बुज्झइ दब्बु जिय (for तुहुं), पुण for पुणु ; C पुणु for तणु. 60) A कम्मं... जिया ; C कम्म, TKM कम्मे. 61) AC ववहारि, TKM ववहारे ; AC बहुविहभावि, TKM भावे परिणमइ ; TKM तेहि वि धम्माहम्म for तेण जि etc. ; C धम्माहम्म. 62) TKM ते पुण जीवह ; T अट्ट हि for अट्ट वि ; TKM जेहि वि. 63) TKM रंगियहि, C रंजियहं ; TKM जेयणुगा, C अणुआ ; TM पएसहि, K पयएसहि, in the commentary of Brahmādēva पएसिहि ; TK कम्म for कम्म. 64) C विभाउ, TKM सयल विभाव ; TKM जीवह कम्मे. 65) TK दुक्ख वि सोक्ख वि, M दुक्ख वि सोक्खु वि, C दुक्ख वि सुक्ख वि ; C देखइ for देखइ.

- 66) बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्म जणेइ ।
अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिळ्ळउ एउँ भणेइ ॥ ६५ ॥
- 67) सो णत्थि ति एसो चउरासी-जोणि-लक्ख-मज्झम्मि ।
जिण-वयणं ण लहंतो जत्थ ण डुल्लुल्लिओ जीवो ॥ ६५*१ ॥
- 68) अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ ।
भुवणत्तयहँ वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥ ६६ ॥
- 69) अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जि ण होइ ।
परु जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमेँ पभणहिँ जोइ ॥ ६७ ॥
- 70) ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थेँ जोइया जिणवरु एउँ भणेइ ॥ ६८ ॥
- 71) अत्थि ण उब्भउ जर-मरणु रोय वि लिंम वि वण्ण ।
णियमिँ अप्पु वियाणि तुहुँ जीवहँ एक वि सण्ण ॥ ६९ ॥
- 72) देहहँ उब्भउ जर-मरणु देहहँ वण्णु विचित्तु ।
देहहँ रोय वियाणि तुहुँ देहहँ लिंमु विचित्तु ॥ ७० ॥
- 73) देहहँ पेक्खवि जर-मरणु मा भउ जीव करेहि ।
जो अजरामरु वंशु परु सो अप्पाणु मुणेहि ॥ ७१ ॥
- 74) छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ जोइय एहु सरीरु ।
अप्पा भावहि णिम्मलउ जिँ पावहि भव-तीरु ॥ ७२ ॥
- 75) कम्महँ केरा भावडा अण्णु अचेयणु दव्वु ।
जीव-सहावहँ भिण्णु जिय णियमिँ बुज्झहि सव्वु ॥ ७३ ॥
- 76) अप्पा मेळ्ळिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ ।
सो छंढेविणु जीव तुहुँ भावहि अप्प-सहाउ ॥ ७४ ॥

66) Wanting in TKM ; no readings in others. 67) Wanting in BCTKM. 68) Wanting in TKM ; c जोइ for एइ ; A reads in the comm. अणुहरइ, जाइ and एइ. 69) B णियमिँ ; TKM पभणइ जोइ. 70) TM अण वि उप्पज्जइ ; A उप्पज्जइ ; c एम for एउँ. 71) TKM रोउ वि लिंमु वि वण्णु, णियमे, सण्णु (for सण्ण). 72) TKM देहह ; c gives only the first pāda of this dōhā. 73) KM देहहि पेच्छवि, AB पिक्खवि ; TKM जीउ for जीव ; T बम्ह, KM बम्हु. [In TKM here come five dōhās which in our text occupy the numbers II, 148 ; II, 149 ; II, 150 ; II, 151 ; II, 182. Their various readings are noted under those numbers. 74) A भावहि...पावहि ; c जेँ पावहि, TKM जेँ पावहि. 75) Wanting in TKM ; c केरउ for केरा. 76) AC चिद्धवि, TKM मेळवि ; TKM परावउ for परायउ.

- 77) अट्टहँ कम्महँ बाहिरउ सयलहँ दोसहँ चत्तु ।
दंसण-णाण-चरित्तमउ अप्पा भावि गिरुत्तु ॥ ७५ ॥
- 78) अप्पि अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिट्ठि हवेइ ।
सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइँ मुचेइ ॥ ७६ ॥
- 79) पज्जय-रत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ ।
बंधइ बहु-विह-कम्मडा जेँ संसार भमेइ ॥ ७७ ॥
- 80) कम्महँ दिट्ठ-घण-चिकणइँ गरुवइँ वज्ज-समाइँ ।
णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिँ ताइँ ॥ ७८ ॥
- 81) जिउ मिच्छत्तेँ परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ ।
कम्म-विणिग्गिमय भावडा ते अप्पाणु भणेइ ॥ ७९ ॥
- 82) हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विमिण्णउ वण्णु ।
हउँ तणु-अंगउँ धूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु ॥ ८० ॥
- 83) हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थि हउँ मण्णइ मूढु विसेसु ॥ ८१ ॥
- 84) तरुणउ बूढउ रुयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउ बंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ८२ ॥
- 85) जणणी जणणु वि कंत घरु पुत्तु वि मित्तु वि दव्वु ।
माया-जालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ८३ ॥
- 86) दुक्खहँ कारणि जे विसय ते सुह-हेउ रमेइ ।
मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ इत्थु ण काइँ करेइ ॥ ८४ ॥
- 87) कालु लहेविणु जोइया जिम्मु जिम्मु मोहु गलेइ ।
तिम्मु तिम्मु दंसणु लहइ जिउ णियमेँ अप्पु मुणेइ ॥ ८५ ॥

77) TKM अट्टहे कम्महे (sometimes हे looks like हि), सयलहि दोसहि, जाणि for भावि.
78) TKM अप्पे, c अप्पइँ for अप्पि; TKM BC सम्माइट्ठि; TKM कम्महि. 79) KM मिच्छाइट्ठि T ०यिट्ठि;
TM बहुविहु कम्माडा, but T has the same reading as adopted in our Text; for जेँ AB जि, c जिणि and TK चिर. 80) TKM गरुवइ; BC अप्पहि for उप्पहि; TKM पाडहि ताइ. 81) AC मिच्छत्ति;
TKM परिणमइ; TKM भावडा. 82) Wanting in TKM; c सयलउ. 83) Wanting in TKM; A मूढ.
84) TKM मुइ [कू] उ; BCTKM रुवडउ; K खमणउ, ABC खवणउ; TKM मुइउ [मुडउ] for बंदउ; c मूढ
विमण्णइ सव्वु 85) c मायाजाल; KM मूढु विमण्णइ सव्वु (T has a corrupt reading). 86) BCTKM
कारणु; c विसइ; TKM मिच्छाइट्ठि; TKM एत्थु for इत्थु; BC काइ for काइ. 87) A जिम्म जिम्म, c जिम
जिम, TKM जेव जेव; for तिम्मु too the readings are similar in these Mss.; A णियमि.

- 88) अप्पा गोरउ किण्हु ण वि अप्पा रत्तु ण होइ ।
अप्पा सुहुसु वि थूलु ण वि णाणिउ जाणेँ जोइ ॥ ८६ ॥
- 89) अप्पा बंभणु वइसु ण वि ण वि खत्तिउ ण वि सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि णाणिउ मुणइ असेसु ॥ ८७ ॥
- 90) अप्पा वंदउ खवणु ण वि अप्पा गुरउ ण होइ ।
अप्पा लिंणउ एक्कु ण वि णाणिउ जाणइ जोइ ॥ ८८ ॥
- 91) अप्पा गुरु णवि सिस्सु णवि णवि सामिउ णवि भिच्छु ।
सूरउ कायरु होइ णवि णवि उत्तमु णवि णिच्छु ॥ ८९ ॥
- 92) अप्पा माणुसु देउ ण वि अप्पा तिरिउ ण होइ ।
अप्पा णारउ कहिँ वि णवि णाणिउ जाणइ जोइ ॥ ९० ॥
- 93) अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु ।
तरुणउ बूढउ बालु णवि अण्णु वि कम्म-विसेसु ॥ ९१ ॥
- 94) पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्मु वि काउ ।
एक्कु वि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयण-भाउ ॥ ९२ ॥
- 95) अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु ।
अप्पा सासय-मोक्ख-पउ जाणंतउ अप्पाणु ॥ ९३ ॥
- 96) अण्णु जि दंसणु अत्थि ण वि अण्णु जि अत्थि ण णाणु ।
अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय मेल्लिवि अप्पा जाणु ॥ ९४ ॥
- 97) अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ म सेवि ।
अण्णु जि देउ म चित्ति तुहुँ अप्पा विमलु मूरवि ॥ ९५ ॥
- 98) अप्पा दंसणु केवलु वि अण्णु सज्जु ववहारु ।
एक्कु जि जोइय झाइयइ जो तइलोयहँ सारु ॥ ९६ ॥
- 99) अप्पा झायहि णिम्मलउ किं बहुएँ अण्णेण ।
जो झायंतहँ परम-पउ लब्भइ एक-खणेण ॥ ९७ ॥

88) KM गोरउ, अप्पा सुहुसु ण for सुहुसु वि; ABC णाणि for जाणे; Brahmadēva has an additional reading णाणिउ जाणइ जोइ in the last pāda. 89) TK बंभणु; TKM पुरिसु णउंसणु; AC जाणइ मुणइ. 90) TKM वुडउ for वंदउ, खवणु, गुरुउ, लिंणउ, सोइ for जोइ. 91) T सिस्सि, C सीसु; TM मेडु, K मेउ for होइ. 92) TKM कोइ ण वि for देउ etc.; C कह वि for कहिँ वि; TKM णाणिउ जाणे जोइ as the last pāda. 93) Wanting in TKM; A तरुणउ. 94) Wanting in TKM; AC मेल्लिवि. 95) No various readings in Mss., but Brahmadēva notes some alternative readings: सासयसुक्खपउ, सासयसुक्खपउ. 96) TKM मेल्लिवि. 97) TKM जाह for जाहि; C चित्तवहि for चित्ति तुहुँ. 98) TKM अणु सज्जउ ववहारु; C जोइया 99) TKM किं अण्णे बहुएण; A इक्क, TKM एक्कु.

- 100) अप्पा णिय-मणि णिम्मलउ णियमे^५ वसइ ण जासु ।
सत्थ-पुराणइ^६ तव-चरणु मुक्खु वि करहि^७ कि तासु ॥ ९८ ॥
- 101) जोइय अप्पे^८ जाणिण जगु जाणियउ हवेइ ।
अप्पहँ केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ ॥ ९९ ॥
- 102) अप्प-सहावि परिद्वियहँ एहउ होइ विसेसु ।
दीसइ अप्प-सहावि लहु लोयालोउ असेसु ॥ १०० ॥
- 103) अप्पु पयासइ अप्पु परु जिम अंबरि रविराउ ।
जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थु-सहाउ ॥ १०१ ॥
- 104) तारायणु जलि बिंबियउ णिम्मलि दीसइ जेम ।
अप्पए णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउ वि तेम ॥ १०२ ॥
- 105) अप्पु वि परु वि वियाणइ जे^९ अप्पे^{१०} मुणिण ।
सो णिय-अप्पा जाणि तुहुँ जोइय णाण-बलेण ॥ १०३ ॥
- 106) णाणु पयासहि परमु महु किं अण्णे^{११} बहुण ।
जेण णियप्पा जाणियइ सामिय एक-खणेण ॥ १०४ ॥
- 107) अप्पा णाणु मुणेहि तुहुँ जो जाणइ अप्पाणु ।
जीव-पएसहि^{१२} तित्तिडउ णाणे^{१३} गयण-पवाणु ॥ १०५ ॥
- 108) अप्पहँ जे वि विभिण्ण वढ ते वि हवन्ति ण णाणु ।
ते तुहुँ तिण्णि वि परिहरिवि णियमिं अप्पु वियाणु ॥ १०६ ॥
- 109) अप्पा णाणहँ गम्मु पर णाणु वियाणइ जेण ।
तिण्णि वि मिळिवि जाणि तुहुँ अप्पा णाणे^{१४} तेण ॥ १०७ ॥
- 110) णाणिय णाणिउ णाणिण णाणिउँ जा ण मुणेहि ।
ता अण्णार्णि णाणमउँ किं पर बंधु लहेहि ॥ १०८ ॥

100) B तवचरणु, TKM सत्थपुराणे तउचरणु; TKM मोक्खु जि करइ किं तासु for the last pāda.

101) Wanting in TKM; B अप्पि for अप्पे; C बिंबउ...वसंति. 102) Wanting in TKM; C अप्पि सहावि; Brahmadēva notes on alternative reading दीसइ अप्पसहाउ लहु. 103) C जिम्ब, TM जेव (K जेउ) अंबरे. 104) TKM जळे for जलि, णिम्मळे...जेव; BC अप्पइ, TKM अप्पए णिम्मळे; A लोयालोय, TKM लोयालोय वि तेव. 105) TKM वियाणिजइ; B जिं अप्पि, TKM जे अप्पे; TKM सो णिउ अप्पा मुणहि तुहुँ. 106) Wanting in TKM; B किं अण्णि. 107) TKM जीवपएसहि तेत्तिडउ, ABC तित्तिडउ, Brahmadēva has an alternative reading जीवपएसहि देहसमु; C णाणिं, BC पमाणु, TKM णाणे गयणपमाणु. 108) Wanting in TKM, and no readings in others. 109) TKM पर, मुणहि तुहुँ for जाणि etc., मेळवि. 110) Wanting in TKM; C मुणेइ and लहेइ.

- 111) जोइज्जइ तिं बंधु पर जाणिज्जइ तिं सोइ ।
बंधु मुणेविणु जेण लहु गम्मिज्जइ परलोइ ॥ १०९ ॥
- 112) मुणि-वर-विंदहँ हरि-हरहँ जो मणि णिवसइ देउ ।
परहँ जि परतरु णाणमउ सो वुच्चइ पर-लोउ ॥ ११० ॥
- 113) सो पर वुच्चइ लोउ परु जसु मइ तित्थु वसेइ ।
जहिँ मइ तहिँ गइ जीवहँ जि णियमेँ जेण हवेइ ॥ १११ ॥
- 114) जहिँ मइ तहिँ गइ जीव तुहुँ मरणु वि जेण लहेहि ।
तेँ परबंधु मुएवि मई मा पर-दव्वि करेहि ॥ ११२ ॥
- 115) जं णियदव्वहँ भिण्णु जडु तं पर-दव्वु वियाणि ।
पुगलु धम्माधम्मु णहु कालु वि पंचसु जाणि ॥ ११३ ॥
- 116) जइ णिविसद्धु वि कु वि करइ परमप्यइ अणुराउ ।
अग्गि-कणी जिम कट्ट-गिरी डहइ असेसु वि पाउ ॥ ११४ ॥
- 117) मेल्लिवि सयल अवक्खडी जिय णिच्चित्तउ होइ ।
चित्तु णिवेसहि परम-पए देउ णिरंजणु जोइ ॥ ११५ ॥
- 118) जं सिव-दंसणि परम-सुहु पावहि ज्ञाणु करंतु ।
तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणंतु ॥ ११६ ॥
- 119) जं मुणि लहइ अणंत-सुहु णिय-अप्पा ज्ञायंतु ।
तं सुहु इंदु वि णवि लहइ देविहिँ कोडि रमंतु ॥ ११७ ॥
- 120) अप्पा-दंसणि जिणवरहँ जं सुहु होइ अणंतु ।
तं सुहु लहइ विराउ जिउ जाणंतउ सिउ संतु ॥ ११८ ॥
- 121) जोइय णिय-मणि णिम्मलए पर दीसइ सिउ संतु ।
अंबरि णिम्मलि घण-रहिए भाणु जि जेम फुरंतु ॥ ११९ ॥

111) TKM ते बंधु पर; c तव for तिं, TKM ते सोइ; Brahmadēva has an alternative reading पर for पर. 112) Wanting in TKM. 113) TKM वुज्जइ for वुच्चइ, c परिवुच्चइ; TKM तेत्थु, जीवह वि. 114) TKM have no nasal signs; c परदव्वु for वंधु; TKM लहेइ and करेइ, पर बंधु, दव्वे. 115) B अण्णु for भिण्णु, BTK पोगल, c पोगल. 116) TK कोइ करइ णियअपए अणुराउ; TKM अग्गिक्कणि जेव, c जिव. 117) TKM मेल्लिवि सयल; BC णिवेसिवि; c देव. 118) TKM पावइ, c पावइ ज्ञण; TKM मेल्लिवि, AC मिळिवि. 119) BCTKM अणंतु सुहु; TKM देविहि कोडि. 120) Wanting in TKM; c सिव for सिउ. 121) Wanting in TKM; c णिम्मलइ, सिव.

- 122) राएँ रंगिए हियवडए देउ ण दीसइ संतु ।
दप्पणि मइलए बिंबु जिम एहउ जाणि णिभंतु ॥ १२० ॥
- 123) जसु हरिणच्छी हियवडए तसु णवि बंधु वियारि ।
एकहिँ केम समंति वढ बे खंडा पडियारि ॥ १२१ ॥
- 124) णिय-मणि णिम्मलि णाणियहँ णिवसइ देउ अणाइ ।
हंसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ ॥ १२२ ॥
- 125) देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम-चित्ति ॥ १२३ ॥
- 126) मणु मिलियउ परमेसरहँ परमेसरु वि मणस्स ।
बीहि वि समरसि-हूवाहँ पुज्ज चडावउँ कस्स ॥ १२३*२ ॥
- 127) जेण णिरंजणि मणु धरिउ विसय-कसायहिँ जंतु ।
मोक्खहँ कारणु एत्तउ अणु ण तंतु ण मंतु ॥ १२३*३ ॥

[२. बिज्जउ अहियारु]

- 128) सिरिगुरु अक्खहि मोक्खु महु मोक्खहँ कारणु तत्थु ।
मोक्खहँ केरउ अणु फल्लु जेँ जाणउँ परमत्थु ॥ १ ॥
- 129) जोइय मोक्खु वि मोक्ख-फल्लु पुच्छिउ मोक्खहँ हेउ ।
सो जिण-भासिउ णिसुणि तुहँ जेण वियाणहि भेउ ॥ २ ॥
- 130) धम्महँ अत्थहँ कामहँ वि एयहँ सयलहँ मोक्खु ।
उत्तमु पमणहिँ णाणि जिय अण्णेँ जेण ण सोक्खु ॥ ३ ॥
- 131) जइ जिय उत्तमु होइ णवि एयहँ सयलहँ सोइ ।
तो किं तिण्णि वि परिहरवि जिण बच्चहिँ पर-लोइ ॥ ४ ॥
- 132) उत्तमु सुक्खु ण देइ जइ उत्तमु सुक्खु ण होइ ।
तो किं इच्छहिँ बंधणहिँ बद्धा पसुय वि सोइ ॥ ५ ॥

122) TKM रंगिमहियवडये (ए ?) दप्पणे मइलए, बिंबु जेव, जाणु; c एह for एहउ. 123) Wanting in TKM; B वियारि, c पडिहारि for पडियारि. 124) TKM णियमणे णिम्मले, जेव for जिम, दहु एहउ. 125) BC देउले...सिलइ; TKM लेप्पइ, अखउ गिरामउ...संतिउ समचित्ते. 126) Wanting in TKM; B समरसहूवाइ. 127) Wanting in TKM. 128) Wanting in TKM; c सोक्खहँ for मोक्खहँ; B सुक्खहु for second मोक्खहँ, जिम for जेँ. 129) TKM मोक्खु जि मोक्खु; c विआणिउ. 130) TKM have no nasal signs, उत्तिमु; c अण्णि for अण्णेँ. 131) TKM उत्तिमु; Brahmadvēva's reading सोवि; TKM बच्चइ; c परलोउ. 132) Wanting in TKM; B ता for तो; c अच्छहिँ बंधणहिँ; B पसुय वि, c पसुवि वि.

- 133) अणु जइ जगहँ वि अहिययरु गुण-गणु तासु ण होइ ।
तो तइलोउ वि किं धरइ गिय-सिर-उप्परि सोइ ॥ ६ ॥
- 134) उत्तमु सुक्खु ण देइ जइ उत्तमु सुक्खु ण होइ ।
तो किं सयलु वि कालु जिय सिद्ध वि सेवहिँ सोइ ॥ ७ ॥
- 135) हरि-हर-बंधु वि जिणवर वि मुणि-वर-विंद वि भव्व ।
परम-गिरंजणि मणु धरिवि सुक्खु जि म्मायहिँ सव्व ॥ ८ ॥
- 136) तिहुयणि जीवहँ अत्थि णवि मोक्खहँ कारणु कोइ ।
सुक्खु सुएविणु एहु पर तेणवि चितहिँ सोइ ॥ ९ ॥
- 137) जीवहँ सो पर मोक्खु मुणि जो परमप्यय-ल्लाहु ।
कम्म-कलंक-विमुक्काहँ णाणिय बोछहिँ साहु ॥ १० ॥
- 138) दंसणु णाणु अणंत-सुहु समउ ण तुइइ जासु ।
सो पर सासउ मोक्ख-फलु बिज्जउ अत्थि ण तासु ॥ ११ ॥
- 139) जीवहँ मोक्खहँ हेउ वरु दंसणु णाणु चरितु ।
ते पुणु तिणिण वि अप्पु मुणि णिच्छहँ एहउ वुत्तु ॥ १२ ॥
- 140) पेच्छइ जाणइ अणुचरइ अप्पि अप्पउ जो जि ।
दंसणु णाणु चरितु जिउ मोक्खहँ कारणु सो जि ॥ १३ ॥
- 141) जं बोछइ ववहार-णउ दंसणु णाणु चरितु ।
तं परियाणहिँ जीव तुहुँ जेँ पर होहिँ पवितु ॥ १४ ॥
- 142) दव्वहँ जाणइ जइ-ठियहँ तइ जणि मण्णइ जो जि ।
अप्पहँ केरउ मावउउ अविचलु दंसणु सो जि ॥ १५ ॥
- 143) दव्वहँ जाणहिँ ताहँ छइ तिहुयणु भरियउ जेहिँ ।
आइ-विणास-विचजियहिँ णाणिहिँ पभणियएहिँ ॥ १६ ॥
- 144) जीउ सचेयणु दव्वु मुणि पंच अचेयण अण्ण ।
पोगलु धम्माहम्मू णहु कालेँ सहिया भिण्ण ॥ १७ ॥

133) Wanting in TKM; c सिर उप्परि. 134) TKM उत्तमु...मोक्ख, c उत्तमसुक्ख; TKM सेवइ. 135) A बम्हु; c जिणवरहँ; TKM परमगिरंजणु मोक्ख. 136) TKM तिहुयणे; BC सुक्खहँ; TKM मोक्ख. 137) BC सुक्ख; TKM कम्मकलंके. 138) ATKM अणंत सुहु; TKM मोक्ख फल. 139) BC सुक्खहँ; c हेउ वर; TKM णिच्छउ एहउ वुत्तु. 140) BC पिच्छइ, TKM पस्सइ; cTKM अप्पे, Brahmadēva अप्पहँ. 141) Wanting in TKM; A बुलइ, जि for जेँ. 142) Wanting in cTKM. 143) Wanting in BTKM; c तिहुयणि भरिया जेहिँ...णाणिय. 144) TKM अचेयणु अण्ण, पोगल, काले सहिया भिण्ण; ABC कालि.

- 145) मुत्ति-विहणउ णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।
 णियमिं जोइय अप्पु मुणि णिच्चु णिरंजणु भाउ ॥ १८ ॥
- 146) पुग्गलु छन्विहु मुत्तु वढ इयर अमुत्तु वियाणि ।
 धम्माधम्मु वि गयठियहँ कारणु पभणहिँ णाणि ॥ १९ ॥
- 147) दब्बइँ सयलइँ वरि ठियइँ णियमेँ जासु वसंति ।
 तं णहु दब्बु वियाणि तुहुँ जिणवर एउ भणंति ॥ २० ॥
- 148) कालु मुणिज्जहि दब्बु तुहुँ वट्ठण-लक्खणु एउ ।
 रयणहँ रासि विभिण्ण जिम तसु अणुयहँ तह भेउ ॥ २१ ॥
- 149) जीउ वि पुग्गलु कालु जिय ए मेल्लेविणु दब्ब ।
 इयर अखंड वियाणि तुहुँ अप्प-पएसहिँ सव्व ॥ २२ ॥
- 150) दब्ब चयारि वि इयर जिय गमणागमण-विहीण ।
 जीउ वि पुग्गलु परिहरिवि पभणहिँ णाण-पवीण ॥ २३ ॥
- 151) धम्माधम्मु वि एक्कु जिउ ए जि असंख-पदेस ।
 गयणु अणंत-पएसु मुणि बहु-विह पुग्गल-देस ॥ २४ ॥
- 152) लोयागासु धरेवि जिय कहियइँ दब्बइँ जाइँ ।
 एक्कहिँ मिलियइँ इत्थु जगि सगुणहिँ णिवसहिँ ताइँ ॥ २५ ॥
- 153) एयइँ दब्बइँ देहियहँ णिय-णिय-कज्जु जणंति ।
 चउ-गइ-दुक्ख सहंत जिय तेँ संसारु भमंति ॥ २६ ॥
- 154) दुक्खहँ कारणु मुणिवि जिय दब्बहँ एहु सहाउ ।
 होयवि मोक्खहँ मग्गि लहु गम्मिज्जइ पर-लोउ ॥ २७ ॥
- 155) णियमेँ कहियउ एहु मइँ ववहारेण वि दिट्ठि ।
 एवहिँ णाणु चरित्तु सुणि जेँ पावहि परमेट्ठि ॥ २८ ॥

145) TKM 'विहणिउ, णियमे. 146) TKM पोग्गल, धम्माधम्मु वि गइठिदिहि, A गइठिएहि; Ms. A has no commentary on 18-19, but the same added in a different hand on the marginal space. 147) TKM change the order of 147 and 148; TKM दब्बइ सयलुदरिद्वियइँ; Brahmadēva उवरि; BC णियमिं; TKM एहु for एउ. 148) C वट्ठणु; TKM एहु for एउ, जेव तसु अणुवह. 149) TKM पोग्गल, अखंड मुणेहि तुहुँ. 150) TKM पोग्गल, परिहरवि पभणइ णाणपवीण, AB णाणिपवीण. 151) TKMBC धम्माधम्मु; TKM एजि, गयण, पोग्गल; Brahmadēva has another reading पुग्गलु तिविहु पएसु. 152) TKMBC लोयायासु, TKM धरेइ ठिया, एत्थु जए. 153) TKM देहियइँ, C देहियइँ; TKM णियणिउ, सहंतु BC सहंति. 154) TKM णाहु for मुणिवि, एउ for एहु, मग्गे; C होइवि. 155) B णियमइँ; TKM सुणि for सुणि; BC जि.

- 156) जं जह धक्कउ द्धु जिय तं तह जाणइ जो जि ।
अप्पहं केरउ भावडउ णाणु मुणिज्जहि सो जि ॥ २९ ॥
- 157) जाणवि मण्णावि अप्पु परु जो पर-भाउ चएइ ।
सो णिउ सुद्धउ भावडउ णाणिहि चरणु हवेइ ॥ ३० ॥
- 158) जो भत्तउ रयणत्तयहं तसु मुणि लक्खणु एउ ।
अप्पा मिळिवि गुण-णिलउ तासु वि अण्णु ण ज्ञेउ ॥ ३१ ॥
- 159) जे रयणत्तउ णिम्मलउ णाणिय अप्पु भणंति ।
ते आराहय सिव-पयहं णिय-अप्पा ज्ञायंति ॥ ३२ ॥
- 160) अप्पा गुणमउ णिम्मलउ अणुदिणु जे ज्ञायंति ।
ते पर णियमे परम-मुणि लहु णिन्वाणु लहंति ॥ ३३ ॥
- 161) सयल-पयत्थहं जं गहणु जीवहं अग्गिमु होइ ।
वत्थु-विसेस-विवज्जियउ तं णिय-दंसणु जोइ ॥ ३४ ॥
- 162) दंसण-पुब्बु हवेइ फुडु जं जीवहं विण्णाणु ।
वत्थु-विसेसु मुणंतु जिय तं मुणि अविचलु णाणु ॥ ३५ ॥
- 163) दुक्खु वि सुक्खु सहंतु जिय णाणिउ ज्ञाण-णिलीणु ।
कम्महं णिज्जर-हेउ तउ बुच्चइ संग-विहीणु ॥ ३६ ॥
- 164) कायकिलेसे पर तणु झिज्जइ
विणु उवसमेण कसाउ ण त्विज्जइ ।
ण करहि इंदिय मणह णिवारणु
उग्गतवो वि ण मोक्खह कारणु ॥ ३६*१ ॥
- 165) अप्प-सहावे जासु रइ णिच्चुववासउ तासु ।
बाहिर-दब्बे जासु रइ भुक्खुमारि तासु ॥ ३६*२ ॥
- 166) विण्णि वि जेण सहंतु मुणि मणि सम-भाउ करेइ ।
पुण्हं पावहं तेण जिय संवर-हेउ हवेइ ॥ ३७ ॥

156) TKM जो and सो for ज and तं, मुणिज्जइ. 157) TKM मण्णइ; c चरण. 158) TKM मेळवि, तासु जि. 159) TKM रयणत्तयणिम्मलउ, णिउ अप्पा 160) TKM जे अणुदिणु, तं परु for ते पर; c णिन्वाणि. 161) c जीवहु; TKM सयलविसेसु. 162) BC दंसणु पुब्बु; c मुणंति. 163) c दुक्ख वि सुक्ख; TKM सोक्ख, ज्ञाणे, बुज्झइ for बुच्चइ. 164) Only in P; किलेसं. 165) Only in P. 166) TKM वेणि...सहंति, मणे; c तेणि for तेण.

- 167) अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि अप्प-सरूबि णिलीणु ।
संवर-णिज्जर जाणि तुहँ सयल-वियप्प-विहीणु ॥ ३८ ॥
- 168) कम्म पुरकिउ सो खवइ अहिणव पेसु ण देइ ।
संगु मुएविणु जो सयलु उवसम-भाउ करेइ ॥ ३९ ॥
- 169) दंसणु गाणु चरित्तु तसु जो सम-भाउ करेइ ।
इयरहँ एकु वि अत्थि णवि जिणवरु एउ भणेइ ॥ ४० ॥
- 170) जाँवइ णाणिउ उवसमइ तामइ संजदु होइ ।
होइ कसायहँ वसि गयउ जीउ असंजदु सोइ ॥ ४१ ॥
- 171) जेण कसाय हवंति मणि सो जिय मिल्हहि मोहु ।
मोह-कसाय-विवज्जयउ पर पावहि सम-बोहु ॥ ४२ ॥
- 172) तत्तातत्तु मुणेवि मणि जे थका सम-भावि ।
ते पर सुहिया इत्थु जगि जहँ रइ अप्प-सहावि ॥ ४३ ॥
- 173) बिणि वि दोस हवंति तसु जो सम-भाउ करेइ ।
बंधु जि णिहणइ अप्पणउ अणु जगु गहिलु करेइ ॥ ४४ ॥
- 174) अणु वि दोसु हवेइ तसु जो सम-भाउ करेइ ।
ससु वि मिल्हिवि अप्पणउ परहँ णिलीणु हवेइ ॥ ४५ ॥
- 175) अणु वि दोसु हवेइ तसु जो सम-भाउ करेइ ।
वियलु हवेविणु इकलउ उप्परि जगहँ चढेइ ॥ ४६ ॥
- 176) जा णिसि सयलहँ देहियहँ जोगिउ तहिँ जग्गेइ ।
जहिँ पुणु जगइ सयलु जगु सा णिसि मणिवि सुवेइ ॥ ४६*१ ॥
- 177) णाणि मुएप्पिणु भाउ समु कित्तु वि जाइ ण राउ ।
जेण लहेसइ णाणमउ तेण जि अप्प-सहाउ ॥ ४७ ॥
- 178) भणइ भणावइ णवि थुणइ णिंदइ णाणि ण कोइ ।
सिद्धिहिँ कारणु भाउ समु जाणंतउ पर सोइ ॥ ४८ ॥

167) c जित्तु, TKM जित्तिउ, अप्पसरूबे. 168) c पुरकिउ, TKM कम्म पुराइउ and पसु for पेसु. 169) c गहु for गवि, एम for एउ; TKM निच्छउ for जिणवरु. 170) TKM जाव हि and ताम हि, AB जाम्बइ, c तावइ; TKM वसगयउ; c होइ for सोइ. 171) TKM मणे; TKMC मेल्हहि 172) TKM सणे, समभावे, एत्थु (c also), जगे, अप्पसहावे. 173) Wanting in TKM. 174) c दोस; TKM मेल्हवि. 175) Some Dēvanāgarī Mss. hesitate between जि and वि; BTKM हवेविणु, CTKM एकलउ. 176) Wanting in TKM; BC भणिवि for मणिवि. 177) CTKM मुएविणु, केत्तु; TKM लहेसहि. 178) c कारणि; TKM भावसमु.

- 179) गंधहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
गंधहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥ ४९ ॥
- 180) विसयहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
विसयहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥ ५० ॥
- 181) देहहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
देहहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥ ५१ ॥
- 182) वित्ति-णिवित्तिहिँ परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
बंधहँ हेउ वियाणियउ एयहँ जेण सहाउ ॥ ५२ ॥
- 183) बंधहँ मोक्खहँ हेउ णिउ जो णवि जाणइ कोइ ।
सो पर मोहिँ करइ जिय पुण्णु वि पाउ वि दोइ ॥ ५३ ॥
- 184) दंसण-णाण-वरित्तमउ जो णवि अप्पु मुणेइ ।
मोक्खहँ कारणु भणिवि जिय सो पर ताई करेइ ॥ ५४ ॥
- 185) जो णवि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ ।
सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिँ हिंडइ लोइ ॥ ५५ ॥
- 186) वर जिय पावइ सुंदरइ णाणिय ताई भणंति ।
जीवहँ दुक्खइ जणिवि लहु सिवमइ जाई कुणंति ॥ ५६ ॥
- 187) मं पुणु पुण्णइ भल्लाइ णाणिय ताई भणंति ।
जीवहँ रज्जइ देवि लहु दुक्खइ जाई जणंति ॥ ५७ ॥
- 188) वर णिय-दंसण-अहिमुहउ मरणु वि जीव लहेसि ।
मा णिय-दंसण-विम्मुहउ पुण्णु वि जीव करेसि ॥ ५८ ॥
- 189) जे णिय-दंसण-अहिमुहा सोक्खु अणंतु लहंति ।
सिं त्रिणु पुण्णु करंता वि दुक्खु अणंतु सहंति ॥ ५९ ॥
- 190) पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो ।
मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥ ६० ॥

179) Wanting in TKM. 180) Wanting in TKM; c बंधहु हेउ for विसयहँ जेण. 181) Wanting in TKM. 182) Wanting in TKM; Brahmadēva has an alternative reading for the 2nd line भिण्णउ जेण वियाणियउ एयहँ अप्पसहाउ. 183) A णिरु for णिउ; TKM मोहे...जिउ, लोइ for दोइ. 184) ABC सिद्धिहिँ कारणि; TKM मुणवि for भणिवि 185) B जीव सम; c दोवि, TKM बेइ; TKM मोहि. 186) TKM जणेइ for जणिवि; BC सिवगइ. 187) TKM रज्जुइ ..लहु. 188) TM णियदंसणे, सहेसि for लहेसि (B लहीसि); TKM मं for मा; BTKM करीसि. 189) AC सुक्खु; TKMB तें; B करंताइ, TKM करंताइ. 190) Wanting in BC; TKM अइमोहो; अइमोहेण वि.

- 191) देवहँ सत्थहँ मुणिवरहँ भत्तिए पुणु हवेइ ।
कम्म-क्खउ पुणु होइ णवि अज्जउ संति भणेइ ॥ ६१ ॥
- 192) देवहँ सत्थहँ मुणिवरहँ जो विहेसु करेइ ।
णियमेँ पाउ हवेइ तसु जेँ संसारु भमेइ ॥ ६२ ॥
- 193) पावेँ णारउ तिरिउ जिउ पुण्णेँ अमरु वियाणु ।
मिस्सेँ माणुस-गइ लहइ दोहि वि खइ णिन्वाणु ॥ ६३ ॥
- 194) वंदणु णिंदणु पडिकमणु पुण्णहँ कारणु जेण ।
करइ करावइ अणुमणइ एक्कु वि णाणि ण तेण ॥ ६४ ॥
- 195) वंदणु णिंदणु पडिकमणु णाणिहिँ एहु ण जुत्तु ।
एक्कु जि मेळिवि णाणमउ सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ ६५ ॥
- 196) वंदउ णिंदउ पडिकमउ भाउ असुद्धउ जासु ।
पर तसु संजसु अत्थि णवि जं मण-सुद्धि ण तासु ॥ ६६ ॥
- 197) सुद्धहँ संजसु सीलु तउ सुद्धहँ दंसणु णाणु ।
सुद्धहँ कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु ॥ ६७ ॥
- 198) भाउ विसुद्धउ अप्पणउ धम्मसु भणेविणु लेहु ।
चउ-गइ-दुक्खहँ जो धरइ जीउ पढंतउ एहु ॥ ६८ ॥
- 199) सिद्धिहिँ केरा पंथडा भाउ विसुद्धउ एक्कु ।
जो तसु भावहँ मुणि चलइ सो किम होइ विमुक्कु ॥ ६९ ॥
- 200) जहिँ भावइ तहिँ जाहि जिय जं भावइ करि तं जि ।
केम्बइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तहँ सुद्धि ण जं जि ॥ ७० ॥
- 201) सुह-परिणामेँ धम्म पर असुहेँ होइ अहम्मसु ।
दोहिँ वि एहिँ विवज्जियउ सुद्धु ण बंधइ कम्मसु ॥ ७१ ॥
- 202) दाणिं लब्भइ भोउ पर इंदत्तणु वि तवेण ।
जम्मण-मरण-विवज्जियउ पउ लब्भइ णाणेण ॥ ७२ ॥

193) A पावि...मिस्सि; TK पुण्णे सुरवर होइ; T and K have the second line thus : माणुसु मिस्से मुणहि (K मुणिहि) जिय दोहि विमुक्कउ जोइ । 194) ABC पडिकवणु; T and M करहि करावहि अणुमणुहि. 195) C interchanges the places of 194 and 195; T णाणिहे, Brahmadēva णाणिहु; C एउ for एहु; TKM मेळवि. 196) TKM वंदणु णिंदणु पडिकमणु; C पडिकवउ, B पडिकम्बउ. 197) TM दंसणणाणु; C कम्मह खउ. 198) TKM लेउ for लेहु. 199) TKM सिद्धिहिँ केरउ पंथडउ, B सिद्धिहिँ केरउ पंथा; TKM कह for किम 200) Wanting in TKM; C भावहि for भावइ; BC केमइ. 201) TKM धम्म पर असुहइ; A असुहिँ. 202) TKM दाणे...पर; BC दाणे.

- 203) देउ गिरंजणु इउँ भणइ णाणि मुक्खु ण भंति ।
णाण-विहीणा जीवडा चिरु संसारु भमंति ॥ ७३ ॥
- 204) णाण-विहीणहँ मोक्ख-पउ जीव म कासु वि जोइ ।
बहुएँ सलिल-विरोलियइँ करु चोप्पडउ ण होइ ॥ ७४ ॥
- 205) भन्वाभव्वह जो चरणु सरिसु ण तेण हि मोक्खु ।
लद्धि ज भव्वह रयणत्तय होइ अभिण्णे मोक्खु ॥ ७४*१ ॥
- 206) जं णिय-बोहहँ बाहिरउ णाणु वि कज्जु ण तेण ।
दुक्खहँ कारणु जेण तउ जीवहँ होइ खणेण ॥ ७५ ॥
- 207) तं णिय-णाणु जि होइ ण वि जेण पवड्डइ राउ ।
दिणयर-किरणहँ पुरउ जिय किं विलसइ तम-राउ ॥ ७६ ॥
- 208) अप्पा मिल्लिवि णाणियहँ अणु ण सुंदरु वत्थु ।
तेण ण विसयहँ मणु रमइ जाणंतहँ परमत्थु ॥ ७७ ॥
- 209) अप्पा मिल्लिवि णाणमउ चित्ति ण लम्माह अणु ।
मरगउ जेँ परियाणियउ तहुँ कच्चेँ कउ गणु ॥ ७८ ॥
- 210) भुंजंतु वि णिय-कम्म-फलु मोहइँ जो जि करेइ ।
भाउ असुंदरु सुंदरु वि सो पर कम्म जणेइ ॥ ७९ ॥
- 211) भुंजंतु वि णिय-कम्म-फलु जो तहिँ राउ ण जाइ ।
सो णवि बंधइ कम्म पुणु संचिउ जेण विलाइ ॥ ८० ॥
- 212) जो अणु-मेत्तु वि राउ मणि जाम ण मिल्लइ एत्थु ।
सो णवि मुच्चइ ताम जिय जाणंतु वि परमत्थु ॥ ८१ ॥
- 213) बुड्डइ सत्थइँ तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ ।
ताव ण सुंचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ ॥ ८२ ॥

203) TM एहु, K येहु, B एउ for इउँ; TKM णाणे मोक्खु नि (णि) भंतु; C भंतु for भंति
204) Wanting in TKM; B बहुयइँ सलिलविलोलियइ. 205) In TKM only. 206) AC जि for वि.
207) Wanting in TKM. 208) T, K and M change the order of 208 and 209; TKM
मेलवि, विसयहि; C जाणंतहु. 209) TKM चित्ते C चित्त; TKM जे for जेँ; B तह कच्चे; TK को गणु.
210) C, T, K and M interchange 210 and 211; BC मोहिँ जो जि कम्म जणेइ. 211) B ण दि
for णवि. 212) A अणुमित्तु वि; TKMB मणे; TKM जाव ण मेलवि...ताव; BC मुच्चइ. 213) TKM ताव...
जाव; BC मुच्चइ; TKM एहु for इहु

- 214) सत्थु पढंतु वि होइ जइ जो ण हणेइ वियप्पु ।
देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु ॥ ८३ ॥
- 215) बोह-णिमित्ते सत्थु किल लोइ पढिज्जइ इत्थु ।
तेण वि बोहु ण जासु वरु सो किं मूहु ण तत्थु ॥ ८४ ॥
- 216) तित्थइ तित्थु भमंताहँ मूढहँ मोक्खु ण होइ ।
णाण-विज्जिउ जेण जिय मुणिवरु होइ ण सोइ ॥ ८५ ॥
- 217) णाणिहिँ मूढहँ मुणिवरहँ अंतरु होइ महंतु ।
देहु वि मिलइ णाणियउ जीवहँ भिण्णु मुणंतु ॥ ८६ ॥
- 218) लेणहँ इच्छइ मूहु पर भुवणु वि एहु असेसु ।
बहु-विह-धम्म-मिसेण जिय दोहिँ वि एहु विसेसु ॥ ८७ ॥
- 219) चेला-चेली-पुत्थियहिँ तूसइ मूहु णिमंतु ।
एयहिँ लज्जइ णाणियउ बंधहँ हेउ मुणंतु ॥ ८८ ॥
- 220) चट्ठहिँ पट्ठहिँ कुंडियहिँ चेला-चेल्लियएहिँ ।
मोहु जणेविणु मुणिवरहँ उप्पहिँ पाडिय तेहिँ ॥ ८९ ॥
- 221) केण वि अप्पउ वंचियउ सिरु लुंचिवि छारेण ।
सयल वि संग ण परिहरिय जिणवर-लिंग-धरेण ॥ ९० ॥
- 222) ते जिण-लिंग धरेवि मुणि इट्ठ-परिग्गह लेति ।
छदि करेविणु ते जि जिय सा पुणु छदि गिलंति ॥ ९१ ॥
- 223) लाहहँ कित्तिहि कारणिण जे सिव-संगु चयंति ।
खीला-लग्गिवि ते वि मुणि देउलु देउ डहंति ॥ ९२ ॥
- 224) अप्पउ मण्णइ जो जि मुणि गरुयउ गंधहि तत्थु ।
सो परमत्थे जिणु भणइ णवि बुज्झइ परमत्थु ॥ ९३ ॥

214) TKM देहे वसंतउ, c देह वसंतु. 215) Wanting in TKM; c तेण विबोहणु जासु. 216) t तित्थे भमंताह; B and c have अक्खरडा etc. between 215 and 216. 217) Wanting in TKM; c मुणिवरहिँ. 218) Wanting in TKM; c दोहि वि, AB दोहिमि. 219) A चिल्लाचिल्ली, TKM चेलाचेल्लियपोत्थियहिँ; t तूसइ for तूसइ; B मिलइ for लज्जइ. 220) TKM गुंडियहिँ; AB चिल्लाचिल्लियएहिँ. 221) TKM सिरु लुंचुवि, सयल वि, परिहरइ. 222) A लंति; TKM छडि for छदि, तेज्जि for ते जि. 223) c कित्तिह; BCTKM कारणेण; TKM सिव (उ) मग्गु; TKMC खीलालग्गवि, 224) TKM जोज्जि for जो जि. गंधहि गरुइ तत्थु; c णउ for णवि.

- 225) बुज्झंतहँ परमतथु जिय गुरु लहु अत्थि ण कोइ ।
जीवा सयल वि बंधु पर जेण वियाणइ सोइ ॥ ९४ ॥
- 226) जो भत्तउ रयण-त्तयहँ तसु मुणि लक्खणु एउ ।
अच्छउ कहिँ वि कुडिलियइ सो तसु करइ ण भेउ ॥ ९५ ॥
- 227) जीवहँ तिहुयण-संठियहँ मूढा भेउ करंति ।
केवल-णाणि णाणि फुडु सयलु वि एक्कु मुणंति ॥ ९६ ॥
- 228) जीवा सयल वि णाण-मय जम्मण-मरण-विमुक्क ।
जीव-पएसहिँ सयल सम सयल वि सगुणहिँ एक्क ॥ ९७ ॥
- 229) जीवहँ लक्खणु जिणवरहिँ भासिउ दंसण-णाणु ।
तेण ण किज्जइ भेउ तहँ जइ मणि जाउ विहाणु ॥ ९८ ॥
- 230) बंभहँ भुवणि वसंताहँ जे णवि भेउ करंति ।
ते परमप-पयासयर जोइय विमलु मुणंति ॥ ९९ ॥
- 231) राय-दोस बे परिहरिवि जे सम जीव गियंति ।
ते सम-भावि परिट्टिया लहु णिव्वाणु लहंति ॥ १०० ॥
- 232) जीवहँ दंसणु णाणु जिय लक्खणु जाणइ जो जि ।
देह-विभेएँ भेउ तहँ णाणि कि मण्णइ सो जि ॥ १०१ ॥
- 233) देह-विभेयइँ जो कुणइ जीवहँ भेउ विचित्तु ।
सो णवि लक्खणु मुणइ तहँ दंसणु णाणु चरित्तु ॥ १०२ ॥
- 234) अंगइँ सुहुमइँ बादरइँ विहि-वसिँ होंति जे बाल ।
जिय पुणु सयल वि तित्तडा सव्वत्थ वि सय-काल ॥ १०३ ॥
- 235) सत्तु वि मित्तु वि अप्पु पर जीव असेसु वि एइ ।
एक्कु करेविणु जो मुणइ सो अप्पा जाणेइ ॥ १०४ ॥

225) TKM जीवा सयलु वि बम्ह...विजाणइ. 226) TKM परमपयहँ for रयणत्तयहँ ; A कहिमि for कहिवि.
227) TKM तिहुवणे ; BC केवलणाणइ. TKM केवलणाणे ; TKM पुणु for फुडु ; B इक्कु. 228) TKM सयलु
(everywhere) ; C णाणमइ. 229) TKM तहिँ for तहँ. मणे for मणि. 230) Wanting in TKM ; B
बम्हहँ 231) TKM रायदोस बे ; A परिहरेवि, TKM परिहरवि ; TKM जे सम जीव. समभावपरिट्टिया. 232)
TKM देहिहिँ भेयइ भेउ तहिँ णाणि कि मण्णइ सोजि. 233) Wanting in TKM ; C दंसणणाणचरित्तु.
234) TKM विहिक्से. C विहिवसि ; TKM तत्थडा for तित्तडा. 235) Waning in B ; C असेस वि एउ,
जाणेउ for जाणेइ.

- 236) जो णवि मण्णइ जीव जिय सयल वि एक-सहाव ।
तासु ण थकइ भाउ समु भव-सायरि जो णाव ॥ १०५ ॥
- 237) जीवहँ भेउ जि कम्म-किउ कम्म वि जीउ ण होइ ।
जेण विभिण्णउ होइ तहँ कालु लहेविणु कोइ ॥ १०६ ॥
- 238) एकु करे मण विणि करि मं करि वण-विसेसु ।
इकइ देवइ जे वसइ तिहुयणु एहु असेसु ॥ १०७ ॥
- 239) परु जाणंतु वि परम-मुणि पर-संसग्गु चयंति ।
पर-संगइ परमपयहँ लक्खहँ जेण चलंति ॥ १०८ ॥
- 240) जो सम-भावहँ बाहिरउ तिं सहु मं करि संगु ।
चिंता-सायरि पडहि पर अण्णु वि डज्झइ अंगु ॥ १०९ ॥
- 241) भल्लहँ वि णासंति गुण जहँ संसग्ग खलेहि ।
वइसाणरु लोहहँ मिलिउ ते पिट्ठियइ घणेहि ॥ ११० ॥
- 242) जोइय मोहु परिचयहि मोहु ण भल्लउ होइ ।
मोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥ १११ ॥
- 243) काऊण णग्गरुवं बीभस्सं दड्ढ-मडय-सारिच्छं ।
अहिलससि किं ण लज्जसि मिक्खाए भोयणं मिट्ठं ॥ १११*२ ॥
- 244) जइ इच्छसि भो साहू बारह-विह-तवहलं महाविउलं ।
तो मण-वयणे काए भोयण-गिद्धी विवज्जेसु ॥ १११*३ ॥
- 245) जे सरसिं संतुट्ठ-मण विरसि कसाउ वहंति ।
ते मुणि भोयण-घार गणि णवि परमत्थु मुणंति ॥ १११*४ ॥
- 246) रूवि पयंगा सदि मय गय फासहि णासंति ।
अलिउल गंधइ मच्छ रसि किम अणुराउ करंति ॥ ११२ ॥

236) A इक्क, TKM भवसायरे जिव णाव. 237) TKM भेउ वि C तहिं, TKM तहुं for तहं. 238) TKM करि मं ; B एक्कि देविं, TKM एक्के देवे जे ; TKM एउ for एहु. 239) TKM परसंगहि. 240) TKM ते सह मक्करि, चिंतासायरे परिपडहि अण्णु ; A सहो for सह. 241) TKM भल्लहि वि णासंते ; BC खलेण and घणेण. 242) TKM भल्ल 243) Wanting in TKMBC ; Brahmadēva बीभत्थं (च्छं ?) 244) Wanting in TKMBC ; A तवहं फलं 245) Wanting in TKM. 246) TKM रूवे, सदे...पासहि, ABC फासइ ; TKM किं तहिं संतु रमंति for किम अणुराउ करंति.

- 247) जोइय लोहु परिचयहि लोहु ण भल्लउ होइ ।
लोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥ ११३ ॥
- 248) तलि अहिरणि वरि घण-वडणु संडस्सय-लुंचोडु ।
लोहहँ लग्गिवि हुयवहँ पिक्खु पडंतउ तोडु ॥ ११४ ॥
- 249) जोइय णेहु परिचयहि णेहु ण भल्लउ होइ ।
णेहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥ ११५ ॥
- 250) जल-सिंचणु पय-णिदलणु पुणु पुणु पीलण-दुक्खु ।
णेहहँ लग्गिवि तिल-णियरु जंति सहंतउ पिक्खु ॥ ११६ ॥
- 251) ते चिय धण्णा ते चिय सप्पुरिसा ते जियंतु जिय-लोए ।
बोदह-दहम्मि पडिया तरंति जे चेव लीलाए ॥ ११७ ॥
- 252) भोक्खु जि साहिउ जिणवरहिँ छंडिवि बहु-विहु रज्जु ।
भिक्ख-भरोडा जीव तुहँ करहि ण अप्पउ कज्जु ॥ ११८ ॥
- 253) पावहि दुक्खु महंतु तुहँ जिय संसारि भमंतु ।
अट्ट वि कम्मइँ णिदलिवि वच्चहि मुक्खु महंतु ॥ ११९ ॥
- 254) जिय अणु-मित्तु वि दुक्खडा सहण ण सक्हि जोइ ।
चउ-गइ-दुक्खहँ कारणइँ कम्मइँ कुणहि किं तोइ ॥ १२० ॥
- 255) धंधइ पडियउ सयलु जगु कम्मइँ करइ अयाणु ।
भोक्खहँ कारण एक्कु खणु णवि चिंतइ अप्पाणु ॥ १२१ ॥
- 256) जोणि-लक्खइँ परिभमइ अप्पा दुक्खु सहंतु ।
पुत्त-कलत्तहिँ मोहियउ जाव ण णाणु महंतु ॥ १२२ ॥
- 257) जीव म जाणहि अप्पणउँ घरु परियणु तणु इट्ठु ।
कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोइहिँ दिट्ठु ॥ १२३ ॥

247) c सयल जग दुक्ख. 248) Wanting in TKM ; c पिक्ख. 249) Wanting in TKM ; c परिचयह, भल्ला. 250) Wanting in TKM ; c दुक्ख and पिक्ख. 251) BC सउरिसा; TKM बोदहदहम्मि पडिया; Brahmadēva बोदह. 252) TKM छंडिवि बहुविहरज्जु. (A also); TKM भिक्खु भरोडा काइ जिय करहि ण अप्पण कज्जु। 253) TKM संसारे; A णिदलेवि, TKM णिदलवि; AB पावहि for वच्चहि; TKM अणंतु for महंतु. 254) TKM अणुमेत्त वि, सहण ण सक्हि लोउ, कम्मइ करहि जि ताइ. 255) TKM दंदे (धंधे ?), अजाण. 256) TKM जोणिहि लक्खहि, BC जोणिहि लक्खइँ; TKM ताण ण बोहु महंतु (last foot). 257) TKM जिय म जाणहि; c जाणिहि; TKM आगमे

- 258) मुक्खु ण पावहि जीव तुहुँ घरु परियणु चिंतंतु ।
तो वरि चिंतहि तउ जि तउ पावहि मोक्खु महंतु ॥ १२४ ॥
- 259) मारिवि जीवहँ लक्खडा जं जिय पाउ करीसि ।
पुत्त-कलत्तहँ कारणइँ तं तुहुँ एक्कु सहीसि ॥ १२५ ॥
- 260) मारिवि चूरिवि जीवडा जं तुहुँ दुक्खु करीसि ।
तं तह पासि अणंत-गुणु अवसइँ जीव लहीसि ॥ १२६ ॥
- 261) जीव वहतहँ णरय-गइ अभय-पदाणेँ सगु ।
वे पह जवला दरिसिया जहिँ रुच्चइ तहिँ लगु ॥ १२७ ॥
- 262) मूढा सयलु वि कारिमउ भुल्लउ मं तुस कंडि ।
सिक्ख-पहि णिम्मलि करहि रइ घरु परियणु लहु छंडि ॥ १२८ ॥
- 263) जोइय सयलु वि कारिमउ णिकारिमउ ण कोइ ।
जीवि जंति कुडि ण गय इहु पडिछंदा जोइ ॥ १२९ ॥
- 264) देउलु देउ वि सत्थु गुरु तित्थु वि वेउ वि कब्बु ।
वच्छु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥ १३० ॥
- 265) एक्कु जि मेळिवि बंभु परु भुवणु वि एहु असेसु ।
पुहविहिँ णिम्मिउ भंगुरउ एहुउ बुज्झि विसेसु ॥ १३१ ॥
- 266) जे दिट्ठा सूरुग्गमणि ते अत्थवणि ण दिट्ठ ।
तेँ कारणिँ वढ धम्मु करि धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ ॥ १३२ ॥
- 267) धम्मु ण संघिउ तउ ण किउ रुक्खेँ चम्ममएण ।
खज्जिवि जर-उद्देहियए णरइ पडिच्चउ तेण ॥ १३३ ॥
- 268) अरि जिय जिण-पइ भत्ति करि सुहि सज्जणु अवहेरि ।
तिं बप्पेण वि कज्जु णवि जो पाडइ संसारि ॥ १३४ ॥
- 269) अरे जिउ सोक्खे मग्गसि धम्मे अलसिय ।
पक्खेँ विणु केँव उडुण मग्गेसि मंडय दंडसिय ॥ १३४*१ ॥

258) c मोक्ख, TKM मोक्खु ; TKM चिंतंतु ता परु चिंतहि, पाविय जेहु महंतु. 259) c कारणिण, K कारणेण. 260) TKM मारवि चूरवि, अवसे जीव लहेसि. 261) AB अभयपदार्णि; TKM भावहि for रुच्चइ, 262) Wanting in TKM ; c मा for मं. 263) Wanting in TKM ; A जीवे जंते. 264) AC सत्थ गुरु. 265) TKM मेळवि बंभु परु भुवण वि ; c वरु for परु ; TKM पुहुइविणिम्मिउ...बुज्झ. 266) TKM अत्थवणे, कारणे वढु, धणे जोव्वणे. 267) TKM णरए पडणउ तेण. 268) Wanting in TKM. 269) Only in BC.

- 270) जेण ण चिण्णउ तवयरणु णिम्मलु चित्तु करेवि ।
अप्पा वंचित तेण पर माणुस-जम्मु लहेवि ॥ १३५ ॥
- 271) ए पंचिदिय-करहडा जिय मोक्कला म चारि ।
चरिवि असेसु वि विसय-वणु पुणु पाडहिँ संसारि ॥ १३६ ॥
- 272) जोइय विसमी जोय-गइ मणु संठवण ण जाइ ।
इंदिय-विसय जि सुक्खडा तित्थु जि बलि बलि जाइ ॥ १३७ ॥
- 273) सो जोइउ जो जोगवइ दंसणु णाणु चरित्तु ।
होयवि पंचहँ बाहिरउ ज्ञायंतउ परमतु ॥ १३७*५ ॥
- 274) विसय-सुहइँ बे दिवहडा पुणु दुक्खहँ परिवाडि ।
मुल्लउ जीव म वाहि तुहुँ अप्पण खंधि कुहाडि ॥ १३८ ॥
- 275) संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउँ हउँ तासु ।
सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु ॥ १३९ ॥
- 276) पंचहँ णायकु वसिकरहु जेण होति वसि अण्ण ।
मूल विणट्टइ तरु-वरहँ अवसइँ सुकहिँ पण्ण ॥ १४० ॥
- 277) पण्ण ण मारिय सोयरा पुणु छट्टउ चंडालु ।
माण ण मारिय अप्पणउ केँव छिज्जइ संसारु ॥ १४०*१ ॥
- 278) विसयासत्तउ जीव तुहुँ कित्तु कालु गमीसि ।
सिव-संगमु करि णिच्चलउ अवसइँ मुक्खु लहीसि ॥ १४१ ॥
- 279) इहु सिव-संगमु परिहरिवि गुरुवड कहिँ वि म जाहि ।
जे सिव-संगमि लीण णवि दुक्खु सहंता वाहि ॥ १४२ ॥
- 280) कालु अणाइ अणाइ जिउ भव-सायरु वि अणंतु ।
जीवि बिण्णि ण पत्ताइँ जिणु सामिउ सम्मत्तु ॥ १४३ ॥

270) Wanting in TKM, c तवचरणु. 271) Wanting in TKM ; c असेस वि. 272) Wanting in TKM ; A संठवणु, BC बलि बलि तित्थु जि जाइ. 273) Wanting in TKMB. 274) Wanting in TKM ; c अप्पा खंधि. 275) Wanting in TKM ; Brahmadēva जो for जु, c दइवेणु. 276) Wanting in TKM. 277) Only in P, P. अप्पणु 278) In TKM this comes after 280 ; BC अवसइँ मोक्ख. 279) Wanting in TKM ; BC एहु for इहु. 280) TKM जीवे बेण्णि ण पत्ताइँ सिउ संगउ सम्मत्तु ; c जिणसामिउ ; Brahmadēva सिवसंगमु सम्मत्तु.

- 281) घर-वासउ मा जाणि जिय दुक्किय-वासउ एहु ।
पासु कयंते^१ मंडियउ अविचलु णिस्संदेहु ॥ १४४ ॥
- 282) देहु वि जित्थु ण अप्पणउ तहि^२ अप्पणउ किं अणु ।
पर-कारणि मण गुरुव तुहु^३ सिव-संगसु अवगण्णु ॥ १४५ ॥
- 283) करि सिव-संगसु एक्कु पर जहि^४ पाविज्जइ सुक्खु ।
जोइय अणु म चित्ति तुहु^५ जेण ण लब्भइ सुक्खु ॥ १४६ ॥
- 284) बलि किउ माणुस-जम्मडा देक्खंतह^६ पर सारु ।
जइ उट्ठभइ तो कुइइ अह डज्झइ तो छारु ॥ १४७ ॥
- 285) उव्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सु-मिट्ठाहार ।
देहह^७ सयल णिरत्थ गय जिमु दुज्जणि उवयार ॥ १४८ ॥
- 286) जेहुउ जज्जरु णरय-घरु तेहुउ जोइय काउ ।
णरइ णिरंतरु पूरियउ किम किज्जइ अणुराउ ॥ १४९ ॥
- 287) दुक्खइ^८ पावइ^९ असुचियइ^{१०} ति-हुयणि सयलइ^{११} लेवि ।
एयहि^{१२} देहु विणिम्मियउ विहिणा वइरु मुणेवि ॥ १५० ॥
- 288) जोइय देहु घिणावणउ लज्जहि किं ण रमंतु ।
णाणिय धम्मं रइ करहि अप्पा विमलु करंतु ॥ १५१ ॥
- 289) जोइय देहु परिचयहि देहु ण भल्लउ होइ ।
देह-विभिण्णउ णाणमउ सो तुहु^{१३} अप्पा जोइ ॥ १५२ ॥
- 290) दुक्खह^{१४} कारणु मुणिवि मणि देहु वि एहु चयंति ।
तित्थु ण पावहि^{१५} परम-सुहु तित्थु कि संत वसंति ॥ १५३ ॥
- 291) अप्पायत्तउ जं जि सुहु तेण जि करि संतोसु ।
पर सुहु वढ चितंतह^{१६} हियइ ण फिट्ठइ सोसु ॥ १५४ ॥
- 292) अप्पह^{१७} णाणु परिचयवि अणु ण अत्थि सहाउ ।
इउ जाणेविणु जोइयहु परह^{१८} म बंधउ राउ ॥ १५५ ॥

281) Wanting in TKM ; c पास कियंति; BC णीसंदेहु. 282) Wanting in TKM ; c तिह अप्पणउ कि. 283) Wanting in TKM. 284) Wanting in TKM. 285) TKM चोव्वलि चेदु; TKM सयलु वि देहे णिरत्थ गय जिव दुज्जण उवयार. c also दुज्जणउवयार. 286) TKM किव किज्जइ तहि राउ. 287) TKM तिहुवणे. 288) TKM लज्जइ; c धम्मइ, Brahmadēva धम्मि; TKM मुणंतु for करंतु 289) Wanting in TKM ; B भल्ल. 290) Wanting in TKM ; c पावइ. 291) Wanting in TKM. 292) Wanting in TKM.

- 293) विसय-कसायहिँ मण-सलिलु णवि डहुलिज्जइ जासु ।
अप्पा णिम्मलु होइ लहु वढ पच्चक्खु वि तासु ॥ १५६ ॥
- 294) अप्पह परह परंपरह परमप्यउह समाणु ।
परु करि परु करि परु जि करि जइ इच्छइ णिव्वाणु ॥ १५६*१ ॥
- 295) अप्पा परहँ ण मेलविउ मणु मारिवि सहस त्ति ।
सो वढ जोएँ किं करइ जासु ण एही सत्ति ॥ १५७ ॥
- 296) अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु जे शायहिँ श्हाणु ।
वढ अण्णाण-वियंभियहँ कउ तहँ केवल-णाणु ॥ १५८ ॥
- 297) सुण्णउँ पउँ शायंताहँ वलि वलि जोइयडाहँ ।
समरसि-भाउ परेण सहु पुण्णु वि पाउ ण जाहँ ॥ १५९ ॥
- 298) उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु ।
वलि किज्जउँ तसु जोइयहिँ जासु ण पाउ ण पुण्णु ॥ १६० ॥
- 299) तुइइ मोहु तडित्ति जहिँ मणु अत्थवणहँ जाइ ।
सो सामिय उवएसु कहि अण्णे देवि काइँ ॥ १६१ ॥
- 300) णास-विणिग्गउ सासडा अंवरि जेत्थु विलाइ ।
तुइइ मोहु तड त्ति तहिँ मणु अत्थवणहँ जाइ ॥ १६२ ॥
- 301) मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुइइ सासु-णिसासु ।
केवल-णाणु वि परिणमइ अंवरि जाहँ णिवासु ॥ १६३ ॥
- 302) जो आयासइ मणु धरइ लोयालोय-पमाणु ।
तुइइ मोहु तड त्ति तसु पावइ परहँ पवाणु ॥ १६४ ॥
- 303) देहि वसंतु वि णवि मुण्डिउ अप्पा देउ अणंतु ।
अंवरि समरसि मणु धरिवि सामिय णट्ठु णिभंतु ॥ १६५ ॥
- 304) सयल वि संग ण मिल्हिया णवि किउ उवसम-भाउ ।
सिव-पय-मग्गु वि मुण्डिउ णवि जहिँ जोइहिँ अणुराउ ॥ १६६ ॥

293) c विसयकसायहँ ; TK मणु सलिलु, डहुणिज्जइ, जि तासु. 294) Only in P, जो for जइ. 295) Wanting in TKM ; B मोलविउ, c परहु ण मेलिविउ. 296) Wanting in TKM ; c शायहि. 297) Wanting in TKM ; c सुहु for सहु. 298) Wanting in TKM ; c जोइयहँ. 299) Wanting in TKM ; c जिहँ for जहिँ, B अत्थवणहो. 300) Wanting in TKM ; B अत्थवणहो. 301) Wanting in TKM ; B जाहिँ for जाहँ. 302) Wanting in TKM. 303) Wanting in TKM ; c धरवि. 304) TKM मेल्लिया. last pāda किव होसइ सिवलाहु.

- 305) घोरु ण चिण्णउ तव-चरणु जं णिय-बोहहँ सारु ।
पुण्णु वि पाउ वि दड्डु णवि किमु छिज्जइ संसारु ॥ १६७ ॥
- 306) दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहँ ण वि पुज्जिउ जिण-णाहु ।
पंच ण वंदिय परम-गुरु किमु होसइ सिव-लाहु ॥ १६८ ॥
- 307) अट्ठुम्मीलिय-लोयणिहिँ जोउ कि झंपियएहिँ ।
एमुइ लब्भइ परम-नाइ णिच्चित्तिं ठियएहिँ ॥ १६९ ॥
- 308) जोइय मिल्हहि चित्त जइ तो तुइइ संसारु ।
चित्तासत्तउ जिणवरु वि लहइ ण हंसाचारु ॥ १७० ॥
- 309) जोइय दुम्मइ कवुण तुहँ भव-कारणि ववहारि ।
बंभु पवंचहिँ जो रहिउ सो जाणिवि मणु मारि ॥ १७१ ॥
- 310) सच्चहिँ रायहिँ छहिँ रसहिँ पंचहिँ रूवहिँ जंतु ।
चित्तु णिवारिवि झाहि तुहँ अप्पा देउ अणंतु ॥ १७२ ॥
- 311) जेण सरूविं झाइयइ अप्पा एहु अणंतु ।
तेण सरूविं परिणवइ जह फलिहउ-मणि मंतु ॥ १७३ ॥
- 312) एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्म-विसेसँ जायउ जप्पा ।
जामइँ जाणइ अप्पेँ अप्पा तामइँ सो जि देउ परमप्पा ॥ १७४ ॥
- 313) जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु ।
जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु ॥ १७५ ॥
- 314) णिम्मल-फलिहहँ जेम जिय भिण्णउ परकिय-भाउ ।
अप्प-सहावहँ तेम मुणि सयल्लु वि कम्म-सहाउ ॥ १७६ ॥
- 315) जेम सहाविं णिम्मलउ फलिहउ तेम सहाउ ।
भंतिए मइल्लु म मणि जिय मइल्लु देक्खवि काउ ॥ १७७ ॥
- 316) रत्त वत्थेँ जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु ।
देहिँ रत्तिं णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥ १७८ ॥

305) Wanting in B ; TKM जेण ण संचिउ तवचरणु, किं तुइइ संसारु (last foot). 306) Wanting in TKM. 307) C झंपिउ एउ ; TKM एवहिँ for एमुइ, णिच्चित्ते. 308) TKM मेल्हहि चित्तु जइ ता, सच्चजयु for जिणवरु वि. 309) TKM कवणु तुहँ भवकारणे ववहारु ; A कवण ; TKMC जाणवि. 310) In TKM हिँ is represented by इ in this verse, and the last line is अप्पा परमु मुणंतु. 312) TKM जावहिँ जाणिउ...तावहिँ ; C जाणे for जाणइ. 313) C जो हँ for जो हउँ, TKM पर for परु, णिरुत्तु for णिभंतु, 314) TKM जेव, परकिउ, तेव. 315) TKM जेव and तेव ; BTKM सहावेँ ; A दिक्खवि, TKM देक्खवि. 316) Wanting in TKM.

- 317) जिणिं वत्थि जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु ।
देहिं जिणिं णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ॥ १७९ ॥
- 318) वत्थु पणदइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठु ।
णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ॥ १८० ॥
- 319) भिण्णउ वत्थु जि जेम जिय देहहँ मण्णइ णाणि ।
देहु वि भिण्णउँ णाणि तहँ अप्पहँ मण्णइ जाणि ॥ १८१ ॥
- 320) इहु तणु जीवड तुज्झ रिउ दुक्खइँ जेण जणेइ ।
सो पर जाणहि मिच्चु तुहुँ जो तणु एहु हणेइ ॥ १८२ ॥
- 321) उदयइँ आणिवि कम्म मइँ जं भुंजेवउ होइ ।
तं सइ आविउ खविउ मइँ सो पर लाहु जि कोइ ॥ १८३ ॥
- 322) णिट्ठुर-वयणु सुणेवि जिय जइ मणि सहण ण जाइ ।
तो लहु भावहि वंभु पर जिं मणु झत्ति विलाइ ॥ १८४ ॥
- 323) लोउ विलक्खणु कम्म-वसु इत्थु भवंतरि एइ ।
चुज्जु कि जइ इहु अप्पि ठिउ इत्थु जि भवि ण पडेइ ॥ १८५ ॥
- 324) अवगुण-गहणइँ महुतणइँ जइ जीवहँ संतोसु ।
तो तहँ सोक्खहँ हेउ हउँ इउ मण्णिवि चइ रोसु ॥ १८६ ॥
- 325) जोइय चित्ति म किं पि तुहुँ जइ बीहउ दुक्खस्स ।
तिल-तुस-मिच्चु वि सल्लडा वेयण करइ अवस्स ॥ १८७ ॥
- 326) मोक्खु म चित्तिहो जोइया मोक्खु ण चित्तिउ होइ ।
जेण णिवद्धउ जीवडउ मोक्खु करेसइ सोइ ॥ १८८ ॥
- 327) परम-समाहि-महा-सरहिँ जे बुड्ढहिँ पइसेवि ।
अप्पा थकइ विमलु तहँ भव-मल जंति वहेवि ॥ १८९ ॥
- 328) सयल-वियप्पहँ जो विलउ परम-समाहि भणंति ।
तेण सुहासुह-भावडा मुणि सयल वि मेळंति ॥ १९० ॥

317) Wanting in TKM. 318) Wanting in TKM ; A जेम् for जेम 319) Wanting in TKM. 320) TKM एहु, B एउ C इउ for इहु 321) TKM आणवि, ते जइ आयउ; C वि for जि. 322) TKM णिट्ठुरवयणइँ सुणवि, मणु सहणु; B णिट्ठुर; C जउ for जि; TKM झडिदि for झत्ति 323) Wanting in TKM; C विअक्खणु, BC एत्थु, चोज्जु. 324) TKM गहणहि महुणहँ, एउ मण्णवि चइ दोसु. 325) TKM किंचि for किं पि, भीहहि, मेत्तु वि. 326) C करेसइ; TKM सोवि. 327) C सरिहि; TKM पविसेवि, तहिँ for तहँ. 328) TKM भावडउ, सयल वि.

- 329) घोरु करंतु वि तव-चरणु सयल वि सत्थ मुणंतु ।
परम-समाहि-विचज्जियउ णवि देक्खइ सिउ संतु ॥ १९१ ॥
- 330) विसय-कसाय वि णिदलिवि जे ण समाहि करंति ।
ते परमप्पहँ जोइया णवि आराहय होंति ॥ १९२ ॥
- 331) परम-समाहि धरेवि मुणि जे परबंभु ण जंति ।
ते भव-दुक्खइ बहुविहहँ कालु अणंतु सहंति ॥ १९३ ॥
- 332) जामु सुहासुह-भावडा णवि सयल वि तुटंति ।
परम-समाहि ण तामु मणि केवुलि एमु भणंति ॥ १९४ ॥
- 333) सयल-वियप्पहँ तुट्टाहँ सिव-पय-मग्गि वसंतु ।
कम्म-चउक्कइ विलउ गइ अप्पा हुइ अरहंतु ॥ १९५ ॥
- 334) केवल-णाणि अणवरउ लोयालोउ मुणंतु ।
णियमेँ परमाणंदमउ अप्पा हुइ अरहंतु ॥ १९६ ॥
- 335) जो जिणु केवल-णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।
सो परमप्पउ परम-परु सो जिय अप्प-सहाउ ॥ १९७ ॥
- 336) सयलहँ कम्महँ दोसहँ वि जो जिणु देउ विभिण्णु ।
सो परमप्प-पयासु तुहँ जोइय णियमेँ मण्णु ॥ १९८ ॥
- 337) केवल-दंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि अणंतु ।
सो जिण-देउ वि परम-मुणि परम-पयासु मुणंतु ॥ १९९ ॥
- 338) जो परमप्पउ परम-पउ हरि हरु बंभु वि बुद्धु ।
परम-पयासु भणंति मुणि सो जिण-देउ विसुद्धु ॥ २०० ॥
- 339) झाणेँ कम्म-क्खउ करिवि मुक्कउ होइ अणंतु ।
जिणवरदेवई सो जि जिय पभणिउ सिद्ध महंतु ॥ २०१ ॥

329) B तवचरणु; TKM सयलवि सत्थु पढंतु; TKM देक्खइ, C देषइ. 330) TKM णिदलिवि. 331) TKM परबंभु. 332) AB जाम्ब, एम्ब (for एमु); TKM जाव, °भावडउ, केवलि एहु. 333) TKM तुट्टाहि, °मग्गे; C चउक्कइ TKM चउक्के विलउ गए; ATKM होइ. 334) TKM °णाणे, C णाणइ; C नियमई; TKM होइ. 335) Wanting in TKM; BC परमाणंदमउ. केवलणाणसहाउ After this C has an additional verse which is the same as the one quoted in the Com. on this verse. 336) TKM सयलहिं कम्महिं दोसहिं; A जिणदेउ; C नियमिं. 337) BC °दंसणणाणु; TKM सुहु वीरिय जोज्जि. 338) Wanting in TKM. 339) AC झाणिं; TKM कम्मह खउ करिवि, जिणवरदेवई, भणियउ for पभणिउ.

- 340) अणु वि बंधु वि तिहुयणहँ सासय-सुक्ख-सहाउ ।
तिथु जि सयलु वि कालु जिय णिवसइ लद्ध-सहाउ ॥ २०२ ॥
- 341) जम्मण-भरण-विवज्जियउ चउ-गइ-दुक्ख-विमुक्कु ।
केवल-दंसण-णाणमउ णंदइ तिथु जि मुक्कु ॥ २०३ ॥
- 342) अंतु वि गंतुवि तिहुवणहँ सासय-सोक्ख-सहाउ ।
तेत्थु जि सयलु वि कालु जिय णिवसइ लद्ध-सहाउ ॥ २०३*१ ॥
- 343) जे परमप-पयासु मुणि भाविं भावहिँ सत्थु ।
मोहु जिणेविणु सयलु जिय ते बुज्झहिँ परमत्थु ॥ २०४ ॥
- 344) अणु वि भत्तिए जे मुणहिँ इहु परमप-पयासु ।
लोयालोय-पयासयरु पावहिँ ते वि पयासु ॥ २०५ ॥
- 345) जे परमप-पयासयहं अणुदिणु णाउ लयंति ।
तुइइ मोहु तड त्ति तहँ तिहुयण-णाह हवंति ॥ २०६ ॥
- 346) जे भव-दुक्खहँ बीहिया पउ इच्छहिँ णिव्वाणु ।
इह परमप-पयासयहँ ते पर जोग्ग वियाणु ॥ २०७ ॥
- 347) जे परमपहँ भत्तियर विसय ण जे वि रमंति ।
ते परमप पयासयहँ मुणिवर जोग्ग हवंति ॥ २०८ ॥
- 348) णाण-वियक्खणु सुद्ध-मणु जो जणु एहउ कोइ ।
सो परमप-पयासयहँ जोग्गु भणंति जि जोइ ॥ २०९ ॥
- 349) लक्खण-छंद-विवज्जियउ एहु परमप-पयासु ।
कुणइ सुहावई भावियउ चउ-गइ-दुक्ख-विणासु ॥ २१० ॥
- 350) इत्थु ण लेवउ पंडियहिँ गुण-दोसु वि पुणरुत्तु ।
मट्ट-पभायर-कारणई मई पुणु पुणु वि पउत्तु ॥ २११ ॥
- 351) जं मई किं पि विजंपियउ जुत्ताजुत्तु वि इत्थु ।
तं वर-णाणि खमंतु महु जे बुज्झहिँ परमत्थु ॥ २१२ ॥

340) TKM अंतु वि गंतुवि, *सोक्ख ; C सासइ for सासय ; TKM तेत्थु जि. 341) TKM णंदउ तेत्थु विमुक्कु. 342) Only in P, P. गंतु जि. 343) TKM भावे भावइ सत्थु ; C भावइ ; TKM बुज्झइ. 344) Wanting in TKM ; C एहु for इहु ; A पावहि. 345) Wanting in TKM ; C तिहँ for तहँ. 346) Wanting in TKM. 347) Wanting in TKM ; C विसइ ण. 348) Wanting in TKM ; C भणंतु वि. 349) Wanting in TKM. 350) Wanting in TKM. 351) Wanting in TKM ; C जं मइ किं पि ण जंपियउ ; BC वियत्थु for वि इत्थु.

- 352) जं तत्तं गाण-रूवं परम मुणि-गणा णिच्च झायंति चित्ते
 जं तत्तं देह-वत्तं णिवसइ भुवणे सब्ब-देहीण देहे ।
 जं तत्तं दिव्व-देहं तिहुवण-गुरुगं सिज्झए संत-जीवे
 तं तत्तं जस्स सुद्धं फुरइ णिय-मणे पावए सो हि सिद्धिं ॥ २१३ ॥
- 353) परम-पय-गयाणं भासओ दिव्व-काओ
 मणसि मुणिवराणं मुक्खदो दिव्व-जोओ ।
 विसय-सुह-रयाणं दुल्लहो जो हु लोए
 जयउ सिव-सरूवो केवलो को वि बोहो ॥ २१४ ॥



352) A दिव्वदेहे; AC गुरुवं; B गुरवं; B सो हु. 353) TKM कोई for को वि.

परमात्मप्रकाशदोहादीनां वर्णानुक्रमसूची

Here is an alphabetical Index of all the Dōhās of P.-prakāśa. The English numerals in the first column refer to the serial numbers of all the Dōhās which are printed separately in this edition. The Dēvanāgarī numerals refer to the Adhikāra and the number of the Dōhā therein. Those numbers which are accompanied by P and TKM are also found quoted in the Introduction on pp. 4-6.

		अ. दो.			अ. दो.
अच्छइ जित्तिउ	167	२-३८	अप्पादंसणि	120	१-११८
अट्ट वि कम्मइं	56	१-५५	अप्पा दंसणु केवल्लु	98	१-९६
अट्टहं कम्महं	77	१-७५	अप्पा परहं ण	294	२-१५७
अणु जइ जगहं	133	२-६	अप्पा पंगुह	68	१-६६
अणु जि तित्थु म	97	१-९५	अप्पा पंडिउ सुक्खु	93	१-९१
अणु जि दंसणु	96	१-९४	अप्पा बंभणु वइसु	89	१-८७
अणु वि दोसु	174	२-४५	अप्पा बुज्झहि	59	१-५८
अणु वि दोसु	175	२-४६	अप्पा माणुसु देउ	92	१-९०
अणु वि बंधु वि	340	२-२०२	अप्पा मिळिवि	208	२-७७
अणु वि भत्तिए	344	२-२०५	अप्पा मिळिवि णाणमउ	209	२-७८
अत्थि ण उक्कमउ	71	१-६९	अप्पा मेळिवि	76	१-७४
अत्थि ण पुण्णु	21	१-२१	अप्पा मेळिवि णाण	295	२-१५८
अद्धुम्मीलियल्लोयणिहिं	307	२-१६९	अप्पायत्तउ जं जि	291	२-१५४
अप्पउ मण्णइ जो	224	२-९३	अप्पा लद्धउ	15	१-१५
अप्पसहावि	102	१-१००	अप्पा वंदउ	90	१-८८
अप्पसहावि जासु	165	P-२-३६*२	अप्पा संजमु सीलु	95	१-९३
अप्पह परह	294	P-२-१५६*१	अप्पि अप्पु सुणंतु	78	१-७६
अप्पहं जे वि	108	१-१०६	अप्पु पयासइ	103	१-१०१
अप्पहं णाणु	292	२-१५५	अप्पु वि परु वि	105	१-१०३
अप्पा अप्पु जि	69	१-६७	अमणु अर्णिदिउ	31	१-३१
अप्पा कम्मविज्झिअउ	53	१-५२	अरि जिय जिणपइ	268	२-१३४
अप्पा गुणमउ	160	२-३३	अरे जिउ सोक्खे	269	P-२-१३४*१
अप्पा गुरु णवि	91	१-८९	अवगुणमहणइं	324	२-१८६
अप्पा गोरउ किण्हु	88	१-८६	अंगइं सुहुमइं	234	२-१०३
अप्पा जणियउ केण	57	१-५६	अंतु वि गंतु	341	P-२-२०३*१
अप्पा जोइय	52	१-५१			
अप्पा ज्ञायहि	99	१-९७	इत्थु ण लेवउ पंडियहिं	350	२-१११
अप्पा णाणहं गम्मु	109	१-१०७	इहु तणु जीवड	320	२-१८२
अप्पा णाणु सुणेहिं	107	१-१०५	इहु सिवसंगमु	279	२-१४२
अप्पा णियमणि	100	१-९८	उत्तमु सुक्खु ण	132	२-५
अप्पा तिविहु	12	१-१२	उत्तमु सुक्खु ण	134	२-७

		अ. क्षो.			अ. क्षो.
उदयहं आणिवि कम्मु	321	२-१८३	चउगइदुक्खहं	10	१-१०
उव्वलि चोप्पडि	285	२-१४८	चइहिं पइहिं	220	२-८९
उव्वस वसिया जो	298	२-१६०	चेलाचेल्लीपुत्थियहिं	219	२-८८
एक्कु करे मण विणिण	238	२-१०७	छिज्जउ भिज्जउ	74	१-७२
एक्कु जि मेल्लिवि	265	२-१३१	जइ इच्छसि भो	244	२-१११*३
ए पंचिदियकरहडा	271	२-१३६	जइ जिय उत्तमु	131	२-४
एयइं दव्वइं	153	२-२६	जइ निविसद्धु	248	१-११४
एयहिं जुत्तउ	25	१-२५	जणणी जणणु वि	85	१-८३
एहु जो अप्पा	312	२-१७४	जम्मणमरणविवज्जिउ	341	२-२०३
एहु ववहारें	61	१-६०	जलसिचणु पयणिहलणु	250	२-११६
कम्मइं दिठघण-	80	१-७८	जसु अब्भंतरी	41	१-४१
कम्मणिबद्धु वि	36	१-३६	जसु परमर्थे	46	१-४६
कम्मणिबद्धु वि	50	१-४९	जसु हरिणच्छी	123	१-१२१
कम्महं केरा भावडा	75	१-७३	जहिं भावइ तहिं	200	२-७०
कम्महिं जासु	49	१-४८	जहिं मइ तहिं	114	१-११२
कम्म पुरक्किउ सो	168	२-३९	जं जइ थक्कउ	156	२-२९
करि सिवसंगमु	283	२-१४६	जं गियदव्वहं	115	१-११३
काऊण णमगरूवं	243	२-१११*२	जं गियबोहहं	206	२-७५
कायकिल्लेसे पर	164	P-२-३६*१	जं तत्तं णाणरूवं	352	२-२१३
कारणविरहिउ	55	१-५४	जं बोळइ ववहार-	141	२-१४
कालु अणाइ अणाइ	280	२-१४३	जं मइं कि पि विजपियउ	351	२-२१२
कालु मुणिज्जहि	148	२-२१	जं मुणि लहइ	119	१-११७
कालु लहेविणु	87	१-८५	जं सिवदंसणि	118	१-११६
कि वि भणंति	51	१-५०	जाणवि मण्णवि	157	२-३०
केण वि अप्पउ	221	२-९०	जा गिसि सयलहं	176	२-४६*१
केवलणाणि अणवरउ	334	२-१९६	जासु सुहासुहभावडा	332	२-१९४
केवलदंसणणाणमउ	24	१-२४	जांवइ णाणिउ	170	२-४१
केवलदंसणाणमय	6	१-६	जासु ण कोहु ण	20	१-२०
केवलदंसणु णाणु	337	२-१९९	जासु ण धारणु	22	१-२२
गउ संसारि	9	१-९	जासु ण वण्णु ण	19	१-१९
गयणि अणंति	38	१-३८	जिउ मिच्छत्ते	81	१-७९
गंधहं उप्परि	179	२-४९	जिणिं वत्थि जेम	317	२-१७९
घरवासउ मा जाणि	281	२-१४४	जित्थु ण इंदिय	28	१-२८
घोर करंतु वि	329	२-१९१	जिय अणुमित्तु वि	254	२-१२०
घोर ण चिण्णउ	305	२-१६७	जीउ वि पुग्गु	149	२-२२
			जीउ सचेयणु	144	२-१७

	अ. दो.		अ. दो.
जीव म जाणहि	257	जोइय दुम्मइ कवुण	309
जीव वहुतह णरय	261	जोइय देहु	288
जीवहं कम्म अणाइ	60	जोइय देहु	289
जीवहं तिहुयण	227	जाइय भिलहि	308
जीवहं दंसणु णाणु	232	जोइय मोक्खु वि	129
जीवहं भेउ जि	237	जोइय मोहु परिच्चयहि	242
जीवहं मोक्खहं हेउ	139	जोइय लोहु परिच्चयहि	247
जीवहं लक्खणु	229	जोइय विसमी जोय-	272
जीवहं सो पर	137	जोइय विदहि	39
जीवाजीव म	30	जोइय सयलु वि	263
जीवा सयल वि	228	जो जाणइ सो	47 TKM-१-४६*१
जे जाया आणग्गियए	1	जो जित हेउ	40
जे जिणल्लिगु धरेवि	222	जो जिणु केवलणाण-	335
जेण कसाय हवति	171	जो णवि मण्णइ	185
जेण ण चिण्णउ	270	जो णवि मण्णइ	236
जेण गिरंजणि	127	जो गियकरणहि	45
जेण सरुवि आइयइ	311	जो गियभाउ ण	18
जें गियबोह-	54	जोणिलक्खइ परिभमइ	256
जे दिट्ठा सूखगमणि	266	जो परमत्थे	37
जें दिट्ठे तुट्ठति	27	जो परमत्थउ परम-	338
जे परमत्थपयासयहं	345	जो परमत्था णाणमउ	313
जे परमत्थपयासु	343	जो भत्तउ रयणत्तयहं	158
जे परमत्थहं भत्तियर	347	जो भत्तउ रयणत्तयहं	226
जे परमत्थु गियंति	7	जो समभावपरिद्धियहं	35
जे भवदुक्खहं बीहिया	346	जो समभावहं	240
जेम सहावि णिम्मलउ	315	आणें कम्मक्खउ	339
जे रयणत्तउ	159	ण वि उप्पज्जइ	70
जे सरसिं संतुट्ठ-	245	णाणवियक्खणु सुद्धमणु	348
जेहउ जज्जं णरय-	286	णाणविहीणहं	204
जेहउ जिम्मलु	26	णाणिय णाणिउ	110
जो अणुमेत्तु	212	णाणि सुएप्पिणु भाउ	177
जो आयासइ मणु	302	णाणिहि मूढहं	217
जोइज्जइ तिं	111	णाणु पयासहि	106
जोइय अपे	101	णासविणिग्गउ सासडा	300
जोइय चिति म	3	णिच्छु गिरंजणु	17
जो गियदंसण-	189	णिट्ठुरवयणु सुणेवि	322
जोइय गियमणि	121	णिम्मलक्खिहं जेम	314
जोइय णेहु परिच्चयहि	249		

		અ. દો.			અ. દો.
નિયમણિ નિમ્મલિ	124	૧-૧૨૨	દેવહં સત્થહં	191	૨-૬૧
નિયમેં કહિયડ	155	૨-૨૮	દેવહં સત્થહં...જો	192	૨-૬૨
ખેયાભાવે વિલિ	48	૧-૪૭	દેહવિભિણ્ણ	14	૧-૧૪
તત્તાત્તુ મુણેવિ	172	૨-૪૩	દેહવિમેયઈં જો	233	૨-૧૦૨
તરુણડ બૂઢડ	84	૧-૮૨	દેહહં ઉપ્પરિ	181	૨-૫૧
તંલિ અહિરણિ વરિ	248	૨-૧૧૪	દેહહં ઉન્નમડ	72	૧-૭૦
તં નિયણાણુ જિ	207	૨-૭૬	દેહહં પેક્કિલિ	73	૧-૭૧
તં પરિયાણહિં દલ્લુ	58	૧-૫૭	દેહાદેવલિ	33	૧-૩૩
તારાયણુ જલિ	104	૧-૧૦૨	દેહાદેહાઈં જો	29	૧-૨૧
તિત્થઈં તિત્થુ	216	૨-૮૫	દેહિં વસંતુ ત્રિ	42	૧-૪૨
તિહુયણવંદિડ	16	૧-૧૬	દેહિં વસંતુ ત્રિ ણત્રિ	303	૨-૧૬૫
તિહુયણિ જીવહં	136	૨-૯	દેહિં વસંતે	44	૧-૪૪
તુદ્દઈં મોહુ તલ્લિત્તિ	299	૨-૧૬૧	દેહુ ત્રિ જિત્થુ	282	૨-૧૪૫
તે ચિય ધણ્ણા તે	251	૨-૧૧૭	દેહે વસંતુ ત્રિ	34	૧-૩૪
તે પુણુ જીવહં	62	૧-૬૧	ધમ્મહં અત્થહં	130	૨-૩
તે પુણુ વંદડં	4	૧-૪	ધમ્માધમ્મુ ત્રિ એક્કુ	151	૨-૨૪
તે પુણુ વંદડં	5	૧-૫	ધમ્મુ ણ સંચિડ	267	૨-૧૩૩
તે વંદડં સિરિસિદ્ધ	2	૧-૨	ધંધઈં પહિયડ	255	૨-૧૨૧
તે હડં વંદડં	3	૧-૨	પજ્જયરત્તડ જીવહડ	79	૧-૭૭
દલ્લઈં જાણઈ	142	૨-૧૫	પણ્ણ ણ મારિય	277	P-૨-૧૪૦*૧
દલ્લઈં જાણહિ	143	૨-૧૬	પરમપયગયાણં	353	૨-૨૧૪
દલ્લઈં સયલઈં	147	૨-૨૦	પરમસમાહિં ધરેવિ	331	૨-૧૧૩
દલ્લ ચચારિ ત્રિ	150	૨-૨૩	પરમસમાહિમહાસરહિં	327	૨-૧૮૯
દંસણાણાચરિત્ત	184	૨-૫૪	પરુ જાણંતુ ત્રિ	239	૨-૧૦૮
દંસણુ ણાણુ અણંત	138	૨-૧૧	પંચ ત્રિ ઇંદિય	64	૧-૬૩
દંસણુ ણાણુ ચરિત્તુ	169	૨-૪૦	પંચહં ણાયકુ	276	૨-૧૪૦
દંસણ પુલ્લુ	162	૨-૩૫	પાવહિં દુક્ખ મહંતુ	253	૨-૧૧૯
દાણિં લલ્લમઈં મોડ	202	૨-૭૨	પાવેં ણારડ	193	૨-૬૩
દાણુ ણ દિણ્ણડ	306	૨-૧૬૮	પેચ્છઈં જાણઈ	140	૨-૧૩
દુક્ખઈં પાવઈં	287	૨-૧૫૦	પુમ્મલ્લુ છલ્લિહુ	146	૨-૧૧
દુક્ખહં કારણિ	86	૧-૮૪	પુણુ પુણુ પળત્રિવિ	11	૧-૧૧
દુક્ખહં કારણુ	154	૨-૨૭	પુણુ ત્રિ પાડ ત્રિ	94	૧-૯૨
દુક્ખહં કારણુ મુણિવિ	290	૨-૧૫૩	પુણ્ણેણ હોઈં વિહવો	190	૨-૬૦
દુક્ખુ ત્રિ સુક્ખુ	65	૧-૬૪	ચલિ કિડ માણુસ-	284	૨-૧૪૭
દુક્ખુ ત્રિ સુક્ખુ	163	૨-૩૬	ચંધહં મોક્ખહં	183	૨-૫૩
દેડ ણ દેડલે	125	૧-૧૨૩	ચંધુ ત્રિ મોક્ખુ	66	૧-૬૫
દેડ ણિરંજણુ	203	૨-૭૩	ચંમઈં મુવણિ	230	૨-૧૨
દેડલુ દેડ ત્રિ સત્થુ	264	૨-૧૩૦	ચિણિ ત્રિ જેણ	166	૨-૩૭

अ. दो.			अ. दो.		
विणिण वि दोस	173	२-४४	वर जिय पावई	186	२-५६
बुज्झइ सत्थइ	213	२-८२	वर णियदंसण	188	२-५८
बुज्झंतइ परमत्थु	225	२-९४	वत्थुपणट्ठइ जेम	318	२-९८०
बोहणिमित्तै	215	२-८४	वंदउ णिंदउ	196	२-६६
भणइ भणावइ	178	२-४८	वंदणु णिंदणु	194	२-६४
भल्लहं वि णासंति	241	२-११०	वंदणु णिंदणु	195	२-६५
भवतणुभोय	32	१-३२	वित्तिणिवित्तिहिं	182	२-५२
भव्वाभव्वह जो	205	TKM-२-७४*१	विसयकसाय वि	330	२-१९२
भाउ विसुद्धउ	198	२-६८	विसयकसायहिं	63	१-६२
भावाभावहिं संजुवउ	43	१-४३	विसयकसायहिं	293	२-१५६
भाविं पणविवि	8	१-८	विसयसुहइ बे	274	२-१३८
भिण्णउ वत्थु जि	319	२-१८१	विसयहं उप्परि	180	२-५०
भुंजंतु वि...जो	211	२-८०	विसयासत्तउ जीव	278	२-१४१
भुंजंतु वि णिय-	210	२-७९	वेयहिं सत्थहिं	23	१-२३
मणु मिलियउ	126	१-१२३*२	सत्तु वि मिणु वि	235	२-१०४
मं पुण पुण्णइ	187	२-५७	सत्थु पढंतु वि	214	२-८३
मारिवि चूरिवि	260	२-१२६	सयलपयत्थहं	161	२-३४
मारिवि जीवहं लक्खडा	259	२-१२५	सयलवियप्पहं	333	२-१९५
मुक्खु ण पावहि	258	२-१२४	सयलवियप्पहं जो	328	२-१९०
मुणिवरविदहं	112	१-११०	सयल वि संग ण	304	२-१६६
मुत्तिविहूणउ	145	२-१८	सयलहं कम्महं	336	२-१९८
मूढा सयलु वि	262	२-१२८	सव्वहिं रायहिं	310	२-१७२
मूढ विक्खलणु	13	१-१३	संता विसय जु	275	२-१३९
मेळिवि सयल	117	१-११५	सिद्धिहिं केरा	199	२-६९
मोक्खु जि साहिउ	252	२-११८	सिरिगुरु अक्खहि	128	२-१
मोक्खु म चित्तिहि	326	२-१८८	सुण्णउ पउ	297	२-१५९
मोहु विलिज्जइ मणु	301	२-१६३	सुद्धहं संजमु	197	२-६७
राएं रंगिए	122	१-१२०	सुहपरिणामे	201	२-७१
रत्तं वत्थे जेम	316	२-१७८	सो जोइउ जो जोगवइ	273	२-१३७*५
रायदोस बे	231	२-१००	सो णत्थि सि पएसो	67	१-६५*१
रूवि पयंगा	246	२-११२	सो पर बुच्चइ	113	१-१११
लक्खणछंदविवज्जियउ	349	२-२१०	हरिहरबंभु वि	135	२-८
लाहहं कित्तिहि	223	२-९२	हउं वरु बंभणु	83	१-८१
लेणइ इच्छइ	218	२-८७	हउं गोरउ हउं	82	१-८०
लोउ विलक्खणु	323	२-१८५			
लोयागासु धरेवि	152	२-२५			



संस्कृतटीकायामुक्तानां पद्यादीनां वर्णानुक्रमसूची

पृष्ठाङ्काः

१२४ अइसयमादसमुत्थं	आगम, [कुन्दकुन्द, प्रवचनसार १-१३]
१६२ अकसाय तु चरितं	
२०४ अक्खरडा जोयंतु ठिउ	[रामसिंह, दोहापाहुड ८४]
२७ अक्खण रसणी ^१	
१५८ अज्ज वि तियरण-	कुन्दकुन्द, मोक्षप्राभृत [७७]
१४८ अण्णोणं पविसंता	[कुन्दकुन्द, पञ्चास्तिकाय ७]
१२ अत्रेदानीं निषेधन्ति	[रामसेन, तत्त्वानुशासन ८३]
२६३ अधिरेण धिरा	[रामसिंह, दोहापाहुड १९]
६० अनादितो हि मुक्त-	
२८ अन्यथा वेदपाण्डित्य ^२	
२०० अपरिगहो अणिच्छो	[कुन्दकुन्द, समयसार २१०]
५ अभूदपुब्बो हवदि	[कुन्दकुन्द,] पञ्चास्तिकाय [२०]
३३ अरसमरुवमगंधं	[कुन्दकुन्द,] (भाव-) प्राभृत [६४; पञ्चास्तिकाय १२७]
१६४ अस्त्यात्मानादिबद्धः	पूज्यपाद, [सिद्धभक्ति २]
१५३ आत्मानमात्मा	पूज्यपाद, [सिद्धभक्ति ४]
३७ आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य	[पूज्यपाद, इष्टोपदेश ४७]
१२१ आत्मोपादानसिद्धं	[पूज्यपाद, सिद्धभक्ति ७]
२२७ आनन्दं ब्रह्मणो	
९९ आभिणिमुदोहि	[कुन्दकुन्द, समयसार २०४]
१७८ आर्ता नरा धर्मपरा	
२९६ आसापिसाय-	
१६ इत्यतिदुर्लभरूपां	
१७९ ऊर्ध्वगा बलदेवाश्च	
१४३ एगणिगोदसरीरे	परमागम, [नेमिचन्द्र, गो० जीवकाण्ड १९५]
२६८ एदग्धि रदो णिच्चं	[कुन्दकुन्द, समयसार २०६]
१४३ ओगाडगाढणिचिदो	[कुन्दकुन्द, पञ्चास्तिकाय ६४]
२६० कषायैरिन्द्रियैः	
१९२ कंखिदकलुसिदभूदो	
२२ कः पण्डितो	[अमोघवर्षे, प्रश्नोत्तररत्नमाला ५]
१५८ चरितारो न सन्त्यथ	[रामसेन, तत्त्वानुशासन ६]
२६६ चंडो ण मुयइ	[नेमिचन्द्र, गो० जीवकाण्ड ५०८]
२५२ चित्ते बद्धे बद्धो ^३	
१२९ जं पुण सगयं	[देवसेन, तत्त्वसार ५]

पृष्ठाङ्काः

३०२ जीवा जिणवर ^४	
१४० जीवा पुगलकाया	कुन्दकुन्द, पञ्चास्तिकाय [९८]
७६ जे पज्जसु णिरदा	कुन्दकुन्द, [प्रवचनसार २-२]
५४ जेसि जीवसहावो	[कुन्दकुन्द,] पञ्चास्तिकाय [३५]
९४ जो पस्सइ अप्पाणं	[कुन्दकुन्द,] समयसार [१५]
७६ जो पुणु परदव्वं	[कुन्दकुन्द,] मोक्षप्राप्त [१५]
३० णमिण्हि जे	कुन्दकुन्द, मोक्षप्राप्त [१०३]
१०० णाणगुणेहि विहीणा	[कुन्दकुन्द,] समयसार [२०५]
१६३ तं वत्थं सुत्तव्वं	[शिवार्य, भ० आराधना २६२]
२३५ तावदेव सुखी	
२६८ तिणकट्टण व	
२११ त्यक्त्वा स्वकीय	
९१ दर्शनमात्मविनिश्चिति	[अमृतचन्द्र, पु. सिद्धयुपाय २९६]
१०८ दह्ममाने जगति	
२९४ दुक्खक्खउ	[कुन्दकुन्द, प्राकृत सिद्धभक्ति]
२५६ देवागमपरिहीणे	
१९० धम्मो वत्थुसहावो	[कुमार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४७६]
२६० न गृहं गृहमित्याहुः ^५	
३०४ नामाष्टकसहस्रेण	[?, आसत्स्वरूप ५५]
३१७ पञ्चवरामहिं	
६ पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं	
२५ परमार्थनयाय	
१४५ परिणाम जीव	
१८५ पावेण णरयतिरियं	
१३४ पुढवीजलं च छाया	[कुन्दकुन्द, पञ्चारितिकाय ७६*१]
१७४ पुव्वमभाविदजोगो	[शिवार्य, भ० आराधना २४]
१०७ बन्धवधच्छेदादेः	[समन्तभद्र, रत्नकरण्ड ७८]
२७८ मणु मरइ पवणु	
६० मुक्त्वक्षेत्रप्राग्	
१३० मूढप्रयं भदाश्वाष्टौ ^६	[सोमदेव, यशस्तिलक पृ. ३२४]
१५७ यत्पुनर्वज्रकायस्थ	[रामसेन,] तत्त्वानुशासन [८४]
१४० यावत्क्रियाः प्रवर्तन्ते	[जटासिंहनन्दि ?] ^७
२८४ येन येन स्वरूपेण ^८	[अमितगति, योगसार ९-५१]
२५७ येनोपायेन शक्येत	
२०९ रम्येषु वस्तुवनितादिषु	[गुणभद्र, आत्मानुशासन २२८]
१२७ रयणत्तयं ण	[नेमिचन्द्र, द्रव्यसंग्रह ४०]

पृष्ठाङ्काः

१७३ रागद्वेषौ प्रवृत्तिः	[गुणभद्र, आत्मानुशासन २३७]
२४२ रागादीणमणुष्पा ^{१०}	
१६५ लोकव्यवहारे ?	
१८० वरं नरकवासोऽपि	
२५१ विसयहं कारणि	
२०४ वीरा वैरगपरा	
२९८ वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं	
२५, ३१० शिवं परमकल्याणं	[१, आत्मस्वरूप २४]
१२ षोडशतीर्थकराणां	बृहदारण्यकशास्त्र.
२१२ सगो तवेण	[कुन्दकुन्द, मोक्षप्राप्त २३]
१८२ सत्यं वाचि	[गुणभद्र, आत्मानुशासन २१८]
७५ सद्गुरो	कुन्दकुन्द, मोक्षप्राप्त [१४]
१९० सद्दृष्टिज्ञान	[समन्तभद्र, रत्नकरण्ड ३; रामसेन, तत्त्वानुशासन ५१]
१७२ सपरं बाधासहितं	[कुन्दकुन्द प्रवचनसार १-७६]
१३६ समओ उत्पणपदसो	
११३ समसत्तुबन्धुवग्गो	[कुन्दकुन्द, प्रवचनसार ३-४१]
६१ समत्तणदंसण	[कुन्दकुन्द, प्राकृत सिद्धभक्ति २०]
१२६ सम्महंसण	[नेमिचन्द्र द्रव्यसंग्रह ३९]
६ सव्वे सुद्धा	[नेमिचन्द्र,] द्रव्यसंग्रह [१३]
१६० साम्यमेवादराङ्गाव्यं	[पद्मनन्द, पञ्चविंशति...]
२३७ सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः	[पूज्यपाद, सिद्धभक्ति १]
१८९ सुद्धस्स य सामणं	[कुन्दकुन्द, प्रवचनसार ३-७४]
२४३ स्वयमेवात्मना ^{११}	
१३१ हस्ते चिन्तामणिः	
१११ हावो मुखविकारः	
१७३ हिंसान्त	[उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र ७-१]



१ देखो अनगारधर्माभूतटीका पृ. २६२. २ देखो यशस्तिलक ५-२५१. ३ देखो अनगारध. टीका पृ. ४०३. देखो षट्प्राभूतटीका पृ. ३४२. ५ देखो नीतिवाक्याभूत ३१-३१. ६ देखो षट्प्राभूतटीका पृ. २३६. ७ देखो ज्ञानार्णव पृ. ९३. ८ देखो अमृताशीति ६७. ९ देखो ज्ञानार्णव पृ. ४१५. १० देखो अयधवला पृ. १३ आराकी प्रति. ११ देखो सर्वार्थसिद्धि ७-१३.



श्रीमद्-योगीन्दुदेव-विरचितः
योगसारः
 हिन्दीभाषानुवादसहितः

णिम्मल-ज्ञाण-परिद्वयां कम्म-कलंक डहेवि ।
 अप्पा लद्धउ जेण परु ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥

[निर्मलध्यानप्रतिष्ठिताः कर्मकलङ्कं दग्ध्वा ।
 आत्मा लब्धः येन परः तान् परमात्मनः नत्वा ॥]

पाठान्तर—१) अपह-परद्विया.

अर्थ—जो निर्मल ध्यानमें स्थित हैं, और जिन्होंने कर्म-मलको भस्म कर परमात्मपदको प्राप्त कर लिया है, उन परमात्माओंको नमस्कार करके—॥ १ ॥

घाइ-चउक्कहँ किउ विलउ णंत-चउक्कु पदिदु ।
 तहँ जिणइंदहँ पय णविवि अक्खमि कब्बु सु-इदु ॥ २ ॥

[(येन) घातिचतुष्कस्य कृतः विलयः अनन्तचतुष्कं प्रदर्शितम् ।
 तस्य जिनेन्द्रस्य पादौ नत्वा आख्यामि काव्यं सुदिष्टम् ॥]

पाठान्तर—१) अपह-चउक. २) प-ताह, ब-तहि. ३) प-सुद.

अर्थ—जिसने चार घातिया कर्मोंका नाश कर अनन्तचतुष्टयको प्रकट किया है, उस जिनेन्द्रके चरणोंको नमस्कार कर, यहाँ अभीष्ट काव्यको कहता हूँ ॥ २ ॥

संसारहँ भय-भीर्यहँ मोक्खहँ लालसयाहँ ।
 अप्पा-संबोहण-कयइँ कय दोहा एकमणाहँ ॥ ३ ॥

[संसारस्य भयभीतानां मोक्षस्य लालसकानाम् ।
 आत्मसंबोधनकृते कृताः दोहाः एकमनसाम् ॥]

पाठान्तर—१) अपब-भयभीतहँ, ब-भयभीयाहँ. २) झ-लालसियाहँ ३) अझ-अप्पा कयइँ संबोहण, पब-संबाहणकयहँ. ४) बझ-दोहा एकमणाहँ. ५) अप-अकमणाहँ.

अर्थ—जो संसारसे भयभीत हैं और मोक्षके लिये जिनकी लालसा है, उनके संबोधनके लिये एकाग्र चित्तसे मैंने इन दोहोंकी रचना की है ॥ ३ ॥

कालु अणाइ अणाइ जिउ भव-सायेरु जि अणंतुं ।

मिच्छा-दंसण-मोहियउं णवि सुह दुक्ख जि पत्तु ॥ ४ ॥

[कालः अनादिः अनादिः जीवः भवसागरः एव अनन्तः ।

मिथ्यादर्शनमोहितः नैव सुखं दुःखमेव प्राप्तवान् ॥]

पाठान्तर—१) अपह-सायर. २) अप-अणंतो. ३) अ-मोहि, पह-मोहिउ.

अर्थ—काल अनादि है, जीव अनादि है, और भवसागर अनन्त है। उसमें मिथ्यादर्शनसे मोहित जीवने दुःख ही दुःख पाया है, सुख नहीं पाया ॥ ४ ॥

जइ बीहउं चउ-गइ-गमणां तो पर-भाव चएहि ।

अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिव-सुक्ख लहेहि ॥ ५ ॥

[यदि भीतः चतुर्गतिगमनात् ततः परभावं त्यज ।

आत्मानं ध्याय निर्मलं यथा शिवसुखं लभसे ॥]

पाठान्तर—१) ब-बीहइ. २) झ-गमणु. ३) अह-तौ...चएवि, प-तौ...चएदि, ब-तौ...चवेहि. ४) अबझ-लहेवि.

अर्थ—हे जीव ! यदि तू चतुर्गतिके भ्रमणसे भयभीत है, तो परभावका त्याग कर, और निर्मल आत्माका ध्यान कर, जिससे तू मोक्ष-सुखको प्राप्त कर सके ॥ ५ ॥

ति-पयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु ।

पर जायहि अंतर-सहिउ बाहिरु चयहि णिभंतु ॥ ६ ॥

[त्रिप्रकारः आत्मा (इति) जानीहि परः आन्तरः बहिरात्मा ।

परं ध्याय आन्तरसहितः बाह्यं त्यज निर्भ्रान्तम् ॥]

अर्थ—परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा इस तरह आत्माके तीन प्रकार समझने चाहिये। हे जीव ! अन्तरात्मासहित होकर परमात्माका ध्यान कर, और भ्रान्ति रहित होकर बहिरात्माको त्याग ॥ ६ ॥

मिच्छा-दंसण-मोहियउं परु अप्पा ण मुणेइं ।

सो बहिरप्पा जिण-भणित पुण संसार भमेइ ॥ ७ ॥

[मिथ्यादर्शनमोहितः परं आत्मा न मनुते ।

स बहिरात्मा जिनभणितः पुनः संसारं भ्रमति ॥]

पाठान्तर—१) अ-मोहियओ, झ-मोहिओ. २) अपब-परु (रो) अप्पणो (णु) मुणइ.

अर्थ—जो मिथ्यादर्शनसे मोहित जीव परमात्माको नहीं समझता, उसे जिनभगवान् ने बहिरात्मा कहा है; वह जीव पुनः पुनः संसारमें परिभ्रमण करता है ॥ ७ ॥

जो परियाणइ अप्पु परु जो पर-भाव चएइ ।

सो पंडिउ अप्पा मुणहुं सो संसारु मुएइ ॥ ८ ॥

[यः परिजानाति आत्मानं परं यः परभावं त्यजति ।

स पण्डितः आत्मा (इति) जानीहि स संसारं मुञ्चति ॥]

पाठान्तर—१) अपह-अप २) अप-पिंडउ अप्पा मुणह; झ-मुणिहि.

अर्थ—जो परमात्माको समझता है, और जो परभावका त्याग करता है, उसे पंडित-आत्मा (अन्तरात्मा) समझो। वह जीव संसारको छोड़ देता है ॥ ८ ॥

णिम्मलु णिक्कलु सुद्धु जिणु विण्हं बुद्धु सिव संतु ।

सो परमप्पा जिण-भणिउ एहउं जाणि णिभंतु ॥ ९ ॥

[निर्मलः निष्कलः शुद्धः जिनः विष्णुः बुद्धः शिवः शान्तः ।

स परमात्मा जिनभणितः एतत् जानीहि निभ्रान्तम् ॥]

पाठान्तर—१) ब-किण्ह. २) अ-एहो, झ-एहवउ.

अर्थ—जो निर्मल, निष्कल, शुद्ध, जिन, विष्णु, बुद्ध, शिव और शान्त है, उसे जिनभगवान् ने परमात्मा कहा है—इसमें कुछ भी भ्रान्ति न करनी चाहिये ॥ ९ ॥

देहादिउं जे परि कहियां ते^० अप्पाणु मुणेइ ।

सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुणु संसारु भमेइ ॥ १० ॥

[देहादयः ये परे कथिताः तान् आत्मानं जानाति ।

स बहिरात्मा जिनभणितः पुनः संसारं भ्रमति ॥]

पाठान्तर—१) अपह-देहादिक जो. २) ब-पर कहिय. ३) प-ण

अर्थ—देह आदि जो पदार्थ पर कहे गये हैं, उन पदार्थोंको ही जो आत्मा समझता है, उसे जिनभगवान् ने बहिरात्मा कहा है। वह जीव संसारमें फिर फिसे परिभ्रमण करता है ॥ १० ॥

देहादिउ जे परि कहिया ते अप्पाणुं ण होहि ।

इउ जाणेविणु जीव तुहुं अप्पा अप्प मुणेहि ॥ ११ ॥

[देहादयः ये परे कथिताः ते आत्मा न भवन्ति ।

इति ज्ञात्वा जीव त्वं आत्मा आत्मानं जानीहि ॥]

पाठान्तर—१) अप-अप्पाणा. २) पह-जाणिविण (°विण).

अर्थ—देह आदि जो पदार्थ पर कहे गये हैं, वे पदार्थ आत्मा नहीं होते—यह जानकर, हे जीव ! तू आत्माको आत्मा पहिचान ॥ ११ ॥

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तो^० णिब्बाणु लहेहि ।

पर अप्पा जइ मुणहि तुहुं तो संसार भमेहि ॥ १२ ॥

[आत्मन् आत्मानं यदि जानासि ततः निर्वाणं लभसे ।

परं आत्मानं यदि जानासि त्वं ततः संसारं भ्रमसि ॥]

पाठान्तर—१) ब-तौ (तउ ?). २) अ-जो, झ-जउ. ३) पह-मुणिहि. ४) अप-संसारमुवेहि.

अर्थ—हे जीव ! यदि तू आत्माको आत्मा समझेगा, तो निर्वाण प्राप्त करेगा । तथा यदि तू पर पदार्थको आत्मा मानेगा, तो तू संसारमें परिभ्रमण करेगा ॥ १२ ॥

इच्छा-रहियउ तव करहि अप्पा अप्पु मुणेहि ।

तो लहु पावैहि परम-गई फुडु संसारु ण एँहि ॥ १३ ॥

[इच्छारहितः तपः करोषि आत्मन् आत्मानं जानासि ।

ततः लघु प्राप्नोषि परमगतिं स्फुटं संसारं न आयासि ॥]

पाठान्तर—१) अ-रहिओ, पझ-रहिउ. २) अ-पहु पावइ, पझ-पावइ. ३) ब-लहु संसार मुएहि.

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तू इच्छा रहित होकर तप करे और आत्माको समझे, तो तू शीघ्र ही परमगतिको पा जाय, और तू निश्चयसे फिर संसारमें न आवे ॥ १३ ॥

परिणामे^४ बंधु जि कहिउ मोक्ख वि^५ तह जि वियाणि ।

इउ जाणेविणु जीवें तुहुँ तह भाव हुँ परियाणि ॥ १४ ॥

[परिणामेन बन्धः एव कथितः मोक्षः अपि तथा एव विजानीहि ।

इति ज्ञात्वा जीव त्वं तथाभावान् खलु परिजानीहि ॥]

पाठान्तर—१) पव-परिणामि, अ-परिणाम बंधु ज कहियो. २) अपझ-जि ३) अपझ-वियाणि.

४) झ-जाणेविण. ५) पझ-जीउ. ६) अप-तहि भावह, ब-तहु भाव हु, झ-तह भाव हि.

अर्थ—परिणामसे ही जीवको बंध कहा है और परिणामसे ही मोक्ष कहा है—यह समझकर, हे जीव ! तू निश्चयसे उन भावोंको जान ॥ १४ ॥

अह पुणु अप्पा णवि मुणहि पुणु जि करहि असेसं ।

तो वि णै पावैहि सिद्धि-सुहु पुंणु संसारु भमेसे ॥ १५ ॥

[अथ पुनरात्मानं नैव जानासि पुण्यं एव करोषि अशेषम् ।

ततः अपि न प्राप्नोषि सिद्धिसुखं पुनः संसारं भ्रमसि ॥]

पाठान्तर—१) झ-अप्पाण वि. २) बझ-असेसु. ३) अपबझ-वि णु. ४) पावहु. ५) ब-फुडु.

६) बझ-भमेसु.

अर्थ—हे जीव ! यदि तू आत्माको नहीं जानेगा और सब पुण्य ही पुण्य करता रहेगा, तो भी तू सिद्धिसुखको नहीं पा सकता, किन्तु पुनः पुनः संसारमें ही भ्रमण करेगा ॥ १५ ॥

अप्पा-दंसणु एक्खे परु अणु ण किं पि वियाणि ।

मोक्खहँ कारण जोइयां णिच्छइँ एहउ जौणि ॥ १६ ॥

[आत्मदर्शनं एकं परं अन्यत् न किमपि विजानीहि ।

मोक्षस्य कारणं योगिन् निश्चयेन एतत् जानीहि ॥]

पाठान्तर—१) ब-इक्खु २) अझ-जोइया. ३) अपझ-णिच्छय एहो जाणि

अर्थ—हे योगिन् ! एक परम आत्मदर्शन ही मोक्षका कारण है, अन्य कुछ भी मोक्षका कारण नहीं, यह तू निश्चय समझ ॥ १६ ॥

मग्गण-गुण-ठाणइ कहिया चिवहारेण वि दिट्ठि ।

णिच्छय-णइँ अप्पा मुणँहि जिम पावहु परंमेट्ठि ॥ १७ ॥

[मार्गणगुणस्थानानि कथितानि व्यवहारेण अपि दृष्टिः ।

निश्चयनयेन आत्मानं जानीहि यथा प्राप्नोषि परमेष्ठिनम् ॥]

पाठान्तर—१) ब-ववहारेण हु दिट्ठ २) प-मुणिहि, ब-मुणहु. ३) ब-परमेट्ठ.

अर्थ—मार्गणा और गुणस्थानका व्यवहारसे ही उपदेश किया गया है । निश्चयनयसे तो तू आत्माको ही (सब कुछ) समझ; जिससे तू परमेष्ठीपदको प्राप्त कर सके ॥ १७ ॥

गिहि-बाचार-परिट्ठियाँ हेयाहेउ मुणंति ।

अणुदिणु झायहिँ देउ जिणु लहु णिब्बाणु लहंति ॥ १८ ॥

[गृहिव्यापारप्रतिष्ठिताः हेयाहेयं जानन्ति ।

अनुदिनं ध्यायन्ति देवं जिनं लघु निर्वाणं लभन्ते ॥]

पाठान्तर—१) अपझ-परिट्ठिया.

अर्थ—जो गृहस्थीके धंधेमें रहते हुए भी हेयाहेयको समझते हैं और जिनभगवान्का निरन्तर ध्यान करते हैं, वे शीघ्र ही निर्वाणको पाते हैं ॥ १८ ॥

जिणु सुभिरहुं जिणु चिंतवहु जिणुं झायहु सुमणेण ।

सोँ झायंतहँ परम-पउ लब्भइ एक-खणेण ॥ १९ ॥

[जिनं स्मरत जिनं चिन्तयत जिनं ध्यायत सुमनसा ।

तं ध्यायतां परमपदं लभ्यते एकक्षणेन ॥]

पाठान्तर—१) ब-स्मरहु. २) अपझ-जिण. ३) ब-जे.

अर्थ—शुद्ध मनसे जिनका स्मरण करो, जिनका चिन्तन करो, और जिनका ध्यान करो; उनका ध्यान करनेसे एक क्षणभरमें परमपद प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥

सुद्धप्पा अंरु जिणवरहँ भेउं म किं पि वियाणि ।

मोक्खहँ कारँणे जोइया णिच्छइँ एउ विजाणि ॥ २० ॥

[शुद्धात्मनां च जिनवराणां भेदं मा किमपि विजानीहि ।

मोक्षस्य कारणे योगिन् निश्चयेन एतद् विजानीहि ॥]

पाठान्तर—१) ब-अहु (?). २) अ-भेद. ३) ब-कारणि, अझ-कारणि.

अर्थ—हे योगिन् ! मोक्ष प्राप्त करनेमें शुद्धात्मा और जिनभगवान्में कुछ भी भेद न समझो—यह निश्चय मानो ॥ २० ॥

जो जिणु सो अप्पा मुणहु इहु सिद्धंतहँ सारु ।

इउ जाणेविणु जोइँयहो छँडहु मायाचारु ॥ २१ ॥

[यः जिनः स आत्मा (इति) जानीत एष सिद्धान्तस्य सारः ।

इति ज्ञात्वा योगिनः त्यजत मायाचारम् ॥]

पाठान्तर—१) पञ्च-सिद्धंतहु. २) अपञ्च-जोइहु. ३) ब-छंडउ.

अर्थ—जो जिनभगवान् है वही आत्मा है—यही सिद्धान्तका सार समझो । इसे समझकर, हे योगीजनो ! मायाचारको छोड़ो ॥ २१ ॥

जो परमप्पो सो जि हँउं जो हँउं सो परमप्पु ।

इउ जाणेविणु जोइयाँ अण्णु म करहु वियप्पु ॥ २२ ॥

[यः परमात्मा स एव अहं यः अहं स परमात्मा ।

इति ज्ञात्वा योगिन् अन्यत् मा कुरुत विकल्पम् ॥]

पाठान्तर—१) ब-परअप्पा. २) अ-हुं. ३) अपञ्च-जोइया.

अर्थ—जो परमात्मा है वही मैं हूँ, तथा जो मैं हूँ वही परमात्मा है—यह समझकर हे योगिन् ! अन्य कुछ भी विकल्प मत करो ॥ २२ ॥

शुद्ध-पएसहँ पूरियउं लोयायास-पमाणु ।

सो अप्पा अणुदिणु मुणहुं पावहुं लहु णिन्वाणु ॥ २३ ॥

[शुद्धप्रदेशानां पूरितः लोकाकाशप्रमाणः ।

स आत्मा (इति) अनुदिनं जानीत प्राप्नुत लघु निर्वाणम् ॥]

पाठान्तर—१) अ-पूरियो. २) ब-सो अप्पा मुणि जीव तुहुं. ३) ब-पावहि.

अर्थ—जो शुद्ध प्रदेशोंसे पूर्ण लोकाकाश-प्रमाण है, उसे सदा आत्मा समझो, और शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करो ॥ २३ ॥

णिच्छेहँ लोय-पमाणुं मुणि वव्हारें सुसरीरु ।

एहँउं अप्प-सहाउ मुणि लहु पावँहि भव-तीरु ॥ २४ ॥

[निश्चयेन लोकप्रमाणः (इति) जानीहि व्यवहारेण स्वशरीरः ।

एनं आत्मस्वभावं जानीहि लघु प्राप्नोषि भवतीरम् ॥]

पाठान्तर—१) ब-णिच्छय. २) अप-लोइपमाणु ३) अ-एही. ४) अपञ्च-पावहु.

अर्थ—जो आत्मस्वभावको निश्चयनयसे लोक-प्रमाण, और व्यवहारनयसे स्वशरीर-प्रमाण समझता है, वह शीघ्र ही संसारसे पार हो जाता है ॥ २४ ॥

चउरासी-लक्खहँ फिरिउं कालु अणाइ अणंतु ।

पर सम्मत्तु ण लद्धु जिय एहँउ जाणि णिभंतु ॥ २५ ॥

[चतुरशीतिलक्षेषु भ्रामितः कालं अनादि अनन्तम् ।

परं सम्यक्तवं न लब्धं जीव एतत् जानीहि निर्भ्रान्तम् ॥]

पाठान्तर—१) अ-चोरासी २) अपञ्च-लक्खह. ३) अ-फिरियो. ४) अ-एही.

अर्थ—यह जीव अनादि अनन्तकालतक चौरासी लाख योनियोंमें भटका है, परन्तु इसने सम्यक्त्व नहीं पाया—हे जीव ! यह निस्सन्देह समझ ॥ २५ ॥

सुद्धु सचेयणु बुद्धु जिणु केवल-णाण-सहाउ ।

सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहहु सिव-लाहु ॥ २६ ॥

[शुद्धः सचेतनः बुद्धः जिनः केवलज्ञानस्वभावः ।

स आत्मा (इति) अनुदिनं जानीत यदि इच्छत शिवलाभम् ॥]

पाठान्तर—१) अ-निसदिण. २) ब-चाहहि, अ-जो चाहहु.

अर्थ—यदि मोक्ष पानेकी इच्छा करते हो, तो निरन्तर ही आत्माको शुद्ध, सचेतन, बुद्ध, जिन, और केवलज्ञान-स्वभावमय समझो ॥ २६ ॥

जामे ण भावेहि जीव तुहुँ णिम्मल अप्प-सहाउ ।

ताम ण लब्भइ सिव-गमणु जहिँ भावइ तहि जाउ ॥ २७ ॥

[यावत् न भावयसि जीव त्वं निर्मलं आत्मस्वभावम् ।

तावत् न लभ्यते शिवगमनं यत्र भाव्यते तत्र यात ॥]

पाठान्तर—१) अप्प-जाव. २) अप्प-भावहु. ३) अद्द-भावहु, प-भावहि.

अर्थ—हे जीव ! जबतक तू निर्मल आत्मस्वभावकी भावना नहीं करता, तबतक मोक्ष नहीं पा सकता । अब जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ जा ॥ २७ ॥

जो तइलोयहँ झेउ जिणु सो अप्पा णिरु वुत्तु ।

णिच्छय-णइँ एमइ भणिउँ एहउँ जाणि णिभंतु ॥ २८ ॥

[यः त्रिलोकस्य ध्येयः जिनः स आत्मा निश्चयेन उक्तः ।

निश्चयनयेन एवं भणितः एतत् जानीहि निर्भ्रान्तम् ॥]

पाठान्तर—१) ब-अप्पाणु×वुत्तु. २) अ-णिच्छइणइ एमइ भणियो, प-णिच्छइणइ एमइ भणिउ, झ-णिच्छइणए इम भणिउ. ३) अ-एहो जाणि, झ-एहो जाण.

अर्थ—जो तीनों लोकोंके ध्येय जिनभगवान् हैं, निश्चयसे उन्हें ही आत्मा कहा है—यह कथन निश्चयनयसे है । इसमें भ्रान्ति न करनी चाहिये ॥ २८ ॥

वय-तव-संजम-मूल-गुणे मूढहँ मोक्ख ण वुत्तु ।

जाव ण जाणइँ इक्क पर सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ २९ ॥

[व्रततपःसंयममूलगुणाः मूढानां मोक्षः (इति) न उक्तः ।

यावत् न ज्ञायते एकः परः शुद्धः भावः पवित्रः ॥]

पाठान्तर—१) अद्द-संयय. २) झ-जाणै.

अर्थ—जबतक एक परम शुद्ध पवित्र भावका ज्ञान नहीं होता, तबतक मूढ़ लोगोंके जो व्रत, तप, संयम और मूलगुण हैं, उन्हें मोक्ष (का कारण) नहीं कहा जाता ॥ २९ ॥

जइ णिम्मल अप्पा मुणइ वय-संजम-संजुत्तु ।

तो लहु पावइ सिद्धि-सुह इउ जिणणाहइ उत्तु ॥ ३० ॥

[यदि निर्मल आत्मानं जानाति व्रतसंयमसंयुक्तः ।

तर्हि लघु प्राप्नोति सिद्धिसुखं इति जिननाथस्य उक्तम् ॥]

पाठान्तर—१) झ-जो. २) अपझ-मुणइ ३) अ-तौ लहु पावै.

अर्थ—जिनेन्द्रदेवका कथन है कि यदि व्रत और संयमसे युक्त होकर जीव निर्मल आत्माको पहिचानता है, तो वह शीघ्र ही सिद्धि-सुखको पाता है ॥ ३० ॥

वउ तव संजमुं सीलु जिय ए सव्वइँ अकयत्थु ।

जांव ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ ३१ ॥

[व्रतं तपः संयमः शीलं जीव एतानि सर्वाणि अकृतार्थानि ।

यावत् न ज्ञायते एकः परः शुद्धः भावः पवित्रः ॥]

पाठान्तर—१) अप-वयतवसंजमु सीलु, ब-वउ तवसंजमसीलु, झ-वउ तउ संजम सील. २) अ-ए सव्वै, ब-एउ सव्वुह. ३) ब-जहि लब्भइ सिवपंथु.

अर्थ—जबतक जीवको एक परम शुद्ध पवित्र भावका ज्ञान नहीं होता, तबतक व्रत, तप, संयम और शील ये सब कुछ भी कार्यकारी नहीं होते ॥ ३१ ॥

पुण्णिं पावइ सग्ग जिउ पावँएँ णरय-णिवासु ।

बे छंडिवि अप्पा मुणइ तो लब्भइ सिववासु ॥ ३२ ॥

[पुण्येन प्राप्नोति स्वर्गं जीवः पापेन नरकनिवासम् ।

द्वे त्यक्त्वा आत्मानं जानाति ततः लभते शिववासम् ॥]

पाठान्तर—१) अप-पुण्णइ, झ-पुण्णइ. २) अप-पावयें, ब-पावै, झ-पावय. ३) झ-छंडेवि.

अर्थ—पुण्यसे जीव स्वर्ग पाता है, और पापसे नरकमें जाता है । जो इन दोनोंको (पुण्य और पापको) छोड़कर आत्माको जानता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥

वउ तउ संजमु सील जियां इउ सव्वइँ ववहारु ।

मोक्खइँ कारणु एक्कु मुणि जो तइलोयैँ सारु ॥ ३३ ॥

[व्रतं तपः संयमः शीलं जीव इति सर्वाणि व्यवहारः ।

मोक्षस्य कारणं एकं जानीहि यः त्रिलोकस्य सारः ॥]

पाठान्तर—१) अब-जिय. २) झ-इय. ३) अपझ तइलोयहु.

अर्थ—व्रत, तप, संयम और शील ये सब व्यवहारसे ही माने जाते हैं । मोक्षका कारण तो एक ही समझना चाहिये, और वही तीनों लोकोंका सार है ॥ ३३ ॥

अप्पा अप्पेँ जो मुणइ जो परभाउ चएइ ।

सो पावइ सिवपुरि-गमणु जिणवरु एमँ अणेइ ॥ ३४ ॥

[आत्मानं आत्मना यः जानाति यः परभावं त्यजति ।
स प्राप्नोति शिवपुरीगमनं जिनवरः एवं भणति ॥]

पाठान्तर—१) अ-अप्पे. २) अ-परभाव. ३) अपह-एउ.

अर्थ—जो आत्माको आत्मभावसे जानता है और जो परभावको छोड़ देता है, वह शिवपुरीको जाता है—ऐसा जिनवरने कहा है ॥ ३४ ॥

छह द्रव्येह जे जिण-कहिया णव पयत्थ जे तत्त ।
विवहारेणं य उत्तिया ते जाणियहि पयत्तै ॥ ३५ ॥

[षड् द्रव्याणि ये जिनकथिताः नव पदार्थाः यानि तत्त्वानि ।
व्यवहारेण च उक्तानि तानि जानीहि प्रयतः (सन्) ॥]

पाठान्तर—१) अ-दव्व, प-दव्वह. २) अ-ववहारे जिनउत्तिया. ३) अ-जाणीयहि एयत्थ,
प-जाणीयहि पयत्थ, ह-पयत्थ

अर्थ—जिनभगवान्ने जो छह द्रव्य, नौ पदार्थ, और (सात) तत्त्व कहे हैं, वे व्यवहारनयसे कहे हैं, उनका प्रयत्नशील होकर ज्ञान प्राप्त करो ॥ ३५ ॥

सच्च अचेयणं जाणि जिय एक्क सचेयणु सारु ।
जो जाणेविणु परम-मुणि लहु पावई भवपारु ॥ ३६ ॥
[सर्वं अचेतनं जानीहि जीव एकः सचेतनः सारः ।
यं ज्ञात्वा परममुनिः लघु प्राप्नोति भवपारम् ॥]

पाठान्तर—१) ह-अचेयणि २) अ-पावहि.

अर्थ—जितने भी पदार्थ हैं वे सब अचेतन हैं; चेतन तो केवल एक जीव ही है, और वही सारभूत है । उसको जानकर परममुनि शीघ्र ही संसारसे पार होता है ॥ ३६ ॥

जह्णिम्मल्लु अप्पा मुणहि छंडिवि सहु ववहारु ।
जिण-सामिउ एमई भणइ लहु पावई भवपारु ॥ ३७ ॥
[यदि निर्मलं आत्मानं जानासि त्यक्त्वा सर्वं व्यवहारम् ।
जिनस्वामी एवं भणति लघु प्राप्यते भवपारः ॥]

पाठान्तर—१) अ-एवई, प-एवइ, ह-सामीऊ एव. २) अपह-पावहु.

अर्थ—सर्व व्यवहारको त्याग कर यदि तू निर्मल आत्माको जानेगा, तो तू संसारसे शीघ्र ही पार होगा—ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं ॥ ३७ ॥

जीवाजीवहं भेउ जो जाणइ तिं जाणियउ ।
मोक्खहं कारण एउं भणइ जोइ जोइहिं भणिउं ॥ ३८ ॥
[जीवाजीवयोः भेदं यः जानाति तेन ज्ञातम् ।
मोक्षस्य कारणं एतत् भण्यते योगिन् योगिभिः भणितम् ॥]

पाठान्तर—१) अप-दोहरा ॥, झ-दोहा सोरठा. २) अप-जाणै ते, झ-जाणइ ते. ३) ब-कारण एह.

अर्थ—जो जीवाजीवके भेदको जानता है, वही (सब कुछ) जानता है; तथा हे योगिन् ! इसीको योगीजनोंने मोक्षका कारण कहा है ॥ ३८ ॥

केवल-पाण-सहाउं सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ ।

जइ चाहहि सिव-लाहु भणइ जोइ जोइहिँ भणिउँ ॥ ३९ ॥

[केवलज्ञानस्वभावः स आत्मा (इति) जानीहि जीव त्वम् ।

यदि इच्छसि शिवलाभं भण्यते योगिन् योगिभिः भणितम् ॥]

पाठान्तर—१) ब-केवलपाणु सहाउ.

अर्थ—हे जीव ! यदि तू मोक्ष पानेकी इच्छा करता है, तो तू केवलज्ञान-स्वभाव आत्माको पहिचान, ऐसा योगियोने कहा हैं ॥ ३९ ॥

को (?) सुसमाहि करउ को अंचउ छोपु-अछोपु करिवि को वंचउ ।

हल सहि कलहुँ केण समाणउँ जहिँ कहिँ जोवउँ तहिँ अप्पाणउ ॥ ४० ॥

[कः (अपि) सुसमाधिं करोतु कः अर्चयतु स्पर्शास्पर्शं कृत्वा कः वञ्चयतु ।

मैत्रीं सह कलहं केन समानयतु यत्र कुत्र पश्यतु तत्र आत्मा ॥]

पाठान्तर—१) झ-चौपइ । २) अपबझ-का सुसमाहि. ३) अपझ-कलहि. ४) ब-सझाणउ.

५) पबझ-जहिँ जहिँ. ६) अप-जोवहु.

अर्थ—कौन तो समाधि करे, कौन अर्चन-पूजन करे, कौन स्पर्शास्पर्श करके वंचना करे, कौन किसके साथ मैत्री करे, और कौन किसके साथ कलह करे—जहाँ कहीं देखो वहाँ आत्मा ही आत्मा दृष्टिगोचर होती है ॥ ४० ॥

तामं कुतित्थिँ परिभमइ धुत्तिम ताम करेइ ।

गुरुहु पसाँँ जाम णवि अप्पा-देउ मुणेइँ ॥ ४१ ॥

[तावत् कुतीर्थानि परिभ्रमति धूर्तत्वं तावत् करोति ।

गुरोः प्रसादेन यावत् नैव आत्मदेवं जानाति ॥]

पाठान्तर—१) झ-दोहा । २) अपझ-तामु (अन्यत्र ताम) . ३) ब-पसायहि. ४) अपझ-देहहं (देहहिँ ?) देउ मुणेइ.

अर्थ—जबतक जीव गुरु-प्रसादसे आत्मदेवको नहीं जानता, तभीतक वह कुतीर्थोंमें भ्रमण करता है, और तभीतक वह धूर्तता करता है ॥ ४१ ॥

तिस्थेहिँ देवलि देउ णंवि इम सुइकेवलि-घुत्तुँ ।

देहा-देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु ॥ ४२ ॥

[तीर्थेषु देवालये देवः नैव एवं श्रुतकेवल्युक्तम् ।

देहदेवालये देवः जिनः एतत् जानीहि निश्चितम् ॥]

पाठान्तर—१) अपब-तित्थहँ २) ब-देउ जि णवि. ३) ब-इउ सुइकेवली.

अर्थ—श्रुतकेवलीने कहा है कि तीर्थोंमें देवालयोंमें देव नहीं हैं, जिनदेव तो देह-देवालयमें विराजमान हैं—इसे निश्चित समझो ॥ ४२ ॥

देहा-देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिँ णिएई ।

हासउ महु पडिहाइ इहुँ सिद्धे भिक्षुँ भमेइ ॥ ४३ ॥

[देहदेवालये देवः जिनः जनः देवालयेषु (तं) पश्यति ।

हास्यं मम प्रतिभाति इह सिद्धे (सति) भिक्षां भ्रमति ॥]

पाठान्तर—१) अ-जिणि देवालेहि णएइ, प-जिणि देवलिहि णएइ. झ-जिणदेवलिहि णएई.

२) अ-परिहाइ हु, पझ-परिहोइ इहु. ३) अ-भक्ख, ब-सिद्धाभिक्ष, झ-सिद्धभिक्ष.

अर्थ—जिनदेव देह-देवालयमें विराजमान हैं; परन्तु जीव (ईंट पत्थरोके) देवालयोंमें उनके दर्शन करता है—यह मुझे कितना हास्यास्पद मालूम होता है। यह बात ऐसी ही है, जैसे कोई मनुष्य सिद्ध हो जानेपर भिक्षाके लिये भ्रमण करे ॥ ४३ ॥

मूढा देवलि देउ णवि णवि सिलिँ लिप्पइ चित्ति ।

देहा-देवलि देउ जिणु सो बुज्झँहि समचित्ति ॥ ४४ ॥

[मूढ देवालये देवः नैव नैव शिलायां लेप्ये चित्रे ।

देहदेवालये देवः जिनः तं बुध्यस्व समचित्ते ॥]

पाठान्तर—१) अपब-सिल २) अपझ-बु(उ)ज्झइ.

अर्थ—हे मूढ़ ! देव किसी देवालयमें विराजमान नहीं हैं, इसी तरह किसी पत्थर, लेप अथवा चित्रमें भी देव विराजमान नहीं। जिनदेव तो देह-देवालयमें रहते हैं—इस बातको तू समचित्तसे समझ ॥ ४४ ॥

तित्थइ देउलि देउ जिणु सञ्चु विं कोइ भणेइ ।

देहा-देउलिँ जो सुणइ सो बुहु को वि ह्वेइ ॥ ४५ ॥

[तीर्थे देवकुले देवः जिनः (इति) सर्वः अपि कश्चित् भणति ।

देहदेवकुले यः जानाति स बुधः कः अपि भवति ॥]

पाठान्तर—१) ब-तोवुइ (!). २) प-देहादेवल, ब-देहादेवलि.

अर्थ—सब कोई कहते हैं कि जिनदेव तीर्थमें और देवालयमें विद्यमान हैं। परन्तु जो जिनदेवको देह-देवालयमें विराजमान समझता है ऐसा पंडित कोई विरला ही होता है ॥ ४५ ॥

जइ जर-मरण-करालियउं तौ जिय धम्म करेहि ।

धम्म-रसायणु पियहि तुहुँ जिम अजरामर होहि ॥ ४६ ॥

[यदि जरामरणकरालितः तर्हि जीव धर्मं कुरु ।

धर्मरसायनं पिब त्वं यथा अजरामरः भवसि ॥]

पाठान्तर—१) अप-करालियो, झ-करालिओ. २) अ-तौ, झ-तउ.

अर्थ—हे जीव ! यदि तू जरा मरणसे भयभीत है तो धर्म कर, धर्मरसायनका पान कर; जिससे तू अजर अमर हो सके ॥ ४६ ॥

धम्म ण पढियेइ होइ धम्म ण पोत्था-पिच्छियेइ ।

धम्म ण मढिय-पएसि धम्म ण मत्था-लुंछियेइ ॥ ४७ ॥

[धर्मः न पठितेन भवति धर्मः न पुस्तकपिच्छाभ्याम् ।

धर्मः न मठप्रवेशेन धर्मः न मस्तकलुञ्चितेन ॥]

पाठान्तर—१) पझ-पढिया. २) प-पीछियइ, झ-पिछियइ. ३) अपब-पुस्तकेषु द्वितीयचतुर्थ-पादयोः ' धम्म ' इति नास्ति ।

अर्थ—पढ़ लेनेसे धर्म नहीं होता; पुस्तक और पिच्छीसे भी धर्म नहीं होता; किसी मठमें रहनेसे भी धर्म नहीं है; तथा केशलोच करनेसे भी धर्म नहीं कहा जाता ॥ ४७ ॥

राय-रोस वे परिहरिविं जो अप्पाणि वसेइ ।

सो धम्म वि जिण-उत्तियउं जो पंचम-गइ पेइ ॥ ४८ ॥

[रागरोषौ द्वौ परिहृत्य यः आत्मनि वसति ।

स धर्मः अपि जिनोक्तः यः पञ्चमगतिं नयति ॥]

पाठान्तर—१) अपझ-परिहरइ. २) अपझ-उत्तियो. ३) अपझ-देइ.

अर्थ—जो राग और द्वेष दोनोंको छोड़कर निज आत्मामें वास करना है, उसे ही जिनेन्द्रदेवने धर्म कहा है । वह धर्म पंचमगति (मोक्ष) को ले जाता है ॥ ४८ ॥

आउ गलइ णवि मणु गलइ णवि आसा हु गलेइ ।

मोहु फुरइ णवि अप्प-हिउ इम संसार भमेइ ॥ ४९ ॥

[आयुः गलति नैव मनः (मानः ?) गलति नैव आशा खलु गलति ।

मोहः स्फुरति नैव आत्महितं एवं संसारं भ्रमति ॥]

पाठान्तर—१) ब-गलेहु.

अर्थ—आयु गल जाती है, पर मन नहीं गलता, और न आशा ही गलती है । मोह स्फुरति होता है, परन्तु आत्महितका स्फुरण नहीं होता—इस तरह जीव संसारमें भ्रमण किया करता है ॥ ४९ ॥

जेहउ मणु विसयहँ रमइ तिमु जइ अप्प मुणेइ ।

जोइउ भणइ हो जोइयहुँ लहु णिन्वाणु लहेइ ॥ ५० ॥

[यथा मनः विषयाणां रमते तथा यदि आत्मानं जानाति ।

योगी भणति भो योगिनः लघु निर्वाणं लभ्यते ॥]

पाठान्तर—१) अप-रमै. २) झ-तिम जे. ३) अपझ-जोइउ भणइ रे जोइहु.

अर्थ—जिस तरह मन विषयोंमें रमण करता है, उस तरह यदि वह आत्माको जाननेमें रमण करे, तो हे योगिजनो ! योगी कहते हैं कि जीव शीघ्र ही निर्वाण पा जाय ॥ ५० ॥

जेहउ जज्जरु णरय-धरु तेहउ बुज्जि सरिरु ।

अप्पा भावहि णिम्मलउ लहु पावहि भवतीरु ॥ ५१ ॥

[यथा जर्जरं नरकगृहं तथा बुध्यस्व शरीरम् ।

आत्मानं भावय निर्मलं लघु प्राप्नोषि भवतीरम् ॥]

पाठान्तर—१) अपझ-भावहु.

अर्थ—हे जीव, जैसे नरकवास सैकड़ों छिद्रोंसे जर्जरित है, उसी तरह शरीरको भी (मल मूत्र आदिसे) जर्जरित समझ । अतएव निर्मल आत्माकी भावना कर, तो शीघ्र ही संसारसे पार होगा ॥ ५१ ॥

धंधइ पडियउ सयले जगि णवि अप्पा हु मुणंति ।

तहिँ कारणि एं जीव फुडु ण हु णिब्बाणु लहंति ॥ ५२ ॥

[धान्धे (?) पतिताः सकलाः जगति नैव आत्मानं खलु जानन्ति ।

तस्मिन् कारणे (तेन कारणेन) एते जीवाः स्फुटं न खलु निर्वाणं लभन्ते ॥]

पाठान्तर—१) ब-सयलु, २) प-तिहि कारणि, अझ-तिहि कारणे.

अर्थ—सब लोग संसारमें अपने अपने धंधेमें फँसे हुए हैं, और अपनी आत्माको नहीं पहिचानते । निश्चयसे इसी कारण ये जीव निर्वाणको नहीं पाते, यह स्पष्ट है ॥ ५२ ॥

सत्थ पढंतह ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति ।

तहिँ कारणि एं जीव फुडु ण हु णिब्बाणु लहंति ॥ ५३ ॥

[शास्त्रं पठन्तः ते अपि जडाः आत्मानं ये न जानन्ति ।

तस्मिन् कारणे (तेन कारणेन) एते जीवाः स्फुटं न खलु निर्वाणं लभन्ते ॥]

पाठान्तर—१) अ-तिहि कारणे, प-तिहि कारणि, झ-तिह कारणे.

अर्थ—जो शास्त्रोंको तो पढ़ लेते हैं, परन्तु आत्माको नहीं जानते, वे लोग भी जड़ ही हैं । तथा निश्चयसे इसी कारण ये जीव निर्वाणको नहीं पाते यह स्पष्ट है ॥ ५३ ॥

मणुइंदिहि वि छोडियइ (?) मुहु पुच्छियइ ण कोइ ।

रायहँ पसरु णिवारियइ सहजँ उपज्जइ सोइ ॥ ५४ ॥

[मनइन्द्रियेभ्यः अपि मुच्यते बुधः पृच्छयते न कः अपि ।

रागस्य प्रसरः निवार्यते सहजः उत्पद्यते स अपि ॥]

पाठान्तर—१) अपझ-छोइयइ, ब-छोहियइ. २) पब-सहजि.

अर्थ—यदि पण्डित, मन और इन्द्रियोंसे छुटकारा पा जाय, तो उसे किसीसे कुछ पूछनेकी जरूरत नहीं । यदि रागका प्रवाह रुक जाय, तो वह (आत्मभाव) सहज ही उत्पन्न हो जाता है ॥ ५४ ॥

पुगलु अण्णु जि अण्णु जिउं अण्णु वि सहु ववहारु ।

चयहि वि पुगलु गहहि जिउ लहु पावहिँ भवपारु ॥ ५५ ॥

[पुद्गलः अन्यः एव अन्यः जीवः अन्यः अपि सर्वः व्यवहारः ।

त्यज अपि पुद्गलं गृहाण जीवं लघु प्राप्नोषि भवपारम् ॥]

पाठान्तर—१) अ-अणु जियउ, प-अणु जीउ. २) अपद्ग-पावहु.

अर्थ—पुद्गल भिन्न है और जीव भिन्न है, तथा अन्य सब व्यवहार भिन्न है । अतएव पुद्गलको छोड़ और जीवको ग्रहण कर—इससे तू शीघ्र ही संसारसे पार होगा ॥ ५५ ॥

जे णवि मण्णेहि जीव फुडु जे णवि जीउ मुणंति ।

ते जिण-णाहँ उत्तिया णंउ संसार मुचंति ॥ ५६ ॥

[ये नैव मन्यन्ते जीवं स्फुटं ये नैव जीवं जानन्ति ।

ते जिननाथस्य उत्तया न तु (नैव ?) संसारात् मुच्यन्ते ॥]

पाठान्तर—१) अबद्ग-मणाहे. २) ब-णउ णिव्वाणु लहंति. ३) अ-मुचंति.

अर्थ—जो जीवको स्पष्टरूपसे न समझते हैं, और जो उसे न पहिचानते हैं, वे संसारमें कभी छुटकारा नहीं पाते—ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ५६ ॥

रयण दीउं दिणयर दद्धिउ दुध्दु धीव पाहाणु ।

सुण्णउ रूउं फलिहउ अगिणि णव दिट्ठता जाणुं ॥ ५७ ॥

[रत्नं दीपः दिनकरः दधि दुग्धं घृतं पाषाणः ।

सुवर्णं रूप्यं स्फटिकं अग्निः नव दृष्टान्तान् जानीहि ॥]

पाठान्तर—१) अपद्ग-दियउ. २) अपब-घाउ. ३) प-सेणा, झ-सुण्ण. ४) अ-रूप, पक्ष-रूप. ५) ब-जाणि.

अर्थ—रत्न, दीप, सूर्य, दही, दूध, घी, पाषाण, सोना, चाँदी, स्फटिकमणि, और अग्नि ये (जीवके) नौ दृष्टान्त जानने चाहिये ॥ ५७ ॥

देहादिउं जो परु मुणइ जेहउ सुण्णु अयासु ।

सो लहु पावइ (?) वंशु परु केवलु करइ पयासु ॥ ५८ ॥

[देहादिकं यः परं जानाति यथा शून्यं आकाशम् ।

स लघु प्राप्नोति ब्रह्म परं केवलं करोति प्रकाशम् ॥]

पाठान्तर—१) अपद्ग-देहादिक. २) अपबद्ग-पावहि.

अर्थ—जो शून्य आकाशकी तरह देह आदिको पर समझता है, वह शीघ्र ही परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है, और वह केवल प्रकाश करता है ॥ ५८ ॥

जेहउ सुद्ध अयासु जिय तेहउं अण्णा वुत्तु ।

आयासु वि जहु जाणि जिय अण्णा चेयणुवंतु ॥ ५९ ॥

[यादृक् शुद्धं आकाशं जीव तादृशः आत्मा उक्तः ।

आकाशं अपि जडं जानीहि जीव आत्मानं चैतन्यवन्तम् ॥]

पाठान्तर—१) अप-तेहो.

अर्थ—हे जीव ! जैसे आकाश शुद्ध है वैसे ही आत्मा भी शुद्ध कही गई है । दोनोंमें अन्तर केवल इतना ही है कि आकाश जड़ है और आत्मा चैतन्यलक्षणसे युक्त है ॥ ५९ ॥

णासग्मिं अग्निभतरहं जे जोवहिं असरीरु ।

बाहुडि जम्मि ण संभवहिं पिवहिं ण जणणी-खीरु ॥ ६० ॥

[नासाग्रेण अभ्यन्तरे (?) ये पश्यन्ति अशरीरम् ।

लज्जाकरे जन्मनि न संभवन्ति पिवन्ति न जननीक्षीरम् ॥]

पाठान्तर—१) अण-जासगि. २) अपह-जम्म ण संभवइ. ३) ब-पियहि.

अर्थ—जो नासिकापर दृष्टि रखकर अभ्यन्तरमें अशरीरको (आत्माको) देखते हैं, वे इस लज्जाजनक जन्मको फिरसे धारण नहीं करते, और वे माताके दूधका पान नहीं करते ॥ ६० ॥

असरीरु वि सुसरीरु मुणि इहु सरीरु जडु जाणि ।

मिच्छा-मोहं परिचयहि मुत्ति णियं वि ण माणिं ॥ ६१ ॥

[अशरीरं अपि सु(स-)शरीरं जानीहि इदं शरीरं जडं जानीहि ।

मिथ्यामोहं परित्यज मूर्तिं निजां अपि न मन्यस्व ॥]

पाठान्तर—१) ब-मिच्छामोहि. २) अपवह-विणिमाणि.

अर्थ—अशरीर (आत्मा) को ही सुन्दर शरीर समझो, और इस शरीरको जड़ मानो; मिथ्या-मोहका त्याग करो और अपने शरीरको भी अपना मत मानो ॥ ६१ ॥

अप्पहं अप्पु मुणंतयहं किं जेहा फलु होइ ।

केवल-णाणु वि परिणवइ सासय-सुखु लहेइ ॥ ६२ ॥

[आत्मना आत्मानं जानतां किं न इह फलं भवति ।

केवलज्ञानं अपि परिणमति शाश्वतसुखं लभ्यते ॥]

पाठान्तर—१) अपह-अप्पय.

अर्थ—आत्माको आत्मासे जाननेमें यहाँ कौनसा फल नहीं मिलता ? और तो क्या इससे. केवलज्ञान भी हो जाता है, और जीवको शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ६२ ॥

जे परभाव चएवि मुणि अप्पा अप्प मुणंति ।

केवल-णाण-सरुवं लइ (लहि?) ते संसारु मुचंति ॥ ६३ ॥

[ये परभावं त्यक्त्वा मुनयः आत्मना आत्मानं जानन्ति ।

केवलज्ञानस्वरूपं लात्वा (लब्ध्वा?) ते संसारं मुञ्चन्ति ॥]

पाठान्तर—१) ब-सरुवि.

अर्थ—जो मुनि परभावका त्याग कर अपनी आत्मासे अपनी आत्माको पहिचानते हैं, वे केवलज्ञान प्राप्त कर संसारसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

धण्यां ते भयवंतं बुद्धं जे परभाव चयंति ।

लोयालोय-पयासयरु अप्पा विमलं मुणंति ॥ ६४ ॥

[धन्याः ते भगवन्तः बुधाः ये परभावं त्यजन्ति ।

लोकालोकप्रकाशकरं आत्मानं विमलं जानन्ति ॥]

पाठान्तर—१) ब-धम्मा. २) व-अप्पा अप्पु.

अर्थ—उन भगवान् पण्डितोंको धन्य हैं, जो परभावका त्याग करते हैं, और जो लोका-लोकप्रकाशक निर्मल आत्माको जानते हैं ॥ ६४ ॥

सागारु वि णागारु कु विं जो अप्पाणि वसेइ ।

सो लहु पावइ सिद्धि-सुहुं जिणवरु एम भणेइ ॥ ६५ ॥

[सागारः अपि अनगरः कः अपि यः आत्मनि वसति ।

स लघु प्राप्नोति सिद्धिसुखं जिनवरः एवं भणति ॥]

पाठान्तर—१) अ-णगारु वि. २) प-सिद्धसुहु.

अर्थ—गृहस्थ हो या मुनि हो, जो कोई भी निज आत्मामें वास करता है, वह शीघ्र ही सिद्धिसुखको पाता है, ऐसा जिनभगवान्ने कहा है ॥ ६५ ॥

विरला जाणंहिं तत्तु बुद्धं विरला णिसुणंहिं तत्तु ।

विरला ज्ञायहिं तत्तु जिय विरला धारहिं तत्तु ॥ ६६ ॥

[विरलाः जानन्ति तत्त्वं बुधाः विरलाः निशृण्वन्ति तत्त्वम् ।

विरलाः ध्यायन्ति तत्त्वं जीव विरलाः धारयन्ति तत्त्वम् ॥]

पाठान्तर—१) ब-जाणंहिं. २) अपझ-बुहु. ३) अपझ-णिसुणहु.

अर्थ—विरले पण्डित लोग ही तत्त्वोंको समझते हैं, विरले ही तत्त्वोंको श्रवण करते हैं, विरले ही तत्त्वोंका ध्यान करते हैं, और विरले जीव ही तत्त्वोंको धारण करते हैं ॥ ६६ ॥

इहु परियण ण हु महुनणउं इहु सुहु-दुक्खहं हेउ ।

इम चिंतंतहं किं करइ लहु संसारहं छेउ ॥ ६७ ॥

[एष परिजनः न खलु मदीयः एष सुखदुःखयोः हेतुः ।

एवं चिन्तयतां किं क्रियते लघु संसारस्य छेदः ॥]

पाठान्तर—१) अझ-महतणो. प-महजणो. २) ब-इउ चिंतंतउ किं करय.

अर्थ—यह कुटुम्ब परिवार निश्चयसे मेरा नहीं है, यह मात्र सुखदुःखका ही हेतु है—इस प्रकार विचार करनेसे शीघ्र ही संसारका नाश किया जा सकता है ॥ ६७ ॥

इंद-फण्णिंद-णारिंदय विं जीवहं सरणु ण होति ।

असरणु जाणिविं मुणि-भवला अप्पा अप्प मुणंति ॥ ६८ ॥

[इन्द्रफणीन्द्रनरेन्द्राः अपि जीवानां शरणं न भवन्ति ।

अशरणं ज्ञात्वा मुनिधवलाः आत्मना आत्मानं जानन्ति ॥]

पाठान्तर—१) अङ्ग-णरिंद ण वि. प-णरिंद वि २) अप-जाणवि.

अर्थ—इन्द्र, फणीन्द्र और नरेन्द्र भी जीवोंको शरणभूत नहीं हो सकते; इस तरह अपनेको शरणरहित जानकर उत्तम मुनि निज आत्मासे निज आत्माको जानते हैं ॥ ६८ ॥

इक्क उपज्जइ मरइ कु विं दुहु सुहु भुंजइ इक्कु ।

णरयहँ जाइ वि इक्क जिउ तहँ णिन्वाणहँ इक्कु ॥ ६९ ॥

[एकः उत्पद्यते म्रियते एकः अपि दुःखं सुखं भुनक्ति एकः ।

नरकेभ्यः याति अपि एकः जीवः तथा निर्वाणाय एकः ॥]

पाठान्तर—१) ब-उप्पजउ. २) अ-इक्क मरइ इक्क वि, प-मरइ इक्क वि, ब-मरइक्क वि.

३) ब-तहिं.

अर्थ—जीव अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मरता है और वह अकेला ही सुखदुःखका उपभोग करता है। वह नरकमें भी अकेला ही जाता है और निर्वाणको भी वह अकेला ही प्राप्त करता है ॥ ६९ ॥

एक्कुलउ जइ जाइसिहिं तो परभाव चएहि ।

अप्पा ज्ञायहि णाणमउ लहु सिव-सुखखँ लहेहि ॥ ७० ॥

[एकाकी यदि यास्यसि तर्हि परभावं त्यज ।

आत्मानं ध्यायस्व ज्ञानमयं लघु शिवसुखं लभसे ॥]

पाठान्तर—१) अप-इक्कुलउ, झ-इक्कुलउ. २) प-जइसहि. ३) पवझ-सिवसुख.

अर्थ—हे जीव ! यदि तू अकेला ही है तो परभावका त्याग कर और आत्माका ध्यान कर, जिससे तू शीघ्र ही ज्ञानमय मोक्षसुखको प्राप्त कर सके ॥ ७० ॥

जो पाउ वि सो पाउ मुणिं सच्चु इ को विं मुणेइ ।

जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुहँ (?) को वि हवेइ ॥ ७१ ॥

[यत् पापं अपि तत् पापं जानाति (?) सर्वः इति कः अपि जानाति ।

यः पुण्यं अपि पापं इति भणति स बुधः कः अपि भवति ॥]

पाठान्तर—१) अपझ-भणि. २) अपझ-सच्चु (सच्चु) इक्को वि. ३) अपवझ-बहु.

अर्थ—जो पाप है उसको जो पाप जानता है, यह तो सब कोई जानता है। परन्तु जो पुण्यको भी पाप कहता है, ऐसा पंडित कोई विरला ही होता है ॥ ७१ ॥

जह लोहम्मिये णियडं बुह तह सुण्णम्मिय जाणि ।

जे सुहँ असुह परिचयहिं ते वि हवन्ति हुं णाणि ॥ ७२ ॥

[यथा लोहमयं निगडं बुध तथा सुवर्णमयं जानीहि ।

ये शुभं अशुभं परित्यजन्ति ते अपि भवन्ति खलु ज्ञानिनः ॥]

पाठान्तर—१) अ-लोहमय.

२) ब-गिलय (गियल ?).

३) अपह-सो सुह.

४) अपह-ह्वंति ण.

अर्थ—हे पण्डित ! जैसे लोहेकी साँकलको तू साँकल समझता है उसी तरह तू सोनेकी साँकलको भी साँकल ही समझ । जो शुभ अशुभ दोनों भावोंका परित्याग कर देते हैं, निश्चयसे वे ही ज्ञानी होते हैं ॥ ७२ ॥

जइया मणु णिग्गंथु जिय तइया तुहँ णिग्गंथु ।

जइया तुहँ णिग्गंथु जिय तो लब्भइ सिक्खंथु ॥ ७३ ॥

[यदा मनः निर्ग्रन्थः जीव तदा त्वं निर्ग्रन्थः ।

यदा त्वं निर्ग्रन्थः जीव ततः लभ्यते सिक्खण्याः ॥]

पाठान्तर—१) अपह-तौ.

अर्थ—हे जीव ! जब तेरा मन निर्ग्रन्थ हो गया तो तू भी निर्ग्रन्थ हो गया; और जब तू निर्ग्रन्थ हो गया, तो उससे मोक्षमार्ग मिल जाता है ॥ ७३ ॥

जे वडमज्झहँ बीउं फुट्टु बीयहं वडु वि हुं जाणु ।

तं देहहँ देउ वि मुणहिँ जो तइलोय-पहाणु ॥ ७४ ॥

[यद् वटमध्ये बीजं स्फुटं बीजे वटं अपि खलु जानीहि ।

तं देहे देवं अपि जानीहि यः त्रिलोकप्रधानः ॥]

पाठान्तर—१) अपह-बीज. २) अपह-वड विह. ३) अप-देउ मुणहि.

अर्थ—जैसे बड़े के वृक्षमें बीज स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही बीजमें भी वड़वृक्ष रहता है । इसी तरह देहमें भी उस देवको विराजमान समझो, जो तीनों लोकोंमें मुख्य है ॥ ७४ ॥

जो जिण सो हउँ सो जि हेउँ एहउ भाउ णिभंतु ।

मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥ ७५ ॥

[यः जिनः स अहं स एव अहं एतद् भावय निभ्रान्तम् ।

मोक्षस्य कारणं योगिन् अन्यः न तन्त्रः न मन्त्रः ॥]

पाठान्तर—१) अ-णिह.

अर्थ— जो जिनदेव हैं वह मैं हूँ, वही मैं हूँ—इसकी भ्रान्तिरहित होकर भावना कर । हे योगिन् ! मोक्षका कारण कोई अन्य मन्त्र तन्त्र नहीं है ॥ ७५ ॥

वे ते चउ पंच वि णवहँ सत्तहँ छह पंचाहँ ।

चउगुण-सहियउं सो मुणह एयँइ लक्खण जाहँ ॥ ७६ ॥

[द्वित्रिचतुःपञ्चापि नवानां सप्तानां षट् पञ्चानाम् ।

चतुर्गुणसहितं तं जानीहि एतानि लक्षणानि यस्य ॥]

पाठान्तर—१) अप-सहियो. २) अप-एहो, झ-एहउ.

अर्थ—दो, तीन, चार, पाँच, नौ, सात, छह, पाँच, और चार गुण, ये (परमात्माके) लक्षण समझने चाहिये ॥ ७६ ॥

बे छंडिवि' बे-गुण-सहिउ जो अप्पाणि वसेइ ।

जिणु सामिउ एमैइ भणइ लहु णिब्बाणु लहेइ ॥ ७७ ॥

[द्वौ त्यक्त्वा द्विगुणसहितः यः आत्मनि वसति ।

जिनः स्वामी एवं भणति लघु निर्वाणं लभते ॥]

पाठान्तर—१) अप-छंडवि. २) अपझ-विसेइ. ३) अपझ-जिणसामी एवं. ४) झ-लहेहि.

अर्थ—जो दोका (राग द्वेष) परित्याग कर, दो गुणोंसे (सम्यग्ज्ञान दर्शन) युक्त होकर आत्मामें निवास करता है, वह शीघ्र ही निर्वाण पाता है, ऐसा जिनेन्द्रभगवान्ने कहा है ॥ ७७ ॥

तिहिँ रहियउं तिहिँ गुण-सहिउ जो अप्पाणि वसेइ ।

सो सासय-सुहँ-भायणु वि जिणवरु एम भणेइ ॥ ७८ ॥

[त्रिभिः रहितः त्रिभिः गुणसहितः यः आत्मनि वसति ।

स शाश्वतसुखभाजनं अपि जिनवरः एवं भणति ॥]

पाठान्तर—१) अप-रहियो, झ-रहिउ तिह. २) झ-अप्पाण ३) झ-सुहु भायणु

अर्थ—जो तीनसे (राग द्वेष मोह) रहित होकर तीन गुणोंसे (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) युक्त होता हुआ आत्मामें निवास करता है, वह शाश्वत सुखका पात्र होता है, ऐसा जिनदेवने कहा है ॥ ७८ ॥

चउ-कसाय-सण्णा-रहिउ चउ-गुण-सहियउं वुत्तु ।

सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ जिम परुँ होहि पवित्तु ॥ ७९ ॥

[चतुःकषायसंज्ञारहितः चतुर्गुणसहितः उक्तः ।

स आत्मा (इति) जानीहि जीव त्वं यथा परः भवसि पवित्रः ॥]

पाठान्तर—१) अप-सहियो, झ-सहिउ. २) अपझ-पर.

अर्थ—हे जीव ! जो चार कषायों और चार संज्ञासे रहित होकर चार गुणोंसे (अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य) सहित होता है, उसे तू आत्मा समझ; जिससे तू परम पवित्र हो सके ॥ ७९ ॥

बे-पंचहँ रहियउ मुणहि बे-पंचहँ संजुत्तु ।

बे-पंचहँ जो गुणसहिउ सो अप्पा णिरुँ वुत्तु ॥ ८० ॥

[द्विपञ्चानां (-पञ्चभिः ?) रहितः (इति) जानीहि द्विपञ्चानां संयुक्तः ।

द्विपञ्चानां यः गुणसहितः स आत्मा निश्चयेन उक्तः ॥]

पाठान्तर—१) अपद्म-सो. २) अपद्म-णर.

अर्थ—जो दससे रहित, दससे सहित और दस गुणोंसे सहित है, उसे निश्चयसे आत्मा कहा है ॥ ८० ॥

अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि ।

अप्पा संजमुं सील तउ अप्पा पच्चक्खाणिं ॥ ८१ ॥

[आत्मानं दर्शनं ज्ञानं जानीहि आत्मानं चरणं विजानीहि ।

आत्मानं संयमं शीलं तपः आत्मानं प्रत्याख्यानम् ॥]

पाठान्तर—१) अज्ञ-संयम. २) अ-पच्चकोणु, ब-पच्चव्याणु, प-पच्चक्खाण, झ-पच्चखाणि.

अर्थ—आत्माको ही दर्शन और ज्ञान समझो; आत्मा ही चारित्र्य है, और संयम, शील, तप और प्रत्याख्यान भी आत्माको ही मानो ॥ ८१ ॥

जो परियाणइ अप्प परु सो परु चयइं णिभंतु ।

सो सण्णासु मुणेहि तुहुं केवल-णाणिं उत्तु ॥ ८२ ॥

[यः परिजानाति आत्मानं स परं त्यजति निर्भ्रान्तम् ।

तत् सन्न्यासं जानीहि त्वं केवलज्ञानिना उक्तम् ॥]

पाठान्तर—१) ब-जो. २) अपद्म-चयहि. ३) अपद्म-केवलणाणिय.

अर्थ—जो निजको और परको जान लेता है वह भ्रान्तिरहित होकर परका त्याग कर देता है । हे जीव ! तू उसे ही संन्यास समझ—ऐसा केवलज्ञानीने कहा है ॥ ८२ ॥

रयणत्तय-संजुत्त जिउ उत्तिमु तित्थुं पवित्तुं ।

मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥ ८३ ॥

[रत्नत्रयसंयुक्तः जीवः उत्तमं तीर्थं पवित्रम् ।

मोक्षस्य कारणं योगिन् अन्यः न तन्त्रः न मन्त्रः ॥]

पाठान्तर—१) ब-उत्तम तित्थ. २) अपद्म-पउत्तु. ३) अपद्म-८४.

अर्थ—हे योगिन् ! रत्नत्रययुक्त जीव ही उत्तम पवित्र तीर्थ है, और वही मोक्षका कारण है । अन्य कुछ मन्त्र तन्त्र मोक्षका कारण नहीं ॥ ८३ ॥

दंसणु जं पिच्छियइ बुह अप्पा विमल महंतुं ।

पुणु पुणु अप्पा भावियएँ सो चारित्त पवित्तु ॥ ८४ ॥

[दर्शनं यत् प्रेक्ष्यते बुधः (बोधः) आत्मा विमलः महान् ।

पुनः पुनर् आत्मा भाव्यते तत् चारित्रं पवित्रम् ॥]

पाठान्तर—१) ब-जहि. २) ब-एहु णिभंतु. ३) अप-भावियइए, ब-झाइयइ, झ-भावियइ.

४) अज्ञ-८३.

अर्थ—जिसके द्वारा देखा जाता है वह दर्शन है, जो निर्मल महान् आत्मा है वह ज्ञान है, तथा आत्माकी जो पुनः पुनः भावना की जाती है वह पवित्र चारित्र है ॥ ८४ ॥

जहिँ अप्पा तेहिँ सयल-गुण केवलिनँ एम भणन्ति ।

तिहिँ कारणँँ जोई फुड्ड अप्पा विमल मुणन्ति ॥ ८५ ॥

[यत्र आत्मा तत्र सकलगुणाः केवलिनः एवं भणन्ति ।

तेन (?) कारणेन योगिनः स्फुटं आत्मानं विमलं जानन्ति ॥]

पाठान्तर—१) अपझ-तिहि. २) अझ-केवल. ३) ब-तहि कारणिए. ४) अपझ-जीव.

अर्थ—जहाँ आत्मा है वहाँ समस्त गुण हैं—ऐसा केवलियोंने कहा है । इसलिये योगी लोग निश्चयसे निर्मल आत्माको पहिचानते हैं ॥ ८५ ॥

एकलउं इंदिय-रहियउं मण-वय-काय-ति-सुद्धिँ ।

अप्पा अप्पु मुँणेहि तुहुँ लहु पावँहि सिव-सिद्धिँ ॥ ८६ ॥

[एकाकी इन्द्रियरहितः मनोवाक्कायत्रिशुद्ध्या ।

आत्मन् आत्मानं जानीहि त्वं लघु प्राप्नोषि शिवसिद्धिम् ॥]

पाठान्तर—१) अपझ-इकलउ. २) बझ-रहिय. ३) ब-सूधि. ४) अपझ-मुणेइ.

५) अपझ-पावहु. ६) अपझ-सुद्धि.

अर्थ—हे आत्मन् ! तू एकाकी, इन्द्रियरहित और मन वचन कायकी शुद्धिसे आत्माको जान; उससे तू शीघ्र ही मोक्षसिद्धिको प्राप्त करेगी ॥ ८६ ॥

जइ बद्धउं मुक्कउ मुणहि तो बंधियँहि णिभंतु ।

सहज-सरूवइँ जइ रमहि तो पावँहि सिव संतु ॥ ८७ ॥

[यदि बद्धं मुक्तं मन्यसे ततः बध्यसे निर्भ्रान्तम् ।

सहजस्वरूपे यदि रमसे ततः प्राप्नोषि शिवं शान्तम् ॥]

पाठान्तर—१) अपझ-बद्धो. २) ब-बंधिहि. ३) ब-सरूवि. ४) अ-रमइहि, पवझ-रमइ.

अर्थ—यदि तू बद्धको मुक्त समझेगा तो निश्चयसे तू बँधेगा । तथा यदि तू सहजस्वरूपमें रमण करेगा तो शान्त निर्वाणको पावेगा ॥ ८७ ॥

सम्माइटी-जीवडहँ दुग्गइ-गमणु ण होइ ।

जइ जाइ वि' तो दोसु णवि पुब्ब-क्किउं खवणेइँ ॥ ८८ ॥

[सम्यग्दृष्टिजीवस्य दुर्गतिगमनं न भवति ।

यदि याति अपि तर्हि (ततः?) दोषः नैव पूर्वकृतं क्षपयति ॥]

पाठान्तर—१) ब-जाइसि. २) ब-पुब्बुक्किउ. झ-पुब्बकियउ. ३) अपझ-खवणेइ.

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव कुगतिर्योमें नहीं जाता । यदि कदाचित् वह जाता भी है तो इसमें सम्यक्त्वका दोष नहीं । इससे वह पूर्वकृत कर्मका ही क्षय करता है ॥ ८८ ॥

अप्प-सख्वहँ (-सख्वइ ?) जो रमइ छंडिवि सहु ववहारु ।

सो सम्माइट्टी हवइ लहु पावइ भवपारु ॥ ८९ ॥

[आत्मस्वरूपे यः रमते त्यक्त्वा सर्वं व्यवहारम् ।

स सम्यग्दृष्टिः भवति लघु प्राप्नोति भवपारम् ॥]

पाठान्तर—१) अपझ-जइ. २) अपझ-छंडवि. ३) अपझ-पावहु, ब-पावहि.

अर्थ—जो सर्व व्यवहारको छोड़कर आत्मस्वरूपमें रमण करता है, वह सम्यग्दृष्टि जीव है, और वह शीघ्र ही संसारसे पार हो जाता है ॥ ८९ ॥

जो सम्मत्त-पहाण बुहु सो तइलोय-पहाणु ।

केवल-णाण वि लहु लहइ सासय-सुक्ख-णिहाणुं ॥ ९०^३ ॥

[यः सम्यक्त्वप्रधानः बुधः स त्रिलोकप्रधानः ।

केवलज्ञानमपि लघु लभते शाश्वतसौख्यनिधानम् ॥]

पाठान्तर—१) ब-सासइ सुवल होइ सुवल होइ (?). २) अपझ-९१

अर्थ—जिसके सम्यक्त्वका प्राधान्य है वही पण्डित है और वही त्रिलोकमें प्रधान है। वह जीव शाश्वत सुखके निधान केवलज्ञानको भी शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है ॥ ९० ॥

अजरु अमरु गुण-गण-णिलउ जहिँ अप्पा थिरु ठाई ।

सो कम्महिँ ण बंधियउं संचिय-पुब्बं विलाइ ॥ ९१^४ ॥

[अजरः अमरः गुणगणानिलयः यत्र आत्मा स्थिरः तिष्ठति ।

स कर्मभिः न बद्धः संचितपूर्वं विलीयते ॥]

पाठान्तर—१) ब-थिर होइ, झ-थिर थाइ. २) अ-णवि बंधियउ, झ-कम्महिँ ण वि बंधियउ, ब-ण परिणमइ. ३) ब-संचउ पुब्ब. ४) अपझ-९०.

अर्थ—जहाँ अजर अमर तथा गुणोंकी आगारभूत आत्मा स्थिर हो जाती है, वहाँ जीव कर्मोंसे बद्ध नहीं होता, और वहाँ पूर्वमें संचित किये हुए कर्मोंका ही नाश होता है ॥ ९१ ॥

जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणि-पत्त कया वि^५ ।

तह कम्महिँ ण लिप्पियइ जइ रइँ अप्प-सहावि ॥ ९२ ॥

[यथा सलिलेन न लिप्यते कमलिनीपत्रं कदा अपि ।

तथा कर्मभिः न लिप्यते यदि रतिः आत्मस्वभावे ॥]

पाठान्तर—१) अप-लिप्पियइ, झ-लिप्पइ. २) अपझ-कहा वि. ३) अपझ-कम्मेण, ४) अप-लिप्पियइ, झ-लिप्पइ. ५) अपझ-जह रहइ. ब-जह.

अर्थ—जिस तरह कमलिनीका पत्र कभी भी जलसे लिप्त नहीं होता, उसी तरह यदि आत्म-स्वभावमें रति हो, तो जीव कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ९२ ॥

जो सम-सुख-गिलीणु बुहु पुण पुण अप्पु मुणेइ ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिब्बाणु लहेइं ॥ ९३ ॥

[यः शमसौख्यनिलीनः बुधः पुनः पुनः आत्मानं जानाति ।
कर्मक्षयं कृत्वा स अपि स्फुटं लघु निर्वाणं लभते ॥]

पाठान्तर—१) अपझ-लहेवि.

अर्थ—जो शम और सुखमें लीन हुआ पण्डित बारबार आत्माको जानता है, वह निश्चय ही कर्मोंका क्षयकर शीघ्र ही निर्वाण पाता है ॥ ९३ ॥

पुरिसायार-पमाणु जिय अप्पा एहु पविन्तु ।
जोइज्जइ गुण-गण-णिलउं णिम्मल-तेय-फुरंतुं ॥ ९४ ॥

[पुरुषाकारप्रमाणः जीव आत्मा एव पवित्रः ।
दृश्यते गुणगणनिलयः निर्मलतेजःस्फुरन् ॥]

पाठान्तर—१) अप-य बंधु, ब-पउत्तु. २) अपझ-गुणणिम्मलउ. ३) अपझ-फुरंति.

अर्थ—हे जीव ! पुरुषाकार यह आत्मा पवित्र है, यह गुणोंकी राशि है और यह निर्मल तेजको स्फुरित करती हुई दिखाई देती है ॥ ९४ ॥

जो अप्पा सुद्धु वि मुणइ असुइ-सरीर-विभिण्णु ।
सो जाणइ सत्थइं सयलं सासय-सुक्खइं लीणु ॥ ९५ ॥

[यः आत्मानं शुद्धं अपि जानाति अशुचिशरीरविभिन्नम् ।
स जानाति शास्त्राणि सकलानि शाश्वतसौख्ये(?) लीनः ॥]

पाठान्तर—१) अपझ-सत्थ य सयल.

अर्थ—जो शुद्ध आत्माको अशुचि शरीरसे भिन्न समझता है, वह शाश्वत सुखमें लीन होकर समस्त शास्त्रोंको जान जाता है ॥ ९५ ॥

जो णवि जाणइ अप्पु परु णवि परभाउं चएइं ।
सो जाणउं सत्थइं सयलं ण हु सिवसुक्खु लहेइं ॥ ९६ ॥

[यः नैव जानाति आत्मानं परं नैव परभावं त्यजति ।
स जानातु शास्त्राणि सकलानि न खलु शिवसौख्यं लभते ॥]

पाठान्तर—१) ब-परभाव २) अप-चएवि, झ-चहेवि ३) ब-जाणइ. ४) अपझ-सत्थ य

सयल. ५) अपझ-लहेवि.

अर्थ—जो न तो परमात्माको जानता है, और न परभावका त्याग ही करता है, वह भले ही समस्त शास्त्रोंको जान जाय, परन्तु वह मोक्षसुखको प्राप्त नहीं करता ॥ ९६ ॥

वज्जिय सयल-वियप्पइं परम-समाहि लहंति ।
जं विंदंहिं साणंदु क विं सो सिव-सुक्ख भणंति ॥ ९७ ॥

[वर्जितं सकलविकल्पेन परमसमार्धिं लभन्ते ।

यद् विन्दन्ति सानन्दं किं अपि तत् शिवसौख्यं भणन्ति ॥]

पाठान्तर—१) अपज्ञ-विषयपह. २) अ-विदवि, प-विददि, झ-वेददि. ३) अ-साणंद कुवि, प-साणंद कु वि, झ-साणंद फुड.

अर्थ—जो समस्त विकल्पोसे रहित होकर परम समाधिको प्राप्त करते हैं, वे आनन्दका अनुभव करते हैं, वह मोक्षसुख कहा जाता है ॥ ९७ ॥

जो पिण्डत्थु पयत्थु बुहं ख्वत्थु वि जिण-उत्तु ।

स्वातीतु मुणोहि लहु जिम परू होहि पवित्तु ॥ ९८ ॥

[यत् पिण्डस्थं पदस्थं बुध रूपस्थं अपि जिनोक्तम् ।

रूपातीतं जानीहि लघु यथा परः भवसि पवित्रः ॥]

पाठान्तर—१) प-बुहा, ब-बहु. २) अपज्ञ-मुणेहु.

अर्थ—हे बुध ! जिनभगवान् के कहे हुए पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानको समझ; जिससे तू शीघ्र ही परम पवित्र हो सके ॥ ९८ ॥

सब्बे जीवा णाणमयां जो सम-भाव मुणेइ ।

सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ ॥ ९९ ॥

[सर्वे जीवाः ज्ञानमयाः (इति) यः समभावः ज्ञायते ।

तत् सामायिकं जानीहि स्फुटं जिनवरः एवं भणति ॥]

पाठान्तर—१) अज्ञ-णाणमय.

अर्थ—समस्त जीव ज्ञानमय हैं, इस प्रकार जो समभाव है, उसे निश्चयसे सामायिक समझो, ऐसा जिनभगवान् ने कहा है ॥ ९९ ॥

राय-रोस बे' परिहरिवि' जो समभाउ मुणेइ ।

सो सामाइउ जाणि फुडु केवलि एम भणेइ ॥ १०० ॥

[राग-रोषौ द्वौ परिहृत्य यः समभावः मन्यते ।

तत् सामायिकं जानीहि स्फुटं जिनवरः एवं भणति ॥]

पाठान्तर—१) अप-वि. २) अपज्ञ-परिहरवि.

अर्थ—राग और द्वेष इन दोनोंको छोड़कर जो समभाव होता है, उसे निश्चयसे सामायिक समझो ऐसा जिनभगवान् ने कहा है ॥ १०० ॥

हिंसादिउ-परिहारु करि जो अप्पा हु ठवेइ ।

सो वियऊं चारित्तु मुणि जो पंचम-गइ णेइ ॥ १०१ ॥

[हिंसादिकपरिहारं कृत्वा यः आत्मानं खलु स्थापयति ।

तद् द्वितीयं चारित्रं जानीहि यत् पञ्चमगतिं नयति ॥]

पाठान्तर—१) अपझ-हिंसादिक २) पब-वियउ, झ-विउ. ३) ब-लेइ

अर्थ—हिंसादिकका त्याग कर जो आत्माको स्थिर करता है, उसे दूसरा चारित्र (छेदोपस्थापना)

समझो—यह पंचमगतिको ले जानेवाला है ॥ १०१ ॥

मिच्छादिउं जो परिहरणु सम्महंसण-सुद्धि ।

सो परिहार-विसुद्धि मुणि लहु पावहि सिव-सिद्धि ॥ १०२ ॥

[मिथ्यादेः (?) यत् परिहरणं सम्यग्दर्शनशुद्धिः ।

तां परिहारविशुद्धिं जानीहि लघु प्राप्नोषि शिवसिद्धिम् ॥]

पाठान्तर—१) अपझ-मिच्छादिक, य-मिच्छादिक (?). २) अपझ-सिवसुद्धि.

अर्थ—मिथ्यात्व आदिके परिहारसे जो सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती है, उसे परिहारविशुद्धि

समझो, उससे जीव शीघ्र ही मोक्षसिद्धिको प्राप्त करता है ॥ १०२ ॥

सुहुमहँ लोहहँ जो विलउं जो सुहुमु वि परिणामु ।

सो सुहुमु वि चारित्त मुणि सो सासय-सुह-धामु ॥ १०३ ॥

[सूक्ष्मस्य लोभस्य यः विलयः यः सूक्ष्मः अपि परिणामः ।

तत् सूक्ष्मं अपि चारित्रं जानीहि तत् शाश्वतसुखधाम ॥]

पाठान्तर—१) ब-सुहुमुहं. २) अप-विलसो (विलयो ?). अपझ-सुहमु हवे परिणामु.

अर्थ—सूक्ष्म लोभका नाश होनेसे जो सूक्ष्म परिणामोंका अवशेष रह जाना है, वह सूक्ष्मचारित्र

है; वह शाश्वत सुखका स्थान है ॥ १०३ ॥

अरहंतुं वि सो सिद्धु फुडु सो आयरिउ वियाणि ।

सो उवझायउं सो जि मुणि णिच्छहँ अप्पा जाणि ॥ १०४ ॥

[अर्हन् अपि स सिद्धः स्फुटं स आचार्यः (इति) विजानीहि ।

स उपाध्यायः स एव मुनिः निश्चयेन आत्मा (इति) जानीहि ॥]

पाठान्तर—१) झ-अरिहंतु. २) अप-सो उज्झाउ वि, झ-सो उज्झावो.

अर्थ—निश्चयनयसे आत्मा ही अर्हत् है, वही निश्चयसे सिद्ध है, और वही आचार्य है, और

उसे ही उपाध्याय तथा मुनि समझना चाहिये ॥ १०४ ॥

सो सिउ संकरु विणहु सो सो रुद वि सो बुद्धु ।

सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो' सिद्धु ॥ १०५ ॥

[स शिवः शङ्करः विष्णुः स स रुद्रः अपि स बुद्धः ।

स जिनः ईश्वरः ब्रह्मा स स अनन्तः स सिद्धः ॥]

पाठान्तर—१) अपझ-कुड.

अर्थ—वही शिव है, वही शंकर है, वही विष्णु है, वही रुद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, वही

ईश्वर है, वही ब्रह्मा है, वही अनन्त है और सिद्ध भी उसे ही कहना चाहिये ॥ १०५ ॥

एव हि' लक्खणं-लक्खियउ जो परु णिक्कलु देउ ।

देहहँ मज्झहिँ सो वसइ तासु ण विज्झई भेउ ॥ १०६ ॥

[एवं हि लक्षणलक्षितः यः परः निष्कलः देवः ।

देहस्य मध्ये स वसति तयोः न विद्यते भेदः ॥]

पाठान्तर—१) अप-एयहि, झ-एहि य.

२) ब-लक्खणि.

३) ब-देहहिँ मज्झहिँ.

४) ब-किज्झ.

अर्थ—इन लक्षणोंसे युक्त परम निष्कल देव जो देहमें निवास करता है, उसमें और आत्मामें कोई भी भेद नहीं है ॥ १०६ ॥

जे सिद्धा जे सिज्झहिँहिँ जे सिज्झहिँ जिण-उत्तु ।

अप्पा-दंसणिँ ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु ॥ १०७ ॥

[ये सिद्धाः ये सेत्स्यन्ति ये सिध्यन्ति जिनोक्तम् ।

आत्मदर्शनेन ते अपि स्फुटं एतत् जानीहि निर्भ्रान्तम् ॥]

पाठान्तर—१) अप-सिज्झहिँहिँ, झ-सिज्झसिहिँ.

२) अपझ-दंसण

३) अपझ-एहो.

अर्थ—जो सिद्ध हो चुके हैं, भविष्यमें होंगे और वर्तमानमें होते हैं, वे सब निश्चयसे आत्म-दर्शनसे ही सिद्ध हुए हैं—यह भ्रान्तिरहित समझो ॥ १०७ ॥

संसारह भय-भीयएणं जोगिचंद-मुणिएण ।

अप्पा-संबोहण कया दोहा इक्क-मणेण ॥ १०८ ॥

[संसारस्य भयभीतेन योगिचन्द्रमुनिना ।

आत्मसंबोधनाय कृतानि दोहकानि एकमनसा ॥]

पाठान्तर—१) ब-संसारुभयभीतेन,

झ-भयभीवएह.

२) अप-जोगचंद,

ब-योगचंद.

३) ब-कव्वमिसेण.

अर्थ—संसारके दुःखोंसे भयभीत ऐसे योगीन्दुदेव मुनिने आत्मसंबोधनके लिये एकाग्रमनसे इन दोहोंकी रचना की है ॥ १०८ ॥



योगसारदोहादीनां वर्णानुक्रमसूची



दोहा	दोहा
अजरु अमरु गुणगण-	जइ निम्मलु अप्पा मुणहि ३७
अप्पई अप्पु मुणंतयहँ	जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि ८७
अप्पसरुवहँ (सरुवइ ?) जो	जइ बीहउ चउगइममणा ५
अप्पा अप्पई जो मुणइ	जइया मणु निग्गंधु जिय ७३
अप्पा अप्पउ जइ मुणहि	जह लोहम्मिय णियड बुह ७२
अप्पादंसणु एकु पर	जह सलिलेण ण लिप्पियइ ९२
अप्पा दंसणु णाणु मुणि	जहि अप्पा तहि सयलगुण ८५
अरहंतु वि सो सिद्धु	जं वडमज्झह बीउ फुडु ७४
असरीरु वि सुसरीरु मुणि	जाम ण भावहि जीव २७
अह पुणु अप्पा णवि मुणहि	जिणु सुमिरहु जिणु १९
आउ गलइ णवि मणु	जिवाजीवहँ भेउ जो ३८
इक्क उपज्जइ मरइ कु वि	जे णवि मण्णहि जीव ५६
इच्छारहियउ तव करहि	जे परभाव चएवि मुणी ६३
इंदफणिंदणरिंदय वि	जे सिद्धा जे सिउन्नसिहि १०७
इहु परियण णहु महुतणउ	जेहउ जज्ज णरयघरु ५१
एक्कलउ इंदियरहिउ	जेहउ मणु विसयहँ रमइ ५०
एक्कलउ जइ जाइसिहि	जेहउ सुद्ध अयासु जिय ५९
एव हि लक्खणलक्खियउ	जो अप्पा सुद्धु वि ९५
कालु अणाइ अणाइ जिउ	जो जिण सो हउँ सो ७५
केवलणाणसहाउ सो	जो जिणु सो अप्पा मुणहु २१
को सुसमाहि करउ	जो णवि जाणइ अप्पु ९६
गिहिवावारपरिट्टिया	जो तइलोयहँ भेउ जिणु २८
घाइचउक्कहँ किउ विलउ	जो परमप्पा सो जि हउँ २२
चउकसायसण्णारहिउ	जो परियाणइ अप्प पर ८२
चउरासीलक्खहि ५५ फिरिउ	जो परियाणइ अप्पु पर ८
उह दव्वइ जे जिणकहिया	जो पाउ वि सो पाउ मुणि ७१
जइ जरमरणकरालियउ	जो पिडत्थु पयत्थु ९८
जइ निम्मल अप्पा मुणइ	जो समसुक्खणिनीणु बुहु ९३
पर० ३५	जो सम्मत्तपद्धानु बुहु ९०
	णासग्गिं अब्भितरहँ ६०
	णिच्छइ लोयपमाणु मुणि २४
	णिम्मलज्ञाणपरिट्टया १

दोहा	दोहा
गिम्मलु गिकलु सुधु	१
ताम कुत्तिथई परिभमइ	४१
तिथइ देउलि देउ जिणु	४५
तिथइ देउलि देउ णवि	४२
तिपयारो अप्पा मुणहि	६
तिहिं रहियउ तिहिं गुण—	७८
दंसणु जे पिच्छियइ	८४
देहादिउ जे परि कहिया	१०
देहादिउ जे परि कहिया	११
देहादिउ जो पर मुणइ	५८
देहादेवलि देउ जिणु	४३
धण्णा ते भयवंत बुह	६४
धम्म ण पडियई होइ	४७
धंधइ पडियउ सयल	५२
परिणामे बंधु जि कहिउ	१४
पुग्गलु अण्णु जि अण्णु	५५
पुण्णि पावइ सग जिउ	३२
पुरिसायारपमाणु जिय	९४
बे छडिवि बेगुणसहिउ	७७
बे ते चउ पंच वि णवहँ	७६
बे पंचहँ रहियउ मुणहि	८०
मग्गणगुणठाणइ कहिया	१७
मणुइदिहि वि छोडियइ	५४
मिच्छादंसणमोहियउ	७
मिच्छादिउ जो परिहरणु	१०२
मूढा देवलि देउ णवि	४४
रयणत्तयसंजुत्त जिउ	८३
रयण दीउ दिणयर दहिउ	५७
रायरोस बे परिहरिवि	१००
रायरोस बे परिहरिवि	४८
वउ तउ संजमु सील	३३
वउ तव संजमु सीलु	३१
वज्जिय सयलवियण्णई	९७
वयतवसंजममूलगुण	२९
विरला जाणहिँ तत्तु बुह	६६
सत्थ पढंतह ते वि जउ	५३
सम्माइट्टीजीवडहँ	८८
सव्व अचेयण जाणि	३६
सव्वे जीवा णाणमया	९९
संसारह भयभीयण	१०८
संसारहँ भयभीयहँ	३
सागारु वि णागारु कु वि	६५
सुद्धपएसहँ पुरियउ	२३
सुद्धप्पा अरु जिणवरहँ	२०
सुद्ध सचेयणु बुद्ध जिणु	२६
सुद्धहँ लोहहँ जो	१०३
सो सिउ संकरु	१०५
हिंसादिउ परिहाउ	१०१



श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास द्वारा संचालित
श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) के
प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

- (१) गोमटसार जीवकाण्ड—श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथाएँ, श्री ब्रह्मचारी पं० खूबचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत संस्कृत छाया तथा नयी हिन्दी टीका युक्त । अबकी बार पंडितजीने धवल, जयधवल, महाधवल और बडी संस्कृतटीकाके आधारसे विस्तृत टीका लिखी है । सप्तमावृत्ति । मूल्य—अट्ठाईस रुपये ।
- (२) गोमटसार कर्मकाण्ड—श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथाएँ, पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृत छाया और हिन्दीटीका । पं० खूबचन्दजी द्वारा संशोधित । जैन सिद्धान्त-ग्रन्थ है । षष्ठावृत्ति । मूल्य—अट्ठाईस रुपये ।
- (३) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा—स्वामिकार्तिकेयकृत मूल गाथाएँ, श्री शुभचन्द्र कृत बडी संस्कृत टीका तथा स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीके प्रधानाध्यापक पं० कैलासचन्द्रजी शास्त्रीकृत हिन्दी टीका । डॉ० आ० ने० उपाध्येकृत अध्ययनपूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावना आदि सहित आकर्षक संपादन । चतुर्थावृत्ति । मूल्य—चालीस रुपये ।
- (४) परमात्मप्रकाश और योगसार—श्री योगीन्द्रदेवकृत मूल अपभ्रंश दोहे, श्री ब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका व पं० दौलतरामजीकृत हिन्दी टीका । विस्तृत अंग्रेजी प्रस्तावना और उसके हिन्दीसार सहित । महान् अध्यात्मग्रन्थ । डॉ० आ० ने० उपाध्येका अमूल्य सम्पादन । नवीन षष्ठ संस्करण । मूल्य—चालीस रुपये ।
- (५) ज्ञानार्णव—श्री शुभचन्द्राचार्यकृत महान् योगशास्त्र । सुजानगढ निवासी पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत हिन्दी अनुवाद सहित । सप्तमावृत्ति । मूल्य—अट्ठाईस रुपये ।
- (६) प्रवचनसार—श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित ग्रन्थरत्नपर श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत तत्त्वप्रदीपिका एवं श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीकाएँ तथा पांडे हेमराजजी रचित बालावबोधिनी भाषाटीका । डॉ० आ० ने० उपाध्येकृत अध्ययनपूर्ण अंग्रेजी अनुवाद तथा विशद प्रस्तावना आदि सहित आकर्षक सम्पादन । पंचमावृत्ति । मूल्य—चुंमालीस रुपये ।
- (७) बृहद्ब्रह्मसंग्रह—आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित मूल गाथाएँ, संस्कृत छाया, श्री ब्रह्मदेवविनिर्मित संस्कृतवृत्ति और पं० जवाहरलाल शास्त्रीप्रणीत हिन्दीभाषानुवाद । षड्ब्रह्मसप्तत्वस्वरूपवर्णनात्मक उत्तम ग्रन्थ । षष्ठावृत्ति । मूल्य—बीस रुपये ।
- (८) पुरुषार्थसिद्धयुपाय—श्री अमृतचन्द्रसूरिकृत मूल श्लोक । पं० टोडरमल्लजी तथा पं० दौलतरामजीकी टीकाके आधार पर पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा लिखित नवीन हिन्दी टीका सहित । श्रावकमुनिधर्मका चित्तस्पर्शी अद्भुत वर्णन । अष्टमावृत्ति । मूल्य—सोलह रुपये ।
- (९) पञ्चास्तिकाय—श्री कुन्दकुन्दाचार्यविरचित अनुपम ग्रन्थराज । श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत 'समयव्याख्या' (तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति) एवं श्री जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' नामक संस्कृत टीकाओंसे अलंकृत और पांडे हेमराजजी रचित बालावबोधिनी भाषाटीकाके आधारपर पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत प्रचलित हिन्दी अनुवाद सहित । पंचमावृत्ति । मूल्य—चौबीस रुपये ।
- (१०) स्याद्वादमञ्जरी—कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यकृत अन्ययोगव्यवच्छेदद्वान्निशिका तथा श्री मल्लिषेणसूरिकृत संस्कृत टीका । श्री जगदीशचन्द्र शास्त्री एम० ए० पी० एच० डी० कृत हिन्दी अनुवाद सहित । न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है । बडी खोजसे लिखे गये ८ परिशिष्ट हैं । पंचमावृत्ति । मूल्य—चौबीस रुपये ।
- (११) इष्टोपदेश—श्री पुण्यपाद-देवनन्द आचार्यकृत मूल श्लोक, पंडितप्रवर श्री आशाधरकृत संस्कृतटीका, पं० धन्यकुमारजी जैनदर्शनाचार्य एम० ए० कृत हिन्दीटीका, बैरिस्टर चम्पतरायजीकृत अंग्रेजी टीका तथा विभिन्न विद्वानों द्वारा रचित हिन्दी, मराठी, गुजराती एवं अंग्रेजी पद्यानुवादों सहित आध्यात्मिक रचना । चतुर्थावृत्ति । मूल्य—बारह रुपये ।
- (१२) लब्धिसार (क्षपणासारगर्भित)—श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीरचित करणानुयोग ग्रन्थ । पंडितप्रवर टोडर-मल्लजीकृत बडी टीकासहित । श्री फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीका अमूल्य सम्पादन । तृतीयावृत्ति । मूल्य—बावन रुपये ।

(१३) द्रव्यानुयोगतर्कणा—श्री भोजकविकृत मूल श्लोक तथा व्याकरणाचार्य ठाकुरप्रसादजी शर्माकृत हिन्दी अनुवाद । द्वितीयावृत्ति । मूल्य—बारह रूपये ।

(१४) न्यायावतार—महान् तार्किक आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकरकृत मूल श्लोक व जैनदर्शनाचार्य पं० विजयमूर्ति एम० ए० कृत श्री सिद्धार्थिगणिकी संस्कृतटीकाका हिन्दीभाषानुवाद । न्यायका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है । तृतीयावृत्ति । मूल्य—सोलह रूपये ।

(१५) प्रशमरतिप्रकरण—आचार्य श्री उमास्वातिविरचित मूल श्लोक, श्री हरिभद्रसूरिकृत संस्कृतटीका और पं० राजकुमारजी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित सरल अर्थ सहित वैराग्यका बहुत सुन्दर ग्रन्थ है । द्वितीयावृत्ति । मूल्य—बारह रूपये ।

(१६) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (मोक्षशास्त्र)—श्री उमास्वातिकृत मूलसूत्र और स्वोपज्ञ भाष्य तथा पं० खूबचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका । तत्त्वोंका हृदयग्राह्य गम्भीर विश्लेषण । तृतीयावृत्ति । मूल्य—चालीस रूपये ।

(१७) सप्तभंगीतरंगिणी—श्री विमलदासकृत मूल और पंडित ठाकुरप्रसादजी शर्मा कृत भाषाटीका । न्यायका महत्वपूर्ण ग्रन्थ । चतुर्थावृत्ति । मूल्य—बारह रूपये ।

(१८) समयसार—आचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित महान् अध्यात्म ग्रन्थ । आत्मख्याति, तात्पर्यवृत्ति, आत्मव्याप्ति भाषावचनिका—इन तीन टीकाओं सहित तथा पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित । चतुर्थावृत्ति । मूल्य—चुमालीस रूपये ।

(१९) इष्टोपदेश—मात्र अंग्रेजी टीका व पद्यानुवाद । मूल्य—तीन रूपये ।

(२०) परमात्मप्रकाश—मात्र अंग्रेजी प्रस्तावना व मूल गाथाएँ । मूल्य—पाँच रूपये ।

(२१) योगसार—मूल गाथाएँ व हिन्दी सार । मूल्य—पचहतर पैसे ।

(२२) कार्तिकेयानुप्रेक्षा—मूल गाथाएँ और अंग्रेजी प्रस्तावना । मूल्य—दो रूपये पचास पैसे)

(२३) प्रवचनसार—अंग्रेजी प्रस्तावना, प्राकृत मूल, अंग्रेजी अनुवाद तथा पाठांतर सहित । मूल्य—पाँच रूपये ।

(२४) क्रियाकोष—कवि किशनसिंहकृत हिन्दी काव्यमय रचना । श्रावककी त्रेपन क्रियाओंका सुंदर वर्णन । श्रावकाचारका उत्तम ग्रंथ । डॉ. पं. पन्नालालजी साहित्याचार्यकृत हिन्दी भावार्थ सहित । प्रथमावृत्ति । मूल्य—बीस रूपये ।

(२५) अष्टप्राश्रुत—श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित मूल गाथाओंपर श्री रावजीभाई देसाई द्वारा गुजराती गद्य-पद्यात्मक भाषान्तर । द्वितीयावृत्ति । मूल्य—सोलह रूपये ।

(२६) आत्मानुशासन—श्री गुणभद्राचार्य - रचित संस्कृत ग्रंथ पर श्री रावजीभाई देसाई द्वारा लिखित गुजराती भाषामें अर्थ और विवेचन । धर्म और नीतिका एक महत्वपूर्ण ग्रंथ । तृतीयावृत्ति । मूल्य—बीस रूपये ।

अधिक मूल्यके ग्रन्थ मँगानेवालोंको कमिशन दिया जायेगा । इसके लिये वे हमसे पत्रव्यवहार करें ।

: प्राप्तिस्थान :

१. श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम,

स्टेशन-अगास; वाया-आणंद;

पोस्ट-बोरिया-३८८१३० (गुजरात)

२. श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल,

(श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला)

हाथी बिल्डींग, 'ए' ब्लॉक, दूसरी मंजिल, रूम नं. १८,

भांगवाडी, ४४८ कालबादेवी रोड,

बम्बई-४००००२

